भारतीय संस्कृति का विकास

लेखक

सत्यकेतु विद्यालंकार डी. लिट्. (पेरिस)

(भूतपूर्व कुलपति, गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय, हरिद्वार एवं
गोविन्दवल्लभ पन्त पुरस्कार, मोतीलाल नेहरू पुरस्कार
और मङ्गलाप्रसाद पारितोषिक द्वारा सम्मानित)

प्रकाशक

श्री सरस्वती सदन, मसूरी

प्रधान वितरण केन्द्र

ए-१/३२ सफदरजंग एन्क्लेव, नई दिल्ली-१६

[मूल्य २४ रुपये

प्रारम्भिक शब्द

संसार की अनेक प्राचीन सभ्यताएँ इस समय नष्ट हो चुकी हैं। सुमेरिया, असीरिया, बैबिलोनिया के तो अब केवल नाम ही शेष हैं। मिस्र के वर्तमान निवासियों का संस्कृति की दृष्टि से उन प्राचीन लोगों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, जिन्होंने कि नील नदी की घाटी में गगनचुम्बी विशाल पिरामिडों का निर्माण किया था। प्राचीन ग्रीस और रोम में जो सभ्यताएँ विकसित हुई थीं, वे भी अब नष्ट हो चुकी हैं। आज प्राचीन ग्रीक व रोमन धर्मों का कोई अनुयायी नही है। पर भारत की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति हजारो साल बीत जाने पर भी अब तक कायम है। भारत के बहुसंख्यक निवासियों का धर्म अब भी वैदिक है। उपनिषदों और गीता ने ज्ञान की जो धारा प्रवाहित की थी, वह आज भी अबाधित रूप से इस देश में बह रही है। बुद्ध और महावीर जैसे महात्माओं ने अहिंसा और प्राणिमात्र के प्रति मैत्री-भावना का जो उपदेश दिया था, वह आज तक भी इस देश में जीवित और जागृत है। इस बीसवी सदी में भी इस देश की स्त्रियों का आदर्श सीता, सावित्री और पार्वती हैं।

अनेक विदेशी जातियो ने इस देश पर आक्रमण किए। यवन, शक, कुशाण, हूण, तुर्क, अफगान, मुगल और इंगलिश जातियों ने भारत में प्रवेश कर इसके अनेक भागों पर शासन किया। इन सब ने इस देश की संस्कृति को प्रभावित भी किया। पर इन से यहाँ की मूल सांस्कृतिक धारा नष्ट नही हुई। जिस प्रकार अनेक छोटी-छोटी नदियाँ व नाले गंगा में मिलकर उसे अधिक समृद्ध करते जाते हैं, और स्वयं गंगा के ही अंग बन जाते हैं, वैसे ही विविध जातियो ने भारत मे प्रवेश कर इस देश की संस्कृति को समृद्ध बनाने मे सहायता की, और उनकी अपनी संस्कृतियाँ इस देश की उन्नत व समृद्ध संस्कृति मे मिलकर अपनी पृथक् सत्ता खो बैठी, और यहाँ की संस्कृति के साथ मिलकर एकाकार हो गयीं। मुसलिम तथा यूरोपियन देशों की पाश्चात्य संस्कृतियों के साथ चिरकाल तक सम्पर्क मे रहने के कारण इस देश की प्राचीन सस्कृति पर अनेक प्रकार के प्रभाव पड़े हैं, और ये अन्य संस्कृतियां इस देश के निवासियों के धर्म, कला, शिक्षा, रहन-सहन व विचारों आदि पर अपनी अमिट छाप छोड़ गयी हैं।

किसी देश की संस्कृति अपने को धर्म, दार्शनिक चिन्तन, कविता, संगीत, कला, शासन-प्रबन्ध आदि के रूप में अभिव्यक्त करती है। मनुष्य जिस ढंग से अपने धर्म का विकास करता है, दर्शन-शास्त्र के रूप में जो चिन्तन करता है, साहित्य, संगीत और कला का जिस प्रकार से सृजन करता है, और अपने सामूहिक जीवन को हितकर व सुखी

बनाने के लिए जिन राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक संस्थाओं व प्रथाओं को विकसित करता है, उन सब का समावेश हम 'संस्कृति' में करते हैं। इस पुस्तक में मैंने भारतीय इतिहास के इन्हीं अंगों का विशद रूप से विवेचन करने का प्रयत्न किया है। इसे लिखते हुए यद्यपि मैंने भारत के राजनीतिक इतिहास की उपेक्षा की है, पर विषय को स्पष्ट करने के लिये प्रसंगवश संक्षिप्त रूप से उसका उल्लेख भी कर दिया है।

—सत्यकेतु विद्यालंकार

विषय-सूची

भारतीय संस्कृति का विकास

पहला अध्याय
विषय-प्रवेश

(१) सभ्यता और संस्कृति

उपनिषदों में एक ऐसे वृक्ष का वर्णन किया गया है, जिसपर दो पक्षी बैठे हैं। उनमे से एक पक्षी तो वृक्ष के फल खाने मे व्यस्त है, और दूसरा पक्षी केवल देख रहा है, वह फल नहीं खाता। इस रूपक द्वारा उपनिषद् ने सृष्टि के एक महान् सत्य का प्रतिपादन किया है। वृक्ष का अभिप्राय प्रकृति से है, और उसपर जो दो पक्षी बैठे हैं, वे जीवात्मा और परमात्मा है। जीवात्मा प्रकृति का भोक्ता है, वह उसके सुस्वादु फलों का भक्षण करता है। वह प्रकृति के विविध तत्वों और रहस्यो का ज्ञान प्राप्त कर उन्हें अपने सुख और समृद्धि के लिए प्रयुक्त करता है। इसके विपरीत परमात्मा केवल द्रष्टा है, वह सृष्टि का नियमन अवश्य करता है, पर उसका उपभोग नहीं करता।

इसमे सन्देह नही, कि जीव या मनुष्य प्रकृति का उपभोग करने वाला है। वह इस बात के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है, कि प्रकृति पर अपना आधिपत्य स्थापित करता जाए और उसके सुस्वादु फलों को प्राप्त करे। पर इस प्रयत्न मे उसे एकदम सफलता नही हो जाती। प्रकृति उसके सम्मुख अपने रहस्यों का धीरे-धीरे उद्घाटन करती है, और वह धीरे-धीरे ही समृद्धि, सभ्यता और उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होता है। ऐतिहासिकों का मत है, कि शुरू मे मनुष्य अन्य पशुओं के समान जंगल में रहा करता था। उस समय वह न वस्त्र पहनता था, और न ही अपने निवास के लिए मकानो का निर्माण करता था। पेट भरने के लिए अन्न व अन्य भोज्य पदार्थों का उत्पादन भी वह स्वयं नही करता था। प्राकृतिक रूप से उत्पन्न होने वाले कन्द-मूल-फल आदि को एकत्र कर व पशुओ का शिकार करके ही वह अपनी क्षुधा को शान्त करता था। धीरे-धीरे इस दशा मे परिवर्तन आना शुरू हुआ। मनुष्य शिकार के लिए न केवल पत्थर के औजारों का प्रयोग करने लगा, अपितु उसने पशुओं को पालना भी शुरू किया। उसे यह भी ज्ञान हुआ, कि जिन कन्द-मूल-अन्न आदि को वह जंगल में एकत्र करता है, उन्हें वह स्वयं भी खेती द्वारा उत्पन्न कर सकता है। शीत, वर्षा और गरमी से बचाव के लिए उसने गुफा में रहना शुरू किया और फिर धीरे-धीरे लकड़ी, फूंस व ईंटों के मकान भी वह बनाने लगा। शुरू में वह नंगा फिरता था, पर धीरे-धीरे उसने वृक्षों के बल्कल व पशुओं की खाल से अपने तन को ढकना शुरू किया, और बाद मे ऊन, सन व रूई के विविध प्रकार के कपड़ो का वह निर्माण करने लगा। वायु, अग्नि आदि प्राकृतिक शक्तियों का उपयोग कर उसने अपने जीवन को अधिक सुखी बनाने का प्रयत्न

भारतीय संस्कृति का विकास

पहला अध्याय
विषय-प्रवेश

(१) सभ्यता और संस्कृति

उपनिषदों में एक ऐसे वृक्ष का वर्णन किया गया है, जिसपर दो पक्षी बैठे हैं। उनमें से एक पक्षी तो वृक्ष के फल खाने में व्यस्त है, और दूसरा पक्षी केवल देख रहा है वह फल नहीं खाता। इस रूपक द्वारा उपनिषद् ने सृष्टि के एक महान् सत्य का प्रतिपादन किया है। वृक्ष का अभिप्राय प्रकृति से है, और उसपर जो दो पक्षी बैठे हैं, वे जीवात्मा और परमात्मा हैं। जीवात्मा प्रकृति का भोक्ता है, वह उसके सुस्वादु फलों का भक्षण करता है। वह प्रकृति के विविध तत्त्वों और रहस्यों का ज्ञान प्राप्त कर उन्हें अपने सुख और समृद्धि के लिए प्रयुक्त करता है। इसके विपरीत परमात्मा केवल द्रष्टा है वह सृष्टि का नियमन अवश्य करता है, पर उसका उपभोग नहीं करता।

इसमे सन्देह नहीं, कि जीव या मनुष्य प्रकृति का उपभोग करने वाला है। वह इस बात के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है, कि प्रकृति पर अपना आधिपत्य स्थापित करता जाए और उसके सुस्वादु फलों को प्राप्त करे। पर इस प्रयत्न में उसे एकदम सफलता नहीं हो जाती। प्रकृति उसके सम्मुख अपने रहस्यों का धीरे-धीरे उद्घाटन करती है, और वह धीरे-धीरे ही समृद्धि, सभ्यता और उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होता है। ऐतिहासिकों का मत है, कि शुरू में मनुष्य अन्य पशुओं के समान जंगल में रहा करता था। उस समय वह न वस्त्र पहनता था, और न ही अपने निवास के लिए मकानों का निर्माण करता था। पेट भरने के लिए अन्न व अन्य भोज्य पदार्थों का उत्पादन भी वह स्वयं नहीं करता था। प्राकृतिक रूप से उत्पन्न होने वाले कन्द-मूल-फल आदि को एकत्र कर व पशुओं का शिकार करके ही वह अपनी क्षुधा को शान्त करता था। धीरे-धीरे इस दशा में परिवर्तन आना शुरू हुआ। मनुष्य शिकार के लिए न केवल पत्थर के औजारों का प्रयोग करने लगा, अपितु उसने पशुओं को पालना भी शुरू किया। उसे यह भी ज्ञान हुआ, कि जिन कन्द-मूल-अन्न आदि को वह जंगल में एकत्र करता है, उन्हें वह स्वयं भी खेती द्वारा उत्पन्न कर सकता है। शीत, वर्षा और गरमी से बचाव के लिए उसने गुफा में रहना शुरू किया और फिर धीरे-धीरे लकड़ी, फूंस व ईंटों के मकान भी वह बनाने लगा। शुरू में वह नंगा फिरता था, पर धीरे-धीरे उसने वृक्षों के बल्कल व पशुओं की खाल से अपने तन को ढकना शुरू किया, और बाद में ऊन, सन व रुई के विविध प्रकार के कपड़ों का वह निर्माण करने लगा। वायु, अग्नि आदि प्राकृतिक शक्तियों का उपयोग कर उसने अपने जीवन को अधिक सुखी बनाने का प्रयत्न

किया, और आज वह समय आ गया है, जब मनुष्य गगनचुम्बी भवनों में निवास करता है, विद्युत् शक्ति का उपयोग करता है, और वैज्ञानिक साधनो व यान्त्रिक उपकरणो द्वारा बहुत बड़े परिमाण मे अन्न-वस्त्र व अन्य वस्तुओं का उत्पादन करता है।

प्रकृति द्वारा प्रदत्त पदार्थों, तत्त्वों और शक्तियों का उपयोग कर मनुष्य ने भौतिक क्षेत्र में जो असाधारण उन्नति की है, उसी को हम 'सभ्यता' (सिविलिजेशन) कहते हैं। मनुष्य की यह भौतिक उन्नति धीरे-धीरे हुई है। पत्थर के भद्दे व मोटे औजारों का प्रयोग करना शुरू कर मनुष्य अब इस स्थिति में पहुँच गया है, कि वह धातुओं का और विद्युत् व परमाणु शक्ति आदि प्राकृतिक शक्तियों का उपयोग करने लगा है। इतिहास का अध्ययन करते हुए हम मनुष्य की इस आश्चर्यजनक उन्नति पर विचार करते हैं, और उन विभिन्न दशाओं का विवेचन करते है, जिनमें से होते हुए मानव-सभ्यता ने अपने वर्तमान रूप को प्राप्त किया है। भौतिक क्षेत्र में मनुष्य निरन्तर उन्नति कर रहा है। इसीलिए ऐतिहासिक लोगों का यह मत है, कि मानव-सभ्यता निरन्तर विकास को प्राप्त हो रही है।

मनुष्य एक विचारशील प्राणी है। बुद्धि के रूप में मनुष्य को एक ऐसी शक्ति व साधन प्राप्त है, जो अन्य प्राणियों को प्राप्त नही है। प्रकृति के रहस्यपूर्ण तत्त्वों और शक्तियों का ज्ञान प्राप्त कर जो वह सभ्यता के क्षेत्र मे उन्नति कर सका, उसका कारण यह बुद्धि ही है। पर बुद्धि का क्षेत्र केवल भौतिक ही नही होता। बुद्धि जहाँ मनुष्य में प्रकृति के विविध तत्त्वो के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न करती है, वहाँ वह उसे यह विचार करने के लिए भी प्रेरित करती है, कि यह सृष्टि किस प्रकार उत्पन्न हुई, इसका निर्माण किसने किया और क्या ऐसा भी समय आयेगा, जब यह सृष्टि नही रहेगी। बुद्धि द्वारा मनुष्य यह विचार करने के लिए भी प्रवृत्त होता है, कि यह जो जीवित-जागृत प्राणी है, वह क्या शरीर से भिन्न है ? यदि यह शरीर से भिन्न है, तो इसका क्या स्वरूप है। इस प्रकार के विचार द्वारा 'दर्शनशास्त्र' का प्रादुर्भाव होता है। अपने जीवन को सुखी और समृद्ध बनाने का प्रयत्न करता हुआ मनुष्य यह अनुभव करता है, कि जहाँ प्रकृति की अनेक शक्तियाँ उसकी उन्नति मे सहायक हैं, वहाँ अनेक शक्तियाँ उसके मार्ग में बाधक भी हैं। आँधी और तूफान उसकी झोंपड़ी को उड़ा देते हैं, दावानल उसके पशुओ और खेतों को जलाकर भस्म कर देता है, और भूकम्प द्वारा जब कभी पृथिवी काँप उठती है, तो उसका जीवन ही खतरे मे पड़ जाता है। प्रकृति के इन विविध कोपो को देखकर वह सोचने लगता है, कि वायु, अग्नि, जल आदि ऐसी दैवी शक्तियाँ हैं, जिन्हें सन्तुष्ट व तृप्त रखे बिना वह कभी अपने हित का सम्पादन नही कर सकता। वह वायु, अग्नि आदि को देवता मानकर उनकी पूजा के लिए प्रवृत्त होता है, और इस प्रकार 'धर्म' का प्रारम्भ करता है। प्रकृति के अज्ञात रहस्यों को जानने और उसकी विविध शक्तियों को सन्तुष्ट व तृप्त करने के लिए मनुष्य जो प्रयत्न करता है, उनका उसके भौतिक सुखों के साथ विशेष सम्बन्ध नही होता। पर इसमें सन्देह नहीं, कि ये प्रयत्न उसके हित व कल्याण मे अवश्य सहायक होते हैं। इसीलिए मनुष्य जहाँ अपने भौतिक सुखो के साधन जुटाने मे तत्पर हुआ, वहाँ साथ ही वह धर्म तथा दर्शन-सम्बन्धी तत्त्वज्ञान के चिन्तन के लिए भी प्रयत्नशील हुआ।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज मे रहता है, और सामूहिक रूप से ही अपनी समृद्धि व उन्नति के लिए प्रयत्न करता है। अतः उसके लिए यह प्रश्न बड़े महत्त्व का था, कि वह समूह में रहते हुए अपने साथ के अन्य व्यक्तियों के साथ क्या सम्बन्ध रखे। उसने बुद्धि द्वारा इस प्रश्न पर विचार किया, और धीरे-धीरे उन सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओ का विकास किया, जिनपर उसका हित और कल्याण अनेक अंशो मे निर्भर रहता है। परिवार, जन (कबीला या ट्राइब), राज्य आदि जिन विविध संस्थाओ का मनुष्य ने विकास किया, वे सब उसके सामाजिक व सामूहिक जीवन को ही अभिव्यक्त करती हैं। अपने सामूहिक जीवन पर बुद्धिपूर्वक विचार करने के कारण ही मनुष्य राजनीति-शास्त्र, अर्थशास्त्र, समाज-शास्त्र आदि 'सामाजिक विज्ञानों' का विकास करने में समर्थ हुआ।

प्रकृति के विविध तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य अपनी भौतिक आवश्यकताओं को पूर्ण करता है। पर उसका सन्तोष केवल भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति द्वारा ही नही होता। वह अपने जीवन को अधिक सरस और सौन्दर्यमय बनाने का यत्न करता है। इसके लिए वह सगीत, साहित्य और कला का अनुसरण करता है, और इन्हें भलीभाँति उन्नत कर अपने जीवन को सुसंस्कृत बनाने का प्रयत्न करता है।

मनुष्य अपनी बुद्धि का प्रयोग कर विचार और कर्म के क्षेत्र मे जो सृजन करता है, उसी को 'सस्कृति' कहते है। अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य प्रकृति के साधनों का जिस ढंग से प्रयोग करता है, उससे उसकी 'सभ्यता' का निर्माण होता है। पर चिन्तन द्वारा अपने जीवन को सरस, सुन्दर और कल्याणमय बनाने के लिए मनुष्य जो यत्न करता है, उसका परिणाम 'संस्कृति' के रूप मे प्राप्त होता है। मनुष्य ने धर्म का जो विकास किया; दर्शन-शास्त्र के रूप मे जो चिन्तन किया; साहित्य, संगीत और कला का जो सृजन किया; सामूहिक जीवन को हितकर और सुखी बनाने के लिए जिन प्रथाओं व सस्थाओं को विकसित किया—उन सबका समावेश हम 'संस्कृति' में करते हैं। सभ्यता और संस्कृति का यह भेद महत्त्वपूर्ण है।

क्योकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, अतः उसकी संस्कृति का विकास भी सामाजिक व सामूहिक रूप मे ही होता है। समाज से पृथक् अकेला रहता हुआ मनुष्य न भौतिक क्षेत्र में उन्नति कर सकता है, और न सास्कृतिक क्षेत्र मे। इसीलिए संस्कृति किसी एक व्यक्ति के प्रयत्न का परिणाम नहीं होती। वह समाज के अनगिनत व्यक्तियो के सामूहिक प्रयत्न का परिणाम होती है, और यह प्रयत्न भी ऐसा, जिसे एक के बाद एक आने वाली मनुष्यो की विविध संततियाँ निरन्तर करती रहती हैं। यही कारण है, कि संस्कृति का विकास धीरे-धीरे होता है। वह किसी एक युग की कृति नही होती, अपितु विभिन्न युगो के विविध मनुष्यो के सामूहिक व अनवरत श्रम का परिणाम होती है।

यह पृथिवी बहुत विशाल है। इसके विविध प्रदेशों मे मनुष्यों के विविध समूह हजारों वर्षों से पृथक्-पृथक् निवास करते रहे हैं। इन सब प्रदेशों की प्राकृतिक व भौगोलिक परिस्थितियाँ एक सदृश नहीं हैं। यही कारण है, कि पृथिवी के विविध प्रदेशों में निवास करने वाले मनुष्यों के विभिन्न समूहों ने अपनी सभ्यता और संस्कृति का

विकास विभिन्न प्रकार से किया है। मानव समाज में विभिन्न संस्कृतियों की सत्ता का कारण केवल यह नही है, कि विविध मनुष्य विभिन्न प्रकार की प्राकृतिक परिस्थितियों मे निवास करते है। मनुष्य का मन, बुद्धि या दिमाग एक ऐसा रहस्यमय तत्त्व है, जो केवल प्रकृति या परिस्थितियो का दास बनकर ही नही रह सकता। बहुधा वह प्रकृति पर विजय प्राप्त कर लेता है, और उसे अनेक अशों में अपना अनुगामी बना लेता है। इसीलिए अनेक प्रतिभाशाली मनुष्यों ने प्रकृति के प्रभाव से स्वतन्त्र होकर भी अपनी विशिष्ट सस्कृति के विकास में सहायता पहुँचाई है।

इस पुस्तक मे हम भारतीय सस्कृति और उसके विकास पर विचार करेंगे। अपने सुदीर्घ इतिहास में भारत के निवासियो ने जहाँ एक उन्नत सभ्यता का विकास किया, वहाँ साथ ही एक ऐसी संस्कृति का भी प्रादुर्भाव किया, जो बहुत उन्नत और लोक-हितकारी है। भारत की यह सस्कृति अन्य देशों की संस्कृतियो से अनेक अशो मे भिन्न है, और अपनी अनेक विशेषताएँ रखती है। यही कारण है, जो संसार के इतिहास मे इसका महत्त्व बहुत अधिक है।

(२) भारतीय संस्कृति की विशेषता

भारत का इतिहास प्रारम्भ हुए हजारो वर्ष व्यतीत हो चुके है। इस देश की सभ्यता संसार की प्राचीनतम सभ्यताओ मे गिनी जाती है। वेद दुनिया का सबसे प्राचीन साहित्य है। प्राचीन ससार की अनेक सभ्यताएँ इस समय नष्ट हो चुकी है। मिस्र, असीरिया, बैबीलोनिया आदि के तो अब केवल नाम ही बचे है। मिस्र के वर्तमान निवासियो का सस्कृति की दृष्टि से उन प्राचीन लोगो के साथ कोई सम्बन्ध नही, जिन्होने कि नील नदी की घाटी मे गगनचुम्बी विशाल पिरामिडो का निर्माण किया था, और जिन्होने अपने पितरों की 'ममी' बनाकर उन्हे अमर जीवन प्रदान करने का प्रयत्न किया था। यही बात असीरिया, बैबीलोनिया आदि सभ्यता के अन्य प्राचीन केन्द्रो के सम्बन्ध मे कही जा सकती है। मिस्र और असीरिया की सभ्यताएँ काल की दृष्टि से भारतीय सभ्यता के समान ही प्राचीन थी। पर उनके भी बहुत समय बाद यूनान और रोम की जो सभ्यताएँ विकसित हुई, वे भी अब नष्ट हो चुकी हैं। आज प्राचीन यूनानी व रोमन धर्मों का अनुयायी कोई नही है। जो विचारधारा प्राचीन रोमन लोगों को देवी-देवताओ और प्राकृतिक शक्तियों की पूजा के लिए प्रेरित करती थी, वह आज के रोमन (इटालियन) लोगों के लिए कोई अर्थ नही रखती। पर भारत की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति हजारो साल बीत जाने पर भी अबतक कायम है। भारत का धर्म अब भी वैदिक है, इस देश के पुरोहित व ब्राह्मण आज भी वेद-मन्त्रो द्वारा यज्ञ-कुण्ड मे आहुति देकर देवताओ व प्राकृतिक शक्तियों को तृप्त करते है। उपनिषदों और गीता ने ज्ञान की जो धारा प्रवाहित की थी, वह आज भी अबाधित रूप से इस देश में बह रही है। बुद्ध और महावीर जैसे महात्माओ ने अहिंसा और प्राणिमात्र के प्रति मैत्री-भावना का जो उपदेश दिया था, वह आज तक भी इस देश मे जीवित और जागृत है। यहाँ की स्त्रियो का आदर्श इस बीसवी सदी में भी सीता, सावित्री और पा ती है। भारत की संस्कृति की वे क्या विशेषताएँ हैं, जिनके कारण हजारों साल

बीत जाने पर भी वह अभी तक जीवित है। यवन, शक, युइशि, कुशाण, हूण, तुर्क, अफगान, मुगल और इगलिश—इन सब विदेशियो के आक्रमण व शासन इस सस्कृति को नष्ट नही कर सके।

किसी देश की सस्कृति अपने को धर्म, दार्शनिक विचार, कविता, साहित्य और कला आदि के रूप मे अभिव्यक्त करती है। भारत की सस्कृति ने अपने को जिस रूप मे अभिव्यक्त किया, उसकी मुख्य विशेषता अध्यात्म की भावना है। आँखो स दिखाई देने वाल इस स्थूल ससार से परे भी कोई सत्ता है जिसमे जीवन व शक्ति प्राप्त करके यह प्रकृति फल-फल रही है, यह विचार इस देश म सदा से चला आया है। यह विश्वात्मा हम सबमे विद्यमान है, हम सब इसी के रूप है, यही मूलतत्त्व माया द्वारा अपने को प्रकृति के रूप मे प्रकट करता है और फिर उसे अपने मे ही लीन कर लेता है—ये विचार भारत के न केवल तत्त्ववेत्ताओ मे अपितु जनसाधारण म भी प्रचलित रहे। 'जो अपने को सबमे और सबको अपने मे देखता है, वही असल मे दखता है, इस भावना का परिणाम यह हुआ कि इस देश मे धार्मिक व साम्प्रदायिक विद्वेष वहन नही हुआ। प्राचीन वैदिक धर्म म सुधार करन के लिए जो धार्मिक सुधारणा भगवान् बुद्ध द्वारा प्रारम्भ की गई थी, वह यहाँ के पुरान धर्मों को नष्ट नही कर सकी। इसके विपरीत यहा के सनातन वैदिक धम ने ही उस अपने मे लीन कर लिया। बुद्ध को भी राम और कृष्ण की तरह भगवान् का अवतार मान लिया गया। बोधिवृक्ष हिन्दुओ का भी पवित्र वृक्ष बन गया और बौद्ध चैत्य हिन्दू मन्दिरो म परिवर्तित हो गए जहाँ भगवान् क अवतार 'बुद्ध' की पूजा होने लगी। 'सबमे अपने को दखने' की भावना का ही यह परिणाम था। यवन, शक, कुशाण आदि जातिया को भी इसी भावना द्वारा भारतीय समाज का अग बनाया गया, और उनके अनेक धार्मिक विश्वासो और अनुष्ठानो को सनातन वैदिक धर्म मे सम्मिलित कर लिया गया। विविध धार्मिक आन्दोलनो और परम्पराओ म आर्य लोग सदा समन्वय स्थापित करते रह। हिन्दू-धम मे अनेक मत व सम्प्रदाय रहे हैं, उनमे विरोध और विद्वेष भी रहा है। पर साथ ही, सब सम्प्रदायो की मूल प्रेरक शक्ति वही अध्यात्म-भावना रही है जो भारतीय सस्कृति की प्रमुख विशेषता है। इसीलिए उनमे विरोध के बावजूद भी समन्वय और ऐक्य स्थापित होता रहा। इस्लाम के सम्पर्क से मिस्र, ईरान आदि के प्राचीन धम नष्ट हो गय, पर भारत का धर्म कायम रहा। भारत के विचारको ने तो इस्लाम के साथ भी अपने धम के समन्वय का प्रयत्न किया। इसीलिए अल्लोपनिषद् बनी। समन्वय की इसी प्रवृत्ति ने 'दीनेइलाही' के रूप मे मूतरूप धारण किया, यद्यपि यह प्रयत्न सफल नही हो सका। पर भारतीय मुसलमानो को भारतीय सस्कृति की मूल भावना देन मे इस देश के विचारक सफल हुए। मुसलमानो का सूफी सम्प्रदाय भारत के अध्यात्मवाद, योग-साधन और रहस्यवाद का मुस्लिम सस्करण है। मुस्लिम पीरो के मकबरे बनाकर उनकी पूजा करना भारतीय सस्कृति की ही देन है। सगीत-विरोधी इस्लाम म भजन, नृत्य और सगीत द्वारा अपने पीर-पैगम्बरो की भक्ति भारतीय कीर्तन के रूपान्तर के सिवाय और क्या है? राम और रहीम, कृष्ण और करीम की एकता के प्रतिपादन द्वारा इस देश के अनेक सन्तो ने इस्लाम और हिन्दू-धर्म मे समन्वय का प्रयत्न किया।

समन्वय की यह प्रक्रिया क्यों पूर्णरूप से सफल नहीं हुई, इस बात की विवेचना का यहाँ स्थान नही है। पर यही समन्वय की प्रवृत्ति थी, जिसने भारत की प्राचीन संस्कृति की परम्परा को अब तक अक्षुण्ण रखा है। बर्मा, लंका, तिब्बत आदि के प्राचीन धर्म लुप्त हो गए, उनका स्थान भारत से ही गए बौद्ध-धर्म ने ले लिया। पर भारत में बौद्ध-धर्म हिन्दू-धर्म मे विलीन हो गया। भारतीय संस्कृति की अध्यातम-प्रधान मूल भावना 'सबमें अपने को और अपने में सबको' देखने की प्रवृत्ति और समन्वय के विचार ही इसमें प्रधान कारण थे।*

वर्णाश्रम-धर्म भारतीय सस्कृति की अन्य विशेषता है। इस देश के विचारकों ने मानव-समाज की कल्पना एक जीवित-जागृत शरीर के रूप में की; जिसमें सिर, बाहु, पैर आदि अग एक-दूसरे पर आश्रित रहते हैं। समाज रूपी शरीर में ब्राह्मण सिर के समान, क्षत्रिय बाहुओ के समान, वैश्य उदर और जंघाओ के समान और शूद्र पैरो के समान हैं। समाज के ये सब अग अपने सुख व समृद्धि के लिए एक-दूसरे पर आश्रित हैं। रुपया कमाना वैश्य का काम है, पर अपनी कमाई से सारे समाज का पालन करना उसका परम कर्त्तव्य है। वह सम्पत्ति का मालिक नही है, सम्पत्ति का स्वामित्व समाज में निहित है। वर्ण-व्यवस्था की यह कल्पना आर्यों के प्रारम्भिक राज्यो मे क्रियात्मक रूप से विद्यमान थी। बाद मे समाज का विभाग इन वर्णों के अनुसार नही रहा। पर यह भावना भारत मे सदा विद्यमान रही, कि समाज में सबसे उच्च स्थान उन ब्राह्मणों का है, जो त्याग और अकिंचनता को ही अपनी सबसे बडी सम्पत्ति मानते है। ये ब्राह्मण राजा से भी ऊँचे है, 'प्रतिज्ञा-दुर्बल' और पथ-भ्रष्ट राजा को रास्ते पर लाना अथवा पदच्युत कर देना उनका परम कर्त्तव्य है। ये विचार भारतीय समाज को सदा मर्यादा में रखते रहे। वानप्रस्थ और सन्यास आश्रमो की व्यवस्था कर भारत के प्राचीन विचारको ने अध्यात्म-भावना को सदा जीवित रखा। यद्यपि बाद में संन्यास व प्रव्रज्या ने भी विकृत रूप धारण कर लिया, पर इस आश्रम का आदर्श क्या है, यह बात इस देश के विचारको की आँखो से कभी ओझल नहीं हुई। इसीलिए जब बौद्ध-सघ के भिक्षु सन्यास के आदर्श से गिर गए, तो वैष्णव और शैव साधुओं के मठ प्रबल हो गए। जब वैष्णव और शैव संन्यासी अपने आदर्श से विमुख होने लगे, तो मध्यकाल के सन्तो द्वारा प्रचारित उदासी, वैरागी आदि साधु-सम्प्रदायों की शक्ति बढ़ने लगी। पर ब्राह्मणो, साधुओ और तापसो की पूजा की भावना इस देश में सदा समान रूप से कायम रही।

विविध सम्प्रदायो के प्रति सहिष्णुता और सम्मान का भाव भारतीय संस्कृति का प्रधान अग रहा है। अशोक ने इस भाव को कितने सुन्दर शब्दो मे प्रकट किया था "देवताओ के प्रिय प्रियदर्शी राजा विविध दान व पूजा से गृहस्थ व संन्यासी, सब सम्प्रदायवालो का सत्कार करते है, किन्तु देवताओ के प्रिय दान या पूजा की उतनी परवाह नहीं करते, जितनी इस बात की कि सब सम्प्रदायों के सार (तत्त्व) की वृद्धि हो। सम्प्रदायों के सार की वृद्धि कई प्रकार से होती है। पर उसकी जड़ वाणी का संयम है, अर्थात् लोग केवल अपने ही सम्प्रदाय का आदर और बिना कारण दूसरे सम्प्रदाय की निन्दा न करें। केवल विशेष-विशेष कारणों के होने पर ही निन्दा होनी

चाहिए, क्योंकि किसी-न-किसी कारण से सब सम्प्रदायों का आदर करना लोगों का कर्त्तव्य है। ऐसा करने से अपने सम्प्रदाय की उन्नति और दूसरे सम्प्रदायों का उपकार होता है। उसके विपरीत जो करता है, वह अपने सम्प्रदाय को भी क्षति पहुँचाता है, और दूसरे सम्प्रदाय का भी अपकार करता है। क्योंकि जो कोई अपने सम्प्रदाय की भक्ति में आकर, इस विचार से कि मेरे सम्प्रदाय का गौरव बढ़े, अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा करता है और दूसरे सम्प्रदाय की निन्दा करता है, वह वास्तव में अपने सम्प्रदाय को पूरी क्षति पहुँचाता है। समवाय (मेलजोल) अच्छा है, अर्थात् लोग एक-दूसरे के धर्म को ध्यानपूर्वक सुने और उसकी सेवा करें क्योंकि देवताओं के प्रिय की इच्छा है, कि सब सम्प्रदायवाले बहुत विद्वान् और कल्याण का कार्य करने वाले हों। इसलिए जहाँ-जहाँ सम्प्रदायवाले हों, उनसे कहना चाहिए कि देवताओं के प्रिय दान या पूजा को इतना बड़ा नहीं मानते, जितना कि इस बात को कि सब सम्प्रदायो के सार (तत्त्व) की उन्नति हो।" अशोक द्वारा प्रतिपादित समवाय (मेलजोल) की भावना भारत के सम्पूर्ण इतिहास मे ओत-प्रोत रही है। इसीलिए यहाँ धार्मिक दृष्टि से राजाओं ने अत्याचार नही किए और न साम्प्रदायिक युद्ध ही हुए। जो दो-एक उदाहरण इस प्रकार के अत्याचारों व साम्प्रदायिक सघर्ष के यहाँ मिलते हैं, वे अपवादरूप है। वे भारतीय संस्कृति की मुख्य धारा को सूचित नही करते।

भारत के विचारक सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (सम्पत्ति को जमा करने की प्रवृत्ति का न होना) पर बडा जोर देते रहे हैं। इन व्रतों व आदर्शों पर वैदिक, बौद्ध, जैन व पौराणिक विचारकों ने समान रूप से जोर दिया है। हमारे देश की वैयक्तिक व सामाजिक साधना के लिए ये मूल सूत्र रहे हैं। इन आदर्शों का पालन कर जहाँ हमारे प्राचीन गृहस्थो व परिव्राजको ने जीवन के लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न किया, वहाँ हमारे समाज व देश ने भी उन्ही की साधना मे अपनी शक्ति को लगाया। इसी के परिणामस्वरूप अशोक ने धर्म-विजय की नीति का प्रारम्भ किया था, और इसी को सम्मुख रख कर बौद्ध और पौराणिक नेताओ ने संसार मे अपने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया था।

पर यह नही समझना चाहिए कि अध्यात्म की भावना ने भारत की संस्कृति को निष्क्रिय और इहलोक की उन्नति से विमुख बना दिया था। इस देश के राजा दिग्विजय और चक्रवर्ती साम्राज्य को सदा अपना आदर्श समझते रहे। उन्होने न केवल भारत मे अपितु उसके बाहर भी अपने साम्राज्य को विस्तृत करने का प्रयत्न किया। उन्होंने पंजाब और अफगानिस्तान की नदियों को पार कर सुदूर बाल्हीक (बल्ख) देश पर भी विजय कायम की। इस देश के व्यापारी धनोपार्जन के लिए मिस्र, रोम, जावा, सुमात्रा और चीन जैसे सुदूरवर्ती देशों मे आते-जाते रहे। ऐहलौकिक उन्नति की भारतीयो ने कभी उपेक्षा नही की। वे 'पारमार्थिक' और 'व्यावहारिक' मे सदा भेद करते रहे। संसार को मिथ्या प्रतिपादित करने वाले शंकराचार्य जैसे दार्शनिक ने भी स्पष्ट शब्दो मे कहा—"व्यावहारिक दृष्टि से तो सभी कुछ सत्य है।" पारमार्थिक सत्य के कारण व्यावहारिक सत्य को इस देश के विचारकों ने कभी अपनी दृष्टि से ओझल नही किया। उनका यह विश्वास था कि सच्ची सस्कृति वह है, जो परलोक

और इहलोक, अध्यात्म और भौतिक जीवन, आत्मा और शरीर—इन सबका समान रूप से हित और कल्याण सम्पादित करती है। इसी कारण महर्षि वेदव्यास ने यह प्रतिपादित किया था कि लोक का जो प्रत्यक्ष जीवन है, उसको जाने बिना मनुष्य सर्व-दर्शी नही हो सकता। सर्व या सम्पूर्ण के ज्ञान के लिए मनुष्य के लिए भौतिक जीवन का ज्ञान भी आवश्यक है, और इहलोक के जीवन की उपेक्षा करके काम नही चल सकता। इहलोक की उपेक्षा कर जो केवल परलोक की ही कामना करते है, उनका सांस्कृतिक दृष्टिकोण अधूरा रह जाता है। इस लोक मे और प्रत्यक्ष जीवन मे मनुष्य को जो सुख व कल्याण प्राप्त होता है, उसकी उपेक्षा करना उचित नही है। इसीलिए महाभारत में कहा गया था—

मनुष्यलोके यत्श्रेयः परं मन्ये युधिष्ठिर !

'हे युधिष्ठिर, मनुष्य-लोक मे या मानव-जीवन मे जो श्रेय है, उसी को मैं महत्त्वपूर्ण मानता हूँ।' अध्यात्म-भावना से अपनी संस्कृति को ओत-प्रोत करने पर भी भारत के विचारक इहलोक और जीवन-सुख को महत्त्व देते रहे।

पर अध्यात्म-भावना के कारण भारत की सस्कृति मे एक ऐसा सौन्दर्य आ गया, जो इस देश की सस्कृति की अनुपम विशेषता है। इस देश की कला, कविता, सगीत, विज्ञान—सर्वत्र इस अध्यात्म-भावना की छाप दिखाई देती है। यही कारण है, कि भारत के अनेक प्राचीन कलाविद् संगीत और नृत्य तक को भी परमतत्त्व की प्राप्ति का साधन मानकर उनकी साधना मे प्रयत्नशील हुए। चिकित्सा, ज्योतिष आदि ऐहलौकिक ज्ञान के अन्वेषक भी यह मानते रहे, कि उनके ज्ञान का चरम उद्देश्य पर-मार्थतत्त्व की प्राप्ति ही है। ससार के सुख और भोग हेय नही है, उनको प्राप्त करना प्रत्येक मनुष्य के लिए आवश्यक है। पर साथ ही यह जान लेना और भी अधिक आवश्यक है, कि ऐहिलौकिक सुख ही मनुष्य का अन्तिम ध्येय नही है। इस विचार-सरणी ने भारत की सस्कृति मे एक अनुपम सौन्दर्य ला दिया है। भारतीय सस्कृति की इन विशेषताओ का हम संक्षेप के साथ इस प्रकार परिगणन कर सकते है—

(१) यह सस्कृति अध्यात्म भावना पर आश्रित है। इसके अनुयायी भौतिक-वाद की अपेक्षा अध्यात्मवाद को अधिक महत्त्व देते हैं।

(२) पर इस संस्कृति मे ऐहलौकिक सुख और समृद्धि की उपेक्षा नही की गई। इसके अनुसार मनुष्य का सर्वांगीण विकास वाछनीय है। शरीर, मन और आत्मा, इहलोक और परलोक, भौतिक सुख और आध्यात्मिक सतोष—सब क्षेत्रो मे एक साथ उन्नति द्वारा ही मनुष्य अपनी वास्तविक उन्नति कर सकता है। मनुष्य जहाँ धर्म, अर्थ और काम को प्राप्त करता है, वहाँ साथ ही मोक्ष को अपना अन्तिम उद्देश्य मानता है। केवल अर्थ और काम को प्राप्त करके या केवल मोक्ष-साधन मे तत्पर होकर मनुष्य अपनी उन्नति नही कर सकता। धर्म का अनुसरण कर अर्थ की उपलब्धि करने, धर्मानुसार 'काम' का सेवन करने और मोक्ष को अन्तिम लक्ष्य बनाकर ही मनुष्य अपनी सर्वांगीण उन्नति कर सकता है—यह भारतीय सस्कृति का आधारभूत विचार है।

(३) इस सर्वांगीण उन्नति के लिए वर्ण और आश्रम-धर्म का पालन करना

आवश्यक है। मनुष्य अपने वर्ण और आश्रम के 'स्वधर्म' का पालन करके ही अपनी व अपने समाज की उन्नति करने में समर्थ हो सकता है। इससे जहाँ मनुष्य को ऐह-लौकिक सुख की प्राप्ति व समृद्धि का अवसर मिलता है, वहाँ मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य भी उसकी आँखों से ओझल नही होने पाता। प्राचीन भारतीयो ने अपने समाज की अनेक संस्थाओं व परम्पराओं का निर्माण इसी वर्णाश्रम-व्यवस्था के सिद्धान्त के अनुसार किया था।

(४) सहिष्णुता भारतीय संस्कृति की एक प्रमुख विशेषता रही है। धार्मिक विद्वेष का इस देश के इतिहास मे प्रायः अभाव रहा है।

(५) भारतीय संस्कृति अनेक तत्त्वो के सम्मिश्रण का परिणाम है। द्रविड, आर्य, ग्रीक, शक, युइशि, कुशाण, हूण, अफगान, मुगल आदि कितनी ही विविध जातियो के विचारों, विश्वासों और परम्पराओं के सम्मिश्रण से इसका विकास हुआ है। इस देश के निवासी अन्य लोगों के विचारों व विश्वासो का सदा आदर करते रहे, और उन्हे अपने मे मिलाने के लिए सदा तत्पर रहे। अध्यात्म-भावना के कारण जो सहिष्णुता यहाँ के लोगो मे उत्पन्न हुई, उसी से यह बात सम्भव हो सकी।

(६) भारत ने अपनी जिस अनुपम संस्कृति को विकसित किया, उसे संसार मे प्रचारित करने का भी इस देश के लोगो ने प्रयत्न किया। बौद्धो का 'धर्मचक्र-प्रवर्तन' इसी प्रवृत्ति का परिणाम है। इसी कारण 'उत्थान' और 'कृण्वन्तो विश्व-मार्यम्' को प्राचीन आर्यों ने अपना आदर्श बनाया था।

भारत के निवासियो ने अपने सुदीर्घकालीन इतिहास मे अपने जीवन को जिस प्रकार विकसित किया, धर्म, दर्शन, राजनीति, ज्ञान-विज्ञान, साहित्य, संगीत, कला आदि के क्षेत्रो मे जिस प्रकार उन्नति की, उसका इतिहास ही भारतीय संस्कृति का इतिहास है। इस ग्रन्थ मे हम उसी को प्रतिपादित करने का प्रयत्न करेंगे।

दूसरा अध्याय

भारत और उसके निवासी

(१) भारत-भूमि

ब्रिटिश शासन से मुक्त होने पर स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ भारत-भूमि दो भागों में विभक्त हो गई है। ये भाग हैं, भारत और पाकिस्तान। राजनीतिक दृष्टि से ये राज्य अब एक-दूसरे से पृथक् हैं, पर ऐतिहासिक और भौगोलिक दृष्टियों से इनकी एकता से इन्कार नहीं किया जा सकता। इन दोनों राज्यों का अब तक का इतिहास एक रहा है और इनका विकास एक देश के समान और एक ही ढंग से हुआ है। इस इतिहास में हम भारत की उन्हीं सीमाओं को दृष्टि में रखेंगे, जो पाकिस्तान के निर्माण से पूर्व थी। यही नहीं, ब्रिटिश युग के भारत के अतिरिक्त अन्य भी अनेक ऐसे प्रदेश है, जिनका प्राचीन काल में भारत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। सम्भवतः, यह कहना अधिक उपयुक्त होगा, कि प्राचीन काल में ये प्रदेश भारत-भूमि के अंग थे। उदाहरणार्थ, वर्तमान अफगानिस्तान के अनेक प्रदेश प्राचीन इतिहास में भारत के उसी प्रकार से अंग थे, जैसे कि काश्मीर और बलोचिस्तान। भारत के प्राचीन इतिहास का अध्ययन करते हुए हमें इस बात को ध्यान में रखना चाहिये।

भारत का नाम—इस देश का नाम भारत किस कारण पड़ा, इस सम्बन्ध में अनेक मत हैं। जैन-अनुश्रुति के अनुसार भगवान् ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र का नाम भरत था, जो अत्यन्त प्रतापी और श्रेष्ठ राजा था। उसी के नाम पर इस देश का नाम भारत पड़ा। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार पौरव-वंश के प्रसिद्ध राजा दुष्यन्त का पुत्र भरत था, जो चक्रवर्ती राजा हुआ और जिसने अन्य विविध आर्य-राज्यों को जीतकर अपने अधीन किया। भरत के इस चक्रवर्ती साम्राज्य का उल्लेख ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी मिलता है। भरत के कारण उसके वंशज 'भारत' कहाये, और उनके शासन में यह देश चिरकाल तक रहा। यही कारण है, कि इस देश का नाम भी भारत हो गया। पुराणों में इस सम्बन्ध में एक अन्य महत्त्वपूर्ण अनुश्रुति भी उपलब्ध होती है। विष्णुपुराण में लिखा है, कि "समुद्र के उत्तर और हिमालय के दक्षिण में जो देश है, उसका नाम भारतवर्ष है, क्योंकि यहाँ भारती-संतति (प्रजा) निवास करती है।" इससे सूचित होता है, कि भारत के निवासियों की एक प्राचीन संज्ञा 'भारती' भी थी। कुछ विद्वानों ने अनुमान किया है, कि यह भारती जनता (प्रजा) उन लोगों को सूचित करती है, जो आर्यों के इस देश में आने से पूर्व यहाँ निवास करते थे, और जिनकी सभ्यता के अवशेष

सिन्धु-घाटी में (मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में) उपलब्ध हुए है। पर अन्य विद्वान् इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनका विचार है, कि भारती-सन्तति का अभिप्राय सम्राट् भरत की प्रजा से है, और इससे किसी आर्य-भिन्न जाति का ग्रहण न कर आर्यों की 'भारत' शाखा का ही ग्रहण किया जाना चाहिये।

इस देश का एक अन्य नाम हिन्दुस्तान है। सिन्धु नदी का प्रदेश किसी समय में आर्य लोगों का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। प्राचीन ईरानी लोग 'स' का उच्चारण 'ह' करते थे, और वे सिन्धु नदी तथा उसके तटवर्ती प्रदेशों मे निवास करनेवाले लोगों को 'हिन्दू' कहते थे। ईरान के सम्पर्क मे जो लोग आये, वे भी इस प्रदेश के निवासियो को हिन्दू और इस प्रदेश को हिन्दुस्तान कहने लगे। प्राचीन ग्रीक लोग सिन्धु नदी को इण्डस कहते थे। इसीलिये वे इसके समीपवर्ती प्रदेशों को इण्डिया कहने लगे। भारत के इण्डिया नाम का यही उद्भव है।

भौगोलिक दशा का इतिहास पर प्रभाव—किसी देश की भौगोलिक दशा का उसके इतिहास पर बहुत अधिक प्रभाव पडता है। प्राचीन ग्रीस मे जो बहुत-से नगर-राज्यो का विकास हुआ, उसका एक कारण यह था कि पर्वत की शृंखलाओं द्वारा ग्रीस अनेक छोटी-छोटी घाटियों मे विभक्त था। प्राचीन समय मे क्रीट और फिनीशिया जो सामुद्रिक व्यापार व सामुद्रिक साम्राज्यों की स्थापना मे समर्थ हुए, उसका कारण उनकी भौगोलिक स्थिति ही थी। वर्तमान समय में ग्रेट ब्रिटेन और जापान ने नाविक क्षेत्र मे जो असाधारण उन्नति की, उसका श्रेय भी उनकी भौगोलिक स्थिति को ही दिया जाता है। अनेक विद्वानों का मत है, कि किसी देश की जलवायु और उपज-शक्ति आदि का भी उसके इतिहास पर बहुत प्रभाव पडता है। फ्रेंच विद्वान् रूसो के अनुसार ग्रीष्म जलवायु वाले देशो मे एकतन्त्र व स्वेच्छाचारी शासन का विकास होता है। प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान् बकले ने यह प्रतिपादित किया था, कि किसी देश के मनुष्यों की क्रियाएँ उनके अपने विचार व चिन्तन पर उतना निर्भर नही करती, जितना कि प्राकृतिक परिस्थितियों पर। बकले के अनुसार नार्वे और स्वीडन के लोगों मे और स्पेन तथा पोर्तुगाल के लोगो में जो भारी अन्तर है, उसका कारण इन देशो की भौगोलिक व प्राकृतिक परिस्थितियाँ ही है। मनुष्य जो भोजन करता है, जिस जलवायु मे निवास करता है, और जिन परिस्थितियों मे रहता है, उनका उसके शरीर, मन और विचारो पर बहुत असर पडता है। इन बाह्य प्रभावो द्वारा न केवल मनुष्यो के वैयक्तिक चरित्र का निर्माण होता है, अपितु साथ ही उनके सामूहिक व राष्ट्रीय चरित्र का भी विकास होता है।

मनुष्यो के विचार, राष्ट्रीय चरित्र व सस्थाओं पर भौगोलिक दशाओं के प्रभाव को किस अंश तक स्वीकार किया जाय, इस विषय मे मतभेद की गुञ्जाइश है। शासन-व्यवस्था जलवायु और भौगोलिक दशा पर ही निर्भर नही होती। जिस समय रूसो यह प्रतिपादित कर रहा था, कि ग्रीष्म जलवायु वाले प्रदेशो मे एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन होते हैं, तभी फ्रांस, जर्मनी, आस्ट्रिया, इटली आदि यूरोपियन राज्यो मे भी ऐसे निरंकुश राजाओं का शासन था, जो अपनी इच्छा को ही कानून समझते थे। फ्रांस के लुई चौदहवें व स्पेन के फिलिप द्वितीय का शासन जहाँगीर व औरंगजेब के शासन से

स्वेच्छाचारिता मे किसी भी प्रकार कम नही था। पर यह सत्य है, कि भौगोलिक व प्राकृतिक परिस्थितियों का प्रभाव देश के इतिहास पर पडता है। जर्मनी और ग्रेट ब्रिटेन जो व्यावसायिक क्षेत्र में इतना अधिक आगे बढ गये, उसका एक प्रधान कारण वे खनिज पदार्थ है, जो वहाँ बहुतायत से उपलब्ध होते हैं। जिन देशों में अब परमाणु-शक्ति को उत्पन्न करने मे सहायक यूरेनियम आदि पदार्थ उपलब्ध हो रहे हैं, उनकी भविष्य मे बहुत उन्नति होगी, यह बात पूर्ण भरोसे के साथ कही जा सकती है। भारत के इतिहास पर भी इस देश की भौगोलिक परिस्थितियो का बहुत असर हुआ। अतः यह आवश्यक है, कि हम इस देश की भूमि और अन्य प्राकृतिक दशाओ का संक्षेप के साथ निरूपण करें।

भारत की सीमा—प्राकृतिक दृष्टि से भारत की सीमाएँ अत्यन्त सुन्दर व निर्दोष हैं। इसके उत्तर मे हिमालय की ऊँची और दुर्गम पर्वत-शृंखलाएँ है। पूर्व, दक्षिण तथा पश्चिम मे यह महासमुद्र द्वारा घिरा हुआ है। इसके उत्तर-पश्चिमी और उत्तर-पूर्वी कोनो पर समुद्र नही हैं, पर उनकी सीमा निर्धारित करने के लिए हिमालय की पश्चिमी और पूर्वी पर्वत-शृखलाएँ दक्षिण की ओर मुड गई है, और समुद्रतट तक चली गई हैं। हिमालय की पश्चिमी पर्वतमाला दक्षिण-पश्चिम की ओर मुडकर सफेदकोह, सुलेमान और किरथर की पहाड़ियो के रूप मे अरब-सागर तक चली गई हैं, और भारत की सिन्धु-घाटी को अफगानिस्तान और बलोचिस्तान से पृथक् करती है। उत्तर-पश्चिम की ओर भारत की असली वैज्ञानिक सीमा हिन्दूकुश पर्वत है, जो हिमालय की पर्वत-शृंखला का ही एक अंग है। हिन्दूकुश पर्वत के दोनो ओर का प्रदेश जो अब अफगानिस्तान के अन्तर्गत है, प्राचीन काल मे भारत का ही अग था। उत्तर-पूर्व मे हिमालय की एक शृंखला दक्षिण की ओर झुकती है, और लुशेई, नागा और पतकोई पहाडियों के रूप में बगाल की खाडी तक चली जाती है। प्रकृति ने भारत को एक विशाल दुर्ग के समान बनाया है, जो पर्वत-शृखलाओ और समुद्र से घिरा हुआ है। जैसी सुन्दर और स्वाभाविक सीमा भारत की है, वैसी शायद ही किसी अन्य देश की हो।

भौगोलिक विभाग—भारत की इस स्वाभाविक सीमा के बीच मे इस विशाल देश के चार बडे प्राकृतिक विभाग स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते है। ये विभाग निम्न-लिखित हैं—(१) सीमान्त के पर्वतप्रधान प्रदेश, (२) उत्तर-भारत का मैदान, (३) विन्ध्य-मेखला और मध्य-भारत का पठार, और (४) दक्षिणी भारत। इनमे से प्रत्येक पर सक्षिप्त रूप से विचार करना उपयोगी है।

सीमान्त के पर्वतप्रधान प्रदेश—पश्चिम से पूर्व तक भारत के उत्तरी सीमान्त पर विद्यमान हिमालय की पर्वत-शृखला लम्बाई में १६०० मील के लगभग और चौडाई मे १५० मील से २०० मील तक है। हिमालय का यह विस्तृत पार्वत्य-प्रदेश अनेक स्थानो पर आबाद है। इसकी मनोहर घाटियों मे अनेक जातियां प्राचीन काल से बसती आयी हैं, और इनके अनेक छोटे-बड़े राज्य भी प्राचीन समय में स्वतन्त्र रूप मे विद्यमान रहे थे। हिमालय के सबसे अधिक पश्चिमी प्रदेश में प्राचीन काल मे उरशा का राज्य था, जो आजकल के हजारा जिले में विद्यमान था। उससे पूर्व मे जेहलम (वितस्ता) नदी की घाटी मे काश्मीर है, जो प्राचीन समय मे भारतीय सभ्यता और संस्कृति का

महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। काश्मीर में विद्यमान मार्तण्ड-मन्दिर के भग्नावशेष और अमरनाथ का मन्दिर इस संस्कृति के परिचायक है। काश्मीर के उत्तर मे सिन्धु नदी की घाटी में दरद देश था, जो अब भी दरदिस्तान कहाता है। काश्मीर-घाटी के दक्षिण में जेहलम और चनाब नदियों के बीच का पार्वत्य-प्रदेश प्राचीन समय में अभिसार देश कहाता था। इस प्रदेश मे आजकल पुंच्छ, राजौरी और बिम्भर के प्रदेश है। काश्मीर के दक्षिण में ही रावी और चनाब के बीच का पार्वत्य-प्रदेश प्राचीन समय मे दार्व देश कहा जाता था। इसी में आजकल जम्मू का प्रान्त विद्यमान है।

रावी और व्यास नदियो के बीच का पार्वत्य-प्रदेश अब काँगडा कहाता है। प्राचीन समय मे यह त्रिगर्त देश के अन्तर्गत था। काँगडा के साथ का जो प्रदेश अब कुल्लू कहाता है, उसका प्राचीन नाम कुलूत था। सतलज नदी की घाटी के जिन पार्वत्य प्रदेशों मे ब्रिटिश युग मे बशहर आदि रियासतें थी, उसको प्राचीन समय मे किन्नर देश कहते थे। यह किन्नर देश सतलज और यमुना के बीच की पार्वत्यघाटी तक चला गया है। यमुना के पूर्व का पार्वत्य-प्रदेश गढदेश (गढ़वाल) है, जिसके और अधिक पूर्व मे कूर्माञ्चल (कुमायुं) का क्षेत्र है। कूर्माञ्चल के पूर्व मे क्रमशः नेपाल, सिक्किम और भूटान स्थित है। भूटान के पूर्व मे असम का उत्तरी प्रदेश आ जाता है, जिसमे आजकल अका, दफला, मीरी, अबोर और मिस्री जातियों का निवास है। ये विविध जातियाँ हिमालय के सबसे अधिक पूर्वी प्रदेश में निवास करती है। प्राचीन समय में इस क्षेत्र मे किसी उन्नत आर्य-राज्य की सत्ता सूचित नही होती।

हिमालय के पश्चिमी सीमान्त पर विद्यमान उरशा (हजारा) देश का उल्लेख हमने ऊपर किया है। सिन्धु नदी के पश्चिम मे स्वात (सुवास्तु), पजकोरा (गौरी) और कुनार नदियाँ काबुल (कुभा) नदी मे मिलती हैं, और फिर यह कुभा नदी सिन्ध में आ मिलती है। स्वात, पजकोरा और कुभा नदियों से सिंचित यह प्रदेश प्राचीन समय का पश्चिमी गान्धार देश है, जिसकी राजधानी पुष्करावती थी। इस पुष्करावती के खण्डहर स्वात और काबुल (कुभा) नदियो के संगम पर उपलब्ध हुए है। पश्चिमी गान्धार से और आगे पश्चिम की ओर चलने पर हिन्दूकुश पर्वत के साथ का प्रदेश प्राचीन समय मे कपिश देश कहाता था। कपिश के पश्चिम-उत्तर मे आजकल जो बदख्शाँ और बल्ख प्रदेश है, उन्ही को प्राचीन समय मे कम्बोज और बाल्हीक देश कहते थे। ये विविध प्रदेश अब भारत के अन्तर्गत नही हैं। पर प्राचीन समय मे ये भारत के ही अग थे, और इनमे भी भारतीय आर्यों के विविध राज्य विकसित हुए थे। भारत के चक्रवर्ती सम्राटो का यह प्रयत्न रहता था, कि इन सबको जीतकर अपने साम्राज्य मे सम्मिलित करें। चन्द्रगुप्त मौर्य और गुप्तवंशी चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य जैसे प्रतापी सम्राट् अपने इस प्रयत्न मे सफल भी हुए थे।

हिमालय की सुविस्तीर्ण पर्वत-शृंखलाएँ भारत के लिए सन्तरी का काम करती रही है। विदेशियो के लिए यह सुगम नही है, की वे इन्हे पार कर भारत पर आक्रमण करें। पर इस दुर्गम पर्वतमाला के होते हुए भी भारत का बाहरी दुनिया से सम्बन्ध टूटा नही। कारण यह कि इसमे अनेक ऐसे दर्रे है, जिनसे जहाँ अनेक विदेशी जातियाँ समय-समय पर भारत मे प्रवेश करती रहीं, वहाँ साथ ही भारत के लोग भी अपनी सभ्यता और धर्म का प्रचार करने या उपनिवेश बसाने के लिए बाहर जाते रहे।

उत्तर-भारत का मैदान—हिमालय के पर्वतप्रधान प्रदेशों के नीचे और विन्ध्य-मेखला के उत्तर मे जो विस्तृत मैदान है, वह लम्बाई में १६०० मील के लगभग है। इस विशाल मैदान को नदियो के दो जाल सीचते हैं, जिनका उद्गम लगभग एक ही जगह से है। नदियों का एक जाल पंजाब मे सिन्धु व उसकी सहायक नदियों का है, और दूसरा गंगा-यमुना व उनकी सहायक नदियों का। पंजाब की नदियाँ दक्षिण-पश्चिम की ओर बहती हैं, और गंगा-यमुना का प्रवाह दक्षिण-पूर्व की तरफ है। इससे स्पष्ट है, कि यमुना और सतलज के बीच का प्रदेश ऊँचा व जल का विभाजक है। इसी प्रदेश मे राजपूताना का रेगिस्तान और अरावली (आडावला) की पर्वतमाला फैली हुई है। सतलज और यमुना के बीच का जलविभाजक ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। भारत के उत्तरी मैदान में यही एक ऐसा प्रदेश है, जो शस्य-श्यामल व उपजाऊ नही है। इस प्रदेश के उत्तरी भाग में कुरुक्षेत्र का बागर है, और दक्षिणी भाग मे अरा-वली-पर्वतमाला और राजपूताना का मरुस्थल। सिन्ध और गंगा के क्षेत्रो के बीच में कुरुक्षेत्र का बागर ही एक ऐसा तंग रास्ता है, जिससे होकर पूर्व से पश्चिम की ओर जाने वाली या पश्चिम से पूर्व की ओर आनेवाली सेनाएँ गुजर सकती है। यही कारण है, कि कुरुक्षेत्र के बागर-प्रदेश में भारतीय इतिहास की अनेक महत्त्वपूर्ण व भाग्य-निर्णायक लडाइयाँ लड़ी गई थीं।

मानव-सम्यता का विकास शुरू में नदियो की उपजाऊ घाटियो मे ही हुआ था। वहाँ न केवल जल की सुविधा थी, अपितु उनमें कृषि के लिए उपयुक्त जमीन व पशुपालन के लिए उपयुक्त चरागाह भी सुगमता से प्राप्त हो सकते थे। जिस प्रकार पश्चिमी संसार मे दजला और फरात नदियों की घाटी (ईराक) मे और नील नदी की घाटी (मिस्र) मे मानव-सम्यता का विकास अति प्राचीन काल मे हुआ, वैसे ही भारत में सिन्ध नदी और गंगा की घाटियों में अत्यन्त प्राचीन समय मे सम्यता का विकास हुआ। आर्य-जाति के प्रवेश से पूर्व भी अनेक आर्य-भिन्न जातियो ने इन क्षेत्रो मे अपनी विविध बस्तियाँ बसायी थी। जब आर्य लोग यहाँ आकर बसे, तब उन्होंने तो इन प्रदेशों से अपनी सम्यता का बहुत उन्नत रूप से विकास किया।

भौगलिक दृष्टि से उत्तर भारत के इस मैदान को पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है, पंजाब, सिन्ध, राजपूताना, गंगा व उसकी सहायक नदियों से सिञ्चित प्रदेश, गंगा का मुहाना और ब्रह्मपुत्र नदी की घाटी। सिन्ध नदी की घाटी और गंगा की घाटी के बीच के प्रदेश (राजपूताना का मरुस्थल) का इतिहास मे बहुत महत्त्व है। प्राचीन समय में इसको पार कर सकना किसी भी सेना के लिए सुगम नही था। आठवीं सदी के अरब आक्रान्ता दक्षिणी बलोचिस्तान के मार्ग से भारत में प्रविष्ट हुए थे। सिन्ध को उन्होने विजय भी कर लिया था, पर राजपूताना की मरुभूमि के कारण उनके लिए यह संभव नही हुआ, कि वे सिन्ध से आगे बढ़कर उत्तर-भारत के मैदान को अपने अधीन कर सकें। आगे चलकर जब तुर्क आक्रान्ताओं ने भारत पर आक्रमण किया, तो वे उत्तरी मार्ग से भारत में प्रविष्ट हुए। विदेशी आक्रमणों से परेशान होकर पंजाब और गंगाघाटी की अनेक जातियों ने राजपूताना के मरुस्थल में जाकर ही अपनी स्वतंत्रता की रक्षा की थी।

उत्तरी भारत के इस सुविस्तृत मैदान में प्राचीन समय मे बहुत-से छोटे-बड़े राज्य विद्यमान थे। आर्य जाति ने भारत में प्रविष्ट होने के बाद इसमें अनेक राज्य कायम किये। आर्यों के मानव (ऐक्ष्वाकव) और ऐल (चन्द्र) वंशों ने बहुत-सी शाखाओं और प्रशाखाओं में विभक्त होकर इस मैदान मे अपने बहुत-से राज्य स्थापित किये थे। भारत का प्राचीन इतिहास प्रधानतया इसी मैदान का इतिहास है, क्योंकि इसी में वे चक्रवर्ती सम्राट् हुए, जिन्होंने सारे भारत को अपने शासन में लाने के अनेक सफल प्रयत्न किये।

विन्ध्यमेखला—भारत के ठीक बीच मे विन्ध्याचल की पर्वतमाला है, जो पश्चिम में अरावली की पर्वत-शृंखला से शुरू होकर पूर्व मे बंगाल की खाडी के समीप तक चली गई है। विन्ध्याचल से अनेक नदियाँ निकलकर उत्तर की ओर चली गई हैं, और आगे चलकर गंगा नदी में मिल गई है। चम्बल, सिन्ध (पंजाब की सिन्ध नदी नही), बेतवा. केन और सोन नदियाँ इनमे मुख्य हैं। दुर्गम पर्वतों से युक्त विन्ध्याचल का यह प्रदेश उत्तर भारत को दक्षिण भारत से पृथक् करता है। आर्यों के लिए यह तो सुगम था, कि वे उत्तर भारत के मैदान में शीघ्रता से अपना प्रसार कर सकें। पर विन्ध्यमेखला को पार कर दक्षिण भारत में प्रवेश कर सकना बहुत अधिक सुगम नही था। यही कारण है, कि दक्षिण में आर्य-भिन्न जातियाँ बडी संख्या में निवास करती हैं, और नस्ल, भाषा आदि की दृष्टि से दक्षिण भारत और उत्तर भारत में बहुत भेद है। विन्ध्याचल का क्षेत्र पर्वतप्रधान होने के कारण उतना अधिक आबाद व समृद्ध नही है, जितना कि उत्तर भारत का मैदान है।

भौगोलिक दृष्टि से विन्ध्यमेखला के इस क्षेत्र को अनेक भागों में विभक्त किया जा सकता है। ये विभाग निम्नलिखित है—(१) दक्षिण राजपूताना, जो चम्बल नदी के पश्चिम में और अरावली पर्वतमाला के समीप का प्रदेश है। (२) मालवा, जिसमें चम्बल और सिन्ध नदियों की घाटी का प्रदेश, नर्मदा नदी की घाटी का मध्यवर्ती प्रदेश और सातपुड़ा पर्वतमाला का पूर्वी भाग सम्मिलित है। (३) बुन्देलखंड। (४) बघलखंड। (५) झाड़खंड या छोटा नागपुर। गुजरात के शस्य-श्यामल व उपजाऊ प्रदेश को भी विन्ध्यमेखला के ही अन्तर्गत किया जा सकता है, यद्यपि वह इस पर्वतमाला के एक तरफ बगल में रह जाता है। गुजरात न दक्षिण भारत मे है, और न उत्तर भारत के मैदान मे। पर विन्ध्यमेखला के साथ लगा होने के कारण उसका उल्लेख भी इसी क्षेत्र में किया जाना उचित है।

कृषि की दृष्टि से विन्ध्यमेखला का क्षेत्र उत्तर भारत के मैदान का मुकाबला नहीं कर सकता, पर जंगलों और खानों की दृष्टि से वह बहुत समृद्ध है। प्राचीन काल में यह प्रदेश बड़े-बड़े जंगलों से परिपूर्ण था, और इसमें कृषि की विशेष सुविधा नहीं थी। यही कारण है, कि इस क्षेत्र में उत्तर भारत के समान समृद्ध राज्यों व नगरों का विकास नही हो सका। उत्तर और दक्षिण-भारत में सम्बन्ध जोड़ने वाले विविध मार्ग विन्ध्याचल के प्रदेशों मे से होकर ही गये हैं, इस कारण प्राचीन काल मे इस क्षेत्र का सामरिक महत्त्व बहुत अधिक था।

दक्षिण भारत—भारत का दक्षिण भाग आकार में एक त्रिभुज के समान है,

जिसके दो ओर समुद्र और एक ओर विन्ध्याचल की पर्वतमाला है। विन्ध्याचल की दो भुजाएँ दक्षिण भारत के समुद्रतट के साथ-साथ कुछ अन्तर छोड़कर दक्षिण की ओर चली गई है, जो क्रमशः पूर्वी घाट या पश्चिमी घाट कहाती है। पश्चिमी घाट को सह्याद्रि पर्वत भी कहते है। सह्याद्रि पर्वतमाला और समुद्र के बीच मे जो समतल मैदान है, वह चौड़ाई मे बहुत कम है। इसके उत्तरी भाग को कोकण और दक्षिणी भाग को केरल व मलाबार कहते है। ये दोनो प्रदेश उपज की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। प्राचीन काल से अब तक कोकण और केरल अपनी उपज-शक्ति और समृद्धि के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। दक्षिण भारत की सब प्रमुख नदियाँ पश्चिम से पूर्व की ओर बहती हैं। इसका अभिप्राय यह है, कि उसकी जमीन का ढाल पूर्व की ओर है। पश्चिमी घाट की ऊँची पर्वतमालाएँ पूर्व की ओर ऊँचाई मे कम होती जाती है, और इनके कारण कोंकण और केरल से पूर्व की तरफ का दक्षिणी भारत एक पठार के समान है, जिसके उत्तरी भाग को महाराष्ट्र और दक्षिणी भाग को कर्णाटक कहते हैं। महाराष्ट्र का प्रदेश पर्वतप्रधान है, और उसमे खेती की विशेष सुविधा नही है। इसीलिए वहाँ के निवासियो को अपनी आजीविका के लिए विशेष परिश्रम करने की आवश्यकता रही है, और वे स्वभाव से ही परिश्रमी व कष्टसहन की प्रवृत्ति रखने वाले रहे है। कर्णाटक का पठार ऊँचाई मे महाराष्ट्र से अधिक है, परन्तु उसके दक्षिणी सिरे पर पहाडो का सिलसिला समाप्त होकर मैदान आ जाता है। इस कारण यह प्रदेश बहुत उपजाऊ व समृद्ध है, और प्राचीन समय मे यहाँ भी अनेक उन्नत राज्यो का विकास हुआ था।

पश्चिमी घाट के समान पूर्वी घाट की पर्वतमाला भी समुद्रतट से कुछ हटकर उत्तर से दक्षिण की ओर चली गई है। नदियो के कारण पूर्वी घाट की यह पर्वत-शृंखला बीच-बीच में टूट जाती है, और पूर्वी समुद्र मे गिरने वाली इन नदियो के मुहानो द्वारा पूर्वी समुद्र के साथ-साथ समतल मैदान का एक अच्छा चौडा क्षेत्र बन गया है। इस क्षेत्र का सबसे उपरला भाग कलिंग (उडीसा), बीच का भाग आन्ध्र देश, और निचला भाग चोलमंडल (कोरोमडल) कहाता है। ये तीनो प्रदेश बहुत उपजाऊ हैं, और इनमें वर्षा भी प्रचुर मात्रा में होती है। ये प्रदेश न केवल वर्तमान समय मे समृद्ध है, अपितु प्राचीन काल मे भी इनमे अनेक शक्तिशाली और उन्नत राज्यों का विकास हुआ था। कलिंग के राजा मौर्ययुग मे अत्यन्त शक्तिशाली माने जाते थे, और एक बार तो कलिग-राज ने पाटलिपुत्र तक की विजय कर लिया था। आन्ध्र और चोल-राज्यो ने भी एक से अधिक बार उत्तर भारत पर आक्रमण कर उसे अपने अधीन किया था।

दक्षिण भारत को जाने वाला एक प्रधान मार्ग बंगाल से कन्याकुमारी तक समुद्रतट के साथ-साथ जाता है। प्राचीन समय मे यह मार्ग बहुत अधिक प्रयुक्त होता था, और उत्तर भारत के अनेक सम्राटो ने इसी का अनुसरण कर दक्षिण भारत में दिग्विजय की थी।

लंका या सिहलद्वीप भी दक्षिण भारत का ही एक अंग है, जो रामेश्वरम् के आगे सेतुबन्ध की चट्टान-शृंखला द्वारा दक्षिण भारत से प्रायः जुड़ा हुआ-सा है।

प्राचीन भारतीय इतिहास की दृष्टि से सिंहलद्वीप को भी भारत के ही अन्तर्गत रखना उचित होगा।

समुद्र—ऐतिहासिक दृष्टि से भारत के समुद्र का भी बहुत महत्त्व है। प्राचीन भारतीय लोग समुद्र का जहाँ व्यापार के लिए उपयोग करते थे, वहाँ अपनी सभ्यता का विस्तार करने के लिए भी वे समुद्रमार्ग से दूर-दूर तक जाते थे। पूर्वी एशिया में बृहत्तर भारत का जो विकास हुआ, उसका कारण यह समुद्र ही था, जिसे पार करने के लिए भारतीय लोग अनेक प्रकार की नौकाओं और जहाजों का उपयोग करते थे।

(२) भारत के निवासी

भारत एक अत्यन्त विशाल देश है। इसमें सब प्रकार की जलवायु विद्यमान है। इसमें जहाँ एक ओर हिमालय की ऊँची-ऊँची पर्वत-शृंखलाएँ व घाटियाँ है, जिन पर सदा बरफ जमी रहती है, वहाँ दूसरी ओर ऐसे प्रदेश भी है, जो उष्ण कटिबन्ध के अन्तर्गत होने के कारण सदा गरम रहते हैं। जलवायु और प्राकृतिक दशा की भिन्नता के समान इस देश के निवासियो मे भी अनेक प्रकार की विभिन्नताएँ पायी जाती है। इस विभिन्नता के आधार नस्ल और भाषा के भेद है। मनुष्य के शरीर की आकृति, रचना और रंग के आधार पर नृतत्त्व-शास्त्र के विद्वानो ने मनुष्यों को अनेक नस्लो मे विभक्त करने का प्रयत्न किया है। साथ ही, भाषा की भिन्नता के आधार पर भी मनुष्यो मे अनेक जातियो की भिन्नता प्रदर्शित की गई है। शरीर की रचना या भाषा के भेद के आधार पर इस प्रकार से मनुष्यों की विभिन्न जातियो की कल्पना करना कहाँ तक उचित व युक्तिसगत है, इस विषय पर विचार करने की यहाँ हमे आवश्यकता नहीं। पर यह स्पष्ट है, कि भारत के वर्तमान निवासियो को दृष्टि मे रखकर उन्हे अनेक विभागों या जातियो में बाँटा जा सकता है। भाषा के भेद को सम्मुख रखकर भारत-भूमि के निवासियो को जिन मुख्य विभागो मे बाँटा जाता है, वे निम्नलिखित है—

(१) **आर्य**—भारत के निवासियों की बहुसख्या आर्य जाति की है। भाषा की दृष्टि से भारत मे आर्य-भाषाओ को बोलने वालो की सख्या १०० मे ७६·४ है। उत्तर भारत की प्राय· सभी भाषाएँ आर्य-परिवार की है। उडिया, हिन्दी, पजाबी, पश्तो, काश्मीरी, गुजराती, असमी, बगला, मराठी, सिन्धी और लहदा ये सब आर्यभाषाएँ ही है। भारत की आर्य-परिवार की भाषाओ मे हिन्दी सबसे मुख्य है। इसे बोलने वालो की संख्या तीस करोड के लगभग है। साहित्यिक उपयोग के लिए हिन्दी का जो रूप प्रयुक्त होता है, वह कुरु देश (गंगा-यमुना के दोआब का उत्तरी भाग) में बोली जाने वाली खडी बोली का परिष्कृत रूप है। सर्वसाधारण जनता की बोलचाल मे हिन्दी भाषा के जो विविध रूप प्रयुक्त होते है, उनमे प्रमुख ये है—खड़ी बोली, ब्रजभाषा, बांगरू, राजस्थानी, पंजाबी, बुन्देली, अवधी, छत्तीसगढी, बघेली, भोजपुरी, मैथिली, मगही, गोरखाली, कुमाउँनी, गढवाली और कन्नौजी। पश्चिम मे हरियाणा से शुरू कर पूर्व मे बिहार तक और उत्तर मे हिमालय से लगाकर दक्षिण में विन्ध्याचल तक हिन्दीभाषा का क्षेत्र है। असम, बंगाल, उड़ीसा, महाराष्ट्र, सिन्ध, जम्मू, पंजाब,

सीमाप्रान्त और काश्मीर की विविध भाषाएँ भी आर्य-परिवार की है, और इनको बोलने वाले लोग भी आर्य-जाति के माने जाते है । हिन्दी, मराठी और विविध पहाडी बोलियाँ (जिन्हे हिन्दी के ही अन्तर्गत समझना चाहिये) देवनागरी लिपि में लिखी जाती है । आर्य-परिवार की अन्य भाषाओ की लिपियाँ देवनागरी मे कुछ भिन्न है, पर उनकी वर्णमाला देवनागरी के समान ही है । केवल पश्तो और सिन्धी ने मुसलिम प्रभाव के कारण अरबी वर्णमाला और लिपि को अपना लिया है ।

यह कह सकना कठिन है, कि आर्य-भाषाओ को बोलने वाले सब लोग जातीय दृष्टि से भी आर्य है । बगाल, असम आदि पूर्वी भारत के प्रदेशो मे जो लोग बसते है, उनमे आर्य-भिन्न रक्त भी प्रचुर परिमाण मे पाया जाता है । इस प्रकार विन्ध्यमेखला के निवासी आर्य-भाषा-भाषी होते हुए भी नस्ल की दृष्टि से सर्वाश मे आर्य नही माने जाते । वस्तुत, भारत मे रक्त का सम्मिश्रण बहुत हुआ है, और यहाँ के बहुसख्यक निवासी नस्ल की दृष्टि से विशुद्ध आर्य जाति के नही समझे जाते ।

भारत के जिन प्रदेशो मे आजकल आर्य-परिवार की विविध भाषाएँ बोली जाती है, उनमे प्राचीन काल मे भी आर्य भाषाएँ ही प्रचलित थीं । सस्कृत, पाली, प्राकृत व उनके अपभ्रंश विविध समयों मे इन प्रदेशों मे बोले जाते थे । वस्तुत, भारत की आधुनिक आर्य-भाषाएँ इन प्राचीन आर्य-भाषाओं मे ही विकसित हुई है । जिन प्रदेशो मे आजकल आर्य-भाषाओ का चलन नही है, उनकी भाषाओ पर भी प्राचीन आर्य-भाषा सस्कृत का गहरा प्रभाव है । उनमे सस्कृत के शब्द बहुत बडी सख्या मे विद्यमान है, और उन प्रदेशो के विद्वान् संस्कृत का अध्ययन करना अत्यन्त गौरव की बात समझते है ।

(२) **द्रविड़**--भारत के निवासियो मे द्रविड लोगों की सख्या १०० मे २१.६ है । ये प्रधानतया दक्षिण भारत मे निवास करते है । वर्तमान समय की द्रविड भाषाओं मे मुख्य निम्नलिखित है—तेलगू, तमिल, मलयालम और कन्नड । ये क्रमश आन्ध्रप्रदेश, तमिलनाडु केरल और कर्णाटक मे बोली जाती है । इनके अतिरिक्त कुछ अन्य भाषाएँ भी है, जिन्हे द्रविडवर्ग के अन्तर्गत रखा जाता है । इनमे से अन्यतम ब्राहुई उत्तर भारत के पश्चिमी कोने मे सुदूरवर्ती कलात मे बोली जाती है । ब्राहुई भाषा को बोलने वालो की सख्या दो लाख के लगभग है । उत्तर भारत मे बलोचिस्तान मे एक द्रविड भाषा की सत्ता से यह अनुमान किया जाता है, कि आर्यो के समान द्रविड लोग भी पश्चिम की ओर मे भारत मे प्रविष्ट हुए थे, और वे भारत के मूल निवासी नही है । अन्य द्रविड भाषाओ मे गोंडी, कुई, कुरुखी और मल्तो बोलियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय है । ये बोलियाँ मध्य भारत के विविध क्षेत्रों मे बोली जाती है, और भाषा-शास्त्र की दृष्टि से इन्हे द्रविड-परिवार की भाषाएँ माना जाता है ।

(३) **मुड या शाबर**—इस शाखा की बोलियाँ विन्ध्यमेखला व उसके पडोस के प्रदेशो मे बोली जाती हैं । इनके बोलनेवालो की कुल सख्या चालीस लाख के लगभग है । मुड-भाषाभाषी लोग प्रधानतया छोटा नागपुर और संथाल परगनो के जगल प्रधान प्रदेशो मे निवास करते हैं । इनकी भाषा की न कोई लिपि है और न वर्णमाला । इस दशा मे इस भाषा का कोई साहित्य तो हो ही नहीं सकता । पडोस की अधिक विकसित व सम्पन्न भाषाएँ धीरे-धीरे इन बोलियो को आत्मसात् करती जाती हैं ।

(४) **किरात**—इस शाखा के वास्तविक अभिजन तिब्बत और बरमा हैं। इस जाति के लोग न केवल तिब्बत और बरमा मे अपितु चीन और हिन्दचीन में भी छाये हुए है। जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है, इस देश मे किरात-जाति की तीन शाखाएँ विद्यमान हैं—(१) तिब्बत-हिमालयी, (२) असमोत्तरक और (३) असम-बर्मी या लौहित्य। तिब्बत की सीमा के समीप स्थित भारतीय प्रदेशो मे अनेक बोलियाँ बोली जाती है, जो किरातवर्ग की हैं। इनमे बाल्ती (बाल्तिस्तान की) और लद्दाखी (लद्दाख की) बोलियाँ मुख्य है। असम के उत्तरी प्रदेशो मे निवास करने वाली अनेक जातियाँ भी किरात-भाषाएँ बोलती है। इसी प्रकार लौहित्य घाटी मे (असम मे) अनेक ऐसी जातियो का निवास है, जिनकी बोलियो को किरातवर्ग के अन्तर्गत किया जाता है।

मुड और किरात-परिवार की जिन भाषाओं का उल्लेख हमने इस प्रकरण मे किया है, उन्हें बोलनेवालो की कुल सख्या १०० मे ३ के लगभग है। भारत की कुल जनसख्या को दृष्टि मे रखते हुए इनकी सत्ता नगण्य ही समझी जा सकती है। ये भाषाएँ प्राय अविकसित दशा मे है, और इनमे साहित्य का सर्वथा अभाव है। वह समय दूर नही है, जबकि इन भाषाओ को बोलनेवाले लोग अपने पड़ोस मे रहनेवाले आर्यो के सास्कृतिक प्रभाव मे आ जाएँगे।

(३) भारत की आधारभूत एकता

इसमे सन्देह नही, कि भारत मे ऐसे अनेक तत्त्व विद्यमान है, जो इस विशाल देश मे अनेक प्रकार की विभिन्नताओं को उत्पन्न करते है। इस देश की भौगोलिक दशा सर्वत्र एकसदृश नही है। इसके विविध प्रदेशो में कही समतल मैदान है, तो कहीं पर्वतप्रधान प्रदेश, घाटियाँ व पठार भी विद्यमान है। कही अत्यन्त सूखे रेगिस्तान हैं, तो कही ऐसे भी प्रदेश है, जहाँ साल मे कई सौ इच वर्षा पडती है। प्राकृतिक दृष्टि से देखने पर पूर्वी बगाल और राजपूताना मे व कूर्माञ्चल और काशी में भारी भेद दृष्टि-गोचर होता है। इस देश मे अनेक नसलों व जातियो के लोगो का निवास है। आर्य, द्रविड मुड, किरात आदि कितनी ही जातियो के लोग यहाँ बसते है। हिन्दी, गुजराती, मराठी, तेलुगू, तमिल, बँगला आदि कितनी ही भाषाएँ इस देश मे बोली जाती है। यहाँ बारह से अधिक समुन्नत भाषाएँ व सैकडो की सख्या मे बोलियाँ की सत्ता है। धर्म की दृष्टि से भी इस देश मे एकता का अभाव है। हिन्दू, मुसलिम, ईसाई, बौद्ध, जैन, पारसी आदि कितने ही धर्म यहाँ विद्यमान है। विविध धर्मों के अनुयायियों मे, विशेषतया हिन्दुओ और मुसलमानो मे विरोध की भावना भी इस देश मे पर्याप्त प्रबल रही है। देश की विशालता के कारण यहाँ के निवासियो मे भौगोलिक एकता की अनुभूति भी भलीभाँति विद्यमान नही है। पंजाब के निवासी अपने को पजाबी समझते है, और बगाल के निवासी बगाली। ऐतिहासिक दृष्टि से भारत अनेक छोटे-बडे राज्यों मे विभक्त रहा है। मौर्य, गुप्त आदि कतिपय प्राचीन राजवशो और मुगलो के शासन मे भारत का बडा भाग कुछ समय के लिए चाहे एक शासन के अधीन रहा हो, पर ब्रिटिश शासन से पूर्व हम प्रायः यही देखते है, कि इस देश मे अनेक राज्य थे, जो प्रायः आपस मे सघर्ष

करते रहते थे। इस दशा मे यदि अनेक विचारक भारत को एक भूखंड मात्र समझें, और उसकी राष्ट्रीय एकता से इन्कार करें, तो यह आश्चर्य की बात नही है। इसी कारण यह भी बहुत सुगम नही रहता, कि सारे भारत का इतिहास एक साथ लिखा जा सके। वस्तुतः, भारत का राजनीतिक इतिहास विविध राजवंशों के पारस्परिक संघर्ष का ही वृत्तान्त है।

पर अधिक गम्भीर दृष्टि से विचार करने पर अनेक विविधताओं के होते हुए भी भारत की आधारभूत एकता को समझने मे कठिनाई नही होगी। जो तत्त्व भारत मे एक प्रकार की आधारभूत एकता को स्थापित करते है, उनका यहाँ सक्षेप से उल्लेख करना उपयोगी है :—

(१) **भौगोलिक एकता**—प्रकृति ने भारत को एक अत्यन्त सुन्दर व स्वाभाविक सीमा प्रदान की है, यह पहले लिखा जा चुका है। भारत की भौगोलिक एकता इस देश के लोगो मे एक प्रकार की एकानुभूति उत्पन्न करती रही है। भारत के निवासी सदा से अपने देश के प्रति एक विशेष प्रकार की ममता का अनुभव करते रहे है। उन्होंने सदा यह माना है कि यह उनकी मातृभूमि और देवभूमि है। सम्पूर्ण भारत मे उन्होंने एक सिरे से दूसरे सिरे तक तीर्थों और देवस्थानो की स्थापना की थी। यहाँ के निवासी हिन्दू लोग भारत के पर्वतो, जंगलो, नदियो और पुरियो को पवित्र मानते रहे है। गगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्ध और कावेरी—ये सात नदियाँ भारत के सब हिन्दुओ के लिए पवित्र है। प्रत्येक हिन्दू की यह आकाक्षा रहती है, कि वह इन सातों नदियो मे स्नान कर अपने जीवन को सफल करे। दक्षिण भारत के हिन्दू के लिए गगा भी उतनी ही पवित्र है, जितनी कि कावेरी। यही दशा उत्तर भारत के हिन्दू की है। महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान्, ऋक्ष, विन्ध्य और पारियात्र—ये सात पर्वत सब हिन्दुओ के लिए पवित्र है। इसी प्रकार अयोध्या, मथुरा, मायापुरी, काशी, काँची, अव-न्तिका और द्वारवती (द्वारिका)—ये सात पुरियाँ हिन्दुओ की दृष्टि मे पवित्र है, और इनमे तीर्थयात्रा के लिए जाना सब हिन्दुओ के लिए एक पवित्र कर्त्तव्य है। दक्षिण में काँची से उत्तर मे मायापुरी तक यात्रा करने वाला हिन्दू इस सारे देश के प्रति एक आदर और पवित्रता की भावना रखता है, इसमे सन्देह नही। हिन्दुओ के विविध तीर्थ उत्तर में अमरनाथ और केदारनाथ से शुरू होकर दक्षिण मे रामेश्वरम् तक फैले हुए है। इसी प्रकार मुसलमानो के भी अनेक पीरो और औलियो की स्मृति भारत के विभिन्न स्थानों के साथ जुडी हुई है। भारत के बौद्धिक नेताओं ने भी भारत की इस भौगोलिक एकता को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया था। यही कारण है, कि केरल-देश मे उत्पन्न हुए आचार्य शकराचार्य ने अपने विविध मठो की स्थापना उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम—सर्वत्र की थी। इस दशा मे यदि भारत के विभिन्न निवासी इस देश के प्रति ममता और एकता की भावना रखे, तो स्वाभाविक ही है।

(२) **जातीय एकता**—यह ठीक है, कि भारत मे अनेक नसलो के लोग निवास करते है, पर इन विविध नसलो मे सम्मिश्रण भी खूब हुआ है। इस समय भारत की बहुसंख्यक जनता आर्यों और द्रविडो का सम्मिश्रण ही है। इस देश मे भाषाओ की भिन्नता अवश्य है, पर यहाँ की प्रायः सभी भाषाएँ एक ही सांचे मे ढली हुई हैं। भारत

की अनेक द्रविड़ भाषाओं तक ने आर्यों की वर्णमाला को अपना लिया है। आर्यों और द्रविड़ों का भारत के इतिहास मे इतना अधिक सामंजस्य हो गया है, कि आज प्रायः सारे भारत की एक वर्णमाला है, और एक वाङ्मय है। न केवल वैदिक और संस्कृत साहित्य का सारे भारत मे समान रूप से आदर है, अपितु मध्यकालीन सन्तो और विचारको के विचार भी सारे भारत को एक समान रूप से प्रभावित किये हुए है। संस्कृत-साहित्य के ग्रंथ दक्षिण भारत के द्रविड-भाषाभाषी लोगो मे भी उसी प्रकार आदर के साथ पढ़े जाते है, जैसे कि उत्तर-भारत मे। नसल और भाषा की विविधता के होते हुए भी प्राय. सम्पूर्ण भारत के निवासी एक प्रकार की सामाजिक रचना रखते है। सर्वत्र वर्णाश्रम-व्यवस्था का एक समान रूप है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का भेद दक्षिण-भारत मे भी वैसा ही है, जैसा कि उत्तर-भारत में। आश्रम-मर्यादा का भी सर्वत्र एक समान रूप से पालन किया जाता है। इस दशा मे सारे भारत मे एक प्रकार की जातीय एकता उत्पन्न हो गई है, जो नसल और भाषा के भेद को बहुत महत्त्व का नही रहने देती।

(३) **संस्कृति की एकता**—सांस्कृतिक एकता भारत की एक भारी विशेषता है। इस देश के न केवल हिन्दू अपितु मुसलमान, पारसी और ईसाई भी एक ही संस्कृति के रग मे रगे हुए है। यह संस्कृति वैदिक, बौद्ध, जैन, हिन्दू, मुस्लिम और आधुनिक संस्कृतियो के सम्मिश्रण से बनी है। भारत के मुसलमान अपने विचारो, रीति-रिवाजो व अभ्यासो की दृष्टि से अरब व तुर्की के मुसलमानो से बहुत भिन्न है। लखनऊ या दिल्ली का मुसलमान कैरो या कोन्स्टेण्टिनोपल मे जाकर अपने को सर्वथा विदेशी अनुभव करेगा। अरबों व तुर्कों के साथ धार्मिक एकता होते हुए भी वह लखनऊ और दिल्ली के हिन्दू के अधिक समीप है। इसका कारण संस्कृति की एकता है। जो रिवाज व सामाजिक आचार-विचार हिन्दू के है, प्राय. वही भारतीय मुसलमान के भी है। भारत के बहुसंख्यक मुसलमानो के पूर्वज हिन्दू ही थे। धर्म-परिवर्तन से उनके संस्कारो व परम्परागत विचारो मे मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ। इसी प्रकार आन्ध्र, तमिलनाडु, बंगाल, गुजरात आदि में विभिन्न भाषाभाषी जो जन-समुदाय निवास करते है, वे सब एक संस्कृति के ही अनुयायी है। राम और कृष्ण के आदर्श, अर्जुन और भीम की वीर-गाथाएँ व नानक और तुलसी के उपदेश उन्हे समान रूप से प्रभावित करते है। संस्कृति की यह एकता ऐसी है, जो नसल, भाषा आदि के भेद की अपेक्षा अधिक महत्त्व की है। इसी के कारण सम्पूर्ण भारतीय अपने को चीनी, ईरानी, अरब, अंग्रेज आदि अन्य राष्ट्रीयताओं से भिन्न समझते है, और अपने को एक मानते हैं।

(४) **राजनीतिक एकता**—इसमे सन्देह नही, कि प्राचीन भारत मे बहुत से छोटे-बडे राज्य विद्यमान थे। पर साथ ही यह बात भी सत्य है कि बहुत प्राचीन समय से इस देश मे यह विचार विद्यमान था, कि यह विशाल देश एक चक्रवर्ती साम्राज्य का उपयुक्त क्षेत्र है, और इसमे एक ही राजनीतिक शक्ति का शासन होना चाहिए। आचार्य चाणक्य ने कितने सुन्दर रूप से यह प्रतिपादित किया था, कि हिमालय से समुद्र-पर्यन्त जो सहस्र योजन विस्तीर्ण प्रदेश है, वह एक चक्रवर्ती शासन का क्षेत्र है। चाणक्य के इस स्वप्न को उसके शिष्य मौर्य चन्द्रगुप्त ने क्रिया मे परिणत किया और हिमालय से समुद्र तक मागध-साम्राज्य की स्थापना की। पर चन्द्रगुप्त मौर्य से पूर्व

भी अनेक सम्राटों ने दिग्विजय द्वारा भारत के विविध आर्य-राज्यों मे राजनीतिक एकता को प्रादुर्भूत किया था। मान्धाता, भरत आदि कितने ही राजा वैदिक काल में भी ऐसे हुए, जिनका प्रयत्न सम्पूर्ण आर्यावर्त्त मे एक शासन स्थापित करने का था, और जो राजसूय आदि यज्ञो द्वारा चक्रवर्ती, सार्वभौम व सम्राट्-पद को प्राप्त करने मे समर्थ हुए थे। प्राचीन समय मे भारत चाहे सदा एक शासन मे न रहा हो, पर इस देश मे यह अनुभूति प्रबल रूप से विद्यमान थी, कि यह एक देश है, और इसमें जो धार्मिक, साहित्यिक व सास्कृतिक एकता है, उसे राजनीतिक क्षेत्र मे भी अभिव्यक्त होना चाहिए। यही कारण है, कि विविध राज्यो और राजवंशो की सत्ता के होते हुए भी इस देश के इतिहास को एक साथ प्रतिपादित किया जा सकता है।

भारत बहुत बडा देश है। प्राचीन समय मे तो ग्रीस, इटली, इगलैण्ड जैसे छोटे-छोटे देशो मे भी बहुत-से राज्य विद्यमान थे। ग्रीस मे स्पार्टा, एथन्स, कोरिन्थ आदि के रूप मे कितने ही छोटे-छोटे नगर-राज्यो की सत्ता थी। यही बात इटली, इगलैण्ड, मिस्र, ईरान आदि देशो के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है। बहुत-से नगर-राज्यो की सत्ता के होते हुए भी ग्रीस को एक देश समझा जाता था, क्योकि उसमे संस्कृति की एकता थी, और ग्रीक लोग अपने मे एक प्रकार की एकानुभूति रखते थे। ठीक यही बात भारत के सबध मे भी है। जिस प्रकार मैसिडोन के नेतृत्व मे ग्रीक नगर-राज्य एक राजनीतिक सूत्र मे सगठित हुए, वैसे ही मगध के नेतृत्व मे आगे चल-कर भारत के विविध राज्य एक साम्राज्य के अधीन हुए। यदि केवल विविध राज्यो की सत्ता के कारण भारत की आधारभूत एकता से इन्कार किया जाय, तो यह भी मानना होगा, कि ग्रीस, इटली, इगलैण्ड आदि सभी देश प्राचीन समय मे एकता से शून्य थे। पर किसी देश की एकता के लिए राजनीतिक एकता सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व नही होती। धर्म, संस्कृति, भूगोल, परम्परा आदि की एकता ने ही आगे चलकर ग्रीस, इटली, इगलैण्ड, जर्मनी आदि को एक सगठन मे सगठित किया। इसी प्रकार भारत भी आगे चलकर राजनीतिक दृष्टि से भी एक हो गया। पर जिन तत्त्वो के कारण उसका एक होना सम्भव हुआ, वे प्राचीनकाल मे भी यहा विद्यमान थे।

इसमे सन्देह नही, कि भारत मे अनेक प्रकार की विभिन्नताएँ विद्यमान है। पर इन विभिन्नताओ के होते हुए भी इस देश मे एक आधारभूत एकता की सत्ता है, इस बात से इन्कार नही किया जा सकता। वस्तुत, इस देश की स्थिति सघात्मक शासन के लिए बहुत उपयुक्त है। भारत-जैसे विशाल देश को विविध खडो मे विभक्त कर यदि उन्हे एक सघ मे सगठित किया जाए, तो यह बात यहाँ के लिए बहुत उपयोगी होगी। विविध खडो मे इस देश की विभिन्न भाषाओ, साहित्य, पृथक् परम्परा आदि को विकास का पूरा अवसर मिलेगा, और सघ द्वारा वह आधारभूत एकता भली-भाँति अभिव्यक्त हो सकेगी, जो भारत को अन्य सब देशो से पृथक् करती है। स्वतत्र भारत के नये सविधान मे इसी सिद्धान्त का अनुसरण किया गया है।

प्राचीन भारत का इतिहास लिखते हुए जहाँ हम उस धर्म, सभ्यता, संस्कृति, साहित्य और सामाजिक सगठन के विकास का वृत्तान्त लिखते है, जो सारे भारत मे समान रूप से विकसित हुए, वहाँ साथ ही हम उस प्रयत्न का भी प्रदर्शन करते है, जो

इस देश में राजनीतिक एकता की स्थापना के लिए निरन्तर जारी रहा। यही कारण है, कि हम इसका इतिहास एक साथ लिखने में समर्थ होते हैं।

(४) भौगोलिक दशा का भारतीय इतिहास पर प्रभाव

भौगोलिक परिस्थितियों ने भारत के इतिहास को अनेक प्रकार से प्रभावित किया है—

(१) **विविध राज्यों की सत्ता**—भारत के सीमान्त के पर्वतप्रधान प्रदेशों में बहुत-से छोटे-छोटे राज्यों की सत्ता रही है, जो अपनी विकट भौगोलिक परिस्थिति के कारण साम्राज्यवादी विजेताओं की विजयों के प्रभाव से प्रायः बचे रहे हैं। मगध के बार्हद्रथ, नन्द, मौर्य, गुप्त आदि राजवंशों के प्रतापी सम्राट् उत्तर भारत के सुविस्तृत मैदान को अपनी अधीनता में लाने में समर्थ हुए। पर काश्मीर, अभिसार, त्रिगर्त, कुलूत, गढदेश, कूर्माञ्चल, नैपाल आदि पार्वत्य-प्रदेशों को वे स्थिर रूप से अपने विशाल साम्राज्यों के अन्तर्गत नहीं कर सके। विन्ध्यमेखला के कारण उनके लिए यह भी सम्भव नहीं हुआ, कि वे दक्षिण-भारत पर स्थिर रूप से अपना शासन स्थापित कर सकते। अफगान और मुगल-सम्राट् भी जो सारे भारत को अपनी अधीनता में नहीं ला सके, उसका मुख्य कारण भी इस देश की भौगोलिक परिस्थितियाँ ही थी। राजनीतिक दृष्टि से दक्षिण भारत का इतिहास प्राय उत्तर भारत के इतिहास से पृथक् रहा, क्योंकि विन्ध्यमेखला भारत के इन दोनों भागों के मध्य में एक विशाल दीवार का काम करती रही। दक्षिण भारत में पश्चिमी घाट और पूर्वी घाट की पर्वतमालाओं के कारण वहाँ उस ढंग के विशाल साम्राज्यों का विकास सम्भव नहीं हुआ, जैसा कि उत्तर भारत के सुविस्तृत मैदान में हुआ था। दक्षिण भारत अनेक छोटे-बड़े राज्यों में विभक्त रहा, जो निरन्तर परस्पर के युद्धों में व्यापृत रहे। शक्तिशाली मुगल सम्राट् भी इस प्रदेश को अविकल रूप से अपनी अधीनता में लाने में असमर्थ रहे। उत्तर भारत के विस्तृत मैदान में जो शक्तिशाली विशाल साम्राज्यों का विकास सभव हुआ, उसका कारण वहाँ की भौगोलिक दशा ही थी। इस प्रदेश में कोई ऐसी प्राकृतिक बाधाएँ नहीं थी, जो मगध, कन्नौज और दिल्ली के शक्तिशाली सम्राटों की राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति में बाधक हो सकती। इसीलिये सदियों तक भारत का यह भाग एक शासन की अधीनता में रह सका, और यहाँ एक ऐसी सभ्यता का विकास हुआ, जो इसके सब निवासियों को सांस्कृतिक दृष्टि से एक सूत्र में बाँध रखने में समर्थ रही।

(२) **पृथक् सभ्यता का विकास**—भौगोलिक दृष्टि से अनेक भागों में विभक्त होते हुए भी भारत संसार के अन्य भूखण्डों से पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता रखता है। इस देश को एक ऐसी प्राकृतिक सीमा प्राप्त है, जो अन्य देशों को प्राप्त नहीं है। महासमुद्र और दुर्गम पर्वतशृंखलाओं से घिरा हुआ यह देश एक विशाल दुर्ग के समान है, जिसमें एकता की अनुभूति अत्यन्त प्राचीन काल से विद्यमान रही है। जहाँ एक ओर शक्तिशाली सम्राट् इस देश को राजनीतिक दृष्टि से एक शासन में लाने का प्रयत्न करते रहे, वहाँ दूसरी ओर यहाँ के धर्माचार्य और सन्त-महात्मा इस सम्पूर्ण देश में एक धर्म

और एक संस्कृति की स्थापना के लिए तत्पर रहे। यही कारण है, कि भारत मे एक ऐसी सभ्यता और संस्कृति का विकास हुआ जो इस देश की अपनी चीज है, और जिसका पडोस के अन्य देशों के साथ विशेष सम्बन्ध नही है। यह सच है, कि भारत ने समीपवर्ती अन्य देशों को भी अपनी सस्कृति के प्रभाव मे लाने का प्रयत्न किया। कुछ समय तक अफगानिस्तान, तुर्किस्तान, तिब्बत, बरमा, मलाया, सियाम आदि देश भारतीय सस्कृति के प्रभाव मे भी रहे। पर भौगोलिक परिस्थितियो के कारण ही ये सब देश देर तक भारत के सास्कृतिक प्रभाव मे नही रह सके, और उनमे अपनी पृथक् संस्कृतियो का विकास हुआ। भारत जो अपनी एक पृथक् व स्वतत्र सभ्यता और सस्कृति का विकास करने मे समर्थ हुआ, उसका एक महत्त्वपूर्ण कारण यही था, कि भौगोलिक परिस्थितियो ने इसे पृथ्वी के अन्य क्षेत्रो से पृथक् कर रखा था।

(३) **अन्य देशों से सम्बन्ध**—यद्यपि भौगोलिक दृष्टि से भारत की पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता है, पर अन्य देशो के साथ उसका सम्पर्क सदा कायम रहा है। इस देश की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर विद्यमान दुर्गम पर्वत-माला मे दो ऐसे द्वार है, जो विदेशो के साथ इसका सम्बन्ध निरन्तर बनाये रहे है। ये मार्ग खैबर और बोलन के दर्रो के रूप मे है। जहाँ अनेक विदेशी जातियो ने इन मार्गों से प्रवेश कर इस देश को अपनी अधीनता मे लाने का प्रयत्न किया, वहाँ चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य-जैसे प्रतापी विजेता इन मार्गो मे ही बाह्लीक देश तक की विजय करने मे समर्थ हुए। इन मार्गों मे जाकर बहुत-से धर्म-प्रचारको ने भारतीय धर्म और संस्कृति का पश्चिम व उत्तर मे दूर-दूर तक प्रसार किया। केवल इन दो दर्रों से ही नही, अपितु हिमालय पर्वतशृखला के अन्य अनेक मार्गो द्वारा भी भारत का पडोस के देशों के साथ सम्बन्ध कायम रहा। भारत के सुविस्तीर्ण समुद्रतट ने भी विदेशो के साथ सम्पर्क को स्थापित करने मे सहायता पहुँचाई। इस देश के व्यापारी जहाँ जलमार्ग से उत्तर-पूर्व मे चीन तक और पश्चिम मे ईरान और अरब तक व्यापार करने मे व्यापृत रहे, वहाँ साथ ही इस देश के बहुत-से धर्म-प्रचारक व विद्वान् समुद्र के मार्ग से इण्डोचायना, इण्डोनीसिया आदि सुदूरवर्ती प्रदेशो मे भारतीय धर्म व सस्कृति के प्रचार के लिए प्रयत्नशील रहे। इस स्थिति का परिणाम यह हुआ, कि अन्य देशो के साथ भारत का सम्पर्क निरन्तर कायम रहा, और इस देश की विशिष्ट सस्कृति के विकास मे इस सम्पर्क ने बहुत सहायता पहुँचाई। यह समझना भूल है, कि भारत ऐतिहासिक दृष्टि से ससार के घटनाप्रवाह से पृथक् रहा है। जहाँ एक ओर भारत के विचारक और धर्म-प्रचारक एशिया के बहुत बडे भाग को अपनी विचारधारा द्वारा प्रभावित करते रहे है, वहाँ साथ ही पडोस के विदेशी राज्यो की राजनीतिक व सास्कृतिक उथल-पुथल भी इस देश के इतिहास पर अपना प्रभाव डालती रही है। यवन, शक, युइशी, हूण, अफगान, मुगल आदि कितने ही विदेशी लोग समय-समय पर भारत मे प्रविष्ट हुए, और इन सबने इस देश के इतिहास को प्रभावित किया। यही कारण है, कि भारत की सस्कृति पर अन्य जातियो का प्रभाव भी कम नही है। वस्तुत, भारतीय संस्कृति अनेक संस्कृतियो का सम्मिश्रण है। वैदिक युग में आर्यो की जो संस्कृति थी, उसपर भी द्रविड लोगो का प्रभाव था।

बाद में कितने ही नये लोगों ने इस संस्कृति को प्रभावित किया, यद्यपि आर्यों की सस्कृति की मूलधारा नष्ट नही होने पाई।

(४) **एकता और विभिन्नता**—भारत की भौगोलिक परिस्थितियों मे बहुत विभिन्नता है। इस देश के कुछ भाग जहाँ सदा हिम से आच्छादित रहते हैं, तो अन्य भाग मरुस्थल के रूप मे है। हरे-भरे मैदान, पहाडियों से परिपूर्ण पठार, रेगिस्तान आदि सब प्रकार के प्रदेश इस विशाल देश मे विद्यमान हैं। भौगोलिक दृष्टि से इतनी विभिन्नताओ के होते हुए भी यह देश प्राकृतिक दृष्टि से अपनी पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता रखता है। इस विशिष्ट भौगोलिक परिस्थिति ने भारत के इतिहास और सस्कृति पर बहुत प्रभाव डाला है। यहाँ जो लोग निवास करते है, वे अपने चरित्र, व्यवहार और परम्परा आदि की दृष्टि से एक-दूसरे से बहुत भिन्न है। पहाड़ो पर निवास करनेवाले गढवाली, गोरखे व मराठे राजपूताना के रेगिस्तान मे रहनेवाले लोगो से भिन्न प्रकृति रखते है, और वे लोग उत्तरी भारत के हरे-भरे उपजाऊ मैदान के निवासियों से बहुत भिन्न है। इस देश की विशालता और उसमें विद्यमान विविध प्रकार की जलवायु के कारण इसके निवासियो मे बहुत-सी विभिन्नताओ का विकास हो गया है। पर ये विभिन्नताएँ इस देश की आधारभूत एकता को नष्ट नही कर सकी। जिस प्रकार भौगोलिक परिस्थितियो की विभिन्नता के होते हुए भी यह देश एक है, वैसे ही अनेक प्रकार के लोगो का निवास होने पर भी उन सबमे एक प्रकार की एकानुभूति विद्यमान है, जिसका कारण उनके इतिहास और सस्कृति की एकता है। विभिन्नता के रहते हुए भी एकता की सत्ता इस देश की एक अपनी विशेषता है, और इसमे यहाँ की भौगोलिक दशा बहुत सहायक हुई है।

अनेक ऐतिहासिकों का यह विचार है, कि भारत की गरम जलवायु के कारण यहाँ के निवासियो मे परिश्रम और अध्यवसाय का अभाव है। वे जो सुगमता से आक्रमणकारी लोगो की अधीनता मे आ गये और उन्नति की दौड मे यूरोप व अमेरिका से पीछे रह गये, उसके लिए यहाँ की भौगोलिक परिस्थितियाँ उत्तरदायी है। पर गम्भीरता से विचार करने पर यह बात सत्य प्रतीत नही होती। यह सत्य है, कि अनेक विदेशी आक्रान्ता भारत के कतिपय भागो को जीतने मे समर्थ हुए। अनेक सदियो तक भारत विदेशी शासको की अधीनता मे भी रहा। पर यह बात यूरोप के अनेक देशो के सबध मे भी कही जा सकती है। मंगोल आक्रान्ता विएना तक यूरोप को जीतने मे समर्थ हुए थे और पूर्वी यूरोप के अनेक देश तो सदियो तक तुर्कों के अधीन रहे थे। उन्नति की दौड मे यदि भारत आधुनिक युग मे पाश्चात्य देशो के मुकाबिले मे पीछे रह गया, तो प्राचीन काल और मध्ययुग मे भारत यूरोप से किसी भी प्रकार कम उन्नत नही था। उन्नति की दौड मे तो रूस भी पश्चिमी यूरोप के मुकाबिले मे बहुत पीछे रह गया था। बीसवी सदी के प्रारम्भ तक इगलैण्ड, फ्रास, जर्मनी आदि की अपेक्षा रूस बहुत पिछडा हुआ था। आधुनिक युग मे जो भारत दुर्दशाग्रस्त रहा, उसकी उत्तरदायिता उसकी जलवायु व भौगोलिक परिस्थिति पर नही है। उसके कारण अन्य है। पर इसमे सन्देह नही, कि भारत की भौगोलिक दशा ने अनेक प्रकार से इस देश के इतिहास को प्रभावित किया है।

तीसरा अध्याय

सभ्यता का आदिकाल और सिन्धु सभ्यता

(१) पुरातन प्रस्तर-युग

आधुनिक विद्वानों का यह मत है पृथिवी पर जीव-जन्तुओं का विकास धीरे-धीरे हुआ, और वानर जाति के एक प्राणी से विकसित होते-होते मनुष्य की उत्पत्ति हुई। मनुष्य को पृथिवी पर प्रकट हुए अभी कुछ लाख साल से अधिक समय नहीं हुआ है।

पुरातन प्रस्तर-युग —शुरू में जब मनुष्य पृथिवी पर प्रकट हुआ, तो उसमें और अन्य चौपायों में बहुत कम भेद था। अन्य पशुओं के समान वह भी अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए आर्थिक उत्पत्ति नहीं करता था, अपितु प्रकृति द्वारा प्रदान की गई वस्तुओं पर ही निर्भर रहता था। पर अन्य पशुओं की अपेक्षा मनुष्य का दिमाग अधिक बड़ा था। उसके पास बुद्धि नामक एक ऐसी वस्तु थी, जो अन्य जन्तुओं के पास नहीं थी। इसका परिणाम यह हुआ कि मनुष्य शिकार करते हुए केवल अपने हाथों और पैरों पर ही निर्भर नहीं रहता था, अपितु अनेक प्रकार के औजार बनाकर उनका भी उपयोग किया करता था।

पुरातन प्रस्तर-युग का मनुष्य पत्थर, हड्डी और लकड़ी के मोटे व भद्दे औजार बनाता था। पत्थर का टुकड़ा काटकर उसे आगे से पतला व नुकीला करके उसे वह शिकार करने, मांस काटने व इसी तरह के अन्य कामों के लिए प्रयोग में लाता था। मकान बनाना वह नहीं जानता था। वह गुफाओं में रहता था, और वहीं आग में मांस आदि भोजन को भूनकर खाता था। पत्थर को रगड़कर आग उत्पन्न करने की कला मनुष्य ने बहुत शुरू में ही जान ली थी। बरतन बनाने का शिल्प अभी उसे ज्ञात नहीं था। वह प्रायः नदियों व जलाशयों के समीप निवास करता था वह किसी निश्चित स्थान पर बसकर नहीं रहता था। शिकार की खोज में वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर दूर-दूर तक चला जाता था। कला का भी उसे कुछ-कुछ ज्ञान था। गुफा की दीवारों पर कोयले व रंगीन मिट्टी से अनेक प्रकार के चित्र बनाकर अपने मनोभावों को प्रकट करने का भी वह प्रयत्न करता था। नृतत्त्व-शास्त्र (एन्थ्रोपोलोजी) के अनुसार पुरातन प्रस्तर-युग अब से लगभग छः लाख साल पूर्व शुरू होकर अब से प्रायः दस हजार साल पहले तक जारी रहा। इतने लम्बे समय में मनुष्य ने सभ्यता के क्षेत्र में बहुत कम उन्नति की। उसके पत्थर, हड्डी व लकड़ी के औजारों में कुछ-न-कुछ उन्नति अवश्य होती गई, पर उसकी आजीविका का साधन शिकार व जंगल में उत्पन्न होनेवाले कन्द, मूल, फल व अन्न का भोजन ही बना रहा। कृषि व पशुपालन द्वारा अपनी आवश्यकताओं को स्वयं पूर्ण करने का प्रयत्न इस सुदीर्घ काल में मनुष्य ने नहीं किया।

प्रस्तर-युग के अवशेषों के क्षेत्र —भारत के जिन प्रदेशों से पुरातन प्रस्तर-युग के अवशेष उपलब्ध हुए हैं, वे निम्नलिखित हैं :- (१) रावलपिंडी जिले का पोठवार-प्रदेश।

(२) काश्मीर मे पुञ्छ का क्षेत्र। (३) उत्तर-पश्चिमी पंजाब मे स्थित ख्यूड़ा की नमक की पहाडियों का प्रदेश। (४) नर्मदा नदी की घाटी। (५) दक्खन का करनूल जिला। (६) गुजरात मे साबरमती नदी की घाटी। (७) मद्रास प्रान्त का समुद्रतटवर्ती प्रदेश। (८) बम्बई के समीप खण्डिव्ली का प्रदेश। (९) उडीसा की मयूरभंज रियासत मे कुलियाना का क्षेत्र। (१०) माइसूर रियासत में वेल्लारी का प्रदेश।

भारत में प्राप्त पुरातन प्रस्तर-युग के अवशेषो मे पोठवार-क्षेत्र के अवशेष सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। सिन्ध नदी की एक सहायक नदी है, जिसे सोआँ कहते है। यह रावलपिण्डी जिले के पोठवार-प्रदेश से होकर बहती है। इसकी घाटी से आदि-मानव द्वारा प्रयुक्त होने वाले औजार बडी संख्या मे मिले है। इसी कारण इन अवशेषो से सूचित होनेवाली सभ्यता को सोआँ-सभ्यता भी कहते है।

पुरातन प्रस्तर-युग का जीवन—पुरातन प्रस्तर-युग का मनुष्य शिकार द्वारा अपनी भोजन-सामग्री प्राप्त करता था। पर जंगल मे रहनेवाले जीव-जन्तुओ का शिकार करने के अतिरिक्त वह मछली पकडना भी जानता था, और इसके लिए उसने अनेक प्रकार के उपकरणो का भी निर्माण किया था। जगल मे जो विविध प्रकार के कन्द, मूल फल आदि प्राकृतिक रूप से उत्पन्न होते है, उनमे से कौन-से भक्ष्य है, इसका उसे भली-भाँति ज्ञान था। इन कन्दमूलो को खोदकर निकालने के लिए उसने अनेक प्रकार के औजारो का निर्माण किया था। पृथिवी पर जो अनेक प्रकार के अन्न प्राकृतिक रूप से उगते है, उनका उपयोग भी उसे ज्ञान था। इन अन्नो को वह एकत्र करता था, इन्हे काटने के लिए एक प्रकार की दराती का भी वह प्रयोग करता था, और एकत्र हुए अन्न को भूनकर व पीसकर प्रयुक्त करने का भी उसे ज्ञान था। अति प्राचीन प्रस्तर-युग का मनुष्य वृक्षो की शाखाओ पर या गुफाओ मे निवास करता था। पर धीरे-धीरे उसने अपने रहने के लिए तम्बुओ या आश्रय-स्थानो का निर्माण शुरू किया। इनके लिए वह पशुओ की खाल का प्रयोग करता था। खालो को जोडने के लिए चमडे को काट-कर तागा बनाने की कला भी उसे ज्ञात थी। सीने के लिए वह सुइयो का निर्माण करता था, जो प्राय: हड्डी व हाथीदाँत की बनी होती थी। चमड़े के तागे से खालो को सीकर वह अपने निवास के लिए तम्बू बना लेता था। उसके वस्त्र भी चमडे के होते थे। प्रारम्भिक मनुष्य प्राय नगा ही रहता था। पर सरदी व धूप से बचने के लिए चमडे के वस्त्र उपयुक्त हो सकते है, यह बात उसने पुरातन प्रस्तरकाल मे ही जान ली थी। इसमे सन्देह नही, कि पुरातन प्रस्तर-काल का मनुष्य आत्म-निर्भर था, वह अपनी आवश्यकता की सब वस्तुओ को स्वय ही प्राप्त किया करता था। पर इस प्राचीन युग मे भी वस्तुओ के विनिमय और व्यापार का सर्वथा अभाव हो, यह बात नही है। पश्चिम-मध्य फ्रास मे अनेक स्थानों पर इस युग के अन्य अवशेषों के साथ-साथ वे शख और कौडियाँ भी उपलब्ध हुई है, जो समुद्रतट पर ही प्राप्त हो सकती थी। फ्रास के मध्य मे निवास करने वाले पुरातन प्रस्तर-युग के इन आदि-मानवो ने इन्हे व्यापार द्वारा ही प्राप्त किया होगा। इसी प्रकार यूरोप के अन्य प्राचीन अवशेषो मे भी ऐसी अनेक वस्तुएँ प्राप्त हुई है, जो उन स्थानो पर नही होती, और जिन्हे कही बाहर से ही प्राप्त किया गया होगा। ऐसा प्रतीत होता है, कि इस प्राचीन काल के शिकारी मनुष्य भी

कतिपय अद्भुत व आकर्षक वस्तुओ को विनिमय द्वारा प्राप्त करते थे, और इन विविध वस्तुओ का व्यापार इस प्राचीन काल मे भी विद्यमान था ।

संगठन—पुरातन प्रस्तर-युग के मनुष्य टोलियाँ बनाकर रहते थे । यह असम्भव नही, कि इन टोलियो में एक प्रकार का सगठन भी विद्यमान हो, टोली के सब सदस्य अपने किसी मुखिया का शासन मानते हो, और यह मुखिया टोली का सबसे वृद्ध, अनुभवी या शक्तिशाली व्यक्ति हो । इस मुखिया के नेतृत्व मे पुरातन प्रस्तर-युग की टोलियाँ आहार की खोज मे एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करती रहती थी । वे कहीं स्थिर रूप से बसकर नही रहती थी । जहाँ कही भी शिकार, कन्द-मूल-फल आदि की सुविधा हो, वे वही चली जाती थी । उस युग मे जनसख्या बहुत कम होती थी । शिकार पर आश्रित रहनेवाले प्राणी तभी अपना निर्वाह कर सकते है, जबकि वे सख्या मे अधिक न हो । जनसख्या की इतनी कमी का ही यह परिणाम है, कि पुरातन प्रस्तर-युग के मनुष्यो के शरीरो के अवशेष बहुत ही कम सख्या में उपलब्ध हुए है ।

कला—इस युग के मनुष्य कला से सर्वथा अपरिचित हो, यह बात नही है । मध्य प्रदेश मे सिगनपुर व अन्यत्र कतिपय ऐसी गुफाएँ मिली है, जिनकी दीवारो पर अनेक प्रकार के चित्र चित्रित है । इनमे आदि-मानव-सभ्यता के मनुष्य ने अपने मनोभावो को विविध प्रकार के चित्रो द्वारा अभिव्यक्त किया है । ये चित्र प्राय कोयले व रगीन मिट्टी द्वारा बनाये गये है, और इनमे उन पशुओ को चित्रित किया गया है, जिनका शिकार कर आदि-मानव अपनी भूख को शान्त करता था ।

धर्म—पुरातन प्रस्तर-युग का मनुष्य परलोक और धर्म के सबध मे भी कुछ विचार रखता था । उसका विचार था, कि मृत्यु के साथ मनुष्य का अन्त नही हो जाता । मृत्यु के बाद भी उसे उन वस्तुओ की आवश्यकता रहती है, जिनका वह जीवन-काल मे उपयोग करता था । इसीलिए जब वे मृत शरीर को गाडते थे, तो वे विविध औजारो, मास व अन्य भोजन आदि को भी साथ मे रख देते थे; ताकि मृत व्यक्ति आवश्यकतानुसार उनका उपयोग कर सके । यूरोप मे अनेक ऐसी गुफाएँ मिली है, जिनमे मनुष्य के शरीर के अस्थि-पजर के साथ-साथ अनेक औजार, आभूषण व आहार के लिए प्रयुक्त होनेवाले मास की हड्डियाँ भी प्राप्त हुई है । इसमे सन्देह नही, कि इस युग के मनुष्य मृत शरीर को गाडा करते थे, और परलोक सम्बन्धी जीवन के विषय मे भी उनके अपने विचार थे ।

(२) मध्य और नूतन प्रस्तर-युग

पुरातन प्रस्तर-युग मे भी मनुष्य सभ्यता के क्षेत्र मे निरन्तर आगे बढ रहा था । धीरे-धीरे वह समय आ गया, जबकि वह न केवल पशुओ का शिकार करता था, अपितु उन्हे पालता भी था । उसे यह अधिक उपयोगी प्रतीत होता था, कि वह घोडा, हिरन, भेड आदि पशुओ को अपने पास पालकर रखे, ताकि आवश्यकता पडने पर जहाँ उसे उनका मास भोजन के लिए उपलब्ध हो, वहाँ साथ ही वह उनके दूध, ऊन आदि का भी उपयोग कर सके । पहले वह जगल मे प्राकृतिक रूप से उत्पन्न होनेवाले कन्द-मूल-फल, अन्न आदि को एकत्र मात्र करता था । अब उसने उन्हे उत्पन्न करना भी शुरू

किया। शिकारी के स्थान पर अब वह पशुपालक और कृषक बनने लगा। उसके औजार भी निरन्तर अधिक-अधिक उन्नत व परिष्कृत होते गये। पत्थर के कुल्हाडे से वह पहले भी लकडी काटता था। पर अब उसने इस लकडी का प्रयोग मकान बनाने के लिए भी करना शुरू किया। खेती के लिए यह आवश्यक था, कि मनुष्य किसी एक स्थान पर स्थिर होकर रहे। स्थिरता के साथ बसने के लिए यह उपयोगी था, कि मनुष्य अधिक पक्के किस्म के मकान बनाये। इसीलिए उसने बाकायदा घर बनाने शुरू किये, और जगह-जगह पर उसकी बस्तियो (डेरे व ग्रामों) का विकास होने लगा। पहले मनुष्य केवल पशुओ की खाल ओढकर सरदी व गरमी से अपना बचाव करता था। अब उसने ऊन व रेशम के कपडे भी बनाने शुरू किये। यद्यपि अभी तक भी मनुष्य के औजार केवल पत्थर, हड्डी व लकडी के होते थे, धातु का प्रयोग अभी वह नही जानता था, पर इसमे सन्देह नही, कि इन औजारो की सहायता से ही वह सभ्यता के क्षेत्र मे तेजी के साथ आगे बढ रहा था। इस नये युग के मनुष्य को हम 'नूतन प्रस्तर-युग' का कह सकते है। यह युग अब मे दस या पन्द्रह हजार साल पहले शुरू हो चुका था। पर पुरातन और नूतन प्रस्तर-युगो के बीच मे एक ऐसा भी काल था, जबकि मनुष्य पूरी तरह से कृषक व पशु-पालक न होकर ऐसा जीवन व्यतीत करता था, जिसमे कि वह शिकार के साथ-साथ कुछ खेती भी प्रारम्भ कर चुका था। इस युग को मध्य प्रस्तर-युग कहा जाता है। यूरोप और पश्चिमी एशिया मे इस युग के अनेक अवशेष उपलब्ध हुए है। खेद की बात है कि भारत मे पुरातत्त्व-सबधी खोज अभी इस दशा मे नही पहुँची है कि मध्य व नूतन प्रस्तर-युगो के पर्याप्त अवशेष ढूंढे जा सके हो।

भारत में मध्य प्रस्तर-युग के अवशेष—मध्य प्रस्तर-युग के औजारो की यह विशेषता है, कि वे पुरातन युग के औजारो की अपेक्षा बहुत अधिक परिष्कृत व उन्नत होते है। इस युग मे मनुष्य उन्नति करता हुआ इस दशा तक पहुँच जाता है, कि वह अपने औजारो को सुडौल बना सके और उसके उपकरण ज्यामिति की दृष्टि से पूर्ण व निर्दोष हो। यही कारण है, कि इस युग के अनेक औजार अर्धचन्द्राकार, त्रिभुजाकार व अन्य प्रकार से ज्यामिति के सिद्धान्तो के अनुरूप होते हैं। साथ ही, इस युग मे मनुष्य मिट्टी के बरतनो का निर्माण शुरू कर चुकता है, यद्यपि ये बरतन हाथ से बने होने के कारण बहुत सुन्दर व सुडौल नही होते।

भारत मे इस काल के अवशेष अनेक स्थानो मे मिले है, जिनमे माइसूर, हैदराबाद, गुजरात, काश्मीर, सिन्ध आदि के अनेक स्थानो से उपलब्ध अवशेष उल्लेखनीय है।

नूतन प्रस्तर-युग—नूतन प्रस्तर-युग में मनुष्य शिकारी के स्थान पर कृषक और पशुपालक बनकर किसी निश्चित स्थान पर बस जाता है, और धीरे-धीरे ग्रामो और नगरो का विकास प्रारम्भ करता है। वह मकानो मे रहने लगता है, और वस्त्र-आभूषणो से सुसज्जित होकर अपना जीवन व्यतीत करता है। पश्चिमी एशिया के अनेक प्रदेशो मे इस युग के बहुत-से महत्त्वपूर्ण अवशेष मिले है, जिनसे इस काल के मनुष्य की सभ्यता के सबंध मे विशद रूप से प्रकाश पड़ता है। पर भारत मे अभी नूतन प्रस्तर-युग के जो अवशेष प्राप्त हुए है, वे बहुत महत्त्व के नही है। फिर भी उन स्थानो का

निर्देश करना आवश्यक है, जहाँ प्राप्त अवशेषो को इस युग का माना जाता है—(१) माइसूर के चित्तलद्रुग जिले मे चन्द्रवल्ली और ब्रह्मगिरि, (२) दक्षिणी भारत मे बेल्लारी का क्षेत्र, (३) काश्मीर मे गान्धरबल के समीप नूनर नामक स्थान, और (४) उत्तरप्रदेश मे मिरजापुर जिला, जहा इस युग के अनेक औजार मिले है, और साथ ही बहुत-से अस्थिपजर भी प्राप्त हुए है। इनके अतिरिक्त अनेक ऐसे कलश (मिट्टी के बने हुए) भी इस क्षेत्र मे मिले है, जिनमे मृत शरीरो के भस्म रखे गये थे। मिरजापुर के समीप ही विन्ध्याचल की पर्वतशृंखला मे कुछ ऐसी गुफाएँ भी मिली है, जिनमे इस युग के मनुष्यो के बनाये हुए चित्र अकित है।

धातुओ के उपयोग का प्रारम्भ होने से पूर्व भारत मे एक ऐसा युग था, जब इस देश के बडे भाग मे नूतन प्रस्तर-युग की सभ्यता विस्तृत थी। यद्यपि इस युग के अवशेष भारत मे उतनी प्रचुरता से उपलब्ध नही हुए है, जितने कि पश्चिमी एशिया के विविध क्षेत्रो मे मिले है, तथापि इस सभ्यता की सत्ता मे कोई सन्देह नही है। अब से कोई दस हजार साल पहले यह सभ्यता भली-भाँति विकसित हो चुकी थी, और बाद मे धातुओ का उपयोग शुरु होने पर यही सभ्यता धातु-युग मे परिवर्तित हो गई। सिन्धु नदी की घाटी मे मोहनजोदडो और हडप्पा मे किसी प्राचीन समुन्नत सभ्यता के जो अवशेष मिले है, वे इसी नूतन प्रस्तर-युग की सभ्यता का विकसित रूप है, यद्यपि उस काल मे काँसे और ताम्बे का प्रयोग भली-भाँति शुरू हो गया था।

नूतन प्रस्तर-युग का जीवन—पुरातन प्रस्तर-युग मे, जबकि मनुष्य किसी एक स्थान पर स्थिर रूप से निवास नही करता था, सभ्यता के क्षेत्र मे अधिक उन्नति हो सकना सभव नही था। पर जब मनुष्य ने बस्तियाँ बसाकर एक स्थान पर रहना शुरू किया, और शिकार के बजाय कृषि और पशुपालन द्वारा जीवन-निर्वाह करना प्रारम्भ किया, तो सभ्यता के मार्ग पर वह बडी तेजी के साथ आगे बढने लगा। यही कारण है, कि नूतन प्रस्तर-युग का मानव-इतिहास मे बहुत अधिक महत्त्व है।

नूतन प्रस्तर-युग के मनुष्य की आजीविका के मुख्य साधन कृषि और पशुपालन थे। खेती के लिए वह पत्थर के औजारो का प्रयोग करता था। उसके हल, दरानी, कुल्हाडे, हथौडे आदि सब उपकरण पत्थर के बने होते थे। शुरू मे वह स्वय अपने हाथ से खेती किया करता था, पर समयान्तर मे उसने यह जान लिया था, कि बैलो व घोडो का प्रयोग हल चलाने के लिए किया जा सकता है। नूतन प्रस्तर-युग के अन्तिम दिनो तक मनुष्य न केवल हल के लिए बैलो व घोडो का प्रयोग करने लगा था, अपितु गाडी चलाने के लिए भी इन पशुओ का उपयोग वह जान गया था। उसकी गाडियाँ लकडी की बनी होती थी। पत्थर के बने औजारो से वह लकडी काटता था, और उन्ही की सहायता से हल, गाडी आदि का निर्माण करता था। अब उसके निवासस्थान गुफाएँ व खाल के बने तम्बू न होकर लकड़ी, पत्थर व मिट्टी के बने मकान हो गये थे। जिन प्रदेशो मे लकडी, फूँस आदि की सुविधा थी, वहाँ वह लकडी के मकान बनाता था। अन्य स्थानो पर कच्ची मिट्टी या पत्थर मकान बनाने के काम मे लाये जाते थे। उसके गाँव छोटे-छोटे होते थे। यूरोप और पश्चिमी एशिया मे नूतन प्रस्तर-युग के गाँवों के जो अवशेष मिले है, उनका रकबा १॥ एकड़ से ५॥ एकड़ तक है। इन अवशेषो के

अध्ययन से प्रतीत होता है, कि एक गाँव मे प्रायः २५ से लगाकर ३५ तक मकान रहते थे। इन मकानों मे अनाज को जमा करने के लिए बड़े-बड़े गोदाम भी बनाये जाते थे। अनाज के ये गोदाम कच्ची मिट्टी के बने होते थे। भारत के वर्तमान गाँवों मे भी इस प्रकार के गोदाम विशेष महत्त्व रखते हैं, और किसानो के घरों मे उनकी सत्ता उपयोगी होती है। पुरातन प्रस्तर-युग के गाँवों मे सामूहिक जीवन की भी सत्ता थी। पश्चिमी यूरोप और बालकन प्रायद्वीप में उपलब्ध हुए इस युग के गाँवों के अवशेषों से सूचित होता है, कि बहुत-से गाँवों के चारो ओर खाई और मिट्टी की मोटी दीवार भी बनायी गई थी। इस किलाबंदी का प्रयोजन संभवत शत्रुओ से अपनी रक्षा करना होता था। वे खाइयाँ, दीवारें और गाँव के बीच की सडकें व गलियाँ किसी एक निर्माण व्यक्ति की सम्पत्ति न होकर सारे गाँव की सम्मिलित सम्पत्ति होती थी, और उनका भी ग्राम-निवासियो के सामूहिक प्रयत्न द्वारा ही किया जाता था। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि गाँव के लोगो मे एक प्रकार का सगठन भी विद्यमान हो। पुरातन प्रस्तर-युग के मनुष्य शिकार के लिए टोलियाँ बनाकर विचरण करते थे। वे टोलियाँ ही इस नूतन युग मे ग्राम के रूप में बस गयी थीं। इन टोलियो का सगठन इस युग मे और भी अधिक विकसित हो गया था। शिकारी टोली का मुखिया अब ग्राम का नेता वा 'ग्रामणी' बन गया था। यह ग्रामणी सम्पूर्ण ग्रामवासियो पर एक प्रकार का शासन रखता था, यह सहज मे कल्पित किया जा सकता है।

बरतन—मिट्टी के बरतन बनाने की कला मध्य प्रस्तर-युग मे ही प्रारम्भ हो चुकी थी। नूतन प्रस्तर-युग मे उसने बहुत उन्नति की। पहले बरतन हाथ से बनाये जाते थे, अब कुम्हार के चाक का अविष्कार हुआ, और चाक (चक्र) का उपयोग कर सुन्दर व सुडौल बरतन बनने लगे। इन बरतनों पर अनेक प्रकार की चित्रकारी भी शुरू की गयी, और बरतनो को सुन्दर रगो द्वारा सुशोभित करने की कला का भी विकास हुआ। ये बरतन आग मे पकाये जाते थे, और इनके बहुत-से अवशेष नूतन प्रस्तर-युग के खडहरो मे उपलब्ध हुए है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ नूतन प्रस्तर-युग के मनुष्यो मे श्रम-विभाग का भी प्रारम्भ हुआ। अति प्राचीन युग मे श्रमविभाग का प्राय. अभाव था। उस समय यदि कोई श्रम-विभाग था, तो वह पुरुषो और स्त्रियों मे था। पुरुष प्राय: शिकार करते थे, और स्त्रियाँ जगली अनाज को एकत्र कर उसका उपयोग करती थीं। पर अब नूतन प्रस्तर-युग मे बढई, कुम्हार आदि के रूप मे ऐसे शिल्पियो की पृथक् श्रेणियाँ विकसित होनी शुरू हुई, जो खेती न करके शिल्प द्वारा ही अपनी आजीविका कमाते थे।

व्यापार—नूतन प्रस्तर-युग मे व्यापार की भी उन्नति हुई। एक ग्राम मे रहने वाले लोग अपनी वस्तुओ का परस्पर विनिमय करने लगे। बढई या कुम्हार अपने शिल्प द्वारा तैयार की गयी वस्तु के बदले मे किसान से अनाज प्राप्त करता था। उस युग मे वस्तुओ के विनिमय के लिए मुद्रा (सिक्के) की आवश्यकता नही थी। मुद्रा के अभाव मे भी लोग अपनी वस्तुओ का विनिमय करने मे समर्थ होते थे। व्यापार का क्षेत्र केवल ग्राम ही नही था, मुदूरवर्ती ग्राम आपस मे भी व्यापार किया करते थे। यूरोप और पश्चिमी एशिया के भग्नावशेषो में अनेक ऐसी वस्तुएँ प्राप्त हुई है, जो उस प्रदेश मे

उत्पन्न ही नही हो सकती थी, और जिन्हे अवश्य ही किसी सुदूरवर्ती प्रदेश से व्यापार द्वारा प्राप्त किया गया था। यह विदेशी व 'अन्तर्राष्ट्रीय' व्यापार केवल विशिष्ट वस्तुओं के लिए ही होता था। वैसे प्रत्येक गाँव अपनी आवश्यकताओं को स्वय पूर्ण करने का प्रयत्न करता था। उस युग मे मनुष्य की आवश्यकताएँ बहुत कम थी, और उन्हें अपने प्रदेश से ही पूरा कर सकना सर्वथा सभव था।

मृतक-संस्कार—नूतन-प्रस्तर-युग के मनुष्य प्रायः अपने मृत शरीरो को जमीन में गाडा करते थे। शवो को गाडने के लिए जहाँ बाकायदा कबरिस्तान थे, वहाँ कहीं-कहीं यह भी प्रथा थी, कि उन्हे अपने मकान मे या उसके समीप ही गाड दिया जाए। भूमध्य सागर के समीपवर्ती नूतन प्रस्तर-युग के ग्रामो के अवशेषो से यह सूचित होता है, कि उनमे मकान के नीचे गढा खोद कर छोटे पैमाने पर उस मकान का नमूना तैयार किया जाता था, जहाँ कि जीवित दशा मे मृत मनुष्य निवास करता था। मरने के बाद मनुष्य को इस (जमीन के नीचे बने हुए) मकान मे गाड़ दिया जाता था, और वहाँ उसके उपयोग की वस्तुओं को रख दिया जाता था। इस युग की अनेक बस्तियो मे शव को जलाने की भी प्रथा थी, और राख को मिट्टी के बने हुए कलशो मे रखकर आदर के साथ जमीन मे गाड दिया जाता था।

धर्म—मिस्र, सीरिया, ईरान, दक्षिण-पूर्वी यूरोप आदि मे इस युग की बस्तियो के जो भग्नावशेष मिले हैं, उनमे मिट्टी या पत्थर की बनी हुई बहुत-सी स्त्री-मूर्तियाँ भी उपलब्ध हुई है। नृतत्वशास्त्र के विद्वानो का विचार है, कि ये मूर्तियाँ पूजा के काम मे आती थी। नूतन प्रस्तर-युग का मनुष्य 'मातृ-देवता' का उपासक था। प्रकृति मे जो निरन्तर उत्पत्ति होती रहती है, जीव-जन्तु, वृक्ष, वनस्पति, अन्न आदि सबमे निरन्तर वृद्धि व उत्पत्ति जारी रहती है, इसका कारण वह रहस्यमयी शक्ति है, जो सब चराचर के लिए मातृ-स्थानीय है। प्रजनन एक ऐसी प्रक्रिया है, जो इस युग के मनुष्य को बहुत रहस्यमयी प्रतीत होती थी। वह सोचता था, यह मातृशक्ति की देन है। इसीलिए वह स्त्री-रूप मे इस मातृशक्ति या मातृ-देवता की मूर्ति बनाता था, और उन मूर्तियो मे स्त्री की जननेन्द्रियो को प्रमुख रूप से प्रदर्शित करता था। पुरुष की जननेन्द्रिय को वह लिंग-रूप मे बनाता था। इस प्रकार के बहुत-से लिंग इगलैण्ड, अनेतोलिया और बालकन प्रायद्वीप के प्राचीन भग्नावशेषो मे उपलब्ध हुए है। नूतन प्रस्तर-युग का मनुष्य शायद यह समझता था, कि मातृ-देवता और लिंग की पूजा से अन्न और पशुओं की वृद्धि की जा सकती है। अनेक विद्वानो का मत है, कि देवता को तृप्त करने के लिए बलि या कुर्बानी की प्रथा भी इस युग मे शुरू हो चुकी थी। प्रकृति मे हम देखते है, कि बीज को जमीन मे गाडा जाता है। बीज नष्ट होकर पौदे को जन्म देता है। नूतन प्रस्तर-युग का मनुष्य यह समझता था, कि खेती की पैदावार का मूल कारण बीज की 'बलि' है। अत यदि धरती माता को तृप्त करने के लिए पशु या मनुष्य की बलि दी जाय, तो इससे पैदावार, समृद्धि और सम्पत्ति की वृद्धि होगी।

जादू-टोने और मन्त्र-प्रयोग का प्रारम्भ पुरातन प्रस्तर-युग में ही हो चुका था। नूतन प्रस्तर-युग मे उसमे और अधिक वृद्धि हुई। भूमध्यसागर के तटवर्ती प्रदेशो और

मिस्र के इस युग के अवशेषों में पत्थर की बनी हुई छोटी-छोटी कुल्हाड़ियाँ मिली हैं, जिनके बीच में छेद हैं। सम्भवतः, इन कुल्हाड़ियों के बीच में तागा डालकर उन्हें गले मे पहना जाता था और यह विश्वास किया जाता था, कि इनके पहनने से मनुष्य मे शक्ति का सचार होता है। कुल्हाड़ा शक्ति का प्रतीक था, और उसे रक्षा-कवच के रूप मे धारण करना उपयोगी माना जाता था।

वस्त्र-निर्माण—वस्त्र बनाने की कला में भी इस युग मे अच्छी उन्नति हुई। ऊन और रेशम के वस्त्र मध्य प्रस्तर-युग मे ही शुरू हो चुके थे। अब उनका निर्माण करने के लिए बाकायदा तकुओ और खड्डियो का प्रारम्भ हुआ। तकुए पर सूत कात कर उसे खड्डी पर बुना जाता था, और नूतन प्रस्तर-युग का मनुष्य सरदी-गरमी से बचने के लिए पशु-चर्म के वस्त्रो पर आश्रित न रहकर ऊन और रेशम के सुन्दर वस्त्रों को धारण करता था। वस्त्र के निर्माण के लिए कपास का उपयोग इस युग मे प्रारम्भ हुआ था या नही, यह विषय अभी विवादग्रस्त है।

युद्ध—नूतन प्रस्तर-युग की विविध बस्तियो में प्रायः युद्ध भी होते रहते थे। यही कारण है, कि अनेक ग्रामो के चारो ओर परिखा और प्राचीर का निर्माण किया गया था। शुरू मे प्रत्येक मनुष्य आर्थिक उत्पादक होने के साथ-साथ योद्धा भी होता था। वह पत्थर के औजारो को लडाई के काम मे लाता था, और उनकी सहायता से शत्रु से अपनी रक्षा करता था।

पुरातन प्रस्तर-युग की अपेक्षा इस काल मे जनसंख्या बहुत बढ गई थी। इसी-लिए पश्चिमी एशिया व यूरोप मे इस युग के मनुष्यो के अस्थि-पंजर हजारों की संख्या मे उपलब्ध हुए है। नि सन्देह, इस युग का मनुष्य पत्थर के औजारो का ही उपयोग करता था, पर सभ्यता के क्षेत्र मे वह पुरातन प्रस्तर-युग के मनुष्य की अपेक्षा बहुत अधिक आगे बढ गया था। पत्थर के औजारो की सहायता से ही वह बहुत-कुछ उस दशा मे आ गया था, जिसे हम 'सभ्यता' कहते हैं।

(३) धातु-युग का प्रारम्भ

नूतन प्रस्तर-युग के बाद धातु-युग का प्रारम्भ हुआ। नूतन प्रस्तर-युग का मनुष्य आग का उपयोग करता था, और मिट्टी के बरतन पकाने तथा भोजन बनाने के लिए वह भट्टियो व चूल्हो का निर्माण करता था। ये भट्टियाँ प्रायः पत्थर की बनी होती थी। अनेक पत्थरो मे धातु का अंश पर्याप्त मात्रा में होता है। आग के ताप से ये धातुमिश्रित पत्थर पिघल जाते थे, और उनसे चमकीली धातु अलग हो जाती थी। धीरे-धीरे मनुष्य ने यह मालूम किया, कि यह धातु औजार बनाने के लिए अधिक उपयुक्त है, क्योकि इसे न केवल पिघलाया जा सकता है, अपितु ठोक-पीट कर भी अभीष्ट आकार मे लाया जा सकता है। सम्भवत, सबसे पहले मनुष्य ने सोने का प्रयोग शुरू किया, क्योंकि अनेक स्थलों पर सोना प्राकृतिक रूप में भी पाया जाता है। पर सोना इतनी अधिक मात्रा मे नही मिलता था, कि उसका उपयोग औजार बनाने के लिए किया जा सके। सम्भवतः, मनुष्य इस धातु का उपयोग केवल आभूषण बनाने के लिए ही करता था। पर समयान्तर मे उसे ताबें, ब्रोंज और लोहे का ज्ञान हुआ,

और इन धातुओं का प्रयोग उसने औजार बनाने के लिए शुरू किया। उत्तरी भारत मे तांबे के और दक्षिणी भारत मे लोहे के औजार बनाए जाने लगे। पश्चिमी भारत के कुछ प्रदेशो (सिन्धु और बिलोचिस्तान) मे तांबे से पहले ब्रोंज का प्रयोग शुरू हुआ। ब्रोंज एक मिश्रित धातु होती है, जो तांबे और टिन के मिश्रण से बनती है। न केवल सिन्ध और बिलोचिस्तान मे, अपितु पाश्चात्य संसार के भी अनेक देशो मे मनुष्य ने तांबे से पहले ब्रोंज का उपयोग शुरू किया था। इसी कारण नूतन प्रस्तर-युग के बाद मानव-सभ्यता का जो युग शुरू हुआ, उसे ब्रोंज-युग कहते है। यहाँ यह ध्यान मे रखना चाहिए, कि धातु का उपयोग शुरू होने से मनुष्य की सभ्यता मे कोई आकस्मिक व महान् परिवर्तन नही आ गया। जो काम पहले मनुष्य पत्थर के औजारो से करता था, वही अब धातु के औजारो से होने लगा। इसमे सन्देह नही, कि धातु के बने औजार पत्थर के औजारो की अपेक्षा अधिक सुडौल व उपयोगी होते थे, और मनुष्य उनकी सहायता से कृषि व शिल्प को अधिक अच्छी तरह से कर सकता था। पर नूतन प्रस्तर-युग मे ही मनुष्य ने उस उन्नत सभ्यता का प्रारम्भ कर दिया था, जो धातु-युग मे जारी रही। अन्तर केवल इतना आया, कि कृषि, शिल्प आदि का अनुसरण अब मनुष्य के लिए अधिक सुगम हो गया, और धातु के बने उपकरणो मे मनुष्य अपना कार्य अधिक अच्छी तरह से करने लगा।

सिन्ध और बिलोचिस्तान के जो प्रदेश आजकल रेगिस्तान व उजाड है, किसी प्राचीन युग मे वे एक अच्छी उन्नत सभ्यता के केन्द्र थे। इन प्रदेशों मे खोज द्वारा ताम्र-युग की सभ्यता के बहुत-से भग्नावशेष उपलब्ध हुए है। नूतन प्रस्तर-युग के ग्रामो और बस्तियो के जिस प्रकार के अवशेष पश्चिमी एशिया व यूरोप मे बडी संख्या मे मिले हैं, उसी ढंग के ताम्र-युग के अवशेष सिन्ध और बिलोचिस्तान के अनेक प्रदेशो मे भी उपलब्ध हुए है। इस युग के मनुष्य बस्तियो मे रहते थे, मकानो का निर्माण करते थे, कृषि और पशु-पालन द्वारा अपना निर्वाह करते थे, मिट्टी के बने हुए सुन्दर व सुडौल बरतनो का उपयोग करते थे, और ताम्र के बने सुन्दर औजारो को कृषि, शिल्प व युद्ध के लिए प्रयुक्त करते थे। बरतनो और औजारो की रचना के भेद को दृष्टि में रखकर इन प्रदेशो मे उपलब्ध हुए भग्नावशेषो से अनेक सभ्यताओ की सत्ता सूचित होती है।

क्वेटा-सभ्यता—भारत की ताम्र-युग की सभ्यताओ मे क्वेटा-सभ्यता सबसे अधिक प्राचीन है। बोलान के दर्रे मे क्वेटा के समीप पाँच ऐसे खेडे (गाँव, बस्ती या शहर के खण्डहरो के कारण ऊँचे उठे हुए स्थान) मिले है, जो इस सभ्यता के भग्नावशेषों को सूचित करते है। इनमे सबसे बड़े खेडे का व्यास २०० गज के लगभग है, और यह खेडा ४५ फीट से ५० फीट तक ऊँचा है। यह एक प्राचीन बस्ती को सूचित करता है। इस बस्ती के मकान मिट्टी या मिट्टी की ईंटो के बने हुए थे। ये ईंटें आग मे पकायी गई थी। इन खेडों मे जो बरतन मिले है, वे मिट्टी को पकाकर बनाये गए थे, और उन पर अनेक प्रकार से चित्रकारी की गई थी।

अमरी-नल-सभ्यता—इस सभ्यता के अवशेष सिन्ध और बिलोचिस्तान में बहुत-से स्थानो पर उपलब्ध हैं। इन अवशेषो के रूप में जो बहुत-से खेड़े इस क्षेत्र मे

मिलते है, वे क्वेटा-सभ्यता के खेडों की अपेक्षा अधिक बडे है। उदाहरणार्थ, रकशां नामक प्रदेश का एक खेडा लम्बाई मे ५३० गज और चौड़ाई मे ३६० गज है। बंवनी नामक स्थान पर विद्यमान एक अन्य खेडा ४०० गज लम्बा और २३० गज चौड़ा है। इससे सूचित होता है, कि अमरी-नल-सभ्यता की कतिपय बस्तियाँ आकार मे बहुत विशाल थी। पर बहुसख्यक बस्तियाँ क्वेटा-सभ्यता की बस्तियो के सदृश ही छोटी-छोटी थी। इन बस्तियो मे से कुछ के चारो ओर परिखा और दीवार के चिह्न भी मिले हैं। ये दीवारे मिट्टी की ईंटो द्वारा बनायी गई थी, यद्यपि इनके आधार मे मजबूती के लिए पत्थरो का भी उपयोग किया गया था। इस सभ्यता की एक बस्ती तो ऐसी भी मिली है, जिसके चारो ओर दो दीवारे थी और दोनो दीवारों के बीच मे २५० फीट का अन्तर रखा गया था। इन दीवारो के निर्माण के लिए कच्ची मिट्टी की जिन ईंटों का प्रयोग किया गया था, वे लम्बाई मे २१ इच, चौडाई मे १० इच और ऊँचाई मे ४ इच है। बस्ती के चारो ओर की प्राचीर के लिए ही नही, अपितु मकानो के निर्माण के लिए भी इसी ढग की ईंटो का प्रयोग किया गया था।

अमरी-नल-सभ्यता के भग्नावशेषो की जो खुदाई हुई है, उससे उन मकानों के सम्बन्ध मे भी अनेक महत्त्वपूर्ण बाते ज्ञात होती हैं, जो इस सभ्यता की बस्तियो मे विद्यमान थे। मकानो का आकार प्रायः ४० फीट लम्बा व ४० फीट चौडा होता था। इस मकान के अन्दर अनेक छोटे-बडे कमरे होते थे, जिनमे से कुछ १५ × १५ फीट, कुछ १५ × १० फीट और कुछ ८ × ५ फीट होते थे। मकान के बीच मे सहन भी रखा जाता था। मकान प्रायः कच्ची मिट्टी की ईंटो के बने होते थे, यद्यपि किसी-किसी खेडे मे ऐसे मकानो के अवशेष भी मिले है, जिनमे ईंटो के साथ-साथ पत्थर का भी प्रयोग किया गया है। मकानो मे दरवाजे और खिडकियाँ भी होती थी, और इनके भी कतिपय अवशेष खुदाई द्वारा उपलब्ध हुए है। एक मकान और दूसरे मकान के बीच मे गली छोड दी जाती थी, जिसकी चौडाई २॥ फीट से ८ फीट तक थी। ऐसा प्रतीत होता है, कि अमरी-नल-सभ्यता की बस्तियो मे मकानो का निर्माण बहुत अच्छे ढंग से और एक निश्चित योजना के अनुसार किया गया था।

इस सभ्यता के खेडो की खुदाई द्वारा अनेक स्थानों पर कबरिस्तान भी उपलब्ध हुए है। एक खेडे के कबरिस्तान मे १०० के लगभग अस्थि-पजर मिले है, जिनसे यह कल्पना सहज मे की जा सकती है, कि इस खेडे द्वारा सूचित होने वाली बस्ती मे मनुष्य अच्छी बडी संख्या मे निवास करते थे। अमरी-नल-सभ्यता के मनुष्य अपने शवो को जमीन मे गाडते थे, और इसके लिए बाकायदा कबरो का निर्माण करते थे। उनकी कबरे ईंटो व पत्थरो द्वारा बनायी जाती थी। कबर मे शव को रखने के साथ-साथ उन वस्तुओ को भी रख दिया जाता था, जिनका उपयोग मृत मनुष्य अपने जीवन-काल मे करता था। यही कारण है, कि कबरो में अस्थिपजर के साथ मिट्टी के बरतन, आभूषण, औजार व इसी प्रकार की अन्य वस्तुएँ भी प्राप्त हुई हैं। कही-कही बरतनो मे पशुओ की हड्डियाँ भी मिली है। संभवत., शव के साथ बरतन मे मास भी रख दिया गया था, जिसकी हड्डियाँ अब तक सुरक्षित रूप मे विद्यमान है। ये हड्डियाँ प्रायः भेड व बकरी की हैं। इन कबरो में जो औजार मिले हैं, वे प्रायः ताम्बे के बने हुए हैं। इससे सूचित होता

है, कि ग्रमरी-नल-सभ्यता के लोग धातु के प्रयोग से भली-भाँति परिचित हो गये थे। कबरो मे प्राप्त हुए ग्राभूषण मुख्यतया ताम्बे, शंख, कौडी व मिट्टी के बने हुए है। इनके ग्रतिरिक्त, मूँगे ग्रादि की बनी हुई मालाएँ भी कही-कही इस सभ्यता के कबरिस्तानों मे मिली है।

ग्रमरी-नल-सभ्यता के भग्नावशेषो मे जो बरतन या उनके टुकडे मिले हैं, वे सुन्दर, सुडौल व परिष्कृत है। उनपर ग्रनेक प्रकार की चित्रकारी की गयी है। बरतनों को चित्रित करने के लिए केवल गोल, ग्रर्धचन्द्राकार व तिरछी रेखाग्रो का ही प्रयोग नही किया गया, ग्रपितु पौदो ग्रौर पशुग्रो की ग्राकृतियो को भी प्रयुक्त किया गया है। इनमे बैल, बारासिगा ग्रौर मछली का प्रयोग विशेष रूप से हुग्रा है।

कुल्ली सभ्यता—दक्षिणी बिलोचिस्तान के कोलवा-प्रदेश मे इस युग की प्राचीन सभ्यता के जो ग्रनेक भग्नावशेष मिले है, उन्हे कुल्ली-सभ्यता कहते है। इसकी बस्तियों मे भवन-निर्माण के लिए पत्थरो का उपयोग होता था, ग्रौर पत्थरों को परस्पर जोडने के लिए मिट्टी के गारे का प्रयोग किया जाता था। पत्थर के ग्रतिरिक्त मिट्टी की कच्ची ईंटे भी मकान बनाने के लिए प्रयुक्त होती थी, जिनका ग्राकार १६ × १० × ३ इच होता था। ऐसा प्रतीत होता है, कि कुल्ली-सभ्यता के मकानो मे फरश बनाने के लिए लकडी का भी प्रयोग किया जाता था। ऐसे फरशो के कुछ ग्रवशेष कुल्ली के खेडे मे दृष्टिगोचर हुए है। इस सभ्यता के मकानो के कमरे ग्राकार मे कुछ छोटे होते थे। कुल्ली मे कमरो का ग्राकार १२ × ८ ग्रौर ८ × ६ फीट का था। यहाँ के मकान एक से ग्रधिक मजिल के थे, इसीलिए कही-कही ऊपर की मजिल मे जाने के लिए बनायी गई पत्थर की सीढी के ग्रवशेष भी मिले है।

ग्रमरी-नल-सभ्यता के समान कुल्ली-सभ्यता के बरतन भी सुन्दर ग्रौर सुडौल होते थे। उनपर चित्रकारी के लिए वनस्पति ग्रौर पशुग्रो की ग्राकृतियों का प्रयोग किया जाता था। ककुद् से युक्त बैल इन ग्राकृतियो मे विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

कुल्ली-सभ्यता के ग्रवशेषो मे पशुग्रो ग्रौर स्त्रियो की छोटी-छोटी मूर्तियाँ प्रचुर सख्या मे मिली है। ये मूर्तियाँ मिट्टी की बनी हुई हैं, ग्रौर बरतनो के समान उन्हे भी ग्राग मे पकाया गया है। इन मूर्तियो के निर्माण का क्या प्रयोजन था, यह निश्चित रूप मे नही कहा जा सकता। पशुग्रो की कतिपय मूर्तियो मे पैरो के नीचे पहिये लगाने के भी निशान पाये जाते है। इससे ग्रनुमान किया गया है, कि ये पशु-मूर्तियाँ बच्चो के खिलौनो के रूप मे बनाई गयी होगी। कुछ पक्षी-मूर्तियाँ ऐसी भी मिली है, जिनकी पूंछ मे सीटी बजाने का काम लिया जाता था। कुल्ली-सभ्यता की स्त्री-मूर्तियाँ कुछ ग्रद्भुत प्रकार की है। उनमे स्त्री-शरीर केवल कमर तक बनाया गया है, ग्रौर मुख को बहुत बेडौल कर दिया गया है। पर इन सबमे ग्राभूषणो ग्रौर केश-कलाप को बहुत स्पष्ट रूप से प्रदर्शित किया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि कुल्ली-सभ्यता की स्त्रियाँ ग्रपने केशो को किस ढग से सवारती थी, ग्रौर किस प्रकार के ग्राभूषणो का प्रयोग करती थी। उनके ग्राभूषणों मे चूडियो की बहुलता होती थी, जिन्हे वे हाथो पर कुहनियो तक व उससे भी ऊपर तक पहना करती थी।

कुल्ली-सभ्यता के अन्यतम स्थान मही में पत्थर के बने हुए कुछ सुन्दर बरतन मिले हैं, जो संभवतः शृंगार-प्रसाधन की वस्तुओं को रखने के काम मे आते थे। ये बरतन न केवल अत्यन्त परिष्कृत हैं, पर साथ ही इनमें अनेक छोटे-छोटे व सुन्दर खाने भी बनाये गये हैं। इन बरतनो को बाहर की ओर से भी चित्रित किया गया है।

मही मे ही एक कबरिस्तान भी मिला है, जो अनेक दृष्टियो से अत्यन्त महत्त्व का है। यहाँ से ताम्बे के अनेक उपकरण मिले है, जिनमे ताम्बे का बना हुआ दर्पण विशेषरूप से उल्लेखनीय है। यह दर्पण आकार मे वर्तुल है, और इसका व्यास ५ इच है। दर्पण के हत्थे को स्त्री-आकृति के समान बनाया गया है, जिसके हाथ और छातियाँ बडे सुन्दर रूप से बनाई गयी हैं। स्त्री-आकृति मे सिर नही रखा गया है। जब कोई महिला इस दर्पण मे अपने मुख को देखती होगी, तो हत्थे की स्त्री-आकृति मे सिर की कमी पूरी हो जाती होगी। इस प्रकार का सुन्दर दर्पण प्राच्य संसार के पुरातन अवशेषो में अन्यत्र कही भी नही मिला है।

कुल्ली-सभ्यता के बरतनो और पश्चिमी एशिया (ईराक और एलम) के बरतनों तथा उनके चित्रण मे बहुत समता है। कुल्ली के बरतनो पर प्रकृति (वृक्ष, वनस्पति आदि) के बीच में पशुओ को चित्रित किया गया है। यही शैली ईराक व पश्चिमी ईरान के इस युग के बरतनो को चित्रित करने के लिए अपनायी गई है। कुल्ली-सभ्यता और पश्चिमी एशिया के बरतनो मे यह असाधारण समता ध्यान देने योग्य है। इसी प्रकार जिस ढग के पत्थर के सुन्दर व छोटे आकार के बरतन कुल्ली-सभ्यता के अवशेषो मे मिले है, ठीक वैसे ही पत्थर के बरतन पश्चिमी एशिया के अनेक भग्नावशेषो मे भी उपलब्ध हुए है। इन समताओ को दृष्टि मे रखकर विद्वानो ने यह अनुमान किया है, कि कुल्ली-सभ्यता और पश्चिमी एशिया की सभ्यताओ मे घनिष्ठ सम्बन्ध था और इनके व्यापारी एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश मे व्यापार के लिए आया-जाया करते थे। पश्चिमी एशिया के इस युग के भग्नावशेषो मे भी बिलोचिस्तान के भारतीय व्यापारियो की विद्यमानता के अनेक प्रमाण मिले है।

झोब-सभ्यता—उत्तरी बिलोचिस्तान मे झोब नदी की घाटी मे ताम्र-युग की सभ्यता के अनेक भग्नावशेष मिले है, जिनमे रनघुण्डई का खेड़ा सबसे अधिक प्रसिद्ध है। यह खेडा ४० फीट ऊँचा है, और इसकी विविध सतहो मे झोब-सभ्यता के विकास की प्रक्रिया स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। यहाँ यह सम्भव नही है, कि हम रनघुण्डई के खेड़े की विविध सतहो मे प्राप्त हुई सामग्री का संक्षेप से भी उल्लेख कर सके। यहाँ इतना निर्देश कर देना ही पर्याप्त होगा, कि रनघुण्डई व अन्यत्र प्राप्त झोब-सभ्यता के अवशेषो से सूचित होता है, कि यह सभ्यता भी अमरी-नल और कुल्ली-सभ्यता के समान अच्छी उन्नत थी। इसके मकान मिट्टी की कच्ची ईंटो के बने होते थे, यद्यपि आधार को मजबूत बनाने के लिए पत्थरो का भी प्रयोग किया जाता था। यहाँ की ईंटो का आकार प्राय. १३ × ६ × २½ इंच होता था। कतिपय बस्तियों के चारो ओर परिखा और प्राचीर भी विद्यमान थे।

कुल्ली-सभ्यता के समान झोब-सभ्यता के अवशेषो मे भी पशुओ और स्त्रियों की बहुत-सी मूर्तियाँ उपलब्ध हुई है। कुल्ली मे जो पशु-मूर्तियाँ मिली है, वे प्राय: गाय-

बैल की है। पर झोब-सभ्यता के अवशेषों मे एक स्थान पर घोड़े की भी एक मूर्ति मिली है। झोब-सभ्यता की स्त्री-मूर्तियाँ देखने मे भयकर है। यद्यपि विविध प्रकार के आभूषणों से ये भली-भाँति विभूषित की गयी है, पर इनकी मुख-आकृति कंकाल के सदृश बनाई गयी है, और आँखे उस ढग के छेद द्वारा दिखाई गयी है, जैसा कि मानव-कंकाल की खोपडी मे होता है। सम्भवत, ये स्त्री-मूर्तियाँ पूजा के काम मे आती थी, और इनके चेहरे की भयकरता मातृ-देवता के रौद्र-रूप को अभिव्यक्त करती थी।

भारत में अन्यत्र ताम्र-युग के अवशेष—उत्तरी-भारत मे अन्यत्र कई स्थानो पर ताबे के बने हुए औजार मिले है। पर जिस ढंग से प्राचीन भग्नावशेषो की खुदाई सिन्ध और बिलोचिस्तान में हुई है, वैसी अभी अन्यत्र नही हुई। सम्भव है, कि भविष्य मे भारत के अन्य भागो मे भी वैसी ही ताम्र-युग की सभ्यताओ के चिन्ह प्रकाश मे आएँ, जैसे कि पश्चिमी भारत मे खोज द्वारा प्रकट हुए है।

(४) सिन्धु-घाटी की सभ्यता

सिन्धु-सभ्यता के ग्राम और नगर—अत्यन्त प्राचीन काल मे सिन्ध और बिलोचिस्तान के प्रदेशो मे ताम्र-युग की जिस सभ्यता का विकास हुआ था, उसके बाद सिन्ध नदी की घाटी एव पश्चिमी भारत मे एक अन्य उन्नत व समृद्ध सभ्यता का विकास हुआ, जिसके प्रधान नगरो के भग्नावशेष इस समय हडप्पा और मोहन-जोदडो नामक स्थानो पर उपलब्ध हुए है। यह सभ्यता पूर्व मे हरयाणा, राजस्थान तथा गुजरात से शुरू होकर पश्चिम मे मकरान तक विस्तृत थी। उत्तर मे इसका विस्तार हिमालय तक था। इसके प्रधान नगर सिन्ध व उसकी सहायक नदियो के समीपवर्ती प्रदेशो मे विद्यमान थे, इसीलिए इसे 'सिन्धु-घाटी की सभ्यता' कहा जाता है। इसकी बस्तियो के भग्नावशेष खेडो के रूप मे विद्यमान है, जिनकी खुदाई करने से इस समृद्ध व उन्नत सभ्यता के बहुत-से महत्त्वपूर्ण अवशेष प्राप्त किये गये है। खोज द्वारा जिन बहुत सी बस्तियो का अब तक परिचय मिला है उनमे कुछ ग्राम, कुछ कस्बे, और दो विशाल नगर है। इस सभ्यता के प्रधान नगर हडप्पा और मोहनजोदडो है, जिनमे से मोहनजोदडो कराची से २०० मील उत्तर मे सिन्ध नदी के तट पर स्थित है। हडप्पा पजाब मे लाहौर से १०० मील दक्षिण-पश्चिम मे रावी नदी के तट पर है। हडप्पा और मोहनजोदडो मे ३५० मील का अन्तर है। गत वर्षो मे राजस्थान, हरयाणा और गुजरात मे भी इस सभ्यता के कतिपय नगरो के अवशेष मिले है।

सिन्धु-सभ्यता के जिन खेडो म खुदाई का कार्य अब तक सम्पन्न हुआ है, उन सबके अवशेष एक-दूसरे से असाधारण समता रखते है। उनमे उपलब्ध हुए मिट्टी के बरतन एकसदृश है, उनके मकानो का निर्माण करने के लिए जो ईंटे प्रयुक्त हुई है, वे भी एक ही आकार की है। उनमे माप और तोल के उपकरण भी एकसमान है, और इन स्थानो से जो उत्कीर्ण लेख मिले है, वे भी एक ही तरह के है। हजारो वर्गमील के इस विशाल क्षेत्र मे एकसदृश सभ्यता की सत्ता इस बात को सूचित करती है, कि यह सारा प्रदेश एक व्यवस्था व एक संगठन के अधीन था। यदि इसे एक साम्राज्य कहा जाय, तो अनुचित नही होगा।

नगरों की रचना और भवन-निर्माण—मोहनजोदडो और हडप्पा मे जो खुदाई हुई है, उससे ज्ञात होता है कि इन नगरो की रचना एक निश्चित योजना के अनुसार की गयी थी। मोहनजोदडो मे जो भी सड़कें हैं, वे या तो उत्तर से दक्षिण की ओर सीधी रेखा मे जाती है, और या पूर्व से पश्चिम मे। नगर की प्रधान सडक तेंतीस फीट चौड़ी है, और यह नगर के ठीक बीच में उत्तर से दक्षिण की ओर चली गयी है। इस प्रधान मार्ग को काटती हुई जो सडक पूर्व से पश्चिम की ओर गयी है, वह इससे भी अधिक चौडी है, और यह भी शहर के ठीक बीच मे है। इन दो सड़को के समानान्तर जो अन्य अनेक सडकें है, वे भी चौडाई मे बहुत पर्याप्त है। ये नौ फीट से अठारह फीट तक चौडी है। सडको व गलियो के दोनों ओर मकानो का निर्माण किया गया था। इन मकानों की दीवारें अब तक भी भग्न रूप मे विद्यमान है। खेडो की खुदाई द्वारा सडको व गलियों के साथ-साथ मकानो की जो दीवारे मिली है, कही-कही उनकी ऊँचाई पच्चीस फीट तक पहुँच गयी है। इससे सहज मे अनुमान किया जा सकता है, कि मोहनजोदडो के मकान ऊँचे व विशाल थे।

शहर के गन्दे पानी को नालियों द्वारा बाहर ले जाने का सिन्धु-सभ्यता के इन नगरों मे बहुत उत्तम प्रबन्ध था। मकानो के स्नानागारो, रसोइयो और टट्टियो का पानी नालियो द्वारा बाहर आता था, और वह शहर की वडी नाली मे मिल जाता था। प्रत्येक गली व सडक के साथ-साथ पानी निकलने के लिए नाली बनी हुई थी। सडकों के साथ की नालियाँ प्राय नौ इच चौडी और बारह इंच गहरी होती थी। गलियो के साथ की नालियाँ इनकी अपेक्षा छोटी थी। नालियों का निर्माण पक्की ईंटो से किया गया था। नालियो को ढॅकने के लिए ईंटे प्रयुक्त होती थी, जिन्हे ऊपर की सतह से कुछ इच नीचे जमाकर रखा जाता था। अधिक चौडी नालियो को ढँकने के लिए पत्थर की शिलाएँ भी प्रयुक्त की जाती थी। मकानो से बाहर निकलने वाले गन्दे पानी के लिए मिट्टी के पाइप भी प्रयोग मे लाये जाते थे। शहर की कुछ नालियाँ बहुत बडी (मनुष्य के बराबर ऊँचाई वाली) भी होती थी। इन नालियो मे कही-कही सीढियाँ भी बनाई गयी थी, ताकि उनसे उतरकर नाली को भली-भाँति साफ किया जा सके। इसमे सन्देह नही, कि मकानो के गन्दे पानी को शहर के बाहर ले जाने की जो उत्तम व्यवस्था सिन्धु-सभ्यता के इन नगरो मे विद्यमान थी, वह प्राचीन संसार के अन्य किसी नगर में नही पाई जाती।

सिन्धु-सभ्यता के इन नगरो मे पानी के लिए कुएँ विद्यमान थे। मोहनजोदडो और हडप्पा के भग्नावशेषो मे बहुत-से कुएँ मिले है, जो चौडाई मे २ फीट से लगाकर ७ फीट तक है। इन कुओं के किनारे पर रस्सी के निशान अब तक विद्यमान है। मोहनजोदडो और हडप्पा की खुदाई द्वारा उन मकानो के सम्बन्ध मे भी बहुत-कुछ ज्ञान उपलब्ध होता है, जिनमे सिन्धु-सभ्यता के नागरिक निवास करते थे। इन मकानों के निर्माण के लिए पक्की ईंटों का प्रयोग किया गया था। ईंटे अनेक आकारो की होती थी। छोटी ईंटो का आकार १०$\frac{1}{2}$ × ५ × २$\frac{1}{2}$ इंच होता था, और बड़ी ईंटो का आकार २०$\frac{3}{4}$ × ८$\frac{3}{4}$ × २$\frac{1}{4}$ इच था। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की ये प्राचीन ईंटे बहुत मजबूत, पक्की और रग मे लाल है।

मोहनजोदडो के छोटे मकानो का आकार प्रायः २६×३० फीट होता था। पर बहुत-से ऐसे मकान भी थे, जो आकार मे इसकी अपेक्षा दुगने व और भी अधिक बड़े होते थे। प्रायः मकान दोमजिले होते थे। मोहनजोदडो मे उपलब्ध दीवारो की मोटाई इस बात को सूचित करती है, कि वहाँ के मकान कई मजिल ऊँचे रहे होगे। जो दीवारें २५ फीट के लगभग ऊँची मिली है, इनमे अभी तक वे छेद विद्यमान है, जिनमे शहतीरें लगाकर दूसरी मंजिल का फर्श बनाया गया था। इस युग मे छत बनाने की यह पद्धति थी, कि पहले शहतीरे डाली जाती थी, फिर उनपर बल्लियाँ डालकर एक मजबूत चटाई बिछा दी जाती थी। उसके ऊपर मिट्टी बिठाकर उसे भली-भाँति कूटकर पक्का कर दिया जाता था। कमरो के दरवाजे अनेक प्रकार के होते थे। छोटे मकानो मे प्राय. दरवाजे की चौडाई ३ फीट४ इच होती थी। पर कुछ ऐसे दरवाजो के अवशेष भी मिले है, जिनमे से बोझ से लदे हुए पशु, बैलगाड़ियाँ व रथ भी आ जा सकते थे। कमरो मे दीवारो के साथ आलमारियाँ बनाने की भी प्रथा थी। आलमारी दीवार मे ही बना ली जाती थी। इस युग मे खूँटियाँ व चटखनियो आदि का भी प्रयोग होता था। हड्डी और शख के बने हुए इस प्रकार के अनेक उपकरण मोहनजोदडो के अवशेषो मे प्राप्त हुए है। मोहनजोदडो की खुदाई से कुछ विशाल इमारतो के अवशेष भी उपलब्ध हुए है। शहर के उत्तरी भाग मे एक विशाल इमारत के खडहर विद्यमान है, जो लम्बाई मे २४२ फीट और चौडाई मे ११२ फीट थी। इस इमारत की बाहरी दीवार मोटाई मे ५ फीट है। इस इमारत के समीप ही एक अन्य विशाल प्रासाद के खडहर मिले है, जो लम्बाई मे २२० फीट और चौडाई मे ११५ फीट था। इसकी बाहरी दीवार ५ फीट से भी अधिक मोटी है। मोहनजोदडो की इमारतो मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण एक विशाल जलाशय है, जो ३९½ फीट लम्बा, २३ फीट चौडा और ८ फीट गहरा है। यह जलाशय पक्की ईटो से बना है, और इसकी दीवारे बहुत मजबूत है। इसमे अन्दर जाने के लिए पक्की सीढियाँ बनी हुई है। जलाशय के चारों ओर एक गैलरी बनी है, जो १५ फीट चौडी है। इसके साथ ही जलाशय के दक्षिण-पश्चिम की ओर आठ स्नानागार बने है। सिन्धु-सभ्यता के इन नगरो के चारो ओर की परिखा और प्राचीर के भी अवशेष मिले है। यह स्वाभाविक है, कि इन विशाल नगरो की रक्षा के लिए इन्हे दुर्ग के रूप मे बनाया गया हो। इन नगरो का क्षेत्रफल एक वर्गमील से भी कुछ अधिक है।

धर्म—मोहनजोदडो और हडप्पा के भग्नावशेषो मे कुछ वस्तुएँ ऐसी मिली है, जिनके आधार पर हम सिन्धु-सभ्यता के लोगो के धर्म के विषय मे कुछ उपयोगी बाते जान सकते है। ये वस्तुएँ मुद्राएँ (मोहरे) और धातु, पत्थर व मिट्टी की बनी हुई मूर्तियाँ हैं। पत्थर की बनी मूर्तियो मे सबसे अधिक महत्त्व की वह मूर्ति है, जो कमर के नीचे से टूटी हुई है। यह केवल ७ इच ऊँची है। अपनी अविकल दशा मे यह मूर्ति अधिक बडी होगी, इसमे सन्देह नही। इस मूर्ति मे मनुष्य को एक ऐसा चोगा पहने हुए दिखाया गया है, जो बाएँ कधे के ऊपर और दाई भुजा के नीचे से गया है। चोगे के ऊपर तीन हिस्सेवाली पुष्पाकृति बनी है। सम्भवत., यह पुष्पाकृति धार्मिक चिह्न की द्योतक थी, क्योकि इस प्रकार का चिह्न मोहनजोदडो और हडप्पा में बहुलता के साथ

उपलब्ध है। मूर्ति के पुरुष की मूंछें मुंडी हुई है, यद्यपि दाढी विद्यमान है। प्राचीन सुमेरिया मे उपलब्ध अनेक दैवी और मानुषी-मूर्तियो मे भी इसी प्रकार की मूंछे मुंडी हुई व दाढी पाई जाती है। मूर्ति मे आँखें मुंदी हुई व ध्यानमग्न दिखाई गयी हैं। मूर्ति की ध्यानमुद्रा से प्रतीत होता है, कि इसे योगदशा मे बनाया गया है। इस बात से प्रायः सब विद्वान् सहमत है, कि सिन्धु-सभ्यता की यह मूर्ति किसी देवता की है, और इसका सम्बन्ध वहाँ के धर्म के साथ है। पत्थर से बनी इस दैव मूर्ति के अतिरिक्त मोहनजोदडो और हडप्पा के भग्नावशेषों मे मिट्टी की भी बहुत-सी मूर्तियाँ मिली है। इनमे से एक प्रकार की स्त्री-मूर्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है, क्योकि ऐसी मूर्तियाँ बहुत बडी सख्या मे वह उपलब्ध हुई है। यह स्त्री-मूर्ति प्रायः नग्न दशा मे बनाई गयी है, यद्यपि कमर के नीचे जाँघो तक एक प्रकार का कपडा भी प्रदर्शित किया गया है। मूर्ति पर बहुत-से आभूषण अकित किये गये है, और सिर की टोपी पखे के आकार की बनाई गयी है, जिसके दोनो ओर दो प्याले या दीपक हैं। ऐसी अनेक स्त्री-मूर्तियो मे दीपक के बीच मे धूम्र के निशान हैं, जिनसे यह सूचित होता है, कि इनमें तेल या धूप जलाई जाती थी। धूम्र की सत्ता इस बात का प्रमाण है, कि ये स्त्री-मूर्तियाँ पूजा के काम मे आती थीं। संसार की प्रायः सभी प्राचीन सभ्यताओ मे मातृ-देवता की पूजा की प्रथा विद्यमान थी। कुल्ली-सभ्यता का उल्लेख करते हुए हम पहले भी मातृ-देवता का जिक्र कर चुके है। सिन्धु-सभ्यता मे यदि लोग मातृ-देवता की पूजा करते हो और उसकी मूर्ति के दोनो पार्श्वों मे दीपक जलाते हो, तो यह स्वाभाविक ही है। मातृ-देवता की मूर्तियो के अतिरिक्त मोहनजोदडो और हड़प्पा के भग्नावशेषों मे अनेक पुरुष-मूर्तियाँ भी मिली है, जिन्हे नग्न रूप मे बनाया गया है। अनेक प्राचीन सभ्यताओ मे लोग त्रिमूर्ति की उपासना किया करते थे। मातृ-देवता, पुरुष और बालक—ये इस त्रिमूर्ति के तीन अग होते थे। सिन्धु-सभ्यता के अवशेषो मे बालक देवता की कोई मूर्ति नहीं मिली है। अतः यह कल्पना तो नही की जा सकती, कि अन्य प्राचीन सभ्यताओ के समान यहाँ भी त्रिमूर्ति की उपासना प्रचलित थी, पर पुरुष-मूर्तियो की सत्ता इस बात को अवश्य सूचित करती है, कि मातृ-देवता के अतिरिक्त वहाँ पुरुष-रूप मे भी दैवी शक्ति की पूजा का भाव विद्यमान था।

सिन्धु-सभ्यता के धर्म के सम्बन्ध मे अनेक ज्ञातव्य बाते उन मुद्राओ से ज्ञात होती है, जो मोहनजोदडो और हडप्पा के भग्नावशेषों मे प्रचुर सख्या मे उपलब्ध हुई है। इनमे से एक मुद्रा पर किसी ऐसे नग्न देवता की आकृति अकित है, जिसके तीन मुख है, और जिसके सिर पर सीग बनाये गये हैं। इस देव-मूर्ति के चारो ओर अनेक पशु भी बनाये गये हैं। ये पशु हिरण, गेंडा, हाथी, शेर और भैंसे है। अनेक विद्वानो का विचार है, कि यह आकृति पशुपति शिव की है, जिसकी पूजा आगे चलकर हिन्दू-धर्म मे भी प्रारम्भ हुई। पशुपति शिव की प्रतिमा से अकित तीन मुद्राएँ अब तक उपलब्ध हुई है। यदि इन तीन मुद्राओ मे अकित प्रतिमा को शिव की मान लिया जाए, तो यह स्वीकार करना होगा, कि शैव-धर्म संसार के प्राचीनतम धर्मों मे से एक है। सिन्धु-सभ्यता के लोग मातृ-देवता की पूजा के साथ-साथ प्रजनन-शक्ति की भी उपासना करते थे। वहाँ ऐसे अनेक प्रस्तर मिले हैं, जिन्हे विद्वान् लोग योनि और लिंग के प्रतीक मानते

मे मिले है, और ये अच्छे सुडौल व सुन्दर है । ताम्र का प्रयोग औजारो के लिए विशेष रूप से किया जाता था । मोहनजोदडो और हड़प्पा के खंडहरो मे मिले कुछ ताँबे के कुल्हाड़े लम्बाई में ११ इच है, और उनका बोझ दो सेर से कुछ अधिक है । इनमे लकडी को फंसाने के लिए छेद भी विद्यमान है । धातु से निर्मित औजारो मे ताँबे की बनी एक आरी भी उपलब्ध हुई है, जिसका हत्था लकडी का था । इस आरी मे दाँते भी बने है, और यह लम्बाई मे १६॥ इच है । इस युग मे अस्त्र-शस्त्र भी धातु के बनते थे । सिन्धु-सभ्यता के अवशेषो मे परशु, तलवार, कटार, धनुप-बाण, बरछी, भाला, छुरी आदि अनेक प्रकार के हथियार मिले है, जो सब ताँबे या ब्रोज के बने है । छोटे-छोटे चाकू भी इन अवशेषो मे मिले है, जो घरेलू कार्यों के लिए प्रयुक्त होते होगे । पत्थर काटने वाली छेनियो की सत्ता इस बात को सूचित करती है, कि पत्थर तराशने का शिल्प भी इस युग मे विकसित था । ब्रोज के बने मछली पकडने के काँटे भी इस सभ्यता के अवशेषो मे उपलब्ध हुए है ।

तोल और माप के साधन—सिन्धु-सभ्यता की विविध बस्तियो के अवशेषो मे तोल के बहुत-से बट्टे भी उपलब्ध हुए है । ये बट्टे पत्थर के बने है, और इन्हे एक निश्चित आकार (चौकोर घन के आकार) मे बनाया गया है । सबसे छोटा बाट तोल मे १३·६४ ग्राम के बराबर है । इस छोटे बाट को अगर इकाई मान लिया जाय, तो १, २, ४, ८, १६, ३२, ६४, १६०, २००, ३२० और ६४० इकाइयो के वजन के बाट उपलब्ध हुए है । यह बात बडे आश्चर्य की है, कि भारत की इस प्राचीन सभ्यता मे भी बोझ के विविध अनुपात को सूचित करने के लिए १, ४, ८, १६ की पद्धति का अनुसरण किया जाता था । धातु की बनी एक तराजू के भी अनेक खड इस सभ्यता के अवशेषो मे मिले है । मोहनजोदडो के खडहरो मे सीपी के बने 'फुटे' का एक टुकडा मिला है, जिसमे ६ एक समान विभाग स्पष्ट रूप से अकित है । ये विभाग ०.२६४ इच के बराबर है । ऐसा प्रतीत होता है कि यह फुटा अच्छा लम्बा था, और सीपी के जिन टुकडो से इसे बनाया गया था, उन्हे परस्पर जोडने के लिए धातु का प्रयोग किया गया था । हडप्पा के अवशेषो मे ब्रांज की एक शलाका मिली है, जिस पर नापने के लिए छोटे-छोटे विभाग अकित है । ये विभाग लम्बाई मे ०.३६७६ इच है । इन दो 'फुटो' के आधार पर सिन्धु-सभ्यता की ईटो व कमरो की लम्बाई-चौडाई को माप कर विद्वानो ने यह परिणाम निकाला है, कि इस युग का फुट १३.२ इच लम्बा होता था । इस फुटे के अतिरिक्त माप का एक अन्य मान था, जो लम्बाई मे २०.४ इच होता था । सिन्धु सभ्यता मे जो भी मकान बनाये गए थे, और जो भी ईटे बनायी गई थी, वे इन दो मानो मे से किसी न किसी मान के अनुसार ठीक उतरती है ।

व्यापार—तोल और माप के इन निश्चित मानो की सत्ता इस बात की सूचक है, कि इस युग मे व्यापार अच्छी उन्नत दशा मे था । मोहनजोदडो और हडप्पा के अवशेषो मे जो बहुत-सी वस्तुएँ मिली है, वे सब उसी प्रदेश की उपज व कृति नही है । उनमे से अनेक वस्तुएँ सुदूरवर्ती प्रदेशो से व्यापार द्वारा प्राप्त की गयी थी । सिन्धु नदी की घाटी मे ताँबा, चाँदी, सोना आदि धातुएँ प्राप्त नही होती । सम्भवत., सिन्धु-सभ्यता के लोग चाँदी, टिन, सीसा और सोना अफगानिस्तान व और भी दूर ईरान

से प्राप्त करते थे। अनेक प्रकार के बहुमूल्य पत्थर बदख्शा जैसे सुदूरवर्ती प्रदेशों से आते थे। ताँबे के लिये मुख्यतया राजपूताना पर निर्भर रहना पडता था। सीपी, शंख, कौडी आदि का प्रयोग सिन्धु-सभ्यता मे प्रचुरता के साथ हुआ है। सम्भवतः, ये सब काठियावाड के समुद्र-तट से आती थी। इसी प्रदेश से मूँगा, मोती आदि बहुमूल्य रत्न भी आते थे, जिनका उपयोग आभूपणो के लिये किया जाता था। सिन्धु सभ्यता के भग्नावशेषो मे देवदार के शहतीरो के खड भी मिले है। देवदार का वृक्ष केवल पहाडो मे होता है। हिमालय से इतनी दूरी पर स्थित सिन्धु-सभ्यता के नगरो मे देवदार की लकडी की उपलब्धि इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि इन नगरो का पार्वत्य प्रदेशो के साथ भी व्यापार था।

यह व्यापार तभी सम्भव था, जबकि व्यापारियो का वर्ग भली-भाँति विकसित हो चुका हो, और आवागमन के साधन भी अच्छे उन्नत हो। व्यापारियो के काफिले (सार्थ) स्थल और जल दोनो मार्गों से दूर-दूर तक व्यापार के लिए आया-जाया करते थे। इस युग मे नौकाओ व छोटे जहाजो का प्रयोग होता था, यह बात असंदिग्ध है। इस सभ्यता के खडहरो मे उपलब्ध हुई एक मोहर पर एक जहाज की आकृति सुन्दर रूप से अकित की गई है। इसी प्रकार मिट्टी के बर्तन के एक टुकडे पर भी जहाज का चित्र बना हुआ मिला है। स्थल-मार्ग द्वारा आवागमन के लिए जहाँ घोडे और गधे जैसे पशु प्रयुक्त होते थे, वहाँ साथ ही बैलगाडियाँ भी उस युग मे विद्यमान थी। मोहनजोदडो और हडप्पा के भग्नावशेषो मे खिलौने के तौर पर बनाई गयी मिट्टी की छोटी-छोटी गाडियाँ बडी संख्या मे उपलब्ध हुई है। खिलौने के रूप मे गाडियो को बनाना ही इस बात का प्रमाण है कि उस युग मे इनका बहुत चलन था। केवल बैलगाडी ही नही, इस युग मे इक्के भी प्रयुक्त होते थे। हडप्पा के खण्डहरों मे ब्रोज का बना एक छोटा-सा इक्का मिला है, जिसे सम्भवत उस युग मे प्रयुक्त होने वाले इक्को के नमूने पर बनाया गया था।

इस युग की सिन्धु-सभ्यता मे न केवल अन्तर्देशीय व्यापार अच्छा उन्नत था, अपितु विदेशी व्यापार भी बहुत विकसित दशा मे था। प्राचीन सुमेरिया के अवशेषो मे अनेक ऐसी मुद्राएँ मिली है, जो हड़प्पा की मुद्राओ से हूबहू मिलती-जुलती हैं। ये मुद्राएँ सुमेरिया की अपनी मुद्राओ से सर्वथा भिन्न है। इनमे से एक मुद्रा पर सूती कपड़े का निशान भी अकित है, जो सिन्धु-सभ्यता मे बडी मात्रा मे तैयार होता था। ऐसा प्रतीत होता है, कि सिन्धु देश के व्यापारी सुमेरिया मे भी बसे हुए थे, और वहाँ वे मुख्यतया कपडे का व्यापार करते थे। इसी प्रकार मोहनजोदडो मे कुछ ऐसी मुद्राएँ मिली हैं, जो ठीक सुमेरियन शैली की है। ये मुद्राएँ या तो सुमेरियन व्यापारियो की सिन्धु देश मे सत्ता को सूचित करती है, और या यह भी सम्भव है कि सुमेरिया से घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध रखने वाले कुछ सिन्धुदेशीय व्यापारियो ने सुमेरियन शैली पर अपनी मुद्राओ का निर्माण किया हो। सिन्धु-सभ्यता के व्यापारी न केवल सुमेरिया के साथ व्यापार करते थे, अपितु ईरान से भी उनका व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित था। ईरान के अनेक प्राचीन भग्नावशेषो मे ऐसी अनेक वस्तुएँ उपलब्ध हुई है, जो वहाँ सिन्धु देश से गयी मानी जाती है।

सिन्धु-सभ्यता की कला मे पत्थर और धातु की बनी हुई मूर्तियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय है। धातु की बनी हुई नर्तकी की एक मूर्ति इतनी सुन्दर है, कि वह बिलकुल सजीव प्रतीत होती है। नर्तकी का शरीर नग्न है, यद्यपि उसपर बहुत-से आभूषण बनाये गये है। सिर के केशो का प्रसाधन मूर्ति मे बहुत ही सुन्दर रूप से प्रदर्शित किया गया है। सिन्धु-सभ्यता के लोग सगीत और नृत्य के शौकीन थे, यह बात केवल नर्तकी की मूर्ति द्वारा ही सूचित नही होती, अपितु उन छोटे-छोटे वाद्यो द्वारा भी प्रकट होती है, जो इस युग के भग्नावशेषो मे उपलब्ध हुए है। पक्षियो की कुछ ऐसी मूर्तियाँ मिली है, जिनकी पूँछ से सीटी या बाँसुरी बजाने का उपयोग लिया जा सकता था। तबले और ढोल के चित्र भी कुछ स्थानो पर उत्कीर्ण मिले है। अपने केशो के प्रसाधन के लिये इस युग के लोग दर्पण और कघे का प्रयोग करते थे। ताँबे के बने हुए कुछ दर्पण इस सभ्यता के अवशेषो मे मिले है, और हाथीदाँत के बने एक कंघे से यह सूचित होता है, कि इस युग मे किस ढग के कघे प्रयुक्त होते थे। शृंगार की वस्तुएँ उस समय मे भी उपयोग मे लायी जाती थी। पत्थर के बने हुए छोटे-छोटे ऐसे पात्र मिले है, जो सम्भवत शृगार-प्रसाधन की वस्तुओं को रखने के लिये प्रयोग मे लाये जाते थे।

लिपि और लेखन-कला—मोहनजोदडो और हडप्पा के भग्नावशेषो मे जो बहुत-सी मुद्राएँ मिली हैं, उनपर अनेक प्रकार के लेख उत्कीर्ण है। दु ख की बात है, कि सिन्धु-सभ्यता की इस लिपि को अभी तक पढा नही जा सका है। अनेक विद्वानों ने इसे पढने का प्रयत्न किया है, और कुछ का यह भी दावा है, कि वे इस लिपि को पढ सकने मे सफल हो गये है। पर अभी तक पुरातत्त्व-शास्त्र के बहुसख्यक विद्वान् यही मानते है कि यह लिपि पढी नही जा सकी है, और जिन विद्वानो ने इसे पढने का दावा किया है, उनका दावा उन्हे स्वीकार्य नही है। सिन्धु-सभ्यता के ये लेख चित्रलिपि मे है, जिसका प्रत्येक चिह्न किसी विशेष शब्द या भाव को प्रकट करता है। सिन्धु-सभ्यता मे लिखने के लिए स्याही का भी उपयोग होता था, यह बात छन्नू-दडो के भग्नावशेषो मे उपलब्ध एक दवात से सूचित होती है। यह दवात मिट्टी की बनी है, और इसकी उपलब्धि से इस बात मे कोई सन्देह नही रह जाता, कि सिन्धु-सभ्यता के लोग अपने लेखो को केवल उत्कीर्ण ही नहीं करते थे, अपितु कलम-दवात से लिखते भी थे।

सिन्धु-सभ्यता के निवासी—मोहनजोदडो और हड़प्पा के भग्नावशेषो मे मनुष्यो के जो अस्थिपजर मिले है, उनका अनुशीलन कर यह निर्णय करने का प्रयत्न किया गया है, कि सिन्धु-सभ्यता के निवासी नसल और जाति की दृष्टि से कौन थे। यह तो स्पष्ट ही है, कि इस सभ्यता के प्रधान नगरों की आबादी मिश्रित थी। व्यापार, नौकरी व अन्य आकर्षणो से आकृष्ट होकर अनेक नसलो और जातियो के लोग इन नगरो मे आकर निवास करते थे। यही कारण है, कि इनमे उपलब्ध हुए मानव अस्थिपजर विविध प्रकार के लोगों की सत्ता को सूचित करते है। कर्नल स्यूअल और डा० गुहा के मतानुसार इन नगरो मे उपलब्ध हुए अस्थिपंजरो से यह परिणाम निकाला जा सकता है, कि इनके निवासी चार विभिन्न नसलो के थे। ये नसलें

निम्नलिखित है—आस्ट्रेलोग्रड, भूमध्यसागरीय, मगोलियन और अल्पाइन। इनमे से मगोलियन और अल्पाइन नसल के लोगो की केवल एक-एक खोपडी सिन्धु-सभ्यता के अवशेषो मे प्राप्त हुई है। इससे सूचित होता है, कि इन नसलो के लोग सिन्धु देश के क्षेत्र मे बहुत कम सख्या मे निवास करते थे। सिन्धु देश के बहुसख्यक निवासी आस्ट्रेलोग्रड और भूमध्यसागरीय नसलो के थे। इनमे भी भूमध्यसागरीय नसल का प्राधान्य था। आर्य जाति के इतिहास के रगमंच पर प्रकट होने से पूर्व पृथिवी के अनेक प्रदेशो पर (विशेषतया भूमध्यसागर के तटवर्ती क्षेत्रो मे और पश्चिमी एशिया मे) जिन लोगों ने मानव-सभ्यता का विकास किया था, उन्हे सामूहिक रूप से भूमध्यसागरीय नसल का कहा जाता है। संसार की प्राचीनतम सभ्यता का विकास इसी नसल के लोगों ने किया, भारत के द्रविड लोग भी इसी आइबीरियन नसल की एक शाखा माने जाते हैं, और अनेक विद्वानो का मत है कि सिन्धु-सभ्यता का विकास इन्ही द्रविड-आइबीरियन लोगों द्वारा हुआ था पर सिन्धु-सभ्यता के निवासियो का द्रविड होना अभी सब विद्वानों ने स्वीकार नही किया है।

पर इसमे सन्देह नही, कि सिन्धु-सभ्यता का विनाश बाह्य आक्रमणो द्वारा हुआ था। २००० ई० पू० के लगभग ससार की प्राचीन सभ्यताओ के ऊपर बाह्य शत्रुओ के हमले शुरू हो गए थे। इसी समय के लगभग एशिया माइनर के प्रदेश पर हत्ती या खत्ती (हित्ताईत) जाति ने आक्रमण किया था, और वहाँ की पुरातन सभ्यताओ का विनाश कर अपने राज्य की स्थापना की थी। ये खत्ती लोग उस आर्य-जाति की एक शाखा थे, जो इस समय अपने पुराने अभिजन को छोडकर भूमध्य-सागरीय या आइबीरियन जातियों द्वारा विकसित सभ्यताओं के ध्वंस मे तत्पर थी। इसी आर्य जाति की अन्य शाखाओ ने ईराक, ईरान आदि पश्चिमी एशिया की अन्य प्राचीन सभ्यताओ को विनष्ट किया। २००० ई० पू० के कुछ समय बाद आर्यजाति की ही एक शाखा ने भारत पर आक्रमण कर उन सभ्यताओ को नष्ट किया, जो उस समय इस देश मे विद्यमान थी। सिन्धु-सभ्यता का विनाश भी आर्य लोगो द्वारा हुआ। आर्यों ने इनके दुर्गो व पुरो का ध्वंश किया। आर्य लोग इन्हे 'दस्यु' या 'दास' कहते थे। सिन्धु-सभ्यता के लोगो का अन्य कोई नाम हमे ज्ञात नही है, अतः यदि हम भी उन्हे दस्यु या दास सज्ञा दे, तो अनुचित नही होगा। ये दोनो शब्द संस्कृत मे डाकू और गुलाम अर्थ मे भी प्रयुक्त होते हैं। आर्यों ने जिन लोगों को नष्ट किया, उनके नाम को यदि वे इन हीन अर्थो मे प्रयुक्त करने लगे हो, तो यह अस्वाभाविक नही है।

सिन्धु-सभ्यता २००० ई० पू० के लगभग तक कायम रही। इससे पूर्व वह अनेक सदियो तक फलती-फूलती दशा मे थी, यह बात निर्विवाद है।

चौथा अध्याय

आर्य जाति और उसका भारत में प्रवेश

(१) आर्य-जाति

अठाहरवी सदी के उत्तरार्ध मे जब कतिपय यूरोपियन विद्वानो ने भारत के सम्पर्क मे आकर सस्कृत-भाषा का अध्ययन शुरू किया, तो उन्हे यह देखकर बडा आश्चर्य हुआ, कि संस्कृत की लेटिन और ग्रीक भाषाओ के साथ बहुत समता है। यह समता केवल शब्दकोष मे ही नही है, अपितु व्याकरण मे भी है। भाषा-विज्ञान के क्षेत्र मे यह 'आविष्कार' बहुत महत्त्वपूर्ण था। इसे प्रकट करने वाले प्रथम विद्वान केग्ररदू थे, जिन्होने १७६७ ई० मे ग्रीक और लेटिन की संस्कृत के साथ समता का प्रतिपादन किया। केग्ररदू फ्रेंच थे, और इसी कारण ब्रिटिश विद्वानों ने उनके आविष्कार पर अधिक ध्यान नही दिया। उनके कुछ समय बाद सर विलियम जोन्स नामक अंग्रेज विद्वान् ने १७८६ ई० मे इसी तथ्य को प्रकट किया, और उन्होने यह प्रतिपादित किया कि सस्कृत, लेटिन, ग्रीक, जर्मन और केल्टिक भाषाएँ एक ही भाषा-परिवार की है, और इनका मूल एक ही है। जोन्स की इस स्थापना से यूरोप के विद्वानो मे एक तहलका-सा मच गया। हीगल ने तो यहाँ तक लिख दिया, कि जोन्स का यह आविष्कार एक नई दुनिया के आविष्कार के समान है। इस समय से उस नये विज्ञान का प्रारम्भ हुआ, जिसे हम तुलनात्मक भाषाविज्ञान कहते है। ससार की वर्तमान और प्राचीन भाषाओ का अध्ययन कर विद्वान् लोग शब्दकोष और व्याकरण की दृष्टि से उनकी तुलना करने लगे, और उन्हें विविध भाषा-परिवारों मे विभक्त करने लगे। इस विवेचना से विद्वानो ने यह परिणाम निकाला, कि इटालियन, फ्रेंच, स्पेनिश, ग्रीक, केल्टिक, जर्मन, इंगलिश, ट्युटानिक, स्लावोनिक, लिथुएनियन, लेटिन, अल्बेनियन आदि यूरोपियन भाषाएँ, उत्तरी भारत की हिन्दी, पंजाबी, मराठी, गुजराती, बगाली, उड़िया आदि भाषाएँ और पश्चिमी एशिया की जेन्द, पर्शियन, पश्तो, बलूची, कुर्द और आर्मीनियन भाषाएँ एक ही विशाल भाषा-परिवार की अग है। यूरोप और एशिया की इन सब भाषाओ मे शब्दकोष और व्याकरण की जो आश्चर्यजनक समता है, वह आकस्मिक नही हो सकती। इस समता का कारण यही हो सकता है, कि इन विविध भाषाओ को बोलने वाले लोगो के पूर्वज किसी अत्यन्त प्राचीन काल मे एक स्थान पर निवास करते थे और एक भाषा बोलते थे। बाद मे जब वे अनेक शाखा-प्रशाखाओ मे विभक्त होकर विविध प्रदेशों मे बस गये, तो उनकी भाषा भी पृथक् रूप से विकसित होती गयी। पर उसमे वह समता कायम रही, जो हमे इस समय आश्चर्यजनक प्रतीत होती है। जिस प्रकार गुजराती, मराठी, बंगाली, हिन्दी आदि विविध भारतीय भाषाओ का उद्गम प्राचीन संस्कृत भाषा से हुआ, वैसे

ही यूरोप और एशिया की इन भाषाओं का स्रोत कोई एक प्राचीन भाषा थी, जिसका स्वरूप हमें अज्ञात है। यदि यह बात सत्य है, कि अटलांटिक महासागर के समुद्र-तट से भारत तक विस्तृत इस विशाल क्षेत्र में (पश्चिमी एशिया की सेमेटिक और तुर्क भाषाओं तथा यूरोप की मगयार और फिन भाषाओं के क्षेत्रों को छोड़कर) जो भाषाएँ अब बोली जाती है, उनका उद्गम एक है, तो साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा, कि इनको बोलने वाले लोग एक ही विशाल जाति के अंग है, और किसी प्राचीन काल में वे एक ही स्थान पर निवास करते थे। अनेक विद्वानों ने शरीर की रचना और आकृति के आधार पर भी इस मन्तव्य की पुष्टि की और यह बात सर्वमान्य-सी हो गयी, कि यूरोप, ईरान और भारत के बहुसंख्यक निवासी जाति की दृष्टि से एक है और उनके रंग, रूप और भाषा आदि मे जो भेद इस समय दिखायी देता है, उसका कारण जलवायु की भिन्नता और चिरकाल तक एक-दूसरे से पृथक् रहना ही है।

इस जाति का नाम क्या हो, इस सम्बन्ध मे विद्वानो मे ऐकमत्य नही है। इसके लिए विविध विद्वानो ने 'इण्डो-जर्मन', 'इण्डो-यूरोपियन', 'इण्डो-ईरानियन', 'आर्यन्' आदि विविध नामो का उपयोग किया है, और कुछ ने 'वीरा.' या 'वीरोम्' शब्द चुना है, क्योंकि इस भाषा-परिवार की अनेक प्राचीन भाषाओ मे मनुष्य के लिए 'वीर' या इससे मिलते-जुलते शब्द विद्यमान है। पर अधिक प्रचलित शब्द 'आर्यन्' या 'आर्य' है, और हमने भी इसी को उपयुक्त समझा है। संस्कृत और प्राचीन ईरानियन भाषा मे आर्य शब्द अपनी जाति के लिए प्रयुक्त होता था। भारत के आर्य लोग तो अपने को आर्य कहते ही थे, ईरानी लोग भी इसी शब्द का उपयोग करते थे। ईरान शब्द स्वय आर्य का अपभ्रंश है, और इस शब्द की स्मृति आयरलैंड के 'आयर' में भी विद्यमान है। इन्ही दृष्टियो मे बहुसख्यक विद्वान् इस विशाल जाति के लिए आर्य सज्ञा का उपयोग करना उपयुक्त समझते है।

(२) आर्य जाति का मूल अभिजन

जो विशाल आर्य जाति इस समय अटलाण्टिक महासागर से भारत तक फैली हुई है, उसका मूल अभिजन (निवास-स्थान) कौन-सा था, इस सम्बन्ध मे विद्वानो ने अनेक मत प्रतिपादित किये है,। इनमे से कतिपय प्रमुख मतो पर हम यहाँ सक्षेप से प्रकाश डालेंगे—

(१) **मध्य एशिया**—आर्य जाति का मूल अभिजन मध्य एशिया (ईरान के उत्तर और कैस्पियन सागर के पूर्व) मे था, इस मत को सबसे पूर्व १८२० ई० मे जे० जी० र्होड ने प्रतिपादित किया था। ईरान की प्राचीन अनुश्रुति को दृष्टि मे रखकर र्होड ने यह मत स्थिर किया, कि आर्य लोग शुरू मे बैक्ट्रिया मे निवास करते थे, और वहाँ से वे दक्षिण, पूर्व और पश्चिम दिशाओ मे फैले। श्लीगल और पॉट ने र्होड के मत का समर्थन किया। पॉट का कथन था, कि बाद के इतिहास मे हम देखते है कि कितनी ही जातियां मध्य एशिया के क्षेत्र से पूर्व और पश्चिम की तरफ फैली। जो प्रक्रिया बाद के इतिहास मे हुई, वही प्राचीन युग मे भी हुई थी, और आर्य लोग इसी क्षेत्र से अन्य प्रदेशो मे जाकर बसे थे। सन् १८५६ मे प्रोफेसर

मैक्समूलर के मध्य एशिया के आर्यों का मूल निवास स्थान होने के मत की प्रबलता के साथ पुष्टि की। आर्य लोग पहले मध्य एशिया मे निवास करते थे। उनकी एक शाखा दक्षिण-पूर्व की तरफ चली गयी। इसी की बाद मे ईरानी और भारतीय आर्यों के रूप में दो उप-शाखाएँ हो गयी। ईरानी और भारतीय आर्य चिरकाल तक एक साथ रहे थे। यही कारण है, कि उनमें परस्पर बहुत अधिक समता पायी जाती है। आर्य-जाति की अन्य शाखाएँ पश्चिम व दक्षिण-पश्चिम की ओर बढती गयी और धीरे-धीरे सारे यूरोप मे फैल गयी। सन् १८७४ मे प्रोफेसर सेग्रस ने तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के आधार पर मध्य एशिया मे आर्यों के मूल अभिजन होने के मत की पुष्टि की। उन्होंने कहा कि वेद और जेन्दाबस्ता के अनुशीलन से यह सूचित होता है, कि आर्य लोग पहले ऐसे स्थान पर रहते थे, जहाँ शीत की अधिकता थी। ऋग्वेद मे वर्ष को सूचित करने के लिए 'हिम' का प्रयोग किया गया है। वहाँ एक मन्त्र (ऋग्वेद ५, ५४, १५) मे 'तरेम तरसा शत हिमा.' यह पद आया है, जिसका अर्थ है कि हम शत हिम (सौ साल) जीएँ। वेद और अवस्ता मे घोडे और गौवो का जिक्र आता है, नाव चलाने का भी उल्लेख है, और वृक्षो मे पीपल का वर्णन है। अत: आर्यों का मूल अभिजन कोई ऐसा प्रदेश होना चाहिए जहाँ खूब सरदी पड़ती हो, पीपल बहुत होता हो, नाव चलाने की सुविधा हो, और घोडो व गौवो की प्रचुरता हो। ऐसा प्रदेश मध्य-एशिया का है। कैस्पियन सागर के समीप होने के कारण वहाँ नाव की सुविधा है, और अन्य सब वनस्पति व जन्तु भी वहाँ उपलब्ध है। क्योकि जेन्दाबस्ता मे इस बात का निर्देश भी मिलता है, कि आर्य लोग पहले बैक्ट्रिया के प्रदेश मे निवास करते थे, अतः कैस्पियन सागर के पूर्ववर्ती इस प्रदेश को ही आर्यों का मूल स्थान मानना चाहिए।

(२) **उत्तरी ध्रुव**—भारत के प्रसिद्ध विद्वान् लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने आर्यों के मूल अभिजन के सम्बन्ध मे यह मत प्रतिपादित किया, कि शुरू मे आर्य लोग उत्तरी ध्रुव के क्षेत्र मे रहते थे। जलवायु की स्थिति मे परिवर्तन होने के कारण बाद मे वे अन्य स्थानो मे जाने के लिए विवश हुए। तिलक ने इस मत को प्रधानतया वैदिक सहिताओ के आधार पर प्रतिपादित किया था। इसमे सन्देह नही, कि ऋग्वेद के निर्माण के समय आर्य लोग सप्तसैन्धव (पजाब व समीपवर्ती प्रदेश) देश मे आ चुके थे। पर उस युग की स्मृति अभी उनमे विद्यमान थी, जब कि वे उत्तरी ध्रुव के क्षेत्र मे निवास करते थे। ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में छ. मास के दिन का वर्णन आता है। एक सूक्त मे उषा की स्तुति की गयी है। यह वैदिक उषा भारत की उषा नहीं है, जो कुछ मिनटो तक ही रहती है। यह एक अत्यन्य सुदीर्घकाल तक रहने वाली उषा है, जो समाप्त ही नहीं होती। ऐसी उषा उत्तरी ध्रुव के प्रदेश मे ही होती है, मध्य एशिया या भारत मे नही। महाभारत मे सुमेरु पर्वत का वर्णन आता है, जहाँ देव लोगो का निवास है। सुमेरु के क्षेत्र मे एक साल का अहोरात्र होता है। इस पर्वत पर बहुत-सी वनस्पतियाँ व औषधियाँ भी उत्पन्न होती है। जिस पर्वत पर एक साल का अहोरात्र होता हो, वह केवल उत्तरी ध्रुव के क्षेत्र मे ही हो सकता है। ऐसा प्रतीत होता है, कि महाभारत के इस वर्णन मे उस समय की स्मृति सुरक्षित है, जबकि आर्य लोग उत्तरी ध्रुव मे निवास करते थे, और जब कि हिमप्रलय-पूर्ववर्ती समय में वह प्रदेश वनस्पति आदि से परिपूर्ण होने के

कारण मनुष्यों के निवास के योग्य था। आर्य लोग वहाँ से चले आये थे, पर अपने प्राचीन अभिजन को आदर की दृष्टि से देखते थे, और यह कल्पना करते थे कि देव लोग अब तक भी वहाँ निवास करते हैं।

प्राचीन ईरानियों के धर्मग्रन्थ जेन्दावस्ता की प्रथम पुस्तक वेन्दिदाद में भी कतिपय ऐसे निर्देश मिलते हैं, जो आर्यों के मूल अभिजन पर प्रकाश डालते है। उनके अनुसार अहुरमज्द ने पहले-पहल 'ऐर्य्यन वेइजो' (आर्यों का बीज या मूल) का निर्माण किया। इस प्रदेश मे सरदी के दस महीने और गर्मी के दो महीने होते थे। ऐर्य्यन वेइजो के बाद अहुरमज्द ने सुग्ध और फिर मोउर का निर्माण किया। अनेक विद्वानों के अनुसार यह ऐर्य्यन वेइजो देश उत्तरी ध्रुव के समीप ही कहीं स्थित था। जेन्दावस्ता मे अहुरमज्द द्वारा निर्मित विविध देशों का जो क्रम लिखा गया है, अनेक विचारकों के अनुसार वह आर्यों के विस्तार को सूचित करता है। पर ऐर्य्यन वेइजो उत्तरी ध्रुव के क्षेत्र मे ही कही था, इस बात से सब विद्वान् सहमत नही हैं। कतिपय विद्वान् इस प्रदेश को ईरान के उत्तर मे स्थित मानते हैं।

(३) **सप्तसैन्धव देश**—भारत के ही कुछ अन्य विद्वानो ने यह मत प्रतिपादित किया, कि आर्य लोगो का मूल अभिजन सप्तसैन्धव देश था। सरस्वती, शतद्रु, विपाशा, परुष्णी, असिक्नी, वितस्ता और सिन्धु—इन सात नदियो द्वारा सिंचित प्रदेश का प्राचीन नाम सप्तसैन्धव देश था। आर्य लोगों का यही प्राचीन अभिजन था, और यही से वे सारे भारत मे और पश्चिम मे यूरोप तक फैले। इस मत के प्रधान समर्थक श्री अविनाशचन्द्र दास है। उन्होंने बडे विस्तार से यह प्रतिपादित किया है कि ऋग्वेद के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि प्रारम्भ मे आर्य लोग इन सात नदियों के प्रदेश मे निवास करते थे। तब वर्तमान राजपूताना और पूर्वी उत्तर-प्रदेश, बिहार और बंगाल के प्रदेशो मे समुद्र था। इन्ही को वैदिक आर्य दक्षिणी और पूर्वी समुद्र कहते थे। ऋग्वेद के आधार पर ही श्रीयुत दास ने यह प्रदर्शित किया, कि आर्यो की एक शाखा अहुरमज्द (असुर महत्) की उपासिका होने के कारण अन्य आर्यों के साथ संघर्ष मे व्यापृत हुई, और उनसे परास्त होकर पश्चिम की ओर चली गयी और ईरान मे जा बसी। वैदिक आर्य देवो के उपासक थे, और ईरान मे बसने वाले आर्य असुरो के। पहले ये एक साथ सप्तसैन्धव देश मे निवास करते थे। पर धार्मिक मतभेद के कारण इनमे घोर संग्राम हुआ, जिसे वैदिक साहित्य मे देवासुर-संग्राम कहा गया है। इसमें असुर लोग परास्त हुए, और अपना मूल अभिजन छोडकर पश्चिम मे ईरान के प्रदेश मे बस जाने के लिए विवश हुए। सप्तसैन्धव के क्षेत्र मे निवास करने वाली एक अन्य आर्य जाति जिसे 'पणि' कहते थे, व्यापार में विशेष कुशल थी। वह पश्चिम की ओर जाकर बस गयी, और आगे चलकर फ्यूनिक व फिनीशियन जाति कहाई। पश्चिमी एशिया के सेमेटिक लोगों पर इस पणि जाति का बहुत प्रभाव पड़ा। आर्य जाति की अन्य शाखाएँ सप्तसैन्धव देश से यूरोप मे भी गयी, और यूरोप की भाषाओं मे और संस्कृत व प्राचीन ईरानी भाषाओं मे जो समता दृष्टिगोचर होती है, उसका कारण आर्य जातियों का यह विस्तार ही है।

श्रीयुत दास ने लोकमान्य तिलक की उन युक्तियों को भी विस्तृत रूप से

भारत मे आर्यों का प्रवेश चाहे दो धाराओं मे हुआ हो या अधिक धाराओं में, पर बहुसंख्यक विद्वानों का यही मत है, कि वे बाहर से आकर ही इस देश में आबाद हुए थे। वर्तमान समय मे विद्वानों का झुकाव इस मत की ओर है, कि आर्य लोगों का मूल अभिजन कैस्पियन सागर के पूर्व से लगाकर वंक्षु (आक्सस) नदी तक के प्रदेश में कहीं पर था।

(३) आर्य-जाति का प्रसार

आर्य-जाति का मूल निवास-स्थान चाहे सप्तसैन्धव देश में हो, चाहे कैस्पियन सागर के पूर्ववर्ती प्रदेश मे, यह निश्चित है कि उसकी विविध शाखाएँ अनेक धाराओं में एशिया और यूरोप के विविध प्रदेशो मे जाकर आबाद हुईं। इनमें से कतिपय शाखाओ के सम्बन्ध मे कुछ प्रमाण पुरातत्व-सम्बन्धी खोज द्वारा भी उपलब्ध हुए है। दजला और फरात नदियो की घाटी मे जिस प्राचीन (आर्यों से पूर्ववर्ती) सभ्यता का विकास हुआ था, उसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। सोलहवी सदी ई० पू० मे ईराक के इस प्रदेश पर उत्तर-पश्चिम की ओर से आक्रमण शुरू हुए। कस्साइत् नामक एक जाति ने बैबिलोन को जीत कर वहाँ अपना शासन स्थापित कर लिया। ये कस्साइत् लोग आर्य जाति के थे। इनके राजाओं के नाम आर्य-राजाओ के नामो के सदृश है। कस्साइत् राजवंश की राजधानी बेबिलोन थी, और ईराक के प्रदेश में स्थित इस प्राचीन नगरी में सम्भवतः यह आर्य-जाति का प्रथम राजवंश था। कस्साइत् (या कस्शु) लोगो के प्रधान देवता सूर्यस् (सूर्य) और मरुत (मरुत्) थे। इनकी भाषा भी आर्य-परिवार की थी। इनके जो लेख मिले हैं, उनके अनुशीलन से इस बात मे कोई सन्देह नही रह जाता, कि ये लोग विशाल आर्य-जाति की ही अन्यतम शाखा थे।

पन्द्रहवी सदी ई० पू० के लगभग मितन्नी नामक एक अन्य जाति ने कस्साइत् लोगो के राज्य के उत्तर-पश्चिम में अपने राज्य की स्थापना की। मितन्नी लोग भी आर्य-जाति के थे। इनके पश्चिम मे एक अन्य आर्य-जाति ने अपने राज्य की स्थापना की, जिसे खत्ती, हती या हिताइत कहते है। मित्तनी और खत्ती जातियो के राज्य एक दूसरे के पडोस मे थे, अतः उनमे प्रायः सघर्ष होता रहता था। १३८० ई० पू० के लगभग इन दोनो राज्यो मे परस्पर सन्धि हो गयी। इस सन्धि की शर्तें विशद रूप से उत्कीर्ण हुई बोगजकोई नामक स्थान के भग्नावशेषों मे उपलब्ध हुई हैं। बोगज कोई मित्तनी राज्य की राजधानी के प्राचीन स्थान को सूचित करता है, और एशिया माइनर मे स्थित है। यह सन्धि मितन्नी के राजा (दशरथ के पुत्र) मतिउज और खत्ती के राजा शुबिलुलिम के बीच में हुई थी। इस सन्धि के साक्षी रूप कुछ देवताओ के नाम लिखे गये थे। ये देवता है, मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्यौ। बोगजकोई के इस लेख मे इन देवताओं के नाम इस रूप मे दिये गये है—मि-इत्-अस्, व-अर-रु-उण-अस् इन्-द-र, न-स-अति-इअ। वैदिक पदो को इस रूप मे लिखने की प्रथा की व्यवस्था भारत मे भी थी। मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्यौ (अश्विनीकुमार) देवताओं के नामो की एशिया माइनर मे सत्ता इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि मितन्नी और खत्ती दोनों

आर्य जातियाँ थीं, और दोनों उन आर्य-देवताओं की पूजा करती थीं, जिनका परिज्ञान हमें ऋग्वेद से होता है। इससे यह भी सूचित होता है, कि जिस युग में सब आर्य जातियाँ एक प्रदेश मे निवास करती थी, तब भी उनमें इन देवताओं की पूजा प्रचलित थी। बोगजकोई मे ही एक पुस्तक भी प्राप्त हुई है, जो कि मिट्टी की तख्तियों पर उत्कीर्ण की हुई है। इस पुस्तक का विषय रथचालन है। इसका लेखक किक्कुली नामक एक व्यक्ति था, जो मितन्नी जाति का था। रथ के घूमने के लिए इस पुस्तक में 'आवर्त्तन्न' शब्द का प्रयोग किया गया है, और एक, तीन, पांच व सात चक्करों के लिए क्रमशः ऐकवर्त्तन्न, तेरवर्त्तन्न, पंचवर्त्तन्न और सत्तवर्त्तन्न शब्दों का उपयोग किया गया है। आवर्त्तन्न शब्द संस्कृत भाषा के आवर्त्तन शब्द से मिलता है, और इससे सूचित होता है, कि मितन्नी लोगों की भाषा संस्कृत से बहुत मिलती-जुलती थी। मितन्नी राजाओं द्वारा भेजे गये कतिपय पत्र मिस्र में एल-अमरना नामक स्थान पर भी उपलब्ध हुए हैं। ये पत्र भी मिट्टी की तख्तियों पर उत्कीर्ण हैं। इन पत्रो में मितन्नी-राजाओं के अर्ततम, दशरत्त आदि जो नाम मिले हैं, वे भी संस्कृत शब्दो के बहुत समीप हैं। इसी प्रकार खत्ती राजाओं के अन्यतम नाम मर्यतस् और सूर्यस् स्पष्टतया संस्कृत नामो से मिलते-जुलते है। इन प्रमाणो को दृष्टि मे रखने से इस बात मे कोई सन्देह नही रह जाता, कि कस्साइत, खत्ती और मितन्नी के रूप मे जो जातियाँ पश्चिमी एशिया के रंगमंच पर प्रकट हुई थीं, वे आर्य-जाति की ही शाखाएँ थी। अपने मूल अभिजन से निकलकर जब आर्य-जातियों के प्रसार का प्रारम्भ हुआ, तो उसकी कुछ शाखाएँ इस क्षेत्र मे जा बसी, बोगजकोई आदि के अवशेष इसके स्पष्ट प्रमाण हैं।

पूर्व की ओर जो आर्य लोग गये, उनकी दो प्रधान शाखाएँ थी, ईरानी और भारतीय। जिस प्रकार भारतीय आर्यों का प्रमुख ग्रन्थ ऋग्वेद है, वैसे ही ईरानी आर्यों का प्रमुख ग्रन्थ जेन्दावस्ता है। जेन्दावस्ता की भाषा वैदिक भाषा से बहुत मिलती है। उनमे न केवल तत्सम शब्दो की प्रचुरता है, अपितु साथ ही व्याकरण, धातु आदि भी एक-दूसरे के सदृश हैं। प्राचीन ईरानी लोगो का धर्म भी वैदिक धर्म के बहुत समीप था। मित्र, वरुण, अग्नि आदि वैदिक देवताओ की पूजा प्राचीन ईरानी लोग भी करते थे। ऐसा प्रतीत होता है, कि पूर्व की ओर जाने वाली ये दोनों आर्य-जातियाँ बहुत समय तक एक-दूसरे के साथ रही, और उनके धर्म का साथ-साथ विकास हुआ। देर तक साथ रहने से उनकी भाषा भी एक-दूसरे के अधिक समान रही।

पर बाद मे आर्यों की ईरानी और भारतीय शाखाओं मे विरोध हो गया। इस विरोध ने एक उग्र संग्राम का रूप धारण किया। अन्त मे ईरानी लोग परास्त हुए, और वे अपने साथियों से पृथक् होकर उस देश में बस गये, जिसे आजकल ईरान कहा जाता है, और जिसका यह नाम आर्य-जाति के नाम पर ही पडा था। वैदिक संहिताओ और जेन्दावस्ता के अनुशीलन से इस संघर्ष पर बहुत प्रकाश पड़ता है। इसी को देवासुर-सग्राम भी कहा जाता है।

संस्कृत-भाषा में देव शब्द उत्तम अर्थ में और असुर बुरे अर्थों में प्रयुक्त होता है। देव का अभिप्राय है, दिव्य गुणयुक्त। असुर का अर्थ है, दानव या दैत्य। इसके विपरीत प्राचीन जेन्द भाषा में असुर शब्द अच्छे अर्थों मे और देव शब्द घृणित अर्थों

भारत में आर्यों का प्रवेश चाहे दो धाराओं में हुआ हो या अधिक धाराओं में, पर बहुसंख्यक विद्वानो का यही मत है, कि वे बाहर से आकर ही इस देश मे आबाद हुए थे। वर्तमान समय में विद्वानों का झुकाव इस मत की ओर है, कि आर्य लोगों का मूल अभिजन कैस्पियन सागर के पूर्व से लगाकर वंक्षु (आक्सस) नदी तक के प्रदेश में कही पर था।

(३) आर्य-जाति का प्रसार

आर्य-जाति का मूल निवास-स्थान चाहे सप्तसैन्धव देश मे हो, चाहे कैस्पियन सागर के पूर्ववर्ती प्रदेश मे, यह निश्चित है कि उसकी विविध शाखाएँ अनेक धाराओं में एशिया और यूरोप के विविध प्रदेशों मे जाकर आबाद हुईं। इनमे से कतिपय शाखाओं के सम्बन्ध मे कुछ प्रमाण पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोज द्वारा भी उपलब्ध हुए है। दजला और फरात नदियो की घाटी मे जिस प्राचीन (आर्यों से पूर्ववर्ती) सभ्यता का विकास हुआ था, उसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। सोलहवी सदी ई० पू० मे ईराक के इस प्रदेश पर उत्तर-पश्चिम की ओर से आक्रमण शुरू हुए। कस्साइत् नामक एक जाति ने बैबिलोन को जीत कर वहाँ अपना शासन स्थापित कर लिया। ये कस्साइत् लोग आर्य जाति के थे। इनके राजाओं के नाम आर्य-राजाओ के नामो के सदृश हैं। कस्साइत् राजवंश की राजधानी बेबिलोन थी, और ईराक के प्रदेश में स्थित इस प्राचीन नगरी में सम्भवतः यह आर्य-जाति का प्रथम राजवश था। कस्साइत् (या कस्सु) लोगो के प्रधान देवता सूर्यस् (सूर्य) और मरुत (मरुत्) थे। इनकी भाषा भी आर्य-परिवार की थी। इनके जो लेख मिले हैं, उनके अनुशीलन से इस बात मे कोई सन्देह नही रह जाता, कि ये लोग विशाल आर्य-जाति की ही अन्यतम शाखा थे।

पन्द्रहवी सदी ई० पू० के लगभग मितन्नी नामक एक अन्य जाति ने कस्साइत् लोगों के राज्य के उत्तर-पश्चिम मे अपने राज्य की स्थापना की। मित्तनी लोग भी आर्य-जाति के थे। इनके पश्चिम मे एक अन्य आर्य-जाति ने अपने राज्य की स्थापना की, जिसे खत्ती, हत्ती या हिताइत कहते है। मित्तनी और खत्ती जातियो के राज्य एक दूसरे के पड़ोस मे थे, अतः उनमे प्रायः सघर्ष होता रहता था। १३८० ई० पू० के लगभग इन दोनों राज्यो मे परस्पर सन्धि हो गयी। इस सन्धि की शर्तें विशद रूप से उत्कीर्ण हुई बोगजकोई नामक स्थान के भग्नावशेषों मे उपलब्ध हुई है। बोगज कोई मित्तनी राज्य की राजधानी के प्राचीन स्थान को सूचित करता है, और एशिया माइनर मे स्थित है। यह सन्धि मितन्नी के राजा (दशरथ के पुत्र) मतिउज और खत्ती के राजा शुबिलुलिम के बीच में हुई थी। इस सन्धि के साक्षी रूप कुछ देवताओ के नाम लिखे गये थे। ये देवता हैं, मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्यौ। बोगजकोई के इस लेख में इन देवताओं के नाम इस रूप में दिये गये हैं—मि-इत्-अस्, व-अर-रु-उण-अस् इन्-द-र, न-स-अति-इअ। वैदिक पदो को इस रूप मे लिखने की प्रथा की व्यवस्था भारत में भी थी। मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्यौ (अश्विनीकुमार) देवताओं के नामों की एशिया माइनर में सत्ता इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि मितन्नी और खत्ती दोनों

आर्य जातियाँ थीं, और दोनों उन आर्य-देवताओं की पूजा करती थीं, जिनका परिज्ञान हमें ऋग्वेद से होता है। इससे यह भी सूचित होता है, कि जिस युग में सब आर्य जातियाँ एक प्रदेश में निवास करती थी, तब भी उनमे इन देवताओं की पूजा प्रचलित थी। बोगजकोई में ही एक पुस्तक भी प्राप्त हुई है, जो कि मिट्टी की तख्तियों पर उत्कीर्ण की हुई है। इस पुस्तक का विषय रथचालन है। इसका लेखक किक्कुली नामक एक व्यक्ति था, जो मितन्नी जाति का था। रथ के घूमने के लिए इस पुस्तक में 'आवर्त्तन्न' शब्द का प्रयोग किया गया है, और एक, तीन, पाँच व सात चक्करों के लिए क्रमशः ऐकवर्त्तन्न, तेरवर्त्तन्न, पचवर्त्तन्न और सत्तवर्त्तन्न शब्दो का उपयोग किया गया है। आवर्त्तन्न शब्द संस्कृत भाषा के आवर्त्तन शब्द से मिलता है, और इससे सूचित होता है, कि मितन्नी लोगो की भाषा संस्कृत से बहुत मिलती-जुलती थी। मितन्नी राजाओं द्वारा भेजे गये कतिपय पत्र मिस्र मे एल-अमरना नामक स्थान पर भी उपलब्ध हुए हैं। ये पत्र भी मिट्टी की तख्तियों पर उत्कीर्ण है। इन पत्रों में मितन्नी-राजाओ के अर्ततम, दशरत्त आदि जो नाम मिले हैं, वे भी संस्कृत शब्दो के बहुत समीप हैं। इसी प्रकार खत्ती राजाओं के अन्यतम नाम मर्यतस् और सूर्यस् स्पष्टतया संस्कृत नामो से मिलते-जुलते हैं। इन प्रमाणो को दृष्टि में रखने से इस बात मे कोई सन्देह नही रह जाता, कि कस्साइत, खत्ती और मितन्नी के रूप मे जो जातियाँ पश्चिमी एशिया के रगमंच पर प्रकट हुई थीं, *वे आर्य-जाति की ही शाखाएँ थी*। अपने मूल अभिजन से निकलकर जब आर्य-जातियों के प्रसार का प्रारम्भ हुआ, तो उसकी कुछ शाखाएँ इस क्षेत्र मे जा बसी, बोगजकोई आदि के अवशेष इसके स्पष्ट प्रमाण हैं।

पूर्व की ओर जो आर्य लोग गये, उनकी दो प्रधान शाखाएँ थी, ईरानी और भारतीय। जिस प्रकार भारतीय आर्यों का प्रमुख ग्रन्थ ऋग्वेद है, वैसे ही ईरानी आर्यों का प्रमुख ग्रन्थ जेन्दावस्ता है। जेन्दावस्ता की भाषा वैदिक भाषा से बहुत मिलती है। उनमे न केवल तत्सम शब्दो की प्रचुरता है, अपितु साथ ही व्याकरण, धातु आदि भी एक-दूसरे के सदृश है। प्राचीन ईरानी लोगो का धर्म भी वैदिक धर्म के बहुत समीप था। मित्र, वरुण, अग्नि आदि वैदिक देवताओ की पूजा प्राचीन ईरानी लोग भी करते थे। ऐसा प्रतीत होता है, कि पूर्व की ओर जाने वाली ये दोनों आर्य-जातियाँ बहुत समय तक एक-दूसरे के साथ रही, और उनके धर्म का साथ-साथ विकास हुआ। देर तक साथ रहने से उनकी भाषा भी एक-दूसरे के अधिक समान रही।

पर बाद मे आर्यों की ईरानी और भारतीय शाखाओं मे विरोध हो गया। इस विरोध ने एक उग्र संग्राम का रूप धारण किया। अन्त में ईरानी लोग परास्त हुए, और वे अपने साथियों से पृथक् होकर उस देश मे बस गये, जिसे आजकल ईरान कहा जाता है, और जिसका यह नाम आर्य-जाति के नाम पर ही पड़ा था। वैदिक संहिताओ और जेन्दावस्ता के अनुशीलन से इस संघर्ष पर बहुत प्रकाश पड़ता है। इसी को देवासुर-संग्राम भी कहा जाता है।

संस्कृत-भाषा मे देव शब्द उत्तम अर्थ में और असुर बुरे अर्थों में प्रयुक्त होता है। देव का अभिप्राय है, दिव्य गुणयुक्त। असुर का अर्थ है, दानव या दैत्य। इसके विपरीत प्राचीन जेन्द भाषा मे असुर शब्द अच्छे अर्थों मे और देव शब्द घृणित अर्थों

में आता है। प्राचीन ईरानी असुर के उपासक थे। उनका प्रधान देवता (उपास्य देव) अहुरमज्द (असुर महत्) था। किसी अत्यन्त प्राचीन काल मे वैदिक आर्य भी असुर शब्द का प्रयोग अच्छे अर्थों में करते थे, और अपने देवताओं को असुर (प्रतापशाली) कहते थे। पर ऐसा प्रतीत होता है, कि बाद मे आर्यों में मतभेद हो गया। उनका एक भाग देव का उपासक हो गया, और दूसरा असुर का। इस विरोध का कारण सम्भवत: धार्मिक था। जेन्दावस्ता मे मित्र, वरुण, अग्नि आदि वैदिक देवताओं की तो सत्ता है, पर इन्द्र को कही उपास्य नही माना गया। इसके विपरीत वेदो मे इन्द्र की महिमा बहुत विशद रूप से वर्णित है।

भारत में आर्यों का प्रवेश—आर्यों की जो शाखा भारत मे प्रविष्ट हुई, उसे इस देश मे अनेक आर्य-भिन्न जातियो के साथ युद्ध करने पडे। जिस प्रकार पश्चिमी एशिया मे बसने वाली कस्साइत्, खत्ती और मितन्नी जातियो ने अपने से पूर्ववर्ती सभ्यताओ को परास्त कर वहाँ अपनी सत्ता स्थापित की, वैसे ही भारतीय आर्यों ने इस देश मे विकसित हुई पूर्ववर्ती सभ्यताओ को विनष्ट कर अपनी सत्ता की स्थापना की। आर्यो के पहले के ये आर्य-भिन्न लोग कौन थे, इस विषय में वैदिक साहित्य से ही कतिपय उपयोगी निर्देश मिलते है। वेदों मे इन्हें 'दस्यु' और 'दास' कहा गया है। वैदिक सूक्तो से यह भी ज्ञात होता है, कि ये दस्यु लोग कृष्णवर्ण के थे, और इनकी नाक छोटी होती थी। इसीलिए इन्हें 'अनास' (नासिकाहीन) भी कहा गया है। पर ये लोग अच्छे बडे पुरों मे निवास करते थे, और इनके अनेक सुदृढ दुर्ग भी बने हुए थे। इन्हें परास्त करने के लिए आर्यों को घनघोर युद्ध करने पडे और एक युद्ध मे तो पचास हजार के लगभग 'दासो' के मारे जाने का निर्देश ऋग्वेद मे दिया गया है। संस्कृत भाषा में दस्यु शब्द का प्रयोग डाकू के अर्थ में होता है, और दास शब्द का गुलाम अर्थ मे। प्रतीत होता है, कि आर्यो के प्रवेश से पूर्व जो जाति इस देश मे निवास करती थी, उसकी संज्ञा दस्यु या दास थी। आर्यो ने उसे परास्त किया, और उसकी बडी सख्या को अपने पास गुलाम के रूप मे रहने के लिए विवश किया। ये गुलाम दास-जाति के थे, अत: दास शब्द का अर्थ ही गुलाम हो गया। इसी प्रकार आर्य लोग दस्यु शब्द का प्रयोग घृणा के रूप मे करते थे, और बाद मे इसका अर्थ डाकू हो गया। पर प्राचीन संस्कृत मे ऐसे निर्देशो की कमी नही है, जिनसे दस्यु का अभिप्राय डाकू न होकर एक जाति विशेष प्रतीत होता है। महाभारत मे एक दस्यु की कथा आती है, जिसे परम धर्मात्मा कहा गया है। आर्यो ने इन दस्युओ व दासो को परास्त करके ही भारत में अपनी सत्ता स्थापित की। पिछले अध्याय मे हम सिन्धु घाटी की समुन्नत सभ्यता का विवरण दे चुके है, जिसके अनेक नगर विद्यमान थे, और जिसके अनेक नगर दुर्गरूप मे थे। अत यह कल्पना की जाती है, कि वैदिक आर्यों ने जिन दस्युओं को परास्त किया, वे सिन्धु घाटी मे निवास करते थे, और उन्ही की सभ्यता के भग्नावशेष पंजाब मे रावी नदी के और सिन्ध मे सिन्धु नदी के तट पर पाये गए है।

भारत मे आकर आर्यो ने जो सभ्यता विकसित की, उसे ही 'वैदिक सभ्यता' कहा जाता है, क्योंकि इसका परिज्ञान हमे वैदिक साहित्य द्वारा होता है।

पांचवां अध्याय

वैदिक युग की सभ्यता और संस्कृति

(१) वैदिक साहित्य

वैदिक युग—भारतीय आर्यों के इतिहास के प्राचीनतम युग को वैदिक युग कहते हैं। इसका कारण यह है कि वेद आर्यों के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं, और उनके अनुशीलन से हम इन आर्यों की सभ्यता, संस्कृति और धर्म के सम्बन्ध मे बहुत कुछ जानकारी प्राप्त कर सकते हैं, क्योकि वैदिक सूक्तों में आर्य ऋषियो के विचार और कथन अविकल रूप से उनकी अपनी भाषा मे विद्यमान हैं। जिस प्रकार पौराणिक अनुश्रुति प्राचीन आर्यों के राजनीतिक वृत्तान्त को सूचित करती है, वैसे ही वैदिक संहिताएँ उनके धर्म व सभ्यता का परिचय देती है। वैवस्वत मनु से महाभारत तक के काल को हम वैदिक युग कह सकते है। क्योकि इस सुदीर्घ (१५०० वर्ष के लगभग के) काल मे वैदिक सूक्तो का निरन्तर निर्माण होता रहा, और वेदो के अनुशीलन से जिस सभ्यता और सस्कृति का परिचय मिलता है, वह इसी युग की है।

वैदिक संहिता—आर्य जाति का सबसे प्राचीन साहित्य वेद है। वेद का अर्थ है, ज्ञान। वेद मुख्यतया पद्य मे है, यद्यपि उनमे गद्य भाग भी विद्यमान है। वैदिक पद्य को ऋग् या ऋचा कहते है, वैदिक गद्य को यजुष् कहा जाता है, और वेदो मे जो गीतात्मक (छन्द रूप) पद्य हैं, उन्हे साम कहते है। ऋचाओं व सामो के एक समूह का नाम सूक्त होता है, जिसका अर्थ है, उत्कृष्ट उक्ति या सुभाषित। वेद में इस प्रकार के हजारो सूक्त विद्यमान है। प्राचीन समय में वेदो को 'त्रयी' भी कहते थे। ऋचा, यजुष् और साम—इन तीन प्रकार के पदो मे होने के कारण ही वेद की 'त्रयी' संज्ञा भी थी।

पर वैदिक मन्त्रों का संकलन जिस रूप मे आजकल उपलब्ध होता है, उसे 'संहिता' कहते है। विविध ऋषि-वंशो मे जो मन्त्र श्रुति द्वारा चले आते थे, बाद मे उनका सकलन व संग्रह किया गया। पहले वेद मन्त्रो को लेखबद्ध करने की परिपाटी शायद नही थी। गुरु-शिष्य परम्परा व पिता-पुत्र परम्परा द्वारा ये मन्त्र ऋषि-वंशो मे स्थिर रहते थे, और उन्हे श्रुति (श्रवण) द्वारा शिष्य गुरु से या पुत्र पिता से जानता था। इसी कारण उन्हें श्रुति भी कहा जाता था। विविध ऋषि वशो में जो विविध सूक्त श्रुति द्वारा चले आते थे, धीरे-धीरे बाद मे उनको सकलित किया जाने लगा। इस कार्य का प्रधान श्रेय मुनि वेदव्यास को है। ये महाभारत युद्ध के समकालीन थे, और असाधारण रूप से प्रतिभाशाली विद्वान् थे। वेदव्यास ने वैदिक सूक्तो का संहिता रूप मे संग्रह किया। उसके द्वारा सकलित वैदिक संहिताएँ चार है—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद।

चार वेद—ऋग्वेद में कुल मिलाकर १०१७ सूक्त हैं। यदि ११ बालखिल्य सूक्तो को भी इनमें अन्तर्गत कर लिया जाय, तो ऋग्वेद के कुल सूक्तो की संख्या १०२८ हो जाती है। ये १०१७ या १०२८ सूक्त १० मण्डलों मे विभक्त हैं। वेद के प्रत्येक सूक्त व ऋचा (मन्त्र) के साथ उसके 'ऋषि' और 'देवता' का नाम दिया गया है। ऋषि का अर्थ है, मन्त्रद्रष्टा या मन्त्र का दर्शन करने वाला। जो लोग वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं, उनके अनुसार वेदो का निर्माण तो ईश्वर द्वारा हुआ था, पर इस वैदिक ज्ञान को अभिव्यक्त करने वाले ये ऋषि ही थे। पर आधुनिक विद्वान् वैदिक ऋषियों का अभिप्राय यह समझते हैं कि ये ऋषि मन्त्रो के निर्माता थे। वैदिक देवता का अभिप्राय उस देवता से है, जिसकी उस मन्त्र मे स्तुति की गयी है, या जिसके सम्बन्ध मे मन्त्र में प्रतिपादन किया गया है।

ऋग्वेद के ऋषियों में सर्वप्रथम गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भारद्वाज, और वशिष्ठ हैं। इन छः ऋषियो और इनके वंशजो ने ऋग्वेद के दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें मण्डलों का दर्शन या निर्माण किया था। आठवे मण्डल के ऋषि कण्व और आंगिरस वंश के है। प्रथम मण्डल के पचास सूक्त भी कण्व-वंश के ऋषियो द्वारा निर्मित हुए। अन्य मण्डलों और प्रथम मण्डल के अन्य सूक्तो का निर्माण अन्य विविध ऋषियो द्वारा हुआ, जिन सबके नाम इन सूक्तो के साथ मे मिलते हैं। इन ऋषियो मे वैवस्वत मनु, शिवि और औशीनर, प्रतर्दन, मधुच्छन्दा और देवापि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ऋग्वेद के इन ऋषियो मे कतिपय स्त्रियाँ भी है, जिनमें लोपामुद्रा प्रमुख है। लोपामुद्रा राजकुल मे उत्पन्न हुई थी। वह विदर्भ-राज की कन्या थी, और अगस्त्य ऋषि की पत्नी थी।

यजुर्वेद के दो प्रधान रूप इस समय मिलते है, शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण-यजुर्वेद। शुक्ल यजुर्वेद को वाजसनेयी सहिता भी कहते हैं, जिसकी दो शाखाएँ उपलब्ध है—काण्व और माध्यन्दिनीय। कृष्ण यजुर्वेद की चार शाखाएँ प्राप्त होती है, काठक संहिता कपिष्ठल संहिता, मैत्रेयी सहिता और तैत्तिरीय सहिता। विविध ऋषि-वशों व सम्प्रदायो मे श्रुति द्वारा चले आने के कारण वेदमन्त्रों के मूल पाठ मे भेद का हो जाना असम्भव नही था। सम्भवतः, इसी कारण यजुर्वेद की ये विविध शाखाएँ बनी। इन शाखाओ मे अनेक स्थानों पर मन्त्रो मे पाठभेद पाया जाता है। इनमे यजुर्वेद की वाज-सनेयी सहिता सबसे महत्त्वपूर्ण है, और बहुत से विद्वान् उसे ही असली यजुर्वेद मानते हैं। यह चालीस अध्यायो मे विभक्त है। इनमें उन मन्त्रो का पृथक्-पृथक् रूप से सग्रह किया गया है, जो विविध याज्ञिक अनुष्ठानों मे प्रयुक्त किये जाते थे। यजुर्वेद का अन्तिम अध्याय ईशोपनिषद् है, जिसका सम्बन्ध याज्ञिक अनुष्ठानो के साथ न होकर अध्यात्म-चिन्तन के साथ मे है।

सामवेद की तीन शाखाएँ इस समय मिलती हैं, कौथुम शाखा, राणायनीय शाखा और जैमिनीय शाखा। इनका आधार भी पाठभेद हैं। सामवेद के दो भाग हैं पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक। दोनो की मंत्र-संख्या १८१० है। अथर्ववेद की दो शाखाएँ इस समय मिलती है, शौनक और पिप्पलाद। इनमें शौनक शाखा अधिक प्रसिद्ध है, और उसे ही प्रामाणिक रूप से स्वीकार किया जाता है। अथर्ववेद मे कुल

मिलाकर २० काण्ड और ७३२ सूक्त हैं। सूक्तों के अन्तर्गत मंत्रो की संख्या ६००० के लगभग है।

ब्राह्मण-ग्रन्थ—वैदिक साहित्य में चार वैदिक संहिताओं के अतिरिक्त ब्राह्मण-ग्रन्थों को भी सम्मिलित किया जाता है। इन ब्राह्मण-ग्रन्थों में उन अनुष्ठानों का विशद रूप से वर्णन है, जिनमें वैदिक मन्त्रों को प्रयुक्त किया जाता है। अनुष्ठानों के अतिरिक्त इनमें वेदमन्त्रों के अभिप्राय व विनियोग की विधि का भी वर्णन है। प्रत्येक ब्राह्मण-ग्रन्थ का किसी वेद के साथ सम्बन्ध है, और उसे उसी वेद का ब्राह्मण माना जाता है। यहाँ यह आवश्यक है कि हम प्रत्येक वेद के साथ सम्बन्ध रखने वाले ब्राह्मण-ग्रन्थों का संक्षेप के साथ उल्लेख करें, क्योंकि ब्राह्मण-ग्रन्थों का परिचय दिये बिना वैदिक-साहित्य का वर्णन पूरा नही हो सकता।

ऋग्वेद का प्रधान ब्राह्मण-ग्रन्थ ऐतरेय है। अनुश्रुति के अनुसार ऐतरेय ब्राह्मण का रचयिता महीदास ऐतरेय था। ऋग्वेद का दूसरा ब्राह्मण ग्रन्थ कौशीतकी या सांख्यायन-ब्राह्मण है। कृष्ण यजुर्वेद का ब्राह्मण तैत्तिरीय हैं। शुक्ल और कृष्ण यजुर्वेद मे मुख्य भेद यह है, कि जहाँ शुक्ल यजुर्वेद मे केवल मन्त्र भाग है, वहाँ कृष्ण यजुर्वेद मे ब्राह्मण-भाग भी अन्तर्गत है। उसमे मन्त्रो के साथ-साथ विधि-विधान व याज्ञिक अनुष्ठान के साथ सम्बन्ध रखने वाले ब्राह्मण भाग को भी दे दिया गया है। अतः तैत्तिरीय ब्राह्मण रचना की दृष्टि से कृष्ण यजुर्वेद से बहुत भिन्न नही है। शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण शतपथ है, जो अत्यन्त विशाल ग्रन्थ है। इसमे कुल मिलाकर सौ अध्याय है, जिन्हे चौदह काण्डों मे विभक्त किया गया है। शतपथ ब्राह्मण मे न केवल याज्ञिक अनुष्ठानों का बडे विशद रूप से वर्णन किया गया है, पर साथ ही इस बात पर भी विचार किया गया है, कि इन विविध अनुष्ठानो का क्या प्रयोजन है, और इन्हे क्यों यज्ञ का अंग बनाया गया है। शतपथ ब्राह्मण का रचयिता याज्ञवल्क्य ऋषि माना जाता है। सामवेद के तीन ब्राह्मण हैं, ताण्ड्य महाब्राह्मण, षड्विंश ब्राह्मण और जैमिनीय ब्राह्मण। अनेक विद्वानो के अनुसार ये तीनो ब्राह्मण अन्य ब्राह्मण-ग्रन्थो की अपेक्षा अधिक प्राचीन हैं। अथर्ववेद का ब्राह्मण गोपथ है। अनेक विद्वानो की सम्मति मे यह बहुत प्राचीन नहीं है, और इसमे उस ढंग से याज्ञिक अनुष्ठानो का भी वर्णन नहीं है, जैसे कि अन्य ब्राह्मण-ग्रन्थों मे पाया जाता है।

आरण्यक तथा उपनिषद्—इसमे सन्देह नही कि भारत के प्राचीन आर्यों के धर्म मे यज्ञों की प्रधानता थी। यज्ञ के विधि-विधानो मे अनुष्ठानों को वे बहुत महत्त्व देते थे। इसीलिये याज्ञिक अनुष्ठानों के प्रतिपादन व उनमे वैदिक मन्त्रों के विनियोग को प्रदर्शित करने के लिए उन्होने ब्राह्मण-ग्रन्थो की रचना की थी। पर साथ ही, वैदिक ऋषि अध्यात्मिक, दार्शनिक व पारलौकिक विषयो का भी चिन्तन किया करते थे। आत्मा क्या है, सृष्टि की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, सृष्टि किन तत्त्वो से बनी है, इस सृष्टि का कर्त्ता व नियामक कौन है, जड़ प्रकृति से भिन्न जो चेतन सत्ता है उसका क्या स्वरूप है—इस प्रकार के प्रश्नों पर भी वे विचार किया करते थे। इन गूढ़ विषयों का चिन्तन करने वाले ऋषि व विचारक प्रायः जगलों व अरण्यो मे निवास करते थे, जहाँ वे आश्रम बनाकर रहते थे। वहीं उस साहित्य की सृष्टि हुई, जिसे आरण्यक तथा

उपनिषद् कहते हैं। अनेक आरण्यक ब्राह्मण-ग्रन्थो के ही भाग हैं। ऋषियो ने अरण्य में स्थापित आश्रमो मे जिन उपनिषदो का विकास किया, उनकी सख्या दो सौ से भी ऊपर है। पर प्रमुख उपनिषदें निम्नलिखित है—

(१) ऐतरेय उपनिषद्—यह ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण का एक भाग है। ऋग्वेद के दूसरे ब्राह्मण ग्रन्थ कौशीतकी ब्राह्मण के अन्त मे भी आरण्यक भाग है, जिसे कौशीतक आरण्यक या कौशीतकी उपनिषद् कहते है। (२) यजुर्वेद का अन्तिम अध्याय ईशोपनिषद् के रूप मे है। शुक्ल यजुर्वेद के ब्राह्मण-ग्रन्थ शतपथ ब्राह्मण का अन्तिम भाग भी आरण्यक रूप से है, जिसे बृहदारण्यकोपनिषद् कहते है। कृष्ण यजुर्वेद के ब्राह्मण-ग्रन्थों के अन्तर्गत कठ उपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद्, तैत्तिरीय उपनिषद् और मैत्रायणीय उपनिषद् है। (३) सामवेद के ब्राह्मण-ग्रन्थो के साथ सम्बन्ध रखने वाली उपनिषदें केन और छान्दोग्य है। (४) अथर्ववेद के साथ मुण्डक उपनिषद और माण्डूक्य उपनिषद् का सम्बन्ध है।

(२) वैदिक युग का राजनीतिक जीवन

वैदिक सहिता, ब्राह्मण-ग्रन्थ और उपनिषदो के अध्ययन से वैदिक युग के आर्यो की सभ्यता, राजनीतिक सगठन, धर्म, आर्थिक दशा और संस्कृति आदि के सम्बन्ध मे बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती है। उनका सक्षिप्त रूप से उल्लेख करना उपयोगी होगा।

राजनीतिक संगठन—जब आर्यों ने पहले-पहल भारत मे प्रवेश किया, तो वे सभ्यता के क्षेत्र मे अच्छी उन्नति कर चुके थे। वे शिकारी की दशा से आगे बढकर पशुपालक और कृषक की दशा को पहुँच चुके थे। राजनीतिक दृष्टि से वे 'जनो' मे सगठित थे। जन को हम कबीला या ट्राइब समझ सकते हैं। जन का सगठन एक बडे परिवार के समान था, जिसमे यह विचार विद्यमान था कि उसके सब व्यक्ति एक आदि पुरुष की सन्तान है, और एक ही परिवार के अग है। जिस प्रकार एक परिवार मे सबसे वृद्ध व्यक्ति शासन करता है, उसी प्रकार जन रूपी बडे परिवार मे भी एक पिता या मुखिया का शासन होता था। इस मुखिया को राजा कहते थे, और इसकी नियुक्ति परम्परागत प्रथा के अनुसार या निर्वाचन द्वारा होती थी। प्रत्येक जन की सम्पूर्ण 'विशः' (जनता) इस राजा का वरण करती थी। यह समझा जाता था, कि जनता राजा के साथ एक संविदा (इकरार) करती है, जिसके अनुसार राजा यह जिम्मा लेता है कि कि वह अपनी प्रजा की सब बाह्य और आभ्यन्तर शत्रुओ से रक्षा करेगा और उसका न्यायपूर्वक पालन करेगा। इसी कार्य के लिए प्रजा को राजा 'बलि' (कर) प्रदान करती थी। राज्याभिषेक के अवसर पर राजा धर्मपूर्वक प्रजापालन की प्रतिज्ञा करता था। यदि वह इस प्रतिज्ञा को तोडे, तो प्रजा को अधिकार था कि वह उसे पदच्युत कर सके। राजा किसी दैवी अधिकार से शासन करता है, यह विचार वैदिक सहिताओ मे कहीं नही पाया जाता। इसके विपरीत, वहाँ यह विचार स्पष्ट रूप से विद्यमान है कि 'विशः' राजा को शासन कार्य के लिए वरण करती है। वरण द्वारा जब कोई व्यक्ति

राजा के पद पर नियत होता था, तो उससे यह आशा की जाती थी कि वह जीवन-पर्यन्त अपने पद पर ध्रुव (स्थिर) रहेगा। अथर्ववेद मे लिखा है, कि यह द्यौः और पृथ्वी सब ध्रुव हैं। यह सारा विश्व ध्रुव है, ये पर्वत ध्रुव है। इसी प्रकार विशः का यह राजा भी ध्रुव रहे। सब 'विशः' इसको चाहें, और यह राष्ट्र में अपने पद से कभी च्युत न हो।

राजा को वरण करने का कार्य 'विश' के जिन प्रमुख व्यक्तियो के सुपुर्द था, उन्हें 'राजकृतः, (राजा को नियत करने वाले) कहते थे। 'राजकृत' स्वय भी राजा कहाते थे, और राजा के पद पर वरण किया गया व्यक्ति इन 'राजानः राजकृतः' का मुखियामात्र माना जाता था। ये 'राजकृतः' कौन होते थे, वेदो से यह स्पष्ट नही होता। ब्राह्मण-ग्रन्थो मे 'रत्नियो' का उल्लेख आया है, जो राज्याभिषेक के समय पर राजा से हवि ग्रहण करते थे। इन रत्नियो के सम्बन्ध मे हम उत्तर-वैदिक काल (प्राग्-बौद्ध काल) की सभ्यता का विवरण करते हुए अधिक विस्तार के साथ लिखेंगे। सम्भवतः, ब्राह्मण-ग्रन्थो मे जिन्हे 'रत्नी' कहा गया है, वैदिक काल मे वे ही 'राजकृतः राजानः' कहे जाते थे, क्योंकि वैदिक युग के ये राजकृतः राज्याभिषेक के अवसर पर राजा को एक 'पर्णमणि' प्रदान करते थे, जो राजत्व का चिह्न समझी जाती थी। सम्भवतः, यह पर्णमणि (पर्णों द्वारा निर्मित रत्न) पलाश वृक्ष की शाखा होती थी। पलाश को पवित्र मानने की कल्पना वैदिक काल मे भी विद्यमान थी। 'राजकृतः राजनः' के अतिरिक्त सूत, ग्रामणी, रथकार, कर्मार आदि जनता के विविध व्यक्ति भी राज्याभिषेक मे हाथ बँटाते थे, और 'विश.' की ओर से राजा का वरण किया करते थे।

समिति और सभा—जनता द्वारा वरण किये जा चुकने पर राजा अकेला शासन-कार्य का सचालन करता हो, यह बात नही थी। वैदिक युग मे समिति और सभा नामक दो संस्थाएँ भी थी, जो न केवल राजकार्य में राजा की सहायता करती थी, अपितु उस पर नियन्त्रण भी रखती थी। अथर्ववेद के जिस सूक्त मे राजा के ध्रुव रहने की प्रार्थना की गयी है, उसी मे यह भी कहा गया है कि राजा की समिति भी ध्रुव रहे। समिति के सदस्य कौन होते थे, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। सम्भवतः, वह सम्पूर्ण विशः की सस्था थी, और उसमे 'जन' के सब लोग एकत्र होते थे। यह भी सम्भव है कि वैदिक युग के जनपदो मे जनसंख्या के बढने के साथ-साथ सब लोग इस समिति मे एकत्र न होते हो, और कतिपय प्रमुख व्यक्ति ही इसमे सम्मिलित होने का अधिकार रखते हो। प्राचीन ग्रीक नगर-राज्यो की लोकसभाओं (यथा एथेन्स की एक्लीजिया) मे सब नागरिक सदस्य रूप से सम्मिलित होते थे। जब नगर-राज्यो की जनसख्या लाखों मे हो गयी थी, तब भी प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार था कि वह अपने राज्य की लोक-सभा मे उपस्थित होकर विचार मे हाथ बटा सके, और अपनी सम्मति दे सके। सम्भवतः, वैदिक युग के आर्य जनपदो (जिनका स्वरूप नगर-राज्य के समान ही था) की समिति का भी यही रूप था। उसमे जनपद की सम्पूर्ण 'विशः' एकत्र हो सकती थी। वहाँ एकत्र हुए व्यक्ति सब विचारणीय विषयो पर वाद-विवाद करते थे। विवाद व भाषण मे प्रवीणता प्राप्त करना एक अत्यन्त महत्त्व की बात समझी जाती थी। अथर्ववेद के एक सूक्त मे एक व्यक्ति यह प्रार्थना करता है, कि वह बहुत कुशल वक्ता बने, अपनी युक्तियो,

ज्ञान और भाषण कला द्वारा सबको वशीभूत कर ले। वाद-विवाद में अपने प्रतिपक्षियों को परास्त करने और भाषण द्वारा सबको अपने पक्ष मे कर सकने की शक्ति प्राप्त करने के लिए अनेक प्रार्थनाएँ वेदों मे विद्यमान है। निःसन्देह, समिति मे विविध विषयो पर खुला विवाद होता था, और विविध व्यक्ति वहाँ अपनी वक्तृत्वशक्ति का चमत्कार प्रदर्शित किया करते थे। समिति में केवल राजनीतिक विषयो पर ही विवाद नही होता था, अपितु साथ ही आध्यात्मिक व गूढ विषयो पर भी उनमे विचार हुआ करता था। छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदो मे 'समिति' मे ब्रह्म-विद्या-विषयक विचारो का उल्लेख आया हैं। श्वेतकेतु पाचाल जनपद की इसी प्रकार की समिति मे उपस्थित हुआ था, और वहाँ उसने अध्यात्म-विषयक विचार में हाथ बटाया था। समिति का अपना अध्यक्ष होता था, जिसे 'ईशान्' कहते थे। ईशान् के सभापतित्व मे ही समिति का कार्य चलता था। पर राजा भी विविध अवसरो पर समिति मे उपस्थित होता था। जब श्वेतकेतु पाचाल-जनपद की समिति मे गया, तो वहाँ का राजा प्रवाहण जाबालि उसमे उपस्थित था।

समिति के समान सभा की वैदिक युग के जनपदो की एक महत्त्वपूर्ण सस्था थी। वेदो मे समिति और सभा को प्रजापति की 'दुहिता' कहा गया है, और यह प्रार्थना की गयी है, कि दोनो राजा की रक्षा मे सदा तत्पर रहे। सभा और समिति के सगठन में क्या भेद था, यह वैदिक संहिताओं द्वारा भली-भाँति स्पष्ट नही होता। ऐसा प्रतीत होता है, कि सभा समिति की अपेक्षा छोटी संस्था थी, उसके सदस्य केवल बडे लोग (पितर व वृद्ध) ही होते थे, और उसका प्रधान कार्य न्याय करना था। अथर्ववेद मे सभा को 'नरिष्ट' कहा गया है। सायणाचार्य ने नरिष्ट शब्द के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "बहुत-से लोग एक साथ मिलकर जो एक बात कहे उसका दूसरो को उल्लंघन नही कहना चाहिये। क्योंकि बहुतो की बात का उल्लंघन नहीं किया जा सकता, अतः सभा को 'नरिष्ट' कहते है।" नरिष्ट का शब्दार्थ है, अनुल्लघनीय। बहुमत से जो कुछ सभाओं मे निर्णीत होता था, उसे अनुल्लंघनीय माना जाता था, और इसी कारण सभा को नरिष्ट कहते थे। प्रतीत होता है, कि वैदिक युग की सभा मे भी विविध विषयो पर विवाद होता था और विविध वक्ता सभासदो को अपने पक्ष मे करने के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील रहते थे। इसीलिए अथर्ववेद में प्रार्थना की गयी है—"हे सभा! हम तेरे से भली-भाँति परिचित हैं, तेरा नाम नरिष्ट (अनुल्लंघनीय) भी है। तेरे जो भी सभासद् है, वे मेरे साथ 'सवाचस्' (मेरे कथन के साथ सहमति रखने वाले) हों। यहाँ (सभा मे) जो लोग बैठे है, मैं उन सबके नेत्र और ज्ञान को ग्रहण करता हूँ (सबको अपने पीछे चलाता हूँ)। हे इन्द्र! मुझे इस प्रयत्न मे सफल बनाओ। तुम लोगो (सभासदो) का जो मन किसी और पक्ष मे गया हुआ है, या किसी पक्ष के साथ इधर-उधर बंध गया है, उसे मैं लौटाता हूँ, तुम सबका मन मेरे पक्ष मे हो।" सभा मे उपस्थित सभासदो को अपने पक्ष मे करने, उन सबको वशीभूत करने और अपने पीछे चलने की यह प्रार्थना कितनी सुन्दर है, और अत्यन्त उत्तम रीति से उस युग की सभा पर प्रकाश डालती है। सभा के सदस्यो को 'सभासद्' कहा जाता था। वेदो में इन्हें 'पितर' भी कहा गया है। बाद के साहित्य में इनके लिए 'वृद्ध' शब्द का उपयोग

किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि सभा मे सम्पूर्ण 'विशः' एकत्र नहीं होती थी, अपितु उसके कतिपय प्रतिष्ठित व वृद्ध (बड़े) लोग ही उसमे सम्मिलित होते थे।

सभा का एक मुख्य कार्य न्याय करना था। न्याय के लिए अभियुक्त रूप में जिस व्यक्ति को सभा के सम्मुख पेश किया जाता था, उसे 'सभाचर' कहते थे। यजुर्वेद में सभाचर का उल्लेख पुरुषमेध के प्रकरण मे किया गया है। आलंकारिक रूप से विचार करने पर अभियुक्त व्यक्ति को 'मेध्य' (बलि योग्य) समझ सकना कठिन नहीं है। यजुर्वेद के ही एक अन्य मन्त्र मे सभा मे किये गये पाप के प्रायश्चित्त का उल्लेख किया गया है। न्याय कार्य को करते हुए सभासद लोगों से अनजाने में या जान-बूझकर जो भूल हो जाती थी, उसे यजुर्वेद में पाप कहा गया है, और उससे छूटने के लिए प्रार्थना की गयी है। सूत्रग्रन्थो और धर्मशास्त्रों के समय मे भी 'सभा' न्याय का कार्य करती थी। "या तो सभा मे जाये नही, जाये तो वहाँ सोच-समझकर अपनी बात कहनी चाहिए, सभा में जाकर जो अपनी सम्मति नही कहता या गलत बात कहता है, वह पापी होता है," यह धर्मशास्त्रो का वचन जिस सभा के विषय में है, वह सम्भवत. न्याय का भी कार्य करती थी।

(३) सामाजिक जीवन

पंच जन—वैदिक युग के भारतीय आर्य अनेक जनो (कबीलो या ट्राइब) में विभक्त थे। ऋग्वेद मे अनेक स्थलो पर 'पचजना.' और 'पंचकृष्टय' का उल्लेख आता है, जो नि सन्देह उस युग के आर्यों की पाँच प्रमुख जातियो (कबीलो) को सूचित करते हैं। ये पचजन अणु, द्रुह्यु, यदु, तुर्वशु और पुरु थे। पर इनके अतिरिक्त भरत, त्रित्सु, सृंजय आदि अन्य भी अनेक जनो का उल्लेख वेदो मे आया है, जिनसे इस बात मे कोई सन्देह नही रह जाता, कि ज्यो-ज्यों आर्य लोग भारत मे फैलते गये, उनमे विविध जनो का विकास होता गया। आर्य जाति के प्रत्येक जन मे सब व्यक्तियो की सामाजिक स्थिति एक समान होती थी, और सबको एक ही 'विश.' (जनता) का अंग माना जाता था।

आर्य और दास—आर्यों के भारत में प्रवेश से पूर्व यहाँ जिन लोगो का निवास था, वेदों में उन्हे 'दास' या 'दस्यु' कहा गया है। इनकी अनेक समृद्ध बस्तियाँ भारत मे विद्यमान थी। आर्यों ने इन्हे जीतकर अपने अधीन किया, और ये आर्यभिन्न लोग आर्य-जनपदो में आर्य-राजाओं की अधीनता में रहने लगे। यह स्वाभाविक था कि इन दासों व दस्युओं की सामाजिक स्थिति आर्यों की अपेक्षा हीन रहे। आर्य लोग इनसे घृणा करते थे, इन्हें अपने से हीन समझते थे, और इन्हें अपने समान स्थिति देने का उद्यत नही थे। इसी दशा का यह परिणाम हुआ, कि आर्य-जनपदो मे निवास करने वाली जनता दो भागो मे विभक्त हो गई—(१) आर्य, और (२) दास। दास-जाति की हीन स्थिति के कारण इस शब्द का अभिप्राय ही संस्कृत भाषा मे गुलाम हो गया, यह हम पहले लिख चुके हैं। दास जाति के ये लोग शिल्प में अत्यन्त चतुर थे। ये अच्छे विशाल घरों का निर्माण करते थे, शहरों में रहते थे, और अनेक प्रकार के व्यवसायों मे दक्ष थे। आर्यों द्वारा विजित हो जाने के बाद भी शिल्प और व्यवसाय

में इनकी निपुणता नष्ट नही हो गई। ये अपने इन कार्यों में तत्पर रहे। विजेता आर्य योद्धा थे। वे याज्ञिक अनुष्ठानों को गौरव की बात समझते थे, और भूमि के स्वामी बनकर खेती, पशुपालन आदि द्वारा जीवन का निर्वाह करते थे। विविध प्रकार के शिल्प दास-जाति के लोगो के हाथ मे ही रहे। इसका परिणाम यह हुआ, कि भारत मे प्राचीन काल से ही शिल्पियों को कुछ हीन समझने की प्रवृत्ति रही। आर्यों और दासों मे परस्पर सामाजिक सम्बन्ध का सर्वथा अभाव हो, यह बात नहीं थी। प्राच्य भारत मे जहाँ आर्यों की अपेक्षा आर्यभिन्न जातियो के लोग अधिक सख्या मे थे, उनमे परस्पर विवाह सम्बन्ध होता रहता था। उन प्रदेशो में ऐसे लोगो की संख्या निरन्तर बढती गई, जो शुद्ध आर्य या दास न होकर वर्णसकर थे। ऐसे वर्णसंकर लोगो को ही सम्भवत: व्रात्य कहा जाता था। अथर्ववेद मे व्रात्य जातियो का अनेक स्थानो पर उल्लेख हुआ है। बाद मे व्रात्य-स्तोम-यज्ञ का विधान कर इन व्रात्यो को आर्य जाति मे सम्मिलित करने की भी व्यवस्था की गई। पर इसमे सन्देह नही, कि वैदिक युग मे आर्यों और दासों का भेद बहुत स्पष्ट था, और उस काल के आर्य-जनपदो मे ये दो वर्ण ही स्पष्ट रूप से विद्यमान थे।

वर्ण-व्यवस्था—आर्य-विश: के सब व्यक्तियो की सामाजिक स्थिति एक समान थी। पर धीरे-धीरे उसमे भी भेद प्रादुर्भूत होने लगा। दास-जातियो के साथ निरन्तर युद्ध मे व्यापृत रहने के कारण सर्वसाधारण आर्य जनता मे कतिपय ऐसे वीर सैनिको (रथी, महारथी आदि) की सत्ता आवश्यक हो गई, जो युद्ध-कला मे विशेष निपुणता रखते हो। इनका कार्य ही यह समझा जाता था कि ये शत्रुओ से जनता की रक्षा करें। क्षत (हानि) से त्राण करने वाले होने के कारण इन्हे 'क्षत्रिय' कहा जाता था। यद्यपि ये क्षत्रिय आर्य विश: के ही अग थे, पर तो भी इन्हे विश: के सर्वसाधारण लोगों (वैश्यो) से अधिक सम्मानित व ऊँचा समझा जाता था। क्षत्रिय सैनिको के विशिष्ट कुल 'राजन्य' कहाते थे। सम्भवत, ये राजन्य ही वे 'राजकृत राजान:' थे, जो अपने में से एक को राजा के पद के लिए वरण करते थे। जिस प्रकार क्षत्रियों की सर्वसाधारण आर्य विश. में एक विशिष्ट स्थिति थी, वैसे ही उन चतुर व्यक्तियो की भी थी, जो याज्ञिक कर्मकाण्ड में विशेष रूप से दक्ष थे। जब आर्य लोग भारत में स्थिर रूप से बस गये, तो उनके विधि-विधानो व अनुष्ठानो मे भी बहुत वृद्धि हुई। प्राचीन समय का सरल धर्म निरन्तर अधिक-अधिक जटिल होता गया। इस दशा में यह स्वाभाविक था कि कुछ लोग जटिल याज्ञिक कर्मकाण्ड मे विशेष निपुणता प्राप्त करें, और याज्ञिको की इस श्रेणी को सर्वसाधारण आर्य-विश द्वारा क्षत्रियो के समान ही विशेष आदर की दृष्टि से देखा जाए। इस प्रकार वैदिक युग मे उस चातुर्वर्ण्य का विकास प्रारम्भ हो गया था, जो आगे चलकर भारत मे बहुत अधिक विकसित हुआ और जो बाद के हिन्दू व भारतीय समाज की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता बन गया। पर वैदिक युग मे यह भावना होने पर भी कि ब्राह्मण और क्षत्रिय सर्वसाधारण विश: (वैश्य जनता) से उत्कृष्ट व भिन्न है, जातिभेद या श्रेणीभेद का अभाव था। कोई व्यक्ति ब्राह्मण या क्षत्रिय है, इसका आधार उसकी योग्यता या अपने कार्य में निपुणता हो थी। कोई भी व्यक्ति अपनी निपुणता, तप व विद्वत्ता के कारण ब्राह्मण पद को

प्राप्त कर सकता था। इसी प्रकार आर्य जन का कोई भी मनुष्य अपनी वीरता के कारण क्षत्रिय व राजन्य बन सकता था। वैदिक ऋषियों ने समाज की कल्पना एक मानव-शरीर के समान की थी, जिसके शीर्ष-स्थानीय ब्राह्मण थे, बाहुरूप क्षत्रिय थे, पेट व जंघाओं के सदृश स्थिति वैश्यों की थी, और शूद्र पैरों के समान थे। आर्य-भिन्न दास लोग ही शूद्र वर्ण के अन्तर्गत माने जाते थे।

पारिवारिक जीवन—वैदिक युग के सामाजिक जीवन का आधार परिवार था। महाभारत मे संकलित प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार एक ऐसा समय था, जब विवाह-सस्था विकसित नही हुई थी, जब स्त्रियाँ 'अनावृत्त', 'स्वतन्त्र' और 'कामाचार-विहारिणी' होती थी। पर यदि सचमुच कोई ऐसा समय आर्यों में रहा था, तो वह वैदिक युग से अवश्य ही पहले का होगा, क्योकि वेदों के अनुशीलन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है, कि विवाह-संस्था उस समय भली-भाँति विकसित हो चुकी थी, और वैदिक युग के आर्य वैवाहिक बंधन मे बंधकर गृहस्थ-जीवन व्यतीत करते थे। साधारणतया, एकपत्नीव्रत का अनुसरण किया जाता था, यद्यपि बहुपत्नीत्व की प्रथा भी कही-कही प्रचलित थी। संभवत., ये प्रथाएँ आर्यभिन्न जातियो मे थीं, आर्यों मे नही। बहिन और भाई मे विवाह निषिद्ध था। विवाह बाल्यावस्था में नही होते थे। लडकियाँ भी लड़को के समान ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करती थी, और युवावस्था में विवाह करती थी। स्त्रियो को अशिक्षित नही रखा जाता था। 'स्त्रियो और शूद्रो को शिक्षा नही देनी चाहिये', यह विचार वैदिक युग मे विद्यमान नही था। अनेक स्त्रियाँ इतनी विदुषी थी, कि उनके बनाये हुए मत्रों को वैदिक सहिताओ मे भी संकलित किया गया है। लोपामुद्रा, अपालात्रेयी आदि अनेक स्त्रियाँ वैदिक सूक्तो की ऋषि हैं। गोधा, घोषा, विश्ववारा, अदिति, सरमा, आदि कितनी ही ब्रह्मवादिनी महिलाओं (ऋषियो) का उल्लेख प्राचीन साहित्य मे आया है। गार्गी, मैत्रेयी आदि तत्त्वचिन्तक स्त्रियो का उपनिषदो मे भी जिक्र किया गया है। ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याध्ययन कर जो स्त्रियाँ गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करती थी, वे परदे मे नही रह सकती थी। उन्हें पारिवारिक जीवन मे पति की सहधर्मिणी माना जाता था। विवाह-सम्बन्ध स्वयं वरण करने से ही निर्धारित होता था। स्त्रियाँ स्वय अपने पति का वरण करती थीं। राजकुमारियों के अनेक स्वयवर-विवाहो का विशद वर्णन प्राचीन साहित्य मे उपलब्ध होता है। न केवल राजकुमारियाँ ही, अपितु सर्वसाधारण आर्य-कन्याएँ भी अपने पति का स्वयमेव वरण किया करती थी और वैदिक युगके समाज मे उन्हे इसके लिये पूर्ण अवसर मिलता था।

(४) धर्म

वैदिक वाङ्मय प्रधानतया धर्मपरक है, अतः इस युग के धार्मिक विश्वासों के सम्बन्ध में हमे बहुत विशद रूप से परिचय मिलता है। वैदिक युग के आर्य विविध देवताओ की पूजा करते थे। इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम आदि उनके अनेक देवता थे, जिन्हे तृप्त व सन्तुष्ट करने के लिए वे अनेक विधि-विधानो का अनुसरण करते थे। संसार का स्रष्टा, पालक व संहर्ता एक ईश्वर है, यह विचार वैदिक आर्यों में भली-भाँति विद्यमान था। उनका कथन था कि इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सुपर्ण, गरुत्मान्,

मातरिश्वा, यम आदि सब एक ही सत्ता के विविध नाम हैं, और उस एक सत्ता को ही विद्वान् लोग इन्द्र, मित्र आदि विविध नामों से पुकारते हैं। सम्भवतः, एक ईश्वर की यह कल्पना बाद में विकसित हुई, और प्रारम्भ में आर्य लोग प्रकृति की विविध शक्तियों को देवता के रूप में मानकर उन्ही की उपासना किया करते थे। प्रकृति में हम अनेक शक्तियों को देखते हैं। वर्षा, धूप, सरदी, गरमी सब एक नियम से होती हैं। इन प्राकृतिक शक्तियों के कोई अधिष्ठातृ-देवता भी होने चाहिए और इन देवताओं की पूजा द्वारा मनुष्य अपनी सुख-समृद्धि में वृद्धि कर सकता है, यह विचार प्राचीन आर्यों में विद्यमान था। प्राकृतिक दशा को सम्मुख रखकर वैदिक देवताओं को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—(१) द्युलोक के देवता यथा सूर्य, सविता, मित्र, पूषा, विष्णु वरुण और मित्र। (२) अन्तरिक्षस्थानीय देवता, यथा इन्द्र, वायु, मरुत् और पर्जन्य। (३) पृथिवीस्थानीय देवता, यथा अग्नि, सोम और पृथिवी। द्युलोक, अन्तरिक्षलोक और पृथिवीलोक के विभिन्न क्षेत्रों में प्रकृति की जो शक्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं, उन सबको देवतारूप में मानकर वैदिक आर्यो ने उनकी स्तुति मे विविध सूक्तो व मन्त्रों का निर्माण किया। अदिति, उषा, सरस्वती आदि के रूप मे वेदों मे अनेक देवियों का भी उल्लेख है, और उनके स्तवन में भी अनेक मन्त्रो का निर्माण किया गया है। यद्यपि बहुसंख्यक वैदिक देवी-देवता प्राकृतिक शक्तियों व सत्ताओं के मूर्तरूप हैं, पर कतिपय देवता ऐसे भी हैं, जिन्हें भाव-रूप समझा जा सकता है। मनुष्यों मे श्रद्धा, मन्यु (क्रोध) आदि की जो विविध भावनाएँ हैं, उन्हें भी वेदों मे दैवी रूप प्रदान किया गया है।

इन विविध देवताओ की पूजा के लिए वैदिक आर्य अनेकविध यज्ञों का अनुष्ठान करते थे। यज्ञकुण्ड में अग्नि का आधान कर दूध, घी, अन्न, सोम आदि विविध सामग्री की आहुतियाँ दी जाती थी। यह समझा जाता था, कि अग्नि मे दी हुई आहुति देवताओं तक पहुँच जाती है, और अग्नि इस आहुति के लिए वाहन का कार्य करती है। वैदिक युग में यज्ञों में माँस की आहुति दी जाती थी या नही, इस सम्बन्ध में मतभेद है। महाभारत मे संकलित एक प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार पहले यज्ञों में पशुबलि दी जाती थी। बाद में राजा वसु चैद्योपरिचर के समय मे इस प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन प्रबल हुआ। इस बात में तो सन्देह की कोई गुञ्जाइश नही है, कि बौद्ध-युग से पूर्व भारत में एक ऐसा समय अवश्य था, जब यज्ञो मे पशुहिंसा का रिवाज था। पर वेदों के समय में भी यह प्रथा विद्यमान थी, यह बात संदिग्ध है। वेदों में स्थान-स्थान पर घृत, अन्न व सोम द्वारा यज्ञो मे आहुति देने का उल्लेख है, पर अश्व, अजा आदि पशुओ की बलि का स्पष्ट वर्णन प्रायः वैदिक संहिताओ मे नही मिलता।

आर्यों ने दास, दस्यु आदि जिन आर्यभिन्न जातियो को विजय कर अपनी सत्ता की स्थापना की, उनके धर्म का भी उनपर प्रभाव पड़ा। ऋग्वेद के एक मंत्र मे यह प्रार्थना की गयी है, कि 'शिश्नदेव' हमारे यज्ञ को न बिगाड़ें। हम पहले लिख चुके हैं, कि सिन्धु-घाटी की प्राचीन सभ्यता के निवासियों मे शिश्न (लिंग) की पूजा प्रचलित थी। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में ऐसे अनेक शिश्न (जो पत्थर के बने हैं) उपलब्ध भी हुए हैं। ऋग्वेद में ही एक अन्य स्थान पर शिश्नदेवो के पुर के विजय का भी उल्लेख है। वैदिक युग के आर्य लिंग के रूप मे प्रकृति की प्रजनन-शक्ति के

उपासकों से घृणा करते थे। पर बाद में आर्य-जाति ने पूजा की इस विधि को भी अपना लिया, और शिवलिंग के रूप में शिश्नदेव की पूजा आर्यों में भी प्रचलित हो गयी। इसी प्रकार अथर्ववेद में अनेक जादू-टोने पाये जाते हैं, जो आर्य-भिन्न जातियों से ग्रहण किये गए थे। साँप का विष उतारने के मन्त्रों में तैमात, आलिगी, विलिगी, उरुगुला आदि अनेक शब्द आये हैं। अनेक विद्वानों के मत में ये शब्द वैदिक भाषा के न होकर कैल्डियन भाषा के है। कैल्डियन लोग ईराक के क्षेत्र में निवास करते थे, और भारतीय आर्यों से भिन्न थे। सिन्धु-सभ्यता के लोगों का पश्चिमी एशिया के विविध प्रदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध था, यह हम पहले लिख चुके हैं। कोई आश्चर्य नहीं, कि तैमात आदि ये शब्द पश्चिमी एशिया से सिन्धु सभ्यता में आये हों, और बाद में आर्यों ने इन्हें सिन्धु-सभ्यता के दास व दस्यु लोगों से ग्रहण किया हो।

यहाँ हमारे लिये यह सम्भव नहीं है, कि हम वैदिक देवताओं के स्वरूप का विशद रूप से वर्णन कर सकें। पर इतना लिख देना आवश्यक है, कि देवताओं के रूप में प्राचीन आर्य प्रकृति की विविध शक्तियों की पूजा करते थे, और यह विचार उनमें भली-भाँति विद्यमान था कि ये सब देवता एक ही सत्ता की विविध अभिव्यक्तियाँ हैं। वैदिक आर्य केवल देवताओं की पूजा और याज्ञिक अनुष्ठान में ही तत्पर नहीं थे, अपितु वे उस तत्त्व-चिन्तन में भी लगे थे, जिसने आगे चलकर उपनिषदों और दर्शन-शास्त्रों को जन्म दिया। यह सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई, सृष्टि से पहले क्या दशा थी, जब सृष्टि नहीं रहेगी तो क्या अवस्था होगी—इस प्रकार के प्रश्नों पर भी वैदिक युग में विचार किया जाता था। वैदिक संहिताओं में एसे अनेक सूक्त आते हैं, जिनमें इस प्रकार के प्रश्नों पर बहुत सुन्दर व गम्भीर विचार किया गया है। यह सृष्टि जिससे उत्पन्न हुई है, जो इसका धारण करता है, जो इसका अन्त कर प्रलय करता है, जो इस सम्पूर्ण विश्व का स्वामी व पालनकर्त्ता है, हे प्रिय मनुष्य! तू उसको जान, अन्य किसी को जानने का प्रयत्न न कर। इस विश्व में पहले केवल तम (अन्धकार) था, अत्यन्त गूढ़ तम था। तब सृष्टि विकसित नहीं हुई थी, सर्वत्र प्रकृति अपने आदि रूप में विद्यमान थी। उस सर्वोच्च सत्ता ने अपनी तपःशक्ति द्वारा तब इस सृष्टि को उत्पन्न किया। भूत, वर्तमान और भविष्य में जो कुछ भी इस संसार में है, वह सब उसी 'पुरुष' में से उत्पन्न होता है—इस प्रकार के कितने ही विचार वैदिक मन्त्रों में उपलब्ध होते हैं, और उस तत्त्व-चिन्तन को सूचित करते हैं, जिसमें वैदिक युग के अनेक ऋषि व विचारक संलग्न थे।

क्योंकि वैदिक युग के देवता प्राकृतिक शक्तियों के रूप थे, अतः उनकी मूर्ति बनाने और इन मूर्तियों की पूजा करने की पद्धति सम्भवतः वैदिक युग में विद्यमान नहीं थी। वैदिक आर्य देवताओं की पूजा के लिए ऐसे मन्दिरों का निर्माण नहीं करते थे, जिनमें मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हों। वैदिक युग में देवताओं की पूजा का ढंग प्रधानतया याज्ञिक अनुष्ठान ही था।

(५) आर्थिक जीवन

वैदिक युग के आर्थिक जीवन के मुख्य आधार कृषि और पशुपालन थे। पशुओं मे गाय, बैल, घोड़ा, भेड़, बकरी, कुत्ते और गधे विशेष रूप से पाले जाते थे। आर्यों के आर्थिक जीवन में गाय का इतना अधिक महत्त्व था, कि उसे अघ्न्या (न मारने योग्य) समझा जाता था। आर्य लोग इन पशुओं को बड़ी संख्या मे पालते थे, और इनसे उनकी आर्थिक समृद्धि मे बहुत सहायता मिलती थी। इस युग मे आर्य लोग कतिपय निश्चित प्रदेशों पर बस गये थे, और कृषि के क्षेत्र मे उन्होने अच्छी उन्नति कर ली थी। जमीन को जोतने के लिए बैलों का प्रयोग किया जाता था। खेतो की उपज बढाने के लिए खाद भी प्रयुक्त होता था। सिंचाई के लिए झील, जलाशय, नदी और कुएँ का जल काम मे लाया जाता था। खेतो मे पानी देने के लिए छोटी-छोटी नहरें व नालियां बनाई जाती थी। भारत के ग्रामों मे जिस ढंग से आज-कल किसान लोग खेती करते है, जिस प्रकार वे अब लकडी और धातु के बने हलो को बैलों से चलाते है, जिस तरह से वे खेती को सीचते, नलाते व काटते है, प्रायः उसी ढंग से वैदिक युग के आर्य भी करते थे। खेतो मे उत्पन्न होने वाले अनाजो मे जौ, गेहूँ, धान, माष व तिल प्रमुख थे। यद्यपि वैदिक आर्यों की आजीविका का मुख्य साधन कृषि था, पर धीरे-धीरे अनेक प्रकार के शिल्पो और व्यवसायो का भी विकास हो रहा था। तक्ष्मन् (बढई), हिरण्यकार (सुनार) कर्मार (धातु-शिल्पी), चर्मकार (मोची), वाय (तन्तुवाय या जुलाहा) आदि अनेक व्यवसायियों का उल्लेख वेदों मे आया है। उस युग में आर्य लोग रथो का बहुत उपयोग करते थे। ये रथ न केवल सवारी और माल ढोने के काम मे आते थे, अपितु युद्ध के लिए भी इनका बहुत उपयोग था। आर्य-भिन्न दास लोग तो विविध शिल्पो का अनुसरण करते ही थे, पर आर्य लोगो ने भी कारु (शिल्पी), भिषक् (चिकित्सक) आदि अनेक प्रकार के व्यवसायो का संचालन प्रारम्भ कर दिया था। दास-शिल्पियो को अपनी नौकरी मे या गुलाम रूप मे रखकर आर्य गृहपति अनेक प्रकार के व्यवसायों का भी संचालन करने लग गये थे।

वैदिक युग के आर्य अनेक धातुओं का प्रयोग जानते थे। सभ्यता के क्षेत्र मे वे प्रस्तर युग से बहुत आगे बढ चुके थे। सुवर्ण और रजत का प्रयोग वे आभूषणो और पात्रो के लिए करते थे, पर 'अयस्' नामक एक धातु को वे अपने औजार बनाने के लिए काम मे लाते थे। संस्कृत भाषा मे 'अयस्' का अर्थ लोहा है, पर अनेक विद्वानों का यह विचार है, कि वेदो मे जिस अयस् का उल्लेख है, वह लोहा न होकर ताँबा ताँबा है। अयस् का अभिप्राय चाहे लोहे से हो और चाहे ताँबे से, इसमे सन्देह नही कि वैदिक युग के आर्य इस उपयोगी धातु के प्रयोग को भली-भाँति जानते थे, और कर्मार लोग अनेक प्रकार के उपकरणों के निर्माण के लिए इसका उपयोग करते थे।

आर्य लोग अपने निवास के लिए सुन्दर शालाओं का निर्माण करते थे। वेद मे एक शालासूक्त है, जिसमे शाला (मकान या घर) का बड़ा उत्तम वर्णन किया गया है। सम्भवतः, इन शालाओं के निर्माण के लिये लकडी का प्रयोग प्रधान रूप से किया जाता था।

वस्त्र-निर्माण का शिल्प भी इस युग में अच्छा उन्नत था। ऊन और रेशम कपड़े बनाने के लिए विशेष रूप से प्रयुक्त होते थे। यह सहज में अनुमान किया जा सकता है, कि रुई से भी आर्य लोग भली-भाँति परिचित थे। सिन्धु-सभ्यता के आर्थिक जीवन का विवरण देते हुए हमने उन प्रमाणों का उल्लेख किया है, जिनसे उस सभ्यता के लोगों का रुई से परिचय सिद्ध होता है। आर्य लोगो के लिए यह बहुत सुगम था कि वे अपने से पूर्ववर्ती सिन्धु-सभ्यता के लोगों से रुई की खेती और उपयोग को भली-भाँति सीख सकें। सूत कातने और उससे अनेक प्रकार के वस्त्र बनाने के व्यवसाय में आर्य लोग अच्छे कुशल थे। वे सिर पर उष्णीय (पगड़ी) धारण करते थे, नीचे एक अधोवस्त्र (धोती या साड़ी) पहनते थे, और ऊपर के लिए उत्तरीय (चादर) का प्रयोग करते थे। स्त्री और पुरुष दोनो आभूषण पहनने का शौक रखते थे। कुण्डल, केयूर, निष्कग्रीव आदि अनेक प्रकार के आभूषण इस युग के लोग प्रयोग मे लाते थे।

व्यापार के लिए इस युग मे वस्तुविनिमय (बार्टर) का प्रयोग होता था। पर बहुधा वस्तुओं के मूल्य का अकन गौओं द्वारा करके और गौ को मूल्य की इकाई मान कर विनिमय का काम चलाया जाता था। धातु द्वारा निर्मित किसी सिक्के का चलन इस युग मे था या नहीं, यह बात संदिग्ध है। निष्क नामक एक सुवर्ण मुद्रा का उल्लेख वैदिक साहित्य मे आया है। पर सम्भवत, उसका उपयोग मुद्रा की अपेक्षा आभूषण के रूप मे अधिक था। वैदिक सहिताओ मे नौकाओ का भी अनेक स्थलो पर वर्णन आया है। इनमे से कतिपय नौकाएँ बहुत विशाल भी हैं। सम्भवतः, वैदिक युग के लोग स्थल और जल मार्गों द्वारा दूर-दूर तक व्यापार के लिए आते-जाते थे। सिन्धु-सभ्यता के काल मे भी सामुद्रिक व्यापार का प्रारम्भ हो चुका था। इस युग में यह और भी अधिक विकसित हुआ।

वैदिक साहित्य मे अनेक स्थानो पर 'पणि' नामक व्यापारियो का उल्लेख आया है, जिन्हें असुर कहा गया है। सम्भवतः, ये पणि फिनीशियन लोग थे, जिन्हे लैटिन भाषा में 'पूनि' कहा जाता था। फिनीशियन लोगो की बस्ती पैलेस्टाइन के समुद्रतट पर थी, जहाँ से वे सुदूर देशो मे व्यापार के लिए आया जाया करते थे। भारत के आर्यों का इनसे परिचय था। सम्भवतः, वैदिक युग मे भारत का पैलेस्टाइन के फिनीशियन (पूनि या पणि) लोगों के साथ भी व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित था।

छठा अध्याय

उत्तर-वैदिक युग और ऐतिहासिक महाकाव्यों का काल

(१) वैदिक साहित्य का विकास

महाभारत-युद्ध के बाद महात्मा बुद्ध के समय तक का राजनीतिक इतिहास बहुत अस्पष्ट है। पर इस काल की सभ्यता, धर्म, जीवन तथा संस्कृति के सम्बन्ध मे परिचय प्राप्त करने की सामग्री की कमी नही है, कारण यह कि इस समय में साहित्य का निरन्तर विकास होता रहा। यद्यपि इस युग के साहित्य का बडा भाग आजकल उपलब्ध नही होता, तथापि जो ग्रन्थ अब प्राप्तव्य है, उन्ही के आधार पर हम इस काल के आर्यों के जीवन के सम्बन्ध मे बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें जान सकते है।

वेदांग—वैदिक साहित्य के अंगभूत वैदिक संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् ग्रन्थों का विवरण पहले दिया जा चुका है। बाद मे वेद-सम्बन्धी जिस साहित्य का विकास हुआ, उसे वेदांग कहते हैं। ये वेदाग छः हैं—शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और कल्प। शिक्षा का अभिप्राय उस शास्त्र से है, जिसमें वर्णों व शब्दो का सही उच्चारण प्रतिपादित किया जाता है। इस शास्त्र के प्राचीन ग्रन्थ प्रातिशाख्य कहाते हैं। विभिन्न वैदिक संहिताओ के प्रातिशाख्य निम्नलिखित हैं—(१) शौनक द्वारा रचित ऋग्वेद-प्रातिशाख्य, (२) तैत्तिरीय प्रातिशाख्य-सूत्र, (३) कात्यायन द्वारा विचरित वाजसनेयी प्रातिशाख्य-सूत्र, और (४) अथर्ववेद प्रातिशाख्य-सूत्र। इन चार मुख्य प्रातिशाख्यो के अतिरिक्त भारद्वाज, वशिष्ठ, व्यास, याज्ञवल्क्य आदि ऋषियो द्वारा रचित अन्य प्रातिशाख्य-ग्रन्थ भी थे। छन्द-शास्त्र मे वैदिक छन्दो का निरूपण किया जाता है। छन्द का यह विषय प्रातिशाख्यों मे भी आता है, पर इस शास्त्र का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ छन्दसूत्र है, जिसे आचार्य पिंगल ने बनाया था। पिंगल का छन्दसूत्र जिस रूप मे आजकल मिलता है, वह शायद बहुत प्राचीन नही है। पर इसमे सन्देह नही, कि यह प्राचीन छन्द-शास्त्र के आधार पर लिखा गया है।

वेदो को भले प्रकार से समझने के लिये व्याकरण-शास्त्र बहुत उपयोगी है। संस्कृत-भाषा का सबसे प्रसिद्ध व्याकरण ग्रन्थ पाणिनीय अष्टाध्यायी है, जिसे पाणिनि मुनि ने बनाया था। किन्तु पाणिनि की अष्टाध्यायी वेदाग के अन्तर्गत नही है, क्योकि उसमें प्रधानतया लौकिक संस्कृत-भाषा का व्याकरण दिया गया है। भाषा के नियम उसमें अपवादरूप से ही दिये गये है। पर अष्टाध्यायी के रूप मे सस्कृत-व्याकरण अपने विकास व पूर्णता की चरम सीमा को पहुँच गया था। पाणिनि का काल अन्तिम रूप से निश्चित नही हुआ है, पर बहुसंख्यक विद्वान् उन्हें पाँचवीं सदी ई० पू० का मानते हैं। उनसे पूर्व अन्य भी अनेक वैयाकरण हो चुके थे, जिनके प्रयत्नों के

कारण ही संस्कृत का व्याकरण इतनी पूर्ण दशा को प्राप्त हुआ था। चन्द्र, इन्द्र आदि अनेक प्राचीन वैयाकरणों के ग्रन्थों की सत्ता के प्रमाण प्राचीन साहित्य में मिलते हैं। यास्क के निरुक्त में शाकपूणि नामक एक आचार्य का उल्लेख आता है, जो व्याकणशास्त्र का बड़ा विद्वान था। निरुक्त-शास्त्र भी एक वेदांग है, जिसमें शब्दों की व्युत्पत्ति या निरुक्ति का प्रतिपादन किया गया है। यास्काचार्य का निरुक्त इस शास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। यास्क से पूर्व इस शास्त्र के अन्य भी अनेक आचार्य हुए, जिनके मतों का उल्लेख यास्क ने अनेक बार अपने निरुक्त में किया है। पर इनमें से किसी भी आचार्य का ग्रन्थ वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं होता। ज्योतिष-शास्त्र भी छः वेदांगों में से एक है। बाद में इस शास्त्र का भारत में बहुत विकास हुआ, और आर्यभट्ट, वराहमिहिर आदि अनेक ऐसे आचार्य हुए, जिन्होने इस विद्या को बहुत उन्नत किया। पर प्राचीन युग का केवल एक ग्रन्थ इस समय मिलता है जिसका नाम 'ज्योतिषवेदांग' है। इसमें केवल ४० श्लोक हैं, और सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि का वर्णन है। पर प्राचीन काल में ज्योतिष भली-भाँति विकसित था, और वैदिक संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में भी ज्योतिष सम्बन्धी अनेक तथ्य पाये जाते हैं।

आर्यों के वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक जीवन के क्या नियम हों, वे किन संस्कारो व कर्त्तव्यो का अनुष्ठान करें, इस महत्वपूर्ण विषय का प्रतिपादन कल्प-वेदाग में किया गया है। कल्प के तीन भाग है—श्रौत, गृह्य और धर्म। ब्राह्मण-ग्रन्थों मे याज्ञिक कर्मकाण्ड का बहुत विशद रूप से प्रतिपादन था। प्रत्येक याज्ञिक व अन्य विधि का इतने विस्तार के साथ वर्णन उनमे किया गया था, कि सर्वसाधारण जीवन व व्यवहार में उनका सुगमता के साथ उपयोग सम्भव नही था। अतः यह आवश्यकता अनुभव की गयी, कि वैदिक अनुष्ठानों को संक्षेप के साथ प्रतिपादित किया जाय। श्रौत-सूत्रो की रचना इसी दृष्टि से की गयी। इन्हें ब्राह्मण-ग्रन्थो का सार कहा जा सकता है, यद्यपि वैदिक विधियो में कुछ परिवर्तन व सशोधन भी इनसे सूचित होता है। गृह्य-सूत्रो मे आर्य गृहस्थ के उन विधि-विधानों का वर्णन है, जो उसे आवश्यक रूप से करने चाहिएँ। जन्म से मृत्यु पर्यन्त आर्य गृहस्थ को अनेक धर्मों का पालन करना होता है, अनेक संस्कार करने होते है, व अनेक अनुष्ठानों का सम्पादन करना होता है। इन सबका प्रतिपादन गृह्य-सूत्रों मे किया गया है। एक व्यक्ति के दूसके व्यक्ति के प्रति या समाज के प्रति जो कर्त्तव्य हैं, व दूसरों के साथ बरतते हुए उसे जिन नियमों का पालन करना चाहिये, उनका विवरण धर्मसूत्रो मे दिया गया है।

वर्तमान समय में जो सूत्र-ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, उनमे अधिक महत्वपूर्ण निम्नलिखित हैं—गौतम धर्मसूत्र, बौधायनसूत्र, आपस्तम्बसूत्र, मानवसूत्र, काठकसूत्र, कात्यायन श्रौतसूत्र, पारस्कर गृह्यसूत्र, आश्वलायन श्रौतसूत्र, आश्वलायन गृह्यसूत्र, सांख्यायन श्रौतसूत्र, सांख्यायन गृह्यसूत्र, लाट्यायन श्रोतसूत्र, गोभिलगृह्यसूत्र कौशिक-सूत्र और वैतान श्रौतसूत्र। इन विविध सूत्र-ग्रन्थो के नामों से ही यह बात सूचित होती है, कि इनका निर्माण विविध प्रदेशों में और विविध सम्प्रदायों में हुआ था। प्राचीन भारत में विविध आचार्यों द्वारा ज्ञान व चिन्तन के पृथक्-पृथक् सम्प्रदायों का विकास हुआ था, और इन सम्प्रदायो में विधि-विधान, विचार व ज्ञान की अपनी-अपनी

परम्पराएँ जारी रहती थी। भारतीय आर्यों के प्राचीन जीवन को भली-भाँति समझने के लिये इन सूत्र-ग्रन्थों का अनुशीलन बहुत उपयोगी है।

उपवेद—छः वेदांगों के अतिरिक्त इस युग में चार उपवेदों का भी विकास हुआ। ये उपवेद निम्नलिखित हैं—आयुर्वेद, धनुर्वेद, शिल्पवेद और गान्धर्ववेद। चिकित्सा-सम्बन्धी ज्ञान आयुर्वेद के अन्तर्गत है। चरक, सुश्रुत आदि आचार्यों ने चिकित्साशास्त्र-सम्बन्धी जो ग्रन्थ लिखे थे, वे आजकल उपलब्ध है। पर ये आचार्य बौद्धकाल में व उसके बाद हुए थे। प्राग्बौद्ध-काल का आयुर्वेद-सम्बन्धी कोई ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं होता। पर चरक, सुश्रुत आदि ग्रन्थो के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है, कि उनसे पूर्व बहुत-से आचार्य ऐसे हो चुके थे, जिन्होने आयुर्वेद का विकास किया था। उपनिषदों मे श्वेतकेतु नामक आचार्य का उल्लेख आया है, जो उद्दालक आरुणि का पुत्र था। यह श्वेतकेतु केवल ब्रह्मज्ञानी ही नही था, अपितु साथ ही प्रजनन-शास्त्र और कामशास्त्र का भी पण्डित था। ये शास्त्र आयुर्वेद के अन्तर्गत थे। धनुर्वेद, शिल्पवेद और गान्धर्ववेद पर बाद के समय में बने हुए अनेक ग्रन्थ इस समय उपलब्ध होते हैं। पर अभी तक कोई ऐसी पुस्तक इन विषयों पर नही मिली है, जिसे निश्चित-रूप से प्राग्बौद्ध-काल का कहा जा सके। पर इन विद्याओ का उपवेद समझा जाना ही इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि प्राचीन आर्य केवल याज्ञिक अनुष्ठान और ब्रह्मविद्या का चिन्तन ही नहीं करते थे, अपितु चिकित्सा, युद्ध-विद्या, शिल्प और संगीत आदि लौकिक विषयो का भी अनुशीलन करते थे।

अन्य विद्याएँ—वैदिक सहिताओ और उनसे सम्बद्ध विषयो के अतिरिक्त अन्य किन विद्याओ का अनुशीलन इस युग के आर्य करते थे, इस विषय मे छान्दोग्य उपनिषद् का एक सन्दर्भ बहुत महत्व का है। इस उपनिषद् के सप्तम प्रपाठक मे महर्षि सनत्कुमार और नारद का संवाद आता है, जिसमे सनत्कुमार के यह पूछने पर कि नारद ने किन-किन विषयों का अध्ययन किया है, नारद ने इस प्रकार उत्तर दिया—'हे भगवन्! मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का अध्ययन किया है, मैंने पचमवेद इतिहास-पुराण को पढा है, मैंने पितृविद्या, राशिविद्या (गणित), दैवविद्या, निधि-विद्या (खान सम्बन्धी विद्या), वाक्योवाक्य (तर्कशास्त्र), एकायन (नीति-शास्त्र), देव-विद्या, ब्रह्मविद्या (आत्म-शास्त्र), भूतविद्या, क्षत्र-विद्या (युद्ध-शास्त्र), नक्षत्र-विद्या (ज्योतिष) सर्प-विद्या और देवजन-विद्या को पढा है। छान्दोग्य उपनिषद् का यह सन्दर्भ इस विषय मे कोई सन्देह नही रहने देता, कि महाभारत के बाद इस देश मे अनेक लौकिक विद्याओं का भली-भाँति विकास हो गया था, और नारद जैसे विद्वान् इन विविध विषयों के अनुशीलन मे निरन्तर तत्पर रहते थे।

अर्थशास्त्र या दण्डनीति—अन्य अनेक लौकिक विद्याओं के समान इस युग में दण्डनीति या अर्थशास्त्र का भी भली-भाँति विकास हुआ। महाभारत का शान्तिपर्व राजधर्मशास्त्र का अत्यन्त उत्कृष्ट व विशद ग्रन्थ है। उससे इस युग की राजनीति व राजनीतिक विचारो पर बहुत सुन्दर प्रकाश पड़ता है। कौटलीय अर्थशास्त्र की रचना बौद्ध-काल के बाद मे हुई। पर उसमे अनेक प्राचीन आचार्यों का उल्लेख मिलता है, जिनकी सम्मति को बार-बार आचार्य चाणक्य ने उद्धृत किया है। इनमे से कतिपय

के नाम निम्नलिखित है—भारद्वाज, विशालाक्ष, पाराशर, पिशुन, कौणपदन्त, वातव्याधि और बाहुदन्तीपुत्र। इन आचार्यों के अतिरिक्त चाणक्य ने मानव, बार्हस्पत्य, औशनस आदि अनेक सम्प्रदायो का भी उल्लेख किया है, जिनमें दण्डनीति व राजनीतिशास्त्र-सम्बन्धी विविध विचारधाराओं का विकास हुआ था। कौटलीय अर्थशास्त्र मे इनके मतों का उल्लेख कर उनपर अपनी सम्मति भी दी गयी है। यह इस बात का प्रमाण है, कि प्राग्बौद्ध-काल मे राजनीति-शास्त्र का बहुत विकास हुआ था। यदि इन आचार्यों और सम्प्रदायों के दण्डनीति-सम्बन्धी ग्रन्थ इस समय उपलब्ध होते, तो हम इस युग के राजनीतिक जीवन के सम्बन्ध में बहुत-कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकते थे। शुक्रनीतिसार नाम से राजनीति-शास्त्र-सम्बन्धी जो ग्रन्थ इस समय मिलता है, वह औशनस सम्प्रदाय का है। शुक्र राजनीति के बहुत बडे आचार्य थे। उनकी सम्मति मे दण्डनीति ही एकमात्र ऐसी विद्या थी, जिसे 'विद्या' कहा जा सकता था। शुक्राचार्य की सम्मति में अन्य सब विद्याएँ दण्डनीति के ही अन्तर्गत हो जाती हैं। शुक्रनीतिसार का वर्तमान रूप चाहे बाद के समय मे बना हो, पर इसमें सन्देह नही कि उसमे शुक्राचार्य या औशनस सम्प्रदाय के परम्परागत विचार सकलित हैं।

दर्शन-शास्त्र का विकास—भारत की प्राचीन परम्परा के अनुसार छः आस्तिक दर्शन हैं—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमासा और वेदान्त। ये छः दर्शन आस्तिक और वेदसम्मत माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त कतिपय अन्य दर्शनो का विकास भी प्राचीन समय मे हुआ था, जिन्हे नास्तिक व लोकायत कहा जाता था। दर्शन-शास्त्रो द्वारा प्राचीन आर्य विद्वान् सृष्टि के मूल-तत्वो का परिचय प्राप्त करने का उद्योग करते थे। ब्राह्मण-ग्रन्थो और सूत्रो का विषय याज्ञिक कर्मकाण्ड व विधि-विधान का प्रतिपादन करना है। आरण्यको व उपनिषदो मे ब्रह्म-विद्या या आध्यात्मशास्त्र का विवेचन किया गया है। पर दर्शन-ग्रन्थो मे वैज्ञानिक (दार्शनिक) पद्धति से यह जानने का यत्न किया गया है, कि इस सृष्टि के मूल-तत्व क्या है, यह किस तत्व से या किन तत्वो से और किस प्रकार निर्मित हुई, और इसका कोई स्रष्टा है या नही। इस प्रकार के विवेचन को 'दर्शन' कहा जाता था। भारत का सबसे पहला दार्शनिक शायद कपिल मुनि था, जो महाभारत-युद्ध के बाद उपनिषदो के निर्माण काल मे हुआ था। जिस प्रकार वाल्मीकि को भारत का आदि-कवि माना जाता है, वैसे ही कपिल भारत का प्रथम दार्शनिक था। उसने साख्य-दर्शन का प्रतिपादन किया। जड़ और चेतन—दोनों प्रकार की सत्ताओ को निश्चित संख्याओ मे विभक्त कर कपिल ने प्रकृति सम्बन्धी विवेचन के लिये एक वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण किया। बाद के विद्वानो ने कपिल की शैली का अनुसरण कर साख्य-दर्शन की बहुत उन्नति की। शकराचार्य के समय तक साख्य का भारतीय दर्शनो में प्रमुख स्थान था। कपिल मुनि ने सृष्टि के निर्माण के लिये किसी कर्त्ता या स्रष्टा की आवश्यकता अनुभव नही की। प्रकृति पहले अव्यक्त रूप में विद्यमान थी, इस दशा मे उसे 'प्रधान' कहते थे। यह प्रधान ही बाद मे 'व्यक्त' होकर प्रकृति के रूप मे आया।

कपिल के समान अन्य भी अनेक विचारक इस युग में हुए, जिन्होने प्रकृति के मूल-तत्वों के सम्बन्ध में मौलिक विचार अभिव्यक्त किये। कणाद वैशेषिक दर्शन का

प्रवर्तक था। सृष्टि की उत्पत्ति परमाणुओं द्वारा हुई, इस मत का प्रतिपादन कणाद ने किया। न्याय-दर्शन का प्रवर्तक गौतम था, जिसने पञ्चभूत के सिद्धान्त का प्रारम्भ किया। वेदान्त के मत में सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्म द्वारा हुई। ब्रह्म चेतन सत्ता है, जो अपने को सृष्टि के रूप मे अभिव्यक्त करती है। वेदान्त दर्शन का प्रवर्तक मुनि वेदव्यास को माना जाता है। यह निश्चित नहीं किया जा सका है, कि ये सब दार्शनिक मुनि किस समय में हुए थे। षड्दर्शनों के जो ग्रन्थ इस समय मे मिलते हैं, वे बाद के समय के बने हुए हैं। पर इन ग्रन्थों मे जो विचार व सिद्धान्त प्रतिपादित हैं, उन्हें विकसित होने में बहुत समय लगा होगा। यह सहज मे माना जा सकता है, कि प्राग्-बौद्ध काल में जब अनेक ब्रह्मवादी ऋषि उपनिषद् के विचारो का विकास कर रहे थे, तभी अन्य मुनि या विचारक लोग दार्शनिक पद्धति द्वारा सृष्टि के मूल-तत्वों के चिन्तन में तत्पर थे। दर्शन-शास्त्र को ही 'आन्वीक्षकी' विद्या भी कहते थे। आन्वीक्षकी शब्द अन्वीक्षण से बना है, जिसका अर्थ है दर्शन। आचार्य चाणक्य के समय (मौर्य-युग) तक सांख्य, योग और लोकायत—इन तीन दार्शनिक पद्धतियों का भली-भाँति विकास हो चुका था। लोकायत का अभिप्राय चार्वाक-दर्शन से है। चार्वाक सम्प्रदाय के लोग न केवल ईश्वर को नही मानते थे, अपितु वेद मे भी विश्वास नही रखते थे। प्राचीन वैदिक श्रुति का आदर भारत के सब आचार्यों मे था, पर धीरे-धीरे ऐसे विचारक भी उत्पन्न होने लगे थे, जो वेद तक के प्रामाण्य से इनकार करते थे। वस्तुतः, यह युग ज्ञान-पिपासा, स्वतन्त्र विचार और दार्शनिक चिन्तन का था।

(२) वैदिक और उत्तर-वैदिक युग

भारत के प्राचीन आर्य ऋषियो ने जिन सूक्तों (सुभाषितो) का निर्माण किया, वे वैदिक सहिताओ मे सगृहीत है। अपने पूर्वज ऋषियो की इन कृतियो का आर्य-जाति की दृष्टि में बहुत महत्व था। ये सूक्त मुख्यतया विविध देवताओं की स्तुति मे कहे गये थे। बाद मे इन वैदिक सूक्तो की व्याख्या के लिये व याज्ञिक अनुष्ठानो में इनके विनियोग के लिये ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना हुई। उपनिषदों व आरण्यक ग्रन्थो मे वे विचार संकलित किये गये, जो अध्यात्मचिन्तन के सम्बन्ध मे थे। संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक—ये तीनो वैदिक साहित्य के अन्तर्गत माने जाते है, यद्यपि आर्य-जाति की दृष्टि मे जो आदर मूल संहिताओ का है, वह ब्राह्मण-ग्रन्थों और आरण्यकों का नहीं है। इसमे सन्देह नही, कि ब्राह्मण और आरण्यक वैदिक संहिताओ की अपेक्षा बाद के समय के हैं। वेदो का बडा भाग महाभारत-युद्ध से पहले अपने वर्तमान रूप में आ चुका था। पर ब्राह्मणग्रन्थों, आरण्यकों व उपनिषदों का निर्माण प्रधानतया महाभारत-युद्ध के बाद में हुआ। इसीलिये इतिहास में हम वैदिक संहिताओ के युग को या महाभारत-युद्ध से पहले के काल को वैदिक युग कहते हैं, और ब्राह्मणों व उपनिषदों के काल को उत्तर-वैदिक युग। उत्तर-वैदिक युग के अन्तर्गत ही वह समय भी आ जाता है, जब कि सूत्र-ग्रन्थो तथा अन्य वेदांगो का विकास हुआ। रामायण, महाभारत और पुराण (जिन्हे प्राचीन परम्परा के अनुसार 'इतिहास-पुराण' कहा जाता है) भी इसी युग के लगभग के हैं। अपने वर्तमान रूप मे तो ये बौद्ध-काल के भी बाद में आये, पर

उनमें जो अनुश्रुति संगृहीत है, उसका सम्बन्ध वैदिक और उत्तर-वैदिक काल के साथ ही है।

वैदिक संहिताओं के आधार पर प्राचीन आर्यों के जीवन, सभ्यता और संस्कृति पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। अब हम ब्राह्मण-ग्रन्थों, उपनिषदों, सूत्र-ग्रन्थों व अन्य वेदांगों के आधार पर आर्यों की सभ्यता के विकास की विवेचना करेंगे, क्योंकि इन ग्रन्थों के अनेक अंश उत्तर-वैदिक या प्राग्-बौद्ध काल में विकसित हो चुके थे।

इस प्रसंग मे हमें यह भी स्पष्ट करना है, कि प्राचीन भारत के अनेक ग्रन्थ किसी एक व्यक्ति की कृति न होकर एक 'सम्प्रदाय' की कृति हैं। हमने पिछले प्रकरण में मानव, औशनस, बार्हस्पत्य आदि सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। प्राचीन भारत मे जब कोई प्रतिभाशाली मुनि व आचार्य किसी नये विचार व सिद्धान्त का प्रतिपादन करता था, तो उसकी शिक्षा वह अपने शिष्यो को देता था। मुनि द्वारा प्रतिपादित नया विचार गुरु-शिष्य-परम्परा द्वारा निरन्तर विकसित होता था, और इस प्रकार एक नये सम्प्रदाय (विचार-सम्प्रदाय) का विकास हो जाता था। बृहस्पति, उशना (शुक्र), मनु आदि इसी प्रकार के विचारक थे, जिनकी शिष्य-परम्परा मे बार्हस्पत्य, औशनस, मानव आदि सम्प्रदायो का विकास हुआ। कपिल, कणाद, गौतम आदि मुनियों की शिष्य-परम्परा ने सांख्य, वैशेषिक, न्याय आदि दार्शनिक सम्प्रदायों का विकास किया। वैदिक मन्त्रो के विनियोग और याज्ञिक अनुष्ठान के भी अनेक सम्प्रदाय बने, और यह प्रक्रिया ज्ञान व चिन्तन के प्रत्येक क्षेत्र मे जारी रही। इसी का यह परिणाम हुआ, कि दर्शन, दण्डनीति, कल्प (श्रौत, गृह्य और धर्म) आदि विषयक जो ग्रन्थ इस समय हमें मिलते है, वे सम्प्रदायो की ही कृति हैं। उन सबका विकास धीरे-धीरे अपने-अपने सम्प्रदायों मे हुआ। उनका वर्तमान रूप चाहे बाद का हो, पर उनमे सकलित विचारों का प्रारम्भ उत्तर-वैदिक युग मे ही हो चुका था।

(३) धर्म और तत्त्वचिन्तन

याज्ञिक विधि-विधान—वैदिक युग में आर्य-धर्म का क्या स्वरूप था, इसपर हम पिछले एक अध्याय मे प्रकाश डाल चुके हैं। वेदों के देवता प्राकृतिक शक्तियो के मूर्तरूप थे। संसार की मूलशक्ति प्रकृति के जिन विविध रूपो मे अभिव्यक्त होती है, उनमें वैदिक आर्यों ने अनेक देवताओ की कल्पना की थी। आर्य लोग इन देवताओं के रूप मे विश्व की मूलभूत अधिष्टात्री शक्ति की उपासना करते थे। इन देवताओ की पूजा और तृप्ति के लिये वे यज्ञों का अनुष्ठान करते थे। प्रारम्भ में इन यज्ञों का रूप बहुत सरल था। यज्ञकुण्ड में अग्नि का आधान कर उसमे आहुति दी जाती थी, और इस प्रकार देवताओ को तृप्त किया जाता था। पर धीरे-धीरे इन यज्ञों का रूप जटिल होता गया। उत्तर-वैदिक काल में यज्ञों की जटिलता अपने चरम उत्कर्ष को पहुँच गई थी। आर्य-जनता के एक भाग का यही कार्य था, कि वह यज्ञिक विधि-विधानों मे प्रवीणता प्राप्त करे और उसकी प्रत्येक विधि का सही तरीके-से अनुष्ठान करे। इन लोगों को 'ब्राह्मण' कहते थे। यज्ञ के लिये वेदी की रचना किस प्रकार की जाय, वेदी में अग्नि कैसे प्रज्वलित की जाय, किस प्रकार आहुतियाँ दी जाएँ, यज्ञ करते हुए यजमान

ऋत्विक्, अध्वर्यु आदि कहाँ और किस प्रकर बैठे, वे अपने विविध अंगों को किस प्रकार उठाएँ, किस प्रकार मन्त्रोच्चारण करें, कैसे ज्ञात हो कि अब देवता यज्ञ की आहुति का ग्रहण करने के लिये पधार गये हैं, किन पदार्थों की आहुति दी जाय—इस प्रकार के विविध विषयो का बड़े विस्तार के साथ ब्राह्मण-ग्रन्थों में विवेचन किया गया है। किस याज्ञिक विधि का क्या प्रयोजन है, यह विषय भी उनमे विशद रूप से वर्णित है। जन्म से मृत्युपर्यन्त प्रत्येक गृहस्थ को अनेक प्रकार के यज्ञ करने होते थे। मनुष्य के वैयक्तिक जीवन के साथ सम्बन्ध रखनेवाले संस्कारों का स्वरूप भी यज्ञ का था। यज्ञ-प्रधान इस प्राचीन धर्म को स्पष्ट करने के लिये यहाँ हम इन संस्कारों व यज्ञों का संक्षेप से उल्लेख करते हैं—

(१) गर्भाधान-संस्कार—सन्तानोत्पत्ति के लिए। (२) पुंसवन-संस्कार—पुरुष-सन्तान की प्राप्ति के लिए। (३) सीमन्तोन्नयन-सस्कार—गर्भ की रक्षा के लिए। (४) जातकर्म-संस्कार—सन्तान के उत्पन्न होने पर। (५) नामकरण-संस्कार—सन्तान का नाम रखने के लिए। (६) अन्नप्राशन-संस्कार—सन्तान को अन्न देना प्रारम्भ करने के समय। (७) चूडाकर्म-संस्कार—सन्तान के बाल काटने के समय। (८) उपनयन-संस्कार—यज्ञपवीत धारण कराने के लिए। (९) समावर्तन-संस्कार—शिक्षा की समाप्ति पर। (१०) विवाह-संस्कार—गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिए। (११) देव-यज्ञ—प्रतिदिन किया जाने वाला अग्निहोत्र। (१२) पितृयज्ञ—पितरों का श्राद्ध या गुरुजनों की सेवा। (१३) भूतयज्ञ—पशु, पक्षी, कृमि आदि को अर्पित की जाने-वाली बलि। (१४) अतिथि-यज्ञ—अतिथियों की सेवा। (१५) ब्रह्म-यज्ञ—विद्वानों व प्रतिष्ठित व्यक्तियो की सेवा। देव, पितृ, भूत, अतिथि और ब्रह्म-यत्र—ये पाँच महायज्ञ कहे गए हैं, जिन्हे सम्पादित करना प्रत्येक गृहस्थ का धर्म था। गृहस्थ का यह कर्त्तव्य माना जाता था, कि वह प्रतिदिन इन पाँचों यज्ञो को करे। (१६) अष्टका-यज्ञ—कार्तिक मास से माघ मास तक, चार महीनों मे कृष्णपक्ष की अष्टमी को यह यज्ञ किया जाता था। (१७) श्रावणी—श्रावण मास की पूर्णिमा को किया जाने वाला यज्ञ। (१८) आग्रहायणी—आग्रहायण मास की पूर्णिमा को किया जाने वाला यज्ञ। (१९) चैत्री—चैत्र मास की पूर्णिमा को किया जाने वाला यज्ञ। (२०) आश्वयुजी—आश्विन मास की पूर्णिमा को किया जाने वाला यज्ञ। (२१) दर्शपूर्णमास्य—पूर्णमासी और प्रतिपदा के दिन किए जाने वाले यज्ञ। (२२) चातुर्मास्य—शीत, ग्रीष्म और वर्षा—इन तीन ऋतुओ के प्रारम्भ में किए जाने वाले यज्ञ। (२३) सौत्रामणी—अश्विनी देवताओं की पूजा के लिए यज्ञ। (२४) अग्निष्टोम—सोमपान के लिए किया जाने वाला यज्ञ। (२५) व्रात्यस्तोम—आर्य-भिन्न व्रात्य आदि जातियो को आर्य-जाति मे सम्मिलित करने के लिए किया जाने वाला यज्ञ। (२६) राजसूय—नये राजा के राज्या-भिषेक से पूर्व यह यज्ञ किया जाता था। राज्य की जनता के विविध प्रतिनिधि इस अवसर पर राजा का अभिषेक करते थे। (२७) अश्वमेध—जब कोई राजा दिग्विजय करके अपनी शक्ति का विस्तार करता था, तो इस विजय-यात्रा के उपलक्ष मे यह यज्ञ किया जाता था।

यज्ञों की जो तालिका हमने यहाँ दी है, वह पूर्ण नहीं है। यहाँ हमने केवल अधिक महत्त्व के संस्कारों और यज्ञो का उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक यज्ञ थे, जिनका प्राचीन भारत मे अनुष्ठान किया जाता था। इन सब यज्ञों की विस्तृत विधि ब्राह्मण-ग्रन्थों और कल्प ग्रन्थों (श्रौत और गृह्यसूत्रो) में वर्णित है। प्राचीनतम काल मे इन यज्ञो मे पशुओ की बलि दी जाती थी या नही, इस विषय पर मतभेद है। पर उत्तर-वैदिक काल में अजा, अश्व आदि की पशु-बलि प्रारम्भ हो गई थी, यह बात निश्चय के साथ कही जा सकती है। उत्तर-वैदिक युग के आर्य यह भी मानने लगे थे, कि यज्ञों के विधिपूर्वक अनुष्ठान से मनुष्य यथाभिलषित फल प्राप्त कर सकता है, और सुख, समृद्धि, तथा स्वर्ग की प्राप्ति के लिए ये अनुष्ठान ही एकमात्र उपाय है।

तत्त्वचिन्तन की लहर—पर इस युग के आर्य केवल याज्ञिक अनुष्ठानों में ही व्यापृत नही थे, उनका ध्यान ब्रह्मविद्या तथा तत्त्वचिन्तन की ओर भी गया था। यज्ञों से इहलोक और परलोक दोनों मे सुख प्राप्त होता है, यह मानते हुए भी वे इस प्रकार के विषयों के चिन्तन मे तत्पर थे, कि मनुष्य क्या है? जिसे हम आत्मा कहते हैं, उसका क्या स्वरूप है? शरीर और आत्मा भिन्न हैं या एक ही हैं? मरने के बाद मनुष्य कहाँ जाता है? इस सृष्टि का कर्त्ता कौन है? इसका नियमन किस शक्ति द्वारा होता है? इसी प्रकार के प्रश्नो की जिज्ञासा थी, जो अनेक मनुष्यों को इस बात के लिए प्रेरित करती थी, कि वे गृहस्थ-जीवन से विरत होकर या सासारिक सुख-समृद्धि की उपेक्षा कर एकनिष्ठ हो तत्त्व-ज्ञान को प्राप्त करें। उस युग के ग्रामों और नगरो के बाहर जंगल के प्रदेशों मे अनेक विचारको ने अपने आश्रम बनाए थे, जहाँ ब्रह्मविद्या या तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए आतुर हुए लोग एकत्र होते थे, और तप व स्वाध्याय द्वारा ज्ञान की अपनी प्यास को बुझाते थे। इस युग मे अनेक राजा भी ऐसे हुए, जो इस प्रकार के विचारो मे तत्पर थे। विदेह के जनक, केकय के अश्वपति, काशी के अजातशत्रु और पचालदेश के प्रवाहण जाबालि का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। ये सब राजा न केवल स्वयं तत्त्वचिन्तक थे, अपितु इसी प्रकार का चिन्तन करने वाले मुनियो व विचारको के आश्रयदाता भी थे। उनकी राजसभा मे भारत के विभिन्न प्रदेशो से मुनि एकत्र होते थे, और अध्यात्मविषयक प्रश्नों पर विचार करते थे। राजा भी इस विचार विमर्श मे हिस्सा लेते थे, और विविध विचारको में जिसका पक्ष प्रबल होता था, उसकी धन आदि से पूजा भी करते थे।

बृहदारण्यक उपनिषद् मे कथा आती है, कि जनक वैदेह ने एक बड़े यज्ञ का आयोजन किया, जिसमें कुरु और पचाल देशों के ब्राह्मण लोग एकत्र हुए। जनक ने निश्चित किया, कि जो ब्राह्मण सबसे अधिक विद्वान् होगा, उसे हजार गौवें दी जायेंगी, और इन गौओ के सीगो के साथ दस-दस स्वर्ण-मुद्राएँ बधी होगी। इस पर ब्राह्मणो में परस्पर विवाद होने लगा। अन्त मे याज्ञवल्क्य की विजय हुई। उसने अन्य सब ब्राह्मणों को शास्त्रार्थ में परास्त किया, और हजार गौओ को विजयोपहार के रूप मे प्राप्त किया। याज्ञवल्क्य के साथ इस शास्त्रार्थ का विषय अध्यात्म-सम्बन्धी था, और उससे परास्त होने वाले विद्वानों में केवल कुरु-पंचाल के ही ब्राह्मण नही थे, अपितु मद्रदेश

और शाकल नगरी के विद्वान् भी थे। इसी प्रकार की कथाएँ इस युग के अन्य राजाओं के सम्बन्ध में भी उपनिषदों में पायी जाती है।

याज्ञिक कर्मकाण्ड की जटिलता से आरण्यक आश्रमों में चिन्तन करने वाले ये विद्वान् सहमत नहीं थे। वे अनुभव करते थे, कि यज्ञों द्वारा मनुष्य यथेष्ट फल नहीं प्राप्त कर सकता। इसीलिये उनका कथन था कि यज्ञरूपी ये नौकाएँ अदृढ़ हैं, संसार-सागर से तरने के लिए इनपर भरोसा नहीं किया जा सकता। यज्ञ के स्थान पर इन विचारकों ने तप, स्वाध्याय और सदाचरण पर जोर दिया। ये कहते थे, कि मानव-जीवन की उन्नति और परमपद की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है, कि मनुष्य अपनी इन्द्रियों को वश में करे, वाणी और मन पर नियन्त्रण रखे, तप और ब्रह्मचर्य का सेवन करे, दृढ़ संकल्प हो कर आत्मा और ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करे और ईश्वर में ध्यान लगाए। शरीर से भिन्न जो आत्मा हैं, जिसके कारण शरीर को शक्ति प्राप्त होती है, उसको जानने और उसपर ध्यान देने से ही मनुष्य उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है, यह इन तत्त्वचिन्तकों का उपदेश था। इनका कथन था, यह आत्मा बलहीन मनुष्य को नही मिल सकती, तप के अभाव में प्रमादी मनुष्य इसे कदापि प्राप्त नही कर सकता।

इन्ही विचारों से प्रेरित होकर इस युग के अनेक मनुष्यों की प्रवृत्ति यज्ञो से विमुख हो गई, और भारत मे तत्त्वचिन्तन की उस लहर का प्रारम्भ हुआ, जिसने इस देश में बहुत से मुनि, योगी व तपस्वी उत्पन्न किए। ये लोग सासारिक सुखों को हेय समझते थे, सन्तान, धन और यश की अभिलाषा से ऊपर उठते थे, और ज्ञान की प्राप्ति को ही अपना ध्येय मानते थे। इनके चिन्तन के कारण भारत मे जो नया ज्ञान विकसित हुआ, वही उपनिषदो और दर्शन-ग्रन्थो मे सगृहीत है। निःसन्देह, ये अपने विषय के अत्यन्त उत्कृष्ट और गम्भीर ग्रन्थ हैं।

भागवत धर्म—यज्ञों के जटिल कर्मकाण्ड के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया तत्त्वचिन्तक मुनियों द्वारा शुरू हुई थी, उसका एक महत्त्वपूर्ण परिणाम भागवत धर्म का प्रारम्भ होना था। बौद्ध-युग के बाद यह धर्म भारत का सबसे प्रमुख धर्म बन गया और गुप्त-सम्राटों के समय मे इस धर्म ने न केवल भारत में अपितु भारत से बाहर भी बहुत उन्नति की। पर इस धर्म का प्रारम्भ महाभारत-युद्ध के समय मे व उससे कुछ पूर्व ही हो गया था। एक प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार राजा वसु चैद्योपरिचर के समय में याज्ञिक अनुष्ठानों के सम्बन्ध में एक भारी विवाद उठ खडा हुआ था। कुछ ऋषि यज्ञों मे पशुओं की बलि देने के विरुद्ध थे, और कुछ पुरानी परम्परा का अनुसरण करना चाहते थे। राजा वसु ने अपने यज्ञों में पशुबलि देने के विरुद्ध परिपाटी का अनुसरण किया, और स्वयं हरि (भगवान्) उससे संतुष्ट हुए। यद्यपि पुरानी प्रथा के अनुयायी अनेक ऋषि इस बात से वसु से बहुत नाराज थे, पर क्योंकि वसु भगवान् का सच्चा भक्त था, अतः भगवान् ने उसे अपनाया और उसके समय से भगवत्-पूजा की एक नई पद्धति का प्रारम्भ हुआ। वसु के बाद सात्वत लोग इस नई पद्धति के अनुयायी हुए। सात्वत लोग यादव वंश की एक शाखा थे, और मथुरा के समीपवर्ती प्रदेश में आबाद थे। मथुरा के क्षेत्र के अन्धक-वृष्णि गणों के निवासी लोग सात्वत ही थे। सात्वत लोगों का यह

विश्वास था, कि हरि सब देवों का देव है, और अन्य सब देवता उसकी विविध शक्तियों के प्रतीकमात्र हैं। इस देवों के देव हरि की पूजा के लिए न याज्ञिक कर्मकाण्ड का उपयोग है, और न ही जंगल में बैठकर तपस्या करने का। इसकी पूजा का सर्वोत्तम उपाय भक्ति है, और हरि की भक्ति के साथ-साथ अपने कर्त्तव्यों को कुशलता के साथ करते रहने में ही मनुष्य का कल्याण है। सात्वत लोग यज्ञों के विरोधी नहीं थे, और न ही वे तपस्या को निरुपयोगी ही समझते थे। पर उनका विचार था, कि ये सब बातें उतने महत्त्व की नहीं हैं, जितना कि हरिभक्ति और कर्त्तव्यपालन। सात्वत यादवों में वासुदेव कृष्ण, कृष्ण के भाई संकर्षण और संकर्षण के वंशज प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ने इस नए विचार को अपनाया और सात्वत लोगों में इस विचार का विशेषरूप से प्रचार हुआ। वासुदेव कृष्ण और उनके अनुयायी सात्वत योग यज्ञों में पशुहिंसा के विरोधी थे और भगवान् की भक्ति व निष्काम-कर्म के सिद्धान्त पर बहुत जोर देते थे। वसु चैद्यो-परिचर के समय में जिस नई विचारधारा का सूत्र-रूप में प्रारम्भ हुआ था, वासुदेव कृष्ण द्वारा वह बहुत विकसित की गई। इसी को भागवत व एकान्तिक धर्म कहते हैं। इसके प्रधान प्रवर्त्तक वासुदेव कृष्ण ही थे, जो वृष्णि (सात्वत) संघ के 'मुख्य' थे, और जिनकी सहायता से पाण्डवों ने मगधराज जरासन्ध को परास्त किया था। कृष्ण न केवल उत्कृष्ट राजनीतिज्ञ थे, अपितु भागवत सम्प्रदाय के महान् आचार्य भी थे। कुरुक्षेत्र के मैदान में अर्जुन को आत्मा की अमरता और निष्काम-कर्म का जो उपदेश उन्होंने दिया था, भगवद्गीता मे उसी का विशदरूप से वर्णन है। गीता भागवत-धर्म का प्रधान ग्रन्थ है। इसे उपनिषदों का सार कहा जाता है। प्राचीन मुनियों और विचारको द्वारा भारत मे तत्त्वचिन्तन की जो लहर चली थी, उसके कारण यज्ञप्रधान वैदिक धर्म मे बहुत परिवर्तन हो गया था। उपनिषदों के तत्त्व-चिन्तन के परिणाम-स्वरूप जिस भागवत-धर्म का प्रादुर्भाव हुआ, उसमे याज्ञिक अनुष्ठानो का विरोध नहीं किया गया था। यज्ञों की उपयोगिता को स्वीकार करते हुए उसमें एक सर्वोपरि शक्ति की सत्ता, आत्मा की अमरता, कर्म-योग की उत्कृष्टता और हरिभक्ति की महिमा का प्रतिपादन किया गया था। पुराने भारतीय धर्म में सुधार करने के लिए बौद्ध और जैन आदि जो नये धर्म बाद में विकसित हुए, वे वैदिक श्रुति में विश्वास नहीं करते थे। प्राचीन वैदिक धर्म के साथ अनेक अंशों मे उनका विरोध था। पर वासुदेव कृष्ण के भागवत-धर्म का उद्देश्य वैदिक मर्यादा, प्राचीन परम्परा और याज्ञिक अनुष्ठानों को कायम रखते हुए धर्म के एक ऐसे स्वरूप का प्रतिपादन करना था, जो नये चिन्तन के अनुकूल था। बौद्ध-युग के बाद इस धर्म का जिस ढंग से उत्कर्ष हुआ, उसपर हम आगे चलकर विचार करेंगे।

(४) शासन-विधि

जनपदों का विकास—वैदिक युग के आर्य-राज्यों का स्वरूप 'जानराज्य' का था, क्योंकि उनका आधार 'जन' होता था। एक जन के सब व्यक्ति प्रायः 'सजात' होते थे। कुरु, पंचाल, शिवि, मद्र, केकय, गान्धार आदि जो राज्य वैदिक युग में विद्यमान थे, वे सब जानराज्य ही थे। जिस स्थान या प्रदेश पर यह जन बसा होता था, उसे

जनपद व राष्ट्र करते थे। धीरे-धीरे इन जनपदों में अन्य लोग (जो सजात नहीं थे) भी बसने शुरू हुए, और वे सब उसके अंग या प्रजा बन गए। इन जनपदों में किसी कबीले या जन के प्रति भक्ति की अपेक्षा उस प्रदेश के प्रति भक्ति अधिक महत्त्व की बात हो गई। विविध जनपदों के परस्पर संघर्ष के कारण महाजनपदों का विकास शुरू हुआ। काशी, कोशल, मगध आदि जो जनपद या राज्य बौद्ध-काल में थे, उत्तर-वैदिक काल के साहित्य में उन्हें महाजनपद कहा गया है।

शासन के भेद—इन सब जनपदों के शासन का प्रकार एक-सा नहीं था। कुछ राज्यों में राजतन्त्र शासन था, तो कुछ में गणतन्त्र। ऐतरेय ब्राह्मण की अष्टम पंजिका में एक सन्दर्भ आता है, जिसमें उस युग के विविध शासन-प्रकारों का परिगणन किया गया है। इस सन्दर्भ के अनुसार प्राची दिशा (मगध, कलिंग, वग आदि) के जो राजा है, उनका 'साम्राज्य' के लिए अभिषेक होता है, और वे सम्राट् कहाते है। दक्षिण दिशा में जो सात्वत (यादव) राज्य है, वहाँ का शासन 'भोज्य' हैं, और उनके शासक भोज कहे जाते हैं। प्रतीची दिशा (सुराष्ट्र, कच्छ, सौवीर आदि) का शासन-प्रकार 'स्वाराज्य' है, और उसके शासक 'स्वराट्' कहाते हैं। उत्तर-दिशा मे हिमालय के क्षेत्र मे (उत्तर-कुरु, उत्तर-मद्र आदि जनपद) जो राज्य है, वहाँ 'वैराज्य' प्रणाली हैं, और वहाँ के शासक 'विराट्' कहाते है। मध्यदेश (कुरु, पचाल, कोशल आदि) के राज्यों के शासक 'राजा' कहे जाते हैं। इस प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण मे साम्राज्य, भोज्य, स्वाराज्य, वैराज्य और राज्य—इन पाँच प्रकार की शासन विधियों का उल्लेख है। ये प्रणालियाँ किस किस क्षेत्र में प्रचलित थी, इसका निर्देश भी ऐतरेय ब्राह्मण मे कर दिया गया है। सम्राट् वे शासक थे, जो वंशक्रमानुगत होते हुए अपनी शक्ति के विस्तार के लिए अन्य राज्यों का मूलोच्छेद करने के लिए तत्पर रहते थे। जरासन्ध आदि मगध के सम्राट् इसी प्रकार के थे। सम्भवतः, भोज उन राजाओं की संज्ञा थी, जो वंशक्रमानुगत न होकर कुछ निश्चित समय के लिए अपने पद पर नियुक्त होते थे। सात्वत यादवों (अन्धक, वृष्णि आदि) में यह प्रथा विद्यमान थी, और हम यह जानते हैं कि वासुदेव कृष्ण इसी प्रकार के भोज, या 'संघ-मुख्य' थे। स्वराट् वे शासक थे, जिनकी स्थिति 'समानो मे ज्येष्ठ' की होती थी। इन स्वाराज्यों मे कतिपय कुलीन श्रेणियों का शासन होता था, और सब कुलों की स्थिति एक समान मानी जाती थी। समानो में ज्येष्ठ व्यक्ति को ही स्वराट् नियत किया जाता था। सम्भवत., वैराज्य जनपद वे थे, जिनमे कोई राजा नहीं होता था, जहाँ जनता अपना शासन स्वयं करती थी। कुरु, पचाल आदि मध्यदेश के जनपद 'राज्य' कहाते थे, और वहाँ प्राचीन काल की परम्परागत शासन-प्रणाली विद्यमान थी।

राजा का राज्याभिषेक—ब्राह्मण-ग्रन्थो मे राजा की राज्याभिषेक-विधि का विशदरूप से वर्णन किया गया है, और इस वर्णन से उस युग के राजाओं तथा शासन-प्रकार पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। जब किसी व्यक्ति को राजा के पद पर अधिष्ठित करना होता था, तो राजसूय-यज्ञ का अनुष्ठान किया जाता था। राजसूय-यज्ञ के बिना कोई व्यक्ति राजा नहीं बन सकता था। राजसूय से पूर्व राजा के पद पर अधिष्ठित होने वाला व्यक्ति 'रत्नियों' को हवि प्रदान करता था वा उनकी पूजा करता था।

वैदिक युग में कतिपय लोग 'राजकृतः' (राजा को बनाने वाले) होते थे, जो उसे राज-चिह्न के रूप में 'मणि' (रत्न) प्रदान किया करते थे। इस युग में राजकृतः का स्थान रत्नियों ने ले लिया था। ये रत्नी निम्नलिखित होते थे—(१) सेनानी, (२) पुरोहित, (३) राजन्य या स्वयं राजा, (४) राजमहिषी, (५) सूत, (६) ग्रामणी, (७) क्षत्ता, (८) संगृहीता, (९) भागदुघ्, (१०) अक्षवाप, (११) गोविकर्त्ता और (१२) पालागल। इन बारह रत्नियों मे से कतिपय नामों को स्पष्ट करने की आवश्यकता है। सूत राज्य-विषयक इतिवृत्त का संकलन करते थे। प्रत्येक ग्राम का एक ग्रामणी होता था, यह पहले लिख चुके हैं। बारह रत्नियों में जो ग्रामणी था, वह या तो राज्य के अन्तर्गत विविध ग्रामों के ग्रामणियों का प्रमुख था और या राज्य के मुख्य ग्राम (पुर या नगर) का ग्रामणी। राजकीय कुटुम्ब के प्रबन्धकर्त्ता को क्षत्ता कहते थे। राज्यकोष के नियन्ता की संगृहीता संज्ञा की। राज्य-कर को वसूल करने वाले प्रधान अधिकारी को भागदुघ् कहा जाता था। आय-व्यय का हिसाब रखनेवाले प्रधान अधिकारी को अक्षवाप कहते थे। जंगल-विभाग का प्रधान गोविकर्त्ता कहाता था। पालागल का कार्य राज-कीय सन्देशो को पहुँचाना होता था। मैत्रायणी संहिता में पालागल के स्थान पर तक्षा व रथकार का अन्यतम रत्नी के रूप में उल्लेख किया गया है। इसमें सन्देह नहीं, कि ब्राह्मण-युग के ये बारहों रत्नी राज्य की जनता के प्रधान व्यक्ति होते थे, और राज्या-भिषेक से पूर्व राजा इन सबको हवि प्रदान करके उनके प्रति प्रतिष्ठा की भावना को प्रदर्शित करता था। क्योंकि राजा स्वयं भी राज्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग था, अतः उसे भी रत्नियों के अन्तर्गत किया गया है।

रत्नियों द्वारा हवि प्रदान करने के अनन्तर राजसूय-यज्ञ के जो विविध अनुष्ठान होते थे, उनका यहाँ विवरण देने की आवश्यकता नहीं। पर दो बातों का उल्लेख करना आवश्यक है—(१) राजा को एक प्रतिज्ञा करनी होती थी, एक शपथ लेनी होती थी, जिसमें वह कहता था कि यदि मैं प्रजा के साथ किसी भी तरह से द्रोह करूँ, उस पर अत्याचार करूँ, तो मेरा वह सब इष्टापूर्त (शुभ कर्म) नष्ट हो जाए, जो मैं जन्म से मृत्यु पर्यन्त करता हूँ। राजा के लिए यह आवश्यक था, कि वह 'धृत-व्रत' और 'सत्यधर्मा' हो, अभिषेक के समय की हुई प्रतिज्ञा का उल्लंघन न करे। (२) प्रतिज्ञा के बाद राजा की पीठ पर दण्ड से हलका-हलका आघात किया जाता था, जिसका प्रयोजन यह था कि राजा अपने को दण्ड (व्यवस्था या कानून) से ऊपर न समझे, और उसे यह मालूम रहे कि वह जहाँ दूसरों को दण्ड दे सकता है, वहाँ उसे भी दण्ड दिया जा सकता है।

कल्प-वेदांग के अन्तर्गत धर्मसूत्रों से भी इस युग के राजा और कानून आदि के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। राजा का एक मुख्य कर्त्तव्य यह था, कि वह अपराधियों को दण्ड दे। आपस्तम्ब-धर्मसूत्र में लिखा है, कि 'यदि राजा एक दण्डनीय अपराध के लिए दण्ड नहीं देता, तो उसे भी अपराधी समझना चाहिए।' गौतम-धर्मसूत्र के अनुसार जो राजा न्यायपूर्वक दण्ड देकर अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता, उसे प्रायश्चित्त करना चाहिये। बौधायन-सूत्र के अनुसार 'यदि राजा चोर को दण्ड नहीं देता, तो चोरी का पाप राजा को लगता है।' सूत्र-ग्रन्थों के अनुसार व्यवहार या कानून का स्रोत राजा नहीं है, राजा अपनी इच्छा के अनुसार कानून नहीं बनाता।

वेद, पुराण आदि में जो नियम प्रतिपादित हैं, विविध जनपदों के जो परम्परागत चरित्र हैं, कृषकों, शिल्पियों, व्यापारियों आदि के जो व्यवहार हैं, वे ही कानून के आधार हैं। राजा को उन्हीं के अनुसार शासन करना चाहिए, और उन्हीं का पालन कराना राजा का कर्त्तव्य है। कानून का उल्लंघन करने वालों को दण्ड देने के लिए न्यायाधीशों की नियुक्ति की जाती थी। आपस्तम्ब-धर्मसूत्र के अनुसार "पूर्ण विद्वान्, पवित्र-कुलोत्पन्न, वृद्ध, तर्क में निपुण और अपने कर्त्तव्यों के पालन मे सावधान व्यक्ति को ही अभियोगों के निर्णय के लिए न्यायाधीश बनाना चाहिए।" कानून सब लोगो के लिए एक समान था, पर दण्ड देते हुए अपराधी की स्थिति को दृष्टि में रखा जाता था। गौतम-धर्मसूत्र के अनुसार यदि कोई शूद्र किसी वस्तु को चुरा ले, तो उसे उस वस्तु का आठ गुना मूल्य दण्ड के रूप मे देना होगा। पर यदि कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य कोई वस्तु चुराये, तो उसे उस वस्तु का सोलहगुना मूल्य दण्ड के रूप मे देना होगा। यदि कोई महाविद्वान् चोरी करे, तो उससे और भी अधिक जुरमाना वसूल किया जाना चाहिए। अन्य प्रकार के अपराधो के लिए भी दण्ड-व्यवस्था का विशद वर्णन धर्मसूत्रो मे किया गया है, पर यहाँ उसका उल्लेख कर सकना सम्भव नही है।

उत्तर-वैदिक काल के शासन-कार्य मे राजा को परामर्श देने के लिए और राजकीय कानूनों के निर्माण के लिए किसी राजसभा की सत्ता थी या नही, इस सम्बन्ध में कोई निश्चित निर्देश उपलब्ध नही होते। पर ऐसा प्रतीत होता है, कि वैदिक युग की सभा और समिति नामक संस्थाएँ किसी अन्य रूप मे इस समय भी विद्यमान थी। वाशिष्ठ-धर्मसूत्रों के अनुसार राजा को जहाँ मन्त्रियो के साथ परामर्श करना चाहिए, वहाँ साथ ही नागरों की भी सम्मति लेनी चाहिए। रामायण में पौर-जानपद नामक जिन संस्थाओं का उल्लेख है, उनमे से पौरसंस्था को ही शायद वाशिष्ठ-धर्मसूत्र मे नागर कहा गया है।

(५) वर्णाश्रम व्यवस्था

वर्णभेद—वैदिक युग के आर्यों मे वर्णभेद का विकास नही हुआ था, यह हम पहले प्रदर्शित कर चुके हैं। पर प्राग्-बौद्धकाल में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का भेद पर्याप्त स्पष्टरूप से विकसित हो गया था। वैदिक युग के रथेष्ठ (रथी) और राजन्य (राजपरिवार के व्यक्ति) लोगों से मिलकर क्षत्रिय वर्ग का निर्माण हुआ। यह स्वाभाविक था, कि सर्वसाधारण विशः से इसे अधिक ऊँचा माना जाय। यज्ञों के विधि-विधान जब अधिक जटिल हो गये, तो एक ऐसी पृथक् श्रेणी का विकास हुआ, जो इन अनुष्ठानों में विशेष निपुणता रखती थी। ऋत्विग्, अध्वर्यु, ब्रह्मा आदि के रूप में याज्ञिक विधियों के विशेषज्ञ जनता मे अधिक ऊँचा स्थान स्थान प्राप्त करने लगे। अरण्यों व आश्रमों में निवास करने वाले ब्रह्मवादियों और तत्वचिन्तको को भी इसी विशिष्ट वर्ग मे गिना जाने लगा, और इस प्रकार याज्ञिकों और मुनियों द्वारा एक नये वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ, जिसे ब्राह्मण कहा जाता था। ब्राह्मण और क्षत्रियों के अतिरिक्त जो सर्वसाधारण आर्य जनता थी, उसे पहले की तरह ही विशः या वैश्य कहा जाता था। इसमे सब प्रकार के शिल्पी, पशुपालक, वणिक्, कृषक् आदि सम्मिलित थे। शूद्र वर्ण आर्यविशः

से वैदिक युग में भी पृथक् था। इस प्रकार अब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चारो वर्ण आर्य जनता मे विकसित हो गये थे। जो लोग अध्ययन-अध्यापन, याज्ञिक अनुष्ठान व तत्त्वचिन्तन मे लगे रहते थे, वे ब्राह्मण कहाते थे। बाह्य और आभ्यन्तर शत्रुओं से देश की रक्षा करना और शासन-कार्य मे हाथ बटाना क्षत्रियों का कार्य था। सर्वसाधारण जनता वैश्य कहाती थी। समाज मे जो सबसे निम्न वर्ग था, और जो अन्य वर्णों की सेवा द्वारा अपना निर्वाह करता था, उसे शूद्र कहते थे। विद्या की प्राप्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण के लोग ही करते थे, इसीलिए उन्हें 'द्विज' भी कहते थे। विद्या द्वारा मनुष्य दूसरा जन्म प्राप्त करता है, यह विचार उस काल मे विद्यमान था। विद्यारम्भ के समय पर द्विज लोग यज्ञोपवीत धारण करते थे, और यह सूत्र उनके द्विजत्व का चिह्न होता था।

पर यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए, कि अभी वर्णभेद बहुत दृढ नही हुआ था। वर्णभेद का मुख्य आधार जन्म न होकर कर्म था। सारी आर्य जनता एक है, यह भावना अभी विद्यमान थी। याज्ञिक अनुष्ठान व सैनिक वृत्ति आदि की विशिष्टता के कारण ही ब्राह्मण और क्षत्रिय लोग अन्य आर्यविशः की अपेक्षा अधिक ऊँची स्थिति रखते थे। पर अभी यह दशा नही आई थी, कि ब्राह्मण और क्षत्रिय-कुल मे उत्पन्न हुए बिना कोई व्यक्ति इन वर्णों मे न जा सके। आपस्तम्ब-धर्मसूत्र के अनुसार "धर्माचरण द्वारा निकृष्ट वर्ण का व्यक्ति अपने से उत्तम वर्ण को प्राप्त करता है, और अधर्म का आचरण करने से उत्कृष्ट वर्ण का व्यक्ति अपने से निचले वर्ण मे चला जाता है।" आपस्तम्ब की यह उक्ति उस युग की वास्तविक स्थिति को सूचित करती है। राजा शन्तनु के भाई देवापि ने याज्ञिक अनुष्ठान में दक्षता प्राप्त करके ब्राह्मण-पद प्राप्त किया था, और राजन्य शन्तनु के यज्ञ कराए थे। इसी प्रकार के कितने ही उदाहरण प्राचीन अनुश्रुति मे प्राप्त होते हैं। विविध वर्णों मे विवाह-सम्बन्ध भी सम्भव था। महर्षि च्यवन ने राजन्य शर्याति की कन्या के साथ विवाह किया था। अनुलोम-विवाहों (अपने से निचले वर्ण की कन्या के साथ विवाह) की प्रथा भी प्रचलित थी। शूद्र कन्याओं को अनेक सम्पन्न पुरुष 'रामा' (रमणार्थ) के रूप में भी अपने घरो मे रखते थे। शूद्र वर्ण आर्यविशः से पृथक् था, पर फिर भी यदि कोई शूद्र विशिष्ट रूप से धार्मिक, विद्वान् व दक्ष हो, तो समाज मे उसका आदर होता था। ऐतरेय ब्राह्मण मे कथा आती है, कि ऋषि लोग सरस्वती नदी के तट पर यज्ञ कर रहे थे, उस समय ऐलूष कवष नाम का व्यक्ति उनके बीच में आ बैठा। तब ऋषियो ने कहा, यह दासी का पुत्र अब्राह्मण है, हमारे बीच में कैसे बैठ सकता है। बाद मे ऋषियों ने कहा, यह तो परम विद्वान् है, देवता लोग भी इसे जानते और मानते हैं।

चार आश्रम—प्राचीन आर्यों के सामाजिक जीवन मे आश्रमो का बहुत महत्त्व था। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—ये चार आश्रम थे। इन आश्रमो की कल्पना का आधार यह विचार था, कि प्रत्येक मनुष्य देवताओं, ऋषियों, पितरों और अन्य मनुष्यों के प्रति ऋणी होता है। सूर्य, वरुण, अग्नि आदि देवताओं का मनुष्य ऋणी होता है, क्योंकि इन्ही की कृपा से वह प्रकाश, जल, उष्णता आदि प्राप्त करता है। इनके बिना वह अपना जीवन-निर्वाह नही कर सकता। अतः मनुष्य का कर्त्तव्य है, कि

वह देवताओं की पूजा करे, यज्ञ आदि द्वारा उनके ऋण को अदा करे। अपने साथ के अन्य मनुष्यों के ऋण को अदा करने के लिए अतिथि-यज्ञ का विधान था। ऋषियों के प्रति मनुष्य का जो ऋण है, उसे चुकाने का यही उपाय था, कि मनुष्य उस ज्ञान को कायम रखे और उसमे वृद्धि करे, जो उसे पूर्वकाल के ऋषियों की कृपा से प्राप्त हुआ था। इसके लिए मनुष्य को ब्रह्मचर्य-आश्रम मे रहकर ज्ञान उपार्जन करना चाहिए, और बाद मे वानप्रस्थ-आश्रम मे प्रवेश करके अपने ज्ञान को ब्रह्मचारियों व अन्तेवासियों को प्रदान करना चाहिए। अपने माता-पिता (पितर) के प्रति मनुष्य का जो ऋण है, उसे गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करके ही अदा किया जा सकता है। गृहस्थ-धर्म से सन्तानोत्पत्ति करके अपने पितरों के वंश को जारी रखना, वंशतन्तु का उच्छेद न होने देना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य माना जाता था। संन्यास-आश्रम में प्रवेश करके मनुष्य अपने साथी मनुष्यों का उपकार करने में ही अपने सारे समय को व्यतीत करता था, और इस प्रकार वह मनुष्य-ऋण को भी अदा करता था। पर हर कोई मनुष्य संन्यासी नहीं हो सकता था। जो व्यक्ति विशेष रूप से ज्ञानवान् हो, सब प्राणियों में आत्मभावना रखने की सामर्थ्य जिसमें हो, वही संन्यासी बनकर भैक्षचर्या (भिक्षा-वृत्ति) द्वारा जीवन निर्वाह करने का अधिकारी था। संन्यासी किसी एक स्थान पर स्थिर होकर निवास नहीं कर सकता था। उसका कर्त्तव्य था, कि वह सर्वत्र भ्रमण करता हुआ लोगों का उपकार करे। इसीलिए उसे 'परिव्राजक' भी कहते थे। वानप्रस्थ लोग शहर या ग्राम से बाहर आश्रम बनाकर रहते थे, और वहाँ ब्रह्मचारियों को विद्यादान करते थे। ब्रह्मचारी अपने घर से अलग होकर वानप्रस्थी गुरुओं के आश्रमों में निवास करते थे, और गुरुसेवा करते हुए ज्ञान का उपार्जन करते थे। गृहस्थाश्रम को बहुत ऊँची दृष्टि से देखा जाता था। वशिष्ठ-सूत्र में लिखा है, कि जिस प्रकार सब बडी और छोटी नदियाँ समुद्र में जाकर विश्राम पाती हैं, उसी प्रकार सब आश्रमों के मनुष्य गृहस्थ पर ही आश्रित रहते हैं। जैसे बच्चे अपनी माता की रक्षा मे ही रक्षित रहते हैं, वैसे ही सब भिक्षुक व संन्यासी गृहस्थो की ही रक्षा में रहते हैं। गृहस्थ-आश्रम को नीचा समझने और संन्यास व भिक्षुधर्म को उत्कृष्ट समझने की जो प्रवृत्ति बौद्धयुग में विद्यमान थी, वह इस प्राचीन युग मे नहीं पाई जाती। बड़े-बड़े ऋषि, मुनि और याज्ञिक अपने तत्त्वचिन्तन व याज्ञिक अनुष्ठानों के लिए गृहस्थ-धर्म से विमुख होने की आवश्यकता इस युग मे नहीं समझते थे।

स्त्रियों की स्थिति—उत्तर-वैदिक काल मे स्त्रियाँ भी पुरुषो के समान ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन कर विद्याध्ययन करती थीं। 'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्' इस प्राचीन श्रुति से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि युवा पति को प्राप्त करने के लिए कन्याएँ भी ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन बिताती थीं, और इस समय का उपयोग ज्ञानोपार्जन के लिए करती थी। गोभिल-गृह्यसूत्र के अनुसार जब कोई कुमारी विवाह के लिए मण्डप मे आती थी, तो वह न केवल वस्त्रों से भली-भाँति आच्छादित होती थी, पर साथ ही यज्ञोपवीत को भी धारण किये होती थी। यज्ञोपवीत विद्याध्ययन का चिह्न था। स्त्रियाँ भी शिक्षा प्राप्त करती थी, इसी का यह परिणाम था, कि अनेक स्त्रियाँ परम विदुषी बन सकी थीं, और उनके ज्ञान व विद्या की उत्कृष्टता का

परिचय हमें उपनिषदों द्वारा होता है। वैदेह जनक की राजसभा में 'ब्रह्मवादिनी' स्त्रियों का भी एक दल था, जिसमें प्रमुख गार्गी थी। जनक की राजसभा मे गार्गी ने याज्ञवल्क्य के साथ शास्त्रार्थ किया था। ऐतरेय ब्राह्मण में कुमारी गन्धर्वगृहीता का उल्लेख आता है, जो परम विदुषी और वक्तृता में अत्यन्त चतुर थी। पर इसमे सन्देह नही, कि कतिपय अपवादो को छोड सर्वसाधारण स्त्रियाँ विवाह द्वारा गृहस्थ-धर्म के निर्वाह में तत्पर रहती थीं। इस युग मे माता के पद को बहुत ऊँचा और पवित्र समझा जाता था। वशिष्ठ-सूत्र में लिखा है, कि उपाध्याय की अपेक्षा दशगुण अधिक प्रतिष्ठित आचार्य है, आचार्य से सौ गुना अधिक प्रतिष्ठित पिता है, और पिता से सहस्रगुण अधिक प्रतिष्ठा-योग्य माता है। माता के पद के प्रति यह आदर की भावना इस युग की संस्कृति को एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

प्राचीन भारतीय इतिहास के अनेक विद्वानो ने मध्ययुग के भारत में स्त्रियों की हीन स्थिति को दृष्टि में रखकर यह कल्पना की है, कि प्राचीन युग मे भी उनकी सामाजिक स्थिति हीन थी। पर इस युग के साहित्य के अनुशीलन से इस मन्तव्य की पुष्टि नही होती। वैदिक और उत्तर-वैदिक युग में जहाँ स्त्रियाँ ऋषि व ब्रह्मवादिनी हो सकती थी, वहाँ सर्वसाधारण आर्य स्त्रियाँ 'उपनीत' होकर विद्याध्ययन करती थी और फिर गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करके माता के गौरवमय पद को प्राप्त करती थी। वैवाहिक जीवन में स्त्री को पुरुष की 'सहधर्मिणी' माना जाता था। विवाह के अवसर पर पति और पत्नी दोनो ही कतिपय प्रतिज्ञाएँ करते थे, जिनका प्रयोजन एक दूसरे के प्रति कर्त्तव्यो का पालन करते रहने का निश्चय करना होता था। पति या पत्नी बिना किसी असाधारण कारण के अपने जीवनसाथी का परित्याग नहीं कर सकते थे। आपस्तम्ब-सूत्र मे लिखा है, कि जिस पति ने अन्याय से पत्नी का परित्याग किया हो, वह गधे का चमडा ओढकर प्रतिदिन सात गृहो मे यह कहते हुए भिक्षा मांगे, कि उस पुरुष को भिक्षा प्रदान करो, जिसने अपनी पत्नी तो त्याग दिया है। इसी प्रकार की भिक्षा से वह पुरुष छः मास तक अपना निर्वाह करे। नि.स्संदेह यह एक भयंकर दण्ड था, जो इस युग मे पत्नी के साथ अन्याय करने वाले पुरुष को दिया जाता था।

(६) आर्थिक जीवन

वैदिक युग के समान प्राग्-बौद्ध युग में भी आर्यों के आर्थिक जीवन का मुख्य आधार कृषि था। आर्य विशः का बड़ा भाग अब भी कृषि द्वारा अपना निर्वाह करता था। जमीन को जोतने के लिए हलों का प्रयोग होता था, जिन्हे खीचने के लिए बैल काम में लाये जाते थे। खेती द्वारा उत्पन्न किए जाने वाली फसलो में जौ, गेहूँ, चावल, दाल और तिल प्रमुख थे। इस युग में आर्यों का विस्तार सिन्धु नदी और गंगा नदी की घाटियों में भली-भाँति हो चुका था, और सिन्धु, गंगा तथा उनकी सहायक नदियों के उपजाऊ प्रदेश में बसे हुए आर्य लोग कृषि द्वारा अच्छी समृद्ध दशा में आ गये थे। पशुपालन को भी इस युग में बहुत महत्त्व दिया जाता था। वैदेह जनक ने अपनी राज-सभा में एकत्र विद्वानों में से सर्वश्रेष्ठ विद्वान् को पुरस्कृत करने के लिए सहस्र गौओं को ही चुना था। इस युग के समृद्ध लोग गौओं को बहुत बड़ी संख्या में अपने पास रखते

थे। दूध-घी के लिए जहां उनका उपयोग था, वहां साथ ही खेती की दृष्टि से भी उनका बहुत महत्त्व था। खेती के अतिरिक्त अनेक शिल्पों का भी इस युग में विकास हुआ। जुलाहे, रंगरेज, रज्जुकार, रजक, सुवर्णकार रथकार, गोप, व्याध, कुम्हार, लोहार, नर्तक, गायक, पाचक आदि कितने ही प्रकार के शिल्पी इस युग में अपने-अपने शिल्प व व्यवसाय के विकास में तत्पर थे। धातुओं के ज्ञान की वृद्धि के कारण इस काल मे औद्योगिक जीवन भली-भाँति उन्नति कर गया था। वैदिक काल के आर्यों को प्रधानतया सुवर्ण और अयस् का ज्ञान था, पर इस युग के आर्य त्रपु (टिन), ताम्र, लौह, रजत, हिरण्य और सीसे का भी प्रयोग करते थे, यह बात असंदिग्ध है। सुवर्ण और रजत का प्रयोग मुख्यतया आभूषणों और बरतनो के लिए होता था, पर अन्य धातुएँ उपकरण बनाने के काम में आती थीं। सम्भवतः, इस युग में वस्तुओं के विनिमय के लिए सिक्के का भी प्रयोग होने लगा था। अथर्ववेद में सुवर्ण निर्मित जिस निष्क का उल्लेख है, वह आभूषण था या सिक्का—इस सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है। पर उत्तर-वैदिक काल मे निष्क का प्रचलन सिक्के के रूप में अवश्य था। शायद इसी को शत-मान कहते थे। वैदेह जनक ने याज्ञवल्क्य ऋषि को जो एक हजार गौवें पुरस्कार के रूप में दी थी, उनके सींगों के साथ दस-दस स्वर्णपाद बंधे हुए थे। ये 'पाद' निष्क सिक्के का चौथाई भाग ही था। इसमें सन्देह नही कि इस युग में वस्तु-विनिमय (बार्टर) का स्थान सिक्के द्वारा विनिमय ने ले लिया था, और सुवर्ण का सिक्के के निर्माण के लिए प्रयोग होने लगा था।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस युग के व्यापारी, कृषक, शिल्पी आदि अनेक प्रकार की श्रेणियों (गिल्ड) मे भी सगठित होने लगे थे। बौद्ध-साहित्य के अन्तर्गत जो जातक-कथाएँ मिलती है, उनसे 'श्रेणी' संस्था का भली-भाँति परिचय मिलता है। स्मृति-ग्रन्थो और धर्म-शास्त्रो मे भी श्रेणियो का उल्लेख आता है। इन श्रेणियों के विकसित होने मे अवश्य समय लगा होगा, और इनका विकास उत्तर-वैदिक युग मे ही प्रारम्भ हो गया होगा।

उत्तर-वैदिक युग का साहित्य प्रधानतया धर्मपरक है। इसीलिए उसके आधार पर इस युग के आर्थिक जीवन के सम्बन्ध मे अधिक परिचय हमे प्राप्त नहीं होता। बौद्ध-युग के शुरू होने पर भारत की जो आर्थिक दशा थी, उसपर हम अधिक विस्तार से प्रकाश डालेंगे, क्योकि बाद के साहित्य में इस सम्बन्ध मे पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है।

(७) रामायण और महाभारत

जिस प्रकार प्राचीन आर्यों की धार्मिक अनुश्रुति और परम्परा वेदो, ब्राह्मण-ग्रन्थो और उपनिषदो मे संगृहीत है, वैसे ही उनकी ऐतिहासिक गाथाएँ, आख्यान और अनुश्रुति रामायण, महाभारत और पुराणो में संगृहीत है। इन ग्रन्थों की रचना किसी एक समय मे या किसी एक लेखक द्वारा नहीं हुई। वस्तुतः, ये एक सुदीर्घ काल तक निरन्तर विकसित होते रहे। वैदिक युग के ऋषियों ने जो सूक्तियाँ कही, वे गुरु-शिष्य-परम्परा द्वारा 'श्रुति' के रूप में कायम रही। बाद मे महर्षि वेदव्यास ने उन सबको संगृहीत कर 'संहिता' के रूप मे संकलित कर दिया। इसी प्रकार प्राचीन आर्यों

के विविध राजाओं, विजेताओं, वीर पुरुषों और अन्य नेताओं के वीर कृत्यों व आख्यानों का गान उस काल के सूत और मागध लोग निरन्तर करते रहे। ये आख्यान भी विविध सूत व मागध-परिवारों में पिता-पुत्र-परम्परा द्वारा कायम रहे। बाद में इन सबको भी एकत्र कर लिया गया। वैदिक संहिताओं के समान पुराणों और महाभारत का कर्त्ता व संकलयिता भी वेदव्यास को माना जाता है। वस्तुतः, वेदव्यास इनके कर्त्ता व रचयिता नहीं थे। उन्होंने जैसे वैदिक श्रुति का संकलन किया, वैसे ही प्राचीन आख्यानों और राजकुलसम्बन्धी अनुश्रुति का भी संकलन किया था। महाभारत का वर्तमान रूप तो सम्भवतः ईसवी सन् के प्रारम्भ होने से कुछ समय पहले का ही है, पर उसमें जो गाथाएँ व आख्यान संकलित हैं, वे बहुत प्राचीन हैं। सम्भवतः, वे वैदिक युग से ही परम्परागतरूप से चले आते थे। इसीलिए उनसे भी भारत के प्राचीन राजवंशों और उनके समय के सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में बहुत कुछ सही चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है।

महाभारत—वेदव्यास द्वारा संकलित व प्रोक्त महाभारत बहुत विशाल ग्रन्थ है। इसे काव्य न कहकर ऐतिहासिक गाथाओं का संग्रह कहना अधिक उपयुक्त होगा। इस समय महाभारत नाम से जो ग्रन्थ उपलब्ध होता है, इसके श्लोकों की संख्या एक लाख के लगभग है। इसीलिए उसे 'शतसाहस्री संहिता' भी कहते हैं। पर महाभारत का मूल ग्रन्थ इतना विशाल नहीं था। समय-समय पर उसमें नए आख्यानों का समावेश होता रहा। प्रारम्भ मे महर्षि व्यास ने अपने शिष्य वैशम्पायन के सम्मुख इस कथा का प्रवचन किया था। व्यास के इस मूलग्रन्थ का नाम 'जय' था। वैशम्पायन ने पाण्डव अर्जुन के पोते जनमेजय के सम्मुख जिस महाभारत का प्रवचन किया, उसकी श्लोक सख्या २४,००० थी। इसे 'चतुर्विंशति-साहस्री भारत-संहिता' कहते थे। महाभारत का तीसरा संस्करण भार्गववंशी कुलपति शौनक के समय में हुआ। उस समय उसमे बहुत-से नए आख्यान व उपाख्यान जोड दिए गए। साथ ही, शिव, विष्णु, सूर्य, देवी आदि के प्रति भक्ति के भी अनेक प्रकरण उसमें सम्मिलित कर लिए गए। अध्यात्म-धर्म और राजनीति-विषयक अनेक संवाद भी उसमें शामिल हुए। इन सबके कारण महाभारत का कलेवर बहुत बढ गया, और वह 'चतुर्विंशति-साहस्री-भारतसंहिता' न रहकर 'शतसाहस्री संहिता' बन गयी। ईसवी सन् के प्रारम्भ होने से कुछ समय पूर्व ही महाभारत ग्रन्थ अपने वर्तमान रूप को प्राप्त कर चुका था।

महाभारत में कुल अठारह पर्व हैं। यद्यपि इस महाकाव्य का प्रधान विषय कौरवों और पाण्डवों के उस महायुद्ध का वर्णन करना है, जो कुरुक्षेत्र के रणक्षेत्र में लड़ा गया था, और जिसमे भारतवर्ष के सैकड़ों राजा अपनी सेनाओं के साथ सम्मिलित हुए थे। तथापि प्रसगवश उसमे भारत की प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति, तत्त्वज्ञान, धर्मशास्त्र, राजधर्म और मोक्षशास्त्र का भी इतने विशद रूप से समावेश है, कि उसे प्राचीन भारतीय ज्ञान का विश्वकोष समझना अधिक उपयुक्त होगा।

महाभारत का शान्तिपर्व भारतीय राजधर्मशास्त्र और मोक्षशास्त्र का अपूर्व ग्रन्थ है। शरशय्या पर पड़े हुए भीष्म विविध विषयों पर प्रवचन करते हैं। उनके

शिष्य, भक्त और अनुयायी उनसे विविध प्रकार के प्रश्न उनसे पूछते हैं, और तत्त्वज्ञानी भीष्म उनका उत्तर देते हैं।

भगवान् कृष्ण की 'भगवद्गीता' भी महाभारत का ही एक अंग है। कुरुक्षेत्र के मैदान में कौरवों और पाण्डवों की सेनाएँ जब युद्ध के लिए एकत्र थी, तो पाण्डवों के सेनापति अर्जुन के हृदय में वैराग्य उत्पन्न होने लगा। अर्जुन ने देखा कि उसके गुरुजन, निकट सम्बन्धी और मित्र शत्रुरूप से उसके सम्मुख उपस्थित हैं। उसने विचार किया कि इन गुरुजनों व प्रियजनों पर हथियार चलाना कितना अनुचित है। इस दशा में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के सम्बन्ध में जो उपदेश दिया, वही 'गीता' के रूप मे संगृहीत है। तत्त्वज्ञान और धर्म की दृष्टि से गीता संसार की सबसे उत्कृष्ट और अद्भुत पुस्तक है। वैदिक युग से भारत में ज्ञान और तत्त्वचिन्तन की जो लहर प्रारम्भ हुई थी, श्रीकृष्ण ने उसे चरम सीमा तक पहुँचा दिया था। गीता में कृष्ण का यही तत्त्वज्ञान संगृहीत है, और किंकर्तव्यविमूढ अर्जुन के सदृश वर्तमान युग के भी करोड़ों नर-नारी उससे कर्तव्य और अकर्तव्य मे विवेक कर सकते हैं।

रामायण—इक्ष्वाकुवंश के राजा रामचन्द्र का वृत्तान्त रामायण मे बड़े विस्तार के साथ वर्णित है। इसकी रचना महर्षि वाल्मीकि ने की थी। वाल्मीकि संस्कृत-भाषा के आदिकवि माने जाते हैं, और उनके इस काव्य को संस्कृत का आदिकाव्य कहा गया है। रामायण की कथा को लेकर संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी आदि भाषाओं मे हजारों पुस्तकें लिखी गई हैं। शायद ही कोई ऐसा भारतीय हो, जो राम की कथा से अपरिचित हो। राम का चरित्र ही ऐसा था, कि आर्य-जाति उसे कभी भूला नहीं सकती। राम आदर्श पुत्र, आदर्श भाई और आदर्श पति थे। रामायण का प्रत्येक चरित्र आदर्श है। कौशल्या-जैसी माता, लक्ष्मण-जैसा भाई, सीता-जैसी पत्नी, हनुमान-जैसा सेवक और राम-जैसा प्रजापालक राजा संसार के साहित्य मे अन्यत्र ढूंढ सकना कठिन है।

रामायण-महाकाव्य जिस रूप से आजकल उपलब्ध होता है, वह अविकल रूप से महर्षि वाल्मीकि की रचना नही है। इसमे सन्देह नही, कि प्रारम्भ मे वाल्मीकि ने राम के चरित्र को काव्यरूप मे लिखा था। बाद मे उसी के आधार पर रामायण की रचना हुई। सम्भवतः, रामायण का काव्य ५०० ई० पू० के लगभग मे बना था। वह महात्मा बुद्ध के प्रादुर्भाव से पूर्व निर्मित हो चुका था, और उसमे आर्यों के जिस जीवन व संस्कृति का वर्णन है, वह प्राग्-बौद्धकालीन भारत के साथ सम्बन्ध रखती है। पाँचवी सदी ई० पू० के बाद भी वाल्मीकि-रामायण में अनेक नए आख्यान जुड़ते गए, और यह महाकाव्य जिस रूप में आजकल उपलब्ध होता है, उसे उसने दूसरी सदी ई० पू० तक ग्रहण कर लिया था। पर इसमे सन्देह नही, कि महाभारत के समान रामायण भी बुद्ध के प्रादुर्भाव से पूर्व के युग की सभ्यता और संस्कृति पर प्रकाश डालती है।

रामायण और महाभारत का काल एक नहीं है, और न ही ये दोनों महाकाव्य किसी एक युग की कथा को उल्लिखित करते हैं। इनकी प्रधान कथाओं के काल में कई सदियों का अन्तर है। पर ये दोनों ग्रन्थ उस युग की दशा पर प्रकाश डालते हैं, जबकि आर्य लोग भारत में भली-भाँति बस चुके थे, और जब कि उनके धर्म, सभ्यता

और समाज ने एक स्थिर रूप धारण कर लिया था। वैदिक युग के बाद की और बौद्ध-युग के पूर्व की भारतीय संस्कृति के स्वरूप को समझने के लिए इन दो महाकाव्यों से बढ़कर कोई अन्य साधन हमारे पास नहीं है। पर इस प्रसंग में यह ध्यान मे रखना चाहिए, कि इन ऐतिहासिक महाकाव्यों और विशेषतया महाभारत के अनुशीलन द्वारा सभ्यता और संस्कृति का जो चित्र उपस्थित होता है, वह किसी एक समाज को चित्रित नहीं करता। इस युग तक भारत मे बहुत-से छोटे-बड़े राज्य स्थापित हो चुके थे। वैदिक युग के आर्य भारत के विविध प्रदेशो मे बस गए थे, और इस देश के आदि-निवासियो के सम्पर्क में आकर उनकी विविध शाखाओ ने अपनी पृथक्-पृथक् सामाजिक दशाओं व संस्कृतियों का विकास प्रारम्भ कर दिया था। यही कारण है, कि महाभारत जैसे विशाल महाकाव्य के विविध प्रसंगो में विविध प्रकार के जीवन व विचारो की उपलब्धि होती है।

(८) सामाजिक दशा

स्त्रियों की स्थिति—रामायण और महाभारत के अध्ययन से स्त्रियों की स्थिति के विषय मे अनेक प्रकार के विचार उपलब्ध होते हैं। ऐक्ष्वाकव-राजा दशरथ का तीन स्त्रियो से विवाह करना सूचित करता है, कि इस युग मे बहु-विवाह की प्रथा प्रचलित थी। महाभारत की कथा मे द्रौपदी के पाँच पति थे। युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव—इन पाँचो पाण्डवो ने द्रौपदी के साथ विवाह किया था। इससे सूचित होता है, कि उस समय बहुपति-विवाह की प्रथा भी कुछ वशो व जातियों में विद्यमान थी। भीम और अर्जुन ने द्रौपदी के अतिरिक्त अन्य भी अनेक स्त्रियों से विवाह किया हुआ था। इसमे प्रगट है, कि भारत के पारिवारिक जीवन मे इस समय बहुत अन्तर आ गया था। रामचन्द्र का वनवास अन्तःपुर के षड्यन्त्र का परिणाम था। जनता की इच्छा के विपरीत कैकेयी इस बात मे सफल हुई, कि लोकप्रिय युवराज रामचन्द्र को राजगद्दी से दूर रख सके। पाण्डवों का वनवास द्यूत-क्रीड़ा का परिणाम था। जूए के दाव पर पाण्डव लोग न केवल अपनी राज्य-सम्पत्ति को ही हार गए, अपितु अपनी पत्नी द्रौपदी को भी जूए के दाँव पर रखने मे उन्हे संकोच नही हुआ। कौरवों ने द्रौपदी का राजसभा में खुले तौर पर अपमान किया, उसका चीर-हरण तक किया। इससे प्रगट है, कि इस युग के भारतीय समाज में स्त्रियों की वह उच्च स्थिति नहीं रह गयी थी, जो कि वैदिक काल में थी। यही कारण है, कि जब कतिपय महिलाओं ने महात्मा बुद्ध की शिष्या बनकर भिक्षुव्रत ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की, तो उन्होने उसे स्वीकार करने में संकोच अनुभव किया। यह बुद्ध की प्रतिभा और सुधारवृत्ति का परिणाम था, जो उन्होंने स्त्रियो को भिक्षुणी बनाना स्वीकार कर उनके लिए एक पृथक् संघ की व्यवस्था की।

विवाह के विविध प्रकार—महाभारत व उत्तर-वैदिक युग के अन्य साहित्य में आठ प्रकार के विवाहो का उल्लेख आता है—(१) ब्राह्मविवाह—जब पिता अपनी कन्या को वस्त्र और आभूषणों से सुसज्जित कर किसी योग्य वर को प्रदान करे, तो इस प्रकार के विवाह को 'ब्राह्म' कहा जाता था। (२) प्राजापत्य-विवाह—जब वर

और कन्या का विवाह प्राजापत्य-धर्म की वृद्धि (सन्तानोत्पत्ति) के लिए किया जाए, और पिता इसी उद्देश्य में किसी योग्य वर को अपनी कन्या प्रदान करे, तो उसे 'प्राजापत्य' विवाह कहते थे। (३) आर्ष-विवाह—इसमें वर की ओर से कन्या को गौ आदि भेंट मे देनी होती थी। वधू की प्राप्ति के लिए वर कन्या-पक्ष को दक्षिणा देता था। (४) दैव यज्ञ में ऋत्विक् का कर्म करते हुए जामाता को अलंकार आदि से विभूषित कन्या प्रदान करके जो विवाह किया जाता था, उसे 'दैव' कहते थे। (५) आसुर—कन्यापक्ष को भरपूर धन देकर सन्तुष्ट कर कन्या प्राप्त करके जो विवाह होता था, वह 'आसुर' कहाता था। (६) गान्धर्व—परस्पर स्वछन्द प्रेम के कारण वर और कन्या अपनी इच्छा से जो विवाह करते थे, उसे 'गान्धर्व' कहते थे। (७) राक्षस—कन्या का जबर्दस्ती अपहरण कर जो विवाह होता था, वह 'राक्षस' कहाता था। (८) पैशाच—मद्य आदि के सेवन से मस्त हुई कन्या से विवाह सम्बन्ध स्थापित कर लेने पर ऐसे विवाह को 'पैशाच' कहते थे।

इन आठ प्रकार के विवाहों मे से पहले चार विवाह धर्मानुकूल माने जाते थे। पिछले चार विवाह आर्य-मर्यादा के विरुद्ध थे, पर क्योंकि उनका भी इस युग मे प्रचलन हो गया था, अतः उन्हे कानून की दृष्टि से स्वीकार्य मान लिया गया था।

बाल-विवाह—महाभारत के काल मे भारत मे बाल-विवाह की प्रथा का भी प्रारम्भ हो गया था। अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु का विवाह सोलह वर्ष की आयु मे हुआ था। अनुशासन पर्व में भीष्म ने व्यवस्था दी है, कि ३० वर्ष की आयु का पुरुष १० वर्ष की कन्या से विवाह कर सकता है, और २१ वर्ष का पुरुष ७ वर्ष की बालिका के साथ विवाह कर सकता है। (अनु० ४४।१२)

नियोग—इस काल मे नियोग की प्रथा भी प्रचलित थी। नियोग के विषय में महाभारत मे कहा गया है, कि "पति के मर जाने पर स्त्री देवर के साथ नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर सकती है।" (अनुशासन पर्व ४४।५०, ५१)। महाभारत मे नियोग के अनेक दृष्टान्त भी उपलब्ध होते है। यदि पति जीवित हो, तो भी स्त्री पति की अनुमति से नियोग कर सकती थी। पाण्डवों की माता कुन्ती ने युधिष्ठिर आदि जो पुत्र उत्पन्न किए थे, वे नियोग द्वारा ही उत्पन्न हुए थे।

परदे की प्रथा—वैदिक युग मे परदे की प्रथा नही थी। पर महाभारत के काल मे इसका भी सूत्रपात हो गया था। महाभारत के स्त्रीपर्व में पति पुत्र आदि की मृत्यु के शोक मे युद्ध-भूमि में रोती हुई स्त्रियों के सम्बन्ध में लिखा है, कि "जिन स्त्रियों को पहले देवता भी नही देख सकते थे, वे आज सब लोगों के सम्मुख रोती हुई दीख पड रही है।" इसी प्रकार महाभारत के शल्यपर्व (२६।७४) में दुर्योधन की स्त्रियो को 'असूर्यम्पश्या' (जिन्हे सूर्य तक भी न देख सके) कहा गया है।

जाति-भेद—इस युग में जातिभेद भी पहले की अपेक्षा अधिक विकसित हो गया था। ब्राह्मण और क्षत्रियवर्ग सर्वसाधारण जनता (विशः) से स्पष्ट रूप से पृथक् हो गए थे। ब्राह्मणों की उत्कृष्टता और पवित्रता की भावना सर्वसम्मत रूप से स्वीकृत कर ली गई थी। समाज को चार वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) में विभक्त करके उनके सम्बन्ध मे यह विचार विकसित हो गया था, कि विविध वर्णों

के लोगों को अपने-अपने 'स्वधर्म' में स्थिर रहना चाहिए। समाज का कल्याण इसी बात में है, कि सब लोग अपने धर्म (कार्य) पर स्थिर रहें, और परधर्म का अनुसरण करने का यत्न न करें। 'स्वधर्म' के पालन से ही मनुष्य स्वर्ग और मोक्ष को प्राप्त कर सकता है—यह विचार इस युग में भली-भाँति विकसित हो गया था। शूद्र का कार्य अन्य तीन वर्णों की सेवा करना है। यदि वह पूरी तरह लगन के साथ अन्य वर्णों के लोगों की सेवा करता रहे, तो 'स्वधर्म' के पालन द्वारा वह भी अपने जीवन के परम लक्ष्य (स्वर्ग और मोक्ष) को प्राप्त कर सकता है, यह विचार इस युग में बहुत बल पकड़ चुका था।

पर वर्णों का यह विभाग पूर्णतया जन्म पर भी आश्रित था, यह बात सही नहीं है। महाभारत में यह विचार भी उपलब्ध होता है, कि चारों वर्णों की सृष्टि गुण और कर्म के अनुसार ही की गई है। उसी व्यक्ति को ब्राह्मण समझा जाता था, जिसने काम, क्रोध आदि को वश में करके इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली हो, और जो यज्ञ-कर्म व पठन-पाठन में रत हो। यद्यपि ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णों के सम्बन्ध में गुणकर्म का विचार अब तक भी विद्यमान था, पर कतिपय लोग ऐसे भी थे, जो अपने वर्ण के कर्म से विमुख होने पर भी ब्राह्मण-सदृश उच्च स्थिति को प्राप्त किये हुए थे। वर्ण-व्यवस्था का जो विकृत रूप बाद के इतिहास मे दृष्टिगोचर होता है, उसका सूत्र-पात इस युग मे हो गया था। ब्राह्मण के लिए यह आदर्श माना जाता था, कि वह धन का दास न हो, त्याग और अकिंचनता को ही अपना ध्येय समझे। पर महाभारत मे द्रोणाचार्य और कृपाचार्य जैसे ब्राह्मणों के मुख से यह कहलवाया गया है, कि "धन मनुष्य का दास नही है, अपितु मनुष्य ही धन का दास है। यही बात सत्य है। कौरवों ने धन द्वारा ही हमे बाँध लिया है।" (आदि पर्व ४३।५७)। द्रोणाचार्य जैसे ब्राह्मणों का धन का दास होना इस युग में सम्भव हो गया था, यद्यपि यह बात पुराने वैदिक युग के सम्बन्ध मे नही कही जा सकती।

दास-प्रथा—महाभारत मे अनेक स्थानों पर दास-दासियों का भी उल्लेख आता है। विशेषतया, स्त्रियों को दासी के रूप में रखने और उन्हे दूसरो को दान में दे देने की प्रथा उस समय भली-भाँति विकसित हो चुकी थी। ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा देते हुए दासियों के प्रदान का महाभारत मे अनेक स्थानो पर वर्णन है।

(९) भारत के छः आस्तिक दर्शन

दर्शन-शास्त्र का विकास किस प्रकार हुआ, इसका उल्लेख इसी अध्याय मे ऊपर संक्षिप्त रूप से किया जा चुका है। पर इस विषय पर अधिक विशद रूप से प्रकाश डालना आवश्यक है, क्योंकि इन दर्शन-शास्त्रो का प्राचीन भारतीय संस्कृति और जीवन में बहुत अधिक महत्त्व है।

जिस समय प्राचीन भारत में याज्ञिक कर्मकाण्ड और धार्मिक अनुष्ठानो का विकास हो रहा था, उसी समय अरण्यों मे विद्यमान ऋषि-आश्रमो में अध्यात्म-चिन्तन और दर्शन-शास्त्रो का विकास जारी था। ब्राह्मण-ग्रन्थो के आरण्यक भाग व उपनिषदें इसी चिन्तन के परिणाम थे। पर कुछ विद्वान् मुनि केवल अध्यात्म-सम्बन्धी चिन्तन

और मनन से ही सन्तुष्ट नहीं थे। वे यह प्रयत्न भी कर रहे थे, कि प्रकृति और परमात्मा सम्बन्धी रहस्यों का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करें। सृष्टि किस तत्त्व या तत्त्वों से बनी, संसार में कुल पदार्थ कितने हैं, पदार्थों का ज्ञान ठीक-ठीक किन प्रकारों से हो सकता है, सत्यासत्य का निर्णय करने के लिए कौन-सी कसौटियाँ या प्रमाण है—इन प्रश्नों पर इन मुनियों ने बाकायदा विचार शुरू किया, और इसी का परिणाम यह हुआ, कि भारत मे अनेक दर्शन-शास्त्रों का विकास हो सका। ये दर्शन दो प्रकार के हैं—आस्तिक और नास्तिक। आस्तिक दर्शन वे हैं, जो वेदों को मानते हैं। नास्तिक दर्शन वेदों पर विश्वास नहीं करते। जैन और बौद्ध दोनों वेदों को नही मानते। उन्होने जिन दर्शनों का विकास किया, वे नास्तिक कहाते है। उनसे भी पहले चार्वाक लोग वेदों को न मानते हुए स्वतन्त्र रूप से दर्शन-तत्त्व पर विचार कर रहे थे। उनका दर्शन भी नास्तिक-दर्शन गिना जाता है। पर जैन और बौद्धों से पहले भारत के प्रायः सभी प्रमुख विचारक वेदों को सत्यज्ञान और प्रमाण के रूप मे स्वीकार करते थे। इसीलिये उस समय चार्वाक-दर्शन को छोडकर अन्य जिन दर्शनो का विकास हुआ, वे सब आस्तिक थे। आस्तिक दर्शन छः है—न्याय, वैशेपिक, साख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त। हम इनपर क्रमशः विचार करेंगे।

न्याय-दर्शन—न्याय-दर्शन का प्रधान लक्ष्य यह निश्चित करना है कि सही-सही ज्ञान की प्राप्ति के लिए कितने और कौन-कौन-से प्रमाण हैं। प्रमाण चार हैं, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। जिस बात को हम स्वय साक्षात् रूप मे जानें, वह प्रत्यक्ष है। ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच हैं, आँख, नाक, कान, जिह्वा और त्वचा। जब किसी इन्द्रिय का उसके विषय (अर्थ) से सीधा सम्पर्क (सन्निकर्ष) होता है, तो उस विषय के सम्बन्ध में हमें ज्ञान होता है। यही ज्ञान प्रत्यक्ष है। हम कोई बात आँख से देखते हैं, कान से सुनते हैं, नाक से सूँघते हैं, जिह्वा से किसी रस का स्वाद लेते हैं, त्वचा के स्पर्श से किसी को जानते हैं, तो हमारा यह ज्ञान प्रत्यक्ष कहाता है। जब किसी वस्तु को हम प्रत्यक्ष रूप से नही जानते, अपितु किसी हेतु द्वारा उसे जानते हैं, तो वह ज्ञान हमे अनुमान द्वारा होता है। हमने दूर पहाड की चोटी पर धुँआ उठता हुआ देखा। इस हेतु से हमने अनुमान किया कि वहाँ अग्नि है। क्योंकि जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य होती है। बिना अग्नि के धुआँ नही हो सकता। अतः धुएँ की सत्ता से हमने अग्नि की सत्ता का अनुमान किया। इस प्रकार के ज्ञान को अनुमान कहा जाता है। जब किसी जानी हुई वस्तु के सादृश्य (साधर्म्य) से हम न जानी हुई वस्तु को जानते है, तो उसे उपमान कहते हैं। एक आदमी गौ को अच्छी तरह जानता है, पर गवय (चवर गौ) को नही जानता। उसे कहा जाता है कि गवय भी गाय के सदृश होती है। वह जंगल मे एक पशु को देखता है, जिसकी आकृति आदि गाय के सदृश है। इससे वह समझ लेता है कि यह पशु गवय है। इस प्रकार जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसे उपमान कहते है। पर बहुत-सी वस्तुएँ ऐसी है, जिन्हे हम प्रत्यक्ष, अनुमान या उपमान द्वारा नही जान सकते। उन्हे जानने का साधन केवल शब्द है। राजा अशोक भारत मे शासन करता था और उसने धर्मविजय की नीति का अनुसरण किया था, यह बात हम केवल शब्द द्वारा जानते है। भूमण्डल के उत्तरी भाग मे ध्रुव

है, जो सदा बरफ से आच्छादित रहता है, यह बात भी हमें केवल शब्द द्वारा ज्ञात हुई है। इसी प्रकार की कितनी ही बातें हैं, जिनके ज्ञान का आधार शब्द प्रमाण के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।

ज्ञान के आधारभूत जो ये विविध प्रमाण हैं, इनका खूब विस्तार से विवेचन न्याय-दर्शन में किया गया है। ज्ञान के इन साधनों का विवेचन करके फिर न्याय-दर्शन में संसार के विविध तत्त्वों का निरूपण कराने का प्रयत्न किया गया है। न्याय के अनुसार मूल पदार्थ या तत्त्व तीन हैं, ईश्वर, जीव और प्रकृति। जीवात्मा शरीर से भिन्न है। चार्वाक लोग शरीर और जीवात्मा में कोई भेद नहीं मानते थे। उनका कहना था, कि मृत्यु के साथ ही प्राणी की भी समाप्ति हो जाती है। पर नैयायिकों ने इसका खण्डन करके यह सिद्ध किया, कि जीवात्मा की पृथक् सत्ता है, और वह शरीर, मन व बुद्धि से भिन्न एक स्वतन्त्र तत्त्व है। इसी प्रकार ईश्वर और प्रकृति के स्वरूप का भी न्याय-दर्शन में बड़े विस्तार के साथ विवेचन किया गया है।

न्याय-दर्शन के प्रवर्तक महर्षि गौतम थे। उन्होंने सूत्ररूप में न्याय-दर्शन की रचना की। गौतम विरचित इन न्याय-सूत्रों पर वात्स्यायन मुनि ने विस्तृत भाष्य लिखा। न्याय-दर्शन के मूलग्रन्थ गौतम द्वारा विरचित सूत्र और उनपर किया गया वात्स्यायन-भाष्य ही हैं। बाद में न्याय-दर्शन-सम्बन्धी अन्य अनेक ग्रन्थ लिखे गये। सातवीं सदी में आचार्य उद्योतकर ने 'न्याय-वार्तिक' लिखा, जो वात्स्यायनभाष्य की व्याख्या के रूप में है। फिर वाचस्पति मिश्र ने उसके ऊपर 'तात्पर्यटीका' लिखी। इस तात्पर्य टीका की व्याख्या उदयनाचार्य ने 'तात्पर्य-परिशुद्धि' नाम से की। इस प्रकार न्याय-दर्शन का निरन्तर विकास होता गया। इसमें सन्देह नहीं, कि न्यायदर्शन के रूप में भारत के आर्यों ने एक ऐसे ज्ञान को विकसित किया, जिसके द्वारा पदार्थों के ज्ञान व सत्यासत्य-निर्णय में बड़ी सहायता मिलती है।

वैशेषिक-दर्शन—वैशेषिक-दर्शन के अनुसार ज्ञान के चार साधन हैं, प्रत्यक्ष, लैंगिक (अनुमान), स्मृति और आर्षज्ञान। ज्ञानेन्द्रियों, मन और आत्मा द्वारा जो ज्ञान होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते है। लैंगिक ज्ञान चार प्रकार से होता है—अनुमान से, उपमान से, शब्द से और ऐतिह्य से। ऐतिह्य का अभिप्राय अनुश्रुति से है। पहले जानी हुई वस्तु की याद (स्मृति) से जो ज्ञान होता है, उसे स्मृति कहते हैं। यह भी ज्ञान का साधन है। आर्षज्ञान वह है, जो ऋषियों ने अपनी अन्तर्दृष्टि से प्राप्त किया था। हम कितनी ही बातों को केवल इस आर्षज्ञान द्वारा ही जानते हैं।

वैशेषिक के अनुसार संसार के कुल पदार्थ सात भागों में बाँटे जा सकते हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, विशेष, सामान्य, समवाय और अभाव। पदार्थ का अभिप्राय है, ज्ञान का विषय। संसार की प्रत्येक सत्ता या प्रत्येक ज्ञातव्य (जिसे हम जान सकें) वस्तु को इन सात भागों के अन्तर्गत किया जा सकता है।

द्रव्य नौ प्रकार के होते है—पृथिवी, जल तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन। इन नौ में से पहले पाँच वे हैं, जिन्हें पंचमहाभूत कहा जाता है। काल और दिशा (Time and space) ऐसे द्रव्य हैं, जिनसे बाहर विश्व की कोई भौतिक सत्ता कल्पित ही नहीं की जा सकती। आत्मा और मन ऐसी सत्ताएँ है, जिनका

सम्बन्ध भौतिक पदार्थों से नही है। पृथिवी, जल आदि पाँच द्रव्य भौतिक हैं, और इनका निर्माण परमाणुओं द्वारा हुआ है। परमाणु नित्य और शाश्वत है। वह तत्त्व जिसका विभाग नही किया जा सकता, परमाणु कहाता है। परमाणुओ के संयोग से ही पृथिवी, जल आदि द्रव्यों का निर्माण होता है।

वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक कणाद मुनि थे। उन्होने वैशेषिक सूत्रो की रचना की। उनपर आचार्य प्रशस्तपाद ने अपना भाष्य लिखा। वैशेषिक दर्शन के मूल प्रामाणिक ग्रन्थ ये ही हैं। बाद मे इनपर व्योमशिखाचार्य ने 'व्योमवती' तथा उदयनाचार्य ने 'किरणावली' नाम की टीकाएँ लिखी। श्रीधराचार्य की 'न्यायकन्दली' तथा वल्लभाचार्य की 'न्यायलीलावती' आदि ग्रन्थ भी अनेक पुस्तकें वैशेषिक दर्शन के सम्बन्ध मे लिखी गई हैं।

सांख्य-दर्शन—साख्य-दर्शन का मुख्य सिद्धान्त है, सत्कार्यवाद। इसके अनुसार असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। प्रत्येक सत्ता अव्यक्तरूप से अपने कारण मे विद्यमान रहती है। उत्पत्ति का अभिप्राय केवल यह है, कि कारण का कार्य के रूप मे उद्भाव हो जाता है। जिसे हम विनाश कहते हैं, वह भी वस्तुत: कार्य का कारण में लीन (अनुभाव) हो जाता है। किसी विद्यमान (सत्) सत्ता का सर्वथा विनाश नहीं हो सकता, वह केवल अपने कारण में लय हो जाती है। मृत्तिका से घट की उत्पत्ति होती है। वस्तुत:, घट मृत्तिका रूप में पहले ही विद्यमान होता है। मृत्तिका ही घटरूप में व्यक्त हो जाती है। घट के नाश का अभिप्राय केवल यह है, कि वह फिर मृत्तिकारूप हो जाता है।

इसी सत्कार्यवाद के सिद्धान्त का अनुसरण करके साख्य-शास्त्र मे संसार का कारण प्रकृति को माना गया है। संसार वस्तुत. प्रकृति का ही रूपान्तर (परिणाम) है। प्रकृति अनादि और नित्य है। अपने अव्यक्त रूप मे वह सदा से रहती आई है। जब वह अपने को व्यक्त करती है, तो संसार बनता है। सृष्टि के आधारभूत गुण तीन हैं—सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण। इन तीनों की साम्यावस्था का नाम ही प्रकृति है। जब इन गुणों की साम्यावस्था नहीं रहती, तब किसी एक गुण के प्रधान होने से संसार के विविध पदार्थों का निर्माण होता है। पर प्रकृति स्वयं ससार के रूप मे व्यक्त नही हो सकती, क्योंकि वह स्वयं जड़ है। अत: उसे 'पुरुष' की आवश्यकता होती है। प्रकृति और पुरुष—ये दो ही मूल और अनादि तत्त्व हैं। इन्ही के संयोग से सृष्टि का निर्माण होता है। प्रकृति और पुरुष की हालत ठीक वह है, जो अन्धे और लंगड़े की होती है। न अकेला अन्धा किसी उद्दिष्ट स्थान पर पहुँच सकता है, और न अकेला लंगडा। पर यदि लंगड़ा मनुष्य अन्धे मनुष्य के कन्धे पर बैठ जाए, और दोनो एक-दूसरे की सहायता से किसी निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचना चाहें, तो वे सफल हो सकते हैं। इसी प्रकार प्रकृति और पुरुष एक-दूसरे के सहयोग से सृष्टि का निर्माण करते हैं।

सांख्य के अनुसार पुरुष का स्वरूप केवल चेतन और सदाप्रकाश-स्वरूप है। सुख, दु:ख, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि का सम्बन्ध पुरुष से नहीं, अपितु प्रकृति से है। पर प्रकृति के संयोग से पुरुष विभिन्न पदार्थों में अहंकार या ममत्व की बुद्धि कर लेता है। ससार में जो कुछ हो रहा है, उसका करनेवाला पुरुष नही है। संसार के

सब कार्य प्रकृति करती है। पर जब प्रकृति के संयोग से पुरुष अहंकारविमूढ हो जाता है, तो वह प्रकृति के द्वारा किये जानेवाले कार्यों को अपना किया हुआ समझने लगता है। पुरुष वस्तुतः 'कर्त्ता' नहीं होता। जब पुरुष यह भली-भाँति समझ लेता है, कि करनेवाला वह नही, अपितु प्रकृति है, तब वह अहंकार से मुक्त हो जाता है। इसी का नाम 'मोक्ष' है।

सृष्टि के निर्माण, स्थिति व अनुभाव (प्रलय) के लिए साख्य ईश्वर की आवश्यकता को अनुभव नही करता। यही कारण है, कि उसके मूल तत्वों मे ईश्वर को नही गिना गया, और न ही वेदान्तियों के ब्रह्म के समान मूल तत्वों के भी उपरि-रूप से उसकी सत्ता को स्वीकार किया गया। पर सांख्य लोग ईश्वर का खण्डन भी नहीं करते हैं।

सांख्य-दर्शन के प्रवर्तक कपिल मुनि थे। उन्होंने साख्य-सूत्रो की रचना की थी। पचशिखाचार्य का षष्टितन्त्र इस शास्त्र का प्रामाणिक ग्रन्थ था, पर वह अब उपलब्ध नही होता। ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका इस शास्त्र का प्रामाणिक व प्राचीन ग्रन्थ है। आचार्य विज्ञानभिक्षु ने सांख्य-प्रवचन-भाष्य नाम से सांख्य सूत्रों का भाष्य किया है। इसके अतिरिक्त साख्यकारिका पर माठर की माठर वृत्ति, गौडपाद का भाष्य और वाचस्पति की तत्त्व-कौमुदी टीकारूप मे हैं।

योग-दर्शन—योग और साख्य मे भेद बहुत कम है। साख्य के समान योग भी प्रकृति से संसार की उत्पत्ति स्वीकार करता है। साख्य के अनुसार, जिस प्रकार प्रकृति का विकास महत्, अहंकार आदि दशाओ में होता है, वैसे ही योगदर्शन भी मानता है। पर इन दर्शनों मे मुख्य भेद ईश्वर की सत्ता के सम्बन्ध मे है। योग-दर्शन प्रकृति और पुरुष के साथ-साथ ईश्वर की सत्ता भी मानता है। ईश्वर की भक्ति द्वारा पुरुष शीघ्र ही संसार के बन्धन से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है, यह योग-दर्शन का सिद्धान्त है। योग के अनुसार पुरुष की उपासना से प्रसन्न होकर ईश्वर उसका उद्धार कर देता है, अतः योग-मार्ग मे ईश्वर की भक्ति व उपासना परम सहायक है।

इस दर्शन के आदिप्रवर्तक महर्षि पतञ्जलि थे। उन्होंने योग-सूत्रो की रचना की। उनपर व्यास ऋषि का भाष्य योग-दर्शन का अत्यन्त प्राचीन व प्रामाणिक ग्रन्थ है। उसपर वाचस्पति मिश्र की 'तत्त्व-वैशारदी' और विज्ञान भिक्षु की 'योग-वार्तिक' टीकाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं।

मीमांसा-दर्शन—मीमांसा दर्शन का मुख्य प्रयोजन यह है, कि वैदिक कर्मकाण्ड का शास्त्रीय रूप से प्रतिपादन करे, उनमें जहाँ विरोध या असगति नजर आती हो उसका निराकरण करे, और धर्म के नियमों की ठीक-ठीक मीमांसा करे। इस दर्शन के अनुसार वेद द्वारा विहित कर्म ही धर्म है। उन कर्मों को करने से 'अपूर्व' उत्पन्न होता है। मनुष्य को जो सुख व दुःख, ऐश्वर्य या दारिद्रय है, उस सबका मूल यह 'अपूर्व' ही है। प्रत्येक मनुष्य अपने कर्मों द्वारा अपने अपूर्व (प्रारब्ध) का निर्माण करता है। वैदिक कर्मकाण्ड में किसी विशेष फल की प्राप्ति के लिए विशेष प्रकार के कर्म-काण्ड या अनुष्ठान का विधान किया गया है। पर यज्ञ या कर्मकाण्ड से तुरन्त ही अभीष्ट फल की प्राप्ति नही हो जाती। अतः मीमांसा-दर्शन ने यह प्रतिपादित किया,

कि कर्मकाण्ड द्वारा 'अपूर्व' उत्पन्न होता है, जिसके परिणामस्वरूप बाद में अभीष्ट फल की प्राप्ति हो जाती है।

मीमांसा के प्रवर्तक आचार्य जैमिनि थे। उन्होंने मीमांसा-सूत्रों की रचना की। उनपर शबर मुनि ने भाष्य लिखा। शाबर-भाष्य पर आचार्य कुमारिल भट्ट और प्रभाकर भट्ट ने व्याख्याएँ लिखी। कुमारिल भट्ट मीमांसा दर्शन के बड़े प्रसिद्ध आचार्य हुए है। उनके श्लोकवार्तिक और तन्त्रवार्तिक ग्रन्थ मीमांसा-दर्शन के प्रामाणिक ग्रन्थ हैं। कुमारिल ने बौद्धों का खण्डन कर वेदों की प्रामाणिकता का पुनरुद्धार करने का प्रयत्न किया।

वेदान्त-दर्शन—वेदान्त के अनुसार विश्व की वास्तविक सत्ता 'ब्रह्म' है। वस्तुतः, ब्रह्म ही सत्य है, अन्य कोई सत्ता सत्य नहीं है। जीव की ब्रह्म से पृथक् कोई सत्ता नहीं है। प्रकृति या जगत् ब्रह्म से ही उत्पन्न हुए हैं। ब्रह्म से पृथक् उनकी भी सत्ता नहीं है। ब्रह्म का स्वरूप 'निर्विशेष-चिन्मात्र' है। ब्रह्म चेतन-स्वरूप है, वह चिति-शक्ति के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। सांख्य-दर्शन जिन्हें पुरुष व प्रकृति कहता है, उनका विकास इसी ब्रह्म से होता है। जब ब्रह्म 'संकल्प' करता है, यह चाहता है कि वह 'बहुरूप' हो जाए, तो अपनी लीला द्वारा सृष्टि का विकास करता है।

वेदान्तदर्शन के प्रवर्तक बादरायण व्यास थे। उन्होने ही वेदान्त-सूत्रों की रचना की। इन सूत्रों पर विविध आचार्यों ने अपने-अपने मत के अनुसार अनेक भाष्य लिखे। इनमें शकराचार्य का 'ब्रह्मसूत्र-शांकर भाष्य' सबसे प्रसिद्ध है। वस्तुतः, शंकर ने वेदान्त के एक नए सम्प्रदाय का प्रारम्भ किया, जिसे 'अद्वैतवाद' कहते हैं। इसके अनुसार सब जगत् मिथ्या है। जिस प्रकार रात के समय मनुष्य को रज्जु में साँप का भ्रम हो जाता है, वैसे ही ससार की दृष्टि-गोचर होनेवाली सब सत्ताएँ भ्रम का परिणाम है। जगत् माया के अतिरिक्त कुछ नहीं है। माया की परमार्थ में कोई सत्ता नही होती। जब ब्रह्म माया से अवच्छिन्न हो जाता है, तो वह ईश्वर कहाता है। जीवात्मा वस्तुतः ब्रह्म ही है। जैसे एक ही सर्वव्यापी आकाश घट में घटाकाश के रूप से और मठ में मठाकाश के रूप से आभासित होता है, पर वस्तुतः वह एक ही आकाश होता है, ऐसे ही अन्तःकरणावच्छिन्न ब्रह्म जीवात्मा के रूप में आभासित होता है। पर वस्तुतः जीवात्मा ब्रह्म से पृथक् नही है, वह ब्रह्म ही है, ठीक वैसे ही जैसे घटाकाश आकाश ही है, वह सर्वव्यापी आकाश से पृथक् नही है।

वेदान्त-सूत्रों पर रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य और वल्लभाचार्य ने भी भाष्य लिखे हैं। इनका मत शंकर से बहुत भिन्न है। रामानुज प्रकृति और जीवात्मा की पृथक् सत्ता स्वीकार करते हुए भी उन्हें ब्रह्म पर आश्रित मानते हैं। ब्रह्म से पृथक् जीवात्मा और प्रकृति का कोई प्रयोजन नही। इसीलिए उनके मत को 'विशिष्टाद्वैत' नाम दिया गया है। मध्वाचार्य ब्रह्म, प्रकृति और जीवात्मा की पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करते है। इसीलिए उनका मत द्वैतवाद कहाता है। एक ही ब्रह्मसूत्र की विविध आचार्यों ने भिन्न-भिन्न रूप से व्याख्या की है। पर ब्रह्म की सर्वोपरि सत्ता को सब वेदान्ती समान रूप से स्वीकार करते हैं। इस दर्शन का विकास प्रधानतया उपनिषदों को प्रमाण मान कर किया गया है।

बौद्ध और जैन धर्मों के प्रारम्भ से पूर्व भारत के प्राचीन धर्म में जहाँ याज्ञिक कर्मकाण्ड का प्राधान्य था, वहाँ विविध तत्त्वज्ञानी ऋषि सृष्टि और अध्यात्म के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए अनेक दर्शन-शास्त्रों का भी विकास कर रहे थे।

सातवाँ अध्याय

प्राचीन आर्यों की भारतीय संस्कृति को देन

भारत की वर्तमान संस्कृति अनेक संस्कृतियों के सम्मिश्रण का परिणाम है। इसे न केवल प्राचीन युग की विविध जातियों ने प्रभावित किया है, अपितु अरब, अफगान, मुगल और इंगलिश लोगो ने भी इस पर अपनी गहरी छाप छोड़ी है। पर इस बात से इन्कार नही किया जा सकता, कि इस बीसवीं सदी में भी भारतीय संस्कृति का स्थूल ढाँचा प्रायः वही है, जिसकी नीव वैदिक युग में प्राचीन आर्यों ने डाली थी। आर्यों की विचारधारा और जीवन के आदर्श एक नद के समान हैं, जिसमें अन्य अनेक छोटी-छोटी नदियाँ आकर मिलती रहती हैं। गंगा के प्रवाह में बहुत-सी छोटी-बडी नदियाँ आकर मिल जाती हैं, वे स्वयं गगा का अंग बन जाती हैं, और उसके प्रवाह को अधिक शक्तिशाली और समृद्ध बनाकर अपनी सत्ता को उसमें विलीन कर देती हैं। यही बात भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में कही जा सकती है। वैदिक युग में प्राचीन आर्यों ने संस्कृति के जिस प्रवाह को प्रारम्भ किया था, शक, युइशि, यवन, हूण, आभीर, अफगान, मुगल, अग्रेज आदि कितने ही लोगों ने उसे प्रभावित किया। पर इनसे उस प्रबाह की धारा अवरुद्ध नहीं हुई, इससे उसकी शक्ति और अधिक बढ़ती गयी। यही कारण है कि आज भी भारत के निवासी उन्ही आदर्शों के अनुसार जीवन व्यतीत करने का प्रयत्न करते हैं, जिन्हे आर्य ऋषियों ने वैदिक सूक्तों द्वारा प्रतिपादित किया था। वेद ने उपदेश दिया था—'हम सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखें।' महाभारत ने इसे और अधिक स्पष्ट किया—'दूसरों का उपकार करने से पुण्य होता है, और दूसरों को पीडा देने की अपेक्षा अधिक बड़ा पाप कोई नहीं।' मध्य-काल में तुलसीदास ने इसी विचार को इस ढंग से कहा—'अभिमान पाप की जड़ है, जब तक शरीर मे प्राण रहे, प्राणियों के प्रति दया भाव का परित्याग न कीजिए।' आज भी लाखो भारतीय यह गाते हैं 'जो दूसरों की पीडा का अनुभव करता है, वही सच्चे अर्थों में वैष्णवजन है।' महात्मा गांधी जैसे सन्तों ने अहिंसा और परोपकार का यही आदर्श बीसवीं सदी में प्रबल रूप से भारतीयों के सम्मुख उपस्थित किया है।

वैदिक साहित्य की सर्वमान्यता—भारतीय संस्कृति का आदिस्रोत वेद है, इसीलिए भारत में इस साहित्य को अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखा जाता है। सब हिन्दू इसे ईश्वरीय ज्ञान मानते है। सांख्य-दर्शन ईश्वर की सत्ता से इन्कार करता है, पर वेद को अनादि और स्वतःप्रमाण मानता है। नास्तिक का लक्षण यह नहीं है, कि वह ईश्वर को न माने। नास्तिक वह है, 'जो वेद का निन्दक हो।' ईश्वर को न मानने वाला हिन्दू आस्तिक हो सकता है, पर वेद के प्रति श्रद्धा न रखने वाला हिन्दू

आस्तिक नहीं माना जा सकता। आर्यों ने जिस भी विचार सरणी का विकास किया, जिस भी विज्ञान या तत्त्वचिन्तन का प्रारम्भ किया, उस सबका स्रोत उन्होंने वेद को माना। वेदान्त, न्याय, सांख्य आदि आस्तिक दर्शनों के सिद्धान्तों में बहुत विरोध है पर वे सब समान रूप से यह दावा करते हैं कि उनके मन्तव्य वेदों पर आश्रित हैं। आयुर्वेद, धनुर्वेद, ज्योतिषशास्त्र आदि जितने भी विज्ञान इस देश में प्राचीन समय मे विकसित हुए, वे सब भी अपने को वेद पर आधारित मानते हैं, और वेदांग कहाते हैं। इसीलिए वैदिक संहिताओं ने आर्य जाति के जीवन और संस्कृति को जितना अधिक प्रभावित किया है, उतना किसी अन्य साहित्य या विचार-सरणी ने नही किया। वेद की जिन शिक्षाओं ने भारत की संस्कृति को विशेष रूप मे प्रभावित किया है, उन पर हम यहाँ संक्षेप के साथ प्रकाश डालेगे।

ऋत या सत्य—इस ससार मे सर्वत्र कुछ निश्चित नियम कार्य कर रहे हैं, यह विचार वैदिक साहित्य मे अनेक स्थानों पर उपलब्ध होता है। सृष्टि की इस नियम-बद्धता को वेदों में 'ऋत' कहा गया है। जो तत्त्व 'पृथ्वी' या संसार को धारण किए हुए हैं, उनमे 'ऋत' सर्वप्रधान है। 'ऋत' वे नियम हैं, जो नित्य और अनादि है, जिनका कोई भी शक्ति उल्लंघन नही कर सकती। सूर्य जो नियम से उदित होता है, नियम से अस्त होता है, तारा-नक्षत्र जो अपने-अपने स्थान पर रहते हुए संचारी दशा मे रहते हैं, समय पर जो फल और वनस्पति परिपक्व होते हैं—यह सब ऋत के कारण ही है। केवल प्रकृति का ही नही, प्राणियों और मनुष्यो के जीवन का आधार भी यह ऋत ही है। मनुष्य का हित और कल्याण इसी बात में है कि वह ऋत के इन नियमों का परिज्ञान प्राप्त कर अपने जीवन की उनके साथ अनुकूलता स्थापित कर ले। इसी ऋत द्वारा 'सत्य' का विचार प्रादुर्भूत हुआ, और भारत के विचारको ने यह प्रतिपादित किया, कि सत्य ही धर्म का मूल है, और सत्य का अनुसरण करने मे ही मनुष्य का कल्याण है। संसार में जो नियम और व्यवस्था दृष्टिगोचर होती है, वह सत्य के कारण ही है। धर्म उस व्यवस्था का नाम है, जिसका पालन कर मनुष्य ने इस लोक मे अभ्युदय और परलोक में मोक्ष या निःश्रेयस को प्राप्त करना है। पर यह धर्म मनुष्यकृत नही हो सकता। मनुष्य अपनी इच्छा या विवेक का प्रयोग कर इसका निर्माण नहीं कर सकता, क्योंकि धर्म 'सत्य' पर आश्रित होता है, और यह सत्य वे प्राकृतिक व अनादि नियम हैं, जो मनुष्यकृत नही हैं। ऋत और सत्य के विचार भारत के लोगो को सदा अनुप्राणित करते रहे। तुलसीदास ने 'साँच बराबर तप नहीं' कहकर इसी विचार को बल दिया। आधुनिक युग में महात्मा गांधी ने सत्य की महिमा को और अधिक बढा दिया। सत्य और परमेश्वर एक ही बात है, यह विचार प्रतिपादित कर गाधी जी ने वैदिक-युग के इस तथ्य को ही प्रकट किया, कि ऋत और सत्य ही ऐसे तत्त्व हैं, जो संसार का संचालन करते हैं। भारतीय संस्कृति की यह अनुपम विशेषता है कि उसमें जो विचार आज के भारतीयों को अनुप्राणित करते हैं, वे वैदिक युग से निरन्तर अबाधित रूप में इस देश मे चले आ रहे हैं, उनका प्रवाह कभी अवरुद्ध नही हुआ।

अध्यात्म-भावना—वैदिक संस्कृति की एक विशेषता उसकी अध्यात्म-भावना है। इसका प्रादुर्भाव भी वैदिक युग में ही हुआ था। यह जो आँखों से दिखाई देनेवाला

इन्द्रियगोचर संसार है, इस भौतिक जगत् से परे भी कोई सत्ता है, यह विचार वैदिक युग से भारत मे निरन्तर चला आ रहा है। इस शरीर की अधिष्ठाता जीवात्मा है, जो शरीर के नष्ट होने के साथ नष्ट नही हो जाती। जो अनश्वर, अनादि और अनन्त है, उसको जानना और उसके स्वरूप को समझ लेना ही मनुष्य का कर्त्तव्य है। जिस प्रकार शरीर का स्वामी जीवात्मा है, उसी प्रकार सम्पूर्ण विश्व का स्वामी परमात्मा है, जो सर्वत्र व्यापक है, जो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है। प्रकृति की सब शक्तियाँ इस परमात्मा से ही जीवन और बल प्राप्त करती हैं। शरीर और संसार नश्वर हैं, पर आत्मा और परमात्मा नित्य और अनन्त है। यह जो आत्मा है, वह भी वस्तुत. सर्व-व्यापक परमेश्वर व ब्रह्म का ही अंश है। जिस प्रकार विश्वव्यापी आकाश घट या मठ मे घटाकाश या मठाकाश के रूप में पृथक् प्रतीत होता है, उसी प्रकार विश्वव्यापी चितिशक्ति प्राणियो मे पृथक् जीवात्मा के रूप मे प्रगट होती है। घट के नष्ट हो जाने पर घटाकाश विशाल आकाश में लीन हो जाता है। इसी प्रकार जीवात्मा भी अन्त मे ब्रह्म मे ही लीन हो जाती है। शरीर और सृष्टि सान्त हैं, उनका अन्त हो जाता है, अतः वे परम सत्य नही है। ससार के भोग क्षणिक है, वास्तविक सुख आध्यात्मिक है, जो आत्मा और ब्रह्म के ज्ञान से प्राप्त होता है। मनुष्य का अन्तिम ध्येय सासारिक सुखो से ऊपर उठकर मोक्ष या नि श्रेयस को प्राप्त करना है। क्योंकि सब मनुष्यो और प्राणियों मे जो जीवन-शक्ति है, उसका मूलस्रोत एक ही है, अत सबमे आत्मभावना रखना आवश्यक है। इन विचारों का सूत्रपात वैदिक युग मे हुआ था, और वे आज तक भी भारत की सब जातियो व सम्प्रदायों में विद्यमान हैं। 'इस जगत् मे जो कुछ भी है, उस सबमे ईश्वर व्याप्त है, अतः इस संसार मे लिप्त न होकर त्याग की भावना के साथ इसका उपभोग करो।' वेद के इस उपदेश ने भारतीयो के दृष्टिकोण को सदा प्रभावित किया है।

उत्थान—अध्यात्म-भावना प्राचीन आर्यों के जीवन-लक्ष्य को ऊँचा उठाने मे समर्थ हुई, पर उसने इस संसार के प्रति उन्हे विमुख नही किया। उन्होंने धर्म का लक्षण यह किया, "जिससे इस संसार मे अभ्युदय (समृद्धि व उन्नति) और नि.श्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति हो, वही धर्म है।" वह धर्म अपूर्ण है, जो केवल नि श्रेयस की प्राप्ति में सहायक होता है। साथ ही वह धर्म भी अपूर्ण है, जिससे मनुष्य केवल सासारिक समृद्धि प्राप्त करता है। इहलोक में सुख और परलोक का साधन—दोनो पर मनुष्य को ध्यान देना चाहिए। इसीलिए वैदिक युग के आर्यों ने संसार के सुखों की प्राप्ति और भौतिक उन्नति की उपेक्षा नही की। वैदिक ऋषियो ने कहा, देखो यह सूर्य निरन्तर चलता रहता है, तुम भी निरन्तर गतिशील रहो। निरन्तर गतिशील रहने से ही तुम 'स्वादु उदुम्बर' (ससार के सुस्वादु फल) को प्राप्त कर सकोगे। इसी विचार को उपनिषदों ने और अधिक विकसित किया। उन्होंने कहा—'चरैवेति चरैवेति', निरन्तर आगे बढे चलो। बाद में दण्डनीति के पण्डितों ने इसी विचार को यह कहकर प्रकट किया कि मनुष्य का यह परम कर्त्तव्य है, कि वह सदा उत्थानशील रहे।

संसार की अनेक अन्य संस्कृतियों में भौतिकवाद पर बहुत जोर देकर अध्यात्म

की उपेक्षा की गयी है। पर भारत में भौतिकवाद और अध्यात्मवाद में समन्वय स्थापित किया गया। वैदिक ऋषियों की भारत को यह अद्भुत देन है।

वर्णाश्रम-व्यवस्था—सांसारिक अभ्युदय (समृद्धि) और अध्यात्म-भावना के इस समन्वय का परिणाम उस सामाजिक व्यवस्था का विकास था, जिसकी विशेषता वर्ण-भेद और आश्रम-व्यवस्था हैं। प्राचीन आर्य-परम्परा के अनुसार मानव-जीवन को चार आश्रमों मे विभक्त किया गया है, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। प्रत्येक मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि वह २५ वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन व्यतीत करे। इस काल में वह अपना सब ध्यान शरीर और मन की उन्नति में लगाए। स्वस्थ शरीर और विकसित मन को प्राप्त कर वह गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश करे, और इस काल का उपयोग संसार के सुख व वैभव को प्राप्त करने के लिए करे। पर वह यह दृष्टि में रखे, कि सांसारिक भोग ही उसका चरम लक्ष्य नही है। पचास वर्ष की आयु में उसे गृहस्थ जीवन का अन्त कर वानप्रस्थी बनना है, जब वह अपनी सब शक्ति और समय तत्त्व-चिन्तन और आत्मिक उन्नति में लगायेगा, क्योंकि मनुष्य को केवल ऐहलौकिक अभ्युदय से ही सन्तुष्ट नही होना है, उसे नि.श्रेयस को भी प्राप्त करना है। वानप्रस्थ के बाद मनुष्य संन्यासी बने, और अपना सब समय लोकोपकार मे व्यतीत करे। संन्यास आश्रम में मनुष्य परिव्राजक बनकर संसार में भ्रमण करता है, और प्राणिमात्र का हित और कल्याण करता है।

जिस प्रकार मनुष्य के जीवन को चार विभागो (आश्रमो) मे विभक्त किया गया है, वैसे ही मानव-समाज भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों में विभक्त है। समाज मे सबसे ऊँचा स्थान ब्राह्मणों का है, जो त्याग और अकिंचनता को ही अपनी सम्पत्ति मानते हैं। क्षत्रिय लोग सासारिक सुखों का उपभोग अवश्य करते है, पर उनका कार्य धनोपार्जन करना न होकर जनता की बाह्य और आभ्यन्तर विपत्तियों से रक्षा करना है। समाज मे ब्राह्मणो और क्षत्रियों का स्थान वैश्यों की अपेक्षा ऊँचा है, क्योकि मानव-जीवन का ध्येय धन-सम्पत्ति की अपेक्षा अधिक उच्च है। वैश्यों को कृषि, पशुपालन और वाणिज्य द्वारा समाज की भौतिक आवश्यकताओं को पूर्ण करना है, और शूद्र का कार्य अन्य वर्णो की सेवा द्वारा अपनी आजीविका कमाना है। जिस प्रकार मानव-जीवन तभी पूर्ण हो सकता है, जबकि उसमें भौतिक उन्नति के साथ-साथ आध्यात्मिक उन्नति को भी स्थान प्राप्त हो, उसी प्रकार मानव-समाज की पूर्णता के लिए भी यह आवश्यक है, कि उसके विविध वर्ग भौतिक सुखो व साधनो के साथ-साथ परोपकार व अध्यात्म-सुख के लिए भी प्रयत्नशील हों। सब मनुष्यों की योग्यता, शक्ति और बुद्धि एक सदृश नही होती, सब कोई वैश्य, क्षत्रिय या ब्राह्मण नही बन सकते। ब्राह्मण का आदर्श बहुत ऊँचा है, उस तक पहुँचने के लिये बहुत कम व्यक्ति समर्थ होगे। बहुसंख्यक मनुष्य वैश्य ही होंगे, और कृषि, व्यवसाय आदि द्वारा अपनी वैयक्तिक व सामाजिक समृद्धि के लिये प्रयत्न करेंगे। पर यदि सभी लोग धनोपार्जन के लिए प्रवृत्त हो जाएँ, तो समाज अपूर्ण रह जायगा। उसमें ऐसे मनुष्य भी चाहिएँ, जो धन को हेय मानकर ज्ञानोपार्जन और तत्त्वचिन्तन मे प्रवृत्त हो। इसी मे समाज की पूर्णता है। वैदिक युग में वर्णों का यह विभाग जन्म पर आश्रित

नहीं था। कोई भी व्यक्ति ज्ञान उपार्जन कर ब्राह्मण-पद को प्राप्त कर सकता था। बाद में वर्ण जन्म पर आश्रित हो गये, क्योंकि ब्राह्मण की सन्तान के लिए ब्राह्मण हो सकना और वैश्य की सन्तान के लिए व्यापार और शिल्प में कुशल हो सकना अधिक सुगम था। पर यह विचार भारत में निरन्तर बना रहा, कि 'शूद्र ब्राह्मणता को प्राप्त कर सकता है, और ब्राह्मण शूद्र बन सकता है। धर्मचर्या द्वारा निचले वर्ण के व्यक्ति ऊँचे वर्ण को प्राप्त कर सकते हैं, और धर्म के विरुद्ध आचरण करने से ऊँचे वर्ण के लोग निचले वर्ण को प्राप्त हो सकते हैं।' भारत के मध्यकालीन इतिहास तक मे कितने ही मनुष्य, जो नीच कुल मे उत्पन्न हुए थे, अपने ज्ञान व तत्त्वचिन्तन के कारण सन्तपद को प्राप्त कर गये। प्राचीनकाल मे तो इस प्रकार के उदाहरणो की कोई कमी ही नही है।

यद्यपि वर्तमान युग में वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप बहुत विकृत हो गया है, पर इसमे सन्देह नही, कि जातिभेद के आधार मे जो भावना आज तक भी कार्य कर रही है, वह वैदिक युग की वर्ण-व्यवस्था पर ही आश्रित है। समाजरूपी विराट्-पुरुष का मुख-स्थानीय ब्राह्मण है, बाहुस्थानीय क्षत्रिय है, उदर और ऊरु स्थानीय वैश्य है, और पादस्थानीय शूद्र है—वेदो के इस विचार ने ही भारत मे जाति-भेद को मूर्त्तरूप प्रदान किया। उसके विकृत रूप को सुधार कर असली प्राचीन आर्य-भावना को पुनरुज्जीवित करने के लिए इस देश के कितने ही विचारक व सुधारक प्रयत्न करते रहे हैं, और यह प्रयत्न वर्तमान समय मे बहुत अधिक जोर पकड़ गया है।

अभय की भावना—जिस प्रकार प्राचीन आर्यों द्वारा भारतीय संस्कृति में अध्यात्म भावना का प्रवेश हुआ, वैसे ही अभय की भावना भी उन्ही से उसे प्राप्त हुई। जब मनुष्य सब मे अपने को और अपने मे सबको देखने लगता है, जब वह सर्वत्र 'एकत्व' की अनुभूति रखने लगता है, तो वह 'अभय' हो जाता है। मोह, शोक आदि से वह ऊपर उठ जाता है। वैदिक ऋषि ने गान किया है—"मित्र से मैं अभय होऊँ, अमित्र (शत्रु) से मैं अभय होऊँ, ज्ञात वस्तु से और परोक्ष (अज्ञात) वस्तु से मैं अभय होऊँ, रात और दिन सब समय मैं अभय होऊँ, और सब दिशाएँ मेरे प्रति मित्र भावना रखें।" यह अभय-भावना तभी सम्भव है, जब मनुष्य सब मे एक ही विश्वात्मा को व्याप्त समझे और सबके प्रति एकत्व का अनुभव करता रहे।

विचार-स्वातन्त्र्य और सहिष्णुता—आर्यों के अध्यात्मवाद ने ही इस देश की संस्कृति मे सहिष्णुता और विचार-स्वातन्त्र्य को उत्पन्न किया। इस देश मे धार्मिक व साम्प्रदायिक द्वेष के कारण उस ढंग के युद्ध नही हुए, जैसे कि पाश्चात्य देशो में हुए थे। मध्यकाल में यूरोप के लोग बहुत असहिष्णु थे। एक ही ईसाई धर्म के विविध सम्प्रदाय एक-दूसरे को सहन नहीं कर सकते थे। सोलहवी सदी मे चार्ल्स पचम के शासन-काल में अकेले नीदरलेण्ड जैसे छोटे-से राज्य मे पचास हजार के लगभग प्रोटेस्टेण्ट लोगों को केवल इसलिए अग्नि के अर्पण कर दिया गया, क्योंकि उनका धर्म चार्ल्स के रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय से भिन्न था। यूरोप के लोग अमेरिका और अफ्रीका में जिन लोगों के सम्पर्क में आए, उन्हे उन्होंने समूल नष्ट करने का प्रयत्न किया, क्योंकि अन्य लोगों के धर्म व सभ्यता को वे सहन करने के लिए उद्यत नहीं थे। पर इस प्रकार की उग्र वृत्ति भारतवासियों ने अपने सुदीर्घ इतिहास मे कभी प्रकट नहीं

की। आर्य लोग समझते थे, कि विविध प्रकार के विधि-विधानों व पूजाओं द्वारा मनुष्य एक ही ईश्वर की प्राप्ति के लिए उद्योग करता है। कृष्ण ने गीता में कहा था—"जिस किसी ढंग से जो मेरी उपासना करता है, वह उसी ढंग से मुझे प्राप्त कर लेता है।" मनुष्यों मे पूजा आदि के प्रकार पृथक्-पृथक् हो सकते हैं, पर उनका उपास्य देवता तो एक ही होता है। अशोक ने भी आगे चलकर सब सम्प्रदायों मे मेल-जोल (समवाय) की नीति का उपदेश कर इसी तत्त्व को प्रतिपादित किया। विविध जातियो और सम्प्रदायो के प्रति भारत की यह मनोवृत्ति अध्यात्म भावना और सब में अपने को व अपने मे सब को देखने की प्रवृत्ति का ही परिणाम थी। इसी कारण भारत मे यवन, शक आदि जिन भी विदेशी व विधर्मी जातियो ने प्रवेश किया, वे सब विशाल हिन्दू व आर्य-धर्म की अंग बनती गयी। इस्लाम जैसा उग्र धर्म भी इस प्रवृत्ति के प्रभाव से अछूता नही रह सका। हिन्दू लोग मुसलमानों को अपने समाज का अग नही बना सके, पर उन्होने उनके प्रति एक ऐसे रुख को अपनाया, जिसके कारण दोनों धर्मों के अनुयायियो के लिए एक देश मे साथ-साथ रह सकना सम्भव हो गया। स्वयं हिन्दू धर्म मे तो परस्पर-विरोधी विचारो के मानने वाले लोग एक समाज का अंग बनकर रहते ही रहे। चीटी तक की हत्या को पाप मानने वाले और भैसे की बलि देकर अपने आराध्य देवता को सन्तुष्ट करने वाले लोग जो एक साथ हिन्दू धर्म में रह सके, उसका कारण यह सहिष्णुता ही थी, जो वैदिक युग से इस देश मे बल पकड़ने लग गयी थी। ईश्वर पर विश्वास करने वाले और ईश्वर की सत्ता से ही इन्कार करने वाले सब प्रकार के लोगो को हिन्दू धर्म मे स्थान मिला, यह उस विचार-स्वातन्त्र्य का ही परिणाम था, जो भारतीय संस्कृति की अनुपम विशेषता है।

पुनर्जन्म और कर्म फल—प्राचीन आर्यों का यह विश्वास था कि मनुष्य पुनर्जन्म लेता है। जिसे मृत्यु कहा जाता है, वह वस्तुतः चोले को बदलना मात्र है। जैसे मैले कपड़े उतार कर मनुष्य नए कपडे पहनता है, वैसे ही वृद्ध या रोगग्रस्त शरीर को त्याग कर जीवात्मा नया शरीर धारण कर लेता है। मृत्यु के बाद जीव किस कुल मे जन्म ले, किस योनि में प्रवेश करे, यह बात उसके कर्मों पर निर्भर करती है। अच्छे कर्म करने वाला मनुष्य यदि इस जन्म में अपने सुकृत्यो का फल नहीं पाता, तो अगले जन्म मे उसे अवश्य प्राप्त कर लेता है। वर्ण-व्यवस्था और जातिभेद के साथ यह विचार बहुत मेल खाता था। प्राचीन आर्य यह मानते थे कि मनुष्य को 'स्वधर्म' के पालन मे तत्पर रहना चाहिए। शूद्र को इससे सन्तुष्ट रहना चाहिए, कि वह अन्य वर्णों की सेवा करे। शूद्र अपनी हीन दशा में इसीलिए असन्तोष अनुभव नही करता था, क्योंकि वह यह जानता था कि हीन कुल मे जन्म का हेतु उसके पूर्वजन्म के कुकर्म ही हैं। वह यह भी विश्वास रखता था, कि यदि वह अपने कर्त्तव्यो का पालन करेगा, और अच्छे कर्म करेगा, तो अगले जन्म मे वह किसी श्रीमन्त व उच्च कुल में पैदा होने का अवसर प्राप्त कर लेगा। पुनर्जन्म और कर्मफल के सिद्धान्तों के कारण भारत के निवासी अपनी स्थिति से असन्तोष अनुभव नही करते थे। वर्तमान समय मे भी ये सिद्धान्त भारतीयों मे बद्धमूल हैं। हिन्दू धर्म के अनुयायी तो पूर्वजन्म और कर्मफल दोनों मे विश्वास करते हैं। पर अन्य सम्प्रदायों के लोग पूर्वजन्म को न मानते हुए भी अपने क्रियात्मक जीवन मे 'कर्म-

प्रधान विश्व रचि राखा, जो जस करहि सो तस फल चाखा' को अपनी आँखों से ओझल नहीं कर पाते। भारत में गरीब से गरीब लोग जो अपनी स्थिति के विरुद्ध सुगमता से विद्रोह कर देने के लिए तैयार नहीं हो जाते, उसमें आर्यों के ये प्राचीन सिद्धान्त ही प्रधान हेतु हैं। इन सिद्धान्तों ने भारतीयों को कुछ अंश तक भाग्यवादी भी बना दिया है।

यज्ञ और अनुष्ठान—वैदिक युग में जिन याज्ञिक विधियों और धार्मिक अनुष्ठानों का प्रारम्भ हुआ था, कुछ परिवर्तनों के साथ वे अब तक भी भारत में विद्यमान हैं। शुभ अवसरों पर या संस्कार के समय अब भी बहुसंख्यक हिन्दू यज्ञ-कुण्ड में अग्नि का आधान कर वैदिक मन्त्रों से आहुति देते हैं। इस देश के अनेक धार्मिक अनुष्ठानों का स्वरूप अब भी वही है, जिसका विकास सूत्र ग्रन्थों द्वारा किया गया था। इन्द्र, मित्र, वरुण आदि वैदिक देवताओं का स्थान ब्रह्मा, शिव व विष्णु के अवतार राम और कृष्ण ने चाहे ले लिया हो, पर इनकी पूजा करते हुए अभी तक भी प्राचीन आर्यों की अनेक विधियों का अनुसरण किया जाता है। अन्य जातियों के सम्पर्क से भारतीय धर्म में अनेक परिवर्तन हुए। भारत के आदिवासियों के संसर्ग से आर्यों ने मूर्तिपूजा को भी अपना लिया। पर वैदिक आर्यों ने जिन याज्ञिक विधियों और अनुष्ठानों का प्रारम्भ किया था, वे हजारों साल बीत जाने पर भी अब तक कायम हैं।

भारत भूमि के प्रति पवित्रता की भावना—आर्य लोग चाहे भारत में कहीं बाहर से आकर बसे हों, पर उन्होंने शीघ्र ही इस देश को अपनी पवित्र भूमि समझना शुरू कर दिया था। वेद के पृथ्वी सूक्त में उन्होंने इस भूमि के प्रति अपनी भक्ति को प्रगट किया, और इस देश की नदियों और पर्वतों को वे पवित्र मानने लगे। भारत के बहुसंख्यक निवासियों के लिए यह देश न केवल मातृभूमि है, अपितु धर्मभूमि भी है। भारत के प्रति पवित्रता की यह भावना भी प्राचीन आर्यों की ही देन है।

भाषा में एकसादृश्य—प्राचीन आर्यों ने केवल भारत के निवासियों में विचार व चिन्तन की एकता को ही विकसित नहीं किया, अपितु साथ ही इस देश की भाषा में सादृश्य का भी प्रादुर्भाव किया। प्राचीन आर्यों की भाषा वह थी, जिसका रूप हमें वैदिक साहित्य में देखने को मिलता है। यही भाषा आगे चलकर संस्कृत के रूप में विकसित हुई। भारत की बहुसंख्यक वर्तमान भाषाएँ संस्कृत से उद्बुद्ध हुई हैं, और यहाँ की द्रविड भाषाओं पर भी संस्कृत का बहुत अधिक प्रभाव है। वर्णमाला, व्याकरण और शब्द-कोश की दृष्टि से भारत में भाषा-सम्बन्धी एकरूपता व समानता विद्यमान है। वर्तमान समय से पूर्व, जब कि भारत में अंग्रेजी भाषा का प्रवेश नहीं हुआ था, संस्कृत ही एक ऐसी भाषा थी, जिसने इस देश के विविध प्रदेशों में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया हुआ था, और जिसका साहित्य सब प्रदेशों के विद्वानों द्वारा समान रूप से पढ़ा जाता था।

इस अध्याय में हमने इस प्रश्न पर संक्षेप के साथ विचार किया है, कि भारतीय संस्कृति को प्राचीन आर्यों की क्या देन है। पर इस विवेचन को पूर्ण नहीं समझा जा सकता। भारत के धर्म, सामाजिक आदर्श, समाज-संगठन, विचार, तत्त्वचिन्तन आदि सब विषयों में प्राचीन आर्यों की देन बहुत महत्त्व की है। अन्य लोगों ने आर्यों की इस देन को अपनाकर इसे समृद्ध अवश्य किया, पर इसका मूल रूप आर्यों द्वारा ही प्रदत्त है।

आठवाँ अध्याय

बौद्ध और जैन धर्म

(१) बौद्ध युग

महाभारत के युद्ध के बाद सातवी और छठी ईस्वी पूर्व के भारतीय इतिहास की दो बातें विशेष महत्त्व की हैं :—

(१) **मागध साम्राज्य का विकास**—प्राचीन समय में भारत में जो बहुत से छोटे-बड़े राज्य विद्यमान थे, उनका स्थान अब मगध के शक्तिशाली व सुविस्तृत साम्राज्य ने लेना शुरू कर दिया था। मागध साम्राज्य का विकास इस युग की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है। प्राचीन भारत के ऐक्ष्वाकव, ऐल, पौरव, यादव आदि विविध आर्यवंशो द्वारा स्थापित राज्यों को जीतकर मगध के राजा अपना विशाल चक्रवर्ती साम्राज्य स्थापित करने में समर्थ हुए। महापद्म नन्द, चन्द्रगुप्त मौर्य और प्रियदर्शी अशोक जैसे सम्राट् जो भारत के बहुत बड़े भाग को एक चक्रवर्ती-क्षेत्र बनाने में समर्थ हुए, उसके लिए इसी समय (सातवी और छठी सदी ई० पू०) में प्रयत्न आरम्भ हो गया था। मगध के इन सम्राटों को 'शूद्र' 'शूद्रप्राय', नयवर्जित' आदि कहा गया है। इसमे सन्देह नही कि इनका साम्राज्यवाद प्राचीन आर्य-मर्यादा के अनुकूल नही था। मगध के बार्हद्रथ, नन्द आदि राजवंशो के राजा न केवल 'नयवर्जित' थे, अपितु स्वेच्छाचारी और निरंकुश भी थे। उनके राजपुत्र भी 'नय' और 'अनय' का विचार छोडकर अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह कर राजसिंहासन की प्राप्ति के लिए यत्नशील रहते थे।

(२) **धार्मिक सुधारणा**—बौद्ध, जैन, आजीवक आदि सम्प्रदायो के रूप में अनेक नये धार्मिक आन्दोलन इस युग में शुरू हुए। यज्ञप्रधान प्राचीन वैदिक धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया की प्रवृत्ति शुरू हुई, और बहुत-से भारतीय वैदिक संहिताओं के प्रामाण्य से इन्कार कर बुद्धि और तर्क पर आश्रित नये धर्मों के अनुसरण में प्रवृत्त हुए। बौद्ध, जैन आदि नये सम्प्रदायों का प्रचार न केवल भारत मे हुआ, अपितु भारत के बाहर भी दूर-दूर तक इन धर्मों का प्रसार हुआ। जिस प्रकार इस युग के राजा सार्वभौम चक्रवर्ती साम्राज्यों के निर्माण के लिए तत्पर थे, वैसे ही अनेक धार्मिक नेता 'धर्म-चक्र' के 'प्रवर्तन' द्वारा धर्म-चक्रवर्ती बनने के उद्योग मे लगे थे। बौद्ध धर्म को अपना 'धर्म-साम्राज्य' स्थापित करने में विशेष रूप से सफलता मिली। भारत में बौद्धों का 'धर्म साम्राज्य' अनेक सदियों तक कायम रहा। गुप्तवंश के शासन काल से पूर्व ही भारत में बौद्ध-धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गई थी। पर मौर्य वंश के शासन-काल के अन्त तक भारत में बौद्ध-धर्म का स्थान बहुत महत्त्व का रहा। जिस समय मे बौद्ध-धर्म के प्रचारक भारत मे अपने मत के प्रसार के लिए सफलतापूर्वक यत्न कर रहे थे, उसे भारतीय इतिहास में 'बौद्ध-युग' कहा जाता है। इस युग के इतिहास पर बौद्ध-साहित्य द्वारा बहुत प्रकाश पड़ता है।

(२) धार्मिक सुधारणा

उत्तरी बिहार में प्राचीन समय में जो अनेक गणराज्य थे, इन नये धार्मिक आन्दोलनों का प्रारम्भ उन्ही से हुआ। महात्मा बुद्ध शाक्य गण में उत्पन्न हुए थे, और वर्धमान महावीर ज्ञातृक गण में। मगध के साम्राज्यवाद ने बाद में इन गणराज्यों का अन्त कर दिया था। राजनीतिक और सैनिक क्षेत्र में ये मगध से परास्त हो गए थे। पर धार्मिक क्षेत्र में शाक्य गण और वज्जि संघ के भिक्षुओं के सम्मुख मगध ने सिर झुका दिया। जब मगध की राजगद्दी के लिए विविध सैनिक नेता एक दूसरे के साथ संघर्ष कर रहे थे, और राजपुत्र कर्कट के समान अपने जनक (पिता) के प्रति व्यवहार करने में तत्पर थे, उसी समय ये भिक्षु लोग शान्ति, प्रेम और सेवा द्वारा एक नये प्रकार के चातुरन्त साम्राज्य की स्थापना मे संलग्न थे।

भारत बहुत बड़ा देश है। आर्य जाति की विविध शाखाओं ने भारत के विविध प्रदेशों मे बस कर अनेक जनपदों को स्थापित किया था। शुरू में इनमें एक ही प्रकार का धर्म प्रचलित था। प्राचीन आर्य ईश्वर के रूप मे एक सर्वोच्च शक्ति की पूजा किया करते थे। प्रकृति की भिन्न-भिन्न शक्तियों में ईश्वर के विभिन्न रूपों की कल्पना कर वे देवताओं के रूप मे उनकी भी उपासना करते थे। यज्ञ इन देवताओ की पूजा का क्रियात्मक रूप था। धीरे-धीरे यज्ञो का कर्मकाण्ड अधिकाधिक जटिल होता गया। याज्ञिक लोग विधि-विधानों और कर्मकाण्ड को ही स्वर्ग व मोक्ष की प्राप्ति का एक-मात्र साधन समझने लगे। प्राचीन काल मे यज्ञो का स्वरूप बहुत सरल था। बाद मे बहुत बडी संख्या मे पशुओं की बलि भी अग्निकुण्ड मे दी जाने लगी। पशुओ की बलि पाकर अग्नि व अन्य देवता प्रसन्न व सन्तुष्ट होते हैं, और उससे मनुष्य स्वर्गलोक को प्राप्त कर सकता है, यह विश्वास प्रबल हो गया। इसके विरुद्ध अनेक विचारको ने आवाज उठाई। यज्ञ एक ऐसी नौका के समान है, जो अदृढ है और जिसपर भरोसा नही किया जा सकता, यह विचार जोर पकडने लगा। शूरसेन देश के सात्वत लोगों मे जो भागवत-सम्प्रदाय महाभारत के समय से प्रचलित था, वह यज्ञों को विशेष महत्त्व नही देता था। वासुदेव कृष्ण इस मत के अन्यतम आचार्य थे। इस सम्बन्ध मे हम पहले लिख चुके हैं। भागवत लोग वैदिक मर्यादाओ मे विश्वास रखते थे, और यज्ञों को सर्वथा हेय नहीं मानते थे। पर याज्ञिक अनुष्ठानो का जो विकृत व जटिल रूप भारत के बहुसंख्यक जनपदो में प्रचलित था, उसके विरुद्ध अधिक उग्र आन्दोलन का प्रारम्भ होना सर्वथा स्वाभाविक था। आर्यों मे स्वतन्त्र विचार की प्रवृत्ति विद्यमान थी, और इसी का यह परिणाम हुआ, कि छठी सदी ई० पू० में उत्तरी बिहार के गणराज्यो में अनेक ऐसे सुधारक उत्पन्न हुए, जिन्होने यज्ञप्रधान वैदिक धर्म के विरुद्ध अधिक बल के साथ आन्दोलन किया, और धर्म का एक नया स्वरूप जनता के सम्मुख उपस्थित किया।

इन सुधारकों ने केवल याज्ञिक अनुष्ठानों के खिलाफ ही आवाज नही उठाई, अपितु वर्ण-भेद का भी विरोध किया, जो छठी ई० पू० तक आर्यों में भली-भाँति विकसित हो गया था। आर्य-भिन्न जातियों के सम्पर्क में आने से आर्यों ने अपनी रक्तशुद्धता

को कायम रखने के लिए जो अनेक व्यवस्थाएँ की थी, उनके कारण आर्य और दास (शूद्र) का भेद तो वैदिक युग से ही विद्यमान था। धीरे-धीरे आर्यों मे भी वर्ण या जाति-भेद का विकास हो गया था। याज्ञिक अनुष्ठानो के विशेषज्ञ होने के कारण ब्राह्मण लोग सर्वसाधारण 'आर्य विशः' से अपने को ऊँचा समझने लगे थे। निरन्तर युद्धो मे व्यापृत रहने के कारण क्षत्रिय सैनिकों का भी एक ऐसा वर्ग विकसित हो गया था, जो अपने को सर्वसाधारण जनता से पृथक् समझता था। ब्राह्मण और क्षत्रिय न केवल अन्य आर्यों से ऊँचे माने जाते थे, अपितु उन दोनों मे भी कौन अधिक ऊँचा है, इस सम्बन्ध मे भी उनमे मतभेद था। इस दशा में छठी सदी ई० पू० के इन सुधारको ने जाति-भेद और सामाजिक ऊँच-नीच के विरुद्ध भी आवाज उठाई, और यह प्रतिपादित किया कि कोई भी व्यक्ति अपने गुणो व कर्मों के कारण ही ऊँचा व सम्मानयोग्य होता है, किसी कुलविशेष मे उत्पन्न होने के कारण नही।

यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि उत्तरी बिहार के जिन गणराज्यों में इस धार्मिक सुधार का प्रारम्भ हुआ, उनके निवासियो मे आर्यभिन्न जातियो के लोग बडी संख्या मे विद्यमान थे। वहाँ के क्षत्रिय भी शुद्ध आर्य-रक्त के न होकर व्रात्य क्षत्रिय थे। सम्भवतः, छठी सदी ई० पू० से पहले भी उनमे वैदिक मर्यादा का सर्वांश मे पालन नही होता था। ज्ञातृक गण मे उत्पन्न हुए वर्धमान महावीर ने जिस जैन धर्म का प्रतिपादन किया, उनसे पूर्व भी इस धर्म के अनेक तीर्थंकर व आचार्य हो चुके थे। इन जैन तीर्थंकरो के धर्म में न याज्ञिक अनुष्ठानो का स्थान था, और न ही वेदो के प्रामाण्य का। वसु चैद्योपरिचर के समय में प्राच्य भारत मे याज्ञिक कर्मकाण्ड के सम्बन्ध मे स्वतन्त्र विचार की जो प्रवृत्ति शुरू हुई थी, शायद उसी के कारण उत्तरी बिहार के इस धर्म ने वैदिक मर्यादा की सर्वथा उपेक्षा कर दी थी।

(३) जैन-धर्म का प्रादुर्भाव

छठी सदी ई० पू० के लगभग भारत मे जो नये धार्मिक आन्दोलन प्रारम्भ हुए, उनमे दो प्रधान हैं—(१) जैन धर्म, और (२) बौद्ध धर्म। जैन लोगों के अनुसार उनके धर्म का प्रारम्भ बौद्ध-काल में महावीर स्वामी द्वारा नही हुआ था। वे अपने धर्म को सृष्टि के समान ही अनादि मानते है। उनके मतानुसार वर्धमान महावीर जैन धर्म को अन्तिम तीर्थङ्कर थे। उनसे पहले २३ अन्य तीर्थङ्कर हो चुके थे। पहला तीर्थ-कर राजा ऋषभ था। वह जम्बूद्वीप का प्रथम चक्रवर्ती सम्राट् था, और वृद्धावस्था में अपने पुत्र भरत को राज्य देकर स्वय तीर्थङ्कर हो गया था। यह सम्भव नही है, कि हम सब तीर्थङ्करों के सम्बन्ध मे लिख सकें, यद्यपि जैन ग्रन्थों में उनके विषय में अनेक कथाएँ उल्लिखित है। पर तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्व का कुछ विवरण इस इतिहास के लिए उपयोगी होगा।

तीर्थङ्कर पार्श्व—महावीर स्वामी के प्रादुर्भाव से २५० वर्ष पूर्व तीर्थङ्कर पार्श्व का समय है। वह वाराणसी के राजा अश्वसेन के पुत्र थे। उनका प्रारम्भिक जीवन एक राजकुमार के रूप मे व्यतीत हुआ। युवावस्था मे उनका विवाह कुशस्थल देश की राजकुमारी प्रभावती के साथ हुआ। तीस वर्ष की आयु मे राजा पार्श्वनाथ को वैराग्य

हुआ, और राजपाट छोड़कर उन्होंने तापस का जीवन स्वीकृत किया। तिरासी दिन तक वह घोर तपस्या करते रहे। चौरासीवें दिन पार्श्वनाथ को ज्ञान प्राप्त हुआ, और उन्होंने अपने ज्ञान का प्रचार करना प्रारम्भ किया। उनकी माता और धर्मपत्नी सबसे पहले उनके धर्म में दीक्षित हुई। सत्तर वर्ष तक पार्श्वनाथ निरंतर अपने धर्म का प्रचार करते रहे। अन्त में पूरे सौ साल की आयु में एक पर्वत की चोटी पर, जो कि अब पार्श्वनाथ-पर्वत के नाम से प्रसिद्ध है, उन्होने मोक्षपद को प्राप्त किया।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ के अनुयायी बौद्ध-काल की धार्मिक सुधारणा में विद्यमान थे। उसकी तथा महावीर स्वामी की शिक्षाओं में क्या भेद था, इसका परिचय जैन-धर्म के प्रसिद्ध ग्रन्थ उत्तराध्ययन-सूत्र के एक संवाद द्वारा प्राप्त होता है।

पार्श्व के अनुसार जैन भिक्षु के लिए निम्नलिखित चार व्रत लेने आवश्यक थे—(१) मैं जीवित प्राणियो की हिंसा नही करूँगा। (२) मैं सदा सत्य भाषण करूँगा। (३) मैं चोरी नही करूँगा। (४) मैं कोई सम्पत्ति नही रखूँगा।

पार्श्व द्वारा प्रतिपादित इन चार व्रतो के साथ महावीर ने एक और व्रत बढ़ा दिया, जो यह था कि—"मैं ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करूँगा।" इसके अतिरिक्त महावीर ने भिक्षुओं के लिए यह व्यवस्था भी की थी, कि वे कोई वस्त्र धारण न करें, जबकि पार्श्व के अनुसार भिक्षु लोग वस्त्र धारण कर सकते थे।

वर्धमान महावीर—वज्जिराज्य-संघ के अन्तर्गत ज्ञातृक गण मे महावीर उत्पन्न हुए थे। ज्ञातृक लोगो के प्रमुख राजा का नाम सिद्धार्थ था। सिद्धार्थ का विवाह वैशालिक राजकुमारी त्रिशला के साथ हुआ था। त्रिशला लिच्छवि राजकुमारी थी, और लिच्छवियो के प्रमुख राजा चेटक की बहन थी। ज्ञातृक राजा सिद्धार्थ और लिच्छवि कुमारी त्रिशला के तीन सन्तानें हुई, एक कन्या और दो पुत्र। छोटे लड़के का नाम वर्धमान रखा गया। यही आगे चलकर महावीर बना। बालक का जन्म-नाम वर्धमान था। वीर, महावीर, जिन, अर्हत्, भगवत् आदि भी उसके नाम के रूप मे जैन-ग्रन्थो मे आते है, पर ये उसके विशेषण मात्र है। वर्धमान का बाल्य-जीवन राजकुमारों की तरह व्यतीत हुआ। वह एक समृद्ध क्षत्रिय सरदार का पुत्र था। वज्जि राज्य-संघ मे कोई वंशक्रमानुगत राजा नही होता था, वहाँ गणतन्त्र शासन प्रचलित था। परन्तु विविध क्षत्रिय घरानो के बड़े-बडे कुलीन सरदारो का—जो कि 'राजा' कहलाते थे—स्वाभाविक रूप से इस गणराज्य मे प्रभुत्व था। वर्धमान का पिता सिद्धार्थ भी इन्हीं 'राजाओं' में से एक था। वर्धमान को छोटी आयु से ही शिक्षा देनी प्रारम्भ की गई। शीघ्र ही वह सब विद्याओं और शिल्पो मे निपुण हो गया। उचित आयु में वर्धमान का विवाह यशोदा नामक कुमारी के साथ किया गया। उनके एक कन्या भी उत्पन्न हुई। आगे चलकर जमालि नामक क्षत्रिय के साथ इसका विवाह हुआ, जो कि वर्धमान महावीर के प्रधान शिष्यो में से एक था।

यद्यपि वर्धमान का प्रारम्भिक जीवन साधारण गृहस्थ के समान व्यतीत हुआ, पर उसकी प्रवृत्ति सासारिक जीवन की ओर नही थी। वह 'प्रेय' मार्ग को छोड़कर 'श्रेय' मार्ग की ओर जाना चाहते थे। उन्होंने सासारिक जीवन को त्यागकर भिक्षु बनना निश्चित किया। निकट सम्बन्धियो से अनुमति ले वर्धमान ने घर का परित्याग कर

दिया। उनके परिवार के लोग पहले से ही पार्श्वनाथ द्वारा प्रतिपादित जैन धर्म के अनुयायी थे, अतः वर्धमान स्वाभाविक रूप से जैन भिक्षु बने जैन-भिक्षुओं की तरह उन्होंने अपने केशश्मश्रु का परित्याग कर तपस्या करनी आरम्भ कर दी। बारह वर्ष तक घोर तपस्या के बाद तेरहवें वर्ष मे वर्धमान महावीर को अपनी तपस्या का फल प्राप्त हुआ। उन्हें पूर्ण सत्य-ज्ञान की उपलब्धि हुई, और उन्होंने 'केवलिन्' पद प्राप्त कर लिया। जिस समय मनुष्य संसार के संसर्ग से सर्वथा मुक्त हो जाता है, सुख-दुःख के अनुभव से वह ऊपर उठ जाता है, वह अपने को अन्य सब वस्तुओं से पृथक् 'केवलरूप' समझने लगता है, तब यह 'केवलिन्' की दशा आती है। वर्धमान महावीर ने इस दशा को पहुँचकर बारह वर्ष के तपस्याकाल मे जो सत्य-ज्ञान प्राप्त किया था, उसका प्रचार करना प्रारम्भ किया। महावीर की ख्याति शीघ्र ही दूर-दूर तक पहुँच गई। अनेक लोग उनके शिष्य होने लगे। महावीर ने इस समय जिस सम्प्रदाय की स्थापना की, उसे 'निर्ग्रन्थ' नाम से कहा जाता है, जिसका अभिप्राय 'बन्धनो से मुक्त' लोगों के सम्प्रदाय से है। महावीर के शिष्य भिक्षु व मुनि 'निर्ग्रन्थ' या 'निगन्थ' कहलाते थे। इन्हे 'जैन' भी कहा जाता था, क्योकि ये 'जिन' (वर्धमान को केवलिन्-पद प्राप्त करने के पश्चात् वीर, महावीर, जिन, अर्हत् आदि सम्मानसूचक शब्दो से सम्बोधित किया जाता था) के अनुयायी होते थे।

वर्धमान महावीर ने किस प्रकार अपने धर्म का प्रचार किया, इस सम्बन्ध में भी अनेक बातें प्राचीन जैन-ग्रन्थों से ज्ञात होती हैं। महावीर का शिष्य गौतम इन्द्रभूति था। जैन-धर्म के इतिहास में इस गौतम इन्द्रभूति का भी बड़ा महत्त्व है। आगे चलकर इसने भी 'केवलिन्' पद को प्राप्त किया। महावीर का यह ढंग था, कि वह किसी एक स्थान को केन्द्र बनाकर अपना कार्य नही करते थे, अपितु अपनी शिष्य-मंडली के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करते हुए अपने धर्म-सन्देश को जनता तक पहुँचाने का उद्योग करते थे। स्वाभाविक रूप से सबसे पूर्व उन्होंने अपनी जाति के लोगो—ज्ञातृक क्षत्रियो मे ही अपनी शिक्षाओ का प्रचार किया। वे शीघ्र ही उनके अनुयायी हो गए। उसके बाद लिच्छवि तथा विदेह-राज्यों मे प्रचार कर महावीर ने राजगृह (मगध की राजधानी) की ओर प्रस्थान किया। वहाँ उस समय प्रसिद्ध सम्राट् श्रेणिक राज्य करता था। जैन-ग्रन्थों के अनुसार श्रेणिक महावीर के उपदेशों से बहुत प्रभावित हुआ, और उसने अपनी सम्पूर्ण सेना के साथ महावीर का बड़े समारोह से स्वागत किया।

अपनी आयु के ७२ वें वर्ष मे महावीर स्वामी की मृत्यु हुई। मृत्यु के समय महावीर राजगृह के समीप पावा नामक नगर मे विराजमान थे। यह स्थान इस समय भी जैन लोगों का बड़ा तीर्थ है। वर्तमान समय में इसका दूसरा नाम पोखरपुर है, और यह स्थान बिहार शरीफ स्टेशन से ६ मील की दूरी पर स्थित है।

(४) जैनों का धार्मिक साहित्य

जैन लोगों के धार्मिक साहित्य को हम प्रधानतया छः भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) द्वादश अंग, (२) द्वादश उपाग, (३) दस प्रकीर्ण, (४) षट् छेदसूत्र, (५) चार मूल सूत्र, और (६) विविध।

१. द्वादश अंग—(१) पहला अंग आयारंग सुत्त (आचारांग सूत्र) है। इसमें उन नियमों का वर्णन है, जिन्हे जैन-भिक्षुओं को अनुसरण करना चाहिए। जैन-भिक्षु को किस प्रकार तपस्या करनी चाहिए, किस प्रकार जीव-रक्षा के लिए तत्पर रहना चाहिए—इत्यादि विविध बातों का इसमें विशद रूप से उल्लेख है। अन्य अंग सूत्रकृदंग, स्थानांग, समवायांग, भगवती सूत्र, ज्ञान धर्म कथा, उवासगदसाओ, अन्तकृद्दशाः, अनुत्त-रोपपातिक दशाः, प्रश्न-व्याकरण, विपाकश्रुतम् और दृष्टिवाद है।

२. **द्वादश उपांग**—प्रत्येक अंग का एक-एक उपाग है। इनके नाम निम्न-लिखित है—(१) औपपातिक, (२) राजप्रश्नीय, (३) जीवाभिगम, (४) प्रज्ञापना, (५) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, (६) चन्द्रप्रज्ञप्ति, (७) सूर्यप्रज्ञप्ति, (८) निरयावली, (९) कल्पावतं-सिका, (१०) पुष्पिका, (११) पुष्पचूलिका, और (१२) वृष्णिदशाः।

३. **दस प्रकीर्ण**—इनमें जैन धर्म सम्बन्धी विविध विषयो का वर्णन है। इनके नाम निम्नलिखित हैं—(१) चतुःशरण, (२) संस्तारक, (३) आतुरप्रत्याख्यानम्, (४) भक्तापरिज्ञा, (५) तन्दुलवैचारिका, (६) चन्द्रवैध्यक (७) गणिविद्या, (८) देवेन्द्रस्तव (९) वीरस्तव, और (१०) महाप्रख्यान।

४. **षट् छेदसूत्र**—इन सूत्रों में जैन-भिक्षु और भिक्षुणियो के लिए विविध नियमों का वर्णन कर उन्हे दृष्टातो द्वारा प्रदर्शित किया गया है। छेदसूत्र के नाम निम्नलिखित हैं—(१) व्यवसाय सूत्र, (२) बृहत्कल्प सूत्र, (३) दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र, (४) निशीथ सूत्र, (५) महानिशीथ सूत्र, और (६) जितकल्प सूत्र।

५. **चार मूलसूत्र**—इनके नाम निम्नलिखित हैं—(१) उत्तराध्ययन सूत्र, (२) दशवैकालिक सूत्र, (३) आवश्यक सूत्र, और (४) ओकनिर्यूति सूत्र।

६. **विविध**—इस वर्ग मे बहुत से ग्रन्थ अन्तर्गत हैं, परन्तु उनमे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण नन्दिसूत्र और अनुयोगद्वार हैं। इनमें बहुत प्रकार के विषयो का समावेश है। जैन-भिक्षुओं को जिन भी विषयों का परिज्ञान था, वे प्रायः सभी इनमें आ गए हैं। ये विश्वकोश के ढंग के ग्रन्थ है। इन धर्म-ग्रन्थों पर बहुत-सी टीकाएँ भी हैं। सबसे पुरानी टीकाएँ निर्युक्ति कहलाती हैं। इनका समय भद्रबाहु श्रुतिकेवली का कहा जाता है। जैन टीकाकारो मे सबसे प्रसिद्ध हरिभद्रस्वामी हुए हैं। इन्होने बहुत-से धर्म-ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी हैं। इनके अतिरिक्त शान्तिसूरी, देवेन्द्रगणी और अभयदेव नाम के टीकाकारों ने भी बड़े महत्त्वपूर्ण भाष्य और टीकायें लिखी हैं। इन टीकाओं का भी जैन-धर्म में बहुत महत्त्व है। प्रायः सभी जैन धर्म-ग्रन्थ प्राकृत-भाषा में हैं।

जैनों के जिस धार्मिक साहित्य का हमने वर्णन किया है, वह श्वेताम्बर सम्प्रदाय का है। जैनों में दो मुख्य सम्प्रदाय हैं—दिगम्बर और श्वेताम्बर। दिगम्बर सम्प्रदाय के जैन इस धार्मिक साहित्य को नहीं मानते। उनके धार्मिक ग्रन्थ भिन्न हैं।

(५) जैन-धर्म की शिक्षाएँ

जैन-धर्म के अनुसार मानव जीवन का उद्देश्य मोक्ष प्राप्त करना है। मोक्ष प्राप्ति के लिए मनुष्य क्या प्रयत्न करे, इसके लिए साधारण गृहस्थों और भिक्षुओं (मुनियों) मे भेद किया गया है। जिन नियमों का पालन एक मुनि कर सकता है, साधारण गृहस्थ (श्रावक) उनका पालन नही कर सकेगा। इसीलिए जीवन की इन दोनों स्थितियों मे मुमुक्षु के लिए जो भिन्न-भिन्न धर्म हैं, उनका पृथक् रूप से प्रतिपादन करना आवश्यक है।

पांच अणुव्रत—पहले सामान्य गृहस्थ (श्रावक) के धर्म को लीजिए। गृहस्थ के लिए पाच अणुव्रतों का पालन करना आवश्यक है। गृहस्थों के लिए यह सम्भव नहीं, कि वे समस्त पापों का त्याग कर सकें। संसार के कृत्यों में फंसे रहने से उन्हें कुछ-न-कुछ अनुचित कृत्य करने ही पडेंगे, अत. उनके लिए अणुव्रतो का विधान किया गया है। अणुव्रत निम्नलिखित हैं—(१) अहिंसाणुव्रत—जैन-धर्म के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है, कि वह अहिंसाव्रत का पालन करे। मन, वचन और शरीर से किसी भी प्रकार की हिंसा करना अत्यन्त अनुचित है। परन्तु सासारिकमनुष्यो के लिए पूर्ण अहिंसाव्रत धारण कर सकना कठिन है। अत: श्रावकों के लिए 'स्थूल अहिंसा' का विधान किया गया है। 'स्थूल अहिंसा' का अभिप्राय यह है, कि निरपराधियो की हिंसा न की जाए। जैन-ग्रन्थों के अनुसार अनेक राजा लोग अहिंसाणुव्रत का पालन करते हुए भी अपराधियो को दंड देते रहे हैं, और अहिंसक जन्तुओं का घात करते रहे हैं, अत: इस व्रत को स्थूल अर्थों मे ही लेना चाहिए। (२) सत्याणुव्रत—मनुष्यो मे असत्य भाषण करने की प्रवृत्ति अनेक कारणों से होती है। द्वेष, स्नेह तथा मोह का उद्वेग इसमे प्रधान कारण है। इन सब प्रवृत्तियो को दबाकर सर्वदा सत्य बोलना सत्याणुव्रत कहाता है। (३) अचौर्याणुव्रत या अस्तेय—किसी भी प्रकार से दूसरो की सम्पत्ति की चोरी न करना, और गिरी हुई, पडी हुई, व रक्खी हुई वस्तु को स्वयं ग्रहण न कर उसके स्वामी को दे देना अचौर्याणुव्रत कहाता है। (४) ब्रह्मचर्याणुव्रत—मन, वचन तथा कर्म द्वारा पर-स्त्री का समागम न कर अपनी पत्नी से ही सन्तोष तथा स्त्री के लिए मन, वचन व कर्म द्वारा पर-पुरुष का समागम न कर अपने पति से ही सन्तोष रखना ब्रह्मचर्याणुव्रत कहाता है। (५) परिग्रह-परिमाण-अणुव्रत—आवश्यकता के बिना बहुत-से धन-धान्य को संग्रह न करना 'परिग्रह-परिमाण-अणुव्रत' कहाता है। गृहस्थो के लिए यह तो आवश्यक है, कि वे धन-उपार्जन करें, पर उसी में लिप्त हो जाना और अर्थ-संग्रह के पीछे भागना पाप है।

तीन गुणव्रत—इन अणुव्रतों का पालन तो गृहस्थों को सदा करना ही चाहिए। पर इनके अतिरिक्त समय-समय पर अधिक कठोर व्रतो का ग्रहण करना भी उपयोगी है। सामान्य सासारिक जीवन व्यतीत करते हुए गृहस्थों को चाहिए कि वे कभी-कभी अधिक कठोर व्रतों की भी दीक्षा लें। ये कठोर व्रत जैन-धर्म-ग्रन्थो मे 'गुणव्रत' के नाम से कहे गये है। इनका संक्षिप्त रूप स प्रदर्शन करना उपयोगी है—(१) दिग्विरति—गृहस्थ को चाहिए कि कभी-कभी यह व्रत ले ले, कि मैं इस दिशा में इससे अधिक दूर

नहीं जाऊँगा। (२) अनर्थ दण्ड विरति—मनुष्य बहुत-से ऐसे कार्य करता है, जिनसे उस का कोई सम्बन्ध नहीं होता। ऐसे कार्यों से सर्वथा बचना चाहिए। (३) उपभोग-परिभोग परिमाण—गृहस्थी को यह व्रत ले लेना चाहिए कि मैं परिमाण में इतना भोजन करूँगा, भोजन मे इतने से अधिक वस्तुएँ नहीं खाऊँगा, और इससे अधिक भोग नही करूँगा इत्यादि।

इन तीन गुणव्रतों के अतिरिक्त चार शिक्षाव्रत हैं, जिनका पालन भी गृहस्थों को करना चाहिए। (१) देशविरति—एक देश व क्षेत्र निश्चित कर लेना, जिससे आगे गृहस्थ न जाए, और न अपना कोई व्यवहार करे। (२) सामयिक व्रत—निश्चित समय पर (यह निश्चित समय जैन-धर्म के अनुसार प्रातः, सायं और मध्याह्न, ये तीन संध्याकाल हैं) सब सांसारिक कृत्यो से विरत होकर, सब राग-द्वेष छोड़ साम्य भाव धारणकर शुद्ध आत्म-स्वरूप मे लीन होने की क्रिया को सामयिक व्रत कहते है। (३) पौषधोपवास-व्रत—प्रत्येक अष्टमी व चतुर्दशी के दिन सासारिक कार्यों का परित्याग कर 'मुनियों' के समान जीवन व्यतीत करने के प्रयत्न को 'पौषधोपवासव्रत' कहते है। इस दिन गृहस्थ को सब प्रकार का भोजन त्यागकर धर्मकथा श्रवण मे ही अपना समय व्यतीत करना चाहिए। (४) अतिथि-संविभाग-व्रत—विद्वान् अतिथियो का और विशेषतया मुनि लोगों का सम्मानपूर्वक स्वागत करना अतिथि-सविभाग-व्रत कहलाता है।

इन गुणव्रतों और शिक्षाव्रतो का पालन गृहस्थो के लिए बहुत लाभदायक है। वे इनसे अपना जीवन उन्नत कर सकते है, और 'मुनि' बनने के लिए उचित तैयारी कर सकते है। प्रत्येक मनुष्य मुनि' नही बन सकता। ससार का व्यवहार चलाने के लिए गृहस्थ धर्म का पालन करना भी आवश्यक है। अतः जैन-धर्म के अनुसार गृहस्थ-जीवन बिताना कोई बुरी बात नही है। पर गृहस्थ होते हुए भी मनुष्य को अपना जीवन इस ढग से व्यतीत करना चाहिए, कि पाप मे लिप्त न हो और मोक्ष माधन में तत्पर रहे।

पांच महाव्रत—जैन मुनियों के लिए आवश्यक है, कि वे पाच महाव्रतो का पूर्णरूप से पालन करें। सर्वसाधारण गृहस्थ लोगो के लिए यह सम्भव नही होता कि वे पापों से सर्वथा मुक्त हो सकें। इस कारण उनके लिए अणुव्रतो का विधान किया गया है। पर मुनि लोगों के लिए, जो कि मोक्ष-पद को प्राप्त करने के लिए ही संसार त्यागकर साधना मे तत्पर हुए हैं, पापों का सर्वथा परित्याग अनिवार्य है। इसलिए उन्हे निम्नलिखित पाच महाव्रतों का पालन करना चाहिए।

(१) अहिंसा महाव्रत—जैन मुनि के लिए अहिंसाव्रत बहुत महत्त्व रखता है। किसी भी प्रकार से जानबूझकर या बिना जाने-बूझे प्राणी की हिंसा करना महापाप है। अहिंसाव्रत का सम्यक् प्रकार से पालन करने के लिए निम्नलिखित व्रत उपयोगी माने गये हैं—१. ईर्यासमिति—चलते हुए इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कही हिंसा न हो जाए। इसके लिए उन्ही स्थानो पर चलना चाहिए, जहाँ भली-भाँति अच्छे मार्ग बने हुए हों, क्योंकि वहाँ जीव-जन्तुओ के पैर से कुचले जाने की सम्भावना बहुत कम होगी। २. भाषा-समिति—भाषण करते हुए सदा मधुर तथा प्रिय भाषा बोलनी

चाहिए। कठोर वाणी से वाचिक हिंसा होती है, और साथ ही इस बात की भी सम्भावना रहती है कि शाब्दिक लड़ाई प्रारम्भ न हो जाए। ३. एषणासमिति—भिक्षा ग्रहण करते हुए मुनि को यह ध्यान में रखना चाहिए कि भोजन में किसी प्राणी की हिंसा तो नहीं की गई है, अथवा भोजन में किसी प्रकार के कृमि तो नही हैं। ४. आदान-क्षेपणा-समिति—मुनि को अपने धार्मिक कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए जिन वस्तुओं का अपने पास रखना आवश्यक है, उनमें यह निरन्तर देखते रहना चाहिए कि कहीं कीड़े तो नहीं है। ५. व्युत्सर्ग-समिति—पेशाब और मल त्याग करते समय भी यह ध्यान में रखना चाहिए कि जिस स्थान पर वे ये कार्य कर रहे हैं, वहाँ कोई जीव-जन्तु तो नही है।

जैन-मुनि के लिए अहिंसा का व्रत पालन करना अत्यन्त आवश्यक है। प्रमाद व अज्ञान से तुच्छ से तुच्छ जीव का वध भी उसके लिए पाप का कारण बनता है। इसीलिए इस व्रत का पालन करने के लिए इतनी सावधानी से कार्य करने का उपदेश दिया गया है।

(२) असत्य-त्याग-महाव्रत—सत्य परन्तु प्रिय भाषण करना 'असत्य-त्याग महाव्रत' कहलाता है। यदि कोई बात सत्य भी हो, परन्तु कटु हो, तो उसे नही बोलना चाहिए। इस व्रत के पालन में पाँच भावनाएँ बहुत उपयोगी हैं—१. अनुबिम-भाषी-भली-भाति विचार किये बिना भाषण नहीं करना चाहिए। २. कोह परिजानाति—जब क्रोध व अहंकार का वेग हो, तो भाषण नही करना चाहिए। ३. लोभी परिजानाति—लोभ का भाव जब प्रबल हो, तो भाषण नही करना चाहिए। ४. भयं परिजानाति—डर के कारण असत्य भाषण नही करना चाहिए। ५. हासं परिजानाति—हंसी मे भी असत्य भाषण नही करना चाहिए।

सत्य का पालन करने के लिए सम्यक् प्रकार से विचार करके भाषण करना, तथा लोभ, मोह, भय, हास व अहंकार से असत्य भाषण न करना अत्यन्त आवश्यक है।

(३) अस्तेय महाव्रत—किसी दूसरे की किसी भी वस्तु को उसकी अनुमति के बिना ग्रहण न करना तथा जो वस्तु अपने को नही दी गई है, उसको ग्रहण न करना तथा ग्रहण करने की इच्छा भी न करना अस्तेय महाव्रत कहाता है।

इस महाव्रत का पालन करने के लिए मुनि लोगों को निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए—१. जैन मुनि को किसी घर मे तब तक प्रवेश नही करना चाहिए, जब तक कि गृहपति की अनुमति अन्दर आने के लिए न ले ली जाए। २. भिक्षा में जो कुछ भी भोजन प्राप्त हो, उसे तब तक ग्रहण न करे, जब तक कि गुरु को दिखलाकर उससे अनुमति न ले ली जाए। ३. जब मुनि को किसी घर में निवास करने की आवश्यकता हो, तो पहले गृहपति से अनुमति प्राप्त कर ले और यह निश्चित रूप से पूछ ले कि घर के कितने हिस्से मे और कितने समय तक वह रह सकता है। ४. गृहपति की अनुमति के बिना घर में विद्यमान किसी आसन, शय्या व अन्य वस्तु का उपयोग न करे। ५. जब कोई मुनि किसी घर में निवास कर रहा हो, तो दूसरा मुनि भी उस घर में गृहपति की अनुमति के बिना निवास न कर सके।

(४) ब्रह्मचर्य महाव्रत—जैन मुनियों के लिए ब्रह्मचर्य-व्रत का भी महत्त्व है।

अपने विपरीत लिंग के व्यक्ति से किसी प्रकार का संसर्ग रखना मुनियों के लिए निषिद्ध है। ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने के लिए निम्नलिखित भावनाओं का विधान किया गया है। १. किसी स्त्री से वार्तालाप न किया जाए। २. किसी स्त्री की तरफ दृष्टि-पात भी न किया जाए। ३. गृहस्थ-जीवन में स्त्री-संसर्ग से जो सुख प्राप्त होता था, उसका मन में भी चिन्तन न किया जाए। ४. अधिक भोजन न किया जाए। मसाले, तिक्त पदार्थ आदि ब्रह्मचर्य-नाशक भोजनों का परित्याग किया जाए। जिस घर में कोई स्त्री रहती हो, वहाँ निवास न किया जाए।

साधुनियों के लिए नियम इनसे सर्वथा विपरीत हैं। किसी पुरुष के साथ बातचीत करना, पुरुष का अवलोकन करना और पुरुष का चिन्तन करना—उनके लिए निषिद्ध है।

(५) अपरिग्रह महाव्रत—किसी भी वस्तु, रस व व्यक्ति के साथ अपना सम्बन्ध न रखना तथा सबसे निर्लिप्त रहकर जीवन व्यतीत करना 'अपरिग्रह-व्रत' का पालन कहाता है। जैन मुनियो के लिए 'अपरिग्रह-व्रत' का अभिप्राय बहुत विस्तृत तथा गम्भीर है। सम्पत्ति का संचय न करना तो साधारण बात है, पर किसी भी वस्तु के साथ किसी भी प्रकार का ममत्व न रखना जैन-मुनियों के लिए आवश्यक है। मनुष्य इन्द्रियो द्वारा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द का जो अनुभव प्राप्त करता है—उस सबसे विरत हो जाना 'अपरिग्रह-व्रत' के पालने के लिए परमावश्यक है। इस व्रत के सम्यक् प्रकार पालन से मनुष्य अपने जीवन के चरम उद्देश्य मोक्ष को प्राप्त करने के योग्य बनता है। सब विषयों तथा वस्तुओं से निर्लिप्त तथा विरक्त होकर वह इस जीवन मे ही सिद्ध अथवा 'केवली' बन जाता है।

(६) महात्मा बुद्ध

उत्तरी बिहार मे एक जनपद था, जिसका नाम शाक्य गण था। इसकी राजधानी कपिलवस्तु थी। वहाँ के गणराजा का नाम शुद्धोधन था। इन्ही के घर कुमार सिद्धार्थ का जन्म हुआ, जो आगे चलकर महात्मा बुद्ध के नाम से प्रसिद्ध हुए। शाक्य कुमारों की शिक्षा में उस समय शारीरिक उन्नति की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था। सिद्धार्थ को भी इसी प्रकार की शिक्षा दी गई। तीरन्दाजी, घुड़सवारी और मल्लविद्या मे उसे बहुत प्रवीण बनाया गया। सिद्धार्थ का बाल्यकाल बड़े सुख और ऐश्वर्य से व्यतीत हुआ। सरदी, गरमी और वर्षा इन ऋतुओं में उसके निवास के लिए अलग-अलग महल बने हुए थे। इनमे ऋतु के अनुसार ऐश्वर्य तथा भोग-विलास के सब सामान एकत्र किए गए थे। सिद्धार्थ एक सम्पन्न शाक्य, राजा का पुत्र था। उसके पिता की इच्छा थी, कि सिद्धार्थ भी शाक्यगण में खूब प्रतिष्ठित तथा उन्नत स्थान प्राप्त करे। युवा होने पर सिद्धार्थ का विवाह यशोधरा नाम की कुमारी के साथ किया गया। विवाह के अनन्तर सिद्धार्थ का जीवन बड़े आनन्द के साथ व्यतीत होने लगा। सुख-ऐश्वर्य की उन्हें कमी ही क्या थी? कुछ समय बाद उन्हें एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम राहुल रखा गया।

एक बार की बात है कि कुमार सिद्धार्थ कपिलवस्तु का अवलोकन करने के लिए निकले। उस दिन नगर को खूब सजाया गया था। कुमार सिद्धार्थ नगर की शोभा को देखता हुआ चला जा रहा था, कि उसका ध्यान सड़क के एक ओर लेटकर अन्तिम श्वास लेते हुए एक बीमार की ओर गया। सारथि ने पूछने पर बताया कि यह एक बीमार है, जो कष्ट के कारण भूमि पर पड़ा हुआ तड़प रहा है, और थोड़ी देर में इसका देहान्त हो जाएगा। ऐसी घटना सभी देखते हैं, पर सिद्धार्थ पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। इसके बाद उसे क्रमशः लाठी टेककर जाता हुआ एक बूढ़ा, श्मशान की ओर जाती हुई एक अरथी और एक शान्तमुख संन्यासी दिखाई दिए। पहले तीनों दृश्यों को देखकर सिद्धार्थ का दबा हुआ वैराग्य एकदम प्रबल हो गया। उसे भोग-विलासमय जीवन अत्यन्त तुच्छ और क्षणिक जान पड़ने लगा। संन्यासी को देखकर उसे उमंग आई, कि मैं भी इसी प्रकार संसार से विरक्त हो जाऊँ। उसने संसार का परित्याग कर संन्यास ले लेने का दृढ़ संकल्प कर लिया।

एक दिन अंधेरी रात को कुमार सिद्धार्थ घर से निकल गया। शयनागार से बाहर आकर जब वह सदा के लिए अपने छोटे से परिवार से विदा होने लगा, तो उसे अपने प्रिय अबोध बालक राहुल और प्रियतमा यशोधरा की स्मृति सताने लगी। वह पुनः अपने शयनागार में प्रविष्ट हुआ। यशोधरा सुख की नींद सो रही थी। राहुल माता की छाती से सटा सो रहा था। कुछ देर तक सिद्धार्थ इस अनुपम दृश्य को एकटक देखता रहा। उसके हृदय पर दुर्बलता प्रभाव करने लगी। पर अगले ही क्षण अपने हृदय के निर्बल भावों को एक साथ परे ढकेलकर बाहर चला गया। गृह-त्याग के समय उसकी आयु २९ वर्ष की थी।

इसके बाद लगभग सात साल तक सिद्धार्थ ज्ञान और सत्य की खोज में इधर-उधर भटकता रहा। शुरू-शुरू में उसने दो तपस्वियों को अपना गुरु धारण किया। इन्होंने उसे मोक्ष प्राप्ति के लिए खूब तपस्या करवाई। शरीर की सब क्रियाओं को बन्द कर घोर तपस्या करना ही इनकी दृष्टि में मोक्ष का उपाय था। सिद्धार्थ ने घोर तपस्याएँ कीं। शरीर को तरह-तरह से कष्ट दिए। पर इन साधनों से उसे आत्मिक शान्ति नहीं मिली। उसने यह मार्ग छोड़ दिया।

मगध का भ्रमण करता हुआ सिद्धार्थ उरुवेला पहुँचा। यहाँ के मनोहर प्राकृतिक दृश्यों ने उनके हृदय पर बड़ा प्रभाव डाला। इस प्रदेश के निस्तब्ध और सुन्दर जंगलों और मधुर शब्द करने वाले स्वच्छ जल के झरनों को देखकर उसका चित्त बहुत प्रसन्न हुआ। उरुवेला के इन जंगलों में सिद्धार्थ ने फिर तपस्या प्रारम्भ की। यहाँ पाँच अन्य तपस्वियों से भी उसकी भेंट हुई। ये भी कठोर तप द्वारा मोक्ष प्राप्ति में विश्वास रखते थे। सिद्धार्थ लगातार पद्मासन लगाकर बैठा रहता था। भोजन तथा जल का उसने सर्वथा परित्याग कर दिया। इस कठोर तपस्या से उसका शरीर निर्जीव-सा हो गया। पर फिर भी उसे सन्तोष नहीं हुआ। उसने अनुभव किया कि उसकी आत्मा वहीं पर है, जहाँ पहले थी। इतनी घोर तपस्या के बाद भी उसे आत्मिक उन्नति के कोई चिह्न दिखाई नहीं दिये। उसे विश्वास हो गया, कि शरीर को जान-बूझकर कष्ट देने से मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। सिद्धार्थ ने तपस्या के मार्ग का परित्याग कर फिर से

अन्न ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया। उसके साथी तपस्वियों ने समझा, कि सिद्धार्थ मार्ग-भ्रष्ट हो गया है, और अपने उद्देश्य से च्युत हो गया है। उन्होंने उसका साथ छोड़ दिया और अब सिद्धार्थ फिर अकेला ही रह गया। तपस्या के मार्ग से निराश होकर सिद्धार्थ उस स्थान पर पहुँचा, जहाँ वर्तमान समय में बोधगया है। वहाँ एक विशाल पीपल का वृक्ष था। थक कर सिद्धार्थ उसकी छाया में बैठ गया। इतने दिनों तक वह सत्य को ढूंढने के लिए अनेक मार्गों का ग्रहण कर चुका था। अब उसने अपने अनुभवों पर विचार करना प्रारम्भ किया। सात दिन और सात रात वह एक ही जगह पर ध्यानमग्न दशा में बैठा रहा। अन्त में उसे बोध हुआ। उसे अपने हृदय में एक प्रकार का प्रकाश-सा जान पड़ा। उसकी आत्मा में एक दिव्य ज्योति का आविर्भाव हुआ। उसकी साधना सफल हुई। वह अज्ञान से ज्ञान की दशा को प्राप्त हो गया। इस बोध या सत्य ज्ञान के कारण वह सिद्धार्थ से 'बुद्ध' बन गया। बौद्धों की दृष्टि में इस पीपल के वृक्ष का बड़ा महत्त्व है। यही बोधिवृक्ष कहाता है। इसी के कारण समीपवर्ती नगरी गया भी 'बोधगया' कहाती है। इस वृक्ष के नीचे ध्यानमग्न दशा में जो बोध कुमार सिद्धार्थ को हुआ था, वही 'बौद्ध-धर्म' है। महात्मा बुद्ध उसे आर्यमार्ग तथा मध्यमार्ग कहते थे। इसके बाद सिद्धार्थ अथवा बुद्ध ने अपना सम्पूर्ण जीवन इसी आर्यमार्ग का प्रचार करने में लगा दिया।

महात्मा बुद्ध को जो बोध हुआ था, उसके अनुसार मनुष्यमात्र का कल्याण करना और सब प्राणियों का हित सम्पादन करना उनका परम लक्ष्य था। इसीलिए बुद्ध होकर वे शान्त होकर नहीं बैठ गए। उन्होंने सब जगह घूम-घूमकर अपना सन्देश जनता तक पहुँचाना प्रारम्भ कर दिया।

बुद्ध का प्रचार-कार्य—गया से महात्मा बुद्ध काशी की ओर चले। काशी के समीप, जहाँ आजकल सारनाथ है, उन्हें वे पाँचों तपस्वी मिले, जिनसे उनकी उरुवेला में भेंट हुई थी। जब इन तपस्वियों ने बुद्ध को दूर से आते देखा, तब उन्होंने सोचा, यह वही सिद्धार्थ है, जिसने अपनी तपस्या बीच में ही भंग कर दी थी। वह अपने प्रयत्न में असफल हो निराश होकर फिर यहाँ आ रहा है। हम उसका स्वागत व सम्मान नहीं करेंगे। परन्तु जब महात्मा बुद्ध और समीप आए तो उनके चेहरे पर एक अनुपम ज्योति देखकर ये तपस्वी आश्चर्य में आ गए, और उन्होंने खड़े होकर उनका स्वागत किया। बुद्ध ने उन्हें उपदेश दिया। गया में बोधि वृक्ष के नीचे ध्यानमग्न होकर जो सत्यज्ञान उन्होंने प्राप्त किया था, उसका सबसे पहले उपदेश इन तपस्वियों को ही दिया गया। ये पाँचों बुद्ध के शिष्य हो गए। बौद्धधर्म में सारनाथ के इस उपदेश का बहुत महत्त्व है। इसी के कारण बौद्ध-संसार में बोध गया के बाद सारनाथ का तीर्थ-स्थान के रूप में सबसे अधिक माहात्म्य है।

सारनाथ से बुद्ध उरुवेला गए। यह स्थान उस समय याज्ञिक कर्मकाण्ड में व्यस्त ब्राह्मण पुरोहितों का गढ़ था। वहाँ एक हजार ब्राह्मण इस प्रकार के रहते थे, जो हर समय अग्निकुण्ड में अग्नि को प्रदीप्त रखकर वेदमन्त्रों द्वारा आहुतियाँ देने में व्यस्त रहते थे। बुद्ध के उपदेशों से वे उनके अनुयायी हो गए। कश्यप इनका नेता था। आगे चलकर वह बुद्ध के प्रधान शिष्यों में गिना जाने लगा। कश्यप के बौद्ध

धर्म में दीक्षित हो जाने के कारण बुद्ध की ख्याति दूर-दूर तक फैल गई। उरुवेला से वह अपने शिष्यों के साथ राजगृह गए। उन्होंने नगर के बाहर एक उपवन में डेरा लगाया। उन दिनों मगध के राजसिंहासन पर श्रेणिय बिम्बिसार बिराजमान थे। उन्होंने बहुत-से अनुचरों के साथ बुद्ध के दर्शन किए, और उनके उपदेशों का श्रवण किया। राजगृह में बुद्ध को दो ऐसे शिष्य प्राप्त हुए, जो आगे चलकर बौद्ध धर्म के बड़े स्तम्भ साबित हुए। इनके नाम सारिपुत्त और मोग्गलान थे। ये दोनों प्रतिभाशाली ब्राह्मण कुमार एक दूसरे के अभिन्न मित्र थे, और सदा एक साथ रहते थे। एक बार जब वे मार्ग के समीप बैठे हुए किसी विषय की चर्चा कर रहे थे, तो एक बौद्ध-भिक्षु भिक्षापात्र हाथ में लिए वहाँ से गुजरा। इन ब्राह्मण कुमारों की दृष्टि उस पर पड़ गई। उसकी चाल, वस्त्र, मुखमुद्रा और शान्त तथा वैराग्यपूर्ण दृष्टि से ये दोनों इतने प्रभावित हुए कि उसके सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिए व्याकुल हो उठे। जब वह बौद्ध-भिक्षु भिक्षाकार्य समाप्त कर वापस लौट रहा था, तो ये उसके साथ महात्मा बुद्ध के दर्शन के लिए गए। इनको देखते ही बुद्ध समझ गए, कि ये दोनों ब्राह्मण कुमार उनके प्रधान शिष्य बनने योग्य हैं। बुद्ध का उपदेश सुनकर सारिपुत्त और मोग्गलान भी भिक्षु-वर्ग में सम्मिलित हो गए। बाद में ये दोनों बड़े प्रसिद्ध हुए, और बौद्ध धर्म के प्रसार के लिए इन्होंने बहुत कार्य किया।

जब मगध के बहुत-से कुलीन लोग बड़ी सख्या में भिक्षु बनने लगे, तो जनता में असन्तोष बढने लगा। लोगों ने कहना शुरू किया—यह साधु प्रजा की सख्या घटाने, स्त्रियों को विधवाओं के सदृश बनाने और कुलों का विनाश करने के लिए आया है, इससे बचो। बुद्ध के शिष्यों ने जाकर उनसे कहा, कि आजकल मगध की जनता इस भाव के गीत बनाकर गा रही है—सैर करता हुआ एक साधु मगध की राजधानी में आया है, और पहाड की चोटी पर डेरा डाले बैठा है। उसने संजय के सब शिष्यों को अपना चेला बना लिया है। आज न जाने वह किसे अपने पीछे लगाएगा। इसपर बुद्ध ने उत्तर दिया—इस बात से घबराओ नहीं। यह असन्तोष क्षणिक है। जब तुमसे लोग पूछें, कि बुद्ध आज किसे अपने पीछे लगाएगा, तो तुम यह उत्तर दिया करो—वीर और विवेकशाली पुरुष उसके अनुयायी बनेंगे। वह तो सत्य के बल पर ही अपने अनुयायी बनाता है।

महात्मा बुद्ध का प्रधान कार्यक्षेत्र मगध था। वे कई बार मगध गए, और सर्वत्र घूम-घूमकर उन्होंने अपने धर्म का प्रचार किया। बिम्बिसार और अजातशत्रु उनके समकालीन थे। इन मागध सम्राटों के हृदय में बुद्ध के प्रति अपार श्रद्धा थी। बुद्ध अपने बहुत-से शिष्यों को साथ लेकर भ्रमण किया करते थे। उनकी मण्डली में कई सौ भिक्षु एक साथ रहते थे। वे जिस शहर में पहुँचते, शहर के बाहर किसी उपवन में डेरा डाल देते। लोग बड़ी संख्या में उनके दर्शनों के लिए आते, और उपदेश श्रवण करते। नगर के श्रद्धालु लोग उन्हें भोजन के लिए आमन्त्रित किया करते थे। भोजन के अनन्तर बुद्ध अपने यजमान को उपदेश भी देते थे।

मगध के अतिरिक्त महात्मा बुद्ध काशी, कोशल और वज्जि जनपदों में गए। अवन्ति जैसी दूरवर्ती जनपदों के लोगों ने उन्हें अनेक बार आमन्त्रित किया, पर इच्छा

होते हुए भी वे स्वयं वहाँ नहीं जा सके। उन्होंने अपने कुछ शिष्यों की टोली को वहाँ भेज दिया था, और अवन्ति की जनता ने बड़े प्रेम और उत्साह से उनका स्वागत किया था। भिक्षुओं की इस प्रकार की टोलियाँ अन्यत्र भी बहुत-से स्थानों पर आर्य-मार्ग का प्रचार करने के लिए भेजी गई थीं। इन प्रचारक-मण्डलों का ही यह परिणाम हुआ, कि बुद्ध के जीवनकाल में ही उनका सन्देश प्रायः सम्पूर्ण उत्तरी भारत में फैल गया था।

महापरिनिर्वाण—महात्मा बुद्ध ने चालीस वर्ष के लगभग आर्यमार्ग का प्रचार किया। जब वे अस्सी वर्ष की आयु के थे, तो उन्होंने राजगृह से कुशीनगर के लिए एक लम्बी यात्रा प्रारम्भ की। इस यात्रा में वैशाली के समीप वेणुवन में उनका स्वास्थ्य बहुत गिर गया। कुछ दिन वहाँ विश्राम करके उन्होंने स्वास्थ्य लाभ किया। पर वे बहुत निर्बल हो चुके थे। वैशाली से कुशीनगर जाते हुए वे फिर बीमार पड़े। बीमारी की दशा मे ही वे कुशीनगर पहुँचे, और हिरण्यवती नदी के तट पर अपना डेरा डाला। यहाँ उनकी दशा और बिगड़ गई। बुद्ध की बीमारी की खबर कुशीनगर मे वायुवेग से फैल गई। नगर के कुलीन मल्ल (कुशीनगर मल्लगण की स्थिति थी। क्षत्रिय बड़े-बड़े झुण्ड बनाकर हिरण्यवती के तट पर महात्मा बुद्ध के अन्तिम दर्शन के लिए आने लगे।

महात्मा बुद्ध की अन्तिम दशा की कल्पना कर भिक्खु लोग बहुत चिन्तित हुए। उन्हें उदास देखकर बुद्ध ने कहा—तुम सोचते होगे, तुम्हारा आचार्य तुम से जुदा हो रहा है। पर ऐसा मत सोचो। जो सिद्धान्त और नियम मैंने तुम्हें बताये हैं, जिनका मैंने प्रचार किया, वही तुम्हारे आचार्य रहेंगे और वे सदा जीवित रहेंगे। फिर उन्होंने सब भिक्षुओं को सम्बोधन करके कहा—'पुत्रो! सुनो, मैं तुमसे कहता हूँ, जो आता है, वह जाता भी अवश्य है। बिना रुके प्रयत्न किये जाओ।' महात्मा बुद्ध के ये ही अन्तिम शब्द थे। इसके बाद उनका देह प्राण-शून्य हो गया। कुशीनगर के समीप उस स्थान पर जहाँ महात्मा बुद्ध का परिनिर्वाण हुआ था, अब भी उनकी एक विशाल मूर्ति विद्यमान है।

(७) बुद्ध की शिक्षाएँ

बुद्ध सच्चे अर्थों में सुधारक थे। प्राचीन आर्य-धर्म मे जो बहुत-सी खराबियाँ आ गई थीं, उन्हें दूर कर उन्होंने सच्चे आर्य-धर्म का पुनरुद्धार करने का प्रयत्न किया। अपने मन्तव्यों और सिद्धान्तों के विषय में उन्होंने बार-बार कहा है—'एष धम्मो सनातनो', यही सनातन धर्म है। वे यह दावा नहीं करते थे, कि वे किसी नये धर्म का प्रतिपादन कर रहे हैं। उनका यही कथन था, कि मैं सनातन काल से चले आ रहे धर्म का ही स्थापन कर रहा हूँ।

मध्य-मार्ग—बुद्ध ने अपने धर्म को मध्य-मार्ग कहा है। वे उपदेश करते थे—'भिक्षुओ! इन दो चरम कोटियों (अतियो) का सेवन नहीं करना चाहिए, भोग-विलास में लिप्त रहना और शरीर को व्यर्थ कष्ट देना। इन दो अतियों का त्याग कर मैंने

मध्यमार्ग निकाला है, जो कि आँख देने वाला, ज्ञान कराने वाला और शान्ति प्रदान करने वाला है।

अष्टांगिक आर्य-मार्ग—इस मध्य-मार्ग के आठ आर्य (श्रेष्ठ) अंग थे—(१) सम्यक् दृष्टि, (२) सम्यक् संकल्प, (३) सम्यक् वचन, (४) सम्यक् कर्म, (५) सम्यक् आजीविका, (६) सम्यक् प्रयत्न, (७) सम्यक् विचार, और (८) सम्यक् ध्यान या समाधि। अत्यन्त भोग-विलास और अत्यन्त तप—दोनों को हेय मानकर बुद्ध ने जिस मध्यमार्ग (मध्यमा प्रतिपदा) का उपदेश किया था, ये आठ बातें ही उसके अन्तर्गत थीं। संयम और सदाचारमय जीवन ही इस धर्म का सार है।

चार आर्य सत्य—बुद्ध के अनुसार चार आर्य-सत्य हैं—(१) दुःख, (२) दुःख-समुदाय या दुःख का हेतु, (३) दुःख निरोध और (४) दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपदा अर्थात दुःख को दूर करने का मार्ग। दुःख सत्य की व्याख्या करते हुए बुद्ध ने कहा—जन्म भी दुःख है, बुढापा भी दुःख है, मरण-शोक-रुदन और मन की खिन्नता भी दुःख है। अप्रिय से संयोग और प्रिय से वियोग भी दुःख है। दुःख के रूप को इस प्रकार स्पष्ट कर बुद्ध ने प्रतिपादित किया, कि दुःख का समुदाय या हेतु तृष्णा है। इन्द्रियों के जितने प्रिय विषय हैं, उनके साथ सम्पर्क तृष्णा को उत्पन्न करता है। राजा राजाओं से लड़ते हैं, ब्राह्मण ब्राह्मणों से, गृहपति गृहपति से, पुत्र पिता से, पिता पुत्र से, भाई भाई से जो लड़ते हैं, उसका कारण यह तृष्णा ही है। इस तृष्णा का त्याग कर देने से, इसका विनाश कर देने से दुःख का निरोध होता है। जब तृष्णा छूट जाती है, तभी दुःख का निरोध सम्भव है। इस दुःख-निरोध का उपाय अष्टांगिक आर्य-मार्ग ही है। इसी मार्ग का अनुसरण कर मनुष्य अपने जीवन की साधना इस ढंग से कर सकता है, कि वह तृष्णा से मुक्त होकर दुःखों से बच सके।

मनुष्यमात्र की समानता—महात्मा बुद्ध समाज में ऊँच-नीच के कट्टर विरोधी थे। उनकी दृष्टि में कोई मनुष्य नीच व अछूत नही था। उनके शिष्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, श्रेष्ठी, शूद्र, वेश्या, नीच समझी जाने वाली जातियों के मनुष्य—सब एक समान स्थान रखते थे। बौद्ध साहित्य मे कथा आती है, कि वासत्थ और भारद्वाज नामक दो ब्राह्मण बुद्ध के पास आये, और उनसे पूछा—हम दोनों मे इस प्रश्न पर विवाद हो गया है कि कोई व्यक्ति जन्म से ब्राह्मण होता है या कर्म से। इस पर बुद्ध ने उत्तर दिया—हे वासत्थ ! मनुष्यों मे जो गौवें चराता है, उसे हम चरवाहा कहेंगे ब्राह्मण नहीं। जो मनुष्य कला-सम्बन्धी बातो से अपनी आजीविका चलाता है, उसे हम कलाजीवी कहेगे, ब्राह्मण नहीं। जो आदमी व्यापार करता है, उसे हम व्यापारी कहेगे, ब्राह्मण नहीं। जो आदमी दूसरों की नौकरी करता है, वह अनुचर कहलायेगा, ब्राह्मण नही। जो चोरी करता है, वह चोर कहलायेगा, ब्राह्मण नही। जो आदमी शस्त्र धारण करके अपना निर्वाह करता है, उसे हम सैनिक कहेगे, ब्राह्मण नही। किसी विशेष माता के पेट से जन्म होने के कारण मैं किसी को ब्राह्मण नही कहूंगा। वह व्यक्ति जिसका किसी भी वस्तु पर ममत्व नही है, जिसके पास कुछ भी नहीं है, मैं तो उसी को ब्राह्मण कहूंगा। जिसने अपने सब बन्धन काट दिये हैं, अपने को सब लगावो से पृथक् करके भी जो विचलित नही होता, मैं तो उसी को ब्राह्मण कहूगा। जो भी क्रोधरहित है,

अच्छे काम करता है, सत्याभिलाषी है, जिसने अपनी इच्छाओं का दमन कर लिया है, मैं तो उसी को ब्राह्मण कहूँगा। वास्तव में न कोई ब्राह्मण के घर में जन्म लेने से ब्राह्मण होता है, और न कोई ब्राह्मण के घर जन्म न लेने से अब्राह्मण होता है, अपने कर्मों से ही एक आदमी ब्राह्मण बन जाता है और दूसरा अब्राह्मण। अपने काम से ही कोई किसान है, कोई शिल्पी है, कोई व्यापारी है, और कोई सेवक है।

अहिंसा और यज्ञ—महात्मा बुद्ध पशुहिंसा के घोर विरोधी थे। अहिंसा उनके सिद्धान्तों में प्रमुख थी। वे न केवल यज्ञों में पशुबलि के विरोधी थे, पर जीवों को मारना व किसी प्रकार से कष्ट देना भी वे अनुचित समझते थे। उस समय भारत में यज्ञों का कर्मकाण्ड बड़ा जटिल रूप धारण कर चुका था। लोगों का विश्वास था, कि यज्ञ द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति होती है। ईश्वर के ज्ञान के लिए, मोक्ष की साधना के लिए और अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिए ब्राह्मण लोग यज्ञ का अनुष्ठान किया करते थे। पर महात्मा बुद्ध का यज्ञों मे विश्वास नही था। एक जगह उन्होंने उपदेश करते हुए कहा है—वासत्थ ! एक उदाहरण लो। कल्पना करो, कि यह अचिरावती नदी किनारे तक भरकर जा रही है। इसके दूसरे किनारे पर एक मनुष्य आता है, और वह किसी आवश्यकता कार्य से इस पार आना चाहता है। वह मनुष्य उसी किनारे पर खडा हुआ यह प्रार्थना करना आरम्भ करे, कि ओ दूसरे किनारे इस पार आ जाओ। क्या उसके इस प्रकार स्तुति करने से यह किनारा उसके पास चला जायेगा ? हे वासत्थ ! ठीक इसी प्रकार एक त्रयी विद्या में निष्णात ब्राह्मण यदि उन गुणों को क्रियान्वित नही करता जो किसी मनुष्य को ब्राह्मण बनाते हैं, अब्राह्मणो का आचरण करता है, पर मुख से प्रार्थना करता है—मैं इन्द्र को बुलाता हूँ, मैं वरुण को बुलाता हूँ, मैं प्रजापति, ब्रह्मा, महेश और यम को बुलाता हूँ, तो क्या ये उसके पास चले आएँगे ? क्या इनकी प्रार्थना से कोई लाभ होगा ?

अभिप्राय यह है, कि महात्मा बुद्ध केवल वेदपाठ और यज्ञों के अनुष्ठानों को सर्वथा निरर्थक समझते थे। उनका विचार था, कि जब तक चरित्र शुद्ध नही होगा, धन की इच्छा दूर नही होगी, काम, क्रोध, मोह आदि पर विजय नहीं की जायगी, तब तक यज्ञो के अनुष्ठानमात्र से कोई लाभ नही होगा।

निर्वाण—बुद्ध के अनुसार जीवन का लक्ष्य निर्वाण पद को प्राप्त करना है। निर्वाण किसी पृथक् लोक का नाम नही है, न ही निर्वाण कोई ऐसा पद है जिसे मनुष्य मृत्यु के बाद प्राप्त करता है। बुद्ध के अनुसार निर्वाण उस अवस्था का नाम है जिसमें ज्ञान द्वारा अविद्या-रूपी अन्धकार दूर हो जाता है। यह अवस्था इसी जन्म मे, इसी लोक मे प्राप्त की जा सकती है। सत्यबोध के अनन्तर महात्मा बुद्ध ने निर्वाण की यह दशा इसी जन्म में प्राप्त कर ली थी। एक स्थान पर बुद्ध ने कहा है—जो धर्मात्मा लोग किसी की हिंसा नहीं करते, शरीर की प्रवृत्तियों का संयम कर पापों से बचे रहते हैं, वे उस अच्युत निर्वाण पद को प्राप्त करते हैं, जहाँ शोक और सन्ताप का नाम भी नहीं होता।

महात्मा बुद्ध ने अपने उपदेशों में सूक्ष्म और जटिल दार्शनिक विचारों को अधिक स्थान नहीं दिया। इन विवादों की उन्होंने उपेक्षा की। जीव का क्या स्वरूप

है, सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्म से हुई है, या किसी अन्य सत्ता से, अनादि तत्त्व कितने और कौन-से है, सृष्टि का कर्त्ता कोई ईश्वर है या नही—इस प्रकार के दार्शनिक विवादों से वे सदा बचे रहे। उनका विचार था, कि जीवन की पवित्रता और आत्मकल्याण के लिए इन सब प्रश्नों पर विचार करना विशेष लाभकारी नहीं है। पर मनुष्यों में इन प्रश्नो के लिए एक स्वाभाविक जिज्ञासा होती है। यही कारण है, कि आगे चलकर बौद्धों मे बहुत-से दार्शनिक सम्प्रदायों का विकास हुआ। इन सम्प्रदायों के सिद्धान्त एक-दूसरे से बहुत भिन्न हैं। पर बुद्ध के उपदेशों व सम्वादो से इन दार्शनिक तत्त्वों पर विशेष प्रकाश नही डाला गया।

(८) बौद्ध संघ

महात्मा बुद्ध ने अपने धर्म का प्रचार करने के लिए संघ की स्थापना की। जो लोग सामान्य गृहस्थ जीवन का परित्याग कर धर्म-प्रचार और मनुष्य-मात्र की सेवा में ही अपने जीवन को खपा देना चाहते थे, वे भिक्षुव्रत लेकर संघ मे सम्मिलित होते थे।

महात्मा बुद्ध का जन्म एक गणराज्य मे हुआ था। अपनी आयु के २९ वर्ष उन्होंने गणों के वातावरण में ही व्यतीत किये थे। वे गणों व संघों की कार्य-प्रणाली से भली-भाँति परिचित थे। यही कारण है कि जब उन्होने अपने नवीन धार्मिक सम्प्रदाय का संगठन किया, तो उसे भिक्षु सघ नाम दिया। अपने धार्मिक सघ की स्थापना करते हुए स्वाभाविक रूप से उन्होंने अपने समय के संघराज्यो का अनुकरण किया और उन्हीं के नियमो तथा कार्यविधि को अपनाया। सब जगह भिक्षुओ के अलग-अलग संघ थे। प्रत्येक स्थान का संघ अपने-आपमें एक पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता रखता था। भिक्षु लोग संघसभा मे एकत्र होकर अपने कार्य का सम्पादन करते थे। वज्जिसंघ को जिस प्रकार के सात अपरिहार्य धर्मों का महात्मा बुद्ध ने उपदेश किया था, वैसे ही सात अपरिहार्य धर्म बौद्धसंघ के लिए भी उपदिष्ट किये गए थे—

(१) एक साथ एकत्र होकर बहुधा अपनी सभाएँ करते रहना।

(२) एक हो बैठक करना, एक हो उत्थान करना, और एक हो सघ के सब कार्यों को सम्पादित करना।

(३) जो संघ द्वारा विहित है, उसका कभी उल्लंघन नही करना। जो संघ में विहित नहीं है, उसका अनुसरण नही करना। जो भिक्षुओ के पुराने नियम चले आ रहे है, उनका सदा पालन करना।

(४) जो अपने में बड़े, धर्मानुरागी, चिरप्रव्रजित, सघ के पिता, संघ के नायक स्थविर भिक्षु हैं, उनका सत्कार करना उन्हे बडा मानकर उनका पूजन करना, उनकी बात को सुनने तथा ध्यान देने योग्य समझना।

(५) पुनः पुनः उत्पन्न होने वाली तृष्णा के वश में नहीं आना।

(६) वन की कुटियों मे निवास करना।

(७) सदा यह स्मरण रखना कि भविष्य में केवल ब्रह्मचारी ही संघ में सम्मिलित हों, और सम्मिलित हुए लोग पूर्ण ब्रह्मचर्य के साथ रहें।

संघ-सभा में जब भिक्षु लोग एकत्रित होते थे, तो प्रत्येक भिक्षु के बैठने के लिए

आसन नियत होते थे। आसनों की व्यवस्था करने के लिए एक पृथक् कर्मचारी होता था, जिसे आसनप्रज्ञापक कहते थे। संघ में जिस विषय पर विचार होना होता था, उसे पहले प्रस्ताव के रूप मे पेश किया जाता था। प्रत्येक प्रस्ताव तीन बार दोहराया जाता था, उसपर बहस होती थी, निर्णय के लिए मत (वोट) लिए जाते थे। संघ के लिए कोरम का भी नियम था। संघ की बैठक के लिए कम से कम बीस भिक्षुओं की उपस्थिति आवश्यक होती थी। यदि कोई निर्णय पूरे कोरम के अभाव में किया गया हो, तो उसे मान्य नहीं समझा जाता था।

प्रत्येक भिक्षु के लिए यह आवश्यक था, कि वह संघ के सब नियमों का पालन करे, संघ के प्रति भक्ति रखे। इसलिए भिक्षु बनते समय जो तीन प्रतिज्ञाएँ लेनी होती थीं, उनके अनुसार प्रत्येक भिक्षु को बुद्ध, धर्म और संघ की शरण में आने का वचन लेना होता था। संघ मे शामिल हुए भिक्षु कठोर संयम का जीवन व्यतीत करते थे। मनुष्य-मात्र के कल्याण के लिए और सब प्राणियों के हित के लिए ही भिक्षु संघ की स्थापना हुई थी। यह कार्य सम्पादित करने के लिए भिक्षुओं से वैयक्तिक जीवन की पवित्रता और त्याग की भावना की पूरी आशा रखी जाती थी।

बौद्ध-धर्म के अपूर्व संगठन ने बुद्ध के आर्यमार्ग के सर्वत्र प्रचारित होने मे बडी सहायता दी। जिस समय मगध के साम्राज्यवाद ने प्राचीन संघराज्यो का अन्त कर दिया, तब भी बौद्ध के संघो के रूप मे भारत की प्राचीन जनतन्त्र-प्रणाली जीवित रही। राजनीतिक शक्ति यदि मागध-सम्राटो के हाथ में थी, तो धार्मिक और सामाजिक शक्ति संघो मे निहित थी। संघो मे एकत्र होकर हजारो-लाखों भिक्खु लोग पुरातन गण-प्रणाली से उन विषयो का निर्णय किया करते थे, जिनका मनुष्यों के दैनिक जीवन से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध था। बौद्ध संघ की इस विशेष स्थिति का यह परिणाम हुआ, कि भारत में समानान्तर रूप से दो प्रबल शक्तियाँ कायम रही, एक मागध साम्राज्य और दूसरा चातुरन्त संघ। एक समय ऐसा भी आया, जब इन दोनो शक्तियो मे परस्पर संघर्ष का भी सूत्रपात हो गया।

(९) आजीवक सम्प्रदाय

भारतीय इतिहास में वर्तमान महावीर और गौतम बुद्ध का समय एक महत्त्वपूर्ण धार्मिक सुधारणा का काल था। इस समय में अनेक नवीन धार्मिक सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ था। इनके बौद्ध और जैन धर्मों के नाम तो सब कोई जानते हैं, पर जो अन्य सम्प्रदाय इस समय में प्रारम्भ हुए थे, उनका परिचय प्रायः लोगो को नहीं है। इसी प्रकार का एक सम्प्रदाय आजीवक था। इसका प्रवर्त्तक मक्खलिपुत्त गोसाल था। आजीवकों के कोई अपने ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं होते। उनके सम्बन्ध मे जो कुछ भी परिचय मिलता है, वह बौद्ध और जैन साहित्य पर ही आश्रित है। मक्खलिपुत्त गोसाल छोटी आयु मे ही भिक्खु हो गया था। शीघ्र ही वर्धमान महावीर से उसका परिचय हुआ, जो 'केवलिन्' पद पाकर अपने विचारों का जनता में प्रसार करने मे संलग्न थे। महावीर और गोसाल साथ-साथ रहने लगे। पर इन दोनों की तबियत, स्वभाव, आचार-विचार और चरित्र एक-दूसरे से इतने भिन्न थे, कि छः साल बाद

उनका साथ छूट गया, और गोसाल ने महावीर से अलग होकर अपने पृथक् सम्प्रदाय की स्थापना की, जो आगे चलकर आजीवक नाम से विख्यात हुआ। गोसाल ने अपने कार्य का मुख्य केन्द्र श्रावस्ती को बनाया। श्रावस्ती के बाहर एक कुम्भकार स्त्री का अतिथि होकर उसने निवास प्रारम्भ किया, और धीरे-धीरे बहुत-से लोग उसके अनुयायी हो गए।

आजीवक सम्प्रदाय के मन्तव्यों के सम्बन्ध में जो कुछ भी हमें ज्ञात है, उसका आधार उसका विरोधी साहित्य ही है। पर उसके कुछ मन्तव्यों के विषय में निश्चित रूप से कहा जा सकता है। आजीवक लोग मानते थे, कि संसार में सब बातें पहले से ही नियत हैं। "जो नहीं होना है, वह नहीं होगा। जो होना है, वह कोशिश के बिना भी हो जाएगा। अगर भाग्य न हो, तो आई हुई चीज भी नष्ट हो जाती है। नियति के बल से जो कुछ होना है, वह चाहे शुभ हो या अशुभ, अवश्य होकर रहेगा। मनुष्य चाहे कितना भी यत्न करे, पर जो होनहार है, उसे वह बदल नही सकता।" इसीलिए आजीवक लोग पौरुष, कर्म और उत्थान की अपेक्षा भाग्य या नियति को अधिक बलवान् मानते थे। आजीवको के अनुसार वस्तुओं मे जो विकार व परिवर्तन होते हैं, उनका कोई कारण नही होता। संसार में कोई कार्य-कारण भाव काम कर रहा हो, सो बात नही है। पर जो कुछ हो रहा है या होना है, वह सब नियत है। मनुष्य अपने पुरुषार्थ से उसे बदल सके, यह सम्भव नही।

वर्धमान महावीर के साथ गोसाल का जिन बातो पर मतभेद हुआ, उनमें मुख्य निम्नलिखित थी—(१) शीतल जल का उपयोग करना (२) अपने लिए विशेष रूप से तैयार किए गए अन्न व भोजन को ग्रहण करना, और (३) स्त्रियों के साथ सहवास करना। मक्खलिपुत्त गोसाल की प्रवृत्ति भोग की ओर अधिक थी। वह आराम से जीवन व्यतीत करने के पक्ष में था। महावीर का घोर तपस्यामय जीवन उसे पसन्द नहीं था। यही कारण है, कि महात्मा बुद्ध ने भी एक स्थल पर आजीवको को ऐसे सम्प्रदायों में गिना है, जो ब्रह्मचर्य को महत्त्व नही देते।

पर आजीवक भिक्खु का जीवन बड़ा सादा होता था। वे प्राय: हथेली पर रखकर भोजन किया करते थे। मांस, मछली और मदिरा का सेवन उनके लिए वर्जित था। वे दिन में केवल एक बार भिक्षा मांगकर भोजन करते थे।

आजीवक सम्प्रदाय का भी पर्याप्त विस्तार हुआ। सम्राट् अशोक के शिलालेखों मे उल्लेख आता है, कि उसने अनेक गुहा निवास आजीविकों को प्रदान किए थे। अशोक के पौत्र सम्राट् दशरथ ने भी गया के समीप नागार्जुनी पहाड़ियों में अनेक गुहाएँ आजीवकों के निवास के लिए दान में दी थी, और इस दान को सूचित करने वाले शिलालेख अब तक उपलब्ध होते हैं। अशोक ने विविध धार्मिक सम्प्रदायों में अविरोध उत्पन्न करने के लिए जो 'धर्ममहामात्र' नियत किए थे, उन्हें जिन अनेक सम्प्रदायों पर दृष्टि रखने का आदेश दिया गया था, उनमें बौद्ध, ब्राह्मण और निर्ग्रन्थ (जैन) सम्प्रदाओं के साथ आजीविकों का भी उल्लेख है। इससे प्रतीत होता है, कि धीरे-धीरे आजीविकों ने भी पर्याप्त महत्त्व प्राप्त कर लिया था, और यह सम्प्रदाय कई सदियों तक जीवित रहा था। इस समय इसके कोई अनुयायी शेष नहीं हैं।

(१०) धार्मिक सुधारणा का प्रभाव

वर्धमान महावीर और गौतम बुद्ध के नेतृत्व में प्राचीन भारत को इस धार्मिक सुधारणा ने जनता के हृदय और दैनिक जीवन पर बड़ा प्रभाव डाला। लोगों ने अपने प्राचीन धार्मिक विश्वासों को छोड़कर किसी नए धर्म की दीक्षा ले ली हो, यह नहीं हुआ। पहले धर्म का नेतृत्व ब्राह्मणों के हाथ में था जो कर्मकाण्ड, विधि-विधान और विविध अनुष्ठानों द्वारा जनता को धर्म-मार्ग का प्रदर्शन करते थे। सर्वसाधारण गृहस्थ जनता सांसारिक धन्धों में संलग्न थी। वह कृषि, शिल्प, व्यापार आदि द्वारा धन उपार्जन करती थी और ब्राह्मणों द्वारा बताए धर्म-मार्ग पर चलकर इहलोक और परलोक में सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करती थी। अब ब्राह्मणों का स्थान श्रमणों, मुनियों और भिक्खुओं ने ले लिया। इन श्रमणों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—सभी वर्णों और जातियों के लोग सम्मिलित थे। अपने गुणों के कारण ही समाज में इनकी प्रतिष्ठा थी। धर्म का नेतृत्व ब्राह्मण जाति के हाथ से निकलकर अब ऐसे लोगों के समुदायों के हाथ में आ गया था, जो घर-गृहस्थी को छोडकर मनुष्य-मात्र की सेवा का व्रत ग्रहण करते थे। निःसन्देह, यह एक बहुत बडी सामाजिक क्रान्ति थी।

भारत के सर्वसाधारण गृहस्थ सदा से अपने कुलक्रमानुगत धर्म का पालन करते रहे है। प्रत्येक कुल के अपने देवता, रीति-रिवाज और अपनी परम्पराएँ थी, जिनका अनुसरण सब लोग मर्यादा के अनुसार करते थे। ब्राह्मणो का वे आदर करते थे, उनका उपदेश सुनते थे, और उनके बताए कर्मकाण्ड का अनुष्ठान करते थे। ब्राह्मण एक ऐसी श्रेणी थी, जो सासारिक धन्धों से पृथक् रहकर धर्म-कार्यों में संलग्न रहती थी। पर समय की गति से इस समय बहुत से ब्राह्मण त्याग, तपस्या, और निरीह जीवन का त्याग कर चुके थे। अब उनके मुकाबिले में श्रमणों की जो नई श्रेणी संगठित हो गई थी, वह त्याग और तपस्या से जीवन व्यतीत करती थी, और मनुष्य-मात्र का कल्याण करने में रत रहती थी। जनता ने ब्राह्मणो की जगह अब इनको आदर देना और इनके उपदेशों के अनुसार जीवन व्यतीत करना शुरू किया। बौद्ध-धर्म के प्रचार का यही अभिप्राय है। जनता ने पुराने धर्म का सर्वथा परित्याग कर कोई सर्वथा नया धर्म अपना लिया हो, सो बात भारत के इतिहास मे नही हुई।

बिम्बिसार, अजातशत्रु, उदायी, महापद्मनन्द और चन्द्रगुप्त मौर्य—जैसे मागध सम्राट् जैन-मुनियों, बौद्ध-भिक्खुओं और ब्राह्मणों का समान रूप से आदर करते थे। जैन-साहित्य के अनुसार ये जैन थे, उन्होंने जैन मुनियों का आदर किया और उन्हें बहुत-सा दान दिया। बौद्ध-ग्रन्थों के अनुसार ये बौद्ध थे, भिक्षुओं का ये बहुत आदर करते थे, और इनकी सहायता पाकर बौद्ध-संघ ने बड़ी उन्नति की थी। बौद्ध और जैन साहित्य इन सम्राटों के साथ सम्बन्ध रखने वाली कथाओ से भरे पड़े हैं, और इन सम्राटों का उल्लेख उसी प्रसंग में किया गया है, जब इन्होंने जैन या बौद्ध-धर्म का आदर किया और उनसे शिक्षा ग्रहण की। पौराणिक साहित्य में इनका अनेक ब्राह्मणों के सम्पर्क में उल्लेख किया गया है। वास्तविक बात यह है, कि इन राजाओं ने किसी एक धर्म को निश्चित रूप से स्वीकार कर लिया हो, किसी का विशेष रूप से पक्ष लिया

हो, यह बात नही थी। प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार ये ब्राह्मणों, श्रमणों और मुनियों का समान रूप से आदर करते थे। क्योंकि इस काल में भिक्खु लोग अधिक संगठित और क्रियाशील थे, इसलिए उनका महत्त्व अधिक था। जो वृत्ति राजाओं की थी, वही जनता की भी थी।

इस धार्मिक सुधारणा का एक अन्य महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ, कि भारत मे यज्ञों के कर्मकाण्ड का जोर कम हो गया। यज्ञों के बन्द होने के साथ-साथ पशुबलि की प्रथा कम होने लगी। यज्ञों द्वारा स्वर्ग-प्राप्ति की आकाक्षा के निर्बल हो जाने से राजा और गृहस्थ लोग श्रावक या उपासक के रूप में भिक्षुओ द्वारा बताये गए मार्ग का अनुसरण करने लगे, और उनमे जो अधिक श्रद्धालु थे, वे मुनियों और श्रमणों का सादा व तपस्यामय जीवन व्यतीत करने के लिए तत्पर हुए।

बौद्ध और जैन-सम्प्रदायो से भारत में एक नई धार्मिक चेतना उत्पन्न हो गई थी। शक्तिशाली संघों में सगठित होने के कारण इनके पास धन, मनुष्य व अन्य साधन प्रचुर परिणाम में विद्यमान थे। परिणाम यह हुआ, कि मगध के साम्राज्य-विस्तार के साथ-साथ संघ की चातुरन्त सत्ता की स्थापना का विचार भी बल पकडने लगा। इसीलिए आगे चलकर भारतीय धर्म व संस्कृति का न केवल भारत के सुदूरवर्ती प्रदेशों में, अपितु भारत से बाहर भी दूर-दूर तक प्रसार हुआ।

(११) बौद्ध साहित्य

जिस प्रकार प्राचीन वैदिक साहित्य में तीन सहिताएँ हैं, वैसे ही बौद्ध-साहित्य में तीन पिटक (त्रिपिटक) हैं। ये त्रिपिटक निम्नलिखित हैं—(१) विनय पिटक, (२) सुत्तपिटक और (३) अभिधम्म पिटक। इन तीन पिटको के अन्तर्गत जो बहुत-से ग्रन्थ हैं, उन पर सक्षेप मे प्रकाश डालना उपयोगी है।

विनय पिटक—इस पिटक मे आचार-सम्बन्धी वे नियम प्रतिपादित हैं, जिनका पालन प्रत्येक बौद्ध भिक्खु के लिए आवश्यक है। विनय पिटक के तीन भाग हैं—(१) सुत्त विभंग, (२) खन्धक, और (३) परिवार। सुत्तविभंग दो भागो मे विभक्त है, भिक्खुविभंग और भिक्खुनीविभंग। इनमे वे नियम विशद रूप से प्रतिपादित हैं, जिनका पालन प्रत्येक भिक्खु और भिक्खुनी को आवश्यक रूप से करना चाहिए। खन्धक मे दो ग्रन्थ अन्तर्गत हैं—महावग्ग और चुल्लवग्ग। इन ग्रन्थों मे भिक्षुसंघ के साथ सम्बन्ध रखने वाली प्रत्येक बात विस्तृत रूप से प्रतिपादित है। संघ में प्रवेश किस प्रकार हो, विविध समयों पर कौन-कौन से व्रत रखे जाएँ, चातुर्मास किस प्रकार व्यतीत किया जाए, भिक्षु लोग कैसे कपड़े पहनें, भोजन के लिए किन नियमो का अनुसरण करें, किस प्रकार की शैया प्रयुक्त करें, संघ मे किसी प्रश्न के निर्णय करने का क्या ढंग हो, इस प्रकार की सब बातों का महावग्ग और चुल्लवग्ग में प्रतिपादन है। इन ग्रन्थों की प्रतिपादन शैली कथात्मक है। भगवान् बुद्ध जब उस अवसर पर और उस स्थान पर थे, तब एक समस्या उत्पन्न हुई, और तब उन्होंने यह नियम बनाया—इस ढंग से भिक्षुओं के लिए उपयुक्त नियमों व धर्मों का उपदेश किया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से

विनय-पिटक के ये अंश बहुत महत्त्व के हैं। विनय पिटक का सार 'परिवार' है और उसमें प्रश्नोत्तर के रूप से बौद्ध-भिक्खुओं के नियम व कर्त्तव्य दिये गए हैं।

सुत्त-पिटक—इस पिटक के अन्तर्गत पाँच निकाय हैं—(१) दीघनिकाय, (२) मज्झिमनिकाय, (३) अंगुत्तरनिकाय, (४) संयुक्तनिकाय, और (५) खुद्दकनिकाय। दीघनिकाय के तीन खण्ड हैं, और उसमें कुल मिलाकर ३४ दीर्घाकार सुत्त या सूक्त हैं। इनमे सबसे अधिक महापरिनिब्बानसुत्त है। दीघनिकाय के प्रत्येक सुत्त मे महात्मा बुद्ध के संवाद सकलित हैं। मज्झिमनिकाय मे कुल मिलाकर मध्य आकार के १२५ सुत्त हैं। ये सुत्त दीघनिकाय के सुत्तो की अपेक्षा छोटे आकार के हैं, यद्यपि इनके प्रतिपाद्य विषय प्रायः वे ही हैं, जो दीघनिकाय के सुत्तों के हैं। अंगत्तुरनिकाय की कुल सुत्तों की सख्या २३०० है, जिन्हें ११ खण्डों मे विभक्त किया गया है। संयुक्त निकाय मे ५६ सुत्त हैं, जिन्हें पाँच (वग्गों) वर्गो मे बाँटा गया है। एक विषय के साथ सम्बन्ध रखने वाले सुत्त एक वग्ग (वर्ग) मे एकत्र करके रखे गये हैं। खुद्दक निकाय के अन्तर्गत १५ विविध पुस्तकें हैं, जिनके नाम निम्नलिखित हैं—खुद्दक पाठ, धम्मपद, उदान, इतिवुतक, सुत्तनिपात, विमानवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा, जातक, निद्देस, पहिसमिदा, अपदान, बुद्धवंस, और चरियापिटक। खुद्दक निकाय नाम से ऐसा सूचित है, कि इसके अन्तर्गत सुत्त छोटे आकार के हैं, पर वस्तुत. इस निकाय की सब पुस्तकें अपने-आपमें स्वतन्त्र व पृथक् ग्रन्थो के समान है, जिनमे धम्मपद और सुत्तनिपात सबसे प्रसिद्ध है। बौद्ध-साहित्य मे धम्मपद का प्रायः वही स्थान है, जो कि हिन्दू-साहित्य में गीता का है। ऐतिहासिक दृष्टि से जातक-ग्रन्थ विशेष रूप से उपयोगी है। इनमे ५५० के लगभग कथाएँ दी गई है, जिन्हें महात्मा बुद्ध के पूर्वजन्मों की कथाओं के रूप मे लिखा गया है। बौद्ध-धर्म के अनुसार निर्वाण पद की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य सत्कर्मों का निरन्तर अनुष्ठान करें, निरन्तर सदाचरण करें। भगवान् बुद्ध को भी बुद्ध-पद प्राप्त करने से पूर्व बहुत-सी योनियों मे से गुजरना पडा था। इन योनियों मे रहते हुए उन्होने निरन्तर सत्कर्म किये थे, इसीलिए अन्त मे उन्हे बुद्ध-पद प्राप्त हो सका था। जातको मे गौतम-बुद्ध के इन्ही पूर्वजन्मो की कथाएँ सकलित हैं।

अभिधम्म पिटक—इस पिटक मे बौद्ध धर्म का दार्शनिक विवेचन और अध्यात्म-चिन्तन सम्मिलित है। इसके अन्तर्गत सात ग्रन्थ हैं—(१) धम्म संगनि (२) विभग, (३) धातु कथा, (४) पुल पंजति, (५) कथावत्थु, (६) यमक और (७) पट्ठान। इस पिटक के प्रतिपाद्य विषय सुत्तपिटक के विषयो से बहुत भिन्न नही हैं, पर इनमें उनका विवेचन गम्भीर दार्शनिक पद्धति से किया गया है।

संस्कृत त्रिपिटक—बौद्ध-धर्म के जिस साहित्य का हमने ऊपर परिचय दिया है, वह पालि भाषा मे है। बौद्ध-धर्म के अनेक सम्प्रदाय हैं, जिनमे थेरवाद बहुत महत्त्वपूर्ण है। लंका और बरमा मे इस थेरवाद का ही प्रचार है, और इस सम्प्रदाय का त्रिपिटक पालि भाषा में विद्यमान है। पर बौद्ध-धर्म के अन्य अनेक 'सम्प्रदायों (यथा महायान, सर्वास्तिवाद आदि) का त्रिपिटक पालि भाषा मे न होकर संस्कृत भाषा मे है। खेद है कि संस्कृत का त्रिपिटक अविकल रूप मे इस समय उपलब्ध नहीं है।

नवाँ अध्याय

प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास

(१) मागध-साम्राज्य का विकास

भारत की संस्कृति का इतिहास लिखते हुए उसके राजनीतिक इतिहास का भी संक्षेप के साथ निर्देश करना उपयोगी होगा। सांस्कृतिक दृष्टि से भारत के इतिहास का जो काल-विभाग किया जाता है, वह इस देश के राजनीतिक इतिहास पर ही आश्रित है। इस इतिहास के पाठक भारत के इतिहास की रूपरेखा से अवश्य ही परिचित होंगे, पर तो भी यह आवश्यक है, कि हम अत्यन्त संक्षिप्त रूप से इस विषय में भी कुछ परिचय दे दें।

वैदिक युग के राज्य—भारत में जिन आर्यों ने प्रवेश कर अपने विविध राज्यों की स्थापना की थी, वे विविध जनो (कबीलों या ट्राइब) में विभक्त थे। इस देश के मूल निवासियों को जीतकर उन्होंने अपनी बहुत-सी बस्तियाँ बसाईं। जब विविध 'जन' किसी प्रदेश पर स्थिर रूप से बस गये, तो उसे वे 'जनपद' (जन का प्रदेश) कहने लगे। आर्यों के प्रारम्भिक राज्य इसी ढंग के जनपद थे। कोशल, पंचाल आदि आर्यों के विविध जनों के ही नाम थे, और इन्ही के नाम से इनसे आबाद प्रदेश भी कौशल, पांचाल आदि कहाये। इन जनपदो में जिन विविध राजवंशो का शासन था, उनके राजाओ के सम्बन्ध में बहुत-सी गाथाएँ पौराणिक अनुश्रुति और रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों में विद्यमान हैं। वैदिक साहित्य के अनुशीलन से हमें इसी युग की संस्कृति के सम्बन्ध में परिचय मिलता है।

बौद्ध-काल के सोलह महाजनपद—आर्यों के विविध जनपद जहाँ आर्यभिन्न जातियों को जीतकर अपनी अधीनता में लाने में तत्पर थे, वहाँ साथ ही वे आपस में भी संघर्ष करते रहते थे। प्रत्येक महत्त्वाकांक्षी आर्य-राजा का यह प्रयत्न रहता था, कि वह अन्य जनपदों को जीतकर चक्रवर्ती-पद को प्राप्त करे। इस उद्देश्य से अनेक प्राचीन राजाओं ने अश्वमेध-यज्ञ किये, और अन्य जनपदों से अपनी अधीनता स्वीकृत कराई।

छठी सदी ई० पू० तक भारत के बहुत-से प्राचीन राज्य अपनी स्वतन्त्रता खो चुके थे, और इस देश में सोलह महाजनपदो का विकास हो गया था। बौद्ध-साहित्य में इन सोलह महाजनपदों का बार-बार उल्लेख आता है। इनके नाम निम्नलिखित थे—अंग, मगध, काशी, कोशल, वृजि, मल्ल, चेदि, वत्स, कुरु, पंचाल, मत्स्य, शूरसेन, अश्मक, अवन्ति, गान्धार और कम्बोज। इन सोलह महाजनपदो में वृजि, मल्ल और शूरसेन मे गणतन्त्र-शासनों की सत्ता थी, और अन्य में राजतन्त्र शासनों की। इनके

अतिरिक्त अन्य भी अनेक जनपद बौद्ध-युग में विद्यमान थे, यद्यपि उनका महत्त्व इन सोलह महाजनपदों की अपेक्षा बहुत कम था।

मगध का साम्राज्यवाद—भारत के प्राचीन राज्यों में मगध के सम्राट् बहुत शक्तिशाली थे। प्रारम्भ से ही उनका यह प्रयत्न रहा था, कि अन्य राज्यों को जीतकर अपने साम्राज्य का विस्तार करें। महाभारत के समय में मगधराज जरासन्ध ने बहुत-से राजाओं को जीतकर अपने अधीन किया हुआ था। उसने शूरसेन जनपद के अन्धक-वृष्णि गण पर अनेक बार आक्रमण किये, और उसी के आक्रमणों से दुःखी होकर अन्धक-वृष्णि लोग सुदूर द्वारिका में जा बसे। बौद्ध-युग में मगध के राजा बिम्बिसार और अजातशत्रु बड़े प्रतापी थे, और उन्होंने उत्तरी बिहार के विविध गणराज्यों को जीतकर अपने अधीन कर लिया था। शैशुनाक-वंश के मागध-राजाओं के शासन-काल मे मगध की शक्ति का बहुत उत्कर्ष हुआ। बाद मे महापद्मनन्द ने उत्तरी भारत के बड़े भाग को जीतकर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। पुराणों मे उसे 'सर्वक्षत्रान्तकृत्' (सब क्षत्रियो का अन्त करने वाला), एकच्छत्र और एकराट् कहा गया है। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार उसने ऐक्ष्वाकव, पांचाल, कौरव्य, हैहय आदि अनेक प्राचीन राजवंशों और मैथिल व शूरसेन जनपदो को जीतकर अपने अधीन किया था। उसका राज्य पूर्व मे बगाल की खाड़ी से शुरू होकर पश्चिम के गंगा तक विस्तृत था। हिमालय और विन्ध्याचल के मध्यवर्ती आर्यावर्त पर उसका एकच्छत्र शासन विद्यमान था।

मौर्य वंश—जिस समय यवनराज सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया, भारत मे प्रधान राजशक्ति मगध की ही थी। उसका राजा उस समय धननन्द था, जो महापद्म नन्द का ही वंशज था। गंगा के पूर्व के प्रदेश में इस काल मे मगध का एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित हो चुका था, पर पंजाब और उत्तर-पश्चिमी भारत मे अनेक छोटे-बड़े राज्य अभी विद्यमान थे, जो प्रायः आपस में संघर्ष करते रहते थे। वाहीक (पंजाब) देश के अनेक राज्यों में इस समय गणतन्त्र-शासन थे। सिकन्दर ने इस क्षेत्र के विविध राज्यों को जीत लिया, पर मगध की शक्ति का सामना करने का साहस उसकी यवन-सेनाओं को नही हुआ।

सिकन्दर के भारत से वापस लौट जाने के बाद आचार्य चाणक्य और चन्द्रगुप्त के नेतृत्व में वाहीक देश में विद्रोह हुआ, और सिकन्दर द्वारा नियुक्त क्षत्रप उसका दमन कर सकने मे असमर्थ रहे। चन्द्रगुप्त मौर्य ने न केवल पंजाब को यवनों की अधीनता से स्वतन्त्र किया, अपितु उसके विविध राज्यो को एक सूत्र मे संगठित कर मगध से नन्द वंश के शासन का भी अन्त कर दिया। धननन्द के बाद चन्द्रगुप्त मौर्य पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर आरूढ हुआ, और उसने सम्पूर्ण उत्तरी भारत को मागध-साम्राज्य में सम्मिलित किया। सिकन्दर के साम्राज्य के एशियन प्रदेशों के स्वामी सैल्युकस ने जब उत्तर-पश्चिमी भारत और पंजाब को जीतने के लिए आक्रमण किया, तो चन्द्रगुप्त मौर्य से वह पराजित हो गया। सन्धि के परिणामस्वरूप हिन्दूकुश पर्वत के पश्चिम के भी कुछ प्रदेश मौर्य-शासन में आ गये, और इस प्रकार भारत में एक ऐसे विशाल साम्राज्य की स्थापना हुई, जिसकी उत्तरी-पश्चिमी सीमा हिन्दूकुश

पर्वत से भी परे तक थी। चन्द्रगुप्त मौर्य ३२३ ई० पू० के लगभग मगध का स्वामी बना था, और उसने २९८ ई० पू० तक राज्य किया।

चन्द्रगुप्त मौर्य का उत्तराधिकारी उसका पुत्र बिन्दुसार (२९८-२७२ ई० पू०) था। उसने दक्षिणी भारत में भी मौर्य-वंश के शासन का विस्तार किया।

अशोक—बिन्दुसार के पुत्र अशोक ने कलिंग की विजय कर मौर्य-साम्राज्य को और अधिक विस्तृत किया। पर इस युद्ध में उसने यह अनुभव किया, कि शस्त्रों द्वारा जो विजय की जाती है, उससे लाखो नर-नारियो की व्यर्थ मे हत्या होती है। उसने शस्त्र-विजय का परित्याग कर धर्म-विजय की नीति को अपनाया, और विविध देशो में धर्म-विजय की स्थापना के लिए प्रक्रम किया। न केवल सुदूर दक्षिण के चोल, पाण्ड्य, केरल और सातियपुत्र राज्यो मे, अपितु पश्चिम के यवन राज्यों में भी अशोक ने अपने बहुत-से महामात्र इस उद्देश्य से नियत किये, कि वे वहाँ चिकित्सालय खुलवाकर, सड़कें, कुएँ व धर्मशालाएँ बनवा कर और अन्य विविध प्रकार के लोकोपकारी कार्य करके जनता के हृदय को जीतने का प्रयत्न करें।

जिस समय अशोक धर्म-विजय की नीति का प्रयोग कर अन्य देशो को अपने प्रभाव मे लाने का प्रयत्न कर रहा था, अशोक के गुरु मौद्गलि-पुत्र तिष्य के नेतृत्व मे बौद्ध-धर्म के प्रचार का महान् आयोजन किया गया। अशोक और तिष्य के प्रयत्नो से भारत के धर्म और संस्कृति का विदेशों मे प्रचार हुआ, और भारत वस्तुत. एक ऐसे विशाल साम्राज्य की स्थापना में सफल हुआ, जिसका विस्तार धर्म द्वारा किया गया था।

अशोक के उत्तराधिकारियो ने भी उसकी नीति का अनुसरण किया। शस्त्रबल की उपेक्षा करने के कारण मौर्य-राजा अपने विशाल साम्राज्य की रक्षा करने मे असमर्थ रहे। शीघ्र ही भारत पर विदेशी आक्रान्ताओ ने आक्रमण प्रारम्भ कर दिये, और महापद्मनन्द व चन्द्रगुप्त मौर्य जैसे प्रतापी राजाओ द्वारा स्थापित साम्राज्य खण्ड-खण्ड हो गया।

भारत के सास्कृतिक इतिहास मे मागध-साम्राज्य के विकास के इस युग का बहुत अधिक महत्त्व है। इस युग की सभ्यता और संस्कृति के सम्बन्ध मे परिचय प्राप्त करने के लिए ऐतिहासिक सामग्री का अभाव नही है। बौद्ध और जैन साहित्य, कौटलीय अर्थशास्त्र, मैगस्थनीज का यात्रा-विवरण, अशोक के शिला-लेख आदि कितने ही ऐसे साधन है, जिनमे हम इस युग के सास्कृतिक जीवन के विषय मे महत्त्वपूर्ण बाते जान सकते है।

(२) विदेशी आक्रमणों का युग

कलिंग और सातवाहन राज्य—अशोक के बाद मौर्य-वंश की शक्ति क्षीण होनी प्रारम्भ हो गई, और विशाल मागध-साम्राज्य की एकता कायम नहीं रह सकी। २१० ई० पू० के लगभग दो राज्य मौर्य-सम्राटो की अधीनता से मुक्त होकर स्वतन्त्र हो गये। चैत्रराज नामक प्रतापी व्यक्ति ने कलिंग मे अपना स्वतन्त्र राज्य कायम किया, और सीमुक ने प्रतिष्ठान को राजधानी बनाकर सातवाहन-राज्य की नीव डाली। मौर्य-वंश के पतन-काल मे कलिंग और सातवाहन-राज्य मगध के मुख्य प्रतिस्पर्धी बन गये।

१८५ ई० पू० के लगभग मगध से भी मौर्य-वंश का अन्त हो गया, और अन्तिम मौर्य-राजा बृहद्रथ को मारकर सेनानी पुष्यमित्र ने शुंगवंश का प्रारम्भ किया। पुष्यमित्र शुग के नेतृत्व मे एक बार फिर मगध में शक्ति का संचार हुआ, पर शुग-वश के शासन-काल में मागध-साम्राज्य का पुराना गौरव अविकल रूप से पुनः स्थापित नहीं हो सका।

यवन आक्रमण—चन्द्रगुप्त मौर्य ने यवन-आक्रान्ता सैल्युकस को परास्त किया था। पर उसके वंशज एण्टिगोनस ने २०० ई० पू० के लगभग फिर भारत पर आक्रमण किया। इस समय तक मौर्य-साम्राज्य की शक्ति क्षीण हो गई थी, अतः मागध सेनाएँ यवनो को परास्त करने मे असमर्थ रही। सैल्युकस द्वारा स्थापित सीरियन साम्राज्य की अधीनता से जो अनेक देश स्वतन्त्र हुए थे, उनमे बैक्ट्रिया भी एक था। बैक्ट्रिया के यवन-राजा डेमट्रियस (दिमित्र) ने भी भारत पर आक्रमण किया। यवनो के ये आक्रमण बहुत समय तक भारत पर होते रहे। एक बार तो यवन लोग मथुरा और साकेत (अयोध्या) की विजय करते हुए पाटलिपुत्र तक भी चले आये। सिकन्दर और सैल्युकस भारत मे अपना शासन स्थापित करने मे असमर्थ रहे थे, पर उनके उत्तराधिकारी यवन राजा उत्तर-पश्चिमी भारत मे अपने अनेक राज्य स्थापित करने में सफल हुए, और दूसरी सदी ई० पू० मे उत्तर-पश्चिमी भारत और पश्चिमी पंजाब यवनो की अधीनता मे आ गये।

शकों का आक्रमण—मध्य-एशिया मे सीर नदी की घाटी में शक-जाति का निवास था। इस जाति ने दक्षिण की ओर आक्रमण करके बैक्ट्रिया के यवन राज्य को जीत लिया, और इसकी एक शाखा ने पार्थिया (यह राज्य ईरान मे था) के पूर्व से होते हुए सीस्तान के मार्ग से सिन्ध पर आक्रमण किया। सिन्ध की नदी के तट पर मीन नगर को राजधानी बनाकर इन्होने भारत मे अपनी शक्ति का विस्तार किया, और मथुरा, गाधार व उज्जैन मे विविध शक क्षत्रप-वंश शासन करने लगे। ये शक क्षत्रप मीन नगर के शक महाराजा की अधीनता स्वीकार करते थे, यद्यपि इनकी स्थिति स्वतन्त्र राजाओ के सदृश थी। शक-आक्रान्ता सिन्धु, दक्षिणापथ और उत्तर-पश्चिमी भारत को अपनी अधीनता में लाने मे समर्थ हुए।

पार्थियन आक्रमण—यवनों और शको के समान पार्थियन (पल्हव) लोगो ने भी इस युग मे भारत पर आक्रमण किया, और पहली सदी ई० पू० के मध्य-भाग मे पश्चिमी गान्धार मे अपना एक पृथक् राज्य कायम कर लिया।

कुशाण आक्रमण—तिब्बत के उत्तर मे तकलामकान मरुस्थल के सीमान्त पर युइशि जाति का निवास था। इसी के आक्रमणो के कारण शक जाति अपने अभिजन को छोड़कर बैक्ट्रिया और पार्थिया की ओर और आगे बढ़ने के लिए विवश हुई थी। युइशि लोग शको को सीर की घाटी से धकेल कर ही सन्तुष्ट नही हुए, उन्होने बैक्ट्रिया पर भी आक्रमण किया और उसे जीतकर मध्य एशिया के क्षेत्र मे अपने अनेक राज्य कायम किये। कुजुल कुषाण नामक वीर राजा ने इन सब युइशि राज्यो को मिलाकर एक किया, और फिर हिन्दूकुश पर्वतमाला को पार कर भारत पर आक्रमण किया। कुजुल कुषाण के बाद राजा विम और कनिष्क ने युइशि या कुशाण-साम्राज्य का और अधिक विस्तार किया, और कनिष्क (७८ से १०० ई० के लगभग) के समय मे कुशाण-

साम्राज्य उन्नति की चरम सीमा को प्राप्त कर गया। भारत में कनिष्क ने पंजाब और उत्तर प्रदेश को जीतकर मगध पर भी आक्रमण किया, और पाटलिपुत्र पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। उत्तरी भारत के प्रायः सब प्रदेश उसकी अधीनता में थे। उत्तर-पश्चिम में कनिष्क के साम्राज्य की सीमा चीन तक थी, और प्रायः सम्पूर्ण मध्यएशिया उसके अधीन था। कनिष्क ने पुष्पपुर (पेशावर) की स्थापना कर उसे अपनी राजधानी बनाया, और भारत के विविध प्रदेशों का शासन करने के लिए अनेक क्षत्रपों की नियुक्ति की।

विदेशी आक्रान्ताओं की पराजय—यवन, शक पार्थियन और कुशाण लोग भारत के अनेक प्रदेशों पर अपना शासन स्थापित करने में समर्थ अवश्य हुए थे, पर इस देश की अनेक राजनीतिक शक्तियाँ उनके साथ निरन्तर सघर्ष करती रही, और अन्त में उन्हें परास्त कर एक बार फिर विशाल मागध-साम्राज्य की स्थापना करने में सफल हुईं। कलिंगराज खारवेल ने उन यवन-आक्रान्ताओं को उत्तरापथ से निकाल दिया था, जो कि मथुरा और साकेत की विजय करते हुए पाटलिपुत्र तक पहुँच गये थे। पुष्यमित्र शुग के समय में उसके पौत्र वसुमित्र ने सिन्ध नदी के तट पर यवनों को परास्त किया था, और इस विजय के उपलक्ष्य में मुनि पतंजलि के पौरोहित्य में सम्राट् पुष्यमित्र ने अश्वमेध-यज्ञ का अनुष्ठान किया था। शक-आक्रान्ताओं की शक्ति को नष्ट करने का प्रधान श्रेय सातवाहन-वश के प्रतापी राजाओं और मालव आदि गणराज्यों को है। सातवाहन-वंश के राजा गौतमीपुत्र सातकर्णि (लगभग १०० ई० पू० में ४४ ई० पू० तक) ने दक्षिणपथ, सौराष्ट्र और गुजरात के शक महाक्षत्रपों का उन्मूलन कर 'शकारि' और 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की। मागध-साम्राज्य की निर्बलता और विदेशी आक्रमणों की परिस्थिति से लाभ उठाकर पूर्वी पंजाब और राजपूताना में अनेक गणराज्य फिर से स्वतन्त्र हो गये थे। इनमें से अन्यतम गण मालव-राज्य ने शकों की पराजय में बहुत कर्तृत्व प्रदर्शित किया, और अपने गण की प्रतिष्ठा को पुन: स्थापित कर नये सवत् को (५७ ई० पू० से) प्रारम्भ किया, जो विक्रम सवत् के रूप मे अब तक प्रचलित है।

पार्थियन लोगों का शासन केन्द्र पश्चिमी गान्धार में था, अतः उसका विनाश कुशाण आक्रान्ताओं द्वारा हुआ। भारत मे कुशाणों का साम्राज्य एक सदी के लगभग (प्रथम सदी ई० पू० के मध्य से दूसरी सदी ई० प० के मध्य तक) कायम रहा। पर शीघ्र ही भारत की राजशक्तियों ने उसके विरुद्ध भी संघर्ष प्रारम्भ कर दिया। नाग भारशिव वंश के प्रतापी राजाओं ने उन्हे परास्त कर दस अश्वमेध-यज्ञों का अनुष्ठान किया, जिनकी स्मृति काशी के दशाश्वमेध घाट के रूप मे अब तक भी सुरक्षित है। सातवाहन-वंश के राजा भी कुषाणों के विरुद्ध संघर्ष मे निरन्तर तत्पर रहे। कुशाणों की शक्ति का अन्त करने मे यौधेय, कुनिन्द, आर्जुनायन, मालव, शिवि आदि गणराज्यों ने भी बहुत कर्तृत्व प्रदर्शित किया। इन विविध भारतीय राजशक्तियों के मुकाबले में कुशाणों का साम्राज्य नही टिक सका, और दूसरी सदी मे उसका अन्त हो गया।

विदेशियों का भारतीय संस्कृति को अपनाना—तीसरी सदी ई० पू० के उत्तरार्ध मे भारत पर विदेशियों के आक्रमण प्रारम्भ हुए थे। चार सदी से कुछ अधिक

समय तक भारत के बहुत से प्रदेशों पर यवन, शक, पार्थियन व कुशाण लोगों का शासन रहा। पर भारत के सम्पर्क में आकर इन विदेशी जातियों ने इस देश के धर्म, भाषा, सभ्यता और संस्कृति को अपना लिया था। इन्होंने बौद्ध, वैष्णव, शैव आदि भारतीय धर्मों की दीक्षा ले प्राकृत व संस्कृत-भाषा का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया था, और भारत में आकर वे पूर्णरूप से भारतीय संस्कृति के रंग मे रँग गये थे। उनके सिक्के व शिलालेख इस बात को भलीभाँति सूचित करते हैं। बहुत-से विदेशी लोगो ने तो इस समय अपने नाम भी भारतीय ही रखने शुरू कर दिये थे।

(३) गुप्त साम्राज्य

नाग भारशिववंशी राजाओं ने कुशाणों को परास्त कर भारतीय राजशक्ति के उद्धार का जो प्रयत्न प्रारम्भ किया था, वह गुप्त सम्राटो के समय मे चरम सीमा को पहुँच गया था। श्रीगुप्त नामक प्रतापी राजा द्वारा स्थापित इस राजवश ने चौथी सदी ईस्वी मे बहुत उन्नति की, और चन्द्रगुप्त प्रथम, समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के शासनकाल मे गुप्तो का यह साम्राज्य सम्पूर्ण उत्तरी भारत मे विस्तृत हो गया। दक्षिणी भारत के विविध राजा भी गुप्त सम्राटो की अधीनता स्वीकृत करते थे, और कर आदि देकर उन्हें सन्तुष्ट रखते थे। गुप्त-वश के उत्कर्ष के कारण मागध साम्राज्य एक बार फिर उस गौरवपूर्ण स्थिति को प्राप्त कर गया था, जिसमे कि वह मौर्यवंशी चन्द्रगुप्त और अशोक के समय मे था।

समुद्रगुप्त—गुप्त-वंश के गौरव की स्थापना का प्रधान श्रेय सम्राट् समुद्रगुप्त (लगभग ३३५ से ३७५ ईस्वी तक) को है। उसने दिग्विजय कर अश्वमेध-यज्ञ किया। उसकी दिग्विजय का वृत्तान्त प्रयाग के किले मे विद्यमान अशोक के प्राचीन प्रस्तर-स्तम्भ पर उत्कीर्ण है। समुद्रगुप्त की यह प्रशस्ति गुप्त-वश की कीर्ति का अनुपम स्मारक है। कुशाणो के साम्राज्य के पतनकाल मे उत्तरी भारत मे बहुत-से स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये थे, जिनमे अनेक गणराज्य भी थे। समुद्रगुप्त ने इन सबको अपने साम्राज्य मे सम्मिलित किया। दक्षिण की विजय करते हुए उसने सुदूर चोलमडल तक को अपने अधीन किया। दक्षिण भारत मे जो राजा समुद्रगुप्त की अधीनता को स्वीकृत करते थे, उसमे कांची (काजीवरम्) के राजा विष्णुगुप्त, पिष्टपुर (पीठापुरम्) के राजा महेन्द्र और वेन्गी के राजा हस्तिवर्मन् के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन विजयों के कारण दक्षिणी भारत के प्रायः सभी राजा गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त को अपना अधिपति स्वीकार करने लग गये थे। कामरूप (असम), नैपाल, कर्तृपुर (कुमाऊँ और गढवाल) और समतट (दक्षिण-पूर्वी बगाल) के राज्य गुप्त-साम्राज्य के सीमान्तवर्ती थे और उनके राजाओ की स्थिति समुद्रगुप्त के सामान्तों के सदृश थी। कुशाणों का शासन यद्यपि उत्तरी भारत से नष्ट हो गया था, पर भारत के उत्तर-पश्चिमी कोने मे इस युग मे भी उनका आधिपत्य विद्यमान था। पर कुशाण-वंश के ये "देवपुत्र शाहि शाहानुशाहि' राजा भी समुद्रगुप्त को भेंट-उपहार आदि द्वारा सन्तुष्ट रखने का प्रयत्न करते थे, और उसके शासन (राजाज्ञा) को सिर झुकाकर स्वीकार करते थे। यही स्थिति सिंहल (लंका) के राजवश की थी।

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य—समुद्रगुप्त के बाद चन्द्रगुप्त द्वितीय (३७५ से ४१४ ई० तक) गुप्त-साम्राज्य का अधिपति बना। ऐसा प्रतीत होता है, कि कुछ समय के लिए उसके बड़े भाई रामगुप्त ने भी शासन किया था, और उसकी निर्बलता से लाभ उठाकर शक-कुशाण लोग एक बार फिर प्रबल हो गये थे। अपने भाई के सेवक (बन्धुभृत्य) के रूप मे चन्द्रगुप्त ने शकों को परास्त किया और गुप्त-वंश के गौरव की प्रतिष्ठा की। बाद मे वह स्वयं पाटलिपुत्र के राज-सिंहासन पर आरूढ हुआ। शकों को परास्त करने के कारण चन्द्रगुप्त द्वितीय भी 'शकारि' और विक्रमादित्य कहा जाता था। यह प्रतापी सम्राट् केवल शकों के आक्रमणो को विफल करके ही संतुष्ट नही हुआ, अपितु उसने उत्तर-पश्चिम की सातो नदियो (यमुना, सतलज, व्यास, रावी, चनाब, जेहलम और सिन्धु) को पारकर वाल्हीक (बलख) देश पर भी आक्रमण किया, और उसे परास्त कर वंक्षु नदी के तट पर गुप्त वश की विजयपताका स्थापित की। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के प्रताप के कारण शक और कुशाण लोगो की शक्ति निर्मूल हो गई थी, और प्राय: सम्पूर्ण भारत एक शासनसूत्र मे सगठित हो गया था। चन्द्रगुप्त की कीर्ति दिल्ली के समीप महरौली मे एक विशाल लौहस्तम्भ पर उत्कीर्ण है, जिसे उसने भगवान् विष्णु के प्रति अपनी श्रद्धा को प्रदर्शित करने के लिए 'विष्णुध्वज' के रूप मे स्थापित कराया था। इस राजा के समय मे प्रसिद्ध चीनी यात्री फाइयान भारत की यात्रा के लिए आया था। उसके यात्रा-विवरण से इस युग के भारतीय समाज, सभ्यता व संस्कृति का अच्छा परिचय मिलता है। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की राजसभा मे बहुत-से विद्वानो और कवियो ने आश्रय प्राप्त किया हुआ था, जिनमे धन्वन्तरि, कालिदास, अमरसिंह, घटकर्पर आदि नवरत्न प्रमुख थे।

स्कन्दगुप्त—चन्द्रगुप्त द्वितीय के बाद कुमारगुप्त (४१४-४५५) सम्राट् बना। उसके शासन-काल मे गुप्त साम्राज्य की शक्ति अक्षुण्ण रूप मे कायम रही। कुमारगुप्त के उत्तराधिकारी स्कन्दगुप्त (४५५-४६७) के समय मे हूणो के आक्रमण भारत पर प्रारम्भ हो गये। हूण लोग शुरू मे चीन के उत्तरी प्रदेशो मे निवास करते थे। इन्ही के आक्रमणो से अपने साम्राज्य की रक्षा करने के लिए चीनी सम्राट् शी-हुआग ती (२४६-२१० ई० पू०) ने चीन की विशाल दीवार का निर्माण कराया था। उत्तर की ओर से चीन के सभ्य प्रदेशो पर आक्रमण करने मे असमर्थ होकर हूण लोग पश्चिम की ओर बढे, और युइशि जाति को उनके प्रदेश से निकाल कर बाहर किया। हूण लोग असभ्य और वर्बर थे। इन्ही के आक्रमणो के कारण सुदूर-पश्चिम मे रोमन साम्राज्य खण्ड-खण्ड हो गया था। दक्षिण-पूर्व मे इन्होने गुप्त साम्राज्य पर भी आक्रमण किये, और स्कन्दगुप्त ने इनके साथ युद्ध करने मे अद्भुत पराक्रम प्रदर्शित किया। यद्यपि स्कन्दगुप्त अपने जीवन काल मे हूणो की बाढ को रोक सकने मे समर्थ हुआ, पर उसके उत्तराधिकारी इस बर्बर जाति का सामना नहीं कर सके। हूणो के निरन्तर आक्रमणो से गुप्त-साम्राज्य की जडे हिल गई, और न केवल उत्तर-पश्चिमी भारत गुप्त-वश की अधीनता से निकल गया, अपितु भारत के विविध प्रदेशो मे अनेक स्वतन्त्र व पृथक् राज्य भी कायम हो गये। इन राज्यो के अनेक प्रतापी राजाओ ने हूणो का मुकाबला करने मे अनुपम वीरता प्रदर्शित की। इस सम्बन्ध मे राजा यशोधर्मा का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय

है। उसने हूणों को परास्त कर उनके राजा मिहिरगुल को अपनी चरणपूजा के लिए विवश किया। यशोधर्मा छठी सदी ईस्वी के मध्य भाग मे हुआ था।

यद्यपि भारत के अनेक वीर राजा हूणो का मुकाबला करने मे अद्भुत शौर्य प्रदर्शित कर रहे थे, पर छठी सदी ईस्वी मे भारत मे कोई ऐसी राजशक्ति नही रह गयी थी, जो इस देश की राजनीतिक एकता को कायम रख सकती। विविध प्रदेशो मे विविध राजवंशो का शासन स्थापित हो गया था, और प्रतापी गुप्त सम्राटो द्वारा स्थापित साम्राज्य खण्ड-खण्ड हो गया था। गुप्त वश के निर्बल राजा आठवी सदी के प्रारम्भिक भाग तक मगध व उसके समीपवर्ती प्रदेशों पर शासन करते रहे, पर अब उनकी स्थिति सम्राटो की न होकर स्थानीय राजाओ के सदृश रह गई थी। समुद्रगुप्त और विक्रमादित्य के समय के गुप्त साम्राज्य का अब अन्त हो चुका था।

गुप्त सम्राटो के शासन काल को भारतीय इतिहास का सुवर्णीय युग कहा गया है। नि.सन्देह, यह काल सभ्यता, सस्कृति और कला के क्षेत्र मे उत्कर्ष का युग था। ज्ञान, विज्ञान, साहित्य आदि सभी दृष्टियो से यह युग अत्यन्त महत्व का था। पुष्यमित्र शुग के समय मे ही भारत मे बौद्ध धर्म का ह्रास और सनातन वैदिक धर्म का पुनरुत्थान प्रारम्भ हो गया था। प्रायः सभी गुप्त-सम्राट् (कुछ अपवादों को छोडकर) भागवत वैष्णव-धर्म के अनुयायी थे। उनके शासन-काल में न केवल भारत में अपितु पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया में भी भागवत वैष्णव तथा शैव धर्मों का प्रसार हुआ और बहुत से साहसी भारतीयो ने इस क्षेत्र मे अपने उपनिवेशो की स्थापना की। धर्म-प्रचारको और उपनिवेश बसाने वालो के प्रयत्न से उस 'बृहत्तर भारत' का निर्माण हुआ, जो भारत के प्राचीन इतिहास मे बडे गौरव की बात है। सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से गुप्त युग का महत्त्व बहुत अधिक है।

(४) मध्य युग

स्कन्दगुप्त के पश्चात् गुप्त साम्राज्य का ह्रास प्रारम्भ हो गया था, और विविध प्रदेशो मे अनेक राजवंशो ने अपनी स्वतन्त्रता स्थापित करनी शुरू कर दी थी। छठीसदी के इन राज्यो मे दो बहुत महत्त्वपूर्ण थे—कन्नौज के मौखरी और स्थाण्वीश्वर (थानेसर) के वर्धन। कन्नौज के मौखरी राजा ग्रहवर्मा का विवाह थानेसर के राजा प्रभाकरवर्धन की पुत्री राज्यश्री के साथ हुआ था। गुप्त-वंश के अन्यतम राजा के साथ युद्ध करते हुए ग्रहवर्मा की मृत्यु हो गयी, और प्रभाकरवर्धन का पुत्र हर्षवर्धन थानेसर और कन्नौज दोनों का स्वामी बन गया। राजा हर्षवर्धन का भारतीय इतिहास मे बहुत अधिक महत्त्व है। वह बौद्ध-धर्म का सरक्षक था, और प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यूएनत्साग उसी के शासन काल मे भारत की यात्रा के लिए आया था। इस चीनी विद्वान् के यात्रा विवरण से हर्षकालीन भारत की सभ्यता और सस्कृति के विषय मे बहुत-कुछ परिचय प्राप्त होता है। हर्षवर्धन न केवल बौद्ध धर्म का सरक्षक था, अपितु अन्य धर्मों के प्रति भी आदर का भाव रखता था। उसने अपने राज्य को विस्तृत करने के लिए अनेक युद्ध भी किये। उसका शासन-काल सातवी सदी के पूर्वार्ध में था।

हर्ष के बाद भारत के प्राचीन इतिहास में कोई ऐसा राजा नहीं हुआ, जो उत्तरी भारत के बड़े भाग को अपनी अधीनता मे ला सकने में सफल हुआ हो। वस्तुतः, इस युग में (सातवी सदी के मध्य से बारहवी सदी के अन्त तक) भारत के विविध प्रदेशों में विविध राजवंशों का शासन रहा, उनके राजा परस्पर युद्ध मे व्यापृत रहे और अन्य राज्यो को जीतकर अपनी अधीनता में लाने का प्रयत्न करते रहे। इसी युग को भारतीय इतिहास का मध्य युग भी कहा जाता है। इस युग मे जिन विविध राजवंशो का शासन था, उनमे पाल, सेन, चालुक्य, राष्ट्रकूट, गुर्जर-प्रतिहार, चन्देल, परमार, यादव, काकतीय, कदम्ब, होयसल, गंग, पल्लव, चोल और पाण्ड्य मुख्य हैं। इन राजवंशो के शासन-वृत्तान्त का यहाँ उल्लेख करने की आवश्यकता नही है। राजनीतिक इतिहास की दृष्टि से यह युग अव्यवस्था का था। किसी एक शक्तिशाली केन्द्रीय राजशक्ति के अभाव में इन विविध राजवशो के राजा आपस मे युद्ध करने और अपने शासन-क्षेत्र की वृद्धि करने मे तत्पर रहते थे।

मध्ययुग मे भी भारत मे अनेक ऐसे प्रतापी राजा हुए, जिन्होने अपने राज्यो को विस्तृत करने मे अच्छी सफलता प्राप्त की। इनमे पालवशी राजा देवपाल (८०६-८५५), गुर्जर-प्रतिहार वश के राजा मिहिर भोज (८३६-८८०) और परमार वश के राजा मुञ्ज (६७४) विशेष महत्त्व के है। यद्यपि इन व कतिपय अन्य राजाओ ने दूर-दूर तक विजय-यात्राएँ की, पर ये उस ढंग के स्थायी साम्राज्य स्थापित नही कर सके, जैसे की प्राचीन काल मे चन्द्रगुप्त मौर्य और गुप्तवशी समुद्रगुप्त ने किये थे। दक्षिणापथ के मध्यकालीन राजाओ मे चालुक्यवशी पुलकेशी द्वितीय (हर्षवर्धन का समकालीन), राष्ट्रकूट वश का गोविन्द तृतीय (७६४-८१४) और कल्याणी के चालुक्य राजा सोमेश्वर आहवमल्ल (१०४७-१०६८) बडे प्रतापी हुए, और ये प्रायः सम्पूर्ण दक्षिणापथ को अपनी अधीनता में ला सकने मे समर्थ हुए। सुदूर दक्षिण के मध्यकालीन राजाओ मे राजराज प्रथम (६८५-१०१२) और राजेन्द्र प्रथम (१०१२-१०४४) ने अपनी शक्ति का बहुत विस्तार किया, और समुद्र पार के प्रदेशों मे भी अपने शासन की स्थापना की। पर ये सब शक्तिशाली राजा भारत मे एक स्थायी व विशाल साम्राज्य की स्थापना नही कर सके।

पर सास्कृतिक इतिहास की दृष्टि से यह युग कम महत्त्व का नही है। गुप्तवश के शासन-काल मे साहित्य, कला और धर्म के क्षेत्रो मे जो उन्नति प्रारम्भ हुई थी, वह इस युग मे जारी रही, और शकराचार्य, कुमारिल भट्ट व रामानुज जैसे धर्माचार्य और भवभूति व बाणभट्ट जैसे साहित्यिक इसी युग मे हुए। विविध राजवंशो के प्रतापी राजाओ के संरक्षण मे अनेक विशाल मन्दिरो का निर्माण इस युग की विशेषता है।

भारत के सांस्कृतिक इतिहास को लिखते हुए हम राजनीतिक इतिहास के इसी युग-विभाग का स्थूल-रूप से अनुसरण करेंगे।

दसवाँ अध्याय

बौद्ध युग की सभ्यता और संस्कृति

(१) गणराज्य और उनकी शासनविधि

बौद्ध युग के शक्तिशाली राजाओ ने अपने साम्राज्यों का विस्तार करते हुए जिन बहुत-से जनपदो को विजय किया था, उनमें अनेक ऐसे भी थे जिनका शासन गणतन्त्र था। इन गणराज्यो के तीन प्रमुख क्षेत्र थे—(१) उत्तरी बिहार, जहाँ वज्जि, शाक्य, मल्ल आदि जनपद विद्यमान थे। (२) गंगा-यमुना का क्षेत्र, जहाँ सत्वत, अन्धक, वृष्णि, कुरु, पचाल आदि गणो की सत्ता थी। (३) पंजाब और उत्तर-पश्चिमी भारत, जिसमे शिवि, मालव, क्षुद्रक, कठ, आग्रेय, यौधेय, मद्र आदि गण स्थित थे। चौथी सदी ईस्वी पूर्व मे भारत के ये विविध गणराज्य अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता से हाथ धो चुके थे और मागध साम्राज्य की अधीनता मे आ गए थे। पर उससे पूर्व बौद्ध युग मे इनकी पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता थी। कुरु, पंचाल, विदेह आदि अनेक राज्यों मे उत्तर-वैदिक काल तक वशक्रमानुगत राजाओ का शासन था, पर बौद्ध युग मे वहाँ गणतन्त्र शासन स्थापित हो गए थे। इन गणराज्यो के राजनीतिक इतिहास के सम्बन्ध मे अभी तक कोई भी महत्त्वपूर्ण तथ्य ज्ञात नही हो सके हैं, पर उनकी शासन-पद्धति, कार्यविधि आदि के विषय मे बौद्ध साहित्य, ग्रीक विवरणो, कौटलीय अर्थशास्त्र और पाणिनि की अष्टाध्यायी से बहुत-कुछ परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

कपिलवस्तु के शाक्यगण मे कोई वशक्रमानुगत राजा नही होता था। गण के मुख्य (राष्ट्रपति) को ही वहाँ 'राजा' कहा जाता था। बुद्ध के पिता शुद्धोदन शाक्य गण के वंशक्रमानुगत राजा नही थे, अपितु कुछ समय के लिए ही 'राजा' निर्वाचित किए गए थे। यही कारण है, कि बौद्ध साहित्य मे अनेक स्थलो पर उनके नाम के साथ 'राजा' विशेषण का प्रयोग किया गया है, पर अन्यत्र उनके जीवन काल में ही उनके भतीजे भद्दिय को 'राजा' कहा गया है और उन्हे केवल 'शाक्य शुद्धोदन' लिखा गया है। शाक्य गण के समान लिच्छवि गण मे भी कोई वंशक्रमानुगत राजा नही होता था, पर वहाँ प्रत्येक नागरिक को 'राजा' कहते थे। बौद्ध-ग्रन्थ ललितविस्तर के अनुसार वैशाली (लिच्छवि गण की राजधानी) के निवासियो मे उच्च, मध्य, वृद्ध, ज्येष्ठ आदि के भेद का विचार नही किया जाता। वहाँ सब कोई यही समझते हैं कि 'मैं राजा हूँ, मैं राजा हूँ।' कोई किसी से छोटा होना स्वीकार नही करता। इन गणराज्यों में शासन कार्य के लिए परिषद् होती थी, जिसके अधिवेशन सन्थागार (सभाभवन) में हुआ करते थे। शाक्य गण की परिषद् के सदस्यों की संख्या बौद्ध ग्रन्थों मे ५०० लिखी गई है। शासन-विषयक सब महत्त्वपूर्ण विषय परिषद् के सम्मुख प्रस्तुत किए जाते थे,

और वही उनका निर्णय करती थी। लिच्छवि गण की परिषद् के सदस्यों की संख्या बहुत अधिक थी। एकपण्ण जातक के अनुसार वैशाली मे राज्य करने वाले 'राजाओं' की संख्या ७७०७ थी, और इतने ही उपराजा, सेनापति तथा भाण्डागारिक भी वहाँ थे। बौद्ध साहित्य के अन्य भी अनेक ग्रन्थो मे लिच्छवियो के ७७०७ राजाओ, उपराजाओ आदि का उल्लेख है। सम्भवत., गणराज्यो की इन परिषदो का निर्माण उन कुलो के मुखियाओं (कुलमुख्यों) द्वारा होता था, जो गण के अंगभूत थे। परिषद् के सदस्यों की नियुक्ति चुनाव द्वारा नही होती थी। प्रत्येक कुल का ज्येष्ठ पुरुष, जिसके लिए पाणिनि की अष्टाध्यायी मे 'गोत्रापत्य' सज्ञा का प्रयोग किया गया है, परिषद् का सदस्य माना जाता था।

गणराज्यों की न्याय व्यवस्था के सम्बन्ध में भी कुछ निर्देश बौद्ध साहित्य से प्राप्त होते है। लिच्छविगण मे यह व्यवस्था थी कि अभियुक्त को पहले 'विनिश्चय-महामात्र' के सम्मुख उपस्थित किया जाए। वह अपराध की जाँच करता था, और निरपराधी पाने पर अभियुक्त को छोड देता था। विनिश्चय-महामात्र द्वारा अभियुक्त के अपराधी पाए जाने पर उसे 'व्यावहारिक' के सम्मुख पेश किया जाता था। वह उसे छोड तो सकता था, पर दण्ड नही दे सकता था। यदि व्यावहारिक भी अभियुक्त को अपराधी पाए, तो उसे 'सूत्रधर' के सम्मुख पेश किया जाता था। यदि वह भी उसे अपराधी पाए, तो उसे क्रमशः अट्ठकुलक, सेनापति, उपराजा और राजा के सम्मुख उपस्थित किया जाता था। पर राजा को भी स्वयं दण्ड देने का अधिकार नही था। यदि वह भी अभियुक्त को अपराधी पाए, तो उसे 'पवेणिपोत्थक' संज्ञक राजपदाधिकारी के सम्मुख पेश किया जाता था, जिसे दण्ड देने का अधिकार था। इस प्रकार अपराधी को छूट सकने के अवसर तो बहुत थे, पर उसे दण्ड तभी मिल सकता था, जब उसका अपराध भली-भाँति सिद्ध हो जाए।

ग्रीक विवरणो के अनुसार क्षुद्रक, मालव आदि जनपदों मे उस ढग के शासन विद्यमान थे, जिन्हें ग्रीस मे लोकतन्त्र (डेमोक्रेटिक) कहते थे। डायोडोरस ने लिखा है, कि बहुत-सी पीढ़ियाँ बीत गई थी, जबकि इनमे राजाओ की सत्ता का अन्त होकर लोकतन्त्र शासन स्थापित हो गए थे। ग्रीक विवरणो मे कतिपय जनपदों के शासन को श्रेणितन्त्र (अरिस्टोक्रेटिक) भी लिखा गया है। इस युग मे ग्रीस मे बहुत-से जनपद थे, जिनमे प्रायः लोकतन्त्र और कुलतन्त्र शासनों की सत्ता थी। एथन्स सदृश लोकतन्त्र गणराज्य की राजसभा मे सब वयस्क नागरिक सम्मिलित हुआ करते थे, और उन द्वारा किए जाने वाले निर्णयो का आधार बहुमत होता था। निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा निर्मित सभाएँ उस काल मे नही होती थीं। ग्रीक लेखक अपने देश की विविध शासन पद्धतियों से भली-भाँति परिचित थे। लोकतन्त्र और श्रेणितन्त्र के भेद को वे भली-भाँति जानते थे। अतः क्षुद्रक और मालव आदि जिन राज्यो के शासन को उन्होंने लोकतन्त्र रहा है, उनमे प्रायः वही शासन पद्धति थी, जो एथन्स सदृश ग्रीक गणराज्यों में थी। श्रेणितन्त्र गणराज्यों मे शासन शक्ति कुलमुख्यो के हाथो मे रहती थी, सब नागरिकों के नही।

कौटलीय अर्थशास्त्र में दो प्रकार के गणराज्यों व संघो का उल्लेख है—राज-शब्दोपजीवी और वार्त्ताशस्त्रोपजीवी। लिच्छविगण राजशब्दोपजीवी राज्यो का उत्तम उदाहरण है। वहाँ सब नागरिक राजा कहाते थे, और कोई भी अपने को किसी अन्य से हीन नहीं समझता था। वार्त्ताशस्त्रोपजीवी गणों के नागरिक जहाँ कृषि, पशुपालन और वणिज्या द्वारा अपना निर्वाह करते थे, वहाँ साथ ही उत्कृष्ट सैनिक भी होते थे। पाश्चात्य जगत् में फिनीशिया इसी प्रकार का गणराज्य था, और भारत में यमुना के पश्चिम मे विद्यमान आग्रेय, यौधेय, क्षत्रिय, श्रेणि आदि इसी प्रकार के गण थे। इन्हीं को पाणिनि की अष्टाध्यायी मे 'आयुधजीवी' संघ कहा गया है।

बौद्ध युग के गणराज्यों की शासन पद्धति तथा कार्यविधि के सम्बन्ध मे बौद्ध साहित्य से कतिपय अन्य भी महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती है। जब मगध के राजा अजातशत्रु ने वज्जि संघ की विजय का विचार किया, तो उसने अपने मन्त्री वर्षकार (वस्सकार) को महात्मा बुद्ध की सेवा मे परामर्श के लिए भेजा। अजातशत्रु के विचार को सुनकर बुद्ध ने कहा—'जब तक वज्जि लोग एक हो बैठक करते रहेंगे और एक हो राज्यकार्य की देखभाल करते रहेंगे, तब तक उनकी वृद्धि ही समझना हानि नही!' इसी प्रकार, जब तक वज्जि लोग अपने राज्य मे जो विहित है उसका उल्लंघन नहीं करेंगे, जो पुराने समय से उनके नियम चले आ रहे है उनका पालन करते रहेंगे; और जब तक वज्जियो मे जो महल्लक (वृद्ध नेता) हों, वज्जि लोग उनका सत्कार करते रहेंगे, उन्हे बड़ा मान कर उनकी वे पूजा करते रहेंगे, उनकी बात को सुनने तथा ध्यान देने योग्य समझते रहेंगे, तब तक उनकी वृद्धि ही होगी, हानि नही। बुद्ध के इस कथन से इस बात मे कोई सन्देह नही रह जाता कि वज्जि-संघ मे शासन के प्रयोजन से नागरिको द्वारा परस्पर मिलकर बैठकें की जाती थी, परम्परागत तथा विहित नियमों व कानूनो का पालन किया जाता था, और राज्य के महल्लको (जिन्हे अष्टाध्यायी में 'वृद्ध' कहा गया है) के वचनो व सम्मति का समुचित आदर किया जाता था।

गण या संघ राज्यों की सभाओं मे कार्य की क्या विधि थी, इसका परिज्ञान बौद्ध संघ की कार्यविधि से प्राप्त किया जा सकता है। बुद्ध का जन्म एक गण व संघ-राज्य मे हुआ था, और उनके जीवन का बड़ा भाग संघो के वातावरण मे ही व्यतीत हुआ था। उनके लिए यह स्वाभाविक था कि वह अपने नए धार्मिक सम्प्रदाय को संघ की संज्ञा देते और उसकी कार्य-विधि के लिए अपने समय के राजनीतिक संघों का अनुसरण करते। इसी कारण बौद्ध भिक्षुसंघ की कार्यविधि से उस युग के संघ राज्यों की कार्यविधि का अनुमान किया जा सकता है।

भिक्षु-संघ मे सदस्यो के बैठने के लिए पृथक्-पृथक् आसन होते थे। आसनों की व्यवस्था करने के लिए एक पृथक् कर्मचारी होता था, जिसे 'आसनप्रज्ञापक' कहते थे।

संघ मे जिस विषय पर विचार होना हो, उसे पहले प्रस्ताव के रूप मे पेश किया जाता था। पर प्रस्ताव को उपस्थित करने से पूर्व पहले उसकी सूचना देनी होती थी। इस सूचना को 'ज्ञप्ति' कहते थे। ज्ञप्ति के बाद प्रस्ताव को बाकायदा उपस्थित किया जाता था। प्रस्ताव के लिए बौद्ध-साहित्य में पारिभाषिक शब्द 'प्रतिज्ञा'

है। जो प्रस्ताव (प्रतिज्ञा) के पक्ष मे होते थे, वे चुप रहते थे। जो विरोध में होते थे, वे अपना विरोध प्रगट करते थे। यदि प्रस्ताव उपस्थित होने पर संघ चुप रहे, तो उसे तीन बार पेश किया जाता था। तीनों बार संघ के चुप रहने पर उस प्रस्ताव को स्वीकृत मान लिया जाता था। विरोध होने पर बहुसम्मति द्वारा निर्णय करने की प्रथा थी।

भिक्षु-संघ के लिए 'कोरम' (quorum) का भी नियम था। संघ की बैठक के लिए कम-से-कम बीस भिक्षुओं की उपस्थिति आवश्यक थी। यदि कोई कार्य पूरे कोरम के बिना किया जाए, तो उसे मान्य नही समझा जाता था। गणपूरक नाम के एक भिक्षुकर्मचारी का कार्य ही यह होता था, कि वह कोरम को पूरा करने का प्रयत्न करे। यह संघ के अधिवेशन के लिए जितने भिक्षुओं की आवश्यकता हो, उन्हें एकत्रित करता था। आजकल की व्यवस्थापिका-सभाओं मे जो कार्य ह्विप (Whip) करते हैं, यह गणपूरक पुराने भिक्षुसघो मे वही कार्य किया करता था। जिन प्रस्तावों पर किसी को विप्रतिपत्ति नही होती थी, वे सर्वसम्मति से स्वीकृत मान लिए जाते थे। उनपर वोट लेने की कोई आवश्यकता नही समझी जाती थी। उनपर विवाद भी नही होता था। परन्तु यदि किसी प्रश्न पर मतभेद हो, तब उसके पक्ष और विपक्ष मे भाषण होते थे और बहुसम्मति द्वारा उसका निर्णय किया जाता था। बहुसम्मति द्वारा निर्णय होने को 'ये भूयस्मिकम्' या 'ये भूयसीयम्' कहते थे। बौद्ध-ग्रन्थो मे वोट के लिए 'छन्द' शब्द है। छन्द का दूसरा अर्थ स्वतन्त्र होता है। इससे यह ध्वनि निकलती है, कि वोट के लिए स्वतन्त्रता को बहुत महत्त्व दिया जाता था। वोट के लिए प्रयोग मे आने वाली पर्चियों को 'शलाका' कहते थे। वोट लेने के लिए एक भिक्षु कर्मचारी होता था, जिसे 'शलाकाग्राहक' कहते थे। यह 'शलाका-ग्रहण' (वोट एकत्रित करना) का काम किया करता था।

वोट लेने के तीन ढंग थे—गूढक, सकर्णजल्पक और विवृतक।

(१) गूढक—शलाकाग्राहक जितने पक्ष हों उतने रंगों की शलाकाएँ बनाता था। क्रम से भिक्षु उसके पास वोट देने के लिए आते थे। प्रत्येक भिक्षु को शलाकाग्राहक बताता था, कि इस रंग की शलाका इस पक्ष की है, उन्हें जो पक्ष अभिमत हो, उसकी शलाका उठा लो।

(२) सकर्णजल्पक—जब वोट देने वाला भिक्षु शलाका-ग्राहक के कान में कहकर अपने मत को प्रगट करे, तो उसे 'सकर्णजल्पक' विधि कहा जाता था।

(३) विवृतक—जब वोट खुले रूप से लिए जाएँ, तो विवृतक विधि होती थी।

जिन प्रश्नों पर भिक्षुसंघ में मतभेद होता था, उनपर अनेक बार बहुत गरमागरम बहस हो जाती थी और निर्णय पर पहुँच सकना कठिन हो जाता था। उस दशा मे सघ की एक उपसमिति बना दी जाती थी, जिसे 'उद्वाहिका' या 'उब्बहिका' कहते थे। यह 'उद्वाहिका' विवादग्रस्त विषय पर भली-भाँति विचार कर उसका निर्णय करने में समर्थ होती थी। पर यदि इससे भी परस्पर-विरोध शान्त न हो, तो 'ये भूयसीयम्' के अतिरिक्त निर्णय का अन्य कोई उपाय नही रहता था।

संघ की वक्तृताओं तथा अन्य कार्य को उल्लिखित करने के लिए लेखक भी

हुआ करते थे। महागोविन्द सुत्तान्त (दीर्घ निकाय) के अनुसार "तावतिंशदेव सुधम्मसभा में एकत्रित हुए, और अपने-अपने आसनों पर विराजमान हो गए। वहाँ उस सभा में चार महाराज इस कार्य के लिए विराजमान थे, कि भाषणो तथा प्रस्तावों को उल्लिखित करें।"

यदि कोई वक्ता संघ में भाषण करते हुए वक्तृता के नियमों का ठीक प्रकार से पालन न करे, परस्पर-विरोधी बात बोले, पहले कही हुई बात को दोहराये, कटु भाषण करे या इसी प्रकार कोई अन्य अनुचित कार्य करे, तो उसे दोषी समझा जाता था और इसके लिए उसे उत्तरदायी होना पड़ता था। जो भिक्षु संघ के अधिवेशन में किसी कारण उपस्थित न हो सकें, उनकी सम्मति लिखित रूप से मँगा ली जाती थी। यह आवश्यक नहीं होता था, कि इन अनुपस्थित भिक्षुओं की सम्मति का निर्णय के लिए परिगणन अवश्य किया जाए, पर उनकी सम्मति मँगा लेना आवश्यक समझा जाता था। उनकी सम्मति से उपस्थित भिक्षुओं को अपनी सम्मति बनाने में सहायता मिल सके, इसीलिए यह व्यवस्था की गयी थी।

(२) राजतन्त्र राज्यों में शासन का स्वरूप

बौद्ध-युग के सब राज्यो मे एक ही प्रकार का शासन नही था। विविध राजतन्त्र-राज्यों में राजा की स्थिति भिन्न-भिन्न प्रकार की थी। यही कारण है, कि बौद्ध-ग्रन्थो मे इस विषय मे विविध तथा परस्पर-विरोधी विचार उपलब्ध होते हैं।

राजा की स्थिति—बौद्ध-साहित्य के अनुसार राजा को राज्य का स्वामी नहीं माना जाता था, उसका कार्य केवल प्रजा का पालन तथा अपराधियो को दण्ड देना ही समझा जाता था। वह व्यक्तियो पर कोई अधिकार नही रखता था। एक जातक-कथा के अनुसार एक बार एक राजा की प्रिय रानी ने अपने पति से यह वर माँगा कि मुझे राज्य पर अमर्यादित अधिकार प्रदान कर दिया जाए। इसपर राजा ने अपनी प्रिय रानी से कहा—'भद्रे ! राष्ट्र के सम्पूर्ण निवासियो पर मेरा कोई भी अधिकार नही है, मैं उनका स्वामी नही हूँ। मैं तो केवल उनका स्वामी हूँ, जो राजकीय नियमों का उल्लघन कर अकर्तव्य कार्य को करते है। अतः मैं तुम्हें राष्ट्र के सम्पूर्ण निवासियों का स्वामित्व प्रदान करने मे असमर्थ हूँ।' इससे स्पष्ट है, कि बौद्ध-युग मे राजा जनता पर अबाधितरूप से शासन नही कर सकते थे। राज्य व राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो मन्तव्य बौद्ध-साहित्य मे पाए जाते हैं, वे भी इसी विचार की पुष्टि करने वाले हैं। बौद्ध-साहित्य के अनुसार पहले राज्य-सस्था नही थी, अराजक दशा थी। जब लोगों में लोभ और मोह उत्पन्न हो जाने के कारण 'धर्म' नष्ट हो गया, तो उन्हें राज्य-संस्था के निर्माण की आवश्यकता अनुभव हुई। इसके लिए वे एक स्थान पर एकत्रित हुए और अपने मे जो सबसे अधिक योग्य, बलवान्, बुद्धिमान् और सुन्दर व्यक्ति था, उसे राजा बनाया गया। उस योग्यतम व्यक्ति को राजा बनाकर सबने उसके साथ निम्न प्रकार से 'समय' (संविदा या करार) किया—"अबसे तुम उस व्यक्ति को दण्ड दिया करो, जो दण्ड देने योग्य हो और उसे पुरस्कृत किया करो, जो पुरस्कृत होने योग्य हो। इसके बदले में हम तुम्हें अपने क्षेत्रों की उपज का एक भाग प्रदान किया करेंगे।"

इसके आगे लिखा गया है—"क्योकि यह व्यक्ति सब द्वारा सम्मत होकर अपने पद पर अधिष्ठित होता है, इसलिए इसे 'महासम्मत' कहते हैं। क्योकि यह क्षेत्रो का रक्षक है, और क्षति से जनता की रक्षा करता है, अतः 'क्षत्रिय' कहाता है। क्योकि यह प्रजा का रञ्जन करता है, इस कारण इसे 'राजा' कहा जाता है।" राजा के सम्बन्ध मे ये विचार बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसी ढग के विचार महाभारत, शुक्रनीति आदि प्राचीन नीति-ग्रन्थो मे भी उपलब्ध होते है।

पर बौद्ध-काल के सभी राजा शासन मे इन उदात्त सिद्धान्तो का अनुसरण नही करते थे। जातक-कथाओ मे अनेक इस प्रकार के राजाओ का भी उल्लेख आया है, जो अत्याचारी, क्रूर और प्रजापीड़क थे। महापिंगल-जातक में एक राजा का उल्लेख आया है, जिसका नाम महापिंगल था। वह अधर्म से प्रजा का शासन करता था; दण्ड, कर आदि द्वारा वह जनता को इस प्रकार पीसता था, जैसे कोल्हू मे गन्ना पीसा जाता है। वह बड़ा क्रूर, अत्याचारी और भयकर राजा था। दूसरो के प्रति उसके हृदय मे दया का लवलेश भी न था। अपने कुटुम्ब मे भी वह अपनी धर्मपत्नी, सन्तान आदि पर तरह-तरह के अत्याचार करता रहता था। इसी प्रकार केशिशील-जातक मे वाराणसी के राजा ब्रह्मदत्त का वर्णन करते हुए लिखा है, कि वह बडा स्वेच्छाचारी तथा क्रूर राजा था। उसे पुरानी वस्तुओं से बडा द्वेष था। वह न केवल पुरानी चीजों को ही नष्ट करने मे व्यापृत रहता था, पर साथ ही वृद्ध-स्त्री पुरुषो को तरह-तरह के कष्ट देकर उन्हें मारने मे उसे बडा आनन्द अनुभव होता था। जब वह किसी बूढी स्त्री को देखता, तो उसे बुलाकर पिटवाता था। बूढ़े पुरुषो को वह इस ढंग से जमीन पर लुढकाता था, मानो वे धातु के बरतन हो।

पर यह ध्यान मे रखना चाहिए, कि बहुसंख्यक राजा धार्मिक और प्रजा-पालक होते थे। वे प्रायः अपनी 'प्रतिज्ञा' पर दृढ रहने वाले होते थे। जो राजा प्रजा पर अत्याचार करते थे, उनके विरुद्ध विद्रोह भी होते रहते थे। सच्चकिर जातक में एक राजा की कथा आती है, जो बडा क्रूर और अत्याचारी था। आखिर, लोग उसके शासन से तंग आ गए और ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा अन्य सब देशवासियों ने मिलकर निश्चय किया कि इस राजा के विरुद्ध विद्रोह कर दिया जाए। इसी के अनुसार एक बार जब वह अत्याचारी राजा हाथी पर जा रहा था, उसपर आक्रमण किया गया और उसे वहीं कतल कर दिया गया। राजा को मारकर जनता ने स्वय बोधिसत्व को राजा निर्वाचित किया। इसी प्रकार पदकुशलमाणव-जातक मे एक अत्याचारी राजा के विरुद्ध जनता के विद्रोह का वर्णन आया है। इस राजा के विरुद्ध भड़काते हुए जनता को निम्नलिखित बात कही गयी थी—'जनपद और निगम में एकत्रित जनता मेरी बात पर ध्यान दे। जल मे अग्नि प्रज्वलित हो उठी है। जहाँ से हमारी रक्षा होनी चाहिए, वही से अब रक्षा के स्थान पर भय हो गया है। राजा और उसका ब्राह्मण पुरोहित राष्ट्र पर अत्याचार कर रहे हैं। अब तुम लोग अपनी रक्षा स्वयं करो। जहाँ तुम्हें शरण मिलनी चाहिए, वही स्थान अब भयंकर हो गया है।'

बौद्ध-काल के राजतन्त्र राज्यों मे राजा प्रायः वंशक्रमानुगत होते थे। पर राजसिंहासन पर विराजमान होने के लिए उन्हें यह सिद्ध करना आवश्यक होता था,

कि वे राज्यकार्य का संचालन करने के लिए उपयुक्त योग्यता रखते हैं। गामणिचण्ड जातक मे कथा आती है, कि जब वाराणसी के राजा जनसन्ध की मृत्यु हो गयी, तो अमात्यो ने विचार किया कि राजकुमार की आयु बहुत कम है, अतः उसे राजा नही बनाना चाहिए। फिर विचार के अनन्तर उन्होने यह निर्णय किया कि राजगद्दी पर बिठाने से पूर्व कुमार की परीक्षा करना आवश्यक है। कुमार को न्यायालय (विनिश्चय-स्थान) मे ले जाया गया, और वहाँ उसकी अनेक प्रकार से परीक्षा ली गयी। जब उसने यह सिद्ध कर दिया, कि राजा के लिए आवश्यक सब गुण उसमे विद्यमान हैं, तभी उसे वह पद दिया गया। यह सही है कि सामान्य दशा मे राजा का लड़का ही राजगद्दी पर बैठता था। पर यदि वह योग्य न हो, या उसकी योग्यता के सम्बन्ध मे विवाद हो, तो अमात्य लोग उसकी परीक्षा लेते थे और परीक्षा मे अनुत्तीर्ण होने पर किसी अन्य को राज्य प्रदान कर सकते थे।

शासन करने की योग्यता के अतिरिक्त कुछ अन्य बातें भी राजा के लिए ध्यान मे रखी जाती थी। अन्धे व विकलाग व्यक्ति को राजा नही बनाया जाता था। शिवि-जातक मे अरिट्ठपुर के राजा शिवि की कथा आती है, जो बडा दानी था। उसके दान की कीर्ति सब ओर फैली हुई थी। एक बार एक अन्धे भिक्षुक ब्राह्मण ने उससे आँखो की भिक्षा माँगी। राजा शिवि तैयार हो गया और उसने अपनी आँखें उस भिक्षुक को प्रदान कर दी। स्वय अन्धा हो जाने पर राजा शिवि ने सोचा, कि अन्धे आदमी के राजसिहासन पर बैठने से क्या लाभ है। वह अपने अमात्यो के हाथ मे राज्य को सुपुर्द कर स्वय वन मे चला गया, और वहाँ तापस के रूप मे जीवन व्यतीत करने लगा। इसी प्रकार सम्बुल जातक मे बनारस के राजकुमार सोट्ठसेन की कथा आती है, जो कोढ़ से पीडित था और इसी रोग से ग्रस्त होने के कारण राजप्रासाद को छोडकर जगल में चला गया था। वह तब तक अपने राज्य मे वापस नही लौटा, जब तक कि उसकी धर्मपत्नी सम्बुला की सेवा से उसका रोग पूर्णतया दूर नही हो गया। कोढ से पीडित होने के कारण वह अपने को राजसिहासन के योग्य नही समझता था।

बौद्ध-काल के अनेक राज्यो मे राजकुमार लोग अपने पिता के जीवित होते हुए भी स्वय राज्य प्राप्त करने के लिए प्रयत्न प्रारम्भ कर देते थे। मगध के अनेक सम्राट् पितृघाती थे। उन्होंने अपने पिता को मारकर राज्य प्राप्त किया था। प्रसिद्ध सम्राट् अजातशत्रु ने राज्य प्राप्त करने के लिए अपने पिता बिम्बिसार का घात किया था। जातक-कथाओ मे भी अनेक कुमारो का उल्लेख है, जिन्होने अपने पिता के जीवन-काल में ही स्वय राज्य प्राप्त करने का प्रयत्न किया। संकिच्च-जातक के अनुसार वाराणसी के राजा का नाम ब्रह्मदत्त था। उसका एक लड़का था, उसका नाम भी ब्रह्मदत्त रखा गया। जब कुमार ब्रह्मदत्त तक्षशिला से अपनी शिक्षा समाप्त कर वापस आया, तो उसने सोचा—'मेरे पिता की आयु अभी बहुत कम है, वह तो मेरे बडे भाई के समान है। यदि मै उसकी मृत्यु तक राज्य के लिए प्रतीक्षा करूँगा, तो राजा बनने तक मैं बूढ़ा हो जाऊँगा। बूढा होकर राजा बनने से क्या लाभ होगा ? मैं अपने पिता का घात कर दूंगा और इस प्रकार राजगद्दी पर अधिकार प्राप्त कर लूंगा।" उसने यही किया और एक षड्यन्त्र द्वारा अपने पिता को मारकर स्वयं राजा बन गया।

बौद्ध-साहित्य में राजा के दस धर्मों का स्थान-स्थान पर उल्लेख किया गया है। ये दस धर्म निम्नलिखित हैं—दान, शील, परित्याग, आर्जव, मार्दव, तप, अक्रोध, अविहिंसा, शान्ति और अविरोधन। राजाओं मे इन गुणों की सत्ता बहुत आवश्यक और लाभकर मानी जाती थी। इस काल मे राजाओ से दानशीलता की आशा बहुत अधिक की जाती थी। जातक-साहित्य मे अनेक राजाओं की दानशक्ति का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। चुल्लपद्म जातक मे वाराणसी के राजा पद्म की कथा आती है, जो अत्यन्त दानी था। उसने वहाँ छः दानगृह बनवाये हुए थे। चार दानगृह वाराणसी के चारो द्वारो पर बने हुए थे, एक नगर के ठीक बीच में और छठा राजप्रासाद के सामने। इन दानगृहो से प्रतिदिन छ. लाख मुद्राएँ दान दी जाती थी। इसी प्रकार का वर्णन अन्य अनेक राजाओ के सम्बन्ध मे भी आया है।

बौद्ध-काल के राजा बड़े वैभव और शान-शौकत के साथ निवास करते थे। जातक-ग्रन्थों मे अनेक स्थानो पर उनके जुलूसों, सवारियो तथा राजप्रासादो का वर्णन किया गया है। राजा लोग तमाशो, खेलो और सगीत आदि का भी बहुत शौक रखते थे। शिकार उनके आमोद-प्रमोद का महत्त्वपूर्ण साधन होता था। राजाओ के अन्तःपुर भी बहुत बड़े होते थे। अन्तःपुर मे प्रचुर संख्या मे स्त्रियो को रखना एक शान की बात समझी जाती थी। सुरुचि जातक के अनुसार बनारस के राजा ने निश्चय किया, कि वह अपनी कन्या का विवाह ऐसे कुमार के साथ करेगा, जो एकपत्नीव्रत रहने का प्रण करे। मिथिला के कुमार सुरुचि के साथ उस कुमारी, जिसका नाम सुमेधा था, के विवाह की बात चल रही थी। मिथिला के राजदूतो ने एकपत्नीव्रत होने की शर्त को सुना, तो वे कहने लगे—"हमारा राज्य बहुत बडा है। मिथिला नगरी का सात योजन विस्तार है। हमारे राज्य का विस्तार ३०० योजन है। ऐसे राज्य के राजा के अन्त पुर मे कम-से-कम सोलह हजार रानियाँ अवश्य होनी चाहिएँ।" जातक-कथाओ मे बहुत-से ऐसे राजाओ का वर्णन आया भी है, जिनके अन्त पुर मे हजारों स्त्रियाँ रहती थी।

राजा के अमात्य—राजतन्त्र-राज्यो के शासन मे अमात्यों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। जातक-साहित्य में स्थान-स्थान पर अमात्यो का जिक्र आता है। ये अमात्य सख्या मे बहुत होते थे, और राजा को शासन-सम्बन्धी सब विषयों मे परामर्श देने का कार्य करते थे। अमात्यो के लिए सब विद्याओं व शिल्पों मे निष्णात होना आवश्यक माना जाता था। राजा की मृत्यु हो जाने पर राज्य का संचालन अमात्य लोग ही करते थे। सात दिन के पश्चात् जब स्वर्गीय राजा की और्ध्वदेहिक क्रियाएँ समाप्त हो जाती थी, तब वे ही इस बात का निश्चय करते थे, कि राजगद्दी पर कौन विराजमान हो। राजा की अनुपस्थिति या शासन-कार्य मे असमर्थता की दशा मे भी वे शासन-सूत्र को अपने हाथो मे ले लेते थे। प्राचीन भारत में राजतन्त्र-राज्यों में मन्त्रि-परिषद् का बड़ा महत्त्व था। ऐसा प्रतीत होता है, कि जातक-कथाओ मे जिन 'अमात्यों' का उल्लेख आया है, वे इसी प्राचीन मन्त्रिपरिषद् को सूचित करते हैं। अमात्यों में सबसे प्रधान स्थान पुरोहित का था। वह राजा के 'धर्म और अर्थ' दोनो का अनुशासक होता था। पुरोहित का पद प्राय. वंशक्रमानुगत रहता था। पर राजा की तरह पुरोहित का पद भी पूर्ण रूप से एक वश मे नही रह पाता था। अनेक बार पुरोहित की नियुक्ति

पर वाद-विवाद भी उठ खडे होते थे, और नए व्यक्तियो को इस पद पर नियत कर दिया जाता था।

पुरोहित के अतिरिक्त अन्य भी अनेक अमात्यो के नाम जातक-साहित्य में उपलब्ध होते हैं। इनमें सेनापति, भाण्डागारिक, विनिश्चयामात्य और रज्जुक के नाम विशेषतया उल्लेखनीय हैं। सेनापति का कार्य जहाँ सैन्य का संचालन करना होता था, वहाँ साथ ही वह एक मन्त्री के रूप मे भी कार्य करता था। एक कथा से यह भी सूचित होता है, कि वह मुकदमो के निर्णय का भी कार्य करता था। विनिश्चयामात्य न्यायमन्त्री को कहते थे। यह जहाँ मुकदमो का फैसला करता था, वहाँ राजा को धर्म तथा कानून-सम्बन्धी मामलो मे परामर्श भी देता था। भाण्डागारिक कोषाध्यक्ष को कहते थे। भाण्डागारिक प्राय. किसी अत्यन्त सम्पत्तिशाली व्यक्ति को ही बनाया जाता था। एक भाण्डागारिक की सम्पत्ति ८० करोड लिखी गयी है। रज्जुक सम्भवत· भूमि की पैमाइश आदि करके मालगुजारी वसूल करने वाले अमात्य को कहते थे। इनके अतिरिक्त दोणमापक, हिरण्यक, सारथी, दौवारिक आदि अन्य अनेक राजकर्मचारियो के नाम भी जातक-साहित्य मे उपलब्ध होते है।

बौद्ध-काल मे शहर के कोतवाल को नगरगुत्तिक कहते थे। यह नगर की शान्तिरक्षा का उत्तरदायी होता था। इसे एक स्थान पर 'रात्रि का राजा' भी कहा गया है। पर पुलिस के ये कर्मचारी बौद्ध-काल में भी रिश्वतो से मुक्त नही थे। सुलसा जातक मे कथा आती है, कि सुलसा नामक वेश्या ने सत्तक नामक डाकू के रूप पर मुग्ध होकर उसे छुडाने के लिए पुलिस के कर्मचारी को एक हजार मुद्राएँ रिश्वत के रूप मे दी थी, और इस धनराशि से वह सत्तक को छुडवाने मे सफल भी हो गयी थी।

जातक-कथाओ से बौद्ध-काल की सेनाओ के सम्बन्ध मे भी कुछ निर्देश मिलते हैं। सेना मे प्राय. स्वदेशी और पितृ-पैतामह सैनिकों को उत्तम माना जाता था। धूमिकारि जातक मे कथा आती है, कि कुरुदेश के इन्द्रपत्तन नगर के राजा धनञ्जय ने अपने पुराने सैनिकों की उपेक्षा कर नवीन सैनिको को सेना मे भरती करना प्रारम्भ कर दिया। जब उसके सीमाप्रान्त पर युद्ध प्रारम्भ हुआ, तो उसे इन नए सैनिको के कारण परास्त होना पड़ा।

पुर और जनपद—बौद्ध-काल मे भी राज्य पुर और जनपद इन दो विभागों मे विभक्त किए जाते थे। पुर राजधानी को कहते थे, और राजधानी के अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण राज्य को जनपद कहा जाता था। जनपद बहुत-से ग्राम हुआ करते थे। ग्राम के शासक को ग्रामभोजक कहते थे। ग्रामभोजक बहुत महत्त्वपूर्ण पद समझा जाता था, इसीलिए उसके साथ अमात्य विशेषण भी आता है। ग्रामभोजक ग्राम-सम्बन्धी सब विषयो का संचालन करता था। उसे न्याय-सम्बन्धी अधिकार भी प्राप्त थे। शराबखोरी को नियन्त्रित करना तथा शराब की दूकान के लिए लाइसेन्स देना भी उसी के अधिकार मे था। दुर्भिक्ष पडने पर गरीब जनता की सहायता करना ग्रामभोजक का ही कार्य था। एक स्थान पर यह भी जिक्र आया है, कि ग्रामभोजक ने पशुहिंसा और शराब का सर्वथा निषेध कर दिया था। ग्रामभोजक के शासन के विरुद्ध राजा के पास अपील की जा सकती थी, और राजा उसे पदच्युत कर किसी अन्य व्यक्ति को उसके

स्थान पर नियुक्त कर सकता था। पानीय जातक मे कथा आती है, कि काशीराज्य के दो ग्रामभोजको ने अपने-अपने ग्रामो मे पशुहिंसा तथा शराब पीने का सर्वथा निषेध कर दिया था। इसपर उन ग्रामों के निवासियो ने राजा से प्रार्थना की, कि हमारे ग्रामों मे यह प्रथा देर से चली आ रही है, और इन्हे इस प्रकार निषिद्ध नही करना चाहिए। राजा ने ग्रामवासियो की प्रार्थना को स्वीकृत कर लिया और ग्रामभोजकों की वे आज्ञाएँ रद्द कर दी। इस प्रकार स्पष्ट है, कि ग्रामभोजको के शासन पर राजा का नियन्त्रण पूर्णरूप से विद्यमान था।

(३) आर्थिक दशा

वर्तमान समय मे हमे जो बौद्ध-साहित्य उपलब्ध होता है, वह प्राय. सभी धार्मिक है। पर प्रसगवश उसमे कही-कही ऐसे निर्देश उपलब्ध हो जाते है, जिनसे कि उस समय की राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक दशा पर उत्तम प्रकाश पडता है। आर्थिक स्थिति का अनुशीलन करने के लिए जातक-कथाओं का विशेष महत्त्व है।

व्यवसाय—बौद्धकालीन भारत मे कौन-कौन से मुख्य व्यवसाय प्रचलित थे, इसका परिचय दीर्घनिकाय के एक सन्दर्भ से बहुत अच्छी तरह मिलता है। जब महात्मा बुद्ध धर्मोपदेश करते हुए राजगृह पहुँचे, तो मागध-सम्राट् अजातशत्रु ने उनसे प्रश्न किया—

"हे भगवन्! ये जो भिन्न-भिन्न व्यवसाय है, जैसे हस्ति-आरोहण, अश्वारोहण, रथिक, धनुर्धर, चेलक (युद्ध-ध्वज धारण), चलक (व्यूह-रचना), पिंडदायिक (पिंड काटने वाले), उग्र राजपुत्र (वीर राजपुत्र), महानाग (हाथी से युद्ध करनवाले), शूर, चर्मयोधी (ढाल से युद्ध करनेवाले), दासपुत्र, आलारिक (बावर्ची), कल्पक (हज्जाम), नहापक (स्नान करानेवाले), सूद (पाचक), मालाकार, रजक (रगरेज), नलकार (टोकरे बनानेवाले), कुम्भकार (कुम्हार), गणक, मुद्रक (गिननेवाले) और जो दूसरे इसी प्रकार के भिन्न-भिन्न शिल्प (व्यवसाय) है, उनसे लोग इसी शरीर मे प्रत्यक्ष जीविका करते है, उनसे अपने को सुखी करते है, तृप्त करते हैं। पुत्र-स्त्री को सुखी करते है, तृप्त करते है। मित्र अमात्यो को सुखी करते है, तृप्त करते है। ऊपर ले जानेवाला, स्वर्ग को ले जाने वाला, सुख विपाकवाला, स्वर्गमार्गीय, श्रमणब्राह्मणों के लिए दान स्थापित करते है। क्या भगवान्! इसी प्रकार श्रामण्य (भिक्षुपन) का फल भी इसी जन्म मे प्रत्यक्ष बतलाया जा सकता है?" सम्राट् अजातशत्रु ने इस प्रश्न मे बहुत-से व्यवसायियो का नाम लिया है।

अजातशत्रु द्वारा दी हुई व्यवसायो की यह सूची पूर्ण नही है। इसमे स्वाभाविक रूप से उन व्यवसायों का परिगणन है, जो कि किसी राजपुरुष के विचार में एकदम आ सकते है। इनके अतिरिक्त अन्य व्यवसाय, जिनका उल्लेख अन्यत्र बौद्ध-साहित्य में आया है, निम्नलिखित है :—

(१) वर्धकि या बढ़ई—बौद्ध-साहित्य में वर्धकि व कम्मार शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थों में हुआ है। इससे केवल सामान्य बढ़ई का ही ग्रहण नही होता, अपितु जहाज बनाने वाले, गाड़ी बनानेवाले, भवनों का निर्माण करनेवाले आदि विविध

प्रकार के मिस्त्रियों का भी ग्रहण होता है। वर्धकि के अतिरिक्त विविध प्रकार के अन्य मिस्त्रियो के लिए थपति, तच्छक, भमकार आदि शब्द भी जातक-ग्रन्थों में आये हैं। वर्धकि लोगों के बड़े-बड़े गाँवों का भी वर्णन वहाँ मिलता है।

(२) धातु का काम करने वाले—सोना, चाँदी, लोहा आदि विविध धातुओं की विभिन्न वस्तुएँ बनाने वाले कारीगरों का उल्लेख बौद्ध-साहित्य मे आया है। लोहे के अनेक प्रकार के औजार बनाये जाते थे—युद्ध के विविध हथियार, हलके-फुलके कुल्हाडे, आरे, चाकू, फावड़े आदि विविध उपकरण जातको में उल्लिखित हैं। इसी प्रकार सोना-चाँदी के विविध कीमती आभूषणों का भी वर्णन मिलता है। सूचि जातक में सुइयाँ बनाने का जिक्र है। कुस जातक मे एक शिल्पी का वर्णन है, जो सोने की मूर्तियाँ बनाया करता था।

(३) पत्थर का काम करनेवाले—ये शिल्पी पत्थरों को काटकर उनसे शिलाएँ, स्तम्भ, मूर्ति आदि बनाते थे। यह शिल्प बौद्ध-काल में बहुत उन्नति कर चुका था। पत्थरों पर तरह-तरह से चित्रकारी करना, उन्हे खोदकर उनपर बेल-बूटे व चित्र बनाना उस समय एक महत्त्वपूर्ण शिल्प माना जाता था। इसी प्रकार पत्थर के प्याले, बर्तन आदि भी बनाये जाते थे।

(४) जुलाहे—बौद्ध-काल मे कपास, ऊन, रेशम और रेशेदार पौदों का वस्त्र बनाने के लिए उपयोग किया जाता था। मज्झिमनिकाय में विविध प्रकार के वस्त्रों के निम्नलिखित नाम दिये गये हैं—गोनक, चित्तिक, पटिक, पटलिक, तुलिक, विकटिक, उड्डलोमि, एकन्तलोमि, कोसेय्य और कट्टकम्। इन विविध शब्दों से किन वस्त्रो का ग्रहण होता था, यह पूर्णतया स्पष्ट नहीं है। पर इससे यह सहज में अनुमान किया जा सकता है, कि उस समय वस्त्र-व्यवसाय पर्याप्त उन्नत था। थेरीगाथा से ज्ञात होता है, कि रेशम और महीन मलमल के लिए वाराणसी उन दिनो में भी बहुत प्रसिद्ध था। जातक-ग्रन्थो मे वाराणसी के प्रदेश मे कपास की प्रभूत मात्रा मे उत्पत्ति और वहाँ के सूती वस्त्रों का उल्लेख है।

(५) चर्मकार—ये लोग चमड़े को साफ कर उससे अनेक प्रकार की वस्तुएँ बनाते थे।

(६) कुम्हार—ये मिट्टी से अनेक प्रकार के वर्तन बनाते थे।

(७) हाथी-दाँत का काम करनेवाले—प्राचीन काल में हाथी-दाँत को रत्नों में गिना जाता था, और उससे अनेक प्रकार की वस्तुएँ बनाई जाती थीं।

(८) रंगरेज—कपडो को रंगने का काम करते थे।

(९) जौहरी—ये कीमती धातुओं से विविध प्रकार के आभूषण बनाते थे।

(१०) मछियारे—नदियों में मछली पकडने का काम करते थे।

(११) बूचड—इनका भी बौद्ध-साहित्य मे उल्लेख मिलता है।

(१२) शिकारी—बौद्धकाल में शिकारी दो प्रकार के होते थे। एक वे जो जंगलों मे रहते थे, और दूसरे नगरो में बसनेवाले ऐसे कुलीन लोग जिन्होंने शिकार को एक पेशे के रूप में स्वीकृत किया हुआ था।

(१३) हलवाई और रसोइये।

(१४) नाई तथा प्रसाधक।

(१५) मालाकार और पुष्प-विक्रेता।

(१६) मल्लाह तथा जहाज चलानेवाले—बौद्ध-साहित्य में नदी, समुद्र तथा महासमुद्र मे चलनेवाले जहाजों तथा उनके विविध कर्मचारियों का उल्लेख आता है।

(१७) रस्सी तथा टोकरे बनानेवाले।

(१८) चित्रकार।

व्यवसायियों के संगठन—बौद्ध-काल के व्यवसायी लोग 'श्रेणियो' (Guilds) में संगठित थे, इस बात के अनेक प्रमाण बौद्ध-साहित्य में मिलते हैं। प्राचीन भारत में श्रेणियों की सत्ता के प्रमाणों की कमी नहीं है। 'श्रेणियो' द्वारा बनाए गये कानून प्राचीन भारत में राज्यद्वारा स्वीकृत किए जाते थे, और उनके साथ सम्बन्ध रखनेवाले मुकदमों का फैसला उन्ही के अपने कानूनो के अनुसार होता था। उन्हें अपने मामलों का स्वयं फैसला करने का भी अधिकार था। श्रेणियो के न्यायालय राज्य द्वारा स्वीकृत थे, यद्यपि उनके फैसलो के विरुद्ध अपील की जा सकती थी। बौद्ध-साहित्य में व्यवसायी लोग श्रेणियों में संगठित थे, इसके प्रमाणों का निर्देश करना यहाँ उपयोगी होगा। निग्रोध जातक मे एक भाण्डागारिक का वर्णन है, जिसे सब 'श्रेणियों' के आदर के योग्य बताया गया है। उरग जातक में 'श्रेणी प्रमुख' और दो राजकीय अमात्यो के झगडो का उल्लेख है। इससे सूचित होता है कि 'श्रेणी' के मुखिया को 'प्रमुख' कहते थे। अन्य स्थानों पर 'श्रेणी' के मुखिया के लिए 'जेट्ठक' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। डा० फिक ने व्यवसायियों के संगठन पर बड़े विस्तार से विचार किया है। वे लिखते हैं, कि तीन कारणों से हम यह परिणाम निकाल सकते हैं, कि बौद्ध-काल में भी व्यवसायियो के संगठन बन चुके थे। हम इन कारणों को यहाँ प्रस्तुत करते हैं।

(१) बौद्ध-काल मे विविध व्यवसाय वंशक्रमानुगत हो चुके थे। पिता की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र उसी का व्यवसाय किया करता था। किशोरावस्था से ही लोग अपने वंशानुगत व्यवसाय को सीखना प्रारम्भ कर देते थे। ज्यो-ज्यो समय गुजरता जाता था, अपने पिता तथा अन्य गुरुजन की देख-रेख में वे उस व्यवसाय मे अधिक-अधिक प्रवीणता प्राप्त करते जाते थे, और व्यवसाय की बारीकियों से उनका अच्छा परिचय हो जाता था। इसीलिए जब पिता की मृत्यु होती थी, तो उसकी सन्तान उसके व्यवसाय को बड़ी सुगमता से सम्भाल लेती थी। उसे किसी प्रकार की दिक्कत अनुभव न होती थी। बौद्ध साहित्य मे कहीं भी ऐसा निर्देश नहीं मिलता, जिससे यह सूचित होता हो, कि किसी व्यक्ति ने अपने वंशक्रमानुगत व्यवसाय को छोड़कर किसी अन्य व्यवसाय को अपनाया हो। इसके विपरीत इस बात के प्रमाणो की कमी नही है कि लोग अपने वंशक्रमानुगत व्यवसाय का ही अनुसरण करते थे।

(२) बौद्ध-काल मे विविध व्यवसायों का अनुसरण करनेवाले लोग एक निश्चित स्थान पर बसकर अपने व्यवसाय का अनुसरण करने की प्रवृत्ति रखते थे। नगरों की भिन्न-भिन्न गलियों मे भिन्न-भिन्न व्यवसायी केन्द्रित थे। उदाहरण के लिए दन्तकारों (हाथीदाँत का काम करने वालो) की अपनी गली होती थी, जिसे 'दन्तकार-वीथी' कहते थे। इसी प्रकार कुम्हारों, लुहारों आदि की अपनी-अपनी पृथक् वीथियाँ होती थी।

नगरों के अन्दर की गलियों के अतिरिक्त विविध व्यवसायी नगरों के बाहर उपनगरों में भी निवास करते थे। कुलीनचित्तजातक में लिखा है, कि वाराणसी के समीप ही एक वड्ढकिगाम था, जिसमें ५०० वर्धकि-परिवार निवास करते थे। इसी प्रकार एक अन्य महावड्ढकि-गाम का उल्लेख है, जिसमें एक हजार वर्धकि-परिवारों व कुलों का निवास था। वाराणसी नगरी के समीप एक अन्य ग्राम या उपनगर का उल्लेख है, जिसमे केवल कुम्हारों के ही कुल रहते थे। केवल बड़े नगरों के समीप ही नहीं, अपितु देहात में भी इस प्रकार के ग्राम विद्यमान थे, जिनमे किसी एक व्यवसाय का ही अनुसरण करनेवाले लोग बसते थे। सूचि-जातक में कुम्हारों के दो गाँवों का वर्णन है, जिनमें से एक में एक हजार कुम्हार-परिवारों का निवास था। इसी प्रकार के अन्य भी अनेक निर्देश जातक कथाओं से संगृहीत किए जा सकते हैं।

(३) व्यवसायियों की श्रेणियों के मुखियाओ का, जिन्हें 'प्रमुख' या 'जेट्ठक' कहते थे, अनेक स्थानो पर उल्लेख आता है। इससे इस बात मे कोई सन्देह नहीं रह जाता कि व्यवसायियो के सुदृढ संगठन बौद्ध-काल मे विद्यमान थे। जातक-कथाओं में कम्मार-जेट्ठक, मालाकार-जेट्ठक आदि शब्दो की सत्ता इस बात को भली-भाँति स्पष्ट कर देती है। जेट्ठक के अधीन संगठित श्रेणियो मे अधिक-से-अधिक कितने व्यवसायी सम्मिलित हो सकते थे, इस सम्बन्ध मे भी एक निर्देश मिलता है। समुद्दवणिजजातक में लिखा है, कि एक गाँव मे एक हजार वड्ढकि-परिवार निवास करते थे, जिनमें पाँच-पाँच सौ परिवारों का एक-एक जेट्ठक था। इस प्रकार इस गाँव में दो वड्ढकि-जेट्ठक विद्यमान थे। इन जेट्ठकों की समाज मे बडी प्रतिष्ठा थी। राजदरबार में भी इन्हे सम्मान प्राप्त होता था। सूचि जातक मे लिखा है, कि एक सौ कम्मार-कुलों का जेट्ठक राजदरबार मे बडा सम्मानित था, और वह बहुत समृद्ध तथा ऐश्वर्यशाली था। एक अन्य जातक मे लिखा है कि एक राजा ने कम्मारजेट्ठक को अपने पास बुलाया और उसे स्वर्ण की एक स्त्री-प्रतिमा बनाने के लिए नियुक्त किया।

इन बातों से डा० फिक ने यह परिणाम निकाला है, कि बौद्ध-काल के व्यवसायी श्रेणियों मे प्रायः उसी ढंग से संगठित थे, जैसे कि मध्यकालीन यूरोप के व्यवसायी 'गिल्ड' में संगठित होते थे। यदि हम प्राचीन भारतीय साहित्य का अनुशीलन करें, तो व्यवसायियो के संगठनों (श्रेणियों) की सत्ता मे कोई सन्देह नहीं रह जाता। डा० रमेशचन्द्र मजूमदार ने इस विषय पर बहुत विस्तार से विचार किया है, और सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय साहित्य में श्रेणियों के सम्बन्ध मे जो निर्देश मिलते है, उन्हें एकत्रित कर इनके स्वरूप को भी प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है। बौद्ध-साहित्य मे श्रेणियों के स्वरूप पर विस्तार से कुछ नहीं लिखा गया है, पर जो थोड़े-बहुत निर्देश उसमें मिलते हैं, उनसे इनकी सत्ता के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता।

व्यापार और नौकानयन—बौद्ध-साहित्य के अनुशीलन से उस समय के व्यापार तथा नौकानयन के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण और मनोरजक बातें ज्ञात होती हैं। उस समय में भारत के व्यापारी महासमुद्र को पार कर दूर-दूर देशों में व्यापार के लिए जाया करते थे। समुद्र को पार करने के लिए जहाज बहुत बडी संख्या में बनते थे, और उस समय में जहाज बनाने का व्यवसाय अत्यन्त उन्नत दशा में था।

समुद्दवणिज जातक में एक जहाज का उल्लेख है, जिसमें बर्धकियों के सहस्र परिवार बड़ी सुगमता के साथ बैठकर सुदूरवर्ती किसी द्वीप को चले गए थे। वर्धकियों के ये एक सहस्र परिवार ऋण के बोझ से बहुत दबे हुए थे, और अपनी दशा से असन्तुष्ट होने के कारण इन्होने यह निश्चय किया था कि किसी सुदूर प्रदेश में जाकर बस जाएं। सचमुच वह जहाज बहुत विशाल होगा, जिसमें एक हजार परिवार सुगमता के साथ यात्रा कर सके। वलाहस्स जातक में पाँच सौ व्यापारियों का उल्लेख है, जो जहाज के टूट जाने के कारण लंका के समुद्रतट पर आ लगे थे, और जिन्हें पथभ्रष्ट करने के लिए वहाँ के निवासियों ने अनेक प्रकार के प्रयत्न किए थे। सुप्पारक जातक में ७०० व्यापारियों का उल्लेख है, जिन्होंने एक साथ एक जहाज पर समुद्रयात्रा के लिए प्रस्थान किया था। महाजनक जातक में चम्पा से सुवर्णभूमि को प्रस्थान करने वाले एक जहाज का वर्णन आता है, जिसमें बहुत-से व्यापारी अपना माल लादकर व्यापार के लिए जा रहे थे। इस जहाज में सात सार्थवाहो का माल लदा हुआ था, और इसने सात दिन मे सात सौ योजन की दूरी तय की थी। संख जातक मे संख नामक ब्राह्मण की कथा आती है, जो बहुत दान किया करता था। उसने दान के लिये छः दानशालाएँ बनायी हुई थीं। इनमें वह प्रति दिन छ. लाख मुद्राओ का दान करता था। एक बार उसके मन मे आया, कि धीरे-धीरे मेरी सम्पत्ति का भण्डार समाप्त होता जाता है, और जब सम्पत्ति समाप्त हो जाएगी, तो मैं क्या दान करूँगा ? यह सोचकर उसने एक जहाज द्वारा व्यापार के लिए सुवर्णभूमि को प्रस्थान करने का विचार किया। उसने एक जहाज व्यापारी माल से भरकर सुवर्णभूमि की तरफ प्रस्थान किया। मार्ग मे किस प्रकार इस जहाज पर विपत्तियाँ आयी और किस तरह उनसे इसकी रक्षा हुई, इस सबका विस्तृत वर्णन संख जातक मे मिलता है। जहाज बहुत बड़ी संख्या में बनाये जाते थे। महा-उम्मग्ग-जातक मे भगवान् ने आनन्द को ३०० जहाज बनाने की आज्ञा दी थी। ३०० जहाजो को एक साथ बनाने की आज्ञा देना सूचित करता है, कि उस समय इस प्रकार के अनेक केन्द्र विद्यमान थे, जहाँ बड़ी संख्या मे जहाजों का निर्माण किया जाता था। इसी प्रकार बौद्ध-साहित्य मे अन्यत्र भी अनेक स्थानो पर जहाजों और उन द्वारा होने वाले व्यापार का उल्लेख है, पर इस सबको यहाँ उद्धृत करने की आवश्यकता नही। इन थोडे-से निर्देशों से यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है, कि समुद्र मे जहाजों द्वारा व्यापार करना उस समय मे एक सामान्य बात थी।

इन जहाजो द्वारा भारत का लंका, सुवर्णभूमि, ईरान और बेबिलोन के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित था। सुवर्णभूमि के साथ व्यापार का और वहाँ जानेवाले जहाजो का जातकों मे स्थान-स्थान पर उल्लेख आया है। इसी प्रकार लंका और वहाँ जाने वाले जहाजो के सम्बन्ध मे भी अनेक निर्देश पाये जाते हैं। बेबिलोन के साथ व्यापार का उल्लेख बावेरु जातक में आया है। इसकी कथा संक्षेप से इस प्रकार है— एक बार की बात है, जब राजा ब्रह्मदत्त वाराणसी मे राज्य करता था, कुछ व्यापारी व्यापार करने के लिए बावेरु देश में गये और अपने साथ जहाज पर एक कौवे को भी लेते गये। बावेरु देश मे कोई पक्षी नही होता था, इसलिए जब वहाँ के निवासियों ने इस पक्षी को देखा, तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उन्होने भारत के इन

व्यापारियों से प्रार्थना की, कि इस उड़ने वाले अद्‌भुत जन्तु को उन्हें बेच जाएँ। वह कौवा एक सौ मुद्राओं में बिका। दूसरी बार जब ये व्यापारी फिर व्यापार करते हुए बावेरु देश पहुंचे, तो जहाज पर अपने साथ एक मोर को ले गये। मोर को देखकर बावेरु के निवासियों को और भी अधिक आश्चर्य हुआ, और वह वहाँ एक सहस्र मुद्राओं में बिका। इस विषय में सब विद्वान् सहमत हैं, कि बावेरु का अभिप्रायः बेबीलोन से है, और इस जातक से यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध-काल मे भारतीय व्यापारी सुदूरवर्ती बेबिलोनिया के राज्य मे भी व्यापार के लिये जाया करते थे। बेबिलोन के मार्ग मे विद्यमान ईरान की खाडी और उसके समुद्र तट भारत के जहाजों द्वारा भली-भाँति आलोड़ित हुए थे, इस बात में भी किसी प्रकार का सन्देह नही किया जा सकता।

भारत मे इन देशो तक पहुँचने के लिए अनेक जलमार्ग विद्यमान थे। भारत की नदियाँ उस समय जलमार्ग के रूप मे भी व्यवहृत होती थी। चम्पा और वाराणसी उस समय मे अच्छे बन्दरगाह माने जाते थे, जहाँ से जहाज पहले नदी मे और फिर समुद्र मे जाया करते थे। कुमारमहाजनक ने सुवर्ण-भूमि के लिए चलते हुए चम्पा से प्रस्थान किया था। इसी प्रकार सीलानिसंस जातक में समुद्र मे एक जहाज के टूट जाने पर जलमार्ग द्वारा उसके यात्रियो के वाराणसी पहुंचने का उल्लेख है। पर सुदूरवर्ती देशो में जाने के लिये चम्पा और वाराणसी जैसे नदी-तटवर्ती नगर विशेष उपयुक्त नहीं हो सकते थे। इसके लिए उस समय मे समुद्र-तट पर भी अनेक प्रसिद्ध बन्दरगाह विद्यमान थे। इन बन्दरगाहो के सम्बन्ध मे भी कुछ महत्त्वपूर्ण निर्देश बौद्ध-साहित्य मे मिलते है, जिन्हे यहाँ निर्दिष्ट करना उपयोगी है।

लोसक जातक में समुद्रतट पर विद्यमान एक बन्दरगाह का वर्णन है, जिसका नाम गम्भीरपत्तन था। यहाँ पर जहाज किराये पर मिल सकते थे। गम्भीरपत्तन से जहाजों के चलने और उनके महासमुद्र मे जाने का वर्णन इस जातक मे उपलब्ध होता है। मुस्सोन्दि जातक मे भरुकच्छ नाम के बन्दरगाह का उल्लेख है, और वहाँ से जहाज द्वारा जानेवाले व्यापारियों का विशद रूप से वर्णन इस जातक में किया गया है। इसी प्रकार सुप्पारक जातक में भी भरुकच्छ-पत्तन का उल्लेख है, और वहाँ यह भी लिखा है कि यह समुद्रतट पर विद्यमान एक बन्दरगाह था। इसी प्रकार अन्यत्र बौद्ध-साहित्य में ताम्रलिप्ति, सुप्पारक, रोरुक, कावेरिपत्तन आदि बन्दरगाहो के भी उल्लेख विद्यमान हैं।

समुद्र मे जहाजो द्वारा होने वाले विदेशी व्यापार के अतिरिक्त बौद्धकालीन भारत में आन्तरिक व्यापार की भी कमी न थी। भारत एक बहुत बडा देश है। उसके विविध प्रदेशों का पारस्परिक व्यापार उस समय महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था। यह आन्तरिक व्यापार स्थल और जल दोनो मार्गों द्वारा होता था। भारत में व्यापार के प्रमुख स्थलमार्ग कौन-से थे, इसपर हम अभी आगे प्रकाश डालेंगे। पर यहाँ यह बताना आवश्यक है, कि स्थलमार्गों द्वारा होने वाले व्यापार का स्वरूप क्या था। यह आन्तरिक व्यापार सार्थों (काफिलों) द्वारा होता था। बहुत-से व्यापारी परस्पर साथ मिलकर काफिलों में व्यापार किया करते थे। उस समय भारत में जंगलों की अधिकता थी।

रास्ते बहुत सुरक्षित नही थे। इस कारण व्यापारियों के लिए यह सम्भव नहीं होता था, कि वे अकेले सुदूरवर्ती प्रदेशों में व्यापार के लिए आ-जा सकें। अत. वे बड़े-बड़े काफिले बना कर एक साथ व्यापार के लिए जाया करते थे। जातक-साहित्य मे बहुत-से काफिलों और उनकी यात्राओं के वर्णन संगृहीत हैं। अनेक काफिलों मे तो ५०० से लेकर १,००० तक गाड़ियाँ होती थीं। जातक-कथाओ मे जिन काफिलों (सार्थों) का वर्णन है, वे बैलगाड़ियो द्वारा व्यापार करते थे, औरउनके नेता को सार्थवाह कहते थे। काफिलों की यात्रा निरापद नही होती थी। उन्हे लूटने के लिए डाकुओ के विविध दल हमेशा प्रयत्नशील रहते थे। सत्तिगुम्ब जातक में डाकुओं के एक ग्राम क। उल्लेख है, जिसमें ५०० डाकू निवास करते थे। सार्थों को इन डाकुओं का सामना करने तथा उनसे अपने माल की रक्षा करने की उचित व्यवस्था करनी पड़ती थी। इसके लिये वे अपने साथ शस्त्रयुक्त पहरेदारो को रखते थे। ये पहरेदार व योद्धा सार्थ पर होने वाले हमलो का वीरता के साथ मुकाबला करते थे। सार्थों की रक्षार्थ साथ चलने वाले पहरेदारों का जगह-जगह पर जातक-कथाओ मे वर्णन है। डाकुओ के अतिरिक्त अन्य भी अनेक प्रकार की आपत्तियों का मुकाबला इन सार्थों को करना होता था। अपण्णक जातक मे इन विपत्तियों का विशद रूप से वर्णन है। डाकुओ के अतिरिक्त जंगली जानवर, पानी की कमी, भूतपिशाच आदि की सत्ता और आहार का अभाव—ये सब ऐसी आपत्तियाँ थी, जिनके निवारण का समुचित प्रबन्ध किये बिना कोई सार्थ सफलता के साथ अपनी यात्रा पूर्ण नहीं कर सकता था।

स्थल-मार्ग से व्यापार करनेवाले ये सार्थ बडी लम्बी-लम्बी यात्राएँ किया करते थे। गान्धार जातक मे एक सार्थ का वर्णन है, जिसने विदेह से गान्धार तक की यात्रा की थी। इन दोनो नगरो का अन्तर १,२०० मील के लगभग है। वाराणसी उस समय व्यापार का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। उसके साथ बहुत-से नगरों और देशो के व्यापार का उल्लेख जातको में मिलता है। कम्बोज, काम्पिल्य, कपिलवस्तु, कोशल, कुरुक्षेत्र, कुरु, कुशीनारा, कौशाम्बी, मिथिला, मथुरा, पाञ्चाल, सिन्ध, उज्जयिनी, विदेह आदि के साथ वाराणसी का व्यापार का वर्णन इस बात को सूचित करता है, कि उस समय मे यह नगर व्यापार का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण केन्द्र था, जहाँ से सार्थ विविध देशो में व्यापार के लिए जाया करते थे। वाराणसी से कम्बोज, सिन्ध और उज्जियिनी बहुत दूर है। इतनी दूर व्यापार के लिए जानेवाले सार्थों की सत्ता इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि बौद्ध-काल मे भारत का आन्तरिक व्यापार बहुत उन्नत दशा मे था।

स्थल-मार्ग के अतिरिक्त आन्तरिक व्यापार के लिए नदियों का भी प्रयोग होता था। उस समय मे गगा नदी का जहाजों के आने-जाने के लिए बहुत उपयोग था। जातक-कथाओं मे वाराणसी आनेवाले जहाजो का अनेक स्थानों पर उल्लेख है। महाजनक जातक से सूचित होता है, कि बौद्ध-काल मे गंगा में बहुत-से जहाज आते-जाते थे। गगा के अतिरिक्त अन्य भी अनेक नदियाँ व्यापारिक मार्ग के रूप मे प्रयुक्त होती थी।

बौद्ध-काल में स्थलमार्ग से व्यापार करनेवाले व्यापारी किन मार्गों से आया-जाया करते थे, इस सम्बन्ध में भी कुछ महत्त्वपूर्ण निर्देश जातक-कथाओं में

मिलते हैं। रीज डेविड्स ने बौद्ध-ग्रन्थों के आधार पर इन मार्गों को इस प्रकार निश्चित किया है—

(१) उत्तर से दक्षिण-पश्चिम को—यह मार्ग सावट्ठी से पतिट्ठान जाता था। पतिट्ठान से चलकर माहिष्मती, उज्जयिनी, गोनद्ध, (गोनर्द) विदिशा, कौशाम्बी और साकेत होते हुए फिर सावट्ठी पहुँचते थे।

(२) उत्तर से दक्षिण-पूर्व को—यह मार्ग सावट्ठी से राजगृह जाता था। यह रास्ता सीधा नहीं था, अपितु सावट्ठी से हिमालय के समीप-समीप होता हुआ वैशाली के उत्तर में हिमालय की उपत्यका में पहुँचता था, और वहाँ से दक्षिण की तरफ मुड़ता था। इसका कारण शायद यह था, कि हिमालय से निकलनेवाली नदियों को ऐसे स्थान से पार किया जा सके, जहाँ कि उनका विस्तार अधिक न हो। नदियाँ पहाड़ के समीप बहुत छोटी होती हैं, वहाँ वे अधिक गहरी भी नहीं होतीं। इस मार्ग में सावट्ठी से चलकर सेतव्य, कपिलवस्तु, कुशीनारा, पावा, हत्थिगाम, भण्डगाम, वैशाली, पाटलिपुत्र और नालन्दा रास्ते में आते थे। यह रास्ता आगे गया की तरफ मुड जाता था, और वहाँ एक अन्य मार्ग से जाकर मिल जाता था, जो कि वाराणसी से ताम्रलिप्ति (समुद्रतट पर) की तरफ गया था।

(३) पूर्व से पश्चिम को—यह मार्ग भारत की प्रसिद्ध नदी गंगा और यमुना के साथ-साथ जाता था। इन नदियो में नौकाएँ और जहाज भी चलते थे, यह हम ऊपर लिख चुके हैं। बौद्ध-काल मे गगा नदी मे सहजाती नामक नगर तक तथा यमुना मे कौशाम्बी तक जहाज आया-जाया करते थे। इस मार्ग में कौशाम्बी का बहुत महत्त्व था। यहाँ उत्तर से दक्षिण-पश्चिम को जानेवाला मार्ग भी मिल जाता था। नौकाओं तथा जहाजों से आनेवाला माल कोशाम्बी में उतार दिया जाता था, और उसे गाड़ियों पर लादकर उत्तर या दक्षिण में पहुँचाया जाता था।

इन तीन प्रसिद्ध मार्गों के अतिरिक्त व्यापार के अन्य महत्त्वपूर्ण मार्ग भी बौद्ध-काल मे विद्यमान थे, इसमें सन्देह नही। जातकों मे विदेह से गान्धार, मगध से सौवीर और भरुकच्छ से समुद्रतट के साथ-साथ सुवर्णभूमि जानेवाले व्यापारियों का वर्णन है। विदेह से गान्धार तथा मगध से सौवीर जानेवाले व्यापारी किन मार्गों का अनुसरण करते थे, यह हमें ज्ञात नहीं है। पर यह निश्चित है, कि इन सुदूरवर्ती यात्राओं के कारण उस समय मे व्यापारीय मार्ग बहुत उन्नत हो चुके थे।

बौद्ध-काल के व्यापारी ऐसे सुदूरवर्ती प्रदेशों में भी व्यापार के लिए जाया करते थे, जहाँ निश्चित मार्ग नहीं थे, या जिनके मार्ग सर्वसाधारण को ज्ञात न थे। ऐसे सार्थों (काफिलों) के साथ इस प्रकार के लोग रहते थे, जो मार्गों का भली-भाँति परिज्ञान रखते हों। इन लोगों को 'थलनियामक' कहा जाता था। ये थलनियामक नक्षत्रों तथा ज्योतिष के अन्य तत्त्वों के अनुसार मार्ग का निश्चय करते थे। थलनियामकों से सघन जंगलों, विस्तीर्ण मरुस्थलों तथा महासमुद्रों में मार्ग का पता लगाने में सहायता मिलती थी। जातक-कथाओं में लिखा है, विस्तीर्ण मरुस्थलों में यात्रा करना उसी प्रकार का है, जैसे महासमुद्र में यात्रा करना। अतः उनके लिए भी मार्ग प्रदर्शकों की आवश्यकता अनिवार्य होती थी। उस समय में दिग्दर्शक-यन्त्रों का आविष्कार नहीं

हुआ था। इस प्रकार के यन्त्रों का उल्लेख कहीं बौद्ध-साहित्य में नहीं है। इसलिए मार्ग का ज्ञान प्राप्त करने के लिए नक्षत्रों से ही सहायता ली जाती थी। समुद्र में दिशा जानने के लिए एक अन्य साधन भी बौद्ध-काल में प्रयुक्त किया जाता था। उस समय के नाविक अपने साथ एक विशेष प्रकार के कौवे रखते थे, जिन्हे 'दिशाकाक' कहते थे। जब नाविक रास्ता भूल जाते थे, और स्थल का कही भी पता न चलता था, तो इन 'दिशाकाकों' को उड़ा दिया जाता था। ये 'दिशाकाक' जिधर जमीन देखते थे, उधर की ओर उड़ते थे, और उधर ही नाविक लोग अपने जहाजों को भी ले चलते थे। महासमुद्र के बीच में तो इन दिशाकाकों का विशेष उपयोग नही हो सकता था, पर सामान्य समुद्र-यात्राओं में इनसे बहुत सहायता मिलती थी।

दिग्दर्शक-यन्त्र के अभाव में महासमुद्र की यात्रा बहुत संकटमय होती थी। अनेक बार नाविक लोग मार्गभ्रष्ट होकर नष्ट हो जाते थे। जातक-ग्रन्थों मे रास्ते से भटककर नष्ट होनेवाले अनेक जहाजो की कथाएँ लिखी हैं। पण्डर जातक में कथा आती है, कि पाँच सौ व्यापारी महासमुद्र मे जहाज लेकर गये। अपनी यात्रा के सत्रहवें दिन वे मार्ग भूल गये। स्थल का चिह्न कहीं दृष्टिगोचर नही होता था। परिणाम यह हुआ, कि वे सब नष्ट हो गये और मछलियों के ग्रास बन गये।

जल और स्थल के इन मार्गों से किन वस्तुओ का व्यापार किया जाता था, इस सम्बन्ध में कोई महत्त्वपूर्ण निर्देश बौद्ध-ग्रन्थो में उपलब्ध नही होते। जातक-कथाओं के लेखक इतना लिखकर ही सन्तुष्ट हो जाते है, कि व्यापारियो ने ५०० व १,००० गाडियाँ बहुमूल्य भाण्ड (व्यापारी पदार्थ) से भरी और व्यापार के लिए चल पड़े। पर इन गाडियो मे कौन-से बहुमूल्य भाण्ड को भरा गया, यह बताने का वे कष्ट नहीं करते। जो दो-चार निर्देश इस विषय मे मिलते हैं, उनका जिक्र करना उपयोगी है। बौद्ध-काल मे वस्त्र-व्यवसाय के लिए वाराणसी और शिवि-देश सबसे अधिक प्रसिद्ध थे। महापरिनिब्बान सुत्तान्त में वाराणसी के वस्त्रो की बहुत प्रशसा की गयी है, और लिखा है कि वे अत्यन्त महीन होते हैं। महावग्ग मे शिविदेश के वस्त्रो को बहुमूल्य बताया गया है। सिन्ध के घोड़े उस समय मे बहुत प्रसिद्ध थे। जातकों के अनुसार प्राच्य देश के राजा उत्तर तथा पश्चिम के घोड़ो को पसन्द करते थे, और उन्ही को अपने पास रखते थे। अनेक स्थानो पर घोडो के सौदागरों का वर्णन है, जो उत्तरापथ से आकर वाराणसी में घोड़े बेचा करते थे।

मुद्रा-पद्धति तथा वस्तुओ के मूल्य—बौद्ध-काल की मुद्रा-पद्धति के सम्बन्ध में बौद्ध-ग्रन्थो से अनेक उपयोगी बातें ज्ञात होती हैं। उस समय का प्रधान सिक्का 'काहा-पन' या 'कार्षापण' होता था। परन्तु इसके अतिरिक्त निष्क, सुवर्ण और धारण नाम के सिक्कों का भी इस काल में प्रचलन था।

निष्क सोने का सिक्का था, जिसका भार ४०० रत्ती होता था। 'सुवर्ण' भी सोने-का ही सिक्का था, जो भार मे ८० रत्ती होता था। पर बौद्ध-काल का प्रधान सिक्का कार्षापण था। यद्यपि मुख्यतया ये ताँबे के होते थे, पर इस प्रकार के निर्देश मिलते हैं, जिनसे यह सूचित होता है कि कार्षापण सोने और चाँदी के भी बनाए जाते थे।

इन विविध सिक्कों का भार कितना होता था, और वर्तमान सिक्कों में इनका मूल्य कितना था, इस सम्बन्ध मे विचार कर श्रीमती रीड डेविड्स निम्नलिखित परिणाम पर पहुँची हैं—

सोने के १४६ ग्रेन = १६ सोने के माषक = १ सुवर्ण
चाँदी के १४६ ग्रेन = १६ चाँदी के माषक = १ धरण
ताँबे के १४६ ग्रेन = १६ ताँबे के माषक = १ कार्षापण

इस आधार पर इन सिक्कों के मूल्यो का हिसाब इस प्रकार लगाया गया है—

१ सुवर्ण = १ पौ० ५ शि०
१ धरण = ६ पेंस (१२ पेंस = १ शिलिंग)
१ कार्षापण = १ पेंस

विनिमय की सुगमता के लिए बौद्ध-काल में आधुनिक अठन्नी, चवन्नी, इकन्नी आदि की तरह अर्धकार्षापण, पादकार्षापण आदि अन्य सिक्के भी होते थे। बहुत छोटी कीमतो के लिए माषक और काकणिका का प्रयोग किया जाता था।

विविध वस्तुओं की कीमतो के सम्बन्ध मे भी कुछ मनोरंजक निर्देश बौद्ध-साहित्य मे मिलते है। विनय-पिटक के अनुसार एक मनुष्य के एक बार के आहार के लिए उपयुक्त भोजन-सामग्री एक कार्षापण द्वारा प्राप्त की जा सकती थी। बौद्ध-भिक्षुओं के लिए उपयुक्त चीवर भी एक कार्षापण द्वारा प्राप्त किया जा सकता था। परन्तु भिक्षुणी के लिए उपयुक्त वस्त्र १६ कार्षापणो मे बनता था। बौद्ध-ग्रन्थो मे एक हजार तथा एक लाख कार्षापणो मे बिकनेवाले वस्त्रो का भी उल्लेख है।

पशुओ की कीमतें भिन्न-भिन्न होती थी। महाउम्मग जातक के अनुसार गधे की कीमत ८ कार्षापण होती थी। गामणिचण्ड जातक और कन्ह जातक के अनुसार बैलो की एक जोडी २४ कार्षापणो मे खरीदी जा सकती थी। दास-दासियो की कीमत उनके गुणों के अनुसार कम-अधिक होती थी। वेस्सन्तर जातक मे एक दासी का वर्णन है, जिसकी कीमत १०० निष्क से भी अधिक थी। दुर्गन जानक और नन्द जातक में ऐसे दास-दासियो का उल्लेख है, जो केवल १०० कार्षापणों से ही प्राप्त किये जा सकते थे। घोड़े उस समय मे महँगे थे। जातकों मे घोडो की कीमत १,००० कार्षापण से लेकर ६,००० कार्षापण तक लिखी गयी है।

उस समय मे वेतन तथा भृति किस दर से दी जाती थी, इस विषय में भी कुछ निर्देश मिलते है। राजकीय सेवक की न्यूनतम भृति १ कार्षापण दैनिक होती थी। नाई को बाल काटने के बदले में ८ कार्षापण तक दिये जाते थे। गणिका की फीस ५० से १०० कार्षापण तक होती थी। अत्यन्त कुशल धनुर्धारी को १,००० कार्षापण तक मिलता था। रथ किराये पर लेने के लिए ८ कार्षापण प्रति घण्टा दिया जाता था। एक मछली की कीमत ७ माषक तथा शराब के एक गिलास की कीमत १ माषक लिखी गयी है। तक्षशिला मे अध्ययन के लिए जानेवाले विद्यार्थी अपने आचार्य को १,००० कार्षापण दक्षिणा के रूप मे प्रदान करते थे। इन थोड़े-से निर्देशों से हम बौद्ध-काल की कीमतों के सम्बन्ध मे कुछ अनुमान कर सकते है।

(४) विवाह तथा स्त्रियों की स्थिति

विवाह तथा गृहस्थ-जीवन—बौद्ध-साहित्य मे तीन प्रकार के विवाहों का उल्लेख है—प्राजापत्य, स्वयंवर और गान्धर्व । सामान्यतया, विवाह प्राजापत्य पद्धति से होता था, जिसमे परम्परागत प्रथा के अनुसार समान जाति के कुलों में माता-पिता की इच्छा-नुसार विवाह-सम्बन्ध स्थापित किया जाता था । परन्तु स्वयंवर तथा गान्धर्व-विवाहों के भी अनेक उदाहरण बौद्ध-साहित्य मे मिलते हैं, और इन्हें भी धर्मानुकूल माना जाता था । कुणाल जातक में कुमारी कण्हा के स्वयंवर का उल्लेख है, जिसने कि अपनी इच्छा के अनुसार पाँच कुमारो के साथ विवाह किया था । नच्च जातक मे एक कुमारी का वर्णन है, जिसने अपने पिता से यह वर माँगा था, कि उसे अपनी इच्छानुसार पति वरण करने का अवसर दिया जाए । पिता ने उसकी यह इच्छा पूर्ण कर दी और उसके लिए एक स्वयंवर सभा बुलाई गयी, जिसमें दूर-दूर से कुमार एकत्रित हुए । गान्धर्व-विवाह के भी अनेक दृष्टान्त बौद्ध-ग्रन्थों मे उपलब्ध होते हैं । कट्टहारि जातक मे वाराणसी के राजा ब्रह्मदत्त की कथा आती है, जो एक बार जंगल में भ्रमण कर रहा था । उसने देखा कि कोई अनिन्द्य सुन्दरी बालिका बडी सुरीली तान में गा रही है राजा ब्रह्मदत्त उसे देखते ही मुग्ध हो गया और उन दोनों ने वहीं वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर लिया । इसी प्रकार अवन्ति के राजा चण्ड प्रद्योत की कन्या वासवदत्ता (वासुलदत्ता) का उदयन के साथ विवाह भी गान्धर्व-विवाह का प्रसिद्ध उदाहरण है । धम्मपदटीका में कुमारी पाटच्चरा का वर्णन आया है, जिसने अपने माता-पिता द्वारा निश्चित सम्बन्ध को ठुकराकर अपनी इच्छा से विवाह किया था ।

सामान्यतया, विवाह समान जाति और कुल में होते थे । पर बौद्ध-ग्रन्थों मे इस प्रकार के उदाहरणो की कमी नही है, जबकि विवाह करते हुए अपनी जाति व कुल का कोई ध्यान नही रखा गया । कोशल राज्य के प्रसिद्ध राजा पसेनदी (अग्निदत्त प्रसेनजित्) ने श्रावस्ती के मालाकार की कन्या मल्लिका के साथ विवाह किया था । दिव्यावदान मे एक ब्राह्मण कुमारी का उल्लेख आया है, जिसने शार्दूलकर्ण नाम के शूद्र-कुमार के साथ विवाह किया था । इसी प्रकार धम्मपदटीका में कुण्डलकेशी नामक एक कुलीन महिला की कथा आती है, जिसने एक डाकू के साथ विवाह करने मे कोई सकोच नही किया था । कन्याओ का विवाह सामान्यतया सोलह वर्ष की आयु मे किया जाता था । बाल-विवाह की प्रथा उस समय प्रचलित नही थी । धम्मपदटीका में राजगृह के श्रेष्ठी की कन्या कुण्डलकेशी का उल्लेख आया है, जो सोलह वर्ष की आयु तक अविवाहित रही थी । वहाँ यह भी लिखा है कि यही आयु है, जिसमे कि स्त्रियाँ विवाह के लिए इच्छुक होती है ।

बौद्ध-काल के विवाहों मे दहेज की प्रथा भी प्रचलित थी । धम्मपदटीका में श्रावस्ती के श्रेष्ठी मिगार की कथा आती है, जिसने अपनी कन्या विशाखा के विवाह में निम्नलिखित वस्तुएँ दहेज मे दी थी—धन से पूर्ण पाँच सौ गाडियाँ, सुवर्ण-पात्रो से पूर्ण पाँच सौ गाडियाँ, रजत के पात्रों से पूर्ण पाँच सौ गाड़ियाँ, ताँबे के पात्रों से पूर्ण पाँच सौ गाड़ियाँ, विविध प्रकार के रेशमी वस्त्रों से पूर्ण पाँच सौ गाड़ियाँ और इसी

प्रकार घी, चावल तथा खेती के उपकरणों से पूर्ण पाँच-पाँच सौ गाड़ियाँ, साठ हजार वृषभ तथा साठ हजार गौवें। नहान-चुन्न-मूल्य के रूप में कुछ सम्पत्ति प्रदान करने की बात तो स्थान-स्थान पर बौद्ध-साहित्य में मिलती है। कोशल के राजा महाकोशल ने मगधराज बिम्बिसार के साथ अपनी कन्या कोशलदेवी का विवाह करते हुए काशी का एक प्रदेश, जिसकी आमदनी एक लाख वार्षिक थी, नहान-चुन्न-मूल्य के रूप में प्रदान किया था। यही प्रदेश फिर कुमारी वजिरा के विवाह के अवसर पर अजातशत्रु को प्रदान किया गया था। इसी प्रकार श्रावस्ती के धनकुबेर श्रेष्ठी मिगार ने ५४ कोटि धनराशि अपनी कन्या के विवाह के अवसर पर नहान-चुन्न-मूल्य के रूप में दी थी।

बौद्ध-काल मे पारिवारिक जीवन का क्या आदर्श था, इसका बड़ा सुन्दर परिचय उन शिक्षाओं से मिलता है, जो उस समय की वधुओं को दी जाती थी। ये शिक्षाएँ निम्नलिखित है—(१) अन्दर की अग्नि बाहर न ले जाओ। (२) बाहर की अग्नि को अन्दर न लाओ। (३) जो दे, उसी को प्रदान करो। (४) जो नही देता, उसको प्रदान न करो। (५) जो देता है, और जो नही देता है, उन दोनों को प्रदान करो। (६) सुख के साथ बैठो। (७) सुख के साथ भोग करो। (८) सुख के साथ शयन करो। (९) अग्नि की परिचर्या करो। (१०) कुल देवता का सम्मान करो।

सूत्र रूप से उपदिष्ट की गयी इन शिक्षाओ का क्या अभिप्राय है, इसका विवेचन भी बौद्ध-साहित्य मे किया गया है। हम उसे संक्षेप के साथ यहाँ प्रस्तुत करते हैं—

(१) अपने घर की अन्दरूनी बातचीत को बाहर न कहो। घर में जो बातें होती हैं, जो समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, उनका जिक्र दूसरो से यहाँ तक कि नौकरों से भी न करो। (२) बाहर के झगडो को घर मे प्रविष्ट न होने दो। (३) घर की वस्तु उसी को उधार दो, जो उसे वापिस कर दे। (४) घर की वस्तु उसे कभी उधार न दो, जो उसे वापिस न लौटाए। (५) जो भिखमंगे तथा कंगाल भिखारी हैं, उन्हें इस बात की अपेक्षा किये बिना कि वे वापस देते है या नही, दान करो। (६) जिसके सम्मुख बैठना मुनासिब है, उसके सम्मुख बैठी रहो। जिसके आने पर खड़ा रहना आवश्यक है, उसके सम्मुख मत बैठो। सबके साथ यथायोग्य व्यवहार करो। (७) पति के पूर्व भोजन न करो। इसी प्रकार अपनी सास तथा श्वशुर को भली-भाँति भोजन कराने के अनन्तर ही स्वयं भोजन करो। (८) अपने पति से पूर्व सोओ नहीं। परिवार के विविध सदस्यो के प्रति अपने सम्पूर्ण कर्त्तव्यों को कर चुकने के अनन्तर फिर शयन करो, पूर्व नही। (९) अपने पति, श्वशुर तथा सास को अग्नि के समान समझकर उनकी पूजा करनी चाहिए। (१०) जब कोई भिक्षु भिक्षा के लिए घर के द्वार पर आये, तो उसे भोजन कराके बाद में स्वयं भोजन करना चाहिए।

ग्यारहवाँ अध्याय

अशोक की धर्म-विजय और बौद्ध-धर्म का प्रसार

(१) धर्म विजय का उपक्रम

भारत के इतिहास मे अशोक का महत्त्व बहुत अधिक है। वह न केवल एक विशाल साम्राज्य का स्वामी था, अपितु उसके प्रयत्न से भारतीय धर्म और सस्कृति का देश-विदेश में प्रचार होने में भी बहुत सहायता मिली थी। इस सम्बन्ध में हमे उसके कर्तृत्व का शिलालेखो, स्तम्भलेखो व गुहालेखो से परिचय मिलता है।

अशोक के महत्त्व का मुख्य कारण उसकी धर्म-विजय की नीति है। मागध-साम्राज्य की विश्वविजयिनी शक्ति को सिकन्दर और सीजर की तरह अन्य देशो पर आक्रमण करने मे न लगाकर उसने धर्म-विजय के लिए लगाया। कलिङ्ग को जीतने में लाखों आदमी मारे गये थे या कैद हुए थे, और लाखों स्त्रियाँ विधवा तथा बच्चे अनाथ हो गए थे। यह देखकर अशोक के हृदय में विचार आया, कि जिससे लोगो का इस प्रकार वध हो, वह विजय निरर्थक है। कलिङ्ग में हुए धन-जन के विनाश से उसे बहुत दुःख और अनुताप हुआ। उसने निश्चय किया, कि अब वह किसी देश पर आक्रमण कर इस तरह से विजय नही करेगा। अपने पुत्रों और पौत्रो के लिये भी उसने यही आदेश दिया, कि वे शस्त्रो द्वारा नये प्रदेशों की विजय न करें, और जो धर्म-द्वारा विजय हो, उसी को वास्तविक विजय समझे।

इसी विचार से अशोक ने सुदूर दक्षिण के चोल, पाण्ड्य, केरल, सातियपुत्र और ताम्रपर्णी के राज्यों मे तथा साम्राज्य की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर स्थित अन्तियोक आदि द्वारा शासित यवन राज्यों में शस्त्र-विजय की जगह धर्म-विजय का उपक्रम किया। मागध-साम्राज्य की जो सैनिक शक्ति उस समय थी, यदि अशोक चाहता तो उससे इन सब प्रदेशों को जीतकर अपने अधीन कर सकता था। पर कलिंग विजय के बाद जो अनुताप की भावना उसके हृदय में उत्पन्न हुई थी, उससे उसने अपनी नीति को बदल दिया। इसीलिए उसने अपने महामात्यों (उच्च राजपदाधिकारियों) को यह आज्ञा दी—"शायद आप लोग यह जानना चाहेंगे, कि जो अंत (सीमावर्ती राज्य) अभी तक जीते नही गये हैं उनके संबंध में राजा की क्या आज्ञा है। अन्तो के बारे मे मेरी यही इच्छा है कि वे मुझसे डरें नही, और मुझपर विश्वास रखें। वे मुझसे सुख ही पायेंगे, दुःख नही। वे यह विश्वास रखें, कि जहाँ तक क्षमा का बर्ताव हो सकेगा, राजा हमसे क्षमा का बर्ताव ही करेगा।" (दूसरा कलिंग-लेख)।

यही भाव उन आटविक जातियो के प्रति प्रगट किया गया, जो उस समय के महाकांतारो में निवास करती थी, और जिन्हें शासन में रखने के लिये राजाओं को

सदा शस्त्र का प्रयोग करने की आवश्यकता रहती थी। शस्त्रो द्वारा विजय की नीति को छोड़कर अशोक ने धर्म द्वारा विजय को अपनाया था।

अशोक का धर्म से क्या अभिप्राय था? जिस धर्म से वह अपने साम्राज्य के सीमावर्ती प्रदेशों पर विजय प्राप्त करने का उद्योग कर रहा था, क्या वह कोई सम्प्रदाय-विशेष था या धर्म के सर्वसम्मत सिद्धान्त? अशोक के शिलालेखों से यह बात भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है। वह लिखता है—"धर्म यह है कि दास और सेवकों के प्रति उचित व्यवहार किया जाय, माता-पिता की सेवा की जाय, मित्र-परिचित, रिश्तेदार श्रमण और ब्राह्मणों को दान दिया जाय और प्राणियों की हिंसा न की जाय।"

एक अन्य लेख में अशोक ने 'धम्म' को इस प्रकार समझाया है—"माता और पिता की सेवा करनी चाहिए। (प्राणियों के) प्राणों का आदर दृढता के साथ करना चाहिये, (अर्थात् जीवहिंसा नही करनी चाहिये)। सत्य बोलना चाहिये, धम्म के इन गुणों का प्रचार करना चाहिये, विद्यार्थी को आचार्य की सेवा करनी चाहिये और सबको अपने जाति-भाइयों के प्रति उचित बर्ताव करना चाहिये। यही प्राचीन (धर्म की) रीति है। इससे आयु बढ़ती है, और इसी के अनुसार मनुष्यों को चलना चाहिये"

इसी प्रकार अन्यत्र लिखा है—"माता-पिता की सेवा करना तथा मित्र, परिचित, स्वजातीय, ब्राह्मण और श्रमण को दान करना अच्छा है। थोड़ा व्यय करना और थोडा संचय करना अच्छा है।" फिर एक अन्य स्थान पर लिखा है—"धर्म करना अच्छा है। पर धर्म क्या है? धर्म यही है कि पाप से दूर रहे, बहुत-से अच्छे काम करे, दया, दान, सत्य और शौच (पवित्रता) का पालन करे।"

इन उद्धरणो से स्पष्ट है, कि अशोक का धम्म से अभिप्राय आचार के सर्वसम्मत नियमो से था। दया, दान, सत्य, मार्दव, गुरुजन तथा माता-पिता की सेवा, अहिंसा आदि गुण ही अशोक के धम्म थे। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अशोक अपने धम्म के सन्देश को ले जाने के लिए उत्सुक था। इसीलिए उसने बार-बार जनता के साधारण व्यवहारो और धम्म-व्यवहार में तुलना की है। यहाँ कुछ ऐसी तुलनाओ को उद्धृत करना उपयोगी है। चतुर्दश शिलालेखो मे से नवाँ लेख इस प्रकार है—'लोग विपत्तिकाल में, पुत्र के विवाह में, कन्या के विवाह में, सन्तान की उत्पत्ति मे, परदेश जाने के समय और इसी तरह के अन्य अवसरों पर अनेक प्रकार के मंगलाचार करते है। ऐसे अवसरों पर स्त्रियाँ अनेक प्रकार के क्षुद्र और निरर्थक मंगलाचार करती हैं। मंगलाचार अवश्य करना चाहिए, किन्तु इस प्रकार के मंगलाचार प्राय: अल्प फल देने वाले होते हैं। पर धर्म का मंगलाचार महाफल देने वाला है। इसमे (धर्म के मंगलाचार में) दास और सेवकों के प्रति उचित व्यवहार, गुरुओं का आदर, प्राणियों की अहिंसा और ब्राह्मणों व श्रमणो को दान—यह सब करना होता है। ये सब कार्य तथा इसी प्रकार के अन्य कार्य धर्म के मंगलाचार कहलाते है। इसलिए पिता, पुत्र, भाई, स्वामी, मित्र, साथी और कहाँ तक कहें, पड़ोसी तक को भी यह कहना चाहिए—यह मंगलाचार अच्छा है, इसे तब तक करना चाहिए, जब तक अभीष्ट कार्य की सिद्धि न हो। यह कैसे? (अर्थात् धर्म के मंगलाचार से अभीष्ट कार्य कैसे सिद्ध होता है?) इस संसार

के जो मंगलाचार हैं, वे सन्दिग्ध हैं, अर्थात् उनसे कभी कार्य सिद्ध हो भी सकता है, और नही भी हो सकता। सम्भव है, उनसे केवल ऐहिक फल ही मिलें। किन्तु धर्म के मंगलाचार काल से परिच्छिन्न नही हैं (अर्थात् सब काल में उनसे फल मिल सकता है)। यदि इस लोक में उनसे अभीष्ट फल की प्राप्ति न हो, तो परलोक में तो अनन्त पुण्य होता ही है। यदि इस लोक मे अभीष्ट कार्य सिद्ध हो गया, तो दोनों लाभ हुए अर्थात् यहाँ भी कार्य सिद्ध हुआ, और परलोक मे भी अनन्त पुण्य प्राप्त हुआ।'

इसी प्रकार एक अन्य लेख मे साधारण दान और धर्म दान में तुलना की गयी है। अशोक की सम्मति में ऐसा कोई दान नही है, जैसा धर्म का दान है। इसलिए जिस व्यक्ति को दान की इच्छा हो, वह धर्म का दान करे। धर्म का दान क्या है? धर्म का अनुष्ठान। अतः माता-पिता की सेवा की जाय, हिंसा न की जाय, दासों और सेवकों के प्रति उचित व्यवहार किया जाय। सच्चा दान करने वाला व्यक्ति धर्म को जाने और धर्म का अनुष्ठान करे। एक अन्य लेख में अशोक ने साधारण विजय और धर्म-विजय में भेद किया है। साधारणतया, राजा लोग शस्त्र द्वारा विजय करते हैं, पर धर्मविजय शस्त्रों द्वारा नही की जाती। इसके लिए तो दूसरों का उपकार करना होता है। धर्मविजय के लिए जनता का 'हित और सुख' सम्पादित करना होता है, बुरे मार्ग से हटकर सन्मार्ग पर प्रवृत्त होना होता है, और सब प्राणियों को निरापद, संयमी, शान्त और निर्भय बनाने का उद्योग करना होता है। यह विजय दया और त्याग से प्राप्त की जाती है।

इनके अतिरिक्त धर्म की पूर्णता के लिए कुछ अवगुणो से भी बचने की आवश्यकता है। जहाँ तक हो सके, 'आसीनव' कम करने चाहियें। पर ये आसीनव हैं क्या? चण्डता, निष्ठुरता, क्रोध, अभिमान और ईर्ष्या। अशोक ने लिखा है—मनुष्य को यह समझना चाहिए कि चण्डता, निष्ठुरता, क्रोध, अभिमान और ईर्ष्या—ये सब पाप के कारण हैं; और उसे अपने मन मे सोचना चाहिए, कि इन सबके कारण मेरी निन्दा न हो। इस बात की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए, कि इस मार्ग से मुझे इस लोक में सुख मिलेगा और मेरा परलोक भी बनेगा।

ऊपर के उद्धरणों से यह स्पष्ट है, कि यद्यपि अशोक स्वयं बौद्ध-धर्म का अनुयायी था, पर उसने जिस धर्म-विजय के लिए उद्योग किया, वह किसी सम्प्रदाय-विशेष की विजय न होकर सब धर्मो के सर्वसम्मत सिद्धान्तों का प्रचार ही थी।

(३) धर्म-विजय के साधन

अशोक ने धर्म-विजय की स्थापना के लिए अपने और अपनी प्रजा के जीवन में सुधार करने का उद्योग किया। भारत मे जो क्रूरता व अकारण हिंसा प्रचलित थी, उसे अशोक ने रोकने का प्रयत्न किया। "जहाँ किसी प्राणी की हत्या होती हो, ऐसा होम नहीं करना चाहिए, और न 'समाज' करना चाहिए। देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा समाज में बहुत दोष देखता है। किन्तु एक प्रकार के समाज हैं, जिन्हें देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा अच्छा मानता है। पहले देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के रसोईघर में शोरवे के लिए प्रतिदिन सैकड़ों-हजारों प्राणी मारे जाते थे। पर अब जब

यह धर्मलिपि लिखी गयी, केवल तीन प्राणी, दो मोर और एक मृग मारे जाते हैं, वह मृग भी सदा नहीं। भविष्य में ये तीन प्राणी भी न मारे जायेंगे।"

प्राचीन भारत में 'समाज' का अभिप्राय उन समारोहों से था, जिनमे रथों की दौड़ और पशुओं की लड़ाई होती थी, और उनपर बाजी लगायी जाती थी। इनमें पशुओं पर अकारण क्रूरता होती थी। ऐसे 'समाज' अशोक को पसंद नही थे। परन्तु कुछ ऐसे समाज भी थे, जिनमें गाना-बजाना और अन्य निर्दोष बातें होती थी। इनमें विमान, हाथी, अग्निस्कंध आदि के दृश्य दिखाये जाते थे। अशोक को ऐसे समाजों से कोई एतराज नही था। अशोक ने उन प्राणियो का वध सर्वथा रोक दिया, जो न खाये जाते हैं, और न किसी अन्य उपयोग मे ही आते हैं। ऐसे प्राणी निम्नलिखित थे—सुग्गा, मैना, अरुण, चकोर, हंस, नांदीमुख, गेलाड, जतुका (चमगीदड), अबाक-पीलिका, कछुआ, बिना हड्डी की मछली, जीवजीवक, गंगापुटक, संकुजमत्स्य, साही, पर्णशश, बारहसिंगा, साड, ओकपिंड, मृग, सफेद कबूतर और ग्राम के कबूतर। ये प्राणी केवल शौक के कारण मारे जाते थे। अशोक ने इस प्रकार की व्यर्थ हिंसा के विरुद्ध अपने शिलालेखों द्वारा आदेश जारी किया था। भोजन अथवा अन्य उपयोग के लिए जो पशुवध किया जाता है, उसे भी कम करने के लिए अशोक ने प्रयत्न किया था। वह लिखता है—'गाभिन या दूध पिलाती हुई बकरी, भेड़ी और सुअरी तथा इनके बच्चो को, जो छः महीने तक के हो, नही मारना चाहिए। मुर्गों को बधिया नहीं करना चाहिए। जीवित प्राणियो को भूसी के साथ नही जलाना चाहिए। अनर्थ करने या प्राणियो की हिंसा के लिए वन में आग नहीं लगानी चाहिए। प्रति चार-चार महीनों की, तीन ऋतुओं की तीन पूर्णमासियों के दिन, पौष मास की पूर्णमासी के दिन, चतुर्दशी, अमावस्या और प्रतिपदा के दिन तथा प्रत्येक उपवास के दिन मछली नही मारनी चाहिए। इन सब दिनो मे हाथियो के वन मे तथा तालाबों मे दूसरे प्रकार के प्राणी भी नही मारे जाने चाहिएँ।'

पशुओ को कष्ट से बचाने के लिए अशोक ने यह भी प्रयत्न किया, कि उन्हें दागा न जाय। इसीलिए पशुओं को दागने मे अनेक बाधाएँ उपस्थित की गयी। 'प्रत्येक पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या व पूर्णिमा तथा पुष्य और पुनर्वसु नक्षत्र के दिन और प्रत्येक चार-चार महीने के त्यौहारों के दिन बैल को नहीं दागना चाहिए। बकरा, भेडा, सुअर और इसी तरह के दूसरे प्राणियों को, जो दागे जा सकते हैं, नहीं दागना चाहिए। पुष्य और पुनर्वसु नक्षत्र के दिन और प्रत्येक चातुर्मास्य के शुक्लपक्ष में घोड़े और बैल को नहीं दागना चाहिए।' इन सब आदेशों का प्रयोजन यही था, कि व्यर्थ हिंसा न हो और लोगों की दया तथा अहिंसा की ओर प्रवृत्ति हो।

धर्मविजय के लिये ही अशोक ने धर्म-यात्राओं का आरंभ किया। यात्रा तो पहले सम्राट् भी करते थे, पर उनका उद्देश्य आनंद व मौज करना होता था। वे विहार-यात्राएँ करते थे, धर्म-यात्रा नही। अशोक ने धर्म-यात्राओं का प्रारंभ किया। इनमें शिकार आदि द्वारा समय नष्ट न करके श्रमणो, ब्राह्मणों और वृद्धों का दर्शन, उन्हें दान देना, जनता के पास जाकर उसे उपदेश देना और धर्म-विषयक विचार करना होता था।

अपने राजकर्मचारियों को अशोक ने यह आदेश दिया, कि वे जनता के कल्याण के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहें, किसी को अकारण दंड न दें, और किसी के प्रति कठोरता का बर्ताव न करें। उसने लिखा है—'देवताओं के प्रिय की ओर से तोसली के महामात्य नगरव्यावहारिकों (न्यायाधीशों) को ऐसे कहना। आप लोग हजारों प्राणियो के ऊपर इसलिए नियुक्त किये गये है, कि जिससे हम अच्छे मनुष्यों के स्नेहपात्र बनें। आप लोग इस अभिप्राय को भली-भाँति नही समझते। एक पुरुष भी यदि बिना कारण (बिना अपराध) बाँधा जाता है, या परिक्लेश पाता है, तो उससे बहुत लोगों को दु:ख पहुँचता है। ऐसी दशा मे आपको मध्यमार्ग से (अत्यंत कठोरता और अत्यंत दया दोनो का त्याग कर) चलना चाहिए। किन्तु ईर्ष्या, निठल्लापन, निठुरता, जल्दबाजी, अनभ्यास, आलस्य और तंद्रा के रहते ऐसा नही हो सकता। इसलिए ऐसी चेष्टा करनी चाहिए, कि ये (दोष) न आएँ। इसका भी मूल उपाय यह है, कि सदा आलस्य से बचना और सचेष्ट रहना। इसलिए सदा काम करते रहो, चलो, उठो, आगे बढ़ो। नगर-व्यावहारिक सदा अपने समय (प्रतिज्ञा) पर दृढ़ रहें। नगरजन का अकारण बंधन और अकारण परिक्लेश न हो। इस प्रयोजन के लिए मैं धर्मानुसार प्रति पाँचवे वर्ष अनुसधान के लिए निकलूंगा। उज्जयिनी से भी कुमार हर तीसरे वर्ष ऐसे ही वर्ग को निकालेगा, और तक्षशिला से भी।' इस प्रकार के आदेशों का उद्देश्य यही था, कि साम्राज्य का शासन निर्दोष हो, राजकर्मचारी जनता के कल्याण मे तत्पर रहे और किसी पर अत्याचार न होने पाए।

धर्म-विजय के मार्ग को निष्कण्टक करने के लिए यह भी आवश्यक था, कि विविध सम्प्रदायो मे मेल-जोल पैदा किया जाय। अशोक ने लिखा है—'देवताओ के प्रिय प्रियदर्शी राजा विविध दान व पूजा से गृहस्थ व संन्यासी, सब सम्प्रदाय वालों का सत्कार करते हैं। किन्तु देवताओं के प्रिय दान या पूजा की इतनी परवाह नही करते, जितनी इस बात की कि सब सम्प्रदायो के सार (तत्त्व) की वृद्धि हो। सम्प्रदायो के सार की वृद्धि कई प्रकार से होती है, पर उसकी जड वाणी का सयम है, अर्थात् लोग केवल अपने ही संप्रदाय का आदर और बिना कारण दूसरे सम्प्रदाय की निंदा न करे। केवल विशेष-विशेष कारणों के होने पर ही निंदा होनी चाहिए, क्योकि किसी न किसी कारण से सब सम्प्रदायो का आदर करना लोगों का कर्त्तव्य है। ऐसा करने से अपने सम्प्रदाय की उन्नति और दूसरे सम्प्रदायों का उपकार होता है। इसके विपरीत जो करता है, वह अपने सम्प्रदाय को भी क्षति पहुँचाता है, और दूसरे सम्प्रदायो का भी अपकार करता है। क्योकि जो कोई अपने सम्प्रदाय की भक्ति में आकर, इस विचार से कि मेरे सम्प्रदाय का गौरव बढ़े, अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा करता है और दूसरे सम्प्रदाय की निंदा करता है, वह वास्तव मे अपने सम्प्रदाय को पूरी हानि पहुँचाता है। समवाय (मेल-जोल) अच्छा है, अर्थात् लोग एक-दूसरे के धर्म को ध्यान देकर सुनें और उसकी सेवा करें। क्योंकि देवताओं के प्रिय की यह इच्छा है, कि सब सम्प्रदाय वाले बहुत विद्वान् और कल्याण का कार्य करने वाले हों, इसलिए जहाँ-जहाँ जो सम्प्रदायवाले हो, उनसे कहना चाहिए कि देवताओं के प्रिय दान या पूजा को इतना बड़ा नही मानते, जितना इस बात को कि सब सम्प्रदायों के सार (तत्त्व) की वृद्धि

हो।' जनता को यह बात समझाने के लिए कि वे केवल अपने सम्प्रदाय का आदर न करें, अपितु अन्य मतमतान्तरों को भी सम्मान की दृष्टि से देखें, सब मतवाले वाणी के संयम से काम लें, और परस्पर मेल-जोल से रहें, अशोक ने धर्ममहामात्रों की नियुक्ति की। उनके साथ ही स्त्री-महामात्र, व्रजभूमिक तथा अन्य राजकर्मचारीगण भी यही बात लोगों को समझाने के लिए नियत किये गये।

इन धर्म-महामात्रो की नियुक्ति के प्रयोजन को एक अन्य लेख में भली-भाँति स्पष्ट किया गया है--'बीते जमानों में धर्ममहामात्र कभी नियुक्त नहीं हुए। इसलिए मैंने राज्याभिषेक के तेरहवें वर्ष में धर्म-महामात्र नियुक्त किये। वे सब पाषण्डों (सम्प्रदायों) के बीच नियत हैं। वे धर्म के अधिष्ठान के लिए, धर्म की वृद्धि के लिए तथा धर्मयुक्त लोगो के सुख के लिए है।···वे भृत्यों, ब्राह्मणों, धनी गृहपतियों, अनाथों एवं बूढ़ों के बीच हित-सुख के लिए, धर्मयुक्त प्रजा की अपरिबाधा (बाधा से बचाने) के लिए संलग्न हैं। बंधन और बध को रोकने के लिए, बाधा से बचाने के लिए, कैद से छुडाने के लिए, जो बहुत संतानवाले है व बूढ़े हैं, उनके बीच वे कार्यरत हैं। वे यहाँ पाटलिपुत्र मे, बाहर के नगरों मे, सब अंतःपुरों मे, (मेरे) भाइयों के, बहनों के और अन्य जातियो के बीच सब जगह कार्यरत हैं। मेरे सारे विजित (साम्राज्य) में, सर्वत्र ये धर्ममहामात्र नियुक्त हैं।'

इस प्रकार स्पष्ट है कि धर्ममहामात्रों तथा उनके अधीनस्थ कर्मचारियों का काम यह था, कि वे सब सम्प्रदायों में मेल कायम कराएं, जनता के हित और सुख के लिए यत्न करें, और धर्मानुकूल आचरण करने वाली प्रजा को सब बाधाओ से बचाए रखे। शासन मे किसी पर कठोरता न हो, कोई व्यर्थ कैद न किया जाए, और किसी की व्यर्थ हत्या न हो; जो गरीब लोग हैं, या जिनपर गृहस्थी की अधिक जिम्मेदारियाँ है, ऐसे लोगो के साथ विशेष रियायत का बर्ताव हो; धर्ममहामात्र इन्ही बातों के लिए सब नगरों मे, सब सम्प्रदायों मे व अन्यत्र नियुक्त किए गए थे।

ये धर्ममहामात्र केवल मौर्य-साम्राज्य मे ही नही, अपितु सीमांतवर्ती स्वतन्त्र राज्यो में भी नियत किए गए थे। अपने 'विजित' में भली-भाँति धर्मस्थापना हो जाने के बाद अन्य देशों मे भी धर्म द्वारा विजय का प्रयास शुरू किया गया। अशोक ने अपने शिलालेखो मे इन सब राज्यों के नाम दिए हैं। सुदूर दक्षिण मे चोल, पाड्य, केरल, सातियपुत्र और ताम्रपर्णी तथा पश्चिम मे अंतियोक का यवन-राज्य तथा उससे भी परे के तुरुमय, मक, अलिकसुन्दर और अंतिकिनि द्वारा शासित राज्य, सर्वत्र अशोक ने धर्ममहामात्रों की नियुक्ति की। ये धर्ममहामात्र अपने धर्म-विजय के उद्योग में केवल विविध सम्प्रदायो में मेल-जोल का ही यत्न नही करते थे, अपितु उनके सम्मुख कुछ ठोस काम भी था। "देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा यूं कहता है—मैंने सब जगह मार्गों पर बरगद के वृक्ष लगवा दिए हैं, ताकि पशुओं और मनुष्यों को छाया मिले। आमों की वाटिकाएं लगवा दी है। आठ-आठ कोस पर मैंने कुएँ खुदवाए है, और सरायें बनवायी हैं। जहाँ-तहाँ पशुओ और मनुष्यों के आराम के लिए बहुत-से प्याऊ बैठा दिए हैं। किन्तु ये सब आराम बहुत थोड़े हैं। पहले राजाओं ने और मैंने विविध

सुखों से लोगों को सुखी किया है। पर मैंने यह सब इसलिए किया है, कि लोग धर्म का आचरण करें।

"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के विजित (साम्राज्य) में सब स्थानों पर और वैसे ही जो सीमांतवर्ती राजा हैं, वहाँ, जैसे चोल, पांड्य, सातियपुत्र, केरल-पुत्र और ताम्रपर्णी में और अंतियोक नामक यवन राजा तथा जो उसके (अंतियोक के) पड़ोसी राजा हैं, उन सब देशों में देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने दो प्रकार की चिकित्सा—एक मनुष्यों की और दूसरी पशुओं की चिकित्सा—का प्रबन्ध किया है, और जहाँ पर मनुष्यों और पशुओं की चिकित्सा के लिए उपयुक्त औषधियाँ नहीं प्राप्त होती थीं, वहाँ लायी और लगाई गयी हैं। इसी तरह से मूल और फल भी जहाँ नहीं थे, वहाँ लाए और लगाए गए है। मार्गों में पशुओं और मनुष्यों के आराम के लिए वृक्ष लगाए और कुएँ खुदवाए गए हैं।

"यह धर्म-विजय देवताओं के प्रिय ने यहा (अपने साम्राज्य में) तथा छः-सौ योजन परे पड़ोसी राज्यों में प्राप्त की है। जहाँ अंतियोक नामक यवन-राजा राज्य करता है, और उस अंतियोक से परे तुरमय, अंतिकिनि, मक और अलिकसुन्दर नाम के राजा राज्य करते है, और उन्होंने अपने राज्य के नीचे (दक्षिण में) चोल, पांड्य, तथा ताम्रपर्णी में भी धर्म-विजय प्राप्त की है। सब जगह लोग देवताओ के प्रिय के धर्मानुशासन का अनुसरण करते हैं, और अनुसरण करेंगे। जहाँ देवताओं के प्रिय के दूत नहीं जाते, वहाँ भी लोग देवताओं के प्रिय का धर्माचरण, धर्म-विधान और धर्मानुशासन सुनकर धर्म के अनुसार आचरण करते हैं, और भविष्य में करेंगे।"

विदेशों में धर्मविजय के लिए जो महामात्र नियत किए गए थे, वे अंतमहामात्र कहाते थे। इनका कार्य उन देशों में सड़कें बनवाना, सड़कों पर वृक्ष लगवाना, कुएँ खुदवाना, सराय बनवाना, प्याऊ बिठाना, पशुओं और मनुष्यों की चिकित्सा के लिए चिकित्सालय खुलवाना और इसी प्रकार के अन्य उपायों से जनता का हित और कल्याण सम्पादित करना था। जहाँ ये अंतमहामात्र इन उपायों से लोगों का हित और सुख करते, वहाँ साथ ही अशोक का धर्मसन्देश भी सुनाते। यह धर्मसन्देश यह था—सब सम्प्रदायों में मेल-मिलाप, सब धर्माचार्यों—ब्राह्मणों और श्रमणों—का आदर, सेवक, दास आदि से उचित व्यवहार, व्यर्थ-हिंसा का त्याग, माता-पिता व गुरुजनों की सेवा और प्राणीमात्र की हितसाधना। अशोक की ओर से सुदूरवर्ती विदेशी राज्यों में धर्म द्वारा विजय करने के लिए जो अंतमहामात्र अपने कर्मचारियो की फौज के साथ नियुक्त हुए, वे उन देशों में चिकित्सालय खोलकर, मुफ्त दवा देकर, धर्मशालाएँ और कुएँ बनवाकर, सड़कें, प्याऊ और वाटिकाएँ तैयार कराके जनता की सेवा करते थे। उस समय के राजा लोग प्रायः पारस्परिक युद्धों में व्यस्त रहते थे। जनता के हित और सुख पर वे कोई ध्यान नहीं देते थे। ऐसी दशा में अशोक के इन लोकोपकारी कार्यों का यह परिणाम हुआ, कि लोग अपने इन महामात्रों को बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगे। जिस धर्म के अनुयायी इस प्रकार परोपकार के लिए अपने तन, मन और धन को निछावर कर सकते हैं, उसके लिए लोगों में स्वाभाविक रूप से श्रद्धा का भाव उत्पन्न हुआ। साधारण जनता के लिए वही राजा है, वही स्वामी है, जो उनके हित-

अहित और सुख-दुःख का ध्यान रखे, और उनके आराम के लिए चिकित्सालय, कूप, धर्मशाला आदि का प्रबन्ध करे। इसी का यह परिणाम हुआ, कि इन सब विदेशी राज्यों में खून की एक भी बूंद गिराए बिना केवल परोपकार और प्रेम द्वारा अशोक ने अपना धर्म-साम्राज्य स्थापित कर लिया।

अशोक की इस धर्म-विजय की नीति के कारण ही अन्य देशों में बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिए मार्ग प्रशस्त हो गया। जिन देशों में अशोक के अंतमहामात्र लोक-कल्याण के कार्यों में लगे थे, वहाँ जब बौद्ध-प्रचारक गए, तो उन्हें अपने कार्य में बहुत सुगमता हुई।

(३) अशोक और बौद्ध-धर्म

सम्राट् अशोक पहले बौद्ध-धर्म का अनुयायी नहीं था। दिव्यावदान की एक कथा के अनुसार जब अशोक ने राजगद्दी प्राप्त की, तो वह बहुत क्रूर और अत्याचारी था। पर बाद में उसके जीवन में परिवर्तन आया, और उसका झुकाव बौद्ध-धर्म की ओर होने लगा। क्रूरता और अत्याचारमय जीवन से ऊब कर उसने बौद्ध-भिक्षुओं के शान्तिमय उपदेशों में सन्तोष अनुभव करना प्रारम्भ कर दिया था। कलिंग-विजय में उसे जो अनुभव हुए, उन्होंने उसकी वृत्ति को बिलकुल बदल दिया। अशोक ने बौद्ध-धर्म की दीक्षा सम्भवतः राजगद्दी पर बैठने के आठ वर्ष बाद ली थी।

बौद्ध-धर्म को ग्रहण करने के बाद अशोक ने सब बौद्ध-तीर्थों की यात्रा की। अमात्यों के परामर्श के अनुसार इस यात्रा में उपगुप्त नाम के एक प्रसिद्ध आचार्य की सहायता ली गयी। उपगुप्त मथुरा के समीप नतभक्तिकारण्य में उरुमुण्ड पर्वत पर निवास करते थे। राजा ने इन आचार्यों की विद्वत्ता और धर्मनिष्ठा के विषय में सुना, तो मन्त्रियों के परामर्श के अनुसार उपगुप्त को पाटलिपुत्र आने के लिए निमन्त्रित किया। अशोक के निमन्त्रण पर वे मथुरा से पाटलिपुत्र आए, और उनके मार्गप्रदर्शन में अशोक ने तीर्थयात्रा प्रारम्भ की। पाटलिपुत्र से वे पहले चम्पारन जिले के उन स्थानों पर गए, जहाँ अशोक के पाँच विशाल प्रस्तरस्तम्भ प्राप्त हुए हैं। वहाँ से हिमालय की तराई के प्रदेश में से होते हुए वे पश्चिम की ओर मुड़ गए और लुम्बिनीवन जा पहुँचे। यहीं पर भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ था। इस जगह पहुँचकर उपगुप्त ने अपना दायाँ हाथ फैलाकर कहा—'महाराज, इसी प्रदेश में भगवान् का जन्म हुआ था।' ये शब्द अब तक इस स्थान पर स्थित एक प्रस्तरस्तम्भ पर उत्कीर्ण हैं। इस स्तम्भ पर जो लेख है, वह भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है—"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने राज्याभिषेक के बीस वर्ष बाद स्वयं आकर इस स्थान की पूजा की। यहाँ शाक्यमुनि बुद्ध का जन्म हुआ था। इसलिए यहाँ पत्थर का एक विशाल स्तम्भ और एक वृहत् दीवार खड़ी की गयी। यहाँ भगवान् का जन्म हुआ था, इसलिए लुम्बिनी ग्राम का धार्मिक कर उठा दिया गया और (भूमि-कर के रूप में केवल) आठवाँ भाग लेना निश्चित किया गया।" लुम्बिनीवन में अशोक ने बहुत दान-पुण्य किया। फिर वह कपिलवस्तु गया, वहाँ उपगुप्त ने फिर अपना दायाँ हाथ फैलाकर कहा—'महाराज, इस स्थान पर बोधिसत्व ने राजा शुद्धोदन के घर में अपना बाल्यकाल व्यतीत किया था।'

दिव्यावदान के अनुसार कपिलवस्तु के बाद राजा अशोक बोधिवृक्ष के दर्शन के लिए गए। यहाँ भगवान् को बोध हुआ था। अशोक ने यहाँ आकर एक लाख सुवर्ण-मुद्राएँ दान की। एक चैत्य भी इस जगह पर बनवाया गया। बोधिवृक्ष के बाद स्थविर उपगुप्त अशोक को सारनाथ ले गया, जहाँ भगवान् ने पहले-पहल धर्मचक्र का प्रवर्तन किया था। सारनाथ के बाद अशोक कुशीनगर गया, जहाँ भगवान् ने निर्वाणपद प्राप्त किया था। उपगुप्त अशोक को श्रावस्ती और जेतवन भी ले गए। इन स्थानों पर मौद्गल्यायन, महाकश्यप आदि प्राचीन बौद्ध-आचार्यों के स्थानों के भी दर्शन किए गए, और वहाँ भी बहुत-कुछ दान-पुण्य हुआ। बुद्ध के प्रसिद्ध शिष्य आनन्द के स्तूप पर अशोक ने साठ लाख सुवर्ण-मुद्राएँ अर्पित की।

बौद्ध होकर अशोक ने कुछ ऐसे आदेश भी दिए, जो केवल बौद्ध लोगों के ही काम के थे। एक शिलालेख मे उसने लिखवाया है—"मगध के प्रियदर्शी राजा संघ को अभिवादन (पूर्वक सम्बोधन करके) कहते है, कि वे विघ्नहीन और सुख से रहे। हे भदन्तगण! आपको मालूम है, कि बुद्ध, धम्म और संघ में हमारी कितनी भक्ति और आस्था है। हे भदन्तगण! जो कुछ भगवान् बुद्ध ने कहा है, सो सब अच्छा कहा है। पर भदन्तगण! मैं अपनी ओर से (कुछ ऐसे ग्रन्थो के नाम लिखता हूँ, जिन्हे मैं अवश्य पढने योग्य समझता हूँ)। हे भदन्तगण! (इस विचार से कि) इस प्रकार सद्धर्म चिरस्थायी रहेगा, मैं इन धर्मग्रन्थो (के नाम लिखता हूँ), यथा—विनेयसमुकसे (विनयसमुत्कर्षः), अलियवसानि (आर्यवशः), अनागतभयानि, मुनिगाथा, मोनेयसूते (मोनेयसूत्रम्), उपतिसपसिने (उपतिष्यप्रश्नाः), राहुलवाद, जिसे भगवान् बुद्ध ने झूठ बोलने के बारे मे कहा है। इन धर्मग्रन्थों को, हे भदन्तगण! मैं चाहता हूँ, कि बहुत-से भिक्षुक और भिक्षुणी बार-बार श्रवण करें और धारण करें और इसी प्रकार उपासक और उपासिका भी (सुनें और धारण करें)। हे भदन्तगण! मैं इसलिए यह लेख लिखवाता हूँ, कि लोग मेरा अभिप्राय जानें।'

यह शिलालेख बड़े महत्त्व का है। इससे यह ज्ञात होता है, कि अशोक को किन बौद्ध-ग्रन्थों से विशेष प्रेम था। इन ग्रन्थो में बौद्ध-धर्म के विधि-विधानों और पारलौकिक विषयों का वर्णन न होकर सदाचार और जीवन को ऊँचा बनाने के सामान्य नियमो का उल्लेख है। अशोक की दृष्टि यही थी, कि बौद्ध लोग (भिक्षु और उपासक) भी धर्म के तत्त्व (सार) पर विशेष ध्यान दें।

बौद्ध-धर्म के सम्बन्ध मे अशोक का एक अन्य कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। बौद्ध-संघ मे फूट न पड़े, इसके लिए भी उसने उद्योग किया। इस विषय में अशोक के तीन लेख उपलब्ध हुए है—"देवताओ के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं, कि पाटलिपुत्र मे तथा प्रान्तों मे कोई संघ मे फूट न डाले। जो कोई, चाहे वह भिक्षु हो या भिक्षुणी-संघ मे फूट डालेगा, उसे सफेद कपडे पहनाकर उस स्थान पर रख दिया जाएगा, जो भिक्षुओं या भिक्षुणियों के लिए उपयुक्त नहीं है (अर्थात् उसे भिक्षुसंघ से बहिष्कृत कर दिया जाएगा), हमारी यह आज्ञा भिक्षुसंघ और भिक्षुणीसघ को बता दी जाए।"

"देवताओ के प्रिय प्रियदर्शी राजा कौशाम्बी के महामात्रों को इस प्रकार आज्ञा देते है—संघ के नियम का उल्लंघन न किया जाय। जो कोई संघ में फूट

डालेगा, उसे श्वेत वस्त्र पहनाकर उस स्थान से हटा दिया जाएगा, यहाँ भिक्षु या भिक्षुणियाँ रहती हैं।"

(४) बौद्ध-धर्म का विकास

गया में बोधिवृक्ष के नीचे सिद्धार्थ ने जो बोध (ज्ञान) प्राप्त किया था, उसका उपदेश उन्होंने पहले-पहल सारनाथ मे किया। इस उपदेश में बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा था—'भिक्षुओ! बहुत जनों के हित के लिये, बहुत जनों के सुख के लिये, लोक पर दया करने के लिये, देवों और मनुष्यों के प्रयोजन-हित-सुख के लिए विचरण करो। एक साथ दो मत जाओ।' इस उपदेश के बाद बुद्ध के अनेक शिष्य भारत के विविध प्रदेशों मे धर्म के प्रचार के लिए गए। बुद्ध स्वयं प्रधानतया भारत के मध्य-देश मे ही धर्म प्रचार के लिए परिभ्रमण करते रहे। उनका अपना विचरण-क्षेत्र उत्तर मे हिमालय से लगाकर दक्षिण मे विन्याचल तक और पूर्व मे लगाकर कोशी से पश्चिम मे कुरुक्षेत्र तक सीमित रहा। पर उनके अनेक शिष्य उनके जीवन-काल मे भी दूर-दूर के प्रदेशो मे गये।

बौद्धों की प्रथम महासभा—बुद्ध के उपदेशों का ठीक-ठीक निर्धारण करने के लिये उनके प्रधान शिष्यो की एक सभा उनके निर्वाण के दो मास बाद राजगृह मे हुई थी। इसे पालि-साहित्य मे प्रथम संगीति कहा गया है। इस सभा मे बुद्ध के प्रधान शिष्यों ने यह निर्णय किया, कि बुद्ध की वास्तविक शिक्षाएँ क्या थी। बुद्ध ने समय-समय पर जो उपदेश दिये थे, जो प्रवचन किये थे, उन सबका इस सभा मे पाठ किया गया। बुद्ध के उपदेशों और मन्तव्यों को शुद्ध रूप में संकलित करने के लिए इस सभा ने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। बुद्ध के शिष्यों में उपालि को विनय या संघ के नियमों के विषय मे प्रमाण माना गया; और आनन्द को धम्म (धर्म) के विषय में। उन्होंने जिस रूप में बुद्ध की शिक्षाओ का प्रवचन किया, अन्य भिक्षुओ ने उसे ही प्रमाण-रूप से स्वीकृत कर लिया। इस महासभा मे कुल मिलाकर पाँच सौ भिक्षु एकत्र हुए थे, और उनकी यह संगीति सात मास के लगभग तक चलती रही थी।

बौद्ध-सम्प्रदायों का प्रारम्भ—महात्मा बुद्ध के धर्म का प्रचार जिस प्रकार भारत के विविध जनपदों और विभिन्न जातियो में हो रहा था, उसमे यह स्वाभाविक था कि धर्म के मन्तव्यों और आचरण के सम्बन्ध मे मतभेद उत्पन्न होने लगें। किसी नये धर्म को स्वीकृत कर लेने मात्र से मनुष्यो के जीवन व विश्वासों मे आमूल-चूल परिवर्तन नही हो जाता। उनके अपने विश्वास व परम्परागत अभ्यास नये धर्म पर भी प्रभाव डालते हैं, और विभिन्न देशों में एक ही धर्म विभिन्न रूप धारण कर लेता है। यही कारण है, कि बुद्ध की शिक्षाओं को अपनाने वाले विभिन्न प्रकृति के मनुष्यों ने उनको विभिन्न रूपों में देखा, और इससे बौद्ध-धर्म के विविध सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ। बुद्ध के निर्वाण के सौ वर्ष बाद उनके धर्म के दो सम्प्रदाय (निकाय) स्पष्ट रूप से विकसित हो गये थे। इन निकायों के नाम थे, स्थविरवादी और महासांघिक। इन सम्प्रदायों में महासांघिक बुद्ध को अलौकिक व अमानव रूप देने में तत्पर थे, और स्थविरवादी बुद्ध की मानवता पर विश्वास रखते थे। इस सम्प्रदायभेद का मूल आधार

यही था। आगे चलकर महासौंघिक सम्प्रदाय ही महायान के रूप में परिवर्तित हुआ।

बौद्धों की दूसरी महासभा—बुद्ध के निर्वाण के सौ वर्ष बाद वैशाली नगरी में बौद्धों की दूसरी संगीति (महासभा) हुई। इसका आयोजन स्थविर यश नाम के आचार्य द्वारा किया गया था। इसका मुख्य प्रयोजन यही था, कि बौद्धों में जो अनेक सम्प्रदाय विकसित हो रहे थे, उनपर विचार कर सत्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाय। पर इस उद्देश्य में वैशाली की संगीति को सफलता नहीं हुई। बौद्ध-भिक्षुओं के मतभेद और विवाद निरन्तर बढ़ते गये, और बाद मे उनमें अनेक नये सम्प्रदायों का विकास हुआ।

अठारह सम्प्रदाय—वैशाली की महासभा के बाद सम्राट् अशोक के समय तक लगभग १२० वर्षों में बौद्ध-धर्म अठारह सम्प्रदायों (निकायों) में विभक्त हो गया था। इन निकायों के नाम निम्नलिखित थे—स्थविरवाद, हैमवत, वृजपुत्रक, धर्मोत्तरीय, भद्रयाणीय, सम्मितीय, पाण्णागरिक, सर्वास्तिवादी, महीशासक, धर्मगुप्त, काश्यपीय, सौत्रन्तिक, महासांघिक, प्रज्ञप्तिवादी, चैतीय, लोकोत्तरवादी, एकव्यावहारिक और गोकुलिक। इनमे से पहले बारह निकाय स्थविरवाद से उदभूत हुए थे, और पिछले छः महासांघिक सम्प्रदाय से। इनमें से कतिपय सम्प्रदायों के नाम विविध प्रदेशों के साथ सम्बन्ध रखते हैं। इससे यह सूचित होता है, कि उनका विकास विशेष रूप से उन प्रदेशों मे ही हुआ था।

बौद्धों की तीसरी महासभा—बौद्ध-धर्म की तीसरी संगीति सम्राट् अशोक मौर्य के समय में पाटलिपुत्र के 'अशोकाराम' में हुई। इसका अध्यक्ष अशोक का गुरु आचार्य मोग्गलिपुत्त तिस्स (मौग्दलिपुत्र तिष्य) था। कुछ ग्रन्थों मे इसी को उपगुप्त भी लिखा गया है। इस महासभा द्वारा भी यह प्रयत्न किया गया, कि विविध बौद्ध-सम्प्रदायो के मतभेदो को दूर कर सत्य सिद्धान्तों का निर्णय किया जाय। इस कार्य के लिए आचार्य तिष्य ने एक हजार ऐसे भिक्षुओं को चुन लिया, जो परम विद्वान् और अनुभवी थे। इन भिक्षुओं की सभा आचार्य तिष्य की अध्यक्षता मे नौ मास तक होती रही। धर्मसम्बन्धी सब विवादग्रस्त विषयों पर इसमें विचार हुआ। अन्त में मौदगलिपुत्र तिष्य का रचा हुआ 'कथावत्थु' नाम का ग्रन्थ प्रमाणस्वरूप से सबने स्वीकार किया। इस प्रकार अशोक के राज्याभिषेक के सत्रह साल बाद ७२ वर्ष के वृद्ध आचार्य मौद्गलिपुत्र तिष्य (उपगुप्त) ने बौद्ध-धर्म की तृतीय महासभा की समाप्ति की। साथ ही पृथिवी काँपकर कह उठी, 'साधु'।

(५) विदेशों में धर्म-प्रचार का आयोजन

बौद्ध-धर्म के आन्तरिक झगड़ों के समाप्त हो जाने और संघ में एकता स्थापित हो जाने पर आचार्य तिष्य ने देश-विदेश में बौद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिए एक महान् योजना तैयार की। इसके अनुसार यह निश्चय हुआ, कि भिक्षुओं की मण्डलियाँ विविध देशों में प्रचार के लिए भेजी जायें। लंका की प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार इन मण्डलियों के नेताओं और उन्हें सुपुर्द किये गये देशों की सूची इस प्रकार है—

देश	प्रधान भिक्षु
काश्मीर और गान्धार	मज्झन्तिक (मध्यान्तिक)
महिश मण्डल	महादेव
वनवास	थेर रक्खित (रक्षित)
अपरान्तक	योनक धम्म-रक्खित
महाराष्ट्र	महा धम्मरक्खित (महाधर्मरक्षित)
योन लोक (यवन देश)	महारक्खित (महारक्षित)
हिमवंत	थेर मज्झिम और कस्सप
सुवर्ण भूमि	थेर सोण और उत्तर
लंका	महामहिन्द्र (महेन्द्र)

आचार्य तिष्य की योजना के अनुसार ये भिक्षु विविध देशों में गये, और वहाँ जाकर उन्होंने बोद्ध-धर्म का प्रचार प्रारम्भ किया। भारत के पुराने राजा चातुर्मास्य के बाद शरद् ऋतु के प्रारम्भ में विजय-यात्रा के लिए जाया करते थे। इन भिक्षुओं ने भी शरद् के शुरू में अपना प्रचार-कार्य प्रारम्भ किया।

बौद्ध-अनुश्रुति में प्रचारक-मण्डलों के जिन नेताओं के नाम दिये गये हैं, उनके अस्तित्व की सूचना कुछ प्राचीन उत्कीर्ण लेखों द्वारा भी प्राप्त होती है। साञ्ची के दूसरे स्तूप के भीतर से पाये गए पत्थर के सन्दूक में एक धातुमंजूषा (वह संदूकड़ी, जिसमे अस्थि व फूल रखे गए हों) ऐसी मिली है, जिस पर 'मोग्गलिपुत्त' उत्कीर्ण है। एक दूसरी धातुमजूषा के तले पर तथा ढक्कन के ऊपर और अन्दर हारितीपुत्त, मझिम तथा सबहिमवतचरिय (सम्पूर्ण हिमालय के आचार्य) कासपगोत के नाम खुदे हैं। इन मंजूषाओ में इन्हीं प्रचारकों के धातु (फूल) रखे गए थे, और वह स्तूप इन्हीं के ऊपर बनाया गया था। साञ्ची से पांच मील की दूरी पर एक अन्य स्तूप में भी धातुमंजूषाएं पायी गई हैं, जिसमें से एक पर कासपगोत का और दूसरी पर हिमालय के दुन्दुभिसर के दामाद गोतीपुत्त का नाम उत्कीर्ण है। कासपगोत और दुन्दुभिसर थेर मज्झिम के साथी थे, जो हिमालय के प्रदेश में बौद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिए गये थे। स्तूपों में प्राप्त ये धातुमंजूषाएं इस बात का ठोस प्रमाण हैं, कि बौद्ध-अनुश्रुति की प्रचारक-मण्डलियों की बात यथार्थ सत्य है। बौद्ध-धर्म का विदेशों में प्रसार करने के कारण इन भिक्षुओं का भी बडा आदर हुआ और इनकी धातुओं पर भी वैसे ही स्तूप खड़े किये गए, जैसे कि भगवान् बुद्ध के अवशेषों पर थे। उस युग में सर्वसाधारण लोग इन महाप्रतापी व साहसी भिक्षु-प्रचारकों को कितने आदर की दृष्टि से देखते थे, इसका इससे अच्छा प्रमाण नहीं मिल सकता। अशोक के समय में पाटलिपुत्र में हुई इस महासभा और आचार्य मोग्गलिपुत्त तिष्य (उपगुप्त) के पुरुषार्थ का ही यह परिणाम हुआ, कि बौद्ध-धर्म भारत से बहुत दूर-दूर तक के देशों में फैल गया।

लंका में प्रचार—जो प्रचारकमंडल लंका में कार्य करने के लिए गया, उसका नेता महेन्द्र था। महेन्द्र अशोक का पुत्र था, और उसकी माता असंधिमित्रा विदिशा के एक श्रेष्ठी की कन्या थी। राजा बिंदुसार के शासनकाल में जब अशोक उज्जयिनी का शासक था, उसका विवाह असंधिमित्रा के साथ हुआ था। इस विवाह से अशोक की

दो संतानें हुईं, महेन्द्र और संघमित्रा। मोद्गलिपुत्र तिष्य ने इन दोनों को भिक्षुव्रत में दीक्षित किया। भिक्षु बनते समय महेन्द्र की आयु बीस साल की थी।

इस समय में लका का राजा 'देवताओं का प्रिय' तिष्य था। उसकी अशोक से बडी मित्रता था। राजगद्दी पर बैठने पर तिष्य ने अपना एक दूतमण्डल अशोक के पास भेजा, जो बहुत से मणि, रत्न आदि मागध सम्राट् की सेवा में भेंट करने के लिये लाया। इस दूतमंडल का नेता राजा तिष्य का भानजा महाअरिट्ठ था। लंका का दूतमण्डल सात दिन में जहाज द्वारा ताम्रलिप्ति के बंदरगाह पर पहुँचा और उसके बाद सात दिन में पाटलिपुत्र। अशोक ने इस दूतमण्डल का राजकीय रीति से बड़े समारोह के साथ स्वागत किया। पाँच मास तक लंका का दूतमण्डल पाटलिपुत्र में रहा। दूत-मडल को विदा करते हुए अशोक ने तिष्य के नाम यह संदेश भेजा—"मैं बुद्ध की शरण मे चला गया हूँ। मैं धम्म की शरण मे चला गया हूँ। मै संघ की शरण में चला गया हूँ। मैने शाक्य-मुनि के धर्म का उपासक होने का व्रत ले लिया है। तुम भी इसी बुद्ध, धर्म और सघरूपी त्रिरत्न का आश्रय लेने के लिए अपने मन को तैयार करो। 'जिन' के उच्चतम धर्म का आश्रय लो। बुद्ध की शरण मे आने का निश्चय करो।"

इधर तो अशोक का यह संदेश लेकर महाअरिट्ठ लंका वापस जा रहा था, उधर भिक्षु महेन्द्र लका मे धर्मप्रचार के लिए अपने साथियों के साथ जाने को कटिबद्ध था।

लंका पहुँचकर महेन्द्र ने अनुराधपुर से आठ मील पूर्व जिस स्थान को केन्द्र बनाकर प्रचार कार्य प्रारम्भ किया, वह अब भी मंहिदतले कहलाता है। अशोक के सदेश के कारण देवताओं का प्रिय राजा तिष्य पहले ही बौद्ध-धर्म के प्रति अनुराग रखता था। महेन्द्र का उपदेश सुनकर अपने चालीस हजार साथियो के साथ राजा तिष्य ने बौद्ध-धर्म को ग्रहण किया। राजकुमारी अनुना ने भी अपनी ५०० सहचरियों के साथ बौद्ध-धर्म में दीक्षित होने की इच्छा प्रगट की, पर उसे निराश होना पडा। उसे बताया गया, कि भिक्षुओं को यह अधिकार नही है, कि स्त्रियो को दीक्षा दे सकें। स्त्री को दीक्षा भिक्षुणी ही दे सकती है। इसपर राजा तिष्य ने महाअरिट्ठ के नेतृत्व मे फिर एक प्रतिनिधिमण्डल पाटलिपुत्र भेजा। इसे दो कार्य सुपुर्द किये गये थे। पहला यह कि संघमित्रा (महेन्द्र की बहन) को लका आने के लिए निमत्रण दे, ताकि कुमारी अनुला और लकावासिनी अन्य महिलाएँ बौद्ध-धर्म की दीक्षा ले सके, और दूसरा यह कि बोधिवृक्ष की एक शाखा को लंका ले आए, ताकि वहां उसका आरोपण किया जा सके। यद्यपि अशोक अपनी प्रिय पुत्री से वियुक्त नही होना चाहता था, पर बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिये उसने संघमित्रा को लंका जाने की अनुमति दे दी। बोधिवृक्ष की शाखा को भेजने का उपक्रम बड़े समारोह के साथ किया गया। बडे अनुष्ठानों के साथ सुवर्ण के कुठार से बोधिवृक्ष की एक शाखा काटी गयी, और उसे बडे प्रयत्न से लंका तक सुरक्षित पहुँचाने का आयोजन किया गया, और बडे सम्मान के साथ लंका में बोधिवृक्ष का आरोपण किया गया। अनुराधपुर के महाविहार में यह विशाल वृक्ष अब तक भी विद्यमान है, और संसार के सबसे पुराने वृक्षो में से एक है। राजा

तिष्य ने संघमित्रा के निवास के लिये एक भिक्षुणी-विहार बनवा दिया था। वहाँ राजकुमारी अनुला ने अपनी ५०० सहेलियों के साथ भिक्षुणीव्रत की दीक्षा ली।

दक्षिण भारत में बौद्ध-धर्म—आचार्य मोद्गलिपुत्र तिष्य की योजना के अनुसार जो विविध प्रचारक-मण्डल विभिन्न देशों में बौद्ध-धर्म का प्रचार करने मे लिए गये थे, उनमें से चार को दक्षिण भारत मे भेजा गया था। अशोक से पूर्व बौद्ध-धर्म का प्रचार मुख्यतया विंध्याचल के उत्तर मे ही था। लका के समान दक्षिण भारत में भी अशोक के समय में ही पहले-पहल बुद्ध के अष्टांगिक आर्य-मार्ग का प्रचार हुआ। अशोक ने अपनी धर्मविजय की नीति का अनुसरण करते हुए चोल, पांड्य, केरल, सातियपुत्र और ताम्रपर्णी के पड़ोसी राज्यों मे जहाँ अंतमहामात्र नियत किये थे, वहाँ अपने साम्राज्य में भी रठिक-पेतनिक, आंध्र और पुलिंद प्रदेशो में धर्ममहामात्रों की नियुक्ति की थी। ये सब प्रदेश दक्षिण भारत में ही थे। अशोक द्वारा नियुक्त धर्ममहामात्रों और अंतमहामात्रो के अतिरिक्त अब चार प्रचारकमण्डल भी वहाँ गये। इनमे भिक्षु महादेव महिशमण्डल गया। यह उस प्रदेश को सूचित करता है, जहाँ अब मैसूर का राज्य है। वनवास उत्तर कर्णाटक का पुराना नाम है। वहाँ आचार्य रक्षित धर्मप्रचार के लिए गया। अपरान्तक का अभिप्राय कोंकण से है, वहाँ का कार्य योनक धम्मरक्खित के सुपुर्द किया गया था। संभवत:, यह आचार्य यवन-देश का निवासी था, इसीलिए इसे योनक कहा गया है। महारट्ठ (महाराष्ट्र) में कार्य करने के लिए थेर महाधम्म-रक्खित की नियुक्ति हुई थी। दक्षिण भारत में बौद्ध-प्रचारकों के कार्य का वर्णन महावंश मे विशद रूप से किया गया है।

आंध्र देश और पाड्य आदि तमिल राज्यो मे आचार्य उपगुप्त ने प्रचार का कार्य किन भिक्षुओं को दिया था, यह बौद्ध-अनुश्रुति हमे. नही बताती। पर प्रतीत होता है, कि सुदूर दक्षिण के इन प्रदेशों मे महेन्द्र और उसके साथियों ने ही कार्य किया था। सातवी सदी में प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यूनत्साग जब भारत की यात्रा करते हुए दक्षिण में गया, तो उसने द्रविड़ देश में महेन्द्र के नाम का एक विहार देखा था। यह विहार सम्भवत:, महेन्द्र द्वारा दक्षिण भारत में किये गये प्रचार-कार्य की स्मृति में ही बनवाया गया था।

खोतन में कुमार कुस्तन—पुराने समय में खोतन भारत का ही एक समृद्ध उपनिवेश था। वहाँ बौद्ध-धर्म, भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रचार था। पिछले दिनों में तुर्किस्तान और विशेषतया खोतन में जो खुदाई हुई है, उससे इस प्रदेश में बौद्ध-मूर्तियों, स्तूपों तथा विहारों के अवशेष प्रभूत मात्रा मे उपलब्ध हुए हैं। संस्कृत के लेख भी इस प्रदेश से मिले हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि किसी समय यह सारा प्रदेश बृहत्तर भारत का ही अंग था। पाँचवीं सदी मे चीनी यात्री फाइयान और सातवीं सदी में ह्यूनत्सांग ने इस प्रदेश की यात्रा की थी। उनके वर्णनों से सूचित होता है, कि उस प्राचीन युग में खोतन के निवासी बौद्ध-धर्म के अनुयायी थे, सारा देश बौद्ध-विहारों और स्तूपों से भरा हुआ था, और वहाँ के अनेक नगर बौद्ध-शिक्षा और सभ्यता के महत्वपूर्ण केन्द्र थे।

खोतन में बौद्ध-धर्म और भारतीय सभ्यता का प्रवेश राजा अशोक के समय में

ही हुआ। इसका वर्णन कुछ तिब्बती ग्रन्थों में उल्लिखित है। सम्भवत:, ये तिब्बती ग्रन्थ खोतन की प्राचीन अनुश्रुति के आधार पर ही लिखे गये थे। हम यहाँ बहुत संक्षेप से इस कथा को लिखते हैं—

राज्याभिषेक के तीन साल बाद राजा अशोक के एक पुत्र हुआ। ज्योतिषियों ने बताया, कि इस बालक मे प्रभुता के अनेक चिह्न विद्यमान हैं, और यह पिता के जीवनकाल में ही राजा बन जायगा। यह सुनकर अशोक को बड़ी चिन्ता हुई। उसने आज्ञा दी, कि इस बालक का परित्याग कर दिया जाय। परित्याग करने के बाद भी भूमि माता द्वारा बालक का पालन होता रहा। इसीलिए उसका नाम कुस्तन (कु= भूमि है स्तन जिसकी) पड़ गया। उस समय चीन के एक प्रदेश में बोधिसत्व का शासन था। उसके ९९९ पुत्र थे। इसपर बोधिसत्व ने वैश्रवण से प्रार्थना की, कि उसके एक पुत्र और हो जाय, ताकि संख्या पूरी १००० हो जाय। वैश्रवण ने देखा, कि कुस्तन का भविष्य बहुत उज्ज्वल है। वह उसे चीन ले गया और बोधिसत्व के पुत्रों में सम्मिलित कर दिया। एक दिन जब कुस्तन का बोधिसत्व के अन्य पुत्रों के साथ झगडा हो रहा था, तो उन्होंने उससे कहा—'तू सम्राट् का पुत्र नहीं है।' यह जानकर कुस्तन को बडा कष्ट हुआ। इस बात की सचाई का निश्चय करके उसने राजा से अपने देश का पता लगाने और वहाँ जाने की अनुमति माँगी। इसपर राजा ने कहा—'तू मेरा ही पुत्र है। यह तो तेरा अपना देश है। तुझे दु:खी नहीं होना चाहिए'। पर कुस्तन का इससे भी संतोष नहीं हुआ। उसने पक्का इरादा कर लिया था, कि उसका भी अपना पृथक् राज्य हो। अत: उसने अपने दस हजार साथियों को एकत्र किया, और पश्चिम की तरफ चल पडा। इस तरह चलते-चलते वह खोतन के मेस्कर नामक स्थान पर जा पहुँचा।

सम्राट् अशोक के एक मन्त्री का नाम यश था। वह बहुत प्रभावशाली था। धीरे-धीरे वह राजा की आंखों में खटकने लगा। यश को जब यह बात मालूम हुई, तो उसने भी यही निश्चय किया कि भारत छोड़कर अपने लिए नया क्षेत्र ढूंढ़ ले। उसने अपने सात हजार साथियों के साथ भारत छोडकर सुदूर पश्चिम मे नये प्रदेशों का अनुसन्धान प्रारम्भ किया। इस प्रकार वह खोतन में उथेन नदी के दक्षिण-तट पर जा पहुँचा। अब ऐसा हुआ, कि कुस्तन के अनुयायियों मे से दो व्यापारी घूमते-फिरते तो-ला नाम के प्रदेश में आये। यह प्रदेश उस समय बिल्कुल गैर-आबाद था। इसकी रमणीयता को देखकर उन्होंने विचार किया, कि यह प्रदेश कुमार कुस्तन के द्वारा आबाद किये जाने के योग्य है। मन्त्री यश को कुस्तन के बारे मे जब पता लगा, तो उसने यह सन्देश उसके पास भेजा—'तुम राजघराने के हो और मैं भी कुलीन घराने का हूँ। अच्छा हो कि हम परस्पर मिल जाएँ और इस उथेन प्रदेश में मिलकर बस जाएँ। तुम राजा बनो और मैं तुम्हारा मन्त्री।' यह विचार कुस्तन को बहुत पसन्द आया। कुस्तन ने अपने चीनी अनुयायियों के साथ और यश ने अपने भारतीय साथियों के साथ परस्पर सहयोग से इस प्रदेश को आबाद किया। इसीलिए तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार "खोतन देश आधा चीनी है, और आधा भारतीय। लोगों की भाषा न तो पूरी तरह भारतीय ही है, और न चीनी। वह दोनों का सम्मिश्रण है।

अक्षर बहुत कुछ भारतीय लिपि से मिलते-जुलते हैं, लोगों की आदतें चीन से बहुत कुछ मिलती हैं। धर्म और भाषा भारत से मिलती हैं। खोतन में वर्तमान भाषा का प्रवेश आर्यों (बौद्ध-प्रचारकों) द्वारा हुआ है।" जिस समय कुस्तन ने खोतन में अपने राज्य की स्थापना की, तो वह १६ साल का था और अशोक जीवित था। ज्योतिषियों की यह भविष्यवाणी सत्य हुई, कि कुस्तन अशोक के जीवनकाल में ही राजा बन जाएगा।

इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि इस प्राचीन तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार खोतन के प्रदेश में राजा अशोक के समय में भारतीयों ने अपना एक उपनिवेश बसाया, जिसमें चीनी लोगों का सहयोग उन्हें प्राप्त था। इसी समय में वहाँ भारतीय सभ्यता और धर्म का प्रवेश हुआ।

हिमवन्त देशों में प्रचार—हिमालय के क्षेत्र में आचार्य मज्झिम को प्रचार-कार्य करने के लिए नियत किया गया था। महावंश टीका में उसके चार साथियों के भी नाम दिये गये हैं। ये साथी निम्नलिखित थे, कस्सपगोत, दुन्दुभिसर, सहदेव और मूलकदेव। हम ऊपर लिख चुके हैं, कि साञ्ची के समीप उपलब्ध हुई धातुमंजूषाओं पर हिमवताचार्य के रूप में मज्झिम, कस्सप और दुन्दुभिसर के नाम उत्कीर्ण मिले हैं। हिमालय के सम्पूर्ण प्रदेश में अशोक के समय बौद्ध-धर्म का प्रचार हुआ। महावंश के अनुसार बहुत-से गन्धर्व, यक्ष और कुम्भण्डकों ने बौद्ध-धर्म को स्वीकृत किया। एक यक्ष ने, जिसका नाम पञ्चक था, अपनी पत्नी हारीत के साथ धर्म के प्रथम फल की प्राप्ति की, और अपने ५०० पुत्रों को यह उपदेश दिया, "जैसे तुम अब तक क्रोध करते आये हो, वैसे अब भविष्य में न करो। क्योंकि सब प्राणी सुख की कामना करने वाले हैं, अतः अब कभी किसी प्राणी का घात न करो। जीवमात्र का कल्याण करो। सब मनुष्य सुख के साथ रहें।"

काश्मीर और गान्धार में आचार्य मज्झन्तिक पृथक् रूप से भी कार्य कर रहा था। उसके कार्य का भी महावंश में बड़े विस्तार के साथ वर्णन है। हिमवन्त के प्रदेश के समान काश्मीर और गान्धार में भी बौद्ध-धर्म का अशोक के युग में प्रचार हुआ। हिमवन्त प्रदेश में नेपाल की पुरानी राजधानी पाटन या ललितपत्तन राजा अशोक ने ही बसायी थी। पाटन के मध्य व चारों तरफ अशोक ने बहुत-से स्तूप बनवाये थे, जिनमें से पाँच अब तक भी विद्यमान हैं। अशोक की पुत्री चारुमती नेपाल जाकर बस गई थी। उसने अपने पति देवपाल के नाम से वहाँ देवपत्तन नाम की नगरी भी बसाई थी। उसी के समीप एक विशाल बौद्ध-विहार का भी निर्माण कराया गया था, जिसके अवशेष पशुपतिनाथ के मन्दिर के उत्तर में अब तक भी विद्यमान हैं। काश्मीर में अशोक के समय में बहुत-से स्तूप और विहारों का निर्माण हुआ। कल्हणकृत राजतरंगिणी के अनुसार काश्मीर की राजधानी श्रीनगरी को अशोक ने ही बसाया था। 'श्रीविजयेश के टूटे-फूटे किले को हटाकर उसके स्थान पर इस राजा ने सब दोषों से रहित विशुद्ध पत्थरों का एक विशाल किला बनवाया। अशोक ने जेहलम के सारे तट को स्तूपों द्वारा आच्छादित करा दिया था।"

हिमालय के प्रदेशों में गांधर्व, यक्ष आदि जिन जातियों को बौद्ध-धर्म में दीक्षित

करने का उल्लेख किया गया है, वे सब वहाँ के मूल निवासियों के नाम हैं। ये कोई लोकोत्तर व दैवी सत्ताएँ नहीं थी।

यवन देशों में प्रचार—भारत के पश्चिम मे अंतियोक आदि जिन यवन-राजाओं के राज्य थे, उनमें भी अशोक ने अपनी धर्म-विजय की स्थापना का उद्योग किया था। अतमहामात्र उन सब देशो मे चिकित्सालय, धर्मशाला, कूप, प्याऊ आदि खुलवाकर भारत और उसके धर्म के लिए विशेष आदर का भाव उत्पन्न कर रहे थे। इस दशा मे जब आचार्य महारक्खित अपने प्रचारकमंडल के साथ वहाँ कार्य करने के लिए गया, तो उसने अपने लिए मैदान तैयार पाया। इस प्रसंग मे महावंश ने लिखा है कि "आचार्य महारक्खित योन देश में गया। वहाँ उसने 'कालकारामसुत्त' का उपदेश दिया। एक लाख सत्तर हजार मनुष्यो ने बुद्धमार्ग के फल को प्राप्त किया और दस हजार स्त्री-पुरुष भिक्खु बने।" इसमें संदेह नही, कि अशोक के बाद बहुत समय तक इन पश्चिमी यवन-देशो में बौद्ध-धर्म का प्रचार रहा। मिस्र के यूनानी राजा टाल्मी (तुरमय) ने अलेक्जेण्ड्रिया के प्रसिद्ध पुस्तकालय मे भारतीय ग्रन्थो के भी अनुवाद की व्यवस्था की थी। जब पैलेस्टाइन मे अशोक से लगभग ढाई सौ वर्ष बाद महात्मा ईसा का प्रादुर्भाव हुआ, तो इस पश्चिमी दुनिया में ईसीन तथा थेराथून नाम के विरक्त लोग रहते थे। ये लोग पूर्व की तरफ से पैलेस्टाइन और ईजिप्ट में जाकर बसे थे, और धर्मोपदेश के साथ-साथ चिकित्सा का कार्य भी करते थे। ईसा की शिक्षाओं पर इनका बड़ा प्रभाव था, और स्वयं ईसा इनके सत्संग मे रहा था। सम्भवतः, ये लोग आचार्य महारक्खित के ही उत्तराधिकारी थे, जो ईसा के प्रादुर्भाव के समय मे इन विदेशी यवन-राज्यो मे बौद्ध-भिक्षुओं (थेरों) का जीवन व्यतीत कर रहे थे। बाद में ईसाई धर्म और इस्लाम के प्रभाव के कारण इन पश्चिमी देशो से बौद्ध-धर्म का सर्वथा लोप हो गया। पर यह निश्चित है, कि उनसे पूर्व इन देशों में बौद्ध-धर्म अपना काफी प्रभाव जमा चुका था। बाद मे बौद्ध-धर्म के सदृश शैव और वैष्णव लोग भी यवन-देशों मे गये, और वहाँ उन्होने अपनी अनेक बस्तियाँ कायम की।

सुवर्णभूमि में प्रचार—महावश के अनुसार आचार्य उत्तर और थेर सोण सुवर्णभूमि में प्रचार के लिए गये थे। उस समय सुवर्णभूमि के राजकुल की यह दशा थी, कि ज्यो ही कोई कुमार उत्पन्न होता, एक राक्षसी उसे खा जाती। जिस समय ये थेर सुवर्णभूमि पहुँचे, तभी रानी ने एक पुत्र को जन्म दिया। उसी समय राक्षसी समुद्र से निकली, और सब लोग भयभीत होकर हाहाकार करने लगे। पर थेरों ने अपने अलौकिक प्रभाव से राजकुमार का भक्षण करने वाली राक्षसी को वश मे कर लिया। इस प्रकार सर्वत्र अभय की स्थापना कर इन थेरो ने लोगो को बौद्ध-धर्म का उपदेश दिया। इससे प्रभावित हो बहुत-से लोगो ने बौद्ध-धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। सम्भवतः, महावंश के इस वर्णन में आलंकारिक रूप से यह उल्लेख है, कि रोगरूपी राक्षसी के आक्रमण के कारण सुवर्णभूमि का कोई राजकुमार जीवित नही रह पाता था। थेर सोण और उत्तर कुशल चिकित्सक भी थे। जब वे सुवर्णभूमि गये, तो इस रोगरूपी राक्षसी ने पुनः आक्रमण किया, पर इस बार इन थेर चिकित्सकों के प्रयत्न से राजकुमार की जान बच गई, और सुवर्णभूमि के निवासियों की बौद्ध-धर्म पर बहुत श्रद्धा हो गई।

सुवर्णभूमि का अभिप्राय दक्षिणी बरमा तथा उसके परे के दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्रदेशों से है। आधुनिक बरमा के पेगू-मालमीन के प्रदेशों में अशोक के समय में बौद्ध-प्रचारक गये, और उन्होंने उस प्रक्रम का प्रारम्भ किया, जिससे कुछ ही समय में न केवल सम्पूर्ण बरमा, पर उसके भी पूर्व के बहुत-से देश बौद्ध-धर्म के अनुयायी हो गये।

अशोक के समय में आचार्य मोग्गलिपुत्त तिस्स या उपगुप्त के आयोजन के अनुसार बौद्ध-धर्म का विदेशों में प्रचार करने के लिए जो भारी प्रयत्न प्रारम्भ हुआ, उसका केवल भारतवर्ष के इतिहास में ही नहीं, अपितु संसार के इतिहास में भी बहुत महत्त्व है। बौद्ध-भिक्षु जो उद्योग कर रहे थे, उसे वे 'बुद्ध के शासन' का प्रसार कहते थे। इस कार्य में वे मगध के सम्राटों से भी बहुत आगे बढ़ गये। मागध-साम्राज्य की अपेक्षा बहुत बड़ा ऐसा धर्म-साम्राज्य उपगुप्त ने बनाया, जो कुछ सदियों तक ही नहीं, अपितु सहस्राब्दियों तक कायम रहा। दो हजार साल से अधिक समय बीत जाने पर भी यह साम्राज्य अब तक भी आंशिक रूप से कायम है।

बारहवाँ अध्याय

मौर्य कालीन भारत

(१) मौर्य युग की कला

भारत के इतिहास में मौर्य युग का बहुत महत्त्व है। इस काल में प्रायः सम्पूर्ण भारत एक शासन के अधीन था। देश की राजनीतिक एकता भली-भाँति स्थापित थी, और भारत के धार्मिक नेता दूर-दूर तक 'धर्मविजय' स्थापित करने में तत्पर थे। केवल राजनीति और धर्म के क्षेत्रों में ही नही, अपितु कला, शासन, शिक्षा, समाज और आर्थिक जीवन आदि सभी क्षेत्रों में इस काल में भारतीयों ने असाधारण उन्नति की, और इस उन्नति का दिग्दर्शन भारत के सांस्कृतिक विकास को समझने के लिए बहुत उपयोगी है।

मौर्य युग के अनेक अवशेष इस समय उपलब्ध होते हैं। उनके अनुशीलन से इस युग की नगर-रचना, मूर्ति-निर्माण कला आदि के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण बातों का परिचय मिलता है।

पाटलिपुत्र नगर—मौर्य सम्राटों की राजधानी पाटलिपुत्र एक बहुत ही विशाल नगरी थी। सीरिया के राजा सैल्युकस निकेटर का राजदूत मैगस्थनीज ३०३ ई० पू० में पाटलिपुत्र आया था और कई साल तक वहाँ रहा था। उसने अपने यात्रा-विवरण मे इस नगरी का जो वर्णन किया है, उसमें कुछ बातें उल्लेखनीय हैं। उसके अनुसार "भारतवर्ष में जो सबसे बड़ा नगर है, वह प्रेसिआई (प्राच्य देश) में पालिब्रोथा (पाटलिपुत्र) कहलाता है। वह गंगा और ऐरन्नाबोअस (सोन) नदियों के तटपर स्थित है। गंगा सब नदियों में बड़ी है, पर ऐरन्नाबोअस संभवतः भारत में तीसरे नम्बर की नदी है। भारत की नदियों में यद्यपि इसका नम्बर तीसरा है, पर अन्य देशों की बड़ी से बडी नदी से भी यह बड़ी है। इस नगरी की बस्ती लम्बाई में ८० स्टेडिया और चौड़ाई में १५ स्टेडिया तक फैली हुई है (एक मील=सवा पाँच स्टेडिया)। यह नगरी समानान्तर चतुर्भुज की शक्ल में बनी है। इसके चारों ओर लकड़ी की एक प्राचीर (दीवार) है, जिसके बीच में तीर छोड़ने के लिए बहुत से छेद बने हैं। दीवार के साथ चारों तरफ एक खाई है, जो रक्षा के निमित्त और शहर का मैला बहाने के काम आती है। यह खाई गहराई में ४५ फीट और चौड़ाई में ६०० फीट है। शहर के चारों ओर की प्राचीर ५७० बुर्जों से सुशोभित है, और उसमें ६४ द्वार बने हैं।"

हजारों वर्ष बीत जाने पर अब इस वैभवशाली पाटलिपुत्र की कोई इमारत शेष नहीं है। पर पिछले दिनों जो खुदाई पटना के क्षेत्र में हुई है, उससे मौर्यकाल के अनेक अवशेष उपलब्ध हुए हैं। प्राचीन पाटलिपुत्र नगर वर्तमान समय में गंगा और

सोन नदियों के सुविस्तृत पाट के नीचे दब गया है। रेलवे स्टेशन तथा आस-पास की बस्तियों ने भी इस प्राचीन नगरी के बहुत से भाग को अपने नीचे छिपा रखा है। रेलवे लाइन के दक्षिण में कुमराहार नाम की बस्ती के समीप प्राचीन पाटलिपुत्र के बहुत-से अवशेष प्राप्त हुए हैं। जनश्रुति के अनुसार इस स्थान के नीचे पुराने जमाने के अनेक राजप्रासाद दबे हुए हैं। इसी क्षेत्र में लकडी की बनी हुई एक पुरानी दीवार के भी अवशेष मिले हैं। अनुमान किया गया है, कि ये पाटलिपुत्र की उसी प्राचीर के अवशेष हैं, जिसका उल्लेख मैगस्थनीज ने अपने यात्रा-वर्णन में किया था। लकड़ी की दीवार के कुछ अवशेष मौर्य महलों में भी माने जाते हैं।

अशोक के स्तूप—प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार सम्राट् अशोक ने बहुत-से स्तूपों व विहारों का निर्माण कराया था। विविध ग्रन्थों में इनकी संख्या चौरासी लाख लिखी गई है। समय के प्रभाव से अब अशोक की प्रायः सभी कृतियाँ नष्ट हो चुकी हैं। पर अब से बहुत समय पूर्व चीनी यात्रियों ने इनका अवलोकन कर इनका वर्णन लिखा था। पाँचवी सदी के शुरू में चीनी यात्री फाइयान भारत आया था। उसने अपनी आँखों से अशोक की अनेक कृतियों को देखा था। यद्यपि उसके समय मे अशोक को मरे सात सौ साल के लगभग हो चुके थे, पर इतने समय बाद भी उसकी कृतियाँ अच्छी दशा में विद्यमान थी। फाइयान ने लिखा है—'पुष्पपुर (पाटलिपुत्र) राजा अशोक की राजधानी थी। नगर में अभी तक अशोक का राजप्रासाद और सभा-भवन है। सब असुरों के बनाये हुए हैं। पत्थर चुनकर दीवारें और द्वार बनाये गये हैं। उन पर सुन्दर खुदाई और पच्चीकारी है। इस लोक के लोग उन्हें नहीं बना सकते। अब तक नये के समान हैं।'

प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्य एनत्सांग सातवीं सदी में भारत आया था। उसने अपने यात्रा विवरण में अशोक के बनवाये हुए बहुत-से स्तूपों का वर्णन किया है, जिन्हें उसने अपनी आँखों से देखा। तक्षशिला में उसने अशोक के बनवाये हुए तीन स्तूप देखे; जिनमें से प्रत्येक सौ-सौ फुट ऊँचा था। नगर-द्वार के स्तूप की ऊँचाई ३०० फीट थी। इसी तरह मथुरा, थानेसर, कनौज, अयोध्या, प्रयाग, कौशाम्बी, श्रावस्ती, श्रीनगर, कपिलवस्तु, कुशीनगर, बनारस, वैशाली, गया, ताम्रलिप्ति आदि नगरों में उसने बहुत-से स्तूप देखे, जो अशोक ने बनवाये थे, और जो ऊँचाई में ७०, १००, २०० या ३०० फीट तक के थे। पाटलिपुत्र में उसने अशोक का राजमहल भी देखा, पर तब तक वह भग्न दशा में आ चुका था। इस चीनी यात्री ने पाटलिपुत्र मे अशोक के समय का बहुत ऊँचा स्तम्भ भी देखा, जहाँ अशोक ने चण्डगिरिक की अध्यक्षता में नरकगृह का निर्माण कराया था। काश्मीर में ह्य नत्सांग ने अशोक के बनवाये हुए बहुत-से स्तूपों और संघारामों को देखा था, जिनका उल्लेख कल्हण की राजतरंगिणी में भी किया गया है।

सारनाथ—अशोक की अनेक कृतियाँ बनारस के समीप सारनाथ में उपलब्ध हुई हैं। इनमें मुख्य निम्नलिखित हैं—

(क) **प्रस्तर-स्तम्भ**—इसपर अशोक की एक धम्मलिपि उत्कीर्ण है। यह स्तम्भ बहुत ही सुन्दर है। इसके सिर पर चार सिंह-मूर्तियाँ हैं, जो मूर्ति-निर्माण-कला

की दृष्टि से अद्वितीय हैं। किसी प्राणी की इतनी सजीव मूर्तियाँ अन्यत्र कहीं भी नहीं बनीं। मूर्तिकला की दृष्टि से इनमें कोई भी न्यूनता व दोष नही है। पहले इन मूर्तियों की आँखें मणियुक्त थी, अब उनमें मणियाँ नही हैं। पर पहले वहाँ मणि होने के चिह्न अभी तक विद्यमान है। सिंह की चार मूर्तियों के नीचे चार चक्र है। चक्रों के बीच में हाथी, साँड, अश्व और शेर अंकित है। इन चक्रों तथा प्राणियों को चलती हुई दशा मे बनाया गया है। इनके नीचे का अंश एक विशाल घण्टे की तरह है। स्तम्भ तथा उसका शीर्ष भाग बलुए पत्थर का है, जिसके ऊपर सुन्दर वज्रलेप है। यह लेप बहुत ही चिकना, चमकदार तथा सुन्दर है। यह वज्रलेप दो हजार से भी अधिक साल बीत जाने पर भी अब तक स्थिर रह सका, यह सचमुच बडे आश्चर्य की बात है।

(ख) **पाषाण वेष्टनी**—सारनाथ मे ही अशोक के समय की बनी हुई एक पाषाणवेष्टनी (रेलिंग) उपलब्ध हुई है। यह सारनाथ के बौद्ध-विहार के प्रधान मन्दिर के दक्षिण भाग वाले गृह मे ईट के छोटे स्तूप के चारो ओर लगी हुई निकली है। यह सारी की सारी एक ही पत्थर की बनी हुई है। बीच में कही भी जोड नही है।

(ग) **स्तूप**—अशोक द्वारा निर्मित्त एक स्तूप के कुछ चिह्न सारनाथ की खुदाई मे प्राप्त हुए हैं। ये अशोक के प्रस्तर-स्तम्भ के समीप ही हैं।

सांची—मौर्य-काल की कृतियो मे सांची का स्तूप बहुत महत्त्वपूर्ण है। यहाँ का मुख्य स्तूप मौर्य-काल का या उससे भी पहले का है। वह स्तूप बहुत बड़ा है। आधार के समीप इसका व्यास १०० फीट है। पूर्णावस्था मे इसकी ऊँचाई ७७ फीट के लगभग थी। वर्तमान समय मे इसका ऊपर का कुछ भाग टूट गया प्रतीत होता है। स्तूप लाल रंग के बलुए पत्थर का बना है। यह अर्धमंडलाकार (अंड) रूप से बना हुआ है, और इसके चारों तरफ एक ऊँची मेधि है, जो प्राचीन समय मे प्रदक्षिणापथ का काम देती थी। इस प्रदक्षिणापथ तक पहुँचने के लिए स्तूप के दक्षिण भाग मे एक दोहरी सोपान है। सम्पूर्ण स्तूप के चारो ओर भूमि के समतल के साथ एक अन्य प्रदक्षिणापथ है, जो कि पत्थर से बनी हुई पाषाणवेष्टनियों से परिवेष्टित है। यह वेष्टनी बहुत ही सादे ढंग की है, और किसी तरह की पच्चीकारी आदि से खचित नही है। यह चार चतुष्कोण प्रकोष्ठों मे विभक्त है, जिन्हें चार सुन्दर द्वार एक दूसरे से पृथक् करते हैं। चारों द्वारों पर नानाविध मूर्तियों और उत्कीर्ण चित्रो तथा खचित पच्चीकारी से युक्त तोरण हैं। इनसे बौद्ध-धर्म की अनेक गाथाओं को व्यक्त किया गया है।

अनेक ऐतिहासिको का विचार है, कि साची का यह विशाल स्तूप अशोक के समय का बना हुआ नही है। यह उससे लगभग एक सदी पीछे बना था। अशोक के समय मे ईटों का एक सादा स्तूप था, जिसे बढाकर बाद मे वर्तमान रूप दिया गया।

साची के भग्नावशेषो मे सम्राट् अशोक के समय की एक अन्य भी कृति उपलब्ध हुई है। स्तूप के दक्षिण द्वार पर एक प्रस्तर-स्तम्भ के अवशेष मिले है। विश्वास किया जाता है, कि शुरू में यह स्तम्भ ४२ फीट ऊँचा था। इसके शीर्ष भाग पर भी सारनाथ के स्तम्भ के सदृश सिंहों की मूर्तियाँ हैं। वर्तमान समय में ये मूर्तियाँ भग्नप्रायः हो गई हैं। पर अपनी भग्नावस्था में भी से अशोक के काल की कला

उत्कृष्टता का स्मरण दिलाती हैं। इस स्तम्भ पर अशोक का एक लेख भी उत्कीर्ण है। सम्भवतः, सांची का यह स्तम्भ भी अपने असली रूप में सारनाथ के स्तम्भ के ही सदृश था।

भरहुत—यह स्थान इलाहबाद से १५ मील दक्षिण-पश्चिम की ओर बुन्देलखण्ड के नागौद क्षेत्र मे है। यहाँ पर भी अशोक के समय की अनेक कृतियाँ उपलब्ध हुई हैं। सर एलेकजेंडर कनिंघम ने सन् १८७३ मे इस स्थान का पहले-पहल पता लगाया था। उस समय यहाँ एक विशाल स्तूप के अवशेष विद्यमान थे, जो कि ईंटो का बना था, और जिसका व्यास ३८ फीट था। स्तूप के चारो ओर एक पाषाण-वेष्टनी थी, जिस पर विविध बौद्ध-गाथाएँ चित्रो के रूप मे खचित की गई थी। पाषाण-वेष्टनी की ऊँचाई सात फीट से भी अधिक थी। साची-स्तूप के समान यह पाषाण-वेष्टनी भी चार चतुष्कोण-प्रकोष्ठो मे विभक्त थी, और प्रकोष्ठो के बीच मे सुन्दर तोरणो से युक्त द्वार थे। पाषाणवेष्टनी के ऊपर जो चित्र उत्कीर्ण हैं, उनमे जातक ग्रन्थो की गाथाओ की प्रधानता है, और ये उत्कीर्ण चित्र मौर्य-काल की कला के अत्युत्कृष्ट उदाहरण है।

भरहुत के स्तूप मे सैकडो की संख्या मे छोटे-छोटे आले बने हुए थे। उत्सव के अवसरों पर इनमें दीप जलाये जाते थे। वर्तमान समय मे यह स्तूप नष्ट हो चुका है, और इसकी पाषाणवेष्टनी के बहुत-से खण्ड कलकत्ता म्युजियम की शोभा बढ़ा रहे है। यह ध्यान मे रखना चाहिए, कि भरहुत के सब अवशेष मौर्यकाल के नही हैं। उनमें से कुछ शुंग काल के तथा उसके भी बाद के हैं।

सारनाथ, साची और भरहुत की पाषाण-वेष्टनियों के सदृश ही अन्य अनेक वेष्टनियाँ और भी कई स्थानो से उपलब्ध हुई है। बोधगया से प्राप्त एक वेष्टनी के अवशेषो को अशोक के समय का समझा जाता है। प्राचीन पाटलिपुत्र के अवशेषो मे भी कम से कम तीन इस प्रकार की पाषाण-वेष्टनियो के खण्ड प्राप्त हुए हैं, जो मौर्य-काल के हैं। साची के समीप ही भिलसा के पास बेसनगर नामक स्थान पर इसी प्रकार की पाषाण-वेष्टनी प्राप्त हुई है, जिस पर नानाविध चित्र उत्कीर्ण हैं। इसे भी मौर्य काल का माना जाता है। ये पाषाण-वेष्टनियाँ कला की दृष्टि से बड़े महत्त्व की हैं। ये प्रायः एक पत्थर की ही बनी हुई है, और इनमें कहीं भी जोड नहीं है।

तक्षशिला—उत्तरापथ की इस प्राचीन राजधानी के स्थान पर जो खुदाई पिछले दिनो मे हुई है, उसमे बहुत-सी पुरानी कृतिया उपलब्ध हुई हैं। इनमें से केवल दो कृतियाँ मौर्य-काल की है। ये दोनों आभूषण है। तक्षशिला के क्षेत्र के अन्तर्गत भिड नामक स्थान से ये आभूषण प्राप्त हुए थे। मौर्य-काल के ये आभूषण बहुत ही सुन्दर हैं। ये प्रशस्त रत्नों से जटित है, और सोने के बने हुए हैं।

चीनी यात्री ह्यु नत्सांग ने तक्षशिला मे जिस कुणाल-स्तूप का अवलोकन किया था, वह भी वहाँ खुदाई मे मिल गया है। पर अनेक ऐतिहासिकों का मत है, कि यह स्तूप मौर्य-काल के बाद का है। जिस स्थान पर अशोक की दन्तमुद्रा से अंकित कपट-लेख के अनुसार कुणाल को अधा किया गया था, वहाँ के पुराने स्तूप को बढाकर बाद मे अत्यन्त विशाल स्तूप का निर्माण किया गया। ह्यु नत्सांग ने उसी स्तूप को देखा था,

और तक्षशिला में अब तक जिस स्तूप के अवशेष मिले हैं, वह भी बाद का ही बना हुआ है।

मौर्यकालीन मूर्तियाँ—मौर्य-काल की सबसे प्रसिद्ध मूर्ति आगरा और मथुरा के बीच में परखम नामक गाँव से मिली है। यह सात फीट ऊँची है, और भूरे बलुए पत्थर की बनी है। ऊपर बहुत ही सुन्दर वज्रलेप है। दुर्भाग्य से मूर्ति का मुँह टूट गया है, और भुजाएँ भग्न हो गई है। मूर्ति के व्यक्ति की जो पोशाक बनायी गई है, उससे मौर्यकालीन पहरावे का भली-भाँति अनुमान किया जा सकता है। यह मूर्ति अब मथुरा के म्यूजियम मे विद्यमान है। मौर्यकाल की एक अन्य मूर्ति बेसनगर मे मिली है। यह मूर्ति किसी स्त्री की है। इसकी भी भुजाएँ टूटी हुई और मुख बिगडा हुआ है। मूर्ति की ऊँचाई ६ फीट ७ इञ्च है। पटना और दीदारगंज से भी दो अन्य मूर्तियाँ मिली हैं, जो मौर्यकाल की मानी जाती हैं। ये परखम से प्राप्त मूर्ति से बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं।

अशोक के शिलालेख—सम्राट् अशोक के बहुत-से उत्कीर्ण लेख आजकल उपलब्ध है। अशोक ने अपने इन शिलालेखों को 'धम्मलिपि' कहा है। उनकी जो दो प्रतियाँ उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त के पेशावर और हजारा जिलो मे मिली है, वे खरोष्ठी लिपि मे है, शेष सब ब्राह्मी लिपि मे है। कन्धार मे अशोक के ऐसे अभिलेख भी प्राप्त हुए हैं, जिन्हे ग्रीक और अरेमइक लिपियो मे उत्कीर्ण कराया गया है। उसके लेख शिलाओं, पत्थर की ऊँची लाटों और गुफाओ मे उत्कीर्ण किये गए है।

(क) **चतुर्दश शिलालेख**—अशोक के लेखो मे ये सबसे प्रधान है। इनकी प्रतियाँ विभिन्न स्थानो पर अविकल या अपूर्ण रूप मे मिली हैं। ये लेख निम्नलिखित स्थानो पर मिले हैं—

१. पेशावर जिले मे शाहबाजगढ़ी—पेशावर से चालीस मील उत्तर-पूर्व की ओर शाहबाजगढ़ी नाम का गाँव है। उसके समीप ही एक विशाल शिला है, जो २४ फीट लम्बी, दस फीट ऊँची और दस फीट मोटी है। इस शिला पर बारहवे लेख को छोड़कर अन्य सब लेख खुदे हुए है। बारहवाँ लेख पचास गज की दूरी पर एक पृथक् शिला पर उत्कीर्ण है।

२. मानसेरा—उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त (पाकिस्तान) के हजारा जिले में यह स्थान है। यहाँ केवल पहले बारह लेख ही उपलब्ध हुए हैं।

३. कालसी—देहरादून जिले मे यमुना के तट पर एक विशाल शिला पर अशोक के चौदहों लेख उत्कीर्ण है। प्राचीन समय का श्रुघ्न नगर इसी क्षेत्र मे था।

४. गिरनार—काठियावाड़ की प्राचीन राजधानी गिरनार के समीप ही एक विशाल शिला पर ये चौदह लेख उत्कीर्ण हैं।

५. सोपारा—यह स्थान महाराष्ट्र के थाना जिले मे है। प्राचीन शूर्पारक नगरी सम्भवतः यही पर थी। वहाँ आठवें शिलालेख का केवल तिहाई हिस्सा ही भग्नावस्था मे मिला है।

६. धौली—उड़ीसा मे भुवनेश्वर से सात मील की दूरी पर यह स्थान है। मौर्य युग में सम्भवतः यही तोसाली नगरी थी, जो कलिंग की राजधानी थी। चतुर्दश

लेखों में नं० ११, १२ और १३ यहाँ नहीं मिलते, उनके स्थान पर दो अन्य लेख मिलते हैं, जिन्हें कि अशोक ने कलिंग के लिए विशेष रूप से उत्कीर्ण कराया था।

७. जौगढ—आन्ध्र प्रदेश के गंजाम जिले में यह स्थान है। यह भी प्राचीन कलिंग देश के ही अन्तर्गत था। यहाँ भी ११, १२ और १३ संख्या के लेख नही मिलते। उनकी जगह पर धौली वाले वे दो विशेष लेख मिलते हैं, जो खास कर कलिंग के लिए उत्कीर्ण कराये गए थे।

८. एर्रगुडि—अशोक ने चतुर्दश शिलालेखो की आठवी प्रति आंध्र प्रदेश के कर्नूल जिले में एर्रगुडि नामक स्थान से पिछले दिनों मे ही मिली है।

९. कन्धार में इन लेखो की ऐसी प्रतियाँ मिली हैं, जो ग्रीक तथा अरेमइक लिपियों मे हैं।

(ख) **लघु शिलालेख**—चतुर्दश शिलालेखों की भाँति ये भी मौर्य साम्राज्य के दूर-दूर के प्रदेशो से उपलब्ध हुए है। इनकी विविध प्रतियाँ निम्नलिखित स्थानो पर मिली हैं.—

१. रूपनाथ—मध्यप्रदेश के जबलपुर जिले में कैमोर पर्वत की उपत्यका मे एक शिला पर ये लेख उत्कीर्ण है। २. सहसराम—बिहार प्रान्त के शाहाबाद जिले मे सहसराम के पूर्व में चन्दनपीर पर्वत की एक कृत्रिम गुफा मे ये लेख उत्कीर्ण है। ३. बैराट—यह स्थान राजपूताने के जयपुर क्षेत्र मे है। ४. सिद्धपुर—यह स्थान माइसूर के चीतलद्रुग जिले मे है। ५. जतिग रामेश्वर—यह भी चीतलद्रुग जिले मे ही है। ६. ब्रह्मगिरि—यह भी चीतलद्रुग मे सिद्धपुर और जतिग रामेश्वर के समीप मे ही है। ७. मास्की—यह आन्ध्र प्रदेश के रायचूर जिले मे है। इस स्थान पर जो लेख मिले हैं, वे बहुत भग्नावस्था मे है। पर ऐतिहासिक दृष्टि से उनका बडा महत्व है। इन्हीं से यह बात प्रामाणिक रूप से ज्ञात हो सकी है, कि राजा प्रियदर्शी के नाम से जो विविध शिलालेख भारत भर में उपलब्ध हुए हैं, वे वस्तुतः मौर्य-सम्राट् अशोक के ही है। इनमे स्पष्ट रूप से राजा अशोक का नाम दिया गया है। ८. गोविमठ—(माइसूर मे), ९. पालकिमुण्डु—(गोविमठ से चार मीर दूर), १०. एर्रगुडि, ११. राजुल मर्डागिरि (आंध्र-कर्नूल जिले मे), १२. अहरौरा (मिर्जापुर जिले मे), और १३. दिल्ली के दक्षिणी क्षेत्र मे।

(ग) **भाब्रू का लेख**—जयपुर मे बैराट के पास ही एक चट्टान पर यह लेख उत्कीर्ण है। इस लेख मे अशोक ने उन बौद्ध-ग्रन्थों के नाम विज्ञापित कराये थे, जिन्हें वह इस योग्य समझता था, कि भिक्खु लोग उनका विशेष रूप से अनुशीलन करें।

(घ) **सप्त स्तम्भ लेख**—शिलाओ के समान स्तम्भो पर भी अशोक ने लेख उत्कीर्ण कराये थे। ये स्तम्भ-लेख निम्नलिखित स्थानों पर उपलब्ध हुए हैं :—
१. दिल्ली में टोपरा स्तम्भ—यह स्तम्भ फीरोजशाह की लाट के नाम से मशहूर है। २. दिल्ली मे मेरठ स्तम्भ—यह काश्मीरी दरवाजे के उत्तर-पश्चिम में पहाडी पर है। ३. इलाहाबाद स्तम्भ—यह वह प्रसिद्ध स्तम्भ है, जिसपर गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त की प्रशस्ति भी उत्कीर्ण है। यह अब प्रयाग के पुराने किले मे विद्यमान है। ४. लौरिया अरराज स्तम्भ—बिहार के चम्पारन जिले मे राधिया नामक गाँव से ढाई मील पूर्व-

दक्षिण में अरराज महादेव का मन्दिर है। वहाँ से मील भर दूर लौरिया नामक स्थान पर यह स्तम्भ विद्यमान है। ५. लौरिया नन्दन गढ़—यह भी बिहार के चम्पारन जिले में है। ६. रामपुरवा स्तम्भ—यह भी चम्पारन जिले मे ही है।

(घ) **लघु स्तम्भ लेख**—ये तीन स्थानों पर उत्कीर्ण हुए मिलते हैं—सारनाथ, सांची और प्रयाग मे।

(च) **अन्य स्तम्भ लेख**—सप्त स्तम्भ लेखो और लघु स्तम्भ लेखो के अतिरिक्त अशोक के कुछ अन्य स्तम्भ लेख भी मिले है।

(छ) **गुहा लेख**—शिलाओं और स्तम्भों के अतिरिक्त गुहा मन्दिरो में भी अशोक ने कुछ लेख उत्कीर्ण कराये थे। इस प्रकार के तीन लेख अब तक उपलब्ध हुए है। इनमे अशोक द्वारा आजीवक सप्रदाय के भिक्खुओ को दिये गये दान का उल्लेख है। अशोक के लेखों से युक्त ये गुहाएँ गया से सोलह मील दूर उत्तर मे बराबर नाम की पहाडियो मे विद्यमान हैं।

(२) मौर्यकाल की शासन-व्यवस्था

कौटलीय अर्थशास्त्र—प्राचीन भारत की शासन संस्थाओ तथा राजनीतिक विचारों के परिज्ञान के लिए 'अर्थशास्त्र' का बहुत महत्त्व है। इसकी रचना चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधान मंत्री और गुरु चाणक्य ने की थी। इसीलिए इस ग्रन्थ में लिखा है—"जिसने बडे अमर्ष के साथ शास्त्र का, शस्त्र का और नन्दराज के हाथ मे गयी हुई पृथिवी का उद्धार किया, उसी ने इस शास्त्र की रचना की।" एक अन्य स्थान पर लिखा गया है—"सब शास्त्रो का अनुक्रम करके और प्रयोग समझकर कौटल्य ने नरेन्द्र के लिए यह शासन की विधि (व्यवस्था) बनाई।"

ऐतिहासिकों में इस बात पर बहुत विवाद रहा है, कि अर्थशास्त्र की रचना किसी एक विद्वान् द्वारा हुई या वह किसी सम्प्रदाय मे धीरे-धीरे चिरकाल तक विकसित होता रहा। क्या उसे मौर्य-युग में चाणक्य द्वारा बनाया गया, या बाद में चाणक्य के मन्तव्यो के अनुसार किसी अन्य व्यक्ति ने उसकी रचना की? हमे इस विवाद मे यहाँ पडने की आवश्यकता नही। बहुसख्यक विद्वानो ने अब स्वीकृत कर लिया है, कि कौटलीय अर्थशास्त्र मौर्य-काल की रचना है, और उसका निर्माण आचार्य चाणक्य द्वारा नरेन्द्र चन्द्रगुप्त के शासन की 'विधि' के रूप मे ही हुआ था। यदि इसके कुछ अंशों को बाद का भी बना हुआ माना जाय, तो भी इसमे तो कोई सन्देह नही कि इस ग्रन्थ से मौर्य-काल की शासन-व्यवस्था, आर्थिक दशा और सामाजिक व्यवहार के सम्बन्ध मे बहुत-सी ज्ञातव्य बातें मालूम हो जाती हैं। अर्थशास्त्र के अध्ययन से हम मौर्यकालीन भारत के विषय में जो जानकारी प्राप्त कर सकते है, वह प्राचीन भारत के किसी काल के सम्बन्ध मे किसी भी अन्य साधन से प्राप्त नही की जा सकती।

साम्राज्य का शासन—मौर्यों के समय मे मगध का साम्राज्य बहुत विस्तृत हो चुका था। यद्यपि सम्पूर्ण साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी, पर वहाँ से कंबोज, बंग और आंध्र तक विस्तृत साम्राज्य का शासन सुचारु रूप से नही किया जा सकता था। अतः शासन की दृष्टि से मौर्यों के अधीन सम्पूर्ण 'विजित' को पाँच भागों में बाँटा

गया था, जिनकी राजधानियाँ क्रमशः पाटलिपुत्र, तोसाली, उज्जयिनी, तक्षशिला और सुवर्णगिरि थीं। इन राजधानियों को दृष्टि में रखकर हम यह सहज में अनुमान कर सकते हैं, कि विशाल मौर्य-साम्राज्य पाँच चक्रो मे विभक्त था। ये चक्र (प्रान्त या सूबे) निम्नलिखित थे—(१) उत्तरापथ—जिसमे कम्बोज, गाधार, काश्मीर, अफगानिस्तान, पंजाब आदि के प्रदेश अन्तर्गत थे। इसकी राजधानी तक्षशिला थी। (२) पश्चिमचक्र—इसमें काठियावाड़-गुजरात से लगाकर राजपूताना, मालवा आदि के सब प्रदेश शामिल थे। इसकी राजधानी उज्जयिनी थी। (३) दक्षिणापथ—विन्ध्याचल के दक्षिण का सारा प्रदेश इस चक्र मे था, और इसकी राजधानी सुवर्णगिरि थी। (४) कलिंग—अशोक ने अपने नये जीते हुए प्रदेश का एक पृथक् चक्र बनाया था, जिसकी राजधानी तोसाली थी। (५) मध्य देश—इसमें वर्तमान बिहार, उत्तर-प्रदेश और बंगाल सम्मिलित थे। इसकी राजधानी पाटलिपुत्र थी। इन पाँचों चक्रों का शासन करने के लिए प्रायः राजकुल के व्यक्तियों को नियत किया जाता था, जिन्हे 'कुमार' कहते थे। कुमार अनेक महामात्यों की सहायता से अपने-अपने चक्र का शासन करते थे। अशोक और कुणाल राजा बनने से पूर्व उज्जयिनी, तक्षशिला आदि मे 'कुमार' रह चुके थे।

इन पाँच चक्रो के अन्तर्गत फिर अनेक छोटे शासन-केन्द्र भी थे, जिनमे 'कुमार' के अधीन महामात्य शासन करते थे। उदाहरण के लिए तोसाली के अधीन समापा में, पाटलिपुत्र के अधीन कौशाम्बी में और सुवर्णगिरि के अधीन इसिला मे महामात्य रहते थे। उज्जयिनी के अधीन सुराष्ट्र का एक पृथक् प्रदेश था, जिसका शासक चन्द्रगुप्त के समय मे वैश्य पुष्यगुप्त था। अशोक के समय मे वहाँ का शासन यवन तुषाष्प के अधीन था। मागध सम्राट् की ओर से जो आज्ञाएँ प्रचारित की जाती थी, वे चक्रो के 'कुमारो' के महामात्यों के नाम ही होती थी। यही कारण है, कि दक्षिणापथ में इसिला के महामात्यो के नाम अशोक ने जो आदेश भेजे, वे सुवर्णगिरि के कुमार व आर्यपुत्र के द्वारा भेजे गये। इसी प्रकार कलिंग मे समापा के महामात्यो को तोसाली के कुमार की मार्फत ही आज्ञा भेजी गई। पर मध्यदेश (राजधानी-पाटलिपुत्र) के चक्र पर किसी कुमार की नियुक्ति नहीं होती थी, उसका शासन सीधा सम्राट् के अधीन था। अतः उसके अन्तर्गत कौशाम्बी के महामात्यो को अशोक ने सीधे ही अपने आदेश दिये थे।

चक्रों के शासन के लिए कुमार की सहायतार्थ जो महामात्य नियुक्त होते थे, उन्हें शासन-सम्बन्धी बहुत अधिकार रहते थे। अतएव अशोक ने चक्रों के शासकों के नाम जो आज्ञाएँ प्रकाशित की, उन्हे केवल कुमार या आर्यपुत्र के नाम से नही भेजा गया, अपितु कुमार और महामात्य—दोनो के नाम से प्रेषित किया गया। इसी प्रकार जब कुमार भी अपने अधीनस्थ महामात्यो को कोई आज्ञा भेजते थे, तो उन्हे वे अपने नाम से नही, अपितु महामात्य-सहित कुमार के नाम से भेजते थे।

जनपद और ग्राम—मौर्य-साम्राज्य के पाँच मुख्य चक्र या विभाग थे, और फिर ये चक्र अनेक मंडलों में विभक्त थे। प्रत्येक मंडल मे बहुत-से जनपद होते थे। संभवतः, ये जनपद प्राचीन युग के जनपदों से ही प्रतिनिधि थे। शासन की दृष्टि से जनपदों के अनेक विभाग होते थे, जिन्हें कौटलीय अर्थशास्त्र में स्थानीय, द्रोणमुख,

खार्वटिक, संग्रहण और ग्राम कहा गया है। शासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम थी। दस ग्रामों के समूह को संग्रहण कहते थे। बीस संग्रहणो (या १०० ग्रामों) से एक खार्वटिक बनता था। दो खार्वटिको (या ४०० ग्रामों) से एक द्रोणमुख और २ द्रोणमुखों (८०० ग्रामो) से एक स्थानीय बनता था। संभवतः स्थानीय, द्रोणमुख, और खार्वटिक शासन की दृष्टि से एक ही विभाग को सूचित करते है। जनपद शासन के लिए जिन विभागो मे विभक्त होता था, उन्हे स्थानीय (संभवतः, वर्तमान समय का थाना) कहते थे। स्थानीय के छोटे विभागो को सग्रहण कहते थे। एक संग्रहण मे प्रायः दस ग्राम रहते थे। स्थानीय मे लगभग ८०० ग्राम हुआ करते थे। पर कुछ स्थानीय आकार मे छोटे होते थे, या कुछ प्रदेशो मे आबादी घनी न होने के कारण 'स्थानीय' मे गाँवो की सख्या कम रहती थी। ऐसे ही स्थानीयों को ग्रामो की संख्या के आधार पर द्रोणमुख और खार्वटिक कहा जाता था।

ग्राम का शासक ग्रामिक, सग्रहण का गोप और स्थानीय का स्थानिक कहलाता था। संपूर्ण जनपद के शासक को समाहर्ता कहते थे। समाहर्ता के ऊपर महामात्य होते थे, जो चक्रो के अन्तर्गत विविध मंडलो का शासन करने के लिए केन्द्रीय सरकार की ओर से नियुक्त किये जाते थे। इन मडल-महामात्यो के ऊपर कुमार और उसके सहायक अन्य महामात्य रहते थे। सबसे ऊपर पाटलिपुत्र का मौर्य-सम्राट था।

शासक वर्ग—शासनकार्य मे सम्राट् की सहायता करने के लिए एक मंत्रि-परिषद् होती थी। कौटलीय अर्थशास्त्र मे इस मत्रिपरिषद् का विस्तार से वर्णन किया गया है। अशोक के शिलालेखो मे भी उसकी परिषद् का बार-बार उल्लेख है। चक्रों के शासक कुमार भी जिन महामात्यो की सहायता से शासन काय करते थे, उनकी भी एक परिषद् होती थी। केन्द्रीय सरकार की ओर से जो राज-कर्मचारी साम्राज्य मे शासन के विविध पदो पर नियुक्त थे, उन्हे 'पुरुष' कहते थे। ये पुरुष उत्तम, मध्यम और हीन—इन तीन दर्जो के होते थे। जनपदो के समूहो (मडलो) के ऊपर शासन करने वाले महामात्यो की सज्ञा सभवत प्रादेशिक या प्रदेष्टा थी। उनके अधीन जनपदो के शासक समाहर्ता कहलाते थे। नि सदेह, ये उत्तम 'पुरुष' होते थे। इनके अधीन 'युक्त' आदि विविध कर्मचारी मध्यम व हीन दर्जे मे रखे जाते थे।

स्थानीय स्वशासन—जनपदो के शासन का संचालन करने के लिए जहाँ केन्द्रीय सरकार की ओर से समाहर्त्ता नियत थे, वहाँ जनपदो की अपनी आतरिक स्वतन्त्रता भी अक्षुण्ण रूप से कायम थी। कौटलीय अर्थशास्त्र मे बार-बार इस बात पर जोर दिया गया है कि जनपदो, नगरो और ग्रामो के धर्म, चरित्र और व्यवहार को अक्षुण्ण रखा जाय। इसका अभिप्राय यह हुआ, कि इनमे अपना स्थानीय स्वशासन पुरानी परम्परा के अनुसार जारी था। सब जनपदो मे एक ही प्रकार की स्थानीय स्वतन्त्रता नही था। हम जानते हैं, कि मागध-साम्राज्य के विकास से पूर्व कुछ जनपदो में गणशासन और कुछ मे राजाओ का शासन था। उनके व्यवहार और धर्म अलग-अलग थे। जब वे मगध के साम्राज्यवाद के शिकार हो गये, तो भी उनमे अपनी पुरानी परम्परा के अनुसार स्थानीय शासन जारी रहा, और ग्रामो मे पुरानी ग्रामसभाओ और नगरो मे नगरसभाओ (पौरसभा) के अधिकार कायम रहे। ग्रामों के समूहों व जनपदों

में भी जनपद सभाओं की सत्ता विद्यमान रही। पर साथ ही केन्द्रीय सरकार की ओर से भी विविध करों को एकत्र करने तथा शासन का संचालन करने के लिए 'पुरुष' नियुक्त होते रहे।

मौर्य-साम्राज्य के शासन का यही स्थूल ढाँचा है।

विजिगीषु राजर्षि सम्राट्—विविध जनपदो और गणराज्यो को जीतकर जिस विशाल मागध साम्राज्य का निर्माण हुआ था, उसका केन्द्र राजा या सम्राट् था। चाणक्य के अनुसार राज्य के सात अंगो मे केवल दो की मुख्यता है, राजा की और देश की। इसी लिए उन्होंने राजा की वैयक्तिक योग्यता को बहुत महत्त्व दिया है। उनके अनुसार राजा को आदर्श व्यक्ति होना चाहिए।

पर चाणक्य यह भी समझते थे कि राजा के पद के लिए आदर्श पुरुष सुगमता से नही मिल सकता, यद्यपि एक कुलीन और होनहार व्यक्ति को बचपन से ही उचित शिक्षा देकर उसे एक आदर्श राजा बनने के लिए तैयार किया जा सकता है। चाणक्य ने उस शिक्षा और विनय का विस्तार मे वर्णन किया है, जो बचपन और युवावस्था मे राजा को दी जानी चाहिए। राजा के लिए आवश्यक है, कि वह काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और हर्ष—इन छः शत्रुओं को परास्त कर अपनी इन्द्रियों पर पूर्णतया विजय करे। उसके समय का एक-एक क्षण काम मे लगा हो। दिन मे तो उसे बिलकुल भी विश्राम नही करना चाहिए। रात को भी उसे तीन घटे से अधिक सोने की आवश्यकता नही। रात और दिन मे उसके समय का पूरा-पूरा कार्यक्रम चाणक्य ने दिया है। भोग-विलास, नाच-रग आदि के लिए कोई भी समय इसमे नही रखा गया। चाणक्य का राजा एक राजर्षि है, जो सर्वगुणसम्पन्न आदर्श पुरुष है, जिसका एकमात्र लक्ष्य विजिगीषा है। वह सम्पूर्ण जनपदों को विजय कर अपने अधीन करने के लिए प्रयत्नशील है। चातुरग साम्राज्य की कल्पना को उसे कार्यरूप मे परिणत करना है। उसका मंतव्य है, कि 'सारी पृथिवी एक देश है। उसमें हिमालय से लेकर समुद्र पर्यन्त सीधी रेखा खीचने से जो एक हजार योजन विस्तीर्ण प्रदेश है, वह एक चक्रवर्ती राज्य का क्षेत्र है।' इस स्वप्न को जिस व्यक्ति को 'कूटस्थानीय' होकर पूरा करना हो, वह यदि सर्वगुणसम्पन्न न हो, राजर्षि का जीवन न व्यतीत करे, और काम, क्रोध आदि शत्रुओं का शिकार हो, तो वह कैसे सफलता प्राप्त कर सकता है? अत. कौटलीय अर्थशास्त्र के विजिगीषु राजा को पूर्ण पुरुष होकर राजर्षि का जीवन व्यतीत करते हुए अपना कार्य करना चाहिए।

मन्त्रिपरिषद्—आचार्य चाणक्य के अनुसार राजवृत्ति तीन प्रकार की होती है—प्रत्यक्ष, परोक्ष और अनुमेय। जो अपने सामने हो, वह प्रत्यक्ष है। जो दूसरे बताएँ, वह परोक्ष है। किए हुए कर्म से बिना किए कर्म का अन्दाज करना अनुमेय कहलाता है। सब काम एक साथ नही होते। राजकर्म बहुत-से होते हैं, और बहुत-से स्थानों पर होते है। अतः एक राजा सारे राजकर्म अपने आप नही कर सकता। इसलिए उसे अमात्यों की नियुक्ति करने की आवश्यकता होती है। इसीलिए यह भी आवश्यक है, कि मन्त्री नियत किए जाएँ, जो परोक्ष और अनुमेय राजकर्मों के सम्बन्ध मे राजा को परामर्श देते रहें। राज्य-कार्य सहायता के बिना सिद्ध नही हो सकता। एक पहिये से

राज्य की गाडी नहीं चल सकती, इसलिए राजा सचिवों की नियुक्ति करे, और उनकी सम्मति को सुने। अच्छी बड़ी मन्त्रिपरिषद् को रखना राजा के अपने लाभ के लिए है, इससे उसकी अपनी 'मन्त्रशक्ति' बढती है। परिषद् मे कितने मन्त्री हों, इस विषय में विविध आचार्यों के विविध मत थे। मानव, बार्हस्पत्य औशनस आदि सम्प्रदायों के मत में मन्त्रिपरिषद् मे क्रमशः बारह, सोलह और बीस मन्त्री होने चाहिएँ। पर चाणक्य किसी निश्चित संख्या के पक्ष में नही थे। उनका मत था कि जितनी सामर्थ्य हो, जितनी आवश्यकता हो, उतने ही मन्त्री परिषद् मे रख लिए जाएँ।

बडी मन्त्रिपरिषद् के अतिरिक्त एक छोटी उप-समिति भी होती थी, जिसमें तीन या चार खास मन्त्री रहते थे। इसे 'मन्त्रिणः' कहा जाता था। जरूरी मामलों पर इससे सलाह ली जाती थी। राजा प्रायः अपने 'मन्त्रिणः' और 'मन्त्रिपरिषद' के परामर्श से ही राजकार्य का संचालन करता था। मन्त्रिपरिषद् में जो बात भूयिष्ठ (अधिक संख्या के) कहें, उसी के अनुसार कार्य करना उचित था। पर यदि राजा को भूयिष्ठ की बात 'कार्यसिद्धिकर' प्रतीत न हो, तो वह उसी सलाह को माने, जो उसकी दृष्टि मे कार्यसिद्धिकर है। मन्त्रिपरिषद् मे केवल ऐसे ही व्यक्तियों को नियत किया जाय, जो 'सर्वोपधाशुद्ध' हो, अर्थात् सब प्रकार से परीक्षा करके जिनके विषय मे यह निश्चित हो जाए, कि वे सब प्रकार के दोषों व निर्बलताओ से विरहित हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है, कि मौर्यकाल मे राज्यकार्य मे परामर्श देने के लिए मन्त्रि-परिषद् की सत्ता थी। अशोक के शिलालेखों में जिसे 'परिषा' कहा है, वही कौटलीय अर्थशास्त्र की मन्त्रिपरिषद् है। पर इस परिषद् के मन्त्रियो की नियुक्ति न तो निर्वाचन से होती थी, और न इसके कोई कुलक्रमानुगत सदस्य ही होते थे। परिषद् के मन्त्रियों की नियुक्ति राजा अपनी स्वेच्छा से करता था। जिन अमात्यो व अन्य व्यक्तियों को वह 'सर्वोपधाशुद्ध' पाता था, उनमे से कुछ को आवश्यकतानुसार मन्त्रिपरिषद् में नियुक्त कर देता था। प्रायः राजा मन्त्रियो की सलाह के अनुसार कार्य करता था, पर यदि वह उनके मत को कार्यसिद्धिकर न समझे, तो अपनी इच्छानुसार भी कार्य कर सकता था। मागध-साम्राज्य मे केन्द्रीभूत कूटस्थानीय स्थिति राजा की ही थी। देश और प्रजा की उन्नति या अवनति उसी के हाथ मे थी, अत. उसके मार्ग में मन्त्रिपरिषद् बाधा नही डाल सकती थी। पर यदि राजा कुपथगामी हो जाए, राज्यकार्य की सर्वथा उपेक्षा कर ऐसे कार्यों मे लग जाए, जिनसे प्रजा का अहित हो, तो प्रकृतियो (मन्त्रियों और अमात्यों) को यह अधिकार अवश्य था, कि वे उसके विरुद्ध उठ खडे हो, और उसे बलात् ठीक मार्ग पर लाने का प्रयत्न करें। भारत की यही प्राचीन परम्परा थी। पुराने जनपदों में सभा-समिति या पौर-जानपद राजा को सन्मार्ग पर स्थिर रखने में सदा प्रयत्नशील रहते थे। मागध-साम्राज्य की मन्त्रिपरिषद् यद्यपि राजा की अपनी कृति थी, तथापि वह प्राचीन परिपाटी के अनुसार राजा को सुपथ पर लाने के कर्तव्य की उपेक्षा नही करती थी। यही कारण है, कि जब अशोक ने बौद्ध-संघ को अनुचित रूप से राज्यकोष से दान देने का विचार किया, तो युवराज सम्प्रति द्वारा अमात्यों ने उसे रुकवा दिया।

जनता का शासन—पर यदि मागध-साम्राज्य के शासन में 'कूटस्थानीय' राजा

का इतना महत्त्वपूर्ण स्थान था, और उसकी मन्त्रिपरिषद् उसकी अपनी नियत की हुई सभा होती थी, तो क्या मागध-राजाओं का शासन सर्वथा निरंकुश और स्वेच्छाचारी था ? यह ठीक है, कि अपने बाहुबल और सैन्यशक्ति से विशाल साम्राज्य का निर्माण करने वाले मागध सम्राटो पर अंकुश रखने वाली कोई अन्य सर्वोच्च सत्ता नही थी, और ये राजा ठीक प्रकार से प्रजा का पालन करें, इस बात की प्रेरणा देने वाली शक्ति उनकी अपनी योग्यता, अपनी महानुभावता और अपनी सर्वगुणसम्पन्नता के अतिरिक्त और कोई नही थी, पर मौर्यकाल मे देश के शासन मे जनता का भी हाथ अवश्य था। मागध साम्राज्य ने जिन विविध जनपदों को अपने अधीन किया था, उनके व्यवहार, धर्म और चरित्र अभी अक्षुण्ण थे। वे अपना शासन बहुत कुछ स्वयं ही करते थे। इस युग के शिल्पी और व्यवसायी जिन श्रेणियो मे संगठित थे, वे भी अपना शासन स्वयं ही करती थी। नगरों की पौर सभाएँ, व्यापारियो के पूग और निगम, तथा ग्रामों की ग्रामसभाएँ अपने आन्तरिक मामलों मे अब भी पूर्ण स्वतन्त्र थी। राजा लोग देश के प्राचीन परम्परागत धर्म का पालन कराते थे, और अपने 'व्यवहार' का निश्चय उसी के अनुसार करते थे। यह धर्म और व्यवहार सनातन थे, राजा की स्वेच्छा पर निर्भर नही थे। इन्हीं सबका परिणाम था, कि पाटलिपुत्र मे विजिगीषु राजर्षि राजाओ के रहते हुए भी जनता अपना शासन अपने आप करती थी।

नगरों का शासन—मौर्यकाल के नगरो मे स्थानीय स्वशासन की क्या दशा थी, इसका परिचय मैगस्थनीज के यात्रा-विवरण से मिलता है। उसके अनुसार पाटलिपुत्र की नगर-सभा छः उपसमितियो मे विभक्त थी। प्रत्येक उपसमिति के पाँच-पाँच सदस्य होते थे। इन उपसमितियों के कार्य निम्नलिखित थे—

पहली उपसमिति का कार्य औद्योगिक तथा शिल्प-सम्बन्धी कार्यों का निरीक्षण करना था। मजदूरी की दर निश्चित करना तथा इस बात पर विशेष ध्यान देना कि शिल्पी लोग शुद्ध तथा पक्का माल काम में लाते हैं, और मजदूरो के कार्य का समय तय करना इसी उपसमिति का कार्य था। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय मे शिल्पी लोगो का समाज में बडा आदर था। प्रत्येक शिल्पी राष्ट्र की सेवा मे नियुक्त माना जाता था। यही कारण हे, कि यदि कोई मनुष्य किसी शिल्पी के ऐसे अंग को विकल कर दे, जिससे कि उसके हस्तकौशल में न्यूनता आ जाए, तो उसके लिए मृत्युदण्ड की व्यवस्था थी।

दूसरी उपसमिति का कार्य विदेशियो का सत्कार करना था। वर्तमान समय के विदेश-मन्त्रालयों के अनेक कार्य यह समिति किया करती थी। जो विदेशी पाटलिपुत्र मे आएँ, उनपर यह उपसमिति निगाह रखती थी। साथ ही, विदेशियो के निवास, सुरक्षा और समय-समय पर औषधोपचार का कार्य भी इन उप-समिति के ही सुपुर्द था। यदि किसी विदेशी की पाटलिपुत्र मे मृत्यु हो जाए, तो उसके देश के रिवाज के अनुसार उसे दफनाने का प्रबन्ध भी इसी की तरफ से होता था। मृत परदेशी की जायदाद व सम्पत्ति का प्रबन्ध भी यही उपसमिति करती थी।

तीसरी उपसमिति का काम मर्दुमशुमारी करना होता था। मृत्यु और जन्म की सूची रखना इसी उपसमिति का कार्य था।

चौथी उपसमिति क्रय-विक्रय के नियमो का निर्धारण करती थी। भार और माप के परिमाणो को निश्चित करना, व्यापारी लोग उनका शुद्धता के साथ और सही-सही उपयोग करते हैं, इसका निरीक्षण करना इस उपसमिति का कार्य था।

पाँचवीं उपसमिति व्यापारियो पर इस बात के लिए कडा निरीक्षण रखती थी, कि वे नई और पुरानी वस्तुओं को मिलाकर तो नही बेचते। नई और पुरानी चीजों को मिलाकर बेचना कानून के विरुद्ध था।

छठी उपसमिति का कार्य क्रय-विक्रय पर टैक्स वसूल करना होता था। उस समय मे यह नियम था, कि कोई वस्तु जिस कीमत पर बेची जाए, उसका दसवाँ भाग कर-रूप मे नगरसभा को दिया जाए।

इस प्रकार छः उपसमितियो के पृथक्-पृथक् कार्यों का उल्लेख कर मैगस्थनीज ने लिखा है, कि "ये कार्य है, जो उपसमितियाँ पृथक् रूप से करती है। पर जहाँ उप-समितियो को अपने-अपने विशेष कार्यों को सम्पन्न करना होता है, वहाँ वे सब मिलकर सामूहिकरूप में सार्वजनिक या सार्वसामान्य हित के कार्यों पर भी ध्यान देती हैं, यथा सार्वजनिक इमारतों को सुरक्षित रखना, उनकी मरम्मत करना, कीमतो को नियन्त्रित करना, बाजार, बदरगाह और मन्दिरो पर ध्यान देना।"

मैगस्थनीज के इस विवरण से स्पष्ट है, कि मौर्य चन्द्रगुप्त के शासन में पाटलिपुत्र का शासन तीस नागरिको की एक सभा के हाथ मे था। संभवत, यही प्राचीन पौरसभा थी। इस प्रकार की पौरसभाएँ तक्षशिला, उज्जयिनी आदि अन्य नगरियो मे भी विद्यमान थी। जब उत्तरापथ के विद्रोह को शान्त करने के लिये कुमार कुणाल तक्षशिला गया था, तो वहाँ के 'पौर' ने उसका स्वागत किया था। अशोक के शिलालेखो मे भी ऐसे निर्देश विद्यमान है, जिनसे सूचित होता है कि उस समय के बड़े नगरो मे पौरसभाओ की सत्ता थी। जिस प्रकार मागध-साम्राज्य के अन्तर्गत विविध जनपदो मे अपने परम्पागत धर्म, व्यवहार और चरित्र विद्यमान थे, उसी प्रकार पुरो व नगरो मे भी थे। यही कारण है, कि नगरो के निवासी अपने नगर के शासन में पर्याप्त अधिकार रखते थे।

ग्रामों का शासन—जनपदो में बहुत-से ग्राम सम्मिलित होते थे, और प्रत्येक ग्राम शासन की दृष्टि से अपनी पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता रखता था। कौटलीय अर्थशास्त्र के अध्ययन से इन ग्राम-सस्थाओ के सम्बन्ध मे बहुत-सी बाते ज्ञात होती है। प्रत्येक ग्राम का अपना पृथक् शासक होता था, जिसे 'ग्रामिक' कहते थे। ग्रामिक ग्राम के अन्य निवासियों के साथ मिलकर अपराधियो को दड देता था, और किसी व्यक्ति को ग्राम से बहिष्कृत भी कर सकता था। ग्राम की अपनी सार्वजनिक निधि भी होती थी। जो जुर्माने ग्रामिक द्वारा वसूल किये जाते थे, वे इसी निधि मे जमा किये जाते थे। ग्राम की ओर से सार्वजनिक हित के कार्यों की व्यवस्था भी की जाती थी। जो लोग अपने सार्वजनिक कर्त्तव्य की उपेक्षा करते थे, उनपर जुर्माना किया जाता था। यह ग्राम-संस्था न्याय का भी कार्य करती थी। ग्रामसभाओ द्वारा बनाये गए नियम साम्राज्य के न्यायालयो में मान्य होते थे। 'अक्षपटल के अध्यक्ष' के कार्यों मे एक यह भी था, कि वह ग्राम-संघो के धर्म, व्यवहार, चरित्र आदि को निबन्धपुस्तकस्थ (रजिस्टर्ड) करे।

भारत की इन्हीं ग्राम-संस्थाओं के कारण यहाँ के निवासियों की वास्तविक स्वतन्त्रता सदा सुरक्षित रही है। इस देश की सर्वसाधारण जनता का बड़ा भाग सदा से ग्रामों में बसता आया है। ग्राम के निवासी अपने सुख व हित की अपने संघ मे स्वय व्यवस्था करते थे। अपने लिए वे स्वयं नियम बनाते थे, और अपने मनोरंजन का भी स्वयं ही प्रबन्ध करते थे। इस दशा मे साम्राज्य के अधिपति की निरंकुशता या एकसत्ता का उनपर विशेष असर नही होता था।

व्यवसायियों की श्रेणियाँ—मौर्यकाल के व्यवसायी और शिल्पी श्रेणियों (Guilds) मे संगठित थे। ये श्रेणियाँ अपने नियम स्वय बनाती थी, और अपने संघ में सम्मिलित शिल्पियो के जीवन व कार्य पर पूरा नियन्त्रण रखती थी। इनके नियम, व्यवहार और चरित्र आदि को भी राजा द्वारा स्वीकृत किया जाता था।

धर्म और व्यवहार—मौर्य-सम्राट् अपने साम्राज्य पर स्वेच्छाचारिता और निरंकुशता से शासन न कर धर्म और व्यवहार के अनुसार शासन करते थे। चाणक्य ने अर्थशास्त्र मे लिखा है, कि जो राजा धर्म, व्यवहार, संस्था और न्याय के अनुसार शासन करता है, वह चातुरन्त पृथिवी को विजय कर लेता है। चाणक्य के विजिगीषु राजा के लिये यह आवश्यक है, कि वह निरकुश और स्वेच्छाचारी न हो, अपितु धर्म, व्यवहार आदि के अनुसार ही शासन करे। अर्थशास्त्र मे यह विचार विद्यमान है, कि राजा जनता से जो छठा भाग कर के रूप मे लेता है, वह उसका एक प्रकार का वेतन है। इसके बदले मे वह प्रजा के योग-क्षेम का संपादन करता है। राजा को धर्म और न्याय के अनुसार शासन करना है, यह विचार प्राचीन समय मे इतना प्रबल था, कि आचार्य चाणक्य ने यह व्यवस्था की है कि यदि राजा किसी निरपराधी को दण्ड दे, तो राजा को उससे तीन गुना दण्ड दिया जाय।

जिस कानून के अनुसार राजा शासन करता था, उसके चार अग होते थे—धर्म, व्यवहार, चरित्र और राजशासन। इनमे से पिछला पहले का बाधक माना जाता था। यदि व्यवहार और चरित्र का राजशासन (राजा की आज्ञा) से विरोध हो, तो राजाज्ञा व्यवहार या चरित्र से अधिक महत्त्व की होगी। धर्म वे कानून थे, जो सत्य पर आश्रित शाश्वत नियम है। व्यवहार का निश्चय साक्षियों द्वारा किया जाता था। जो कानून पुराने समय से चले आते थे, उन्हें व्यवहार कहते थे। कौन-से नियम पुराने समय से चले आते है, इसका निर्णय साक्षियों द्वारा ही हो सकता था। चरित्र वे कानून थे, जो ग्राम, श्रेणी आदि विविध समूहो मे प्रचलित थे। इन सबसे ऊपर राजा की आज्ञा थी। पर मौर्य-काल के कानून मे धर्म, व्यवहार और चरित्र की सुनिश्चित स्थिति का होना इस बात का प्रमाण है, कि राजा शासन मे उन्हे पर्याप्त महत्त्व देते थे, और जनता की इच्छा और चरित्र की वे सर्वथा उपेक्षा नही कर सकते थे।

मगध के एकराट् राजाओ की अपार शक्ति के बावजूद जनता की स्वतन्त्रता इन विविध कारणो से सुरक्षित थी, और मौर्य-युग के भारतीय अनेक प्रकार से अपने साथ सम्बन्ध रखने वाले विषयों का स्वयं शासन व निर्धारण किया करते थे।

न्याय-व्यवस्था—विशाल मागध-साम्राज्य मे न्याय के लिए अनेकविध न्यायालय थे। सबसे छोटा न्यायालय ग्राम-संस्था (ग्रामसंघ) का होता था, जिसमे ग्राम

के निवासी अपने मामलों का स्वयं निबटारा करते थे। इसके ऊपर संग्रहण के, फिर द्रोणमुख के और फिर जनपद-संधि के न्यायालय होते थे। इनके ऊपर पाटलिपुत्र में विद्यमान धर्मस्थीय और कंटकशोधन न्यायालय थे। सबसे ऊपर राजा होता था, जो अनेक न्यायाधीशों की सहायता से किसी भी मामले का अन्तिम निर्णय करने का अधिकार रखता था। ग्राम-संघ और राजा के न्यायालय के अतिरिक्त बीच के सब न्यायालय धर्मस्थीय और कंटकशोधन, इन दो भागों में विभक्त रहते थे। धर्मस्थीय न्यायालयो के न्यायाधीश धर्मस्थ या व्यावहारिक कहलाते थे, और कंटकशोधन के प्रदेष्टा।

धर्मस्थीय—इन दोनों प्रकार के न्यायालयो में किन-किन बातों के मामलों का फैसला होता था, इसकी विस्तृत सूची कौटलीय अर्थशास्त्र में दी गई है। धर्मस्थीय में प्रधानतया निम्नलिखित मामले पेश होते थे—दो व्यक्तियो या व्यक्ति-समूहों के आपस के व्यवहार के मामले; आपस में जो 'समय' (कट्रैक्ट) हुआ हो उसके मामले; स्वामी और भृत्य के झगडे; दासो के झगड़े, ऋण को चुकाने के मामले; धन को अमानत पर रखने से पैदा हुए विवाद; क्रय-विक्रय सम्बन्धी मामले; दिये हुए दान को फिर लौटाने या प्रतिज्ञात दान को न देने का मामला, डाका, चोरी या लूट के मुकदमे; किसी पर हमला करने का मामला; गाली, कुवचन या मानहानि के मामले; जुए सम्बन्धी झगडे; मिल्कियत के बिना ही किसी सम्पत्ति को बेच देना; मिल्कियत सम्बन्धी विवाद; सीमा सम्बन्धी झगडे; इमारतों के बनाने के कारण उत्पन्न मामले; चरागाहों, खेतो, और मार्गों को क्षति पहुँचाने के मामले, पति-पत्नी सम्बन्धी मुकदमे; स्त्री-धन सम्बन्धी विवाद; संपत्ति के बँटवारे और उत्तराधिकार-सम्बन्धी झगडे; सहोद्योग, कम्पनी तथा साझे के मामले; विविध रुकावटें पैदा करने के मामले; न्यायालय में स्वीकृत निर्णयविधि मे रुकावट पैदा करने के मामले; न्यायालय में स्वीकृत निर्णयविधि-सम्बन्धी विवाद और विविध मामले।

कण्टकशोधन न्यायालय—कण्टकशोधन न्यायालयों मे निम्नलिखित मामले पेश होते थे—शिल्पियो व कारीगरो की रक्षा तथा उनसे दूसरों की रक्षा, व्यापारियों की रक्षा तथा उनसे दूसरो की रक्षा, राष्ट्रीय व सार्वजनिक आपत्तियों के निराकरण-सम्बन्धी मामले; नियम-विरुद्ध उपायो से आजीविका चलाने वाले लोगो की गिरफ्तारी; अपने गुप्तचरों द्वारा अपराधियो को पकड़ना; सन्देह होने पर या वस्तुतः अपराध करने पर गिरफ्तारी; मृतदेह की परीक्षा कर मृत्यु के कारण का पता लगाना; अपराध का पता करने के लिए विविध प्रकार के प्रश्नो तथा शारीरिक कष्टो का प्रयोग; सरकार के सम्पूर्ण विभागों की रक्षा, अग काटने की सजा मिलने पर उसके बदले मे जुर्माना देने के आवेदन-पत्र; शारीरिक कष्ट के साथ या उसके बिना मृत्यु दण्ड देने का निर्णय, कन्या पर बलात्कार, और न्याय का उल्लंघन करने पर दण्ड देना।

ऊपर की सूचियो से स्पष्ट है, कि धर्मस्थीय न्यायालयों मे व्यक्तियों के आपस के मुकदमे पेश होते थे। इसके विपरीत कण्टकशोधन न्यायालयो मे वे मुकदमे उपस्थित किये जाते थे, जिनका सम्बन्ध राज्य से होता था। कण्टकशोधन का अभिप्राय ही यह है, कि राज्य के कण्टकों (काँटो) को दूर करना।

राजकीय आय-व्यय—कौटलीय अर्थशास्त्र में राजकीय आय के निम्नलिखित साधनों का विस्तार से वर्णन किया गया है—

१. **भूमिकर**—जमीन से राज्य को दो प्रकार से आमदनी होती थी, सीता और भाग। राज्य की अपनी जमीनो से जो आमदनी होती थी, उसे सीता कहते थे। जो जमीनें राज्य की अपनी सम्पत्ति नही थी, उनसे 'भाग' वसूल किया जाता था।

२. **तटकर**—मौर्यकाल मे तटकर दो प्रकार के होते थे, निष्क्राम्य (निर्यातकर) और प्रवेश्य (आयात-कर)। आयात माल पर कर की मात्रा प्राय: २० फीसदी थी। कुछ देशों के साथ आयात-कर के सम्बन्ध मे रियायत भी की जाती थी। इसे 'देशोपकार' कहते थे। निर्यात माल पर भी कर लिया जाता था, यह तो कौटलीय अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है, पर इस कर की दरें क्या थी, इस सम्बन्ध मे कोई सूचना चाणक्य ने नही दी।

३. **बिक्री पर कर**—मौर्यकाल मे बिक्री पर भी टैक्स लेने की व्यवस्था थी। चाणक्य ने लिखा है, कि उत्पत्तिस्थान पर कोई भी पदार्थ बेचा नही जा सकता। कोई भी वस्तु विक्रय-कर से न बच सके, इसलिए यह नियम बनाया गया था। सब माल पहले शुल्काध्यक्ष के पास लाया जाता था। कर दे देने के बाद उस पर 'अभिज्ञानमुद्रा' लगायी जाती थी। उसके बाद ही माल की बिक्री हो सकती थी, पहले नहीं।

४. **प्रत्यक्ष कर**—मौर्य युग में जो विविध प्रत्यक्ष-कर लगाये जाते थे, उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—(क) तोल और नाप के परिमाणों पर—इनपर चार माषक कर लिया जाता था। प्रामाणिक बट्टो या माप के साधनो को काम मे न लाने पर दण्ड के रूप में २७$\frac{1}{4}$ पण जुरमाना लिया जाता था। (ख) जुआरियों पर—जुआ खेलने की अनुमति लेने पर कर देना पडता था, और जो-कुछ जुए मे जीता जाए, उसका ५ फीसदी राज्य ले लेता था। (ग) रूप से आजीविका चलाने वाली वेश्याओ से दैनिक आमदनी का दुगना प्रतिमास कर रूप मे लिया जाता था। इसी प्रकार के कर नटों, नाटक करने वालों, रस्सी पर नाचने वालो, गायको, वादकों नर्तकों व अन्य तमाशा दिखाने वालों से भी वसूल करने का नियम था। पर यदि ये लोग विदेशी हों, तो इनसे पाँच पण अतिरिक्त-कर भी लिया जाता था। (घ) धोबी, सुनार व इसी तरह के अन्य शिल्पियों पर अनेक कर लगाये जाते थे। इन्हें अपना व्यवसाय चलाने के लिए एक प्रकार का लाइसेंस भी लेना होता था।

५. **राज्य द्वारा अधिकृत व्यवसायों से आय**—राज्य का जिन व्यवसायों पर पूरा आधिपत्य था, उनमे खानें, जंगल, नमक की उत्पत्ति और अस्त्र-शस्त्र का कारोबार मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त शराब का निर्माण भी राज्य के ही अधीन था। इन सबसे राज्य को अच्छी आमदनी होती थी। अनेक व्यापारों पर भी राज्य का स्वत्व उस युग में विद्यमान था। राज्य की ओर से जो पदार्थ बिक्री के लिए तैयार होते थे, उनकी बिक्री भी वह स्वयं करता था।

६. **जुरमानों से आय**—मौर्यकाल में अनेक अपराधो के लिए दण्ड के रूप मे जुरमाना लिया जाता था।

७. **विविध**—मुद्रापद्धति पूर्णतया राज्य के हाथ में होती थी। रूप्य, पण

आदि सिक्के टकसाल मे बनते थे। जो व्यक्ति चाहे अपनी धातु ले जाकर टकसाल में सिक्के ढलवा सकता था। पर इसके लिए १३½ फीसदी प्रीमियम देना पड़ता था। जो कोई सरकारी टकसाल मे नियमानुसार सिक्के न बनवाकर स्वयं बनाता था, उसपर २५ पण जुरमाना किया जाता था। गरीब और अशक्त व्यक्तियों के गुजारे का प्रबन्ध राज्य करता था। पर इस तरह के लोगों से सूत कातने, कपडा बुनने, रस्सी बँटने आदि के काम भी लिये जाते थे। राज्य को इनसे भी कुछ आमदनी हो जाती थी।

इन सब के अतिरिक्त आपत्काल मे सम्पत्ति पर अन्य भी अनेक प्रकार के कर लगाये जाते थे। अर्थशास्त्र में इनका विस्तार से वर्णन किया गया है। सोना-चाँदी, मणिमुक्ता का व्यापार करने वाले धनी लोगों से ऐसे अवसरो पर उनकी आमदनी का ६० फीसदी कर मे ले लिया जाता था। अन्य प्रकार के व्यापारियों व व्यवसायियो से भी ऐसे अवसरो पर विशेष करो की व्यवस्था थी, जिनकी मात्रा ५० फीसदी से ५ फीसदी तक होती थी। मन्दिरों और धार्मिक सस्थाओं से भी ऐसे अवसरो पर उपहार और दान लिये जाते थे। जनता से अनुरोध किया जाता था, कि आपत्काल में उदारता के साथ राज्य को धन प्रदान करें। इसके लिए दानियों का अनेक प्रकार से सम्मान भी किया जाता था।

राजकीय व्यय—राज्य को विविध करो से जो आमदनी होती थी, उसके व्यय के सम्बन्ध मे भी बहुत-सी उपयोगी बाते कौटलीय अर्थशास्त्र से ज्ञात होती हैं।

१. राजकर्मचारियों के वेतन—अर्थशास्त्र मे विविध राज-कर्मचारियो के वेतनो की दरें दी गई हैं। इनमे मंत्री, पुरोहित, सेनापति जैसे बडे पदाधिकारियो का वेतन ४००० पण मासिक दिया गया है। प्रशास्ता, समाहर्त्ता और आंतर्वशिक सदृश कर्मचारियो को २००० पण मासिक; नायक, व्यावहारिक, अन्तपाल आदि को १००० पण मासिक; अश्वमुख्य, रथमुख्य आदि को ६६० पण माणिक; विविध अध्यक्षो को ३३० पण मासिक; पदाति सैनिक, लेखक, सख्यापक आदि को ४२ पण मासिक और अन्य छोटे-छोटे कर्मचारियो को ५ पण मासिक वेतन मिलता था।

२. सैनिक व्यय—सेना के विविध सिपाहियो व आफिसरो को किस दर से वेतन मिलता था, इसका भी पूरा विवरण अर्थशास्त्र में दिया गया है। मैगस्थनीज के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य की सेना मे ६ लाख पदाति, तीस हजार अश्वारोही, ९००० हाथी और ८००० रथ थे। यदि अर्थशास्त्र मे लिखे दर से इन्हें वेतन दिया जाता हो, तो पदाति सैनिको के वेतन मे ही लगभग तीस करोड पण प्रतिवर्ष खर्च हो जाता था।

३. शिक्षा—मौर्यकाल मे जो व्यय राज्य की ओर से शिक्षा के लिए किया जाता था, उसे देवपूजा कहते थे। अनेक शिक्षणालयों का सचालन राज्य की ओर से भी होता था, और इनके शिक्षको को राजा की ओर से वेतन मिलता था। इसे भृति या वृत्ति न रहकर 'पूजावेतन' (आनरेरियम) कहते थे।

४. दान—बालक, वृद्ध, व्याधिपीडित, आपत्तिग्रस्त और इसी तरह के अन्य व्यक्तियो का भरण-पोषण राज्य की ओर से होता था। इस खर्च को दान कहते थे।

५. सहायता—मैगस्थनीज के अनुसार शिल्पी लोगो को राज्य कोष से अनेक प्रकार से सहायता दी जाती थी। इसी तरह, कृषकों को भी विशेष दशाओ मे राज्य

की ओर से सहायता प्राप्त होती थी। उन्हें समय-समय पर न केवल करो से मुक्त ही किया जाता था, अपितु राज्यकोष से धन भी दिया जाता था।

६. **सार्वजनिक आमोद-प्रमोद**—इस विभाग में वे पुण्यस्थान, उद्यान, चिडिया-घर आदि अन्तर्गत थे, जिनका निर्माण राज्य की ओर से किया जाता था। राज्य की ओर से पशु, पक्षी आदि जन्तुओ के बहुत-से 'वाट' भी बनाये जाते थे, जिनका प्रयोजन जनता का मनोरंजन था।

७. **सार्वजनिक हित के कार्य**—मौर्यकाल मे जनता की स्वास्थ्यरक्षा, चिकित्सालय आदि का राज्य की ओर से प्रबन्ध किया जाता था। दुर्भिक्ष, आग, महामारी आदि आपत्तियों से भी जनता की रक्षा की जाती थी। जहाँ जल की कमी हो, वहाँ कूप, तड़ाग आदि बनवाने पर विशेष ध्यान रखा जाता था।

८. **राजा का वैयक्तिक खर्च**—मौर्यकाल मे राजा का वैयक्तिक खर्च भी कम नही था। अन्तःपुर बहुत शानदार और विशाल बनाये जाते थे। सैकड़ो दौवारिक और हजारो आन्तर्वशिक सैनिक हमेशा राजमहल मे विद्यमान रहते थे। राजा बहुत शान के साथ रहता था। उसके निजी ठाट-बाट मे भी बहुत अधिक व्यय होता था। केवल महानस (रसोई) का खर्च इतना अधिक था, कि चाणक्य ने व्यय के विभागो मे इसका पृथक् रूप से उल्लेख किया है। राजप्रासाद की अपनी सूना (बूचडखाना) पृथक् होती थी। राजमहल और अन्त पुर के निवासी स्त्री-पुरुषो की संख्या हजारो मे पहुँचती थी। राजा के परिवार के विविध व्यक्तियो को राजकोष से बाकायदा वेतन दिया जाता था। इसकी दर भी बहुत अधिक होती थी। युवराज, राजमाता और राजमहिषी को चार-चार हजार पण मासिक और कुमारमाता को एक हजार पण मासिक वेतन मिलता था। यह उनकी अपनी निजी आमदनी थी, जिसे वे स्वेच्छा से खर्च कर सकते थे।

मर्दमशुमारी—मौर्ययुग मे मनुष्य गणना प्रतिवर्ष होती थी। इसके लिए सरकार का एक स्थिर विभाग होता था, जो मनुष्यो की संख्या को अपनी निबन्धपुस्तको मे दर्ज रखता था। केवल मनुष्यो की ही गणना नही होती थी, अपितु पशु व जन्तु भी गिने जाते थे। समाहर्ता और नागरिक की ओर से यह कार्य गोप नाम के राजपुरुष (जो प्रायः दस ग्रामो के शासक होते थे) किया करते थे। ये राजपुरुष प्रत्येक ग्राम की निबन्धपुस्तक मे निम्नलिखित बातें दर्ज करते थे :—

(१) गाँवो मे चारो वर्णों के कितने-कितने आदमी है। (२) कितने किसान हैं। (३) कितने गोरक्षक या ग्वाले है। (४) कितने सौदागर हैं। (५) कितने कारीगर है। (६) कितने नौकर हैं। (७) कितने दास है। (८) कितने दो पैरो वाले जन्तु है। (९) कितने चौपाये हैं। (१०) गाँव मे कुल धन कितना है। (११) गाँव से कितनी बेगार मिल सकती है। (१२) गाँव से चुगी की आमदनी कितनी है। (१३) गाँव को जुर्मानो द्वारा कितनी आमदनी होती है। (१४) कितने मकान है, जिनसे कर मिलता है। (१५) ग्राम के निवासियों में कितने पुरुष, कितनी स्त्रियाँ, कितने वृद्ध और कितने बालक हैं। (१६) कितने घर है, जिनसे कर नही मिलता। (१७) निवासियो के चरित्र किस तरह के हैं। (१८) उनके पेशे क्या-क्या है। (१९) आमदनी कितनी है। (२०) उनका खर्च कितना है।

गुप्तचर विभाग—विजिगीषु मौर्य सम्राटों के लिए गुप्तचर विभाग को उन्नत करना परम आवश्यक था। चाणक्य ने इस विभाग का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है। मुख्यतया निम्नलिखित प्रयोजनों से गुप्तचरो का प्रयोग होता था :—

१. अमात्यों पर निरीक्षण रखने के लिए—अमात्य पद पर केवल वे ही व्यक्ति नियत किये जाते थे, जिनकी पहले गुप्तचरों द्वारा पूरी परीक्षा ले ली जाती थी। पुरोहित, सेनापति आदि सब महामात्यो की परीक्षा के लिए अनेकविध उपाय कौटलीय अर्थशास्त्र में लिखे है। नियुक्ति के बाद भी अमात्यो के 'शौच' और 'अशौच' का पता गुप्तचर लोग लगाते रहते थे।

२. पौर और जानपद लोगो की भावनाओ का पता लगाने के लिए भी गुप्तचर नियत किये जाते थे। जनता मे किस बात से असन्तोष है, देश के धनी-मानी प्रभावशाली लोगो के क्या विचार है, अधीनस्थ सामन्तो का क्या रुख है, इन सब बातो का पता लेकर गुप्तचर राजा को सूचना भेजते रहते थे।

३. गुप्तचर लोग विदेशों मे भी काम करते थे। पड़ोसी शत्रुदेश व विदेशीराज्यों की गतिविधि, विचार, भाव आदि का पता करने के लिए गुप्तचर सदा सचेष्ट रहते थे।

गुप्तचर-विभाग के केन्द्र अनेक स्थानों पर होते थे। इन केन्द्रो को 'मस्थ:' कहते थे। गुप्तचर जिस किसी रहस्य का पता लगाते थे, उसे अपने साथ सम्बद्ध 'संस्था' मे पहुँचा देते थे। वहाँ से वह बात उपयुक्त राजकर्मचारी के पास पहुँच जाती थी।

डाक प्रबन्ध—कौटलीय अर्थशास्त्र मे कुछ निर्देश ऐसे आते हैं, जिनसे उस समय के डाक प्रबन्ध पर प्रकाश पड़ता है। उस समय सन्देश भेजने के लिए कबूतरों का प्रयोग किया जाता था। कपोतो के गले आदि मे पत्र बाधकर उन्हे उड़ा दिया जाता था। खूब सधे हुए कबूतर ठीक स्थान पर पहुँचने में समर्थ होते थे।

राजशक्ति पर जनता का प्रभाव—मौर्यकाल की शासन-व्यवस्था के प्रकरण को समाप्त करने से पूर्व राजशक्ति पर कुछ ऐसे प्रभावो का उल्लेख करना आवश्यक है, जिनकी उपेक्षा शक्तिशाली से शक्तिशाली सम्राट् भी नही कर सकता था। इस प्रकार का एक प्रभाव ब्राह्मण-श्रमणो का था। यद्यपि ये लोग नगर से बाहर जंगलों मे निवास करते थे, पर देश की घटनाओ और नीति पर उनकी सदा दृष्टि रहती थी। जब वे देखते थे कि राजा कुमार्ग मे प्रवृत्त हो रहा है, तो उसका विरोध करना उनका कर्त्तव्य हो जाता था। इसीलिए चाणक्य ने लिखा है 'यदि ठीक तरह शासन न किया जाय या राजनीति मे काम, क्रोध, और अज्ञान आ जाय, तो वानप्रस्थ और परिव्राजक लोग भी कुपित हो जाते हैं।' ये वानप्रस्थ ब्राह्मण बहुत सादगी और गरीबी के साथ जगलो में निवास किया करते थे। राज्य पर इनका प्रभाव बहुत अधिक होता था। चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन से कुछ पूर्व ही जब सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया, तो उसकी भेंट ऐसे अनेक नीतिज्ञ ब्राह्मणों से हुई थी। ये ब्राह्मण सिकन्दर के विरुद्ध भारतीय राजाओं को उभार रहे थे। एक ऐसे ब्राह्मण से सिकन्दर ने पूछा—'तुम क्यों इस राजा को मेरे विरुद्ध भड़काते हो।' ब्राह्मण ने उत्तर दिया—'मैं चाहता हूँ, कि यदि वह जीए, तो सम्मानपूर्वक जीए, नही तो सम्मानपूर्वक मर जाए।' कहा जाता है कि एक अन्य ब्राह्मण सन्यासी सिकन्दर के पास आया और बोला—'तुम्हारा राज्य एक

सूखी हुई खाल की तरह है, जिसका कोई गुरुता-केन्द्र नहीं होता। जब सिकन्दर राज्य के एक पार्श्व पर खड़ा होता है, तो दूसरा पार्श्व विद्रोह कर देता है।' तक्षशिला के एक वृद्ध दंडी को सिकन्दर के सम्मुख यह डर दिखाकर बुलाने की कोशिश की गई कि 'सिकन्दर तो दुनिया के मालिक द्यौः का पुत्र है, यदि तुम उसके सामने नही आओगे, तो वह तुम्हारा सिर धड से अलग कर देगा।' यह सुनकर दंडी ने उपेक्षाजनक हँसी हँसकर उत्तर दिया—'मैं भी द्यौः का उसी तरह पुत्र हूँ, जिस तरह सिकन्दर। मैं अपने देश भारत से पूर्णतया सन्तुष्ट हूँ, जो माता की तरह मेरा पालन करता है।' उस दंडी ने व्यंग्य से यह भी कहा 'यदि सिकन्दर गंगा के पार के प्रदेश में जायगा, तो (नंद की सेना) उसे विश्वास दिला देगी, कि वह अभी सारे संसार का स्वामी नही बना है।'

इसमे कोई सन्देह नही कि ऐसे ब्राह्मणों की निर्भीक वृत्ति का राज्य पर बडा प्रभाव पड़ता था। राजा की अनीति को रोकने मे ये बहुत सहायक होते थे। राजाओं के कुमार्गगामी हो जाने पर जब तपस्वी ब्राह्मण कुपित हो जाते थे, तो स्थिति को सभालना कठिन हो जाता था। नन्द के शक्तिशाली वँश का पतन आचार्य चाणक्य के कोप से ही हुआ था। वह नन्द की अनीति को देखकर उसके विरुद्ध उठ खड़ा हुआ था।

ब्राह्मण तपस्वियो के कोप की अपेक्षा भी जनता का कोप अधिक भयंकर माना जाता था। आचार्य चाणक्य ने लिखा है—'जनता का कोप सब कोपो से बढकर है।' चाणक्य भलीभाँति समझता था, कि 'चाहे राजा न भी हो, पर यदि जनता की अवस्था उत्तम हो, तो राज्य अच्छी तरह चल सकता है।' राज्य के सम्बन्ध मे यह परम्परागत सिद्धान्त मौर्यकाल में भी मान्य समझा जाता था कि प्रजा के सुख मे ही राजा का सुख है, प्रजा के हित मे ही राजा का हित है। हितकर बात वह नही है, जो राजा को अच्छी लगती है। हितकर बात तो वह है, जो प्रजा को प्रिय लगती है।'

(३) मौर्य-काल का आर्थिक जीवन

कृषि—मौर्यकाल मे भी भारत का मुख्य व्यवसाय कृषि ही था। मैगस्थनीज ने लिखा है 'दूसरी जाति मे किसान लोग हैं, जो सख्या मे सबसे अधिक हैं। युद्ध करने तथा अन्य राजकीय कर्त्तव्यों से मुक्त होने के कारण वे अपना सारा समय खेती में लगाते हैं।' किसानों की अवस्था उस समय बहुत सन्तोषजनक थी। वर्षा की प्रचुरता के कारण दो फसलें साल मे हो जाती थी, और किसान नानाविध अन्नो तथा अन्य पदार्थों को उत्पन्न कर सकते थे। इस विषय मे मैगस्थनीज का निम्नलिखित उद्धरण ध्यान देने योग्य हैं :—

"भूमि पशुओ के निर्वाह योग्य चारा तथा अन्य खाद्य पदार्थ भी प्रदान करती है। अतः यह माना जाता है कि भारतवर्ष मे अकाल कभी नही पड़ा, और खाने की वस्तुओं की महँगाई भी साधारणतया कभी नही हुई है। चूँकि यहाँ साल में दो बार वर्षा होती है; एक जाड़े में, जबकि गेहूँ की बुआयी होती है, और दूसरी गर्मी के दौरान मे, जबकि तिल और ज्वार के बोने का उपयुक्त समय होता है, अतः भारत के

किसान प्रायः सदा साल में दो फसलें काटते हैं। यदि उनमें से एक फसल कुछ बिगड़ भी जाती हैं, तो लोगों को दूसरी फसल का पूरा विश्वास रहता है।

"भारतवासियो मे बहुत-सी ऐसी प्रथाएँ भी हैं, जो वहाँ अकाल पडने की संभावना को रोकने में सहायता देती हैं। दूसरी जातियो मे युद्ध के समय भूमि को नष्ट करने और इस प्रकार उसे परती व ऊसर कर डालने की चाल है। पर इसके विरुद्ध भारतवासियो मे जो कृषक समाज को पवित्र व अवध्य मानते हैं, भूमि जोतने वाले किसी प्रकार के भय की आशका से विचलित नही होते, चाहे उनके पडोस में ही युद्ध क्यो न हो रहा हो। दोनो पक्षो के लडने वाले युद्ध के समय एक-दूसरे का संहार करते हैं, परन्तु जो लोग खेती मे लगे हुए हैं, उन्हे पूर्णतया निर्विघ्न अपना काम करने देते है। साथ ही न वे शत्रु देश का अग्नि से सत्यानाश करते हैं, और न उसके पेड काटते हैं।"

मौर्यकाल मे भी खेती के लिए हल और बैलों का प्रयोग होता था। भूमि को खूब अच्छी तरह हल चलाकर तैयार किया जाता था। फिर उसमे नानाविध खादों को डालकर भूमि की उपज शक्ति को बढ़ाया जाता था। खाद के लिए गोबर, हड्डी और राख का प्रयोग होता था।

सिंचाई के लिए निम्नलिखित साधन प्रयुक्त होते थे--(१) हस्तप्रावर्तिमम्--डोल, चरस आदि द्वारा कुएँ से पानी निकालकर सिंचाई करना। (२) स्कंधप्रावर्तिमम्--कंधो की सहायता से पानी निकालकर सिंचाई करना। रहट या चरस को जब बैल खीचते हो, तो उनके कंधों से पानी निकालने के कारण इस प्रकार की सिंचाई को 'स्कंधप्रावर्तिमम्' कहते थे। (३) स्रोतयत्रप्रावर्तिमम्—वायु द्वारा (पवन-चक्की) खीचे हुए पानी को 'स्रोतयंत्रप्रावर्तिमम्' कहते थे। (४) नदीसरस्तटाककूपोद्घाटम्—नदी, सर, तटाक और कूप द्वारा सिंचाई करना। (५) सेतुबन्ध—बाँध (डाम) बनाकर उससे नहरे व नालियाँ निकालकर उनसे सिंचाई करना।

व्यवसाय—मैगस्थनीज ने भारत के विविध व्यवसायो और कारीगरों के सम्बन्ध मे वर्णन करते हुए लिखा है, कि 'वे कला-कौशल मे बडे निपुण हैं, जैसा कि ऐसे मनुष्यो से आशा की जा सकती है, जो स्वच्छ वायु से साँस लेते है, और अत्युतम जल का पान करते हैं।'...'अधिक सुसभ्य भारतीयो मे भिन्न-भिन्न व्यवसायो से आजीविका कमाने वाले लोग है। कई जमीन जोतते है, कई व्यापारी हैं, कई सिपाही हैं।'

कौटलीय अर्थशास्त्र मे मौर्य युग के व्यवसायों का विस्तार मे उल्लेख किया गया है, जो निम्नलिखित थे :—

१. **तंतुवाय**—मौर्यकाल में सबसे मुख्य व्यवसायी तंतुवाय या जुलाहे थे। ये रुई, रेशम, सन, ऊन आदि के अनेकविध कपडे तैयार करते थे। वस्त्र-व्यवसाय के साथ सम्बन्ध रखने वाले धोबी, रगरेज और दरजियों का उल्लेख भी अर्थशास्त्र में हुआ है। साथ ही रस्सी और कवच बनाने वाले व्यवसायियों का भी वहाँ वर्णन है।

२. **खानों में काम करने वाले व्यवसायी**—मैगस्थनीज ने भारत की खानों के विषय मे लिखा है, कि 'भारत की भूमि तो अपने ऊपर हर प्रकार के फल तथा कृषिजन्य

पदार्थ उपजाती ही है, पर उसके गर्भ में भी सब प्रकार की धातुओं की अनगिनत खानें हैं। इस देश मे सोना और चाँदी बहुत होता है। ताँबा और लोहा भी कम नही होता। जस्ता और अन्य धातुएँ भी होती हैं। इनका व्यवहार आभूषण और लड़ाई के हथियार तथा साज आदि बनाने के निमित्त होता है।' चाणक्य ने अर्थशास्त्र में खानों के व्यवसायों का विस्तार के साथ वर्णन किया है। इस विभाग के अध्यक्ष को 'आकराध्यक्ष' कहते थे।

३. नमक का व्यवसाय—'लवणाध्यक्ष' की अधीनता मे नमक के व्यवसाय का संचालन होता था। नमक बनाने और बेचने के लिए राज्य की अनुमति आवश्यक थी। नमक बनाने मे मुख्यतया समुद्र के जल का ही प्रयोग किया जाता था।

४. समुद्र से रत्न आदि निकालने का व्यवसाय—इस व्यवसाय के अध्यक्ष को 'खन्यध्यक्ष' कहते थे। समुद्र से शंख, मणि, मुक्ता आदि विविध पदार्थों को निकलवाने तथा उन्हें शुद्ध करवाने और उनकी विविध वस्तुएँ बनवाने का कार्य खन्यध्यक्ष के अधीन होता था।

५. स्वर्णकार—सोना, चाँदी आदि बहुमूल्य धातुओं को शुद्ध कर उनसे आभूषण बनाने का कार्य सुनार लोग करते थे।

६. वैद्य—चिकित्सा का काम करने वाले भिषक् (साधारण वैद्य), जंगलीविद् (विष-चिकित्सक), गर्भव्याधिसंस्था. (गर्भ की बीमारियों को ठीक करने वाले) और सूतिका-चिकित्सक (सन्तान उत्पन्न कराने वाले) चार प्रकार के चिकित्सक होते थे।

७. शराब का व्यवसाय—यद्यपि मैगस्थनीज ने लिखा है, कि भारतीय लोग यज्ञों के अतिरिक्त कभी मदिरा नही पीते थे, पर अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है, कि मौर्य-काल मे शराब का व्यवसाय भी बहुत उन्नत था। वहाँ मेदक, प्रसन्न, आसव, अरिष्ट, मैरेय और मधु—छ प्रकार की शराबो का उल्लेख कर इनके निर्माण की विधि भी लिखी गई है।

८. बूचड़खाने—मांसभक्षण का बहुत प्रचार होने के कारण मौर्यकाल मे बूचड का व्यवसाय भी बहुत उन्नत था। यह 'सूनाध्यक्ष' नामक अधिकारी द्वारा नियन्त्रित किया जाता था।

९. चमड़े का व्यवसाय—बूचडखानो मे मारे गये तथा जंगल, खेत आदि मे स्वयं मरे हुए पशुओ की खालो का उपयोग अनेक प्रकार से किया जाता था।

१०. बर्तनों का व्यवसाय—अर्थशास्त्र मे चार प्रकार के बर्तनो का उल्लेख है—धातु, मिट्टी, बेत और छाल के बने हुए।

११. जंगलों के साथ सम्बन्ध रखने वाले व्यवसाय—अर्थशास्त्र मे जंगलो में होने वाले उन वृक्षो का विस्तार के साथ उल्लेख किया गया है, जिनकी लकड़ी विविध प्रकार के कामो मे आती है।

१२. लोहार—लोहे से जहाँ खेती व अन्य शिल्पो के नानाविध उपकरण तैयार किये जाते थे, वहाँ अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण भी प्रधानतया लोहे से ही होता था।

१३. जहाज और नौकाएँ बनाने वाले—मौर्यकाल मे नदियो तथा समुद्र में जो अनेक प्रकार के जहाज चलते थे, वे भारत मे ही बनाये जाते थे।

इनके अतिरिक्त गन्धपण्याः (सुगंधियाँ बनाने और बेचने वाले), माल्यपण्याः (मालाएं बनाने और बेचने वाले), गोरक्षक (ग्वाले), कर्मकर (मजदूर), नट, नर्तक, गायक, वादक, कुशीलव, शौण्डिक (शराब बेचने वाले), वेश्याएँ, भोजन पकाने वाले आदि व्यवसायियों तथा राज (मकान बनाने वाले), मणिकार (विविध रत्नों, मणियों और हीरे आदि को काट व तराश कर उनसे आभूषण बनाने वाले) और देवताकार (विविध देवी-देवताओ की मूर्तियाँ बनाने वाले) आदि शिल्पियो का उल्लेख भी अर्थशास्त्र में किया गया हैं।

व्यापार—कृषि और व्यवसाय के समान व्यापार भी मौर्यकाल मे बहुत उन्नत था। ग्राम के छोटे-छोटे सौदागरो से लेकर बडी-बडी कम्पनियाँ तक उस काल मे विद्यमान थी। देहात मे माल की बिक्री के लिए मंडियाँ भी लगती थी। ये मंडियाँ जल और स्थल मार्गों के नाको पर लगायी जाती थी।

शहरों मे भिन्न-भिन्न वस्तुओ के बाजार अलग-अलग होते थे। कौटलीय अर्थ-शास्त्र मे जिस आदर्श नगर का चित्र उपस्थित किया गया है, उसमे माँस, चावल, रोटी, मिठाई आदि भोज्य पदार्थ की दूकानो के लिए पृथक् व्यवस्था की गयी है, और सुगन्धित तेल, माला, फूल, वस्त्र आदि की दूकानो के लिए अलग जगह रखी गयी है। शहरो में जहाँ बड़ी-बडी दूकानें होती थी, वहाँ फेरी वालो की भी कमी न थी। फेरी वाले घूम-घूम कर माल बेचते थे।

दूकानदार कितना मुनाफा लें, इसपर भी राज्य की ओर से नियंत्रण होता था। आम चीजों पर लागत का पाँच फीसदी मुनाफा लिया जा सकता था। विदेशी माल पर १० फीसदी मुनाफा लेने की अनुमति थी।

मौर्यकाल में भारत का आन्तरिक व्यापार बहुत उन्नत था। यह व्यापार जल और स्थल दोनो प्रकार के मार्गों द्वारा होता था। भिन्न-भिन्न स्थानों की भिन्न-भिन्न वस्तुएँ प्रसिद्ध थी। स्वाभाविक रूप से व्यापारी लोग इन वस्तुओ को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाकर बेचते थे। मौर्यकाल के सौदागर व्यापार के लिये वडे-बड़े काफिले (सार्थ) बनाकर सब जगह आया जाया करते थे। इन काफिलों की रक्षा का भार राज्य पर होता था। सार्थ मे चलने वाले प्रत्येक व्यापारी से राज्य मार्गकर (वर्तनी) वसूल करता था। इसके बदले मे उसकी जान-माल की रक्षा का उत्तरदायित्व राज्य ले लेता था।

मौर्यकाल मे विदेशी व्यापार भी बहुत उन्नत था। भारत की पश्चिमोत्तर, उत्तर तथा उत्तरपूर्वी सीमाएँ अनेक देशों के साथ छूती थी। उनके साथ भारत का व्यापारिक सम्बन्ध विद्यमान था। स्थल मार्ग से जाने वाले बडे-बड़े काफिले इन पडोसी राज्यो मे व्यापार के लिए आया-जाया करते थे। विदेशी व्यापार जहाँ खुश्की के रास्ते से होता था, वहाँ समुद्र द्वारा भी बड़ी-बड़ी नौकाएँ विक्रय की वस्तुओं को ढोने का काम करती थी। महासमुद्रो मे जाने वाले जहाजों को 'संयात्यः नाव' और 'प्रवहण' कहते थे। कौटलीय अर्थशास्त्र मे चीन तथा ईरान की व्यापारी वस्तुओ का उल्लेख है। चाणक्य ने लिखा है—'रेशम और चीनपट्ट, जो चीन देश में उत्पन्न होते हैं, श्रेष्ठ समझे जाते हैं।' इसी तरह मुक्ताओ की विविध किस्मों का उल्लेख करते

हुए चाणक्य ने मुक्ताओं का एक भेद 'कार्दमिक' भी बताया है। ईरान की कर्दम नदी में उत्पन्न हुए मोतियों को कार्दमिक कहते थे। मौर्यकाल मे भारत का पश्चिमी देशों से भी समुद्र के मार्ग द्वारा व्यापार प्रारम्भ हो चुका था। यह व्यापार मुख्यतया मिस्र के साथ था। सिकन्दर के साम्राज्य के पतन के बाद मिस्र का राजा टाल्मी हुआ, जो चन्द्रगुप्त मौर्य का समकालीन था। उस समय में मिस्र की राजधानी अलेक्जेण्ड्रिया विदेशी व्यापार का बहुत बडा केन्द्र थी। अलेक्जेण्ड्रिया से कुछ दूर फेरास नामी द्वीप में टाल्मी ने एक विशाल प्रकाशस्तम्भ का निर्माण कराया था, जो संसार के सात आश्चर्यों में गिना जाता था। अशोक के समकालीन मिस्र के राजा टाल्मी फिलेडेल्फस ने भारत आदि पूर्वी देशों के साथ मिस्र के व्यापार को बढाने के लिये अर्सीनोए से लाल सागर तक एक नहर बनवाने का संकल्प किया था। इस नहर को १५० फीट चौडा और ४५ फीट गहरा बनाया जा रहा था, और इसका उद्देश्य यही था, कि भारतीय माल को अलेक्जेण्ड्रिया पहुँचाने के लिए स्थल पर न उतारना पड़े, और जहाज लाल सागर से इस कृत्रिम नहर के रास्ते नील नदी पहुँच जाए, और वहाँ से सीधे अलेक्जेण्ड्रिया चला जाए। दुर्भाग्यवश यह नहर पूरी न हो सकी। पर मिस्र के साथ भारत का व्यापार जारी रहा। इसी प्रयोजन से टाल्मी ने लालसागर के तट पर एक नये बन्दरगाह की स्थापना की, जिसका नाम बरनिस था। यहाँ से खुश्की के रास्ते अलेक्जेण्ड्रिया केवल तीन मील दूर था। इस मार्ग पर माल को ढोने का काम काफिलो द्वारा होता था।

विशाल मागध साम्राज्य में स्थल मार्गों (सड़कों) का एक जाल-सा बिछा हुआ था। पाटलिपुत्र को केन्द्र बनाकर उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम—सब दिशाओं में सडकें जाती थी। मार्गों का प्रबन्ध राज्य के एक पृथक् विभाग के अधीन था। प्रति आध कोस के बाद सडकों पर दूरी-सूचक प्रस्तर लगे रहते थे। जहाँ एक से अधिक मार्ग विभक्त होते थे, वहाँ प्रत्येक मार्ग की दिशा का प्रदर्शन करने वाले चिह्न लगे रहते थे। उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रदेश की राजधानी को पाटलिपुत्र से मिलाने वाली १५०० कोस लम्बी सडक थी। उस समय का कोस २२५० गज का होता था।

मुद्रापद्धति—मौर्यकाल मे मुद्रा पद्धति के सचालन के लिये एक पृथक् अमात्य होता था, जिसे 'लक्षणाध्यक्ष' कहते थे। अर्थशास्त्र मे दो प्रकार के सिक्के लिखे हैं—१. कोशप्रवेश्य—ये मुख्य सिक्के होते थे, जिन्हे वर्तमान परिभाषा में 'लीगल टेंडर' कहा जा सकता है। राजकीय कर तथा क्रय-विक्रय के लिये इन्ही को प्रामाणिक माना जाता था। २. व्यावहारिक—इनकी कीमत कोशप्रवेश्य सिक्कों पर ही आश्रित थी। ये साधारण लेन-देन के काम मे आते थे। वर्तमान परिभाषा मे इन्हे 'टोकन मनी' कह सकते है। सिक्के अनेक मूल्यों के होते थे। चाँदी के सिक्को मे चार भाग ताँबा, एक भाग त्रपु, सीसा या अन्य धातु और नौ भाग शुद्ध चाँदी रहती थी। इस सिक्के को पण या रूप्यरूप कहते थे। पण के अतिरिक्त आधुनिक अठन्नी, चवन्नी व दुवन्नी के समान अर्धपण, पादपण और अष्टभागपण सिक्के भी प्रयोग मे आते थे। चाँदी के पणो व अर्धपणों आदि के अतिरिक्त ताँबे के सिक्के भी प्रचलित थे, जिन्हे 'ताम्ररूप' या 'माषक' कहते थे। इसके भाग अर्धमाषक, काकणी (¼ माषक) और अर्धकाकणी

(½ माषक) होते थे। ताँबे और चाँदी के अतिरिक्त सम्भवतः सोने का भी एक सिक्का उस युग में प्रचलित था। इसे 'सुवर्ण' कहते थे, और इसका भार ⅘ तोले होता था। मौर्य युग के सिक्के वर्तमान समय मे उपलब्ध भी है। ये प्रायः ताम्बे के बने हैं, और इन पर अनेकविध चिह्न अंकित हैं।

दासप्रथा—मैगस्थनीज ने लिखा है, कि "भारतवर्ष के विषय मे यह ध्यान देने योग्य बात है, कि समस्त भारतीय स्वतन्त्र है, उनमे एक भी दास नही है। लैकेडिमोनियन्स और भारतवासी यहाँ तक तो एक-दूसरे से मिलने है, पर लैकेडिमोनियन्स लोगो मे हेलॉट लोगों को दासो की तरह रखा जाता है। ये हेलॉट नीच दरजे का श्रम करते हैं। पर भारतीय लोग विदेशियो तक को दास नही बनाते, अपने देशवासियो की तो बात ही क्या है ?" यद्यपि ग्रीक लेखको के अनुसार भारत में दासप्रथा का सर्वथा अभाव था, पर कौटलीय अर्थशास्त्र से इस बात की पुष्टि नही होती। अर्थशास्त्र के अनुसार उस समय मे जो दास जन्म से होते थे, उन्हे खरीदा और बेचा जा सकता था। म्लेच्छ (आर्य-भिन्न) लोग अपने बच्चो व अन्य सम्बन्धियों को दास की भाँति बेच सकते थे। पर आर्यों मे यह प्रथा नही थी। उन्हे अपने सम्बन्धियों को बेचने पर कठोर दण्ड मिलता था। साधारणतया आर्य दास नहीं बन सकता था। पर कुछ अवस्थाओ मे आर्य भी थोडे समय के लिए दास हो सकता था—(क) अपने परिवार को आर्थिक सकट से बचाने के लिए यदि अपने को बेचना आवश्यक हो। (ख) जुरमानों का दण्ड अदा करने के लिए। (ग) यदि राजदण्ड दास बनने का मिला हो।

(४) मौर्यकालीन समाज और सभ्यता

भारतीय समाज के विविध वर्ग—मैगस्थनीज के अनुसार भारत की जनता सात वर्गों मे बँटी हुई थी। उसने लिखा है, कि 'भारतवर्ष की सारी आबादी सात जातियों (वर्गों) मे बँटी है। पहली जाति दार्शनिको के समुदाय स बनी है, जो यद्यपि संख्या की दृष्टि से अन्य जातियो की अपेक्षा कम है, तथापि प्रतिष्ठा मे उन सबमे श्रेष्ठ है। दार्शनिक लोग सभी सार्वजनिक कर्त्तव्यो से मुक्त हैं, इसलिए न तो किसी के दास हैं, और न किसी के स्वामी। गृहस्थी लोगा के द्वारा ये बलि प्रदान करने तथा मृतको का श्राद्ध करने के लिए नियुक्त किये जाते है, क्योकि लोगों का विश्वास है कि ये देवताओं के बहुत प्रिय हैं, और परलोक-सम्बन्धी बातो मे बहुत निपुण है। इन क्रियाओं के बदले मे ये बहुमूल्य दान पाते हैं। भारत के लोगो को इनमे बहुत लाभ पहुँचता है। साल के प्रारम्भ मे जब ये लोग एकत्रित होते हैं, तो अनावृष्टि, शीत, आँधी, रोग आदि की पहले से ही सूचना दे देते हैं। इसी तरह की अन्य बहुत-सी बातों को भी ये पहले से ही बता देते हैं, जिससे कि सर्वसाधारण को बहुत लाभ पहुँचता है। इस प्रकार राजा और प्रजा—दोनो भविष्य को पहले से ही जानकर उसका प्रबन्ध कर सकते है। जो वस्तु आवश्यकता के समय काम आयेगी, उसका पहले से ही प्रबन्ध करने मे वे कभी नही चूकते। जो दार्शनिक अपनी भविष्यवाणी में भूल करता है, उसको निन्दा के सिवाय अन्य कोई दण्ड नही मिलता। भविष्यवाणी अशुद्ध होने की दशा मे फिर दार्शनिक जीवन भर मौन अवलम्बन कर लेता है।

'दूसरी जाति में किसान लोग हैं, जो दूसरों से संख्या में बहुत अधिक हैं। वे राजा को भूमि-कर देते हैं। किसान अपनी स्त्रियों और बच्चों के साथ रहते हैं, और नगरों में जाने-आने से बिलकुल बचते हैं।

'तीसरी जाति के अन्तर्गत अहीर, गडरिए तथा सब प्रकार के चरवाहे हैं, जो न नगरों में बसते हैं और न ग्रामों मे, बल्कि डेरों में रहते हैं। शिकार तथा पशुओं को जाल आदि में फँसाकर वे देश को हानिकारक पक्षियों और जंगली पशुओं से मुक्त करते हैं। वे अपने इस कार्य में बड़े उत्साह के साथ लगे रहते हैं। इसीलिए वे भारत को उन विपत्तियों से मुक्त करते हैं, जो कि यहाँ पर बड़ी मात्रा मे विद्यमान हैं, जैसे सब प्रकार के जंगली जन्तु और किसानों के बोये हुए बीजों को खा जाने वाले पक्षी।

'चौथी जाति कारीगर लोगो की है। इनमें से कुछ कवच बनाने वाले हैं, और कुछ उन विविध उपकरणो (औजारो) को बनाते हैं, जिनका किसान तथा अन्य व्यवसायी लोग उपयोग करते हैं।

'पाँचवी जाति सैनिको की है। यह भली-भाँति संगठित तथा युद्ध के लिए सुसज्जित रहती है। संख्या मे इसका दूसरा स्थान है। शान्ति के समय यह आलस्य और आमोद-प्रमोद मे मस्त रहती है। सेना, योद्धा, सैनिक, युद्ध के घोड़े-हाथी सबका राजकीय खर्च मे पालन होता है।

'छठी जाति मे निरीक्षक लोग है। इनका काम यह है कि जो कुछ भारतवर्ष में होता है, उसकी खोज तथा देख-भाल करते रहें और राजा को, तथा जहाँ राजा न हो वहाँ अन्य किसी राजकीय शासक को, उसकी सूचना देते रहे।

'सातवी जाति सभासदो तथा अन्य शासनकर्त्ताओं की है। ये लोग राज्य-कार्य की देखभाल करते हैं। सख्या की दृष्टि से यह जाति सबसे छोटी है, पर अपने चरित्र तथा बुद्धि के कारण सबसे प्रतिष्ठित है। इसी जाति से राजा के मन्त्रिगण, राज्य के कोषाध्यक्ष और न्यायकर्त्ता लिये जाते है। सेना के नायक व मुख्य शासक लोग प्राय: इसी जाति के होते है।"

मैगस्थनीज द्वारा वर्णित भारतीय समाज के इन वर्गों को हम क्रमश: ब्राह्मण-श्रमण, कृषक, गोपाल-श्वगणिक, कारु-शिल्पि-वैदेहक, भट, प्रतिवेदक-अध्यक्ष-सत्रिक और मन्त्रि-महामात्र-अमात्य कह सकते हैं। ये पृथक् जातियाँ नही थी। मैगस्थनीज ने भारत के समाज की जो दशा देखी, उसके अनुसार उसने ये सात वर्ग यहाँ पाये।

विवाह तथा स्त्रियों की स्थिति—मौर्यकाल मे बहुविवाह की प्रथा विद्यमान थी। मैगस्थनीज ने लिखा है—'वे बहुत-सी स्त्रियो से विवाह करते हैं।' विवाहित स्त्रियो के अतिरिक्त अनेक स्त्रियों को आमोद-प्रमोद के लिए भी घर में रखा जाता था। मैगस्थनीज के अनुसार 'कुछ को तो वे दत्तचित्त सहधर्मिणी बनाने के लिये विवाह करके लाते हैं, और कुछ को केवल आनन्द के हेतु तथा घर को लडकों से भर देने के लिये।' कौटलीय अर्थशास्त्र से भी यह बात पुष्ट होती है। वहाँ लिखा है—'पुरुष कितनी ही स्त्रियो से विवाह कर सकता है, स्त्रियाँ सन्तान उत्पन्न करने के लिये ही हैं।'

पुरुष और स्त्री दोनों को इस युग में पुनर्विवाह का अधिकार था। पुरुषो के पुनर्विवाह के सम्बन्ध में ये नियम दिये गये है—'यदि किसी स्त्री के आठ साल तक बच्चा

न हो, या जिसके कोई पुरुष सन्तान न हो, या जो बन्ध्या हो, उसका पति पुनर्विवाह से पूर्व आठ साल तक प्रतीक्षा करे। यदि स्त्री के मृत बच्चा पैदा हो, तो दस साल तक प्रतीक्षा करे। केवल लड़कियाँ ही उत्पन्न हों, तो बारह वर्ष तक प्रतीक्षा करे। इसके बाद पुत्र की इच्छा होने पर पुरुष दूसरा विवाह कर सकता है। स्त्री के मर जाने पर तो पुनर्विवाह हो ही सकता था। पुरुषों की तरह स्त्रियों को भी पुनर्विवाह का अधिकार था। पति के मरने पर यदि स्त्री दूसरा विवाह करना चाहे, तो उसे अपने श्वसुर तथा पतिपक्ष के अन्य सम्बन्धियों द्वारा प्राप्त धन वापस देना होता था। परन्तु यदि पुनर्विवाह श्वसुर की अनुमति से हो, तो स्त्री इस धन को अपने पास रख सकती थी। पति की मृत्यु के अतिरिक्त भी कुछ अवस्थाओं में स्त्री को पुनर्विवाह का अधिकार था। 'यदि किसी स्त्री के कोई सन्तान न हो और उसका पति विदेश गया हुआ हो, तो वह एक साल तक प्रतीक्षा करे। यदि उसके कोई सन्तान हो, तो अधिक समय तक प्रतीक्षा करे। यदि पति स्त्री के लिए भरण-पोषण का प्रबन्ध कर गया हो, तो दुगुने समय तक प्रतीक्षा की जाय। यदि पति विद्याध्ययन के लिये विदेश गया हो, तो सन्तान-रहित स्त्री दस वर्ष और सन्तान-सहित स्त्री बारह वर्ष तक प्रतिक्षा करे', ये नियम उस समय प्रचलित थे।

मौर्यकाल में तलाक की प्रथा भी विद्यमान थी। कौटलीय अर्थशास्त्र में तलाक के लिए 'मोक्ष' शब्द का प्रयोग किया गया है। स्त्री और पुरुष दोनों को ही तलाक का अधिकार था। इस विषय में अर्थशास्त्र के निम्नलिखित नियम ध्यान देने योग्य हैं—'यदि कोई पति बुरे आचार का है, परदेश गया हुआ है, राज्य का द्वेषी है या यदि कोई पति खूनी है, पतित है, या नपुंसक है, तो स्त्री उसका त्याग कर सकती है।' 'पति से घृणा करती हुई स्त्री उस (पति) की इच्छा के बिना तलाक नहीं दे सकती। ऐसे ही पत्नी से घृणा करता हुआ पति उस (स्त्री) की इच्छा के बिना तलाक नही दे सकता। पर पारस्परिक घृणा से तलाक हो सकता है।' यहाँ यह ध्यान मे रखना चाहिए कि ब्राह्म, प्राजापत्य आदि पहले प्रकार के चार 'धर्मानुकूल' विवाहो मे तलाक नही हो सकता था। तलाक केवल आसुर, गान्धर्व आदि पिछले चार विवाहो मे ही विहित था।

धार्मिक विश्वास—चन्द्रगुप्त मौर्य के समय मे यज्ञो मे पशुहिसा, बलिदान तथा श्राद्ध प्रचलित थे। मैगस्थनीज ने लिखा है—'यज्ञ व श्राद्ध मे कोई मुकुट धारण नही करता। वे बलि के पशु को छुरी धंसा कर नही मारते, अपितु गला घोंटकर मारते हैं, जिससे देवता को खण्डित वस्तु भेंट न करके पूरी वस्तु भेट मे दी जाय।'

"एक प्रयोजन जिसके लिये राजा अपना महल छोडता है, बलि प्रदान करना है। पर गृहस्थ लोगों द्वारा ये दार्शनिक बलि प्रदान करने तथा मृतको का श्राद्ध कराने के लिए नियत किये जाते हैं।"

मैगस्थनीज के उद्धरणो से स्पष्ट है, कि चन्द्रगुप्त मौर्य के समय मे पशुबलि की प्रथा भली-भाँति प्रचलित थी। यद्यपि बौद्ध और जैन धर्मों का इस समय प्रचार हो चुका था, पर अभी यज्ञो में पशु बलि देने की प्रथा बन्द नही हुई थी।

अर्थशास्त्र के अनुशीलन से ज्ञात होता है, कि मौर्यकाल मे अनेकविध सम्प्रदाय विद्यमान थे। वहाँ लिखा है—नगर के मध्य में अपराजित, अप्रतिहत, जयन्त, वैज-

यन्त—इनके कोष्ठ और शिव, वैश्रवण, अश्विन् और श्रीमदिरा के गृह बनाये जाएँ। इन कोष्ठों और गृहो में यथास्थान देवताओं (वास्तुदेवता=स्थावर रूप मे वर्तमान देवता) की स्थापना की जाय। भिन्न-भिन्न दिशाओं में यथास्थान दिग्देवताओं (दिशा के देवताओ) की स्थापना की जाय।' स्पष्ट है, कि मौर्यकाल में अनेक देवताओं की पूजा प्रचलित थी, और उनके लिए अलग-अलग मन्दिर बने होते थे। देवताओ की मूर्ति बनाने का शिल्प उस समय उन्नति पर था। मूर्तियाँ बनाने वाले शिल्पी 'देवता-कारु' कहलाते थे। नगर के द्वारों के नाम ब्रह्मा, इन्द्र, यम आदि के नाम पर रखे जाते थे। तीर्थयात्रा का भी उस समय रिवाज था। तीर्थों मे यात्रा के लिए एकत्रित लोगों से 'तीर्थ-कर' लिया जाता था। विविध सम्प्रदायों के लिए 'पाषण्ड' शब्द व्यवहार में आता था। अशोक के शिलालेखों में भी सम्प्रदायों को 'पाषण्ड' कहा गया है। संभवतः, विविध धर्मों के अनुयायी भिक्षुओं के मठों या अखाडों के लिये यह शब्द प्रयुक्त होता था। लोग तन्त्र-मन्त्र में भी विश्वास रखते थे। मन्त्र की साधना से अभिलषित फल की सिद्धि होती है, यह बात सर्वसाधारण में मान्य थी।

यह नही समझना चाहिये कि महात्मा बुद्ध के बाद भारत में अन्य धर्मों का लोप होकर केवल बौद्ध-धर्म का ही प्रचार हो गया था। प्राचीन यज्ञ-प्रधान वैदिक धर्म, विविध देवी देवताओं की पूजा, अनेक पाषण्ड आदि उस युग मे भी विद्यमान थे। अशोक के समय मे बौद्ध धर्म का प्रचार भारत में बहुत बढ गया, पर अन्य सम्प्रदाय भी कायम रहे। भक्तिप्रधान वैष्णव या भागवत धर्म का अंकुर भी इस युग में भली-भाँति पल्लवित हो रहा था। आगे चलकर यह भारत का प्रमुख धर्म हो गया। मैगस्थनीज ने लिखा है, कि शूरसेन देश मे कृष्ण की पूजा विशेष रूप से प्रचलित है। राजपूताना के चित्तौड़ क्षेत्र मे प्राचीन माध्यमिका नगरी के भग्नावशेषों के समीप घोसुंडी नामक गाँव में मौर्य काल का एक महत्त्वपूर्ण शिलालेख मिला है, जिसमें संकर्षण और वासुदेव की पूजा के लिये दान देने की बात उत्कीर्ण है। इससे सूचित होता है, कि मौर्यकाल में भागवत धर्म का प्रचार शूरसेन देश से बाहर भी राजपूताना तक हो चुका था।

भोजन और पान—मैगस्थनीज ने लिखा है—'जब भारतीय लोग भोजन के लिये बैठते हैं, तो प्रत्येक व्यक्ति के सामने मेज रहती है, जो कि तिपाई की शक्ल की होती है। इनके ऊपर एक सोने का प्याला रखा जाता है, जिसमें सबसे पहले चावल परोसे जाते हैं। वे इस तरह उबले हुए होते है, जैसे जौ हो। इसके बाद अन्य बहुत-से पक्वान्न परोसे जाते हैं, जो भारतीय सामग्रियो के अनुसार तैयार किये जाते हैं।' एक अन्य स्थान पर उसने लिखा है—'वे सदैव अकेले मे भोजन करते हैं। वे कोई ऐसा नियत समय नही रखते, जबकि इकट्ठे मिलकर भोजन किया जाय। जिस समय जिसकी इच्छा होती है, वह तभी भोजन कर लेता है।'

मौर्यकाल के भारतीय स्वादु भोजन बनाने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। राजा की महानस (रसोई) का वर्णन करते हुए चाणक्य ने लिखा है कि वहाँ तरह-तरह के सुस्वादु भोजन तैयार कराये जाएँ। भिन्न-भिन्न वस्तुओं को पकाने के लिए अलग-अलग पाचक होते थे। साधारण बाजार में भी अनेकविध भोज्य पदार्थों के अलग-अलग

विक्रेता होते थे। मांस-भोजन का उस समय बहुत रिवाज था। उस युग में बहुत-से पशु-पक्षी, मछली आदि जन्तुओं को भोजन के लिये मारा व बेचा जाता था। मास को सुखाकर भी रखा जाता था। विविध भोज्य पदार्थों के पाचकों की संज्ञा निम्न-लिखित थी—पक्वान्नपण्याः (पक्वान्न या पकवान बनाने वाले), मासपण्याः (मांस बेचने वाले) पक्वमांसिकाः, (माँस पकाने वाले), औदनिकाः (चावल दाल पकाने वाले), आपूपिकाः (रोटी पकाने वाले)।

आमोद-प्रमोद—अर्थशास्त्र के अनुशीलन से ज्ञात होता है, कि मौर्यकाल में बहुत-से ऐसे लोग भी थे, जिनका पेशा लोगो का आमोद-प्रमोद करना तथा तमाशे दिखाना होता था। ये लोग एक स्थान से दूसरे स्थान पर तमाशा दिखाते हुए घूमते रहते थे। अर्थशास्त्र मे ऐसे नट, नर्तक, गायक, वादक, वाग्जीवक (तरह-तरह की बोलियाँ बोलकर आजीविका कमाने वाले), कुशीलव, प्लवक (रस्सी पर नाचने वाले) सौम्भिक (मदारी) और चारणो का उल्लेख किया गया है। ये सब शहर या गाँव के बाहर तमाशे दिखाया करते थे। प्रेक्षा (तमाशा) के लिए इन्हें लाइसेंस लेना पडता था, और इसके लिए राज्य को पाँच पण दिए जाते थे।

शिकार खेलने का उस समय बहुत रिवाज था। मैगस्थनीज ने लिखा है—'जब राजा शिकार के लिए राजप्रासाद से निकलता है, तो स्त्रियों की भीड उसे घेरे रहती है। उनके घेरे के बाहर बरछे वाले रहते हैं। मार्ग का चिह्न रस्सो से डाला जाता है। इन रस्सो के भीतर जाना स्त्री या पुरुष सबके लिए मृत्यु को निमन्त्रण देना है। ढोल और झाझ लेकर आदमी इस दल के आगे-आगे चलते है। राजा घेरो के भीतर से शिकार खेलता है, और चबूतरे मे तीर चलाता है। उसके बगल मे दो या तीन हथियारबन्द स्त्रियाँ खडी होती हैं। यदि वह खुले मैदान मे शिकार करता है, तो वह हाथी की पीठ से तीर चलाता है। स्त्रियों मे कुछ तो रथ के भीतर रहती हैं, कुछ घोडो पर और कुछ हाथियो पर। वे हर प्रकार के शस्त्रो से सुसज्जित रहती हैं, मानो वे किसी चढाई पर जा रही हो।' केवल आमोद-प्रमोद के लिए मौर्य-सम्राट् जो शिकार-यात्रा करते थे, यह उसी का वर्णन है। उस युग मे शिकार के लिए पृथक् रूप से वन सुरक्षित रखे जाते थे। राजा के विहार के लिए ऐसे जगल भी होते थे, जिनके चारो ओर खाई खुदी रहती थी, और जिनमे प्रवेश के लिए केवल एक ही द्वार होता था। इनमें शिकार के लिए पशु पाले जाते थे, और राजा इनमे स्वच्छन्द रूप से शिकार खेल सकता था।

विविध 'समाजो' मे पशुओ की लडाई और मल्लयुद्ध देखने का भी जनता को बडा शौक था। अशोक को ये समाज पसन्द नहीं थे, इन्हें उसने बन्द कर दिया था।

रीति-रिवाज और स्वभाव—मौर्यकालीन भारतीयो के रीति-रिवाजो के सम्बन्ध मे यूनानी लेखको के कुछ विवरण उद्धृत करने योग्य है—

'भारतीय लोग किफायत के साथ रहते हैं, विशेषत. उस समय जब कि वे कैम्प में हो। वे अनियन्त्रित भीड को नापसन्द करते है। इसीलिये वे हमेशा व्यवस्था बनाये रखते हैं।'

'भारतीय लोग अपने चाल-चलन में सीधे और मितव्ययी होने के कारण बडे सुख से रहते हैं।'

'उनके कानून और व्यवहार की सरलता इससे अच्छी तरह प्रमाणित होती है, कि वे न्यायालय में बहुत कम जाते हैं। उनमें गिरवी और धरोहर के अभियोग नहीं होते, और न वे मुहर व गवाह की जरूरत रखते हैं। वे एक दूसरे के पास धरोहर रखकर आपस में विश्वास करते हैं। अपने घर व सम्पत्ति को वे प्राय: अरक्षित अवस्था में भी छोड देते हैं। ये बातें सूचित करती है, कि उनके भाव उदार व उत्कृष्ट हैं।'

'उनमे व्यायाम करने की सर्वप्रिय रीति संघर्षण है। यह कई प्रकार से किया जाता है, पर संघर्षण प्राय: चिकने आबनूस के बेलनो को त्वचा पर फेरकर होता है।'

'अपने चाल की साधारण सादगी के प्रतिकूल वे बारीकी और नफासत के प्रेमी होते है। उनके वस्त्रो पर सोने का काम किया रहता है। वे (वस्त्र) मूल्यवान् रत्नों से विभूषित रहते हैं। वे लोग अत्यन्त सुन्दर मलमल के बने हुए फूलदार कपडे पहनते हैं। सेवक लोग उनके पीछे-पीछे छाता लगाये चलते हैं। वे सौन्दर्य का बडा ध्यान रखते है, और अपने स्वरूप को सँवारने मे कोई उपाय उठा नही रखते।'

'सचाई और सदाचार दोनो की वे समान रूप से प्रतिष्ठा करते हैं।'

'भारतवासी मृतक के लिए कोई स्मारक नही उठाते, वरन् उस सत्यशीलता को, जिसे मनुष्यो ने अपने जीवन मे दिखलाया है तथा उन गीतो को, जिनमें उनकी प्रशंसा वर्णित रहती है, मरने के बाद उनके स्मारक को बनाये रखने के लिए पर्याप्त समझते है।'

'चोरी बहुत कम होती है, मॅगस्थनीज कहता है कि उन लोगो ने, जो चन्द्रगुप्त के डेरे मे थे जिसके भीतर चार लाख मनुष्य थे, देखा कि चोरी जिसकी इत्तला किसी एक दिन होती थी, वह २०० द्राचमी के मूल्य से अधिक की नही होती थी, और यह ऐसे लोगो के बीच, जिनके पास लिपिबद्ध कानून नही, वरन् जो लिखने से अनभिज्ञ है, और जिन्हे जीवन के समस्त कार्यों मे स्मृति पर ही भरोसा करना पडता है।'

'भारतीयो मे विदेशियो तक के लिए कर्मचारी नियुक्त होते है, जिनका काम यह देखना होता है कि किसी विदेशी को हानि न पहुँचने पाये। यदि उन (विदेशियो) मे से कोई रोगग्रस्त हो जाता है, तो वे उसकी चिकित्सा के निमित्त वैद्य भेजते है तथा और प्रकार से भी उसकी रक्षा करते है। यदि वह विदेशी मर जाता है, तो उसे दफना देते है और जो सम्पत्ति वह पीछे छोडता है, उसे उसके सम्बन्धियो को दे देते हैं। न्यायाधीश लोग भी उन मामलो का, जो विदेशियो से सम्बन्ध रखते है, बडे ध्यान से फैसला करते हैं, और उन लोगो के साथ बडी कडाई का बरताव करते हैं, जो उनके साथ बुरा व्यवहार करते हैं।'

'भूमि जोतने वाले, चाहे उनके पडोस मे युद्ध हो रहा हो, तो भी किसी प्रकार के भय की आशंका से विचलित नही होते। दोनो ओर के लड़ने वाले युद्ध के समय एक दूसरे का संहार करते है। परन्तु जो लोग खेती मे लगे हुए रहते है, उन्हे पूर्णतया निर्विघ्न अपना कार्य करने देते हैं। इसके अतिरिक्त, न तो वे शत्रु के देश का अग्नि से सत्यानाश करते हैं, और न उनके पेड़ काटते है।'

'ब्राह्मण लोग दर्शन के ज्ञान को स्त्रियों को नही बताते। उन्हें भय रहता है, कहीं वे दुश्चरित्र न हो जाएँ, निषेध किये गये रहस्यो में से किसी को खोल न दें, अथवा यदि वे कही उत्तम दार्शनिक हो जाएँ, तो उन्हें छोड न दें।'

(५) शिक्षणालय

मौर्यकाल में शिक्षा का कार्य आचार्य, पुरोहित, श्रोत्रिय आदि करते थे। उन्हें राज्य की ओर से सहायता दी जाती थी। उन्हे इतनी भूमि दे दी जाती थी, कि वे निश्चिन्त होकर उसकी आमदनी से अपना निर्वाह करें और अध्यापन कार्य में व्यापृत रहे। इस तरह की भूमि को 'ब्रह्मदेय' कहते थे। इससे कोई कर आदि नहीं लिया जाता था। स्वतन्त्र रूप से अध्यापन करने वाले इन ब्राह्मणो के अतिरिक्त इस युग मे अनेक ऐसे शिक्षाकेन्द्र भी थे, जिनमे बहुत-से आचार्य शिक्षा का कार्य करते थे। मौर्यकाल का ऐसा सबसे प्रसिद्ध केन्द्र तक्षशिला था, जहाँ आचार्य चाणक्य नीतिशास्त्र का अध्यापन करते रहे थे।

तक्षशिला मे शिक्षा का क्या ढग था, इस विषय मे एक जातक कथा को यहाँ उद्धृत करना बहुत उपयोगी है। "एक बार की बात है, कि वाराणसी के राजा के एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम कुमार ब्रह्मदत्त रखा गया। पुराने समय में राजा लोगों मे यह प्रथा थी, कि चाहे उनके अपने शहर मे कोई प्रसिद्ध अध्यापक विद्यमान हो, तो भी वे अपने कुमारों को दूर देशों मे शिक्षा पूर्ण करने के लिए भेजना उपयोगी समझते थे। इससे वे यह लाभ समझते थे, कि कुमार निरभिमान होना व दर्प को वश मे करना सीखेंगे, गरमी और सरदी को सहन करेगे, साथ ही दुनिया के रीति-रिवाजो से भी जानकारी प्राप्त कर सकेंगे। राजा ने भी यही किया। उसने अपने कुमार को बुलाकर, जिसकी आयु अब सोलह वर्ष की हो चुकी थी, उसे एकतलिक जूते, पत्तो का छाता और एक हजार कार्षापण देकर कहा—'तात! तक्षशिला जाओ, और विद्या का अभ्यास करो।' माता-पिता से विदा लेकर वह समय पर तक्षशिला पहुँच गया। वहाँ जाकर उसने आचार्य का घर पूछा। आचार्य विद्यार्थियो के सम्मुख अपना व्याख्यान समाप्त कर चुके थे और अपने घर द्वार पर घूम रहे थे। आचार्य को देखते ही कुमार ने अपने जूते उतार दिये, छाता बन्द कर दिया और सम्मानपूर्वक वन्दना करके खडा हो गया। आचार्य ने देखा कि वह थका हुआ है, अत उसके भोजन का प्रबन्ध कर उसे आराम करने का आदेश दिया। भोजन करके कुमार ने कुछ देर विश्राम किया और फिर आचार्य के सम्मुख सम्मानपूर्वक प्रणाम करके खडा हो गया। आचार्य ने पूछा—'तात! तुम कहाँ से आये हो?' 'वाराणसी से।' 'तुम किसके पुत्र हो?' 'मैं वाराणसी के राजा का पुत्र हूँ।' 'तुम यहाँ किसलिये आये हो?' 'विद्याध्ययन के लिए।' 'क्या तुम आचार्य के लिए उपयुक्त शुल्क लाये हो, या शिक्षा के बदले सेवा की इच्छा रखते हो?' 'मैं आचार्य के लिए उपयुक्त शुल्क लाया हूँ।' यह कहकर उसने एक हजार कार्षापणो की थैली आचार्य के चरणों मे रख दी। दो तरह के अन्तेवासी आचार्य से शिक्षा ग्रहण करते थे। पहले 'धम्मन्तेवासिक', जो दिन मे आचार्य का काम करते थे, और रात को शिक्षा प्राप्त करते थे। दूसरे 'आचारिय भागदायक' जो आचार्य के घर

में ज्येष्ठ पुत्र की तरह शिक्षा प्राप्त करते थे, और सारा समय विद्याध्ययन में व्यतीत करते थे। क्योंकि कुमार ब्रह्मदत्त आवश्यक शुल्क साथ लाया था, और वह आचार्य के घर पर ही रहता था, अतः उसे नियमपूर्वक शिक्षा दी गयी। इस प्रकार ब्रह्मदत्त ने शिक्षा समाप्त की।

तक्षशिला मे अनेक संसारप्रसिद्ध आचार्य शिक्षादान का कार्य करते थे। एक आचार्य के पास प्रायः ५०० विद्यार्थी पढते थे। सम्भवतः, यह कल्पना अनुचित नहीं है, कि तक्षशिला में अनेक कालिज थे, जिनमें से प्रत्येक मे ५०० के लगभग विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करते थे। इन कालिजो के प्रधान को आचार्य कहते थे, जो प्रायः 'संसारप्रसिद्ध' व्यक्ति होता था। एक जातक के अनुसार एक आचार्य के पास एक सौ एक राजकुमार शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। अनेक राजकुमारो के तो नाम भी वहाँ दिये गये है। न केवल राजकुमार, पर ब्राह्मण और क्षत्रिय आदि सभी जातियो के छात्र भारत के दूरवर्ती जनपदों से विद्या प्राप्त करने के लिए तक्षशिला आते थे। केवल नीच जातियो के लोग तक्षशिला के 'संसार प्रसिद्ध' आचार्यों से लाभ नही उठा सकते थे। एक जातककथा के अनुसार एक चाण्डाल ने वेश बदल कर तक्षशिला मे शिक्षा प्राप्त की थी।

तक्षशिला में तीनो वेद, अष्टादश विद्या, विविध शिल्प, धनुर्विद्या, हस्ति विद्या, मन्त्रविद्या, प्राणियों की बोलियों को समझने की विद्या और चिकित्सा शास्त्र की विशेष रूप से शिक्षा दी जाती थी। शैशुनाग, नन्द और मौर्य युगों के अनेक प्रसिद्ध व्यक्तियों ने तक्षशिला मे ही शिक्षा पायी थी। राजा बिम्बिसार का राजवैद्य जीवक तक्षशिला का ही आचार्य था। कोशलराज प्रसेनजित् तक्षशिला मे विद्यार्थी के रूप में रह चुका था। चन्द्रगुप्त मौर्य भी कुछ समय तक तक्षशिला मे आचार्य चाणक्य का शिष्य बनकर रहा था।

मौर्यकाल मे काशी भी शिक्षा का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। तक्षशिला में विद्या प्राप्त कर अनेक आचार्यों ने वहाँ शिक्षण का कार्य शुरू किया, और धीरे-धीरे वह भी एक प्रसिद्ध विद्यापीठ बन गया।

तेरहवाँ अध्याय

शुंग-सातवाहन-शक युग की सभ्यता और संस्कृति

(१) शुंग-सातवाहन-शक युग

दूसरी सदी ई० पू० से तीसरी सदी ईस्वी तक भारत मे कोई एक ऐसी प्रधान राजशक्ति नही थी, जो भारत के बडे भाग को अपने शासन मे रख सकने मे समर्थ होती। बार्हद्रथ, शैशुनाग, नन्द और मौर्य वशो ने जिस विशाल मागध-साम्राज्य का निर्माण किया था, उसकी शक्ति इस युग मे क्षीण हो गयी थी। पुष्यमित्र शुग यवनो को सिन्ध नदी के पार धकेलने मे समर्थ हुआ, पर वह कलिंग के चेदि-वश और प्रतिष्ठान के सातवाहन-वंश की शक्ति का दमन नही कर सका। जिस समय शुग-वश के राजा मगध और मध्यदेश पर शासन कर रहे थे, सातवाहन-वश के राजा दक्षिणापथ मे अपनी शक्ति के विस्तार मे तत्पर थे, उत्तर-पश्चिमी भारत मे यवन लोग अपनी शक्ति बढा रहे थे, और शक-आक्रान्ता सिन्ध व राजपूताना को अपनी अधीनता मे लाने के लिए प्रयत्नशील थे। बाद मे पल्हवो (पार्थियन) और कुशाणो ने शको का अनुसरण कर भारत मे प्रवेश किया, और अपने-अपने राज्य स्थापित किये। भारत मे किसी एक प्रबल राजशक्ति के अभाव मे इस युग को हमने शुग-सातवाहन-शक युग कहा है। पर इससे यह नही समझना चाहिये, कि इस काल मे भारत केवल इन तीन राजनीतिक शक्तियो मे विभक्त था। शको के समय मे ही यवनो और पल्हवो के राज्य भी इस देश मे विद्यमान थे, और बाद मे कुशाणो ने मध्यदेश व मगध तक को अपनी अधीनता मे कर लिया था।

इस युग की विशेषतायें—भारतीय इतिहास मे शुग-सातवाहन-शक युग का बहुत अधिक महत्त्व है। इस युग की विशेषताओ को हम सक्षेप मे इस प्रकार लिख सकते है—(१) यवन, शक, पल्हव व कुशाण आक्रान्ता शीघ्र ही पूर्णरूप से भारतीय बन गये। उन्होने भारत के बौद्ध, शैव व वैष्णव धर्मों को अपना लिया, और सस्कृत व प्राकृत भाषाओ का राज्यकार्य व अपने वैयक्तिक जीवन मे प्रयोग प्रारम्भ कर दिया। भारत मे उनकी स्थिति विदेशी शासको की न रहकर अन्य भारतीयो के समान ही हो गयी। (२) इस युग में भारत के धर्म, सभ्यता व सस्कृति का विदेशो मे प्रसार हुआ। सम्राट् अशोक के समय मे बौद्ध धर्म के अन्य देशो मे प्रचार की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई थी, इस युग में उसे बहुत बल मिला। कुशाण राजा कनिष्क का साम्राज्य केवल भारत में ही नही था, हिन्दुकुश पर्वत के पश्चिम व उत्तर मे चीन की सीमा तक उसका शासन

था। कनिष्क के संरक्षण में बौद्ध-धर्म ने बहुत उन्नति की, और सम्पूर्ण मध्य एशिया भारत के सांस्कृतिक प्रभाव में आ गया। चीन आदि अन्य एशियन देशों मे भी इस युग में बौद्ध-धर्म का प्रसार हुआ। केवल बौद्ध-धर्म ही नही, अपितु शैव और वैष्णव धर्मों ने भी इस काल में बहुत उन्नति की। भारतीयो के अनेक नये उपनिवेश पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया मे बसने शुरू हुए, और इन धर्मों ने वहाँ के मूल निवासियो को भी प्रभावित किया। (३) प्राचीन वैदिक धर्म का पुनरुत्थान इस युग की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता है। बौद्ध और जैन धर्म न ईश्वर को मानते थे, और न ही वेदो की अपौरुषेयता मे विश्वास रखते थे। ये धर्म भारत की प्राचीन आर्य-परम्परा के अनुकूल नही थे। इसीलिए इस युग में इनके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई, और भागवत-धर्म के रूप मे प्राचीन आर्य-धर्म का पुनरुद्धार हुआ। (४) यवन, शक, कुशाण आदि विदेशी जातियों के सम्पर्क से भारत के विज्ञान और कला आदि भी प्रभावित हुए बिना नही रह सके, और उन्होने एक ऐसा रूप धारण किया, जिसपर विदेशी प्रभाव स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होता है। विदेशियो के आक्रमण से भारत के विदेशी व्यापार में भी सहायता मिली, और प्राचीन ग्रीस व रोम मे उसका सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ हो गया। (५) भारत में किसी एक शक्तिशाली केन्द्रीय शासन के न रहने के कारण इस युग मे गणराज्यो को अपनी स्वतन्त्रता स्थापित करने का अवसर प्राप्त हुआ। मालव, यौधेय, कुणिन्द, अर्जुनायन, शिवि, लिच्छवि आदि पुराने गणराज्यो का पुनरुत्थान इस युग की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। विदेशी आक्रान्ताओ का मुकाबला करने मे इन्होंने अपूर्व कर्तृत्व प्रदर्शित किया। इसमे सन्देह नही, कि ये गणराज्य भी इस युग की भारतीय राजशक्तियो मे बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे।

(२) विदेशियों का भारतीय बनना

दूसरी सदी ई० पू० मे यवन, शक, पल्हव और कुशाण जातियो के रूप मे जिन विदेशी लोगो ने भारत मे अपने राज्य स्थापित किये, वे इस देश के सम्पर्क मे आकर पूर्णतया भारतीय बन गये। उन्होने न केवल भारत के धर्म को अपितु इस देश की भाषा को भी अपना लिया। सभ्यता की दृष्टि से शक लोग बहुत उन्नत नही थे, पर बैक्ट्रिया के जिन यवनो ने भारत मे प्रवेश किया था, वे प्राचीन ग्रीक (यवन) लोगों के समान ही सभ्य व सुसंस्कृत थे। इसी प्रकार पार्थिया के पार्थियन (पह्लव) लोग ग्रीस के सम्पर्क मे आकर सभ्य बन चुके थे। इन उन्नत सभ्य लोगो का भारतीय धर्म और भाषा को अपना लेना भारत के लिए बहुत गौरव की बात थी, और इससे यह सूचित होता है कि इस युग के भारतीय धर्म, सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र मे ग्रीक लोगो की अपेक्षा अधिक उन्नत थे। जिस प्रकार जल की धारा ऊपर से नीचे की ओर बहती है, वैसे ही सभ्यता का बहाव भी ऊँचाई से निचाई की तरफ होता है। जब कोई दो जातियाँ एक दूसरे के सम्पर्क में आती हैं तो उनमें जो सभ्यता की दृष्टि से अधिक उन्नत होती है, वह अवनत जाति को अपने प्रभाव मे ले आती है। यह इतिहास का एक सत्य सिद्धान्त है। यवन, शक, पह्लव व कुशाण लोग भारत के धर्म, भाषा व

संस्कृति के किस प्रकार प्रभाव मे आये, इसे स्पष्ट करने के लिए उनके कुछ उत्कीर्ण लेखो को उद्धृत करना पर्याप्त होगा ।

यवन—नासिक की एक गुफा में एक यवन द्वारा उत्कीर्ण यह लेख विद्यमान है—"सिद्धि ! ओतराह (उत्तरापथ के) दातामितियक (दिमित्र द्वारा स्थापित दात्तामित्री नगरी के निवासी) योनक (यवन) धम्मदेव के पुत्र इन्द्राग्निदत्त का (दान) । (उस) धर्मात्मा ने यह गुहा तिरन्ह पर्वत मे खुदवाई,और गुहा के भीतर चैत्यगृह तथा पोढ़ियाँ ।" इस लेख को लिखवाने वाले यवन ने न केवल बौद्ध-धर्म को स्वीकार कर लिया था, अपितु उसका नाम भी इन्द्राग्निमित्र था । उसका पिता भी यवन धम्मदेव था ।

तक्षशिला के यवन-राजा ने हेलिउदोर नाम के जिस यवन को अपना राजदूत बनाकर मगध के शुग राजा की राजसभा मे भेजा था, उसने भागवत धर्म को स्वीकार कर भगवान् विष्णु के एक गरुडध्वज (प्रस्तर का स्तम्भ जिसके शीर्ष भाग पर गरुड़ की मूर्ति थी) का निर्माण कराया था, जिसपर यह लेख उत्कीर्ण है—"देवों के देव वासुदेव का यह गरुडध्वज यहाँ बनवाया । महाराज अन्तलिकित के यहाँ से राजा कासीपुत भागभद्र त्राता के—जो कि अपने शासन के चौदहवें वर्ष में वर्तमान है—पास आये हुए तखशिला (तक्षशिला) के रहने वाले दिये के पुत्र योनदूत भागवत हेलिउदोर ने ।"

यवनराजा मिनान्दर (मिलिन्द) ने बौद्ध-धर्म को स्वीकार कर इस धर्म के इतिहास मे महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया था । नागसेन से दीक्षा लेकर मिनाण्डर ने न केवल बौद्ध-धर्म को अगीकार किया, अपितु सियाम की अनुश्रुति के अनुसार अर्हत्-पद को भी प्राप्त कर लिया । इसीलिए उसके मरने पर लोग अपने-अपने नगरों मे ले गये और वहाँ उन्होंने आदरपूर्वक उसकी प्रतिष्ठा की । अपने गुरु नागसेन से बौद्ध-धर्म के विषय मे जो प्रश्न यवनराज मिनान्दर ने पूछे थे, वे ही 'मिलिन्द-पन्हो' (मिलिन्द्र प्रश्ना.) नामक पुस्तक मे सगृहीत हैं ।

भारत मे कितने ही ऐसे लेख मिले है, जो यवन-शासकों और यवन-नागरिकों के धर्मदान के साथ सम्बन्ध रखते है । अनेक यवन-राजाओ के सिक्को पर प्राकृत भाषा का प्रयोग, धर्मचक्र का चिह्न और 'ध्रमिक' (धार्मिक) विशेषण का प्रयोग इस तथ्य को सूचित करता है, कि यवन लोग भारत मे आकर इस देश के धर्म व संस्कृति से बहुत अधिक प्रभावित हुए थे, और उन्होने इन्हे स्वीकार कर लिया था ।

शक—शक-आक्रान्ता जैन, बौद्ध और वैदिक तीनो धर्मों से प्रभावित हुए थे । उनमे कुछ ने बौद्ध धर्म को स्वीकार किया था, कुछ ने जैन धर्म को और कुछ ने वैदिक धर्म को । इस सम्बन्ध मे भी कतिपय लेखों को यहाँ उद्धृत करना उपयोगी होगा :—

शक-महाक्षत्रप नहपान के जामाता उषवदात का यह लेख नासिक की एक गुहा मे विद्यमान है—"सिद्धि हो ! राजा क्षहरात क्षत्रप नहपान के जामाता, दीनाक के पुत्र, तीन लाख गौओं का दान देनेवाले, वर्णासा (नदी) पर सुवर्णदान करने और तीर्थ बनवाने वाले, देवताओ और ब्राह्मणों को सोलह ग्राम देने वाले, पूरे सात लाख ब्राह्मणों को खिलाने वाले···धर्मात्मा उषावदात ने गोवर्धन मे त्रिरश्मि पर्वत पर यह गुहा बनवाई ।"

शक-क्षत्रप नहपान का जामाता प्राचीन वैदिक व हिन्दू धर्म का अनुयायी था, यह इस लेख से स्पष्ट हो जाता है।

मथुरा का शक-महाक्षत्रप रजुल बौद्ध-धर्म का अनुयायी था। उसकी पटरानी (अग्रमहिषी) का यह लेख मथुरा से उपलब्ध हुआ है—"महाक्षत्रप रजुल की अग्रमहिषी, युवराज खरओस्त्र की बेटी···की माँ अयसिअ अमुइज ने···शाक्य मुनि बुद्ध का शरीर-धातु प्रतिष्ठापित किया और स्तूप व संघाराम भी, सर्वास्तिवादियों के चातुर्दिश संघ के परिग्रह के लिए।"

मथुरा के शक-महाक्षत्रप शोडास के समय का मथुरा में एक लेख मिला है, जिसमें लिखा है—"अर्हत् वर्धमान को नमस्कार! स्वामी महाक्षत्रप शोडास के ४२वें वर्ष में···हारिती के पुत्र पाल की भार्या श्रमणों की श्राविका कोछी अमोहिनी ने अपने पुत्रों···के साथ आर्यवती प्रतिष्ठापित की। आर्यवती अर्हत् की पूजा के लिए (है)।" जैन-मूर्ति को प्रतिष्ठापित कराने वाली कोछी अमोहिनी निःसन्देह शक-जाति की थी।

शकों के भारतीय धर्मों के स्वीकृत करने की बात की पुष्टि में कितने ही अन्य लेख भी उद्धृत किये जा सकते है, पर ये ही पर्याप्त हैं।

पार्थियन—पार्थियन लोगों के विषय मे नासिक की अन्यतम गुहा में उत्कीर्ण यह लेख महत्त्वपूर्ण है—"सिद्धि! ···अबुलामा के निवासी सोवसक सेतफरण के पुत्र हरफरण का यह देयधर्म नवगर्भ मण्डप महासाधिकों के चातुर्दिश सघ के परिग्रह में दिया गया।" अबुलामा या अम्बुलिम सिन्ध नदी के तट पर एक नगरी थी, और सेतफरण व हरफरण पार्थियन नाम हैं।

कुशाण—कुशाण राजाओं ने भारत मे आकर बौद्ध व वैदिक धर्मों को स्वीकृत कर लिया था। कुशाण-वंश की शक्ति के सस्थापक राजा कुजुल कुशाण के सिक्कों पर अन्य विशेषणों के साथ 'सचध्रमथितस' (सत्यधर्मस्थितस्य या सद्धर्मस्थितस्य) विशेषण भी विद्यमान है। उसके कुछ सिक्कों मे 'देवपुत्रस' विशेषण भी आया है, जो उसके बौद्ध होने को सूचित करता है। कुजुल कुशाण का उत्तराधिकारी राजा विम 'माहेश्वर' था। राजा कनिष्क का तो बौद्ध-धर्म के इतिहास में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसने न केवल स्वय बौद्ध-धर्म की दीक्षा ग्रहण की थी,अपितु अन्य देशों मे बौद्धधर्म के प्रचार करने व उसके संरक्षण केलिए भी बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। कनिष्क के उत्तराधिकारियों मे वासुदेव शैव-धर्म का अनुयायी था और हुविष्क बौद्ध-धर्म का।

इसमे सन्देह नही, कि यवन, शक, पार्थियन और कुशाण राजा भारतीय धर्मों के अनुयायी थे। पर इन सबने भारत में आने के बाद ही यहाँ के धर्मों को अपनाया हो, यह निश्चित नही है। यह भी सम्भव है, कि शक, पार्थियन और कुशाण लोग उस समय से ही भारतीय धर्मों के प्रभाव में आने लग गये हो, जब कि वे सीस्तान, पार्थिया और मध्य एशिया मे थे।

(३) साहित्य

इस मौर्योत्तर-युग की सभ्यता और संस्कृति के सम्बन्ध में इस काल के साहित्य से हमें बहुत-कुछ परिचय मिलता है। प्राचीन संस्कृत-साहित्य के बहुत-से ग्रन्थों का इस

काल में ही संकलन हुआ था। बौद्ध और जैन-साहित्य के भी बहुत-से ग्रंथ इसी समय में बने। इन सबके अनुशीलन से इस समय की जनता के जीवन-पर बड़ा उत्तम प्रकाश पड़ता है। पर पहले इस साहित्य का संक्षेप से परिचय देना आवश्यक है।

पतञ्जलि—पतञ्जलि मुनि पुष्यमित्र शुंग के समकालीन थे। उन्होंने पाणिनि की अष्टाध्यायी पर महाभाष्य लिखा। इसमे शुंगकालीन भारत की दशा के सम्बन्ध मे बड़े महत्त्व के निर्देश मिलते हैं। महाभाष्य एक विशाल ग्रन्थ है, जिसमें पाणिनीय व्याकरण की विस्तृत रूप से व्याख्या की गयी है।

स्मृति-ग्रंथ—स्मृति-ग्रथो का निर्माण शुंग-काल मे आरम्भ हुआ। सबसे प्राचीन स्मृति मनुस्मृति है। उसका निर्माण १५० ई० पू० के लगभग हुआ था। इसके प्रवक्ता आचार्य भृगु थे। नारदस्मृति के अनुसार सुमति भार्गव ने इस स्मृति का प्रवचन किया था। प्राचीन भारत मे विचारको के अनेक सम्प्रदाय थे। किसी बड़े आचार्य द्वारा जो विचारधारा प्रारम्भ होती थी, उसके शिष्य उसी का विकास करते जाते थे, और एक पृथक् सम्प्रदाय (नया धार्मिक मत नहीं अपितु, विचार-सम्प्रदाय) बन जाता था। इसी प्रकार का एक सम्प्रदाय मानव था। कौटलीय अर्थशास्त्र और कामन्दक नीतिसार मे मानव सम्प्रदाय का उल्लेख है, और उसके अनेक मत उद्धृत किये गये है। इसी सम्प्रदाय मे आगे चलकर मनु के एक परम्परागत शिष्य आचार्य सुमति भार्गव ने मनु-स्मृति की रचना की, और उसमें मानव-सम्प्रदाय के विचारो को सकलित किया। अपने समय की परिस्थितियो का भी इन विचारो पर प्रभाव पडा, और इसीलिये मनुस्मृति के अनुशीलन से हमे शुंग-काल की सामाजिक दशा का भली-भाँति परिचय मिल जाता है।

मनुस्मृति के बाद विष्णुस्मृति की रचना हुई। फिर याज्ञवल्क्य स्मृति बनी, जिसका निर्माण-काल १५० ईस्वी के लगभग है। इसके बाद भी अनेक आचार्य नई स्मृतियाँ बनाते रहे। स्मृतियो के निर्माण की यह प्रकिया गुप्त सम्राटो के काल में और उसके बाद भी जारी रही। पर मनु-स्मृति और याज्ञवल्क्य-स्मृति का भारतीय स्मृति-ग्रन्थो मे जो महत्त्व है, वह अन्य किसी स्मृति को प्राप्त नही हुआ। इन दोनो ग्रन्थों के अनुशीलन से हम शुंग और सातवाहन-राजाओ के समय के भारतीय जीवन का परिचय उत्तम रीति से प्राप्त कर सकते है।

महाभारत—महाभारत और रामायण के वर्तमान रूप भी प्रधानतया इसी काल मे संकलित हुए। महाभारत प्राचीन भारतीय साहित्य का सबसे विशाल और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति, धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष सम्बन्धी विचार, राजधर्म और पुरातन गाथाओ का जैसा उत्तम सग्रह इस ग्रन्थ मे है, वह अन्यत्र कही उपलब्ध नही होता। महाभारत मौर्य-काल से भी पहले विद्यमान था, पर उसके नये-नये सस्करण निरन्तर होते रहते थे और विविध आचार्य उसमे लगातार वृद्धि करते जाते थे। शुंग और सातवाहन राजाओ के समय मे उसमे बहुत कुछ वृद्धि हुई, और उसके बहुत-से संदर्भ निःसंदेह इस काल की दशा पर प्रकाश डालते है।

काव्य और नाटक—इस काल मे संस्कृत और प्राकृत भाषाओ में अनेक काव्यो और नाटकों का निर्माण हुआ। संस्कृत का सुप्रसिद्ध कवि भास कण्व-वंश के समय में

हुआ था। वह मगध का रहने वाला था। उसके लिखे 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' आदि नाटक संस्कृत साहित्य में अद्वितीय स्थान रखते हैं। उन्हें कालिदास और भवभूति के नाटकों के समकक्ष माना जाता है। भास द्वारा विरचित नाटकों की संख्या १३ है। आचार्य अश्वघोष कनिष्क का समकालीन था। उसने 'बुद्धचरितम्' नाम का महाकाव्य और अनेक नाटक लिखे। प्रसिद्ध नाटक 'मृच्छकटिक' का लेखक कवि शूद्रक भी सातवाहन-वंश के शासनकाल में हुआ। नाट्य-शास्त्र का लेखक भरतमुनि और कामसूत्र का रचयिता आचार्य वात्स्यायन भी इसी काल में हुए।

प्राकृत-साहित्य के भी अनेक ग्रन्थ इस समय में बने। सातवाहन-राजा प्राकृत-भाषा के बड़े संरक्षक थे। राजा हाल स्वयं उत्तम कवि और लेखक था। गुणाढ्य जैसा प्राकृत का सर्वोत्कृष्ट कवि इसी काल में हुआ था। संस्कृत साहित्य के समान प्राकृत-साहित्य ने भी इस युग में बहुत उन्नति की।

बौद्ध और जैन साहित्य—बौद्ध और जैन साहित्य का भी इस काल में बहुत विकास हुआ। सम्राट् कनिष्क के संरक्षण में जिस महायान-सम्प्रदाय का विकास हुआ था, उसका बहुत-सा साहित्य इसी समय में बना। बौद्धत्रिपिटक पर महाविभाषा नाम का एक नया भाष्य इस युग में लिखा गया। बौद्ध-धर्म के प्रसिद्ध विद्वान् अश्वघोष, पार्श्व और वसुमित्र इसी काल में हुए। आचार्य नागार्जुन ने महायान के अनेक सूत्रों (सुत्तों) की रचना की। जैन-साहित्य का भी इस काल में बहुत विकास हुआ। पहले छः श्रुतकेवली (पूर्णज्ञानी) आचार्यों के बाद सात दशपूर्वी आचार्य हुए, जिनमें से अन्तिम वज्रस्वामी का समय ७० ई० के लगभग था। इन आचार्यों ने जैन-साहित्य में निरन्तर वृद्धि की। वज्रस्वामी के शिष्य का नाम आर्यरक्षित था। उसने जैन-सूत्रों को अंग, उपांग आदि चार भागों में विभक्त किया था।

षड्दर्शन—प्राचीन भारत के षड्दर्शनों का उनके वर्तमान रूप में संकलन भी इसी काल में हुआ। सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, वेदान्त और मीमांसा—ये छः दर्शन भारतीय विचार तथा तत्त्वचिन्तन के स्तम्भ-रूप हैं। इन विचारधाराओं का प्रारम्भ तो इस युग से बहुत पहले हो चुका था। तत्त्वदर्शी आचार्यों द्वारा जो विचार-सम्प्रदाय प्रारम्भ किये गये थे, उनमें शिष्य-परम्परा द्वारा बहुत पुराने समय से तत्त्व-चिन्तन चला आ रहा था। पर षड्दर्शनों का जो रूप वर्तमान समय में उपलब्ध है, उसका निर्माण इसी मौर्योत्तर युग में हुआ।

विज्ञान—वैद्यक और ज्योतिष-शास्त्र ने भी इस काल में बहुत उन्नति की। चरकसंहिता का लेखक आचार्य चरक कनिष्क का समकालीन था। नागार्जुन भी उत्कृष्ट चिकित्सक था। प्रसिद्ध वैद्यक ग्रन्थ सुश्रुत जिस रूप में आजकल मिलता है, वह नागार्जुन द्वारा ही सम्पादित हुआ था। प्राचीन भारतीय इतिहास में नागार्जुन का बड़ा महत्त्व है। यह महापुरुष केवल वैद्य ही नहीं था, अपितु सिद्ध रसायनशास्त्र, लौहशास्त्र और रसायन-विज्ञान का भी पंडित था। उसने जननविज्ञान पर भी ग्रंथ लिखा था। बाद में वह बौद्ध-संघ का प्रमुख बना। बौद्ध पण्डित के रूप में भी उसने अनेक पुस्तकें लिखी, जिनमें माध्यमिकसूत्रवृत्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अश्वघोष के बाद महायान-सम्प्रदाय का वही नेता बना था।

ज्योतिष-शास्त्र की प्रसिद्ध पुस्तक गर्गसहिता इसी युग मे लिखी गयी। इसके रचयिता गर्गाचार्य थे। उन्होंने यवन लोगों के आक्रमणो का इस प्रकार उल्लेख किया है, जैसे कि ये घटनाएँ उनके अपने समय मे हुई हों। खेद यही है, कि इस ग्रंथ के कुछ अंश ही इस समय मे प्राप्त होते है। पूरा ग्रथ अभी तक उपलब्ध नही हो सका है। आचार्य वराहमिहिर द्वारा ज्योतिष-शास्त्र सम्बन्धी जिन सिद्धान्तों का संग्रह आगे चलकर गुप्तकाल मे पंचसिद्धातिका ग्रन्थ मे किया गया, उनका विकास व प्रतिपादन इस मौर्योत्तर काल मे ही प्रारम्भ हो गया था।

इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि यद्यपि यह काल राजनीतिक दृष्टि से अव्यवस्था, विद्रोह और अशाति का था, पर साहित्य, ज्ञान और संस्कृति के क्षेत्र मे इस समय में भी निरन्तर उन्नति हो रही थी। इस युग के विशाल साहित्य द्वारा इस समय के सामाजिक जीवन, धर्म, सभ्यता, संस्कृति और आर्थिक दशा के सम्बन्ध मे जो अनेक महत्त्वपूर्ण बाते ज्ञात होती है, उनका अब हम सक्षेप से उल्लेख करेंगे।

(४) वैदिक-धर्म का उत्थान

बौद्ध-धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया—मौर्योत्तर काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना भारत में बौद्ध धर्म का ह्रास और सनातन वैदिक धर्म का पुनरुत्थान है। अशोक ने धम्मविजय की जिस जीवनपूर्ण नीति का अवलम्बन किया था, निर्बल हाथो मे वह नाशकारिणी भी हो सकती थी। आखिर, विशाल मागध-साम्राज्य का आधार उसकी सैनिकशक्ति ही थी। सेना से ही अधीनस्थ जनपदो, नष्टीभूत गणराज्यो और विविध सामन्त सरदारो को एक साम्राज्य के अधीन रखा जा सकता था। अशोक के समय मे यह मागध-सेना (मौल, भृत और श्रेणीबल) अक्षुण्ण रूप मे विद्यमान थी। कलिंग के शक्तिशाली जनपद को इसीलिए वह अपने अधीन कर सका था। यद्यपि अशोक स्वयं अस्त्रो द्वारा विजय की अपेक्षा धर्म द्वारा स्थापित की गयी विजय को अधिक महत्त्व देने लगा था, पर उसके समय मे मागध-सेना शक्तिहीन नही हुई थी। पर जब उसके उत्तराधिकारी भी इसी प्रकार शस्त्र-विजय की अपेक्षा धर्म-विजय को महत्त्व देते रहे, तो यह स्वाभाविक था, कि मागध-साम्राज्य की सेना शक्तिहीन होने लगती। इसीलिए अन्तिम मौर्य सम्राटो के समय मे यवनो के आक्रमण प्रारम्भ हो गये, और मागध सेना उनकी बाढ को नही रोक सकी। अशोक की धर्म-विजय की नीति उसके निर्बल उत्तराधिकारियो के हाथो मे असफल और बदनाम हो गयी। सर्वसाधारण जनता मे उससे बहुत असन्तोष हुआ। इसीलिए एक प्राचीन ग्रथकार ने कहा था, कि राजाओ का काम शत्रुओं का दमन व प्रजा का पालन करना है, सिर मुँडाकर चैन से बैठना नही। यह स्वाभाविक था, कि मौर्य-राजाओ की इस असफल नीति से जनता में बौद्ध-धर्म के प्रति भी असन्तोष का भाव उत्पन्न होने लगे। भिक्षुसघ इस समय बड़ा ऐश्वर्यशाली हो गया था। सर्वत्र विशाल व वैभवपूर्ण विहारो की स्थापना हो गयी थी, जिनमें बौद्ध भिक्षु बडे आराम के साथ निवास करते थे। मनुष्यमात्र की सेवा करने वाले, प्राणिमात्र का हित सम्पादन करने वाले, भिक्षावृत्ति से दैनिक भोजन प्राप्त करने वाले और निरन्तर घूम-घूमकर जनता को कल्याण-मार्ग का उपदेश करने वाले बौद्ध-भिक्षुओं का स्थान

अब सम्राटों के आश्रय मे सब प्रकार का सुख भोगने वाले भिक्षुओं ने ले लिया था। सर्वसाधारण जनता के हृदय मे भिक्षुओ के प्रति जो आदर था, यदि अब उसमे न्यूनता आने लगी, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? इसी का परिणाम यह हुआ, कि भारत में बौद्ध-धर्म के प्रतिकूल एक प्रतिक्रिया का प्रारम्भ हुआ और लोगो की दृष्टि उस प्राचीन सनातन धर्म की ओर आकृष्ट हुई, जो शत्रुओ को परास्त कर और सर्वत्र दिग्विजय कर अश्वमेध-यज्ञ के अनुष्ठान का विधान करता था। यही कारण है, कि सेनानी पुष्यमित्र ने अन्तिम मौर्य राजा बृहद्रथ को मार जब राजसिंहासन प्राप्त किया, तो मागध-साम्राज्य के शत्रुओ के विरुद्ध उसने तलवार उठाई और अश्वमेध का आयोजन किया। सातवाहन राजा सातकर्णि ने भी इसी काल मे दो बार अश्वमेध-यज्ञ किए थे। इस समय अश्वमेध-यज्ञ करने की एक प्रवृत्ति-सी उत्पन्न हो गयी थी और इस प्रवृत्ति के पीछे प्राचीन वैदिक धर्म का पुनरुत्थान करने की प्रबल भावना काम कर रही थी।

एक बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार शुंग सम्राट् पुष्यमित्र ने तलवार के बल से भी बौद्ध लोगो का दमन किया था। उसने बहुत-से बौद्ध भिक्षुओ का कत्ल करा दिया था, और अनेक स्तूपो व विहारो को गिरवा दिया था। इस वर्णन मे चाहे अतिशयोक्ति से काम लिया गया हो, पर इसमे सन्देह नही कि शुंगकालीन भारत मे बौद्धो के विरुद्ध एक प्रबल प्रतिक्रिया हो रही थी।

पर बौद्ध धर्म का यह ह्रास केवल मगध और उसके समीपवर्ती प्रदेशो तक ही सीमित था। सुदूर उत्तर-पश्चिम मे बौद्ध-भिक्खु अब भी प्राचीन आदर्शों का पालन करते हुए प्राणीमात्र का कल्याण करने की आकाक्षा से हिन्दुकुश और पामीर की पर्वत-मालाओं को लाँघते हुए आगे बढ रहे थे। शक, युइशि और हूण जातियो में अष्टांगिक आर्य-मार्ग का सन्देश पहुँचाने के लिए वे भारी उद्योग कर रहे थे। इसी प्रकार लंका, बरमा और उससे भी परे के प्रदेशों मे बौद्ध भिक्खुओ का आर्य-मार्ग के प्रसार का प्रयत्न जारी था। इन सब प्रदेशो मे बौद्ध-भिक्खु एक नयी सभ्यता, एक ऊँचे धर्म और एक परिष्कृत संस्कृति के संदेशवाहक बनकर परिभ्रमण कर रहे थे। इन सब स्थानो में बौद्ध-धर्म का उत्कर्ष इस काल में भी जारी रहा। पर वैभवशाली मौर्य सम्राटों का संरक्षण पाकर मगध तथा उत्तरी भारत के अन्य जनपदो मे बौद्ध-भिक्खु कुछ निश्चेष्ट-से हो गए थे। उनके विहारों मे अपार धन था। जब अशोक और अनाथपिंडक जैसे धनिकों ने अपना कोटि-कोटि धन इन बौद्ध-विहारो के अर्पण कर दिया हो, तो यदि उनमे पतन का प्रारम्भ हो जाए और वे सुख-समृद्धि के कारण अपने कर्तव्य से विमुख हो जाएँ, तो इसमे आश्चर्य की कोई बात नही। यही कारण है, कि पुष्यमित्र ने विहारों के धन-वैभव को अपना शिकार बनाया, और पथभ्रष्ट बौद्ध-भिक्षुओं की हत्या करने मे भी संकोच नही किया।

वैदिक धर्म पर बौद्ध धर्म का प्रभाव—शुंग-काल मे जिस वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ, वह प्राचीन वैदिक धर्म से बहुत कुछ भिन्न था। बौद्ध और जैन धर्मों ने जिन विचारधाराओं का प्रसार किया था, वे अन्य धर्मावलम्बियों के विचारों पर प्रभाव न डालती, यह सम्भव नही था। बौद्ध-विचारों का असर इस काल के दर्शनों और धार्मिक विश्वासों पर स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। बौद्ध और जैन सृष्टि के कर्तारूप

में किसी ईश्वर को नहीं मानते थे। सांख्यदर्शन मे भी किसी सृष्टि-कर्त्ता ईश्वर को स्थान नही है। योग-दर्शन भी सृष्टि के निर्माण के लिए किसी ईश्वर की आवश्यकता नही समझता। वेदान्त का ब्रह्म सृष्टि का उपादान कारण है, निमित्त कारण नही। जैसे मिट्टी से घट बनता है, घट मिट्टी का ही एक रूप है, घट मिट्टी से भिन्न कुछ नहीं है, ऐसे ही सृष्टि ब्रह्म से बनी है, सृष्टि ब्रह्म का ही एक रूप है, और सृष्टि ब्रह्म से भिन्न कोई सत्ता नही रखती। वैदिक षड्दर्शनो में से ही तीन के ईश्वर-सम्बन्धी विचार बौद्ध-विचारो के बहुत समीप हैं। वैदिक युग के ईश्वर के विचार से इनकी विचार-प्रणाली मे भारी भेद है। बौद्ध और जैन लोग लोकोत्तर-पुरुषों मे विश्वास रखते थे। बोधिसत्व और तीर्थंकर परम पूर्णपुरुष थे, जो सत्य-ज्ञान के भंडार, पूर्ण ज्ञानी और बुद्ध व जिन कहलाते थे। सांख्यों ने इसी विचारसरणी का अनुसरण कर कपिल को लोकोत्तर ज्ञानी माना। योग ने जिस ईश्वर का प्रतिपादन किया, वह केवल 'सबसे बडा ज्ञानी' है। ईश्वर की सत्ता के लिए योगदर्शन की यह युक्ति है, 'निरतिशय सर्वज्ञबीजम्'। हमे ज्ञान के बारे मे अतिशयता नजर आती है। एक व्यक्ति दूसरे की अपेक्षा अधिक ज्ञान रखता है। कोई अन्य उससे भी अधिक ज्ञान रखता है। ऐसे ही विचार करते-करते एक ऐसी सत्ता की कल्पना की जा सकती है, जिससे अधिक ज्ञानवान् कोई नही होगा और जो सर्वज्ञ होगा, वही ईश्वर है। ऐसा व्यक्ति बुद्ध भी हो सकता है, वर्धमान महावीर भी, कपिल भी, श्रीकृष्ण भी या अन्य कोई भी। बौद्ध और जैन ऐसे ही भगवान् को मानते थे। सांख्य और योग शास्त्रों पर इन सम्प्रदायो के विचारो का असर कितना प्रत्यक्ष है।

वैदिक धर्म का नया रूप—प्राचीन वैदिक धर्म मे प्रकृति की विविध शक्तियों के रूप में ईश्वर की पूजा की जाती थी। इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि आदि उस धर्म के प्रधान देवता थे। पर अब उनका स्थान उन महापुरुषो ने ले लिया, जिनका कि सर्व-साधारण मे अपने लोकोत्तर गुणों के कारण अनुपम आदर था। शुंग-काल मे जिस सनातन वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ, उसके उपास्य देव वासुदेव, संकर्षण और शिव थे। बौद्ध और जैन धर्मों मे जो स्थान बोधिसत्वो और तीर्थंकरो का था, वही इस सनातन धर्म मे इन महापुरुषो का हुआ। बुद्ध और महावीर सर्वज्ञ थे, पूर्ण पुरुष थे। उनके गुणो को प्रत्येक मनुष्य जान सकता था, उनके चरित्र का अनुशीलन कर शिक्षा ग्रहण कर सकता था, और उनकी मूर्ति के सम्मुख बैठकर उनका साक्षात्कार कर सकता था। अब प्राचीन परिपाटी का अनुसरण कर अश्वमेध-यज्ञ का पुनरुद्धार करने वाले शुंगो और सातवाहनो के धर्म मे संकर्षण और वासुदेव पूर्ण पुरुष थे, पूर्ण ज्ञानी थे और उनकी मूर्तियाँ दर्शनो के लिए विद्यमान थी। इस काल के धार्मिक नेताओं ने प्राचीन महापुरुषो मे देवत्व की कल्पना कर उनको बुद्ध और महावीर के समकक्ष बना दिया। निर्गुण और निराकार ईश्वर के स्थान पर सगुण और अवतार ग्रहण करने वाले ईश्वर की कल्पना हुई। इन अवतारो की मूर्तियाँ बनने लगी, और उन्हें मन्दिरों में प्रतिष्ठापित कर उनकी पूजा प्रारम्भ हो गई। प्राचीन वैदिक धर्म मे यज्ञों के कर्मकांड की प्रधानता थी। कुण्ड मे अग्नि की प्रतिष्ठा कर विविध देवताओ का आवाहन किया जाता था, और घृत, अन्न, समिधा आदि की आहुति देकर इन देवताओं को सन्तुष्ट

किया जाता था। पर बौद्ध और जैन धर्मों के प्रभाव से जब एक बार यज्ञों की परिपाटी शिथिल पड़ गयी, तो उसका इस युग मे भी पूर्णतया पुनरुत्थान नही हुआ। उपलक्षण के रूप में अश्वमेध-यज्ञ अब अवश्य किये जाने लगे, पर सर्वसाधारण जनता मे यज्ञों का पुनः प्रचलन नही हुआ। यज्ञो का स्थान इस समय मूर्तिपूजा ने ले लिया। शुंग-युग में जिस प्राचीन सनातन धर्म का पुनरुद्धार हुआ, वह शुद्ध वैदिक नही था, उसे पौराणिक कहना अधिक उपयुक्त होगा।

भागवत-धर्म—इस नये पौराणिक धर्म की दो प्रधान शाखाएं थी, भागवत और शैव। शूरसेन जनपद के सात्वत लोगो में देर से वासुदेव कृष्ण की पूजा चली आ रही थी। पुराने युग में कृष्ण शूरसेन देश के महापुरुष व वीर नेता हुए थे। कृष्ण जहाँ अंधक-वृष्णि-संघ के प्रमुख थे, वहाँ बडे विचारक, दार्शनिक और धर्मोपदेशक भी थे। कुरुक्षेत्र के रणक्षेत्र में अपने निकट सम्बन्धियो को युद्ध के लिए सम्मुख खडा देख जब अर्जुन दुविधा मे पड़ गया था, तो कृष्ण ने उन्हे गीता का उपदेश दिया था। उन्ही के उपदेश से अर्जुन मे बल का सचार हुआ, और वह कर्त्तव्यपालन के लिए तत्पर हुआ। वृद्धावस्था मे कृष्ण योगी हो गए थे, और अधक-वृष्णि-सघ का नेतृत्व छोड उन्होने मुनियो का जीवन व्यतीत किया था। जिस प्रकार वर्धमान महावीर ज्ञातृकगण में उत्पन्न हुए और गौतम बुद्ध शाक्यगण मे, उसी प्रकार कृष्ण अन्धक-वृष्णि गण मे प्रादुर्भूत हुए थे। उनके गण मे गीता की विचारधारा इसी समय प्रचलित हो गई थी। शूरसेनवासी न केवल कृष्ण की शिक्षाओं को मानते थे, पर साथ ही उन्हे लोकोत्तर पुरुष के रूप मे पूजते भी थे। अब जब कि बौद्ध और जैन धर्मो के प्रभाव से सनातन आर्य-धर्मावलम्बी लोग भी लोकोत्तर सर्वज्ञ पुरुषो मे ईश्वरीय शक्ति का आभास देखने के लिए उद्यत थे, कृष्ण की पूजा का लोकप्रिय हो जाना सर्वथा स्वाभाविक था। सात्वतो का यह भागवत-धर्म अब सर्वत्र फैलने लगा। निःसन्देह, कृष्ण लोकोत्तर पुरुष थे। उनका जीवन आदर्श था, उनकी शिक्षाएँ अपूर्व थी। यदि उनमें ईश्वरीय भावना करके, उन्हे ईश्वर का अवतार मान के, उनके रूप मे सगुण परमेश्वर की पूजा की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो, तो यह सर्वथा स्वाभाविक था। कृष्ण को बुद्ध और महावीर के समकक्ष रखा जा सकता था। बुद्ध और महावीर के रूप मे जिस प्रकार के महापुरुषो की पूजा का जनता को सदियो से अभ्यास था, कृष्ण का इस युग का रूप उसी के अनुकूल था। धीरे-धीरे कृष्ण को वैदिक विष्णु का अवतार माना जाने लगा, और उनके सम्बन्ध मे बहुत-सी गाथाओं का प्रारम्भ हुआ। श्रीमद्भगवद्गीता इस भागवत-सप्रदाय का मुख्य धर्मग्रन्थ था। महाभारत और भागवतपुराण में कृष्ण के दैवी रूप और माहात्म्य के साथ सम्बन्ध रखने वाली बहुत-सी कथाएँ सगृहीत है।

बौद्ध-धर्म आचार-प्रधान था। याज्ञिक कर्मकाण्ड को उसमे कोई स्थान न था। वह अहिंसा का प्रतिपादक था। बुद्ध के अनुयायी यद्यपि ईश्वर को नही मानते थे, पर बुद्ध की उपासना उन्होने पूर्णपुरुष के रूप मे प्रारम्भ कर दी थी। चार सदियो तक निरन्तर बौद्ध-धर्म भारत का प्रधान धर्म रहा था। इस सुदीर्घ काल मे भारत की जनता मे जिन विचारो ने भली-भांति घर कर लिया था, वे निम्नलिखित थे—(१) याज्ञिक कर्मकाण्ड उपयोगी नही है। (२) यज्ञ व धार्मिक अनुष्ठनो मे पशुओं की हिंसा व

बलिदान उचित नही है। (३) मनुष्य को अपनी उन्नति के लिए एक पूर्ण पुरुष को आदर्श के रूप में सम्मुख रखना चाहिए। निर्गुण, निराकार और अरूप ब्रह्म की पूजा से काम नही चल सकता। उन्नति के पथ पर आरूढ़ होने के लिए मनुष्य के सम्मुख बुद्ध या महावीर सदृश पूर्ण सगुण पुरुष आदर्श के रूप में रहने चाहिएँ, जिनके चरित्र व जीवन से मनुष्य लाभ उठा सके।

ये विचार भारतीय जनता मे इतने दृढ़ हो चुके थे, कि दूसरी सदी ई० पू० में जब वैदिक धर्म का पुनरुत्थान होने लगा, तो पुराने याज्ञिक कर्मकाण्डो का उद्धार नहीं हुआ। भागवत-धर्म के रूप मे पुरानी वैदिक मर्यादा का जो संस्करण अन्धक-वृष्णि लोगों मे प्रचलित था, जनता ने उसे अपनाया। यह भागवत-धर्म उस समय के लोगों के विचारों के बहुत अनुकूल था। इसकी मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित थी—(१) भागवत लोग यज्ञो मे पशु-हिसा को उचित नही मानते थे। कृष्ण ने यज्ञो का विरोध नही किया। पर उनके जटिल अनुष्ठानो और हिंसात्मक विधानो का भी उन्होंने समर्थन नही किया। (२) यदि बौद्धों और जैनो के पास बुद्ध और महावीर के रूप मे आदर्श पुरुष थे, तो भागवतों के पास वासुदेव कृष्ण के रूप मे एक ऐसा पूर्ण पुरुष था जो आदर्श बालक, आदर्श युवा, आदर्श राजनीतिज्ञ, आदर्श योगीराज और आदर्श तत्त्व-ज्ञानी था। अब वैदिक धर्म के अनुयायियो को निर्गुण निराकार ब्रह्म की उपासना की आवश्यकता नही थी। उनके सम्मुख एक ऐसा देवता विद्यमान था, जो ब्रज मे शरीर धारण कर ग्वाल-बालो के साथ खेलता है, जरासध और कंस जैसे अत्याचारियो का वध करता है, कुरुक्षेत्र के मैदान मे गीता का उपदेश करता है, और योगीराज बनकर अपने शरीर का त्याग करता है। इस देवता के सुदर्शन चक्र मे अपार शक्ति है। यह अपने भक्तो की सहायता व उद्धार के लिए सदा तत्पर रहता है। उसकी भक्ति व उपासना करने से मनुष्य अपना अभिलषित फल प्राप्त कर सकता है। (३) यह वासुदेव कृष्ण साधारण पुरुष नही था, वह विष्णु का अवतार था। यदि गौतम बुद्ध ने अनेक पूर्वजन्मो की साधना द्वारा पूर्णता को प्राप्त किया था, तो कृष्ण के रूप में साक्षात् विष्णु भगवान् ने अवतार लिया था। (४) पुराने वैदिक धर्म मे ईश्वर व देवताओ की पूजा के लिए यज्ञो का अनुष्ठान होता था। इस भागवत-धर्म मे उनकी पूजा के लिए मन्दिर और मूर्तियाँ बनने लगी। जिस प्रकार बौद्ध लोग बुद्ध की मूर्तियाँ बनाते थे, उसी प्रकार भागवतो ने कृष्ण, विष्णु व अन्य वैदिक देवताओ की मूर्तियाँ बनानी प्रारम्भ की। इन मूर्तियों की मन्दिरो मे प्रतिष्ठा की जाती थी। मन्दिरों में पूजा की जो नयी पद्धति शुरू हुई, उसमे विधि-विधान या कर्मकाण्ड की अपेक्षा भक्ति का मुख्य स्थान था। भक्त लोग मन्दिरो मे एकत्र होते थे, गीत गाकर, नैवेद्य चढ़ाकर, और पूजा कर वे अपने उपास्य देव को रिझाते थे। सर्वसाधारण जनता के लिए यज्ञो के अनुष्ठानो की अपेक्षा धर्म का यह रूप बहुत सरल और क्रियात्मक था।

पर यह ध्यान मे रखना चाहिए, कि वैष्णव या भागवत-धर्म का जो रूप आजकल प्रचलित है, वह दूसरी सदी ई० पू० मे नही था। उस समय तक भागवत-धर्म मे कृष्ण की गोपी-लीलाओ की कहानियाँ नही जुड पायी थी। कृष्ण के सम्बन्ध मे जो बहुत-सी गाथाएँ आजकल प्रचलित है, जिनमें उसकी प्रेम-लीलाओं का वर्णन

हैं, वे सब उस समय तक विकसित नहीं हुई थी। दूसरी सदी ई० पू० के कृष्ण एक आदर्श पुरुष थे, जिनमें विष्णु, नर-नारायण आदि वैदिक देवताओं के गुण अविकल रूप मे प्रकट हुए थे। इसीलिए उनकी इन देवताओ के साथ अभिन्नता थी।

शैव धर्म—शैव-धर्म का प्रवर्त्तक लकुलीश नाम का आचार्य था। पुराणो के अनुसार वह शिव का अवतार था। वह गुजरात देश में भरुकच्छ के पास कारोहण या कायावरोहण नामक स्थान पर प्रगट हुआ था। लकुलीश ने जो ग्रंथ लिखा, उसका नाम पंचाध्यायी या पंचार्थविद्या था। दूसरी सदी ई० पूर्व तक शैव-धर्म भी भारत में भली-भाँति विकसित होने लगा था, और उसके अनुयायियों को 'शिवभागवत' या शैव कहा जाता था।

शिव भी वैदिक देवताओ में से एक है। अनेक वेदमन्त्रों में उसका वर्णन व स्तुति की गयी है। उसी का एक अन्य नाम रुद्र था। जब वह दुष्टों का दमन व सृष्टि का प्रलय करता है, तो रुद्र रूप धारण करता है। जब वही देव प्रसन्न होकर सृष्टि का पालन और धारण करता है, तो शिव व शंकर कहाता है। जिस प्रकार वासुदेव कृष्ण के अनुयायियो ने विष्णु को अपना उपास्य देव माना और कृष्ण से उसकी अभिन्नता स्थापित की, उसी प्रकार शिव भागवतो ने रुद्र या शिव को अपना उपास्य देव माना और लकुलीश से उसकी अभिन्नता प्रतिपादित की। शुरू मे शैव-धर्म को शिव-भागवत, लाकुल (लकुलीश के नाम पर), पाशुपत और माहेश्वर नामों से जाना जाता था। आगे चलकर इसके अनेक सम्प्रदायो का विकास हुआ, जिनमे कापालिक और कालमुख विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

शैव लोग भी विधर्मियो को अपने धर्म मे दीक्षित करते थे। अनेक विदेशी आक्रान्ता शैव-धर्म की ओर भी आकृष्ट हुए। इनमें कुशाण-राजा विम मुख्य है। उसके कुछ सिक्कों पर त्रिशूलधारी शिव की प्रतिमा है, जो अपने वाहन नन्दी के समीप खडा है। विम के समान अन्य भी अनेक विदेशियो ने शैव-धर्म की दीक्षा ली। वैष्णव भागवतों के समान शैव भागवत धर्म का भी बौद्ध धर्म के ह्रास के बाद विशेष रूप से प्रचार होने लगा था।

शैव-मंदिरो मे पहले शिव की मूर्ति स्थापित की जाती थी। शैव लोग उसकी भक्ति व उपासना करते थे। बाद मे शिव का स्थान लिंग ने ले लिया। शैव लोग लिंग की पूजा करने लगे। इस परिवर्तन के दो कारण हुए। ऐसा प्रतीत होता है, कि शैव-धर्म को किसी ऐसी विदेशी जाति ने विशेष रूप से अपनाया, जिसमें लिंग की पूजा प्रचलित थी। जब कोई जन-समाज किसी नये धर्म को अपनाता है, तो उस जन-समाज के पुराने विश्वास व प्रथाएँ भी नये रूप मे उस धर्म में समाविष्ट हो जाती हैं। जब इस्लाम का प्रचार ईरान में हुआ, तो वहाँ की अनेक बातें इस्लाम-धर्म मे आ गयी। इसी से शिया-सम्प्रदाय का विकास हुआ। इसी प्रकार किसी लिंग-पूजक जाति के शैव-सम्प्रदाय को अपना लेने पर वह पूजा शैव-धर्म में आ गयी, और लिंग को भगवान् शिव का चिह्न या लिंग मान लिया गया। साथ ही, संसार की जो सर्वोपरि उत्पादन शक्ति है, लिंग उसका प्रतीक है। भगवान् शिव सृष्टि का पालन व संहार करते हैं। उनका चिह्न सृष्टि की इस रहस्यमयी मूलशक्ति से बढ़कर कौन-सा हो सकता है?

शैव-धर्म को जिन लोगो ने अपनाया, उनमे यौधेयों का उल्लेख करना उपयोगी है। प्राचीन भारत के गणराज्यों मे यौधेय गण का बहुत प्रमुख स्थान था। इन यौधयों के सिक्कों पर भी नन्दी सहित शिव की प्रतिमा पायी जाती है। यौधेय लोग 'शिव भागवत' थे।

सूर्य की पूजा—विष्णु और शिव के समान सूर्य की पूजा भी इस समय भारत में प्रचलित हुई। सूर्य भी वैदिक देवताओ मे से एक है। वैदिक काल मे उसकी भी मान्यता भारत मे विद्यमान थी। पर सूर्य की पूजा के लिए मंदिरों की स्थापना नहीं की जाती थी। अब इस युग मे भारत मे सूर्य के भी मंदिर बनाये गये और उनमें सूर्य की मूर्ति स्थापित की गयी। ऐसा प्रतीत होता है, कि सूर्य की इस नये रूप मे पूजा का श्रेय भारत और प्राचीन ईरान (शाकद्वीप) के सम्बन्ध को है। भविष्यपुराण के अनुसार सूर्य की पूजा के लिए शाकद्वीप से मग ब्राह्मणो को बुलाया गया था। प्राचीन ईरान मे सूर्य की पूजा देर से प्रचलित थी। ईरान के लोग भी आर्य-जाति के थे, और उनके धर्म व सस्कृति का भारत के आर्यो से सन्निकट सम्बन्ध था। इन मग व ईरानी ब्राह्मणो ने भारत मे सूर्य व मिहिर की पूजा की व्यवस्था की। कनिष्क के अनेक सिक्को पर मिहिर की प्रतिमा भी अंकित है। वर्तमान समय मे जो सूर्य के मदिर विद्यमान है, उनमे मुलतान (मूलस्थानपुर) का सूर्यमंदिर सबसे प्राचीन है। प्राचीन समय मे अन्यत्र भी बहुत-से सूर्य-मंदिर विद्यमान थे। इनके बहुत-से खण्डहर इस समय काश्मीर, अलमोडा आदि मे मिलते है।

बौद्ध-धर्म के ह्रास के बाद भारत मे जिस धर्म का प्रचार हुआ, वह वैदिक परम्परा के अनुकूल था, वह वेदो में विश्वास रखता था। पर उसका स्वरूप यज्ञ-प्रधान पुराने वैदिक धर्म से बहुत भिन्न था। उसमे कर्मकाण्ड का स्थान भक्ति व पूजा ने ले लिया था। वासुदेव कृष्ण, शिव और सूर्य के अतिरिक्त शक्ति, स्कन्द, गणपति आदि अन्य भी अनेक देवताओ की मूर्तियाँ इस समय बनी, और उनके मदिर भी स्थापित किये गये। इस सब प्रवृत्ति की तह मे वही भक्ति-भावना काम कर रही थी, जिसका प्रतिपादन कृष्ण ने इन शब्दो मे किया था, 'सब धार्मिक अनुष्ठानो को छोडकर एक मेरी शरण मे आओ'। वैदिक देवताओ की पूजा का यह एक नया प्रकार इस समय भारत मे प्रचलित हो गया था।

(५) बौद्ध धर्म की प्रगति

बौद्ध साहित्य के अनुसार पुष्यमित्र शुंग बौद्ध धर्म का कट्टर शत्रु था। उसने बौद्धो पर अनेकविध अत्याचार किये, और शाकल (सियालकोट) मे यह आदेश दिया कि जो कोई किसी बौद्ध भिक्षु का संहार करके उसका सिर प्रस्तुत करेगा, उसे १०० सुवर्ण मुद्राएँ प्रदान की जाएँगी। इसमे सन्देह नही, कि पुष्यमित्र के समय में प्राचीन वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ था, और शुंग, कण्व व सातवाहन राजा बौद्ध धर्म के अनुयायी व सरक्षक नही थे। पर इससे यह परिणाम निकालना सही नही है, कि दूसरी सदी ई० पू० से भारत मे बौद्ध धर्म का ह्रास प्रारम्भ हो गया, और इस देश

की जनता बुद्ध द्वारा प्रतिपादित अष्टांगिक आर्य मार्ग से विमुख हो गई। शुंग-कण्व-सातवाहन युग में न केवल सर्वसाधारण जनता में बौद्ध धर्म का भली-भांति प्रचार था, अपितु इस काल के बहुसंख्यक विदेशी (यवन, शक और कुशाण) शासकों ने भी इस धर्म को अपना लिया था। यही कारण है कि इस युग के अनेक शिलालेखो में बौद्ध विहारों, स्तूपों और चैत्यों को दिये गये दान का उल्लेख पाया जाता है। अनेक प्रसिद्ध बौद्ध स्तूप शुग-कण्व युग मे ही बने थे। भरहुत स्तूप, कार्ले के गुफागृह और सांची का प्रसिद्ध स्तूप प्रधानतया इसी युग की कृति हैं। यद्यपि उनका निर्माण मौर्य युग में प्रारम्भ हो चुका था, पर वे इसी काल मे अपने वर्तमान रूप मे आये थे। प्रसिद्ध यवन राजा मिनान्डर (मिलिन्द) ने न केवल बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली थी, अपितु उसके प्रचार व उत्कर्ष का भी उसने उद्योग किया था। उसके कतिपय सिक्को पर धर्मचक्र अकित है, और उसने अपने साथ 'त्रात' और 'ध्रमिय' (धार्मिक) विशेषणो का प्रयोग किया है। मिनान्डर के अनुकरण मे बहुत-से अन्य यवन राजाओं ने भी बौद्ध धर्म को स्वीकार किया था। अगथोक्लीज नामक यवन राजा ने अपने सिक्को पर स्तूप और बोधि-वृक्ष को अंकित किया है। प्रसिद्ध कुशाण सम्राट् कनिष्क भी बौद्ध धर्म का अनुयायी था, और उसने इस धर्म के प्रचार के लिए विशेष रूप से उद्योग भी किया था।

बौद्ध धर्म के आन्तरिक विकास की दृष्टि से भी शुंग-कण्व-सातवाहन युग का बहुत महत्त्व है। विभिन्न प्रदेशों और राज्यों में बौद्ध धर्म के प्रसार का यह परिणाम स्वाभाविक था, कि उसमे विविध आचार-विचार और मन्तव्यों का भेद उत्पन्न होने लगे। विभिन्न मनुष्यो, जातियो व समाजो में जो आचार-विचार, विश्वास व सस्कार बद्धमूल होते है, किसी नये धर्म मे दीक्षित हो जाने से वे पूर्णतया मिट नही जाते। उनके कारण एक ही धर्म मे विभिन्न सम्प्रदायो का प्रादुर्भाव हो जाता है। महात्मा बुद्ध की मृत्यु के एक सदी पश्चात् जब वैशाली मे बौद्ध धर्म की द्वितीय संगीति (महा-सभा) हुई, तो पारस्परिक मतभेद के कारण बौद्ध लोग दो सम्प्रदायो मे विभक्त हो गये, जिन्हे महासांघिक और स्थविरवाद (थेरवाद) कहते हैं। स्थविरवाद के केन्द्र कौशाम्बी और उज्जैनी थे, और महासाघिक सम्प्रदाय वैशाली व पाटलिपुत्र मे केन्द्रित था। अगली एक सदी मे महासाघिक सम्प्रदाय आठ निकायों मे विभक्त हो गया, जिनमे एकव्यावहारिक और लोकोत्तर प्रमुख थे। इसी प्रकार बाद मे स्थविरवाद मे भी अनेक सम्प्रदायो का विकास हुआ, और अशोक के समय तक बौद्ध धर्म अठारह सम्प्रदायो मे विभक्त हो चुका था। बौद्ध धर्म की तृतीय संगीति मे अशोक ने इन भेदो को दूर करने का प्रयत्न किया, और उसमे सफल न होने पर उसने स्थविरवाद को बुद्ध की मूलशिक्षाओं के अनुरूप घोषित किया। अशोक ने जिस बौद्ध धर्म को देश-विदेश में प्रसारित करने के लिए महान् उद्योग किया था, वह स्थविरवाद ही था। इसी के सिद्धान्तों को मोग्गलिपुत्त तिस्स ने 'कथावत्थु' नामक ग्रन्थ मे युक्तिपूर्वक प्रतिपादित किया था।

महासाघिक सम्प्रदाय के अनुयायी बुद्ध के लोकोत्तर स्वरूप मे विश्वास करते थे। बुद्ध के लौकिक रूप का उनके सिद्धान्त में कोई स्थान नही था। उनका विश्वास

था, कि बुद्ध सर्वज्ञ थे और मानव निर्बलताओं से सर्वथा विमुक्त थे। उन्होंने दार्शनिक सिद्धान्तों का भी विकास किया, और यह प्रतिपादित किया कि 'मूलविज्ञान' एक ऐसा तत्त्व है जो प्राणीरूप से पुनर्जन्म लेता है। यह महासांघिक सम्प्रदाय ही था, जिससे कि आगे चलकर महायान का विकास हुआ। प्रारम्भ मे इस सम्प्रदाय का केन्द्र वैशाली में था, पर बाद में यह भारत में अनेक प्रदेशों मे फैल गया, और अमरावती और नागार्जुनकोण्ड इसके प्रधान केन्द्र हो गये। महासांघिक सम्प्रदाय का प्रवर्तक महाकस्सप को माना जाता है।

स्थविरवाद का प्रवर्तक महाकच्छपायन था, जो उज्जैनी का निवासी था। क्योंकि राजा अशोक द्वारा सगठित तृतीय सगीति ने इसे ही बुद्ध की शिक्षाओं के अनुरूप स्वीकृत किया था, अतः अशोक के पुत्र महेन्द्र ने इसी का श्रीलंका मे प्रचार किया, और मोग्गलिपुत्त तिस्स द्वारा प्रेषित अन्य प्रचारक भी इसी को विविध प्रदेशों में ले गये। मथुरा, गान्धार, काश्मीर आदि में इसी सम्प्राय का प्रचार हुआ।

स्थविरवाद के विभिन्न सम्प्रदायो मे सर्वास्तिवाद सर्वप्रधान है। यह सम्प्रदाय तत्त्वो की अनित्यता मे विश्वास न कर उन्हे उसी प्रकार से नित्य स्वीकार करता है, जैसे कि वैशेषिक दर्शन के अनुयायी परमाणुओं को नित्य मानते है। कुशाण सम्राट् कनिष्क सर्वास्तिवाद मे ही विश्वास रखता था, और उसके समय मे इस सम्प्रदाय का मध्य एशिया और चीन मे भी प्रवेश हुआ।

सम्राट् कनिष्क के समय मे बौद्ध धर्म की चौथी सगीति (महासभा) हुई। काश्मीर के कुण्डलवन विहार मे ५०० बौद्ध विद्वान् एकत्र हुए, जिनमें आचार्य वसुमित्र और पार्श्व प्रधान थे। महासभा मे एकत्र विद्वानो ने बौद्ध धर्म के सिद्धान्तो को स्पष्ट करने और विविध सम्प्रदायो के मतभेद को दूर करने के लिए 'महाविभाषा' नाम का एक विशाल ग्रन्थ तैयार किया। यह ग्रन्थ बौद्ध त्रिपिटक के भाष्य के रूप मे लिखा गया था।

महायान सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव—यद्यपि बौद्ध धर्म मे विभिन्न सम्प्रदायों का विकास बहुत पहले ही प्रारम्भ हो गया था, पर दूसरी सदी ई० पू० के लगभग बौद्धों मे एक नवीन सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ, जिसे 'महायान' कहते है। जैसा कि हमने अभी ऊपर लिखा है, महायान का विकास महासांघिक सम्प्रदाय से हुआ था, जिसके प्रधान केन्द्र अमरावती और नागार्जुन-कोण्ड (आन्ध्र मे) थे। अष्टसाहस्रिका-प्रज्ञा-पारमिता मे लिखा है, कि महायान की उत्पत्ति दक्षिणापथ मे हुई, जहाँ से वह प्राच्य देश में गया और फिर उत्तरापथ मे जाकर भली-भाँति विकसित हुआ। इसमे सन्देह नही, कि महायान का प्रादुर्भाव आन्ध्र प्रदेश मे हुआ था, जो चिरकाल से महासांघिक सम्प्रदाय का प्रधान केन्द्र था। अन्यत्र उसका प्रसार वही से हुआ। जिन आचार्यों ने इसका विशेष रूप से प्रतिपादन किया, उनमे नागार्जुन, आर्यदेव, असंग और वसुबन्धु के नाम उल्लेखनीय है। नागार्जुन का जन्म विदर्भ के एक ब्राह्मण परिवार मे हुआ था, और अपने ज्ञान व शील के कारण बौद्ध जगत् मे उसने प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया था। असंग भी जन्म से ब्राह्मण था और पेशावर का निवासी था। वसुबन्धु उसी का भाई था।

महायान के अनुसार मनुष्य के जीवन का उद्देश्य बोधिसत्त्व के आदर्श को प्राप्त करना है। चाहे कोई भिक्षु हो या उपासक (गृहस्थ), प्रत्येक को बोधिसत्त्व का पद प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। इसके लिए मनुष्यों को निम्नलिखित पारमिताओ को अपने जीवन में क्रियान्वित करना चाहिए—दान, शील, शान्ति, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा, उपायकौशल्य, प्रणिधान, बल और ज्ञान। इन पारमिताओ का अविकल रूप से पालन करने पर ही बोधिसत्त्व का पद प्राप्त किया जा सकता है, और बोधिसत्त्व हुए बिना कोई बुद्धत्व को प्राप्त नही कर सकता। गौतम को भी बुद्धत्व प्राप्त करने से पूर्व बहुत-से पूर्वजन्मो में इन पारमिताओ का पालन कर बोधिसत्त्व की स्थिति प्राप्त करनी पडी थी। जातक और अवदान साहित्य मे गौतम द्वारा पूर्वजन्मो मे किये गये उन सुकृतो का ही उल्लेख है, जिनके कारण उसने पहले बोधिसत्त्व पद प्राप्त किया और अन्त में बुद्धत्व।

महासांघिकों के समान महायान के अनुयायी भी बुद्ध के लोकोत्तर स्वरूप मे विश्वास करते थे। इसी कारण समयान्तर मे उन्होने बुद्ध की मूर्तियाँ बनाना और उन्हें चैत्यो व मन्दिरों मे प्रतिष्ठित कर उनकी पूजा प्रारम्भ की। बौद्धों में मूर्त्ति-पूजा का जो इतना अधिक प्रचार हुआ, उसका श्रेय महासांघिको और महायान को ही है। बुद्ध की मूर्त्ति की पूजा द्वारा अपनी धार्मिक भावना की सतुष्टि करना एक ऐसा साधन था, जिस के कारण यह धर्म सर्वसाधारण जनता मे बहुत लोकप्रिय हुआ, और धीरे-धीरे न केवल भारत में अपितु अन्य देशों में भी बहुत-से ऐसे बौद्ध बिहार व चैत्य स्थापित हो गये, जिनमें एकत्र होकर सर्वसाधारण उपासक भी अपनी धार्मिक क्षुधा को शान्त कर सकते थे।

महायान के अनुयायी अपने से भिन्न सम्प्रदायों के लिए 'हीनयान' संज्ञा का प्रयोग करते थे। परिणाम यह हुआ, कि महायान के प्रादुर्भाव के अनन्तर बौद्ध धर्म दो प्रधान विभागों में विभक्त हो गया, महायान और हीनयान। अन्य सब सम्प्रदाय इन्हीं के अन्तर्गत हो गये।

क्योकि महायान के विकास के साथ-साथ मूर्तिपूजा का विशेष रूप से प्रचार हुआ, अतः भारत मे मूर्ति कला भी विशेष रूप से विकसित होने लगी। इस कला के विकास पर हम इसी अध्याय मे आगे प्रकाश डालेंगे।

(६) जैन धर्म की प्रगति

वर्धमान महावीर की जीवनी, उनकी शिक्षाओ और जैन साहित्य के सम्बन्ध मे इस इतिहास मे पहले लिखा जा चुका है। बौद्ध धर्म के साथ-साथ जैन धर्म का भी भारत के विभिन्न प्रदेशों मे प्रचार होता रहा, और बहुत-से नरनारी उसके अनुयायी हो गये। जैन धर्म के अनुसार मनुष्य के जीवन का चरम लक्ष्य 'कैवलित्त्व' प्राप्त करना है। वर्धमान महावीर 'केवली' पद को प्राप्त करने में समर्थ हुए थे, और उनके पश्चात् गौतम इन्द्रभूति, सुधर्मा और जम्बूस्वामी आदि अन्य भी अनेक ऐसे मुनि हुए, जिन्होने कैवल्य पद को प्राप्त किया था। पर इनके पश्चात् कोई मनुष्य केवलित्त्व पद को प्राप्त नहीं कर सका। बाद के जैन मुनि या तो श्रुतकेवली हुए और या देशपूर्वी।

श्रुतकेवली उन मुनियो को कहते थे जो शास्त्रो के तो पूर्ण पण्डित हो, पर जो केवलित्व के चरम लक्ष्य को प्राप्त न कर सके हों। दशपूर्वी मुनि शास्त्रो के दश 'पूर्वों' मे ही दक्ष होते थे। जैन अनुश्रुति मे इन केवली, श्रुतकेवली और दशपूर्वी मुनियों का वृत्तान्त पर्याप्त विस्तार के साथ दिया गया है। पर इस इतिहास मे उसका उल्लेख करना निरर्थक है।

जैन धर्म के इतिहास की प्रधान उल्लेखनीय घटना उसका दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों मे विभक्त होना है। जैन अनुश्रुति के अनुसार आचार्य भद्रबाहु ने यह भविष्यवाणी की थी, कि शीघ्र ही उत्तरी भारत मे एक घोर दुर्भिक्ष पडने वाला है जो बारह वर्ष तक रहेगा। इस भावी विपत्ति को दृष्टि मे रखकर उन्होने यह निश्चय किया कि अपने अनुयायियो के साथ दक्षिण भारत में प्रवास कर लिया जाए, जहाँ दुर्भिक्ष की कोई सम्भावना नहीं थी। पर भद्रबाहु के सब अनुयायी उनके साथ सुदूर दक्षिण जाने के लिए तैयार नही हुए। ऐसे व्यक्तियो को मगध मे ही छोडकर आचार्य भद्रबाहु ने अपने १२,००० साथियो के साथ दक्षिण की ओर प्रस्थान कर दिया, और कर्णाटक राज्य में श्रवणबेलगोला नामक स्थान पर जाकर आश्रय लिया। वहाँ पहुँचकर भद्रबाहु ने अनुभव किया कि उनका अन्त समय समीप आ गया है, अतः मुनियों की परम्परा का अनुसरण कर उन्होंने अनशन व्रत द्वारा प्राणो का त्याग किया। भद्रबाहु के पश्चात् आचार्य विशाख उनके स्थान पर जैनों के नेता बने। जैन अनुश्रुति के अनुसार जिन लोगों ने दुर्भिक्ष के इस अवसर पर मगध से दक्षिण के लिए प्रस्थान किया था, उनमे राजा चन्द्रगुप्त मौर्य भी थे। यह चन्द्रगुप्त अशोक के पितामह चन्द्रगुप्त मौर्य थे, या अशोक के पौत्र सम्प्रति (चन्द्रगुप्त द्वितीय), इस प्रश्न पर मतभेद है। यहाँ जिस तथ्य की ओर हमें निर्देश करना है, वह यह है कि जो बहुत-से जैन इस समय दक्षिण की ओर न जाकर मगध व उत्तरापथ मे ही रहते रहे थे, उनके आचरण व आचार-विचार मे कुछ अन्तर आना प्रारम्भ हो गया था। उनके मुनियो ने इस समय से श्वेत वस्त्र पहनना प्रारम्भ कर दिया, जब कि पुराने मुनि निर्वसन होकर ही रहा करते थे। उन्होंने एक विशेष परिधान द्वारा, जिसे अर्धफालक कहते थे, अपने सिर भी ढकने प्रारम्भ कर दिये। उत्तरापथ के इन जैन मुनियो के नेता आचार्य स्थूलभद्र थे। दुर्भिक्ष की समाप्ति पर जब दक्षिण मे प्रवासी हुए जैन उत्तरापथ वापस लौटे, तो उनके नेता विशाख ने मुनियों के उन मतभेदो को दूर करने का बहुत प्रयत्न किया, जो पिछले वर्षों मे विकसित हो गये थे। पर उन्हे सफलता नही मिली। उनके मतभेदों मे निरन्तर वृद्धि होती गई, जिसके कारण प्रथम सदी ई० प० का अन्त होने से पूर्व ही जैनों मे दो सम्प्रदाय स्पष्ट रूप से विकसित हो गये, जिन्हें श्वेताम्बर और दिगम्बर कहते हैं। भद्रबाहु का काल तीसरी सदी ई० पू० में है, और उसी समय से जैनो मे उन मतभेदो का प्रादुर्भाव होने लग गया था, जिनके कारण आगे चलकर वे दो सम्प्रदायो में विभक्त हो गये।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय की अनुश्रुति के अनुसार वर्धमान महावीर के निर्वाण के ६०९ वर्ष पश्चात् (प्रथम सदी ई० प० मे) शिवभूति नाम का एक आचार्य हुआ, जिसे मुनि आर्यरक्षित ने जैन धर्म मे दीक्षित किया था। एक बार रथवीरपुर (जहाँ का

शिवभूति निवासी था) के राजा ने शिवभूति को एक बहुमूल्य पोशाक भेंट रूप से प्रदान की। जब मुनि आर्यरक्षित ने अपने शिष्य को बहुमूल्य पोशाक पहने देखा, तो उन्होंने उस पोशाक को फाड़कर टुकडे-टुकड़े कर दिया। शिवभूति ने अपने गुरु के अभिप्राय को समझ कर तब से निर्वसन होकर रहना प्रारम्भ कर दिया। इसी से दिगम्बर सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ।

जैन ग्रन्थो मे उन आचार्यों और मुनियों का विशद रूप से वर्णन मिलता है, जिन्होने न केवल अपने मन्तव्यों व सिद्धान्तो के प्रतिपादन के लिए विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों की रचना की, अपितु अपने धर्म के प्रचार के लिए भी विशेष रूप से उद्योग किया। पर इस इतिहास मे उनका उल्लेख कर सकना सम्भव नही है। इसमें सन्देह नही कि जैन मुनि भी बौद्ध स्थविरों और भिक्षुओ के समान ही अपने धर्म के प्रचार के लिए प्रयत्नशील रहे, और भारत के बडे भाग को वे अपने प्रभाव मे लाने मे भी समर्थ हुए।

(७) जातिभेद का विकास

प्राचीन आर्य बहुत-से जनो (कबीलों) मे बँटे हुए थे। जन के सब लोगों को 'विश.' कहा जाता था। शुरू मे उसमे कोई वर्ण या जातियाँ नही थीं। सारे आर्यजन खेती, पशुपालन आदि मे अपना निर्वाह करते थे। युद्ध के अवसर पर वे सब हथियार उठाकर लडने के लिए प्रवृत्त हो जाते और धार्मिक अनुष्ठान के अवसर पर सब लोग स्वय कर्मकाड का अनुष्ठान करते। पर जब 'जन' एक निश्चित प्रदेश मे बसकर 'जनपद' बन गये, तब उन्हे निरन्तर युद्धो मे व्यापृत रहने की आवश्यकता हुई। आर्यों को उन अनार्य जातियो से निरन्तर युद्ध करना होता था, जिन्हे परास्त कर वे अपने जनपद बसा रहे थे। विविध जनपदो मे आपस का सघर्ष भी जारी था। परिणाम यह हुआ, कि एक ऐसी विशेष श्रेणी बनने लगी, जिसका कार्य केवल युद्ध करना था, जो जनपद की 'क्षत' से रक्षा करती थी। इस प्रकार धीरे-धीरे एक पृथक् वर्ण का विकास हुआ, जिसे क्षत्रिय कहते है। इसी तरह जब यज्ञो के कर्मकाण्ड ज्यादा जटिल होने लगे, ऐहलौकिक और पारलौकिक सुख के लिए विविध अनुष्ठानों का प्रारम्भ हुआ, तो ऐसे वर्ग का भी पृथक् विकास होने लगा, जो इन धार्मिक विधि-विधानो मे अधिक निपुणता रखते थे। ये लोग ब्राह्मण कहलाये। साधारण 'विश:' से ब्राह्मणो और क्षत्रियो के वर्ण पृथक् होने लग गये। जो आर्य-भिन्न लोग आर्य-जनपदो मे बसे रह गये थे, वे आर्यों की सेवा करके ही अपनी आजीविका चला सकते थे। ये लोग शूद्र कहलाये। इस प्रकार प्रत्येक आर्य-जनपद की जनता को मोटे तौर पर चार वर्णों में बाँटा जा सकता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों का यह विभाग गुण और कर्म के ही आधार पर था।

पर आर्य लोग ज्यों-ज्यों पूर्व की ओर बढते गये, उनके जनपदों में आर्य-भिन्न लोगों की संख्या अधिकाधिक होती गयी। पंजाब और गंगा-यमुना की घाटियो मे विद्यमान आर्य जनपदो मे अनार्य लोगों की संख्या बहुत कम थी। शूद्र के रूप मे उन्हें सुगमता से अपने समाज का ही एक अंग बनाया जा सकता था। पर पूर्व और दक्षिण में आगे बढ़ने पर आर्यों को एक नयी परिस्थिति का सामना करना पड़ा। मगध, अंग,

बंग, कलिंग और अवन्ति जैसे जनपदो मे अनार्य लोग बहुत बडी संख्या मे थे । उनका न जड़ से उन्मूलन किया जा सकता था, और न उन्हे आगे-आगे खदेडा ही जा सकता था । पूर्व और दक्षिण मे बहुत दूर तक आगे बढ़ आने वाले आर्य-विजेताओ ने विवश होकर इन अनार्यों की स्त्रियो से विवाह-सम्बन्ध भी स्थापित किये थे । परिणाम यह हुआ, कि अनेक वर्णसंकर जातियो का विकास हुआ । मगध और उसके समीपवर्ती जनपदो में बौद्ध और जैन धर्मों के रूप मे जिन नवीन धार्मिक आन्दोलनों का प्रारम्भ हुआ था, उनके वर्णभेद और जातिभेद-सम्बन्धी विचार इसी नयी परिस्थिति के परिणाम थे । ब्राह्मण व किसी विशेष श्रेणी की उत्कृष्टता की बात उन्हे समझ मे नही आती थी । वहाँ जो सैनिक लोग थे, वे भी शुद्ध आर्य क्षत्रिय न होकर व्रात्य थे । व्रात्यों को भी प्राचीन ग्रन्थो मे वर्णसंकर गिना गया है । वज्जि, मल्ल, लिच्छवि आदि सब व्रात्य ही थे । पूर्व और दक्षिण के इन जनपदो मे न केवल क्षत्रिय अपितु ब्राह्मण भी वर्णसंकर थे । सातवाहन-राजा जाति से ब्राह्मण समझे जाते थे, पर उनमे अनार्य रक्त विद्यमान था । जब मागध-साम्राज्य का विकास हुआ, और मगध की अनार्य-प्रधान सेनाओ ने सारे भारत को जीत लिया, तो प्राचीन आर्यजनो के शुद्ध ब्राह्मणो व क्षत्रियो की उत्कृष्टता कैसे कायम रह सकती थी । बौद्ध और जैन ब्राह्मण व क्षत्रियो की उत्कृष्टता को नही मानते थे । उनकी दृष्टि मे कोई व्यक्ति अपने गुणो व चरित्र से ही ऊँचा होता था, जन्म या जाति से नही । मागध-साम्राज्य के विकास की नयी परिस्थितियो मे यह सिद्धान्त कितना समयानुकूल था ।

बाद मे शक, यवन और युइशि लोगो के आक्रमणो से एक और नयी परिस्थिति उत्पन्न हुई । इन विजेताओ ने भारत के बडे भाग को जीतकर अपने अधीन कर लिया था । ये उत्कृष्ट योद्धा थे । बहुत बडी सख्या मे ये लोग भारत के विविध जनपदो मे विजेता के रूप मे बस गये थे । इनकी राजनीतिक और सामाजिक स्थिति बहुत ऊँची थी । बौद्ध और जैन-विचारधारा के अनुसार इनके कारण सामाजिक जीवन मे कोई कठिनाई उत्पन्न नही होती थी । भारत मे आकर इन्होने बौद्ध या जैन धर्म को अपनाना शुरू कर दिया था । जाति-पाँति व वर्णभेद के विचारो से शून्य इन धर्मों के लिये इन म्लेच्छ विजेताओ को अपने समाज का अग बना लेना विशेष कठिन नही था ।

पर सनातन आर्य-धर्म के पुनरुत्थान के इस काल मे इस नयी परिस्थिति का सामना चातुर्वर्ण्य मे विश्वास रखने वाले पौराणिक धर्मावलम्बियो ने किस प्रकार किया ? चातुर्वर्ण्य का सिद्धान्त प्राचीन आर्य-धर्म की एक विशेषता थी । बौद्धो के उत्कर्ष के काल में भी उसका सर्वथा परित्याग कर सकना सम्भव नही था । पर इन शक्तिशाली आर्य-भिन्न योद्धाओ, यवनो, शको व अन्य बहुत-सी जातियो को चातुर्वर्ण्य मे किस प्रकार स्थान दिया जाता ? किस प्रकार ऐसी व्यवस्था की जाती, कि इस युग की नयी भावना से चातुर्वर्ण्य का सिद्धान्त पुन अनुप्राणित हो जाता ? वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के नेताओ ने इस सम्बन्ध मे जिस नीति का अनुसरण किया, वह बड़े महत्त्व की है । उन्होने कहा—यवन, शक, पारद, पल्हव, कम्बोज, द्रविड, पौण्ड्रक आदि ये सब जातियाँ मूलतः क्षत्रिय थी, पर ब्राह्मणो का सम्पर्क न रहने से ये वृषलत्व (म्लेच्छत्व) को प्राप्त हो गयी । पर अब जब इन्हे फिर ब्राह्मणो का सम्पर्क मिला और इन्होंने

वैदिक सम्प्रदायो को अपना लिया, तो इन्हे क्षत्रिय क्यों न समझ लिया जाय ? भारत मे जो शक, पल्हव, यवन आदि आये, वे सब इस समय क्षत्रियो में शामिल कर लिये गये। हमारे पुरखाओ की यह युक्ति कितनी सुन्दर थी ! जो ये मलेच्छ आक्राता भारत पर आक्रमण कर यहाँ अपनी राजनीतिक शक्ति को स्थापित करने में सफल हुए थे, वे सब मनु के इस सिद्धान्त के अनुसार क्षत्रियवर्ग में शामिल हो गये। ब्राह्मणों के पुनः सम्पर्क से अब उन्होने वासुदेव कृष्ण और शिव की उपासना प्रारम्भ कर दी थी। उनमें वृषलत्व कुछ शेष नही रह गया था। इसी तरह इन विदेशी मलेच्छो के पुरोहित ब्राह्मणवर्ग में सम्मिलित कर लिये गये, क्योकि उन्होने भी प्राचीन आर्य-विचारधारा को अपना लिया था। मुलतान के सूर्य-मंदिर मे शाकद्वीप (शकस्थान) के 'ब्राह्मणो' को पुजारी के रूप मे नियत करना इसका स्पष्ट उदाहरण है।

मगध, अवति, अग आदि जनपदों मे आर्य अपनी रक्तशुद्धि को कायम रखने मे समर्थ नही हुए थे। उन्होंने आर्य-भिन्न जातियो के साथ रक्त सम्बन्ध स्थापित किये थे। इन्हे इस काल मे व्रात्य और वर्णसंकर कहा गया। मनुस्मृति के अनुसार भूर्जकंटक और आवन्त्य व्रात्य ब्राह्मणो की सन्तान थे, और भल्ल, मल्ल व लिच्छवियो की उत्पत्ति व्रात्य क्षत्रियो से हुई थी। कारुप और सात्वत व्रात्य वैश्यो की संतति थे। वैश्यो और क्षत्रियों के सम्मिश्रण से मागध तथा वैश्यों और ब्राह्मणों के सम्मिश्रण से वैदेह लोगों का विकास हुआ था। मनु के इस मत मे कोई सचाई हो या न हो, पर इस वैदिक पुनरुत्थान-युग के विचारक इस तथ्य को दृष्टि मे ला रहे थे, कि मागध, वैदेह, आवन्त्य, लिच्छवि, सात्वत आदि शुद्ध आर्य नही है, यद्यपि समाज में उनका महत्व है। उन्हे वे व्रात्य ब्राह्मण, व्रात्य क्षत्रिय, व्रात्य वैश्य व वर्णसंकर बताकर चातुर्वर्ण्य के दायरे मे शामिल करने का प्रयत्न कर रहे थे।

इस समय के विचारकों ने एक और सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। अपने कर्म से शूद्र ब्राह्मण बन जाता है, और ब्राह्मण शूद्र। इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य भी अपने कर्म से ही होते है। युग की परिस्थितियों के अनुसार यह सिद्धान्त कितना क्रियात्मक और समयानुकूल था। जब शक, यवन और कुशाण जैसी म्लेच्छ जातियाँ आर्य-क्षत्रियों को परास्त कर शासन करने में व्यापृत थी, शूद्र-जाति मे उत्पन्न हुए बौद्ध-भिक्षु जनता के धर्मगुरु बने हुए थे, तब यदि कर्म के अनुसार चायुर्वर्ण्य का प्रतिपादन किया जाए, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ?

पर यहाँ यह भी स्पष्ट करने की आवश्यकता है, कि वर्ण और जाति दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। किसी भी आर्य 'जन' मे चारों वर्ण हो सकते थे। गुण और कर्म के अनुसार किसी भी मानवसमूह को इन चार वर्णों मे बाँटा जा सकता है। जब प्राचीन विचारकों को एक छोटे-से आर्य-जनपद के क्षेत्र से निकलकर विशाल भारत के जनसमाज में इस चायुर्वर्ण्य के सिद्धान्त का प्रयोग करना पडा, तो उन्हे नई परिस्थितियो के कारण कठिनाइयो का सामना करना पड़ा, यह हम ऊपर प्रदर्शित कर चुके हैं। पर इस युग मे बहुत-सी जातियों का एक अन्य प्रकार भी विकास हो रहा था। वर्तमान भारत में खत्री, अरोड़ा, जाट, कोली, मुरई आदि जो सैंकडों जातियाँ पाई जाती हैं, उन्हें किसी वर्ण में सम्मिलित कर सकना सुगम नही है। कोली और मुरई शूद्रों में

शामिल किये जाने से एतराज करते है। पर क्षत्रिय लोग उन्हें क्षत्रिय मानने को तैयार नहीं हैं। यही बात अन्य बहुत-सी जातियों के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है।

वास्तविकता यह है कि, प्राचीन भारत में जो सैकडो छोटे-बड़े गणराज्य थे, वे ही इस युग मे धीरे-धीरे जातियो का रूप धारण करने लगे। अब मगध के साम्राज्य विस्तार के साथ इन गणों की राजनीतिक स्वतन्त्रता का अन्त हो गया था। पर मागध-सम्राटों की नीति यह थी, कि वे गणों के अपने धर्मो को नष्ट न करें। इन गणराज्यों में जो अपने रीति-रिवाज व स्थानीय कानून प्रचलित थे, उन्हें मागध-सम्राटों ने न केवल स्वीकार ही किया था, अपितु उन्हें साम्राज्य के कानून का एक अंग भी मान लिया था। यही कारण है कि इन विविध स्थानीय कानूनों को राजकीय रजिस्टरों मे रजिस्टर्ड (निबन्धपुस्तकस्थ) करने की भी व्यवस्था की गई थी। भारत के प्राचीन आचार्यों ने 'स्वधर्म' के सिद्धान्त पर बहुत जोर दिया है। जैसे प्रत्येक मनुष्य को 'स्वधर्म' का पालन करना चाहिये, वैसे ही साम्राज्य के प्रत्येक अंग—ग्राम, कुल, गण और जनपद को भी 'स्वधर्म' मे दृढ़ रहना चाहिये। जिसके जो अपने व्यवहार, रीति-रिवाज व कानून हो, उनका उसे उल्लघन नही करना चाहिए। प्राचीन सम्राटों की इस नीति का परिणाम यह हुआ, कि राजनैतिक स्वाधीनता के नष्ट हो जाने पर भी गणों की सामाजिक व आर्थिक स्वाधीनता कायम रही। इसी से वे धीरे-धीरे जाति व बिरादरी के रूप में परिणत हो गए।

वर्तमान समय की बहुत-सी जातियो की उत्पत्ति प्राचीन गणराज्यो मे ढूंढी जा सकती है। पंजाब के आरट्ट और क्षत्रिय गण इस समय के अरोड़ा और खत्री जातियो में बदल गये। कौटलीय अर्थशास्त्र का श्रेणी-गण इस समय के सैनियो के रूप में अब भी जीवित है। बौद्ध-काल के पिप्पलिवन के मोरिय इस समय भी मोरई जाति के रूप मे विद्यमान है। प्राचीन रोहितक गण इस समय के रस्तोगियों, रुस्तगियों व रोहतगियों के रूप मे, आग्रेयगण अग्रवालो के रूप मे, कम्बोज गण कम्बोह जाति के रूप मे, कोलिय गण कोरी जाति के रूप में, और आर्जुनायनगण अरायन जाति के रूप में इस समय भी स्वतन्त्र रूप से विद्यमान हैं। भारत की बहुत सी वर्तमान जातियो में यह किंवदती चली आती है, कि उनका उद्भव किसी प्राचीन राजा से हुआ है, और किसी समय उनका भी पृथिवी पर अपना राज्य था। ये किंवदंतियाँ इसी सत्य पर आश्रित हैं, कि किसी समय ये जातियाँ स्वतन्त्र गणराज्यों के रूप मे विद्यमान थी, और ये इन गणराज्यों की ही उत्तराधिकारी हैं।

(८) विवाह-सम्बन्धी नियम

मौर्य-युग में तलाक की प्रथा प्रचलित थी। कौटलीय अर्थशास्त्र में तलाक के लिए 'मोक्ष' शब्द का प्रयोग किया गया है। स्त्री और पुरुष, दोनो खास-खास अवस्थाओं में तलाक कर सकते थे। पर इस युग में यह प्रथा कमजोर पड गयी थी। मनुस्मृति के अनुसार पुरुष स्त्री का त्याग कर सकता है, पर त्यक्त हो जाने के बाद भी वह पति की भार्या बनी रहेगी। पति से त्यागी जाने पर स्त्री को यह अधिकार नही है, कि वह दूसरा विवाह कर सके। दूसरी ओर स्त्री को यह अधिकार नहीं, कि वह पति का

त्याग कर सके। स्त्री यदि रोगिणी हो, तो उससे अनुमति लेकर पुरुष दूसरा विवाह कर सकता था।

नियोग की प्रथा इस समय मे भी जारी थी। सन्तान न होने की दशा मे देवर या किसी अन्य सपिण्ड व्यक्ति के साथ नियोग किया जा सकता था। मनु को विधवा-विवाह पसन्द नही था। यद्यपि कुछ अवस्थाओं में स्त्रियों के पुनर्विवाह का विधान किया गया है, पर मनु का मंतव्य यही था कि स्त्री का दूसरा विवाह नही होना चाहिए।

यह स्पष्ट है, कि स्त्रियों की स्थिति इस युग मे मौर्यकाल की अपेक्षा हीन थी। आगे चलकर स्मृतिकार स्त्रियों की स्थिति को और भी हीन करते गए। बौद्ध लोगों मे भिक्षुणियों ने जो अपने पृथक् सघ बनाए थे, उनमें अनाचार की मात्रा बहुत बढ़ गयी थी। स्वयं महात्मा बुद्ध को इस बात का भय था। भिक्षुणी-संघ के अनाचार को देख कर ही शायद इन स्मृतिकारों मे यह प्रवृत्ति हुई थी, कि स्त्रियो की स्वाधीनता को कम करें और आर्य-स्त्रियो को उनके पतियो का अधिक वशवर्ती बनाएँ।

(६) राज्य-शासन

मौर्योत्तर-युग के राज्यों मे शासन का प्रकार प्रायः वही रहा, जो मौर्यकाल में था। मागध-सम्राट् इस समय मे भी एकतन्त्र शासक थे। पर बंगाल की खाड़ी से लगाकर मथुरा तक विस्तीर्ण (पुष्यमित्र के बाद के शुंगकाल में) इस साम्राज्य में बहुत-से जनपद अन्तर्गत थे। अनेक जनपदो के अपने पृथक् राजा भी थे, जिनकी स्थिति शुंग-सम्राटो के अधीनस्थ राजाओं की थी। इस प्रकार के दो सामंतों, अहिच्छत्र के इन्द्रमित्र और मथुरा के ब्रह्ममित्र के सिक्के भी उपलब्ध हुए हैं। साम्राज्य के अन्तर्गत इन जनपदों का शासन प्राचीन परम्परा के अनुसार होता था। जनपद के धर्म, कानून, व्यवहार और आचार को मागध-सम्राट् न केवल अक्षुण्ण रखते थे, अपितु उनका भली-भाँति अनुसरण किया जाए, इसका भी पूरा ध्यान रखते थे। पर इन जनपदों से मागध-सम्राट् कर या बलि वसूल किया करते थे। जनपदों का शासन बहुत पुराने समयों से पौर और जानप दसभाओ द्वारा होता चला आता था। प्रत्येक जनपद का एक केन्द्रीय नगर होता था, जिसे पुर कहते थे। यह सारे जनपद के जीवन का केन्द्र-स्वरूप होता था। इसके अग्रणियों की सभा को 'पौर' कहते थे। जनपदों के अन्य निवासियो के अग्रणी जानपद-सभा में एकत्र होते थे। विविध जनपदो में ये सभाएँ अब तक भी जीवित थीं। यही कारण है, कि शक रुद्रदामा ने अपने शिलालेख में 'पौर जानपद' का उल्लेख किया है। इसी प्रकार कलिग-चक्रवर्ती खारवेल ने भी पौर-जान-पदों के साथ किए गए अनुग्रहों को अपने हाथीगुम्फा के शिलालेख में उत्कीर्ण कराया है। जनपदों के अतिरिक्त 'देशों' के संघो का भी उल्लेख स्मृति-ग्रन्थों-में आया है। राजा को उनके भी चरित्र, व्यवहार और धर्म को स्वीकार करना चाहिए। अभिप्राय यह है, कि मागध-साम्राज्य शासन की दृष्टि से एक इकाई नही था, वह जनपदों और देशो के रूप में अनेक विभागों मे विभक्त था। प्रत्येक विभाग के अपने धर्म, चरित्र और व्यवहार होते थे, जिन्हें मागध-सम्राट् स्वीकार करते थे।

इस काल के सम्राट् एकतंत्र अवश्य थे, पर वे परम्परागत राजधर्म के अनुसार ही शासन करने का प्रयत्न करते थे। राजा के सम्बन्ध मे मनुस्मृति का सिद्धान्त यह था, कि अराजक दशा मे सब तरफ से पीडा होने के कारण जनता की रक्षा के लिए प्रभु ने राजा की सृष्टि की। उसके निर्माण के लिए इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और धनेश—सब की मात्राएँ ली गयी। क्योकि राजा देवताओ की मात्रा से बना है, इसलिए उसका तेज सब मनुष्यो से अधिक है।

पर जिस प्रकार राजा ईश्वरीय है, देवताओ की मात्राओ से बना है, वैसे ही 'दंड' भी ईश्वरीय है। मनुस्मृति के अनुसार दड ही असली राजा है, वही नेता है, और वही शासन करने वाला है। दण्ड सब प्रजा का शासन करता है, दण्ड ही सबकी रक्षा करता है, सबके सोते हुए दण्ड ही जागता है, दण्ड को ही बुद्धिमान् लोग धर्म मानते है। दण्ड का अभिप्राय राजधर्म से है। जो परम्परागत धर्म और व्यवहार चले आते हैं, वही दण्ड है, वही वस्तुत दैवी है। इसीलिए यदि राजा भली-भाँति दण्ड (राजधर्म) का प्रणयन करे, तब तो वह उन्नति करता है, अन्यथा कामात्मा, विषयी और क्षुद्र राजा दण्ड से ही मारा जाता है। दण्ड का बडा तेज है। धर्म से विचलित राजा को वह बन्धु-बाधवसहित मार डालता है। इस प्रकार मनु के अनुसार वास्तविक शक्ति दण्ड की है, न कि राजा की। राजा के लिए उचित यही है, कि वह परम्परागत राजधर्म के अनुसार न्याययुक्त शासन करे। पर यह वही राजा कर सकता है, जो विषयासक्त न हो, जिसकी बुद्धि निश्चित और क्रियाशील हो, जो मूढ और लुब्ध न हो, और जिसको अच्छे सहायको (मन्त्रियो व अमात्यो) का साहाय्य प्राप्त हो।

मनु के विचार ठीक वैसे ही है, जैसे कि आचार्य चाणक्य ने अपने राजर्षि राजा के सम्बन्ध मे प्रकट किये है। मनु ने एक अन्य स्थान पर लिखा है, कि जो राजा मोह या बेपरवाही से अपने राष्ट्र को सताता है, वह शीघ्र ही राज्य से च्युत हो जाता है, और अपने बन्धु-बान्धवो सहित जीवन मे हाथ धो बैठता है। जैसे शरीर के कर्षण से प्राणियो के प्राण क्षीण हो जाते है, उसी प्रकार राष्ट्र के कर्षण से राजाओ के प्राण भी क्षीण हो जाते है। जिस राजा के देखते हुए चीखती-पुकारती प्रजा को दस्यु लोग पकडते है, वह मरा हुआ है, जीवित नही है।

मनु के इन सन्दर्भों मे मौर्यों के बाद के निर्बल राजाओ के समय की दशा का कैसा सुन्दर आभास है! अधार्मिक राजाओ के विरुद्ध क्राति करके बार-बार उन्हे पदच्युत किया गया। शक और कुशाण सदृश दस्युओ द्वारा सतायी हुई चीखती-पुकारती भारतीय प्रजा विपद्ग्रस्त हो रही थी। उसकी रक्षा करने मे असमर्थ पिछले शुग व कण्व राजा मरे हुए थे, जीवित नही थे।

शासन-कार्य मे राजा की सहायता करने के लिए 'मंत्रिपरिषद' इस युग में भी विद्यमान थी। मनु के अनुसार सात या आठ सचिव होने चाहिएँ, जिनसे कि राज्य के प्रत्येक कार्य के विषय मे परामर्श लेना चाहिए। मालविकाग्निमित्र के अनुसार राजा अग्निमित्र (शुगवंशी) युद्ध और सधि के प्रत्येक विषय पर अमात्यपरिषद् से परामर्श किया करता था।

(१०) आर्थिक जीवन

मौर्य-युग के समान इस काल मे भी आर्थिक जीवन का आधार 'श्रेणी' थी। शिल्पी-लोग श्रेणियों (Guilds) में सगठित थे, और इसी प्रकार व्यापारी भी। इस युग के अनेक शिलालेखो मे इन श्रेणियो का उल्लेख किया गया है, और उनसे श्रेणियों के आर्थिक जीवन पर बडा उत्तम प्रकाश पडता है। ऐसे लेखो में नासिक के गुहामदिर में उत्कीर्ण शक उषावदात का यह लेख विशेष महत्त्व का है—

"सिद्धि ! बयालीसवें वर्ष में, वैशाख मास मे राजा क्षहरात क्षत्रप नहपान के जामाता दीनाकपुत्र उषावदात ने यह गुहामदिर चातुर्दिश सघ के अर्पण किया, और उसने अक्षयनीवी तीन हजार पण चातुर्दिश संघ को दिए, जो इस गुहा में रहने वालों के कपड़े के खर्च और विशेष महीनो मे मासिक वृत्ति के लिए होगा। और ये कार्षापण गोवर्धन में रहने वाली श्रेणियो के पास जमा किए गए। कोलिकों के निकाय में दो हजार एक फीसदी सूद पर, दूसरे कोल्निक निकाय के पास एक हजार पौन फीसदी सूद पर। और ये कार्षापण लौटाये नही जाएँगे, केवल उनका सूद लिया जायगा। इनमें से जो एक फीसदी पर दो हजार कार्षापण रखाये गए है, उनसे गुहामन्दिर मे रहने वाले बीस भिक्षुओ मे से प्रत्येक को बारह चीवर दिये जाएँ। और जो पौन फीसदी पर एक हजार कार्षापण है, उनमे कुशनमूल्य का खर्च चलेगा। कापुर प्रदेश के गाँव चिखलपद्र को नारियल के ८००० पौद भी दिए गए। यह सब निगमसभा मे सुनाया गया, और फलकवार (लेखा रखने के दफ्तर) मे चरित्र के अनुसार निबद्ध किया गया।"

इस लेख से यह स्पष्ट है, कि कोलिक (जुलाहे) आदि व्यवसायियों के सगठन श्रेणियो के रूप मे थे। ये श्रेणिया जहाँ अपने व्यवसाय का संगठित रूप मे सचालन करती थी, वहाँ दूसरे लोगो का रुपया भी धरोहर के रूप में रखकर उसपर सूद देती थीं। उनकी स्थिति समाज में इतनी ऊँची और सम्मानास्पद थी, कि उनके पास ऐसा रुपया भी जमा करा दिया जाता था, जिसे फिर लौटाया न जाए, जिसका केवल सूद ही सदा के लिए किसी धर्मकार्य मे लगता रहे। यही कार्य आजकल ट्रस्टी रूप मे बैंक करते हैं। सूद की दर एक फीसदी और पौन फीसदी (सम्भवत., मासिक) होती थी, और नगरसभा (निगम) मे इस प्रकार की धरोहर को बाकायदा निबद्ध (रजिस्टर्ड) कराया जाता था, यह भी इस लेख से स्पष्ट हो जाता है।

श्रेणियो का इसी प्रकार का उल्लेख अन्य अनेक शिलालेखो मे भी उपलब्ध होता है। श्रेणियों के पास केवल रुपया ही नही जमा किया जाता था, अपितु उनको भूमि भी धरोहर के रूप मे दी जाती थी, जिसकी आय को वे आदिष्ट धर्मकार्य में प्रयुक्त करती थी। शिल्पियो की श्रेणियो का वर्णन कौटलीय अर्थशास्त्र, मनुस्मृति व अन्य सभी प्राचीन राजशास्त्र-सम्बन्धी साहित्य मे विद्यमान है, पर उनके कार्यों का ऐसा सजीव चित्र इन गुहा-लेखो से ही प्राप्त होता है।

शिल्पियों के समान व्यापारी भी पूगों व निगमों में संगठित होते थे। उनके धर्म, व्यवहार और चरित्र को भी राज्य द्वारा स्वीकार किया जाता था। स्मृतिग्रंथो मे लेन-देन के नियमों का विस्तार से वर्णन है। किस प्रकार ऋणलेख तैयार किया जाय,

कैसे उसके साक्षी हों, कैसे प्रतिभू (जामिन) बने, कैसे कोई वस्तु आधि (रहन) रखी जाए, और कैसे इन सब के करण (कागज) तैयार किए जाएँ, इन सब के नियमों का विवरण यह सूचित करता है, कि उस युग में वाणिज्य-व्यापार भली-भाँति उन्नति कर चुका था। कौटलीय अर्थशास्त्र मे जैसे 'संभूय-समुत्थान' का उल्लेख है, वैसे ही स्मृतियों में भी है। अधिक लाभ के लिए व्यापारी लोग मिलकर वस्तुओं को बाजार मे रोक लिया करते थे, और इस उपाय से अधिक नफा उठाने में सफल होते थे। एक स्मृति के अनुसार केवल व्यापारी ही नही, अपितु किसान, मजदूर और ऋत्विक् भी इस उपाय का आश्रय लिया करते थे।

विदेशी व्यापार की भी इस युग मे खूब उन्नति हुई। मौर्यवंश के निर्बल होने पर जो यवन-राज्य उत्तर-पश्चिमी भारत मे कायम हो गए थे, उनके कारण भारत का पश्चिमी ससार से सम्बन्ध और भी अधिक दृढ हो गया था। भारत के पश्चिमी समुद्र-तट के व्यापारी अरब और मिस्र तक जाकर व्यापार किया करते थे। उन दिनों मिस्र की राजधानी अलक्जेण्ड्रिया विद्या, व्यापार और संस्कृति का बडी भारी केन्द्र थी। भारतीय व्यापारी वहाँ तक पहुँचते थे। लाल सागर और नील नदी के रास्ते पर एक भारतीय व्यापारी का ग्रीक भाषा मे लिखा हुआ एक शिलालेख भी उपलब्ध हुआ है। इस व्यापारी का नाम सोफोन था, जो शायद शोभन का ग्रीक रूपान्तर है।

दूसरी सदी ई० पू० मे एक घटना ऐसी हुई, जिसके कारण मिस्र और भारत का व्यापारिक सम्बन्ध और भी अधिक बढ गया। भारत से एक व्यापारी अपने साथियो के साथ समुद्र-यात्रा को गया था। वह समुद्र मे मार्ग भूल गया, और महीनों तक जहाज पर ही इधर-उधर भटकता रहा। उसके सब साथी एक-एक करके भूख से मर गए। पर वह लहरो के साथ बहता हुआ मिस्र के निकटवर्ती समुद्र मे जा पहुँचा, जहाँ मिस्र के राजकर्मचारियो ने उसे आश्रय दिया। इस भारतीय व्यापारी की सहायता और मार्ग-प्रदर्शन से मिस्र के लोगो ने जहाज द्वारा सीधे भारत आना-जाना प्रारम्भ किया, और इन दोनो देशो मे व्यापारिक सम्बन्ध और भी दृढ हो गया। इस युग के भारतीय व्यापारी मिस्र से भी बहुत आगे यूरोप मे व्यापार के लिए आया-जाया करते थे। प्राचीन रोमन अनुश्रुति के अनुसार गॉल (वर्तमान फ्रास) के प्रदेश मे, एल्ब नदी के मुहाने पर कुछ भारतीय जहाज भटक जाने के कारण पहुँच गए थे। अटलांटिक महासमुद्र तक भारतीय व्यापारियो का पहुँच जाना बडे महत्त्व की बात है। यह घटना पहली सदी ई० पू० की है। रोमन साम्राज्य के साथ इस व्यापारिक सम्बन्ध का ही यह परिणाम है, कि हजारा, रावलपिंडी, कन्नौज, इलाहाबाद, मिर्जापुर, चुनार आदि के बाजारो में वर्तमान समय मे प्राचीन रोमन सिक्के उपलब्ध हुए हैं। अनेक स्तूपो की खुदाई मे भारतीय राजाओ के सिक्को के साथ-साथ रोमन सिक्के भी मिलते है, जो इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि भारत और रोम का व्यापारिक सम्बन्ध इस युग में बडा घनिष्ठ था। भारत से समुद्र के रास्ते हाथीदाँत का सामान, मोती, वैदूर्य, काली-मिर्च, लौग, अन्य मसाले, सुगन्धियाँ, औषधियाँ, रेशमी और सूती कपड़े बड़ी मात्रा में रोम भेजे जाते थे। रोम मे मिर्च-मसालो के लिए एक गोदाम बना हुआ था, जिसमे भारत का यह माल लाकर जमा किया जाता था। रोम मे काली मिर्च बहुत मँहगी

बिकती थी। काली मिर्च का मूल्य दो दीनार एक सेर था। एक रोमन लेखक ने लिखा है, कि भारतीय माल रोम मे आकर सौगुनी कीमत पर बिकता है, और उसके द्वारा भारत रोम से हर साल छः लाख के लगभग सुवर्ण-मुद्राएँ खींच ले जाता है। एक अन्य रोमन लेखक ने लिखा है, कि रोमन स्त्रियाँ हवा की जाली की तरह बारीक बुनी हुई भारतीय मलमल को पहनकर अपना सौन्दर्य प्रदर्शित करती हैं। रोम और भारत के इस सामुद्रिक व्यापार का सबसे बडा केन्द्र केरल प्रदेश में था। इसीलिए वहाँ कई स्थानों पर खुदाई में रोमन सिक्के बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध हुए हैं।

मिस्र और रोम की अपेक्षा बरमा, जावा, सुमात्रा, चम्पा और चीन आदि के साथ भारत का विदेशी व्यापार और भी अधिक था। इन सुदूरवर्ती देशों को बड़े-बड़े जहाज माल भरकर जाया करते थे। उस युग के संसार में तीन साम्राज्य सबसे अधिक शक्तिशाली थे—रोमन, भारतीय और चीनी। भारत इन तीनो के बीच में पडता था। यही कारण है, कि इसका रोम और चीन दोनों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध था। चीन और रोम का पारस्परिक व्यापार भी उस समय भारत के व्यापारियों द्वारा ही संचालित किया जाता था।

(११) वास्तु और मूर्ति-कला

इस मौर्योत्तर-युग की बहुत-सी मूर्तियाँ, गुहामंदिर और स्तूप इस समय उपलब्ध होते हैं, जिनसे इस समय की वास्तुकला और मूर्तिकला पर अच्छा प्रकाश पडता है। भरहुत का वह प्रसिद्ध स्तूप, जिसके तोरणो और जंगलो के अवशेष कलकत्ता म्यूजियम मे सुरक्षित है, शुंग-काल मे ही बना था। उसके एक तोरण पर यह उत्कीर्ण भी है, कि यह स्तूप शुंगो के राज्य मे निर्मित हुआ बना था। बोधगया के मंदिर के चारो ओर का एक जंगला भी इस युग की कृति है उस पर अहिच्छत्र के राजा इन्द्रमित्र और मथुरा के राजा ब्रह्ममित्र की रानियो के नाम उत्कीर्ण है। ये दोनो राजा शुंगो के सामन्त थे। इससे यह सूचित होता है, कि बोधगया के प्रसिद्ध मंदिर के अनेक प्राचीन अंश शुग-काल बने थे। साँची के प्राचीन स्तूप के अनेक अश भी इसी काल मे बने। वहाँ के बड स्तूप दक्षिणी के तोरण पर राजा सातकर्णि का नाम उत्कीर्ण है। भरहुत, साँची, बोधगया आदि के ये प्राचीन विशाल स्तूप सुदीर्घ समय तक धीरे-धीरे बनते रहे। उनके निर्माण का प्रारम्भ मौर्य-काल में ही हो गया था, पर शुंग और सातवाहन-राजाओं के समय मे उनमे निरन्तर वृद्धि होती चली गयी, और जिन विविध दानियो के दान से जो-जो अंश समय-समय पर बनते गए, उनके नाम बहुधा उन पर उत्कीर्ण भी कर दिए गये।

इस युग के बहुत-से गुहामंदिर उडीसा और महाराष्ट्र में विद्यमान हैं। पहाड़ को काटकर उसके अन्दर से विशाल मंदिर, विहार या चैत्य खोदे गए हैं। ऊपर से देखने पर ये पहाड ही प्रतीत होते हैं। पर द्वार से अन्दर जाने पर विशाल भवन दिखायी पडते है, जिन्हे पहाड को काट-काट कर बाकायदा सुन्दर भवनो के रूप में बनाया गया है। उडीसा के ये गुहामंदिर जैनों के हैं। इनमे हाथीगुम्फा सबसे प्रसिद्ध है। कलिंग-चक्रवर्ती खारवेल का सुप्रसिद्ध शिलालेख वही पाया गया है। हाथीगुम्फा के अतिरिक्त, मंचापुरी-गुम्फा, रानीगुम्फा, गणेशगुम्फा, जयविजय-गुम्फा, अलकापुरी-गुम्फा

आदि और भी कितने ही गुहामंदिर उडीसा मे पाए गए हैं। मंचापुरी-गुम्फा मे खारवेल की रानी तथा राजा वक्रदेवश्री के लेख पाये गये है। यह सम्भवतः खारवेल का कोई वंशज था। रामगढ मे सीताबेंगा नामक स्थान पर एक गुहामंदिर उपलब्ध हुआ है, जिसका किसी धर्म-विशेष से सम्बन्ध नही था। वह एक प्रेक्षागार था, और यही कारण है, कि उसकी दीवार पर किसी रसिक कवि का एक छन्द खुदा हुआ है। सीताबेंगा के पड़ोस मे ही जोगीमारा का गुहामंदिर है, जो प्राचीन काल मे वरुणदेवता का मंदिर था।

महाराष्ट्र के गुहामंदिरो मे अजन्ता की गुफाएँ सबसे प्रसिद्ध और प्राचीन हैं। इनमे भी गुहा नं० १० सबसे पुरानी समझी जाती है। अजन्ता के ये गुहामदिर भारतीय वास्तुकला और चित्रकला के अनुपम उदाहरण है। पहाडो को काटकर बनाए गए विशाल गुहामंदिरों की दीवारो पर इतने सुन्दर रगीन चित्र बनाए गए है, कि हजारो साल बीत जाने पर भी वे अपने आकर्षण मे जरा भी कम नही हुए। अजन्ता की इन प्रसिद्ध गुफाओ का निर्माण इसी काल मे प्रारम्भ हुआ था। अजन्ता के अतिरिक्त महाराष्ट्र मे बेडसा, नासिक, कार्ले, जुन्नर, कोंडाने आदि अनेक स्थानों पर इस काल के गुहामदिर विद्यमान हैं। नासिक के एक गुहामदिर मे एक लेख है, जिसके अनुसार उसे सातवाहन-कुल के राजा कण्ह के समय उसके महामात्र ने बनवाया था। राजा कण्ह सातवाहन-वश के संस्थापक सिमुक का भाई था, और उसके बाद प्रतिष्ठान का राजा बना था। इसका समय तीसरी सदी ई० पू० मे था, और यह स्पष्ट है कि नासिक का यह गुहामदिर तीसरी सदी ई० पू० मे ही बना था। बेडसा और कार्ले के प्रसिद्ध गुहामंदिर ईसवी सन् के शुरू होने से पूर्व ही बन चुके थे। सातवाहन राजाओ को गुहानिर्माण का बडा शौक था। उन्ही के शासनकाल मे महाराष्ट्र की ये विशाल गुहाएँ निर्मित हुई। मौर्य-युग मे भी गुहामंदिर बनने प्रारम्भ हो गए थे, पर वे अधिक विशाल नही होते थे। बिहार की बराबर और नागार्जुनी पहाडियो मे मौर्य सम्राट् अशोक और राजा दशरथ के समय के जो गुहामदिर है, वे बहुत छोटे-छोटे है। पर सातवाहन-राजाओ की प्रेरणा और सरक्षण से मौर्योत्तर-युग मे जो गुहामदिर बने, वे बहुत ही विशाल है। वे तो पूरे बौद्ध-विहार है, जिन्हे भूमि के ऊपर लकडी, पत्थर या ईट से बनाने के बजाय पहाड काट कर और उसे अन्दर से खोद कर गुहा के रूप मे बनाया गया है।

इस काल की मूर्तियां भी पर्याप्त सख्या मे उपलब्ध होती है। भरहुत और सांची के स्तूपो के जगलो और तोरणो मे पत्थर काट-काट कर बहुत-सी मूर्तियां बनायी गयी है। गुहामंदिरो की दीवारो पर भी खोदकर बनायी गयी मूर्तियाँ पायी जाती है। महात्मा बुद्ध के जीवन के साथ सम्बन्ध रखने वाली घटनाओ को मूर्तियां बनाकर अनेक स्थानों पर प्रदर्शित किया गया है।

मूर्तिकला की दृष्टि से इस युग की प्रधान घटना गान्धारी शैली का प्रारम्भ है। यवनो ने गान्धार मे जो अपने राज्य कायम किए थे, उनके कारण यूनानी लोगो और भारतीयो का परस्पर सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ हो गया था। यह स्वाभाविक था, कि यूनानी (ग्रीक) कला का भारतीय कला पर असर पड़े। गान्धार के ये यवन, शक और युइशि

राजा बाद मे बौद्ध व अन्य भारतीय धर्मों के अनुयायी हो गए थे। भारतीय भाषा और संस्कृति को उन्होंने बहुत अशो मे अपना लिया था। इसलिए यूनानी और भारतीय मूर्तिकलाओं के सम्मिश्रण से जिस अपूर्व सुन्दर मूर्तिकला का प्रारम्भ हुआ, उसे गान्धारी शैली कहते हैं। इस शैली की मूर्तियाँ बहुत सुन्दर व परिमार्जित है। धीरे-धीरे यह शैली गान्धार से मथुरा आदि होती हुई सुदूर आन्ध्र में अमरावती तक पहुँच गयी। भारत मे दूर-दूर तक इस शैली की मूर्तियाँ उपलब्ध होती है।

गान्धार-शैली का प्रारम्भ पेशावर से हुआ था। इस प्रदेश पर यवनों का प्रभाव बहुत अधिक था। मौर्यों के पतन के समय अफगानिस्तान और गान्धार के प्रदेश यवनों के शासन मे आ गये थे, और यवनों की शक्ति के क्षीण होने पर वहाँ शक और कुशाण सदृश विदेशियों का राज्य रहा था। ये विदेशी म्लेच्छ उन पश्चिमी देशो से भारत में प्रविष्ट हुए थे, जहाँ यवनो (ग्रीको) की भाषा, सभ्यता और कला का बहुत प्राधान्य था। ग्रीक लोग मूर्ति-निर्माण कला मे बहुत प्रवीण थे। इसकी उनकी अपनी पृथक् शैली थी। गान्धार मे पाये जाने वाले भूरे रंग के पत्थरो का गान्धार-शैली की मूर्तियों मे प्रयोग किया जाता था। कनिष्क के समय मे बौद्ध-धर्म का मुख्य तत्त्व निवृत्ति थी। पर महायान के अनुयायी भक्ति और उपासना पर बल देते थे। इनके लिए बुद्ध और बोधिसत्वो की मूर्तियो का निर्माण प्रारम्भ हुआ। पेशावर के कारीगरो ने हजारो की सख्या में मूर्तियाँ बनाई, और धीरे-धीरे ये सारे भारत मे फैल गयी। यवन-प्रभाव के होते हुए भी इन मूर्तियो पर भारतीय आध्यात्मिकता की गहरी छाप है। बुद्ध के मुखमण्डल पर एक अनुपम तेज प्रदर्शित किया जाता है, जिसकी अनुभूति निर्वाण की भावना से ही हो सकती है। गान्धार-शैली की बहुत-सी मूर्तियाँ काले सलेटी पत्थर की भी है।

पेशावर से यह कला मथुरा मे गयी। इस युग मे मथुरा मूर्तिकला का सबसे बडा केन्द्र था। कनिष्क का साम्राज्य वंक्षु नदी से पाटलिपुत्र तक विस्तृत था। मथुरा इस विशाल साम्राज्य के मध्य में था। कुशाणो के क्षत्रप वहाँ शासन करते थे। वहाँ की मूर्तियाँ लाल पत्थर से बनायी गयी हैं, जो आगरा के समीप प्रभूत मात्रा मे उपलब्ध होता था। मथुरा की कला पर गान्धार-शैली का प्रभाव अवश्य है, पर उसे पूर्णतया गान्धार-शैली की नकल नही कहा जा सकता। इसमें सन्देह नही, कि मथुरा के आर्य शिल्पियों ने पेशावर की रचनाओं को दृष्टि मे रखकर एक मौलिक शैली का विकास किया था, जो बाह्य और आभ्यंतर दोनो दृष्टियो मे शुद्ध आर्य प्रतिभा की प्रतीक थी। भारतीय कल्पना मे एक परमयोगी के मुख पर जो दैवी भावना होनी चाहिये, उसकी वृत्ति किस प्रकार अन्तर्मुखी होनी चाहिये और उपासक के हृदय मे अपने उपास्य देव का कैसा लोकोत्तर रूप होना चाहिये—इस सबको पत्थर की मूर्ति मे उतारकर मथुरा के ये शिल्पी चिर यश के भागी हुए हैं।

इस काल मे मथुरा में जो मूर्तियाँ बनी, वे अनेक प्रकार की थीं। प्राचीन भारत मे यह परिपाटी थी, कि प्रत्येक राजवंश अपना एक 'देवकुल' स्थापित करता था। इसमें मृत राजाओं की मूर्तियाँ रखी रहती थी। शिशुनाग-वंश के राजाओं की मूर्तियां ऐसे ही देवकुल के लिए मथुरा मे बनी थी, क्योकि यह नगर बहुत पुराने समय

से मूर्तिकला का प्रसिद्ध केन्द्र चला आ रहा था। इस युग में कुशाण-राजाओं की मूर्तियाँ भी मथुरा मे बनायी गई। ऐसी अनेक मूर्तियाँ अब भी उपलब्ध है। खेद की बात है, कि वे सभी प्रायः खण्डित दशा मे है। इनमे सम्राट् कनिष्क की मूर्ति विशेष महत्त्व की है। उसकी पोशाक मे लम्बा कोट और पायजामा है, और उसका आकार बड़ा विशाल है।

मथुरा में बनी इस युग की एक मूर्ति इस समय काशी के कलाभवन मे सुरक्षित है। यह मूर्ति एक स्त्री की है, जो प्रसाधिका का काम करती थी। इसका मुख गम्भीर, प्रसन्न व सुन्दर है, नेत्रो मे विमल चंचलता है, सब अंग-प्रत्यंग अत्यन्त सुडौल हैं, और खड़े होने का ढंग बहुत सरल और अकृत्रिम है। उसके दाएँ हाथ मे शृंगारदान है, जिसमे सुगंधित जल रखा जाता था। बाएँ हाथ मे एक पिटारी है, जिसका ढक्कन कुछ खुला हुआ है, और एक पुष्पमाला थोडी-सी बाहर निकली हुई है। यह स्त्री शृंगार की सामग्री लेकर किसी रानी या अन्य सम्पन्न महिला का शृंगार करने के लिए प्रस्थान करने को उद्यत है। मथुरा मे इस प्रकार की मूर्तियाँ उपासना के लिए नहीं, अपितु सजावट के लिए बनायी जाती थी।

बौद्ध-धर्म के साथ सम्बन्ध रखने वाला मूर्तियाँ तो मथुरा मे हजारों की संख्या में बनी थी। मथुरा की यह कला कुशाणो के बाद भी निरन्तर उन्नति करती रही। गुप्त-वंश के समय मे इसका पूर्ण विकास हुआ, और उसने वे उज्ज्वल रत्न उत्पन्न किये, जिनके लिए कोई भी जाति या देश सदा अभिमान कर सकता है। गुप्तो के समय मे मथुरा की मूर्तिकला से गान्धार की शैली का प्रभाव पूर्णतया हट गया था।

(१२) बृहत्तर भारत का विकास

मौर्य-युग मे भारत से बाहर भारतीय उपनिवेशों का विस्तार प्रारम्भ हो चुका था इन उपनिवेशों के दो क्षेत्र थे, पूर्व मे सुवर्णभूमि और उत्तर-पश्चिम मे हिन्दूकुश और पामीर की पर्वतमालाओ के परे तुर्किस्तान। अशोक की धर्मविजय की नीति के कारण भारतीय भिक्षु जिस प्रकार इन सुदूर देशों मे गये, और उन्होंने वहाँ जाकर न केवल वहाँ के निवासियो को आर्य-मार्ग का अनुयायी ही बनाया, पर वहाँ अनेक भारतीय बस्तियाँ भी बसाई, यह हम पहले प्रदर्शित कर चुके हैं। मौर्योत्तर-युग मे भारतीय उपनिवेशों के विस्तार की यह प्रक्रिया जारी रही। विशेषतया, भारत के पूर्व मे बरमा से सुदूर चीन तक हिन्द-महासागर मे जो बहुत-से छोटे-बडे द्वीप व प्रायद्वीप हैं, वे सब इस युग मे भारतीय बस्तियो से ढक गये। इस युग के इतिहास की वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण घटना है। यह प्रक्रिया गुप्त-साम्राज्य के समय मे और उसके कुछ बाद तक भी जारी रही। हम भारतीय उपनिवेशो के विस्तार का विशेष विवरण अगले एक अध्याय मे देंगे, पर यहाँ यह निर्देश कर देना उचित है, कि इन उपनिवेशो का श्रीगणेश इसी युग मे हुआ था।

चौदहवाँ अध्याय

पाश्चात्य संसार के साथ भारत का सम्बन्ध

(१) मौर्य युग से पूर्व का काल

शुंग-सातवाहन-शक युग में उस बृहत्तर भारत का विकास हुआ था, दक्षिण-पूर्वी एशिया का बड़ा भाग जिसके अन्तर्गत था। पर पाश्चात्य संसार के साथ भारत का सम्बन्ध अत्यन्त प्राचीन काल से चला आता था, जिसके कारण भारत ने पाश्चात्य देशो को और पाश्चात्य देशों ने भारत को अनेक प्रकार से प्रभावित किया था। भारतीय संस्कृति के इतिहास मे पाश्चात्य संसार के साथ भारत के सम्बन्ध का बहुत महत्त्व है। इस अध्याय मे इसी पर प्रकाश डाला जायगा।

सिन्धु सभ्यता और पाश्चात्य संसार—भारत और पाश्चात्य देशों का सम्बन्ध बहुत पुराना है। सिन्धु सभ्यता के युग मे (वैदिक आर्यों के भारत मे प्रवेश से पूर्व) भी इस सम्बन्ध की सत्ता थी। इस अत्यन्त प्राचीन काल मे पाश्चात्य संसार में सभ्यता के तीन महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे, सुमेरिया, मैसोपोटामिया और ईजिप्ट। सुमेरिया और मैसोपोटामिया की प्राचीनतम सभ्यताओ के जो अवशेष वर्तमान समय मे उपलब्ध होते है, उनमें और सिन्धु-सभ्यता के अवशेषो मे अनेक समताएँ पायी जाती है। उनके बरतनो, ईंटो और चित्रलिपि मे बहुत समता है। मैसोपोटामिया मे दो मोहरें ऐसी मिली हैं, जो मोहनजोदडो की मोहरों के सदृश हैं। उनपर अंकित लेख व चिह्न भी सिन्धु-सभ्यता की मोहरो पर अंकित चिह्नों के समान हैं। इसी प्रकार मोहनजोदड़ो मे भी एक ऐसा उत्कीर्ण लेख मिला है, जो प्राचीन मैसोपोटामिया की कीलाकित लिपि मे है। इन बातों को दृष्टि में रखने पर इस तथ्य मे कोई सन्देह नही रह जाता कि प्राचीन भारतीय सिन्धु सभ्यता का पाश्चात्य जगत् की इन प्राचीन सभ्यताओ के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। सम्भवत:, मोहनजोदडो सिन्ध नदी के तट पर स्थित एक ऐसा बन्दरगाह था, जिससे जलमार्ग (पहले सिन्ध नदी द्वारा और फिर समुद्र-तट के साथ-साथ) द्वारा पाश्चात्य संसार के उर और किश बन्दरगाहो के साथ व्यापार हुआ करता था, और भारतीय व्यापारी मैसोपोटामिया, सुमेरिया और ईजिप्ट मे व्यापार के लिए आया-जाया करते थे।

वैदिक युग—पश्चिमी एशिया में बोगजकोई नामक स्थान पर एक उत्कीर्ण लेख मिला है, जो चौदहवी सदी ईस्वी पूर्व का है। इसमें मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्यौ का उल्लेख है, जो वैदिक युग के देवता थे। इन देवताओं का उल्लेख इस बात का ठोस प्रमाण है, कि चौदहवीं सदी ईस्वी पूर्व मे भारत के आर्यों और पश्चिमी एशिया के निवासियो में घनिष्ठ सम्बन्ध था। ऋग्वेद के अनेक मंत्रों में जलमार्ग द्वारा यात्रा का उल्लेख है, जिससे सूचित होता है कि सिन्धु सभ्यता के लोगों के समान

वैदिक आर्य भी नदियो व समुद्र द्वारा दूर-दूर तक यात्रा करते थे। यहूदी लोगो के प्राचीन इतिवृत्त के अनुसार सोलोमन (८०० ईस्वी पूर्व) के शासनकाल मे टायर के राजा हीरन ने एक जहाजी बेड़ा पूर्वी देशों मे व्यापार के लिए भेजा था। यह बेडा ओफिर नामक बन्दरगाह में गया, और वहाँ से सोना, चाँदी, हाथीदाँत, चन्दन, बन्दर, मोर व अनेक प्रकार के मणि-माणिक्यो को लेकर वापस लौटा। अनेक ऐतिहासिको के मत मे ओफिर प्राचीन भृगुकच्छ को सूचित करता है, जो भारत के पश्चिमी समुद्र तट पर एक प्रसिद्ध बन्दरगाह था। मैसोपोटामिया मे कतिपय ऐसे मन्दिरों और राज-प्रासादो के अवशेष अब भी पाए जाते है, जो छठी सदी ईस्वी पूर्व के है, और जिनमे भारत से ले जायी गयी सागौन की लकडी का प्रयोग किया गया है। इसी प्रदेश मे राजा शालमानेजर तृतीय (८६० ई० पू०) द्वारा स्थापित एक स्तम्भ पर हाथियों की आकृतियाँ अंकित है। हाथी मैसोपोटामिया के प्रदेश मे नही होते थे। उनको अंकित करना इस बात को सूचित करता है कि नवी सदी ईस्वी पूर्व मे मैसोपोटामिया का भारत के साथ सम्बन्ध विद्यमान था।

ईरान के हखामनी सम्राट् और भारत—छठी सदी ई० पू० मे ईरान मे एक शक्तिशाली राजवंश का शासन था, जिसे राजा हखामनी ने स्थापित किया था। इस वंश मे कुरु (काइरस) नाम का राजा बहुत शक्तिशाली हुआ। उसका काल ५५८ से ५२६ ई० पू० तक था। राजा कुरु ने अपने राज्य का विस्तार करने के लिए पडौस के राज्यो पर आक्रमण करने शुरू किए, और धीरे-धीरे उसने बाख्त्री (बैक्ट्रिया), शकस्थान (सीस्तान) और मकरान के प्रदेशो को जीत लिया। इन विजयो से उसके साम्राज्य की पूर्वी सीमा भारत के साथ आ लगी। हखामनी वंश के राजा दारयवहु (डेरियस) का भारत के इतिहास के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। उसका काल ५२१ से ४८५ ई० पू० तक था। अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए उसने कम्बोज, पश्चिमी गान्धार और सिन्ध की भी विजय की। इनको जीत लेने के कारण भारत के ये पश्चिमी प्रदेश हखामनी साम्राज्य के अन्तर्गत हो गए थे। दारयवहु ने अपने विशाल साम्राज्य को २३ प्रान्तों मे विभक्त किया था, जिनके शासको को 'क्षत्रप' कहा जाता था। कम्बोज, गान्धार और सिन्ध को मिलाकर ईरानी साम्राज्य का एक प्रान्त बनाया गया था, जिससे ईरानी सम्राट् को बहुत अधिक आमदनी थी। दारयवहु का उत्तरा-धिकारी ख्षयर्ष (जरक्सीज) था। उसने पश्चिम मे अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए ग्रीस पर भी आक्रमण किया था। इस आक्रमण मे उसकी सेना मे भारतीय सैनिक भी अच्छी बडी संख्या मे सम्मिलित थे। भारत के सैनिक सूती कपडे पहनते थे, जो ग्रीक लोगो के लिए आश्चर्य की वस्तु थे। कपास को देखकर ग्रीक लोग बहुत चकित हुए, और उसे ऊन का पेड कहने लगे। इस समय तक ग्रीक लोगों को कपास, सूत व सूती कपडों का परिज्ञान नही था।

दारयवहु के तीन लेख इस समय मिलते है। ये लेख बहिस्ताँ, पर्सिपोलिस और नक्शाए-रुस्तम मे पाये गए हैं। इनमे से पिछले दो शिलालेखो मे भारत का 'हिन्दव' और 'हिन्दुश' नामो से उल्लेख किया गया है। ख्षयर्ष (६८५-४६५ ई० पू०) के शिलालेखों मे भी इन्ही नामों से भारत का उल्लेख हुआ है।

यद्यपि ईरान के सम्राट् भारत के पश्चिमी प्रदेशों को देर तक अपनी अधीनता मे नहीं रख सके, पर पश्चिमी देशों से भारत के सम्बन्ध को सुदृढ़ करने में ईरानी साम्राज्य से बहुत सहायता मिली। ईरानी साम्राज्य पश्चिम मे ईजिप्ट और ग्रीस से लगाकर पूर्व मे सिन्ध नदी तक विस्तृत था। इस कारण इस काल मे भारत का पश्चिमी देशों के साथ बहुत घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित हुआ और ग्रीस आदि पाश्चात्य देशों को भारत की विचारधाराओं व कला आदि से परिचित होने का अनुपम अवसर प्राप्त हुआ।

५१६ ई० पू० मे राजा दारयवहु ने स्काईलैक्स नाम के एक ग्रीक को भारत का अवगाहन करने के लिए भेजा था। स्काईलैक्स ने सिन्ध नदी के साथ-साथ यात्रा की और सिन्ध के मुहाने पर पहुँच कर वहाँ से समुद्र द्वारा अरब सागर और लाल सागर होते हुए स्वेज तक के समुद्रतट का अवगाहन किया। इस यात्रा मे उसे ढाई साल के लगभग समय लगा। उसके द्वारा न केवल ईरानी लोगो को अपितु ग्रीस के निवासियों को भी भारत का परिचय हुआ। ग्रीस के प्राचीन ऐतिहासिक हीरोदोतस ने भारत के सम्बन्ध मे जो अनेक बाते लिखी है, उनका परिज्ञान उसने सम्भवत: स्काइलैक्स द्वारा ही प्राप्त किया था। हीरोदोतस का काल छठी सदी ईस्वी पूर्व मे है। भारत के सम्बन्ध मे लिखते हुए हीरोदोतस ने ऐसे भारतीय सम्प्रदाय का भी उल्लेख किया है, जिनके अनुयायी मास भक्षण से परहेज करते थे, और केवल अन्न द्वारा अपना निर्वाह करते थे। यह सम्प्रदाय सम्भवत· जैन लोगों का था, जो अहिसा को बहुत महत्त्व देते थे।

बौद्ध काल—ईरान मे हखामनी साम्राज्य के विकास के कारण भारत का पाश्चात्य देशो के साथ जो सम्बन्ध स्थापित हुआ, बौद्धकाल मे उसमे बहुत वृद्धि हुई। भारत के व्यापारियों के साथ-साथ इस देश के विचारक भी पश्चिमी देशो में अच्छी बडी संख्या में जाने लगे, और पाश्चात्य लोगों को भारत के दर्शन व विचारों से परिचित होने का अवसर मिला। जातक कथाओ मे उन व्यापारियों का उल्लेख आता है, जो पश्चिम मे बावेरु (बैबिलोन) के साथ व्यापार करते थे, और जिनके पण्य को देखकर इन पाश्चात्य देशों के निवासी बहुत चकित हुआ करते थे। इन व्यापारियो के साथ भारत के दार्शनिक और विचारक भी पश्चिमी देशो मे जाने लगे, और उनके सम्पर्क के कारण ग्रीस आदि देशों के अनेक तत्त्वचिन्तक भी ज्ञान की पिपासा को शान्त करने के लिए भारत की यात्रा के लिए तत्पर हुए।

भारत के सम्पर्क के कारण ही ग्रीस के दार्शनिक विचारो मे परिवर्तन आना प्रारम्भ हुआ। एशिया माइनर के समुद्रतट के साथ-साथ जो अनेक ग्रीक बस्तियाँ बसी हुई थीं, वे ईरानी साम्राज्य के अन्तर्गत थी। इसीलिए वहाँ रहने वाले ग्रीक विचारको का भारत के दार्शनिको के साथ सुगमता से सम्पर्क हुआ, और उन्होने 'एक ईश्वर' की सत्ता का प्रतिपादन किया। एशिया माइनर की ग्रीक बस्तियो में क्सेनोफोनस, पर्मेनिडस, जेनो आदि अनेक ऐसे विचारक हुए, जिनके विचार भारतीय उपनिषदों की विचारधारा से बहुत मिलते-जुलते हैं। ग्रीक लोग देवी-देवताओं मे विश्वास रखते थे। पर इन विचारकों ने एक ईश्वर की सत्ता का प्रतिपादन किया। साथ ही, इन्होंने

इस बात पर भी जोर दिया कि ईश्वर के सम्मुख भौतिक वस्तुओ की सत्ता सर्वथा तुच्छ है।

५८० ई० पू० मे ग्रीस मे एक महान् दार्शनिक का जन्म हुआ, जिसका नाम पाइथोगोरस था। उसके विषय में कहा जाता है, कि उसने ज्ञान की खोज मे दूर-दूर तक यात्रा की, और वह भारत मे भी आया। पाइथोगोरस ने जिन सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया, उनमें पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी है। उसका विश्वास था, कि मृत्यु के साथ मनुष्य का अन्त नही हो जाता, अपितु आत्मा पुनः जन्म ग्रहण करती है। यह सिद्धान्त उसने भारतीयो से ही सीखा था। पाइथोगोरस अहिंसा का भी पक्षपाती था, और मास-भक्षण का विरोधी था। उसके अन्य अनेक सिद्धान्त भी भारतीय सिद्धान्तों से मिलते-जुलते हैं। उपनिषदों और बुद्ध की शिक्षाओ का प्रभाव उसके विचारों पर स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

एक प्राचीन ग्रीक लेखक के अनुसार कतिपय भारतीय दार्शनिक ग्रीस मे एथेन्स तक पहुँच गये थे, और वहाँ जाकर उन्होने ग्रीस के प्रसिद्ध विद्वान् सुकरात (मृत्युकाल ३९९ ई० पू०) से भी भेंट की थी। उन्होने सुकरात से पूछा, कि उनके दर्शन-शास्त्र का क्या प्रयोजन है? सुकरात ने उत्तर दिया—'मनुष्य के सम्बन्ध मे ज्ञान प्राप्त करना'। इसपर भारत के दार्शनिक हँस पडे और उन्होने कहा—'ईश्वर के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त किये बिना मनुष्य को जान सकना सम्भव नही है।"

सुकरात का प्रसिद्ध शिष्य प्लेटो था। उसके विचार भारत के विचारो से बहुत मिलते-जुलते है। उसने कर्मफल और पुनर्जन्म के सिद्धान्तो का जिक्र किया है, और साथ ही मानव समाज को तीन वर्गों या वर्णों मे विभक्त किया है। यह वर्ण-विभाग भारत की वर्णव्यवस्था के सदृश है। जिस प्रकार मनु आदि भारतीय विचारक वर्णों का मूल ईश्वरीय मानते है, वैसे ही प्लेटो भी मानता है। सम्भव है, कि प्लेटो को इन सिद्धान्तो का परिचय उन भारतीय दार्शनिको से प्राप्त हुआ हो, जिन्होने एथेन्स मे सुकरात से भेंट की थी।

हीरोदोतस के समान क्टेसियस नाम के एक अन्य ग्रीक लेखक ने भी भारत के सम्बन्ध मे लिखा है। वह बीस वर्ष (४१८-३९८ ई० पू०) तक ईरान के राजदरबार मे रहा था, और वहाँ रहते हुए उसे भारतीयो के सम्पर्क मे आने का अच्छा अवसर प्राप्त हुआ था।

(२) सिकन्दर का आक्रमण और मौर्य युग

चौथी सदी ईस्वी पूर्व मे मैसिडोनिया के राजा सिकन्दर ने अपने विशाल साम्राज्य का निर्माण किया। उसका पिता फिलिप ग्रीक राज्यो को जीतकर अपने अधीन कर चुका था। सिकन्दर ने ईजिप्ट और ईरानी साम्राज्य को विजय करके भारत पर भी आक्रमण किया, और उसके उत्तर-पश्चिमी प्रदेशो को अपने अधीन कर लिया। यद्यपि वह भारत मे अपने शासन को स्थायी नही बना सका, पर उसकी विजय-यात्रा के कारण भारत का पाश्चात्य संसार के साथ सम्बन्ध और भी अधिक घनिष्ठ हो गया। सिकन्दर के साथ बहुत-से ग्रीक, ईजिप्शियन व ईरानी सैनिकों ने भारत में

प्रवेश किया था, और उसने इन विदेशी सैनिको की अनेक छावनियाँ भी भारत में कायम की थीं। उसने ग्रीक और भारतीय लोगों मे विवाह-सम्बन्ध को भी प्रोत्साहन दिया था। सिकन्दर के शासन का अन्त हो जाने पर ये सब विदेशी सैनिक भारत से वापस नही लौट गये थे, इनमे से बहुत-से स्थायी रूप से भारत मे ही आबाद भी हो गये थे। सिकन्दर के बाद उसके अन्यतम उत्तराधिकारी सैल्युकस ने एक बार फिर भारत को जीतने का प्रयत्न किया था, यद्यपि वह भी अपने प्रयत्न मे सफल नही हो सका था। विशाल मौर्य साम्राज्य की स्थापना के कारण ग्रीक लोग भारत को अपनी अधीनता में ला सकने मे असमर्थ रहे थे। पर अशोक के बाद जब मौर्य साम्राज्य की शक्ति क्षीण होने लगी, तो ग्रीक आक्रान्ताओं ने उत्तर-पश्चिमी भारत के अनेक प्रदेशों को जीतकर अपने अधीन कर लिया, और वहाँ अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित किये। इस प्रकार सिकन्दर के समय से ईस्वी सन् के प्रारम्भ तक भारत का पश्चिम के ग्रीक लोगो (जिन्हे भारतीय 'यवन' कहते थे) से सम्बन्ध निरन्तर बना रहा।

मौर्य युग में भारत का पाश्चात्य देशों के साथ सम्बन्ध—चन्द्रगुप्त मौर्य से परास्त होकर सैल्युकस ने भारत के सम्राट् से जो सन्धि की थी, उसके अनुसार सैल्युकस की कन्या का विवाह चन्द्रगुप्त के साथ हुआ था, और उसने अपना राजदूत भी चन्द्रगुप्त के दरबार मे निवास के लिए नियुक्त किया था। सैल्युकस का राजदूत मैगस्थनीज चन्द्रगुप्त के दरबार में रहता था, और चन्द्रगुप्त ने भी अपना दूत सैल्युकस के दरबार मे भेजा था। सैल्युकस के उत्तराधिकारी एण्टियोकस सार्टर ने डायमेचस को अपना राजदूत बनाकर चन्द्रगुप्त मौर्य के उत्तराधिकारी बिन्दुसार के दरबार में पाटलिपुत्र भेजा था। प्राचीन ग्रीक लेखकों ने एण्टियोकस और बिन्दुसार के सम्बन्ध मे अनेक कथाएँ लिखी है। एक कथा के अनुसार बिन्दुसार ने एण्टियोकस से कुछ शराब, कुछ किशमिशें और एक ग्रीक दार्शनिक खरीद कर भेज देने के लिए लिखा था। इसपर एण्टियोकस ने शराब और किशमिशें तो खरीद कर भेज दी, पर दार्शनिक के सम्बन्ध में कहला दिया कि ग्रीक प्रथा के अनुसार दार्शनिको का क्रय-विक्रय सम्भव नही है। बिन्दुसार के समय ईजिप्ट का राजा टाल्मी फिलेडेल्फस (२८५-२४६ ई० पू०) था। उसने भी डायोनीसियस नाम का राजदूत बिन्दुसार के दरबार मे भेजा था।

सम्राट् अशोक—अशोक के शासनकाल मे भारत का पाश्चात्य संसार के साथ सम्बन्ध और भी अधिक बढा। धर्म द्वारा अन्य देशो की विजय करने के उपक्रम मे अशोक ने ईजिप्ट, ग्रीस आदि पश्चिमी देशों में अपने धर्म-महामात्र नियत किये थे। उसके शिलालेखों से सूचित होता है, कि पश्चिमी संसार के निम्नलिखित राजाओं के राज्यों में धर्म-महामात्रो की नियुक्ति की गयी थी—

(१) सीरिया के राजा अन्तियोक (एण्टियोकस थिओस) के राज्य मे।
(२) ईजिप्ट के राजा तुरुमय (टाल्मी फिलैडेल्फस) के राज्य मे।
(३) मैसिडोन के राजा अन्तिकिनि (एण्टिगोनस) के राज्य में।
(४) कारिन्थ के राजा अलिकसुन्दर (अलैक्जेण्डर) के राज्य में।

अशोक के समय में पाश्चात्य संसार के ये ही प्रमुख राज्य थे। इन सब में अशोक द्वारा नियुक्त महामात्रों ने धर्म विजय की स्थापना के लिए अनेक लोकोपकारी

कार्य किये, और जनता को धर्म-सन्देश सुनाया। इसका परिणाम यह हुआ, कि इन पश्चिमी देशों के साथ भारत का सम्पर्क और भी अधिक दृढ़ हो गया, और न केवल व्यापारी अपितु भारत के धर्मप्रचारक व दार्शनिक भी इन देशों में जाने-आने लगे।

ग्रीक आक्रमण—चन्द्रगुप्त मौर्य ने भारत में जिस विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, वह अशोक के बाद कायम नहीं रह सका। सम्भवतः, पाश्चात्य देशों द्वारा पाटलिपुत्र के राजदरबार में अपने राजदूत नियुक्त करने की जो प्रथा चन्द्रगुप्त के समय में प्रारम्भ हुई थी, वह भी अशोक के बाद नष्ट हो गयी। पर इस कारण भारत और पाश्चात्य देशों के सम्पर्क में कमी नहीं आयी। इसका कारण यह था, कि सिकन्दर के साम्राज्य के खण्डहरों पर जो अनेक ग्रीक (यवन) राज्य कायम हुए थे, उनके राजाओं ने मौर्य साम्राज्य की निर्बलता से लाभ उठाकर भारत पर आक्रमण शुरू कर दिये, और वे इस देश में अपने छोटे-छोटे राज्य स्थापित करने में भी सफल हुए।

मिनान्डर—भारत के इन यवन राजाओं में मिनान्डर सबसे प्रसिद्ध है। उसकी राजधानी सागल या शाकल (सियालकोट) थी। बौद्ध भिक्षुओं के सम्पर्क में आकर उसने बौद्ध धर्म की दीक्षा ले ली थी। 'मिलिन्द पन्हो' नाम का एक ग्रन्थ पाली भाषा में मिलता है, जिसमें राजा मिलिन्द (मिनान्डर) द्वारा बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में पूछे गये प्रश्नों व उनके उत्तरों का उल्लेख है। मिनान्डर के समान अन्य भी अनेक यवन राजाओं और उनके राजकर्मचारियों ने बौद्ध व अन्य भारतीय धर्मों को स्वीकार कर लिया था। हेलिओदोर नाम के एक यवन राजदूत को तक्षशिला के यवन राजा अन्तलिखित ने विदिशा भेजा था, जो वहाँ जाकर वासुदेव (विष्णु) का उपासक बन गया था। वासुदेव की पूजा के लिए उसने एक गरुडध्वज का निर्माण कराया था, जो अब तक भी विद्यमान है। हेलिओदर के समान अन्य भी बहुत से ग्रीक राजा व कर्मचारी भारतीय संस्कृति के सम्पर्क में आकर भारतीय हो गये थे, और इस देश की जनता के अंग बन गए थे।

उत्तर-पश्चिमी भारत में ग्रीक राज्यों की स्थापना के कारण भारत और पाश्चात्य देशों में सम्पर्क की वृद्धि में बहुत सहायता मिली। इस युग में बाख्त्री का यवन-राज्य और उत्तर-पश्चिमी भारत के अन्य यवन राज्य स्थलमार्ग द्वारा भारत और पश्चिमी देशों के सम्बन्ध की स्थापना में बहुत अधिक सहायक हुए। यह स्थलमार्ग खैबर के दर्रे में होकर और हिन्दुकुश पर्वतमाला को पारकर बाख्त्री पहुँचता था, और वहाँ से ऑक्सस नदी के साथ-साथ होकर कैस्पियन सागर व उससे भी परे काला सागर तक पहुँच जाता था। इसके अतिरिक्त एक अन्य स्थलमार्ग ईरान होता हुआ पश्चिमी एशिया के समुद्रतट तक जा पहुँचता था।

ईजिप्ट और भारत का सम्बन्ध—अशोक ने अपने धर्म-महामात्र ईजिप्ट के राजा टॉल्मी फिलेडेल्फस के राज्य में भी भेजे थे। एक ग्रीक लेखक ने लिखा है, कि टॉल्मी (२८५-२४६ ई० पू०) के यहाँ भारतीय स्त्रियाँ, भारत के शिकारी कुत्ते और गौवें भी विद्यमान थीं। उसकी राजधानी में भारत से आये हुए मसालों से लदे हुए ऊँट भी दिखाई देते थे। इसी ग्रीक लेखक के अनुसार टॉल्मी के एक उत्तराधिकारी ने एक ऐसी नौका अपने लिए बनवाई थी, जिसकी बैठक को भारत के बहुमूल्य प्रस्तरों से विभूषित किया गया था।

अशोक की धर्म विजय की सफलता—अशोक ने ग्रीस, सीरिया, ईजिप्ट आदि पाश्चात्य देशों में अपने जो धर्ममहामात्र नियत किये थे, उन्हें धर्म-विजय की स्थापना के अपने उद्देश्य में कहाँ तक सफलता हुई थी, इस सम्बन्ध में हमें ज्ञान नहीं है। पर इस विषय में अल्बरूनी का यह कथन ध्यान देने योग्य है कि "पुराने जमाने में खुरासान, ईरान, ईराक, मोसल और सीरिया की सीमा तक के सब प्रदेश बौद्ध धर्म के अनुयायी थे।" अल्बरूनी ने दसवीं सदी के अन्त में भारत की यात्रा की, और वह फारसी, संस्कृत, तुर्की आदि भाषाओं का गम्भीर विद्वान् था। भारत से पश्चिम के प्रदेशों में बौद्ध धर्म के प्रचार की सत्ता के सम्बन्ध मे उसने जो बात लिखी है, उसका आधार इन देशों का पुराना इतिवृत्त ही था। इससे सूचित होता है, कि अशोक के धर्ममहामात्र अपने उद्देश्य मे अवश्य ही सफल हुए थे।

(३) भारत और रोमन-साम्राज्य

तीसरी सदी ई० पू० में पाश्चात्य ससार में रोम के उत्कर्ष का प्रारम्भ हुआ था, और धीरे-धीरे इस छोटे-से गणराज्य ने उत्तरी अफ्रीका, स्पेन, कार्सिका और सार्डिनिया आदि के सब प्रदेशों को अपने अधीन कर लिया था। पहली सदी ई० पू० मे रोम ने पूर्व दिशा की ओर भी अपने साम्राज्य का विस्तार शुरू किया, और ग्रीस, एशिया माइनर तथा ईजिप्ट को जीतकर मैसोपोटामिया तक के सब प्रदेशों को अपने अधीन कर लिया। ४६ ई० पू० तक यह दशा आ गयी थी, कि स्पेन और फ्रांस से लगाकर मैसोपोटामिया तक, और आल्प्स की पर्वतमाला से उत्तरी अफ्रीका तक सर्वत्र रोम का आधिपत्य था। रोम का विशाल साम्राज्य यूरोप, एशिया और अफ्रीका तीनों महाद्वीपों मे फैला हुआ था। ईस्वी सन् के प्रारम्भ होने से पूर्व ही रोम से गण-शासन का अन्त होकर सम्राटों का शासन स्थापित हो गया था। ये रोमन सम्राट् अपने समय के सबसे अधिक शक्तिसम्पन्न व वैभवशाली सम्राटों में से थे।

भारत और रोम का साम्राज्य—ग्रीस, पश्चिमी एशिया और ईजिप्ट से भारत का घनिष्ठ सम्बन्ध था, यह ऊपर लिखा जा चुका है। जब रोम ने इन प्रदेशों को जीत लिया, तो भी भारत का इन देशों के साथ सम्बन्ध जारी रहा। अब भारत के व्यापारी ग्रीस और ईजिप्ट से भी आगे बढ़कर पश्चिम मे इटली और रोमन साम्राज्य के अन्य पश्चिमी प्रदेशों के साथ व्यापार करने के लिए प्रवृत्त हुए। रोमन साम्राज्य में सर्वत्र शान्ति और व्यवस्था स्थापित थी। इस कारण भारत के व्यापारियों के लिए भूमध्य-सागर के पश्चिमी भागों में भी दूर-दूर तक व्यापार के लिए आना-जाना सुगम हो गया था।

रोम के शासक भारत के व्यापार को बहुत अधिक महत्त्व देते थे। उनकी नीति यह थी कि पूर्वी देशो का यह व्यापार समुद्र के मार्ग से हो, और ईरान से होकर आने वाला स्थल-मार्ग अधिक प्रयोग मे न आए। इसी कारण २५ ई० पू० मे सम्राट् आगस्तस ने एक मंडल इस प्रयोजन से नियुक्त किया था, कि वह समुद्र के मार्ग को विकसित व उन्नत करने का प्रयत्न करे। इस मंडल के प्रयत्न से शीघ्र ही अदन और ईजिप्ट के समुद्र-तट पर ग्रीस तथा रोम के व्यापारियों ने अपनी बस्तियाँ बसा

लीं। अनुकूल सामुद्रिक वायु का ज्ञान हो जाने के कारण इस समय के जहाज तीन मास से भी कम समय में भारत से एलेक्जेण्ड्रिया (ईजिप्ट का बन्दरगाह) तक आने-जाने लग गये थे। इस समय एलेक्जेण्ड्रिया से भारत की ओर जाने वाले जहाजों की संख्या प्रतिदिन एक की औसत से थी। इससे सहज में ही यह अनुमान किया जा सकता है, कि भारत का इन पाश्चात्य देशों के साथ व्यापार-सम्बन्ध कितना अधिक था।

भारत से जो माल पाश्चात्य देशों में बिकने के लिए जाता था, वहाँ उसकी माँग बहुत अधिक थी। हाथी दाँत की वस्तुएँ, मसाले, मोती, सुगन्धियाँ और सूती वस्त्र आदि सामान भारत से बहुत बडी मात्रा में रोम व साम्राज्य की अन्य नगरियों में बिकने के लिए जाता था, और उसके बदले में बहुत-सा सोना भारत को प्राप्त होता था। ७७ ई० पू० में रोम के एक लेखक ने शिकायत की थी, कि भारत रोम से हर साल साढे पाँच करोड़ का सोना खींच लेता है, और यह कीमत रोम को वहाँ के निवासियों के भोग-विलास के कारण देनी पड़ती है। १२५ ईस्वी में रोमन साम्राज्य के अन्यतम प्रान्त सीरिया के सम्बन्ध में एक चीनी लेखक ने लिखा था कि भारत के साथ इसका जो व्यापार है, उसमें आयात माल के मूल्य की मात्रा निर्यात माल के मूल्य से दस गुनी है। जो दशा सीरिया की थी, वही रोमन साम्राज्य के अन्य प्रान्तों की भी थी। इसी कारण आयात माल की कीमत को चुकाने के लिए बहुत-सा सोना हर साल भारत को भेजा जाता था। यही कारण है, जो रोम की बहुत-सी सुवर्ण मुद्राएँ इस समय भी भारत में अनेक स्थानों से प्राप्त होती हैं। दक्षिणी भारत के कोयम्बटूर और मदुरा जिलों से रोम के इतने सिक्के मिले हैं, जिन्हें पाँच कुली उठा सकने में समर्थ होंगे। पंजाब के हजारा जिले से भी रोम के बहुत से सिक्के मिले है, जिनके कारण भारत और रोमन साम्राज्य के पारस्परिक व्यापार के सम्बन्ध में कोई भी सन्देह नहीं रह जाता। भारत से रोम जाने वाले माल में सूती वस्त्र बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे। एक रोमन लेखक ने शिकायत की थी, कि रोम की स्त्रियाँ भारत से आने वाले 'बुनी हुई हवा के जाले' (मलमल) को पहनकर अपने सौन्दर्य को प्रदर्शित करती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन समय में भारत अपने महीन वस्त्रों के लिए प्रसिद्ध था।

रोम और कुशाण साम्राज्य—रोमन साम्राज्य के विकास के काल में उत्तरी भारत में कुशाण साम्राज्य की सत्ता थी। कुशाणों का शासन हिन्दुकुश पर्वतमाला के परे बाख्त्री आदि प्रदेशों में भी विस्तृत था। इस कारण उस समय रोमन साम्राज्य को जाने वाले स्थल-मार्गों का बहुत महत्त्व हो गया था। जब रोम की राजगद्दी पर सम्राट् त्राजन(९९ ईस्वी) विराजमान हुआ, तो भारत के कुशाण सम्राट् (सम्भवतः कनिष्क) ने भी अपना एक दूतमण्डल रोम भेजा था। वहाँ भारत के इस दूतमंडल का शानदार स्वागत किया गया, और उन्हें दरबार में उच्च आसन दिये गए।

रोम और अन्य भारतीय राजा—केवल कुशाण सम्राटों का ही रोम के सम्राटों के साथ सम्बन्ध नहीं था। अन्य भारतीय राजा भी रोम के सम्राटों के दरबार में अपने दूतमंडल भेजा करते थे। स्त्राबो के अनुसार २५ ईस्वी पूर्व में पाण्डिऑन (संभवतः दक्षिणी भारत के पाण्ड्य देश के अन्यतम राजा) ने एक दूतमंडल रोम भेजा था, जिसने भृगुकच्छ के बन्दरगाह से प्रस्थान किया था। चार साल की यात्रा के बाद इस दूतमंडल

ने रोम के सम्राट् ऑगस्तस से भेंट की थी, और पाण्ड्य राजा द्वारा भेजे हुए उपहार उसे समर्पित किये थे। उन उपहारों में शेर, अजगर आदि के अतिरिक्त एक ऐसा बालक भी था, जिसके हाथ नहीं थे, पर जो पैरों से तीर कमान चला सकता था। इस दूतमण्डल का नेता शरमनोचेगस (श्रमणाचार्य) नाम का एक व्यक्ति था, जो सम्भवतः जैन धर्म का अनुयायी था। इसी प्रकार के अनेक अन्य भी दूतमण्डल भारतीय राजाओं द्वारा रोम भेजे गए थे।

प्रसिद्ध बन्दरगाह—इस युग में भारत और पाश्चात्य देशों के बीच व्यापार की जिस ढंग से वृद्धि हो रही थी, उसके कारण भारत के समुद्रतट पर अनेक ऐसे समृद्ध बन्दरगाहों का विकास हो गया था, जिनमें विदेशी व्यापारी भी अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते थे। इनमें सबसे प्रसिद्ध "मुजिरिम" था, जो मलाबार के समुद्रतट पर स्थित था। तमिल भाषा के एक कवि ने इस बन्दरगाह के सम्बन्ध में लिखा है कि यहाँ यवनों के जहाज सोने से लदे हुए आते हैं, और उसके बदले में काली मिर्च भर कर ले जाते हैं। मुजिरिम में रोमन लोगों की एक बस्ती भी विद्यमान थी, और वहाँ सम्राट् ऑगस्तस के सम्मान में एक रोमन मन्दिर का निर्माण भी किया गया था। जिस प्रकार सोलहवीं सदी में पोर्तुगीज, डच, स्पेनिश आदि यूरोपियन व्यापारियों ने भारत के विविध बन्दरगाहों में व्यापार के निमित्त अपनी बस्तियाँ कायम की थीं, वैसे ही ईस्वी सन् की प्रारम्भिक सदियों में रोमन साम्राज्य के विविध प्रदेशों (सीरिया, ईजिप्ट आदि) के व्यापारियों ने मुजिरिस आदि बन्दरगाहों में अपनी बस्तियाँ स्थापित कर ली थीं। भारत के अनेक राजा भी इस समय इन विदेशियों को अपनी नौकरी में रखने लगे थे, और अनेक पाश्चात्य लड़कियाँ भी उनके अन्तःपुरों की शोभा बढ़ाने लग गयी थीं।

मुजिरिस के अतिरिक्त मदुरा, भृगुकच्छ आदि अन्य भी अनेक बन्दरगाह थे, जो विदेशी व्यापार के अच्छे बड़े केन्द्र थे, और जहाँ यवन एवं रोमन लोग बड़ी संख्या में निवास करते थे।

जिस प्रकार भारत के बन्दरगाहों में विदेशी लोगों की बस्तियाँ थीं, वैसे ही ईरान की खाड़ी, लालसागर और भूमध्यसागर के बन्दरगाहों में भारतीय व्यापारियों ने भी अपनी बस्तियाँ बसा ली थीं। पाश्चात्य जगत् के बन्दरगाहों में इस समय सबसे बड़ा एलेग्जेण्ड्रिया था, जो जनसंख्या की दृष्टि से रोमन साम्राज्य में रोम के बाद सबसे बड़ा नगर था। यह न केवल विदेशी व्यापार का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था, अपितु ज्ञान-विज्ञान के लिए भी अद्वितीय था। इसका कलाभवन (म्यूजियम) संसार भर में प्रसिद्ध था, और इसके पुस्तकालय से लाभ उठाने के लिए दूर-दूर के विद्वान् आया करते थे। भारतीय विद्वान् भी यहाँ अच्छी बड़ी संख्या में विद्यमान थे, और उनकी उपस्थिति के कारण पाश्चात्य लोगों को भारत के दर्शन व विज्ञान से परिचित होने का अवसर प्राप्त होता था। त्राजन के शासन काल में दिओ क्रिसोस्तम नाम के विद्वान् ने एलेग्जेण्ड्रिया में व्याख्यान देते हुए कहा था—"इस सभा में न केवल ग्रीक, इटालियन, सीरियन, लीबियन और साइलीसियन ही उपस्थित हैं, अपितु वे भी लोग हैं, जो अधिक दूर के देशों के निवासी हैं, यथा इथियोपियन, अरब, बैक्ट्रियन, सीरियन और भारतीय।" एलेग्जेण्ड्रिया में एक प्राचीन समाधि विद्यमान है, जिसपर त्रिशूल और चक्र अंकित हैं।

वह किसी भारतीय विद्वान् की समाधि है, जिसने अपनी जीवन-लीला सुदूर ईजिप्ट में समाप्त की थी। ४७० ईस्वी मे कुछ ब्राह्मण एलेग्जेण्ड्रिया की यात्रा के लिए गए थे, और वे वहाँ के शासक के अतिथि रूप मे ठहरे थे। एलेग्जेण्ड्रिया के समान पाश्चात्य संसार मे अन्य भी अनेक ऐसे बन्दरगाह थे, जहाँ न केवल भारतीय व्यापारी अपितु विद्वान् भी बड़ी सख्या मे निवास करते थे।

(४) पाश्चात्य साहित्य में भारत का विवरण

भारत का पाश्चात्य देशों के साथ जो घनिष्ठ सम्बन्ध था, उसी का यह परिणाम था कि अनेक ग्रीक और रोमन लेखकों ने भारत के विषय में अनेक पुस्तकें लिखी थीं। मैगस्थनीज का भारत वर्णन बहुत प्रसिद्ध है। यह ग्रीक विद्वान् सैल्युकस के राजदूत के रूप में चन्द्रगुप्त मौर्य के राजदरबार मे रहा था, और उसे भारत के विषय में जानकारी प्राप्त करने का अनुपम अवसर प्राप्त हुआ था। पहली सदी ई० पू० मे स्त्राबो ने भारत के विषय मे एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की थी। पर स्त्राबो के ग्रन्थ का मुख्य आधार एरानोस्थनीज (२४०-१९६ ई० पू०) की भारतविषयक पुस्तक थी। यह विद्वान् एलेग्जेण्ड्रिया के पुस्तकालय का अध्यक्ष था, और वहाँ रहते हुए उसने भारत के विषय मे बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त किया था। एरियन नामक लेखक ने १५० ई० पू० के लगभग भारत के विषय मे अपनी पुस्तक की रचना की थी, और ७७ ई० पू० में प्लिनी ने ईजिप्ट से भारत तक की समुद्र-यात्रा का वृत्तान्त लिखा था। इस वृत्तान्त में भारत के पशुओं, खनिज पदार्थों, वनस्पति और औषधियों का भी विशद रूप से वर्णन किया गया है।

पहली सदी ईस्वी में ही एक ग्रीक मल्लाह ने समुद्र मार्ग द्वारा भारत की यात्रा की थी। उसका नाम ज्ञात नही है, पर उसकी लिखी हुई पुस्तक अब तक भी विद्यमान है, जिसका अंग्रेजी अनुवाद 'परिप्लस ऑफ दी एरीथ्रियन सी' नाम से प्रकाशित है। यह पुस्तक बहुत महत्त्वपूर्ण है, और इसे पढने से ज्ञात होता है कि उस समय मे सिन्ध और गुजरात के अनेक बन्दरगाह पश्चिमी व्यापार के बड़े केन्द्र थे, और उनमें बहुत-से विदेशी व्यापारी सदा विद्यमान रहते थे। १५० ई० के लगभग एलेग्जेण्ड्रिया के भूगोल-वेत्ता टॉल्मी ने भूगोल के सम्बन्ध मे एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी, जिसमे कि भारत की भौगोलिक स्थिति पर भी प्रकाश डालने का यत्न किया गया था।

दूसरी सदी ईस्वी मे लिखा हुआ एक ग्रीक नाटक उपलब्ध हुआ है, जिसमें कि एक ग्रीक महिला का वृत्तान्त है, जिसका जहाज भारत मे कर्णाटक के समुद्रतट पर टूट गया था। इस नाटक मे कर्णाटक के निवासियो से जो भाषा बुलवायी गयी है, उसमें कन्नड़ भाषा के शब्दों का भी प्रयोग किया गया है।

तीसरी सदी ईस्वी के पाश्चात्य साहित्य मे अनेक ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनमें भारत के दार्शनिक विचारो और धार्मिक सिद्धान्तों का वर्णन है। इन ग्रन्थों के लेखकों मे एलेग्जेण्ड्रिया के निवासी क्लीमैण्ट (मृत्युकाल २२० ईस्वी), बैबिलोनिया के निवासी बार्देसनस, सेण्ट जरोम, फिलोस्ट्रेटस और कैसियस के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से क्लीमैण्ट और बार्देसनस ने बुद्ध का जिक्र किया है, और उसके जन्म की कथा का

विशद रूप से उल्लेख किया है। भारत के दार्शनिक विचारों का इन सभी लेखकों ने अपने ग्रन्थों में जिक्र किया है। क्लीमैंण्ट ने लिखा है कि "बहुत से भारतीय बुद्ध के अनुयायी हैं, और उसका वे इतना आदर करते हैं कि उसे भगवान् मानते हैं।" क्लीमैंण्ट ने यह भी लिखा है कि बौद्ध लोग पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं, और अपने पूज्य-जनों की अस्थियों पर स्तूप बनाकर उनकी पूजा करते हैं। क्लीमैंण्ट ने अनेक बार एलेग्जेण्ड्रिया में बौद्ध लोगों की उपस्थिति का उल्लेख करते हुए यह स्वीकार किया है, कि ग्रीक लोगों ने अपने दार्शनिक विचार इन विदेशियों से ही ग्रहण किये हैं। केवल ग्रीक लोगों के दार्शनिक विचारों पर ही नहीं, अपितु ईसाइयों की कथाओं पर भी भारतीय कथाओं की छाप है। इसका कारण यही है कि एलेग्जेण्ड्रिया आदि में बहुत से भारतीय विद्वान् अच्छी बड़ी संख्या मे निवास करते थे, और पाश्चात्य लोगों को उनके सम्पर्क मे आने का अवसर मिलता रहता था। यही कारण है, जो न केवल पाश्चात्य साहित्य में भारत विषयक अनेक ग्रन्थों की सत्ता है, अपितु उनके अपने साहित्य पर भी भारत की छाप है।

पाश्चात्य कथाओं पर भारतीय प्रभाव—पाश्चात्य देशों के साहित्य को भारत ने किस अश तक प्रभावित किया है, इसका अनुमान उन कथाओं से किया जा सकता है, जिन पर भारत का प्रभाव प्रत्यक्ष है। भारत का कथा साहित्य बहुत पुराना है, और उसमे जातकों, पंचतन्त्र, हितोपदेश और शुकसप्तशती का स्थान बहुत महत्त्व का है। भारत के व्यापारियो के साथ-साथ इस देश की कथाओ ने भी छठी सदी ईस्वी पूर्व से भी पहले पश्चिमी देशो में प्रवेश करना प्रारम्भ कर दिया था। ईसप नाम के लेखक की कथाएँ भारतीय कथाओं पर ही आधारित है। प्लेटों के ग्रन्थो मे भी अनेक भारतीय कथाओं की सत्ता है, जिनमें कि शेर की खाल ओढे हुए गधे की कथा मुख्य है। पाश्चात्य और भारतीय कथाओ की समता तो असदिग्ध है पर इन कथाओ को पाश्चात्य लोगो ने भारत से ही लिया था, इसका प्रमाण यह है कि इन कथाओ के पात्र शेर, गीदड़, मोर, हाथी आदि जो पशु हैं, वे भारतीय है, पाश्चात्य नही।

(५) पाश्चात्य देशों के साथ सम्पर्क के परिणाम

भारत और पाश्चात्य देशों का यह सम्पर्क इस्लाम के प्रादुर्भाव तक कायम रहा। सातवी सदी में जब अरब साम्राज्य का विकास हुआ, तो ईजिप्ट, पश्चिमी एशिया, मैसोपोटामिया आदि के सब प्रदेश उसकी अधीनता में आ गए। इसका परिणाम यह हुआ कि एलेग्जेण्ड्रिया का स्थान बगदाद ने ले लिया, और अरब साम्राज्य मे विद्या के अनेक नये केन्द्र विकसित हो गए। भारतीय विद्वान् पहले जैसे एलेग्जेण्ड्रिया आदि पाश्चात्य नगरों में रहते थे, वैसे अब बगदाद आदि में रहने लगे, और पाश्चात्य लोगो से उनका सीधा सम्बन्ध नही रह गया। इस समय से भारत का ज्ञान-विज्ञान अरबों द्वारा ही यूरोप में पहुँचने लगा।

यही बात व्यापार के क्षेत्र में भी हुई। पाश्चात्य व्यापार अब अरबों द्वारा होने लगा, और वे ही भारत के माल को पाश्चात्य देशों में विक्रय के लिए ले जाने लगे। सातवीं सदी से यूरोप के इतिहास में उस काल का प्रारम्भ हुआ जिसे 'अन्धकार का

युग' कहते हैं। इसी कारण इस समय से भारत और पाश्चात्य देशों का सम्बन्ध प्रायः समाप्त हो गया।

भारत पर पाश्चात्य प्रभाव—चिरकाल तक पाश्चात्य देशों के सम्पर्क से रहने के कारण यह स्वाभाविक था, कि भारत पर इन देशो का प्रभाव पड़े। ईरान के हखामनी सम्राटों ने सिन्ध नदी तक के प्रदेशों को जीतकर अपने साम्राज्य में मिला लिया था। इसके कारण ईरान की प्राचीन अरमइक लिपि का भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों में प्रवेश हुआ। यह लिपि दायीं ओर से बायीं ओर को लिखी जाती थी। तक्षशिला के अवशेषों मे प्राचीन काल के दो लेख मिले है जो इसी लिपि मे है। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत के जो प्रदेश हखामनी साम्राज्य के अन्तर्गत थे, उनमे इस अरमइक लिपि का प्रचार हो गया था। बाद मे इन्ही प्रदेशों मे खरोष्ठी लिपि का विकास हुआ, जिसकी वर्णमाला तो ब्राह्मी लिपि के ही सदृश थी, पर जो अरमइक लिपि के समान दायी ओर से बायी ओर लिखी जाती थी। इस लिपि का प्रयोग भारत की अपनी भाषा को लिखने के लिए भी किया जाने लगा था। अशोक के चतुर्दश शिलालेखो की जो प्रतियाँ उत्तर-पश्चिमी भारत में उपलब्ध हुई है, वे इसी खरोष्ठी लिपि मे हैं। संस्कृत के प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि ने 'यवनानी' लिपि का भी उल्लेख किया है, जो सम्भवतः अरमइक ही थी। इससे सूचित होता है कि पाणिनि इस लिपि से परिचित थे, और उनके समय मे भारत के उत्तरी-पश्चिमी प्रदेशो मे इस काप्रचार था।

ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र मे भी पाश्चात्य लोगों ने भारत को आशिक रूप से प्रभावित किया था। विशेषतया, ज्योतिष मे भारतीयो ने अनेक बाते ग्रीक और रोमन लोगों से सीखी थी। गार्ग्य सहिता मे लिखा है कि यवन लोग म्लेच्छ है, पर ज्योतिष मे उन्होंने बहुत उन्नति की है, इस कारण उनका ऋषिवत् आदर करना चाहिए। ज्योतिष की पाँच भारतीय संहिताओ मे दो के नाम रोमक सिद्धान्त और पोलिश सिद्धान्त हैं। रोमक सिद्धान्त स्पष्ट रूप से रोम के साथ सम्बन्ध रखता है, और पोलिश सिद्धान्त का एलेग्जिण्ड्रिया के प्रसिद्ध ज्योतिषी पाल (३७८ ईस्वी) के साथ सम्बन्ध है। अनेक विद्वानो के मत मे भारत मे नाटको का सूत्रपात भी पाश्चात्य लोगो के सम्पर्क द्वारा हुआ। इसके पक्ष मे यह प्रमाण दिया जाता है कि नाटक खेलते हुए भारतीय लोग परदे के गिरने को 'यवनिका पतन' कहा करते थे। भारत के प्राचीन सिक्कों पर भी ग्रीक लोगो के प्रभाव को स्वीकार किया जाता है। इसमे सन्देह नही कि उत्तर-पश्चिमी भारत के यवन राजाओ ने ही इस देश मे पहले-पहल सुडौल सिक्को का निर्माण प्रारम्भ किया था। ग्रीक लोगो के सम्पर्क के कारण ही भारत की मूर्तिनिर्माण-कला मे 'गान्धारी शैली' का प्रारम्भ हुआ, यह भी अनेक विद्वानो का मत है। इस शैली के सम्बन्ध मे पिछले एक अध्याय मे प्रकाश डाला जा चुका है।

पाश्चात्य देशों के सम्पर्क द्वारा भारत के धर्म पर कोई प्रभाव हुआ या नहीं, यह बात विवादग्रस्त है। कुशाण सम्राट् कनिष्क के अनेक सिक्को पर भारतीय देवी-देवताओ के अतिरिक्त ग्रीक देवी-देवताओ की प्रतिमाएँ भी अकित है। इससे यह तो स्पष्ट ही है कि कनिष्क के समय मे भारतीयों को ग्रीक के प्राचीन धर्म से भी परिचित

होने का अवसर मिला था। पर इससे भारत के धर्म पर कोई महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा, यह स्वीकार कर सकना सम्भव नहीं है।

पर पश्चिम मे प्रादुर्भूत हुए ईसाई धर्म का भारत में प्रवेश बहुत प्राचीन काल मेंहो गया था, यह असंदिग्ध है। ईसाइयों की प्राचीन कथाओं के अनुसार टामस नाम का ईसाई प्रचारक ईस्वी सन् की प्रथम सदी में ही भारत में अपने धर्म का प्रचार करने के लिए आया था। इस कथा में सचाई हो या नहीं, पर यह निश्चित है कि दूसरी सदी के अन्त से पूर्व ही अनेक ईसाई प्रचारक भारत में आने लग गए थे, और तीसरी व चौथी सदियो मे दक्षिणी भारत मे इस धर्म का प्रचार भी शुरू हो गया था।

पाश्चात्य देशों पर भारत का प्रभाव—भारत के सम्पर्क ने पाश्चात्य देशों को अनेक प्रकार से प्रभावित किया। यह प्रभाव इन देशो के विचारों और धर्म पर स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। इस अध्याय मे ऊपर इस सम्बन्ध मे प्रकाश भी डाला जा चुका है। हम यहाँ पुनः संक्षेप में इसे इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं—

(१) ग्रीक लोगों के दार्शनिक विचारो पर भारत का प्रभाव असंदिग्ध है। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, एलेग्जेण्ड्रिया के क्लीमैण्ट के अनुसार ग्रीक लोगों ने अपने दार्शनिक विचार भारतीयो से ही ग्रहण किये थे। पाइथोगोरेस के सम्बन्ध मे यह माना जाता है कि उसने भारत की यात्रा की थी, और इस देश के दार्शनिकों के सम्पर्क में आकर ही उसने अपने दार्शनिक विचारो का विकास किया था। भारत के सांख्य दर्शन का प्रभाव पाइथोगोरस के मन्तव्यों पर स्पष्ट है। उसका काल छठी सदी ईस्वी पूर्व मे था। उस समय तक ग्रीक लोग भारतीयो के निकट सम्पर्क मे आने लग गये थे, और यह स्वाभाविक था कि भारत के समुन्नत दार्शनिक चिन्तन से वे प्रभावित होते। ग्रीस का प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात भारतीय विद्वानो के सम्पर्क मे आया था, यह इसी अध्याय मे ऊपर लिखा जा चुका है। उसके शिष्य प्लेटो के विचारो पर भी भारत का प्रभाव है, यह भी हम प्रदर्शित कर चुके हैं। चौथी सदी ई० पू० मे आरिस्टोक्लेनस नाम का एक प्रसिद्ध ग्रीक विद्वान् हुआ, जो अरिस्टोटल का शिष्य था। उसके इतिवृत्त से सूचित होता है कि भारत के विद्वान् ग्रीस आदि पाश्चात्य देशों मे जाया करते थे, और उन देशो की भाषाएँ सीखकर वहाँ प्रवचन किया करते थे। इसी प्रकार ग्रीक व अन्य विदेशी विद्वान् भी भारत मे आकर इस देश के दर्शन व धर्म का अनुशीलन करते थे। स्कीथियेनस नाम का एक अरब व्यापारी भारत मे व्यापार के लिए आया करता था। यहाँ उसे भारतीय दर्शन के प्रति रुचि उत्पन्न हुई, और दर्शनशास्त्र का अध्ययन कर वह एलेग्जेण्ड्रिया मे बस गया। वहाँ उसने भारतीय दर्शन का अध्यापन शुरू किया। इसी प्रकार अन्य भी कितने ही ग्रीक, अरब, सीरियन आदि विद्वान् भारत आये, और उन्होने इस देश के ज्ञान को प्राप्त किया। यही कारण है, जो पाश्चात्य दार्शनिक विचार भारत के दर्शनशास्त्रो से प्रभावित हुए, और उनके व भारत के विचारो मे इतनी अधिक समता पायी जाती है।

(२) भारत के धार्मिक विचारों ने भी पाश्चात्य देशों के धर्मों को प्रभावित किया। अशोक के समय मे विदेशो मे धर्मविजय और बौद्ध धर्म के प्रचार का जो उपक्रम प्रारम्भ हुआ था, उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इसी के कारण

अनेक पाश्चात्य देश बौद्ध धर्म के अनुयायी बन गये थे, और अलबरूनी दसवी सदी के अन्त में यह लिख सका था कि पुराने जमाने में सीरिया तक के सब पाश्चात्य देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार था। अलबरूनी के कथन की सत्यता पुरातत्त्व-सम्बन्धी अवशेषों द्वारा भी प्रमाणित होती है। सीस्तान में एक पुराने बौद्ध विहार के अवशेष मिले हैं, जिन्हें देखकर उस प्रदेश में बौद्ध धर्म की सत्ता में कोई सन्देह नही रह जाता। चीनी भाषा के पुराने ग्रन्थों में पार्थिया के एक राजकुमार की कथा दी गयी है, जिसने कि राजगद्दी का परित्याग कर बौद्ध भिक्षुओ के काषाय वस्त्रो को धारण कर लिया था।

बौद्ध धर्म के समान भारत के पौराणिक धर्म की भी इन पाश्चात्य देशो में सत्ता थी। सीरिया के एक लेखक जनॉब के अनुसार दूसरी सदी ई० पू० में युफ्रेटिस नदी के उपरले क्षेत्र में टैरन प्रदेश में भारतियो की एक बस्ती थी, जिसमें दो विशाल मन्दिर विद्यमान थे। इन मन्दिरो में प्रतिष्ठापित मूर्तियाँ ऊँचाई में २२ और २८ फीट थीं। ३०४ ईस्वी के लगभग ईसाई सन्त ग्रेगरी ने इन मन्दिरो को नष्ट करने का प्रयत्न किया। भारतीयो ने अपने मन्दिरों की रक्षा के लिए संघर्ष किया, पर वे सफल नही हो सके, और ग्रेगरी ने मन्दिरो की मूर्तियों को खण्ड-खण्ड करवा दिया।

पाश्चात्य देशो में बौद्ध और पौराणिक धर्मों की सत्ता का ही यह परिणाम हुआ, कि इस क्षेत्र के धर्मों पर भारत के धार्मिक मन्तव्यो और विधि-विधानो का प्रभाव पडा। ईसाई धर्म के मन्तव्यो और कर्मकाण्ड में अनेक ऐसी बाते है, जो भारतीय धार्मिक मन्तव्यो व कर्मकाण्ड से मिलती-जुलती हैं। पुराने ईसाई चर्चों का अन्दरूनी भाग बौद्ध चैत्य के सदृश होता था। उनमे भी पूज्य सन्तो की अस्थियो को स्थापित करने व उनकी पूजा करने की प्रथा प्रचलित थी। ईसाई सन्त व साधु भारतीय मुनियों के समान ही तपस्या व साधना में तत्पर रहा करते थे। उनकी अनेक धार्मिक गाथाएँ भी भारतीय कथाओं के समान है। ये समानताएँ आकस्मिक नही हो सकतीं। जिस प्रदेश मे ईसाई धर्म का प्रादुर्भाव हुआ था, वहाँ पहले बौद्ध व अन्य भारतीय धर्मों की सत्ता थी। इसी कारण ईसाई धर्म मे वे अनेक बातें प्रविष्ट हुईं, जो भारत मे प्रचलित धार्मिक मान्यताओ के सदृश हैं।

तीसरी सदी ईस्वी मे पाश्चात्य संसार मे एक नए धार्मिक सम्प्रदाय का प्रारम्भ हुआ था, जिसका प्रवर्तक मनी था। इस सम्प्रदाय का एक धर्मग्रन्थ बौद्ध सूत्रो की शैली मे लिखा गया है, और उसमें मनी को 'तथागत' कहा गया है। इस ग्रन्थ में बुद्ध और बोधिसत्वो का भी उल्लेख है। इसी प्रकार इस युग के अन्य अनेक धार्मिक सम्प्रदायो पर भी बौद्ध धर्म व अन्य भारतीय धर्मों का प्रभाव विद्यमान है।

(३) पाश्चात्य देशों की कथाओ पर भारत के पचतन्त्र, जातक, हितोपदेश, शुकसप्तशती आदि का जो प्रभाव है, उसका उल्लेख इसी अध्याय मे ऊपर किया जा चुका है। उसे यहाँ दोहराने की आवश्यकता नही। इसमे सन्देह नही कि प्राचीन समय में भारत और पाश्चात्य देशो का सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ था, और भारतीय संस्कृति ने पाश्चात्य संसार को अनेक प्रकार से प्रभावित किया था।

पन्द्रहवाँ अध्याय

गुप्त-युग का भारत

(१) साहित्य और विज्ञान

महाकवि कालिदास—मौर्योत्तर-काल में संस्कृत-साहित्य के विकास की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई थी, गुप्तकाल में वह उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच गयी। भास, शूद्रक सदृश कवियों ने संस्कृत में नाटक और काव्य की जिस परम्परा को प्रारम्भ किया था, अब कालिदास और विशाखदत्त जैसे कवियों ने उसे पूर्णता तक पहुँचा दिया। संस्कृत का सबसे महान् कवि कालिदास गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक था। एक शिलालेख से सूचित होता है, कि विक्रमादित्य ने उसे कुंतलनरेश ककुत्स्थवर्मन् के पास राजदूत के रूप में भी भेजा था। एक साहित्यिक अनुश्रुति के अनुसार कालिदास ने वाकाटक-राजा प्रवरसेन द्वारा लिखित सेतुबन्ध काव्य का परिष्कार किया था। कालिदास के लिखे हुए ऋतुसंहार, मालविकाग्निमित्र, कुमारसम्भव, विक्रमोर्वशीय, मेघदूत, अभिज्ञानशाकुतलम् और रघुवंश इस समय उपलब्ध है। निःसन्देह, ये ग्रन्थ संस्कृत-साहित्य के सबसे उज्ज्वल रत्न हैं। ओज, प्रसाद आदि गुणों और उपमा आदि अलंकारों की दृष्टि से सस्कृत का अन्य कोई भी काव्य इनका मुकाबला नही कर सकता। कालिदास की कृतियाँ इतिहास और साहित्य में सदा अमर रहेंगी। रघुवंश मे रघु की दिग्विजय का जो वर्णन किया गया है, उसे लिखते हुए समुद्रगुप्त की विजययात्रा सम्भवतः कालिदास के सम्मुख थी। उसके ग्रन्थों पर गुप्त-काल की समृद्धि और गौरव की स्पष्ट छाप है।

विशाखदत्त—मुद्राराक्षस का लेखक कवि विशाखदत्त भी गुप्त-काल मे पाँचवीं सदी में हुआ था। नन्द को परास्त कर चन्द्रगुप्त मौर्य ने किस प्रकार पाटलिपुत्र की राजगद्दी पर अपना अधिकार जमाया, इस कथानक को विशाखदत्त ने बड़े सुन्दर रूप से इस नाटक मे वर्णित किया है। मुद्राराक्षस की संस्कृत नाटको मे अद्वितीय स्थिति है। मागध-परम्परा के अनुसार राजनीति के दावपेचो का जो वर्णन इस नाटक मे है, वह संस्कृत-साहित्य मे अन्यत्र कही नही मिलता। मुद्राराक्षस के भरतवाक्य में विशाखदत्त ने म्लेच्छों से आक्रांत हुई पृथिवी की रक्षा करने के लिए 'बन्धुभृत्य' चन्द्रगुप्त का आवाहन किया है। इस भरतवाक्य में शक और कुशाणों के उस प्रचण्ड आक्रमण की ओर इशारा है, जो समुद्रगुप्त की मृत्यु के बाद रामगुप्त के समय मे हुआ था। इन म्लेच्छ आक्रांताओं ने मागध-सेनाओं को परास्त कर पट्टमहादेवी ध्रुवदेवी तक पर आँख उठायी थी। पर अपने बड़े भाई के सेवक के रूप मे चन्द्रगुप्त ने शक-कुशाणो को परास्त कर भारत भूमि की रक्षा की थी। इस प्रकार म्लेच्छो का भारत को सताना बन्द हुआ। इसी विशाखदत्त ने 'देवीचन्द्रगुप्तम्' की रचना की थी, जिसमे चन्द्रगुप्त द्वितीय और ध्रुवदेवी के कथानक का विशद रूप से वर्णन किया गया है।

अन्य कवि—किरातार्जुनीय का लेखक महाकवि भारवि और भट्टिकाव्य का रचयिता भट्टि भी गुप्त-वंश के अन्तिम काल में छठी सदी में हुए। इन दोनों महाकवियों के काव्य संस्कृत-साहित्य मे बहुत ऊँचा स्थान रखते हैं। द्रौपदी के मुख से राजनीति का जो ओजस्वी वर्णन किरातार्जुनीय में मिलता है, उसका उदाहरण संस्कृत-साहित्य अन्यत्र दुर्लभ है। भट्टिकाव्य में व्याकरण के कठिन नियमों को उदाहरणों द्वारा श्लोकों के रूप मे से जिस प्रकार सरल रीति से समझाया गया है, वह भी वस्तुत. अनुपम है। अन्य अनेक कवि भी इस युग में हुए, जिनमें मातृगुप्त, सौमिल्ल और कुलपुत्र के नाम उल्लेखनीय हैं।

प्रशस्तियाँ—गुप्त-काल के शिलालेख भी काव्य के उत्तम उदाहरण हैं। प्रयाग के अशोककालीन स्तम्भ पर समुद्रगुप्त की जो प्रशस्ति कुमारामात्य महादण्डनायक हरिषेण ने उत्कीर्ण कराई थी, वह कविता की दृष्टि से बहुत उच्च कोटि की है। यशोधर्मा की प्रशस्ति भी कविता की दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट है। उसे वसुल नाम के कवि ने लिखा था। इसी तरह रविशान्ति, वत्सभट्टि और कुब्ज आदि कवियो द्वारा लिखी गयी अन्य अनेक प्रशस्तियाँ भी उपलब्ध हुई है, जो गुप्तकाल की हैं। इनके अनुशीलन से ज्ञात होता है, कि काव्य की शैली गुप्त-काल मे बहुत उन्नत और परिष्कृत हो गयी थी।

पञ्चतन्त्र—ऐतिहासिको के अनुसार संस्कृत के प्रसिद्ध नीतिकथा-ग्रन्थ पञ्चतन्त्र का निर्माण भी गुप्त-काल मे ही हुआ था। पञ्चतन्त्र की कथाएँ बहुत पुरानी है, और उनमे से बहुतो का सम्बन्ध तो महाजनपद-काल की राजनीतिक घटनाओ से है। इस ग्रन्थ मे कोशल, मगध और वज्जि आदि जनपदो के राजाओ का स्थान पशुओ ने ले लिया है, और मनोरंजक रीति से अनेक पुरानी ऐतिहासिक कथाओं को लिखा गया है। ये कथाएँ चिरकाल से परम्परागत रूप से भारत मे प्रचलित थी। गुप्त-काल में उन्होने बाकायदा एक ग्रन्थ का रूप धारण किया। ५७० ईस्वी से पहले भी पञ्चतन्त्र का पहलवी भाषा मे अनुवाद हो चुका था। ग्रीक, लेटिन, स्पेनिश, इटालियन, जर्मन, इगलिश और संसार की प्रायः सभी पुरानी भाषाओ मे इसके अनुवाद सोलहवी सदी से पूर्व ही हो चुके थे। इस समय संसार की पचास से भी अधिक विभिन्न भाषाओं में इसके अनुवाद पाये जाते है। थोडे-बहुत रूपान्तर से २०० से अधिक ग्रन्थ इसके आधार पर लिखे जा चुके है।

व्याकरण और कोष—व्याकरण और कोष-सम्बन्धी भी अनेक ग्रन्थ इस काल मे लिखे गये। चन्द्रगोमिन् नाम के एक बौद्ध पंडित ने चान्द्र-व्याकरण की रचना की। पाणिनि के व्याकरण मे वैदिक प्रयोगो की भी सिद्धियाँ थी, पर इसमे उन्हे निकाल दिया गया। इस व्याकरण की पद्धति पाणिनि से भिन्न है। बौद्धों मे इसका बहुत प्रचार हुआ। महायान-सम्प्रदाय के सभी ग्रन्थ संस्कृत मे लिखे गये थे। गान्धार और उत्तर-पश्चिमी प्रदेशो मे बौद्धो की भाषा संस्कृत ही थी। वे इस चान्द्र-व्याकरण का अध्ययन करते थे। संस्कृत का मूल चान्द्र व्याकरण अब नही मिलता। पर तिब्बती भाषा मे उसका जो अनुवाद हुआ था, वह पिछले दिनो में उपलब्ध हो गया है। प्रसिद्ध कोषकार अमरसिंह भी इसी काल में हुआ। वह बौद्ध-धर्म का अनुयायी था। उसका लिखा

अमरकोष संस्कृत के विद्यार्थियों में बहुत लोकप्रिय है। अमरसिंह की गणना भी चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की राजसभा के नवरत्नों में की जाती है।

स्मृतियाँ—स्मृति-ग्रंथों में मनुस्मृति, विष्णुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृति की रचना गुप्तकाल से पहले हो चुकी थी। अब नारदस्मृति, कात्यायनस्मृति और बृहस्पति-स्मृति की रचना हुई। नीतिग्रंथों मे कामन्दक नीतिसार इसी काल की रचना है।

ज्योतिष और गणित—गणित, ज्योतिष आदि विज्ञानों की भी इस काल में बहुत उन्नति हुई। आर्यभट्ट और वराहमिहिर जैसे प्रसिद्ध गणितज्ञ और ज्योतिषी इसी युग में हुए। वराहमिहिर की गणना भी चन्द्रगुप्त द्वितीय के नवरत्नों में की गयी है। गणित-शास्त्र मे दशमलव का सिद्धान्त बड़े महत्त्व का है। गुप्त-काल तक यह सिद्धान्त भारत में विकसित हो चुका था। रोमन लोग इससे सर्वथा अपरिचित थे। यूरोप के लोगो को ग्यारहवी सदी तक इसका ज्ञान नहीं था। यही कारण है कि गणित की वहाँ अधिक उन्नति नही हो सकी। अरब लोग पहले-पहल इस सिद्धान्त को यूरोप मे ले गए। पर अरबो ने इसे भारत से सीखा था। इब्न वाशिया (नवीं सदी), अलमसूदी (दसवी सदी) और अलबरूनी (ग्यारहवी सदी) जैसे अरब लेखकों ने यह स्पष्ट स्वीकार किया है, कि दशमलव का सिद्धान्त हिन्दुओं ने आविष्कृत किया था, और अरबों ने इसे उन्ही से सीखा था। आर्यभट्ट के ग्रंथ आर्यभट्टीयम् मे इसका स्पष्टतया उल्लेख है। यह ग्रथ गुप्त-काल मे पाँचवी सदी मे लिखा गया था। पर भारतीय लोग पाँचवीं सदी से पहले भी इस सिद्धान्त से परिचित थे। पेशावर के समीप बक्शाली नाम के गाँव में एक बहुत पुराना हस्तलिखित ग्रथ मिला है। यह ग्रन्थ गणित विषय पर है। इसकी भाषा के आधार पर यह निश्चित किया गया है, कि यह ग्रन्थ चौथी सदी का है। इसमे न केवल दशमलव के सिद्धान्त का स्पष्टरूप से प्रतिपादन है, अपितु गणित के अच्छे ऊँचे सूत्रों का भी इसमें उल्लेख है। इसके अनुशीलन से सूचित होता है, कि गुप्तकालीन भारत में गणित-विज्ञान अच्छी उन्नति कर चुका था। आर्यभट्ट का ग्रन्थ आर्यभट्टीयम् भी गणित के सम्बन्ध में उस युग के ज्ञान को भली-भाँति प्रकट करता है। यह ग्रन्थ खास पाटलिपुत्र मे लिखा गया था, और इसमे अकगणित, अलजेबरा और ज्योमेट्री, सबके अनेक सिद्धान्तो व सूत्रों का प्रतिपादन किया गया है।

ज्योतिष विषय पर पहला ग्रथ इस युग मे वैशिष्ठ सिद्धान्त लिखा गया। इसका काल ३०० ईस्वी माना जाता है। इससे पहले भारत मे एक साल में ३६६ दिन माने जाते थे। पर वैशिष्ठ सिद्धान्त मे यह प्रतिपादन किया गया, कि एक साल में ३६६ दिन न होकर ३६५·२५६१ दिन होते हैं। गुप्तकाल मे दिनगणना के विषय में भारतीय लोग सत्य के बहुत समीप पहुँच गये थे। ३८० ईस्वी में पौलिस सिद्धान्त लिखा गया। इसमें सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण के नियमो का भली-भाँति प्रतिपादन किया गया है। पौलिस सिद्धान्त के कुछ वर्षों बाद ४०० ईस्वी में रोमक सिद्धान्त लिखा गया। सम्भवतः, यह रोमन लोगो के ज्योतिष-ज्ञान के आधार पर लिखा गया था। भारत और रोम का उस समय घनिष्ठ सम्बन्ध था। इस ग्रन्थ में २८५० वर्ष का एक युग माना गया है, जो ग्रीक और रोमन ज्योतिष के अनुसार ही है। आचार्य वराहमिहिर ने ज्योतिष के सम्बन्ध मे जो ग्रंथ लिखे, उनके नाम ये हैं—पंचसिद्धांतिका,

बृहज्जातक, बृहत्संहिता और लघुजातक। इनमें से पिछले दो का अनुवाद अलबरूनी ने अरबी भाषा में किया था। वराहमिहिर की पुस्तकों में फलित ज्योतिष का बड़े विस्तार से प्रतिपादन किया गया है।

पर गुप्त-काल के वैज्ञानिकों में सबसे बड़ा आर्यभट्ट था। इस विख्यात ज्योतिषी का जन्म पाँचवीं सदी मे पाटलिपुत्र में हुआ था। जब उसकी आयु केवल २३ वर्ष की थी, तभी उसने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ आर्यभट्टीयम् की रचना की थी। उस युग में अलेग्जेण्ड्रिया ज्योतिष के अध्ययन का बड़ा केन्द्र था। मिस्र के राजाओं के संरक्षण में ग्रीक ज्योतिषी वहाँ नई खोजों मे निरन्तर लगे रहते थे। पाश्चात्य संसार ने ज्योतिष के क्षेत्र मे जो उन्नति की थी, आर्यभट्ट को उससे पूरा-पूरा परिचय था। उसने भारतीय और पाश्चात्य, सब विज्ञानों का भली-भाँति अनुशीलन किया था, और उन सब का भली-भाँति मंथन कर, सत्य को असत्य से अलग करने और सत्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के लिए अपना ग्रंथ लिखा था। सूर्य और चन्द्र का ग्रहण राहु और केतु नाम के राक्षसो द्वारा ग्रसने के कारण नही होता, अपितु जब चन्द्रमा सूर्य और पृथिवी के बीच मे या पृथिवी की छाया में आ जाता है, तब चन्द्रगहण होता है, इस सिद्धान्त का आर्यभट्ट ने स्पष्ट रूप से वर्णन किया है। पृथिवी अपने व्यास के चारों ओर घूमती है, दिन और रात क्यो छोटे-बड़े होते रहते है, भिन्न-भिन्न नक्षत्रो और ग्रहों की गति किस प्रकार से रहती है—इस प्रकार के बहुत-से विषयों पर ठीक-ठीक सिद्धान्त आर्यभट्ट ने प्रतिपादित किये हैं। वर्ष में कितने दिन होते है, इस विषय मे आधुनिक ज्योतिषियो का मत यह है, कि ३६५·२५६३६०४ दिनों का वर्ष होता है। आर्यभट्ट की गणना के अनुसार साल मे ३६५·२५८६८०५ दिन होते थे। आर्यभट्ट की गणना वर्तमान ज्योतिषियो की गणना के बहुत समीप है। प्राचीन ग्रीक ज्योतिषी भी इस सम्बन्ध में सत्य के इतने समीप नही पहुँचे थे। ज्योतिष में आर्यभट्ट के अनेक शिष्य थे। इनमे निःशंक, पांडुरंग स्वामी और लाटदेव के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमे भी लाटदेव आगे चलकर बहुत प्रसिद्ध हुआ। उसे 'सर्वसिद्धांतगुरु' माना जाता था। उसने पौलिस और रोमक सिद्धान्तो की व्याख्या बडे सुन्दर रूप से की थी। इसी काल का ज्योतिषसम्बन्धी ग्रन्थ सूर्यसिद्धान्त भी बहुत प्रसिद्ध है। इसके लेखक का नाम ज्ञात नही है। भारतीय ज्योतिषी इसे बडे आदर की दृष्टि से देखते है। इसमें संदेह नही कि इस ग्रन्थ की रचना भी गुप्त-काल मे ही हुई थी।

भारत के प्राचीन विद्वान् विदेशियो से विद्याग्रहण मे कोई संकोच नही करते थे। अलेग्जेंड्रिया मे ग्रीक पण्डितो द्वारा ज्योतिष की जो उन्नति की जा रही थी, गुप्तकाल के भारतीय ज्योतिषी उससे भली-भाँति परिचित थे। वे उनकी विद्या का आदर भी करते थे। यही कारण है, कि वराहमिहिर ने लिखा है, कि यद्यपि यवन (ग्रीक) लोग म्लेच्छ हैं, पर वे ज्योतिष विद्या मे बडे प्रवीण है, अतः उनका ऋषियो के समान ही आदर करना चाहिए। भारतीय पंडितो की इसी वृत्ति का परिणाम था कि जहाँ उन्होने स्वयं खोज और चिन्तन द्वारा ज्योतिष के अनेक सिद्धान्तो का आविष्कार किया, वहाँ उन्होंने ग्रीक लोगो से भी बहुत कुछ सीखा। अनेक आधुनिक विद्वानों की दृष्टि मे भारतीय ज्योतिष के केन्द्र, हारिज, लिप्त आदि अनेक शब्द ग्रीक भाषा से

लिए गए हैं। रोमक सिद्धान्त-ग्रंथ से भारतीय ज्योतिष पर पाश्चात्य प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। अतः यदि कुछ पारिभाषिक शब्द प्राचीन भारतीय ज्योतिषियों ने ग्रीक से लिए हो, तो इसमे आश्चर्य की कोई बात नहीं। पर यह ध्यान में रखना चाहिए, कि गुप्त-काल की भारतीय ज्योतिष अलेग्जेण्ड्रिया की ग्रीक ज्योतिष की अपेक्षा अधिक उन्नत थी।

आयुर्वेद—आयुर्वेद के क्षेत्र में गुप्त-युग में अच्छी उन्नति हुई। चरक और सुश्रुत की रचना गुप्त-युग से पहले ही हो चुकी थी। पर छठी सदी के शुरू में प्रसिद्ध आयुर्वेदाचार्य वाग्भट्ट ने अष्टागहृदय की रचना की। यह आयुर्वेद का प्रसिद्ध ग्रंथ है, और इससे सूचित होता है, कि चरक और सुश्रुत ने जिस चिकित्सा-प्रणाली का प्रारम्भ किया था, वह इस काल में निरन्तर उन्नति करती रही। प्राचीन साहित्यिक अनुश्रुति के अनुसार चन्द्रगुप्त द्वितीय की राजसभा मे विद्यमान नवरत्नों में धन्वन्तरि भी एक था। धन्वन्तरि को आयुर्वेद का मुख्य आचार्य समझा जाता है, और वैद्य लोग उसे अपने विज्ञान का देवता-सा मानते हैं। यह कहना बहुत कठिन है, कि आयुर्वेद का यह प्रथम प्रधान आचार्य गुप्त-काल में हुआ था। सम्भवतः, इस नाम का कोई अन्य वैद्य चन्द्रगुप्त द्वितीय के नवरत्नो मे होगा, पर उसका लिखा कोई ग्रथ इस समय उपलब्ध नही होता। गुप्त-काल की एक अन्य चिकित्सा-सम्बन्धी पुस्तिका पूर्वी तुर्किस्तान में मिली है। इसका नाम 'नावनीतकम्' है। इसे श्रीयुत् बाबर ने सन् १८६० मे तुर्किस्तान के पुराने खंडहरों से प्राप्त किया था। यह छोटा-सा ग्रंथ चरक, सुश्रुत, हारीत, जातुकर्ण क्षारपाणि और पाराशरसहिता आदि के आधार पर लिखा गया है। इनमे से अनेक ग्रंथ इस समय उपलब्ध नही होते, पर नावनीतकम् मे उनके आधार पर जो नुस्खे (प्रयोग) संकलित हैं, वे भारत से बाहर तुर्किस्तान में मिल गये हैं।

हस्त्युपवेद नाम से भी एक ग्रन्थ गुप्त-काल में लिखा गया था। इसका रचयिता पालकाप्य नाम का एक पशु-चिकित्सक था। यह एक विशाल ग्रन्थ है, जिसमें १६० अध्याय हैं। हाथियों के रोग, उनके निदान और चिकित्सा का इसमें विस्तृत वर्णन है। प्राचीन भारत की सैन्यशक्ति मे हाथियो का बडा महत्त्व था। अतः उनकी चिकित्सा के सम्बन्ध मे इतने ज्ञान का विकास हो जाना एक स्वाभाविक बात थी।

रसायन—रसायन-विज्ञान मे भी गुप्तकाल में बहुत उन्नति हुई। दुर्भाग्यवश, रसायन-विद्या के इस युग के कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध नही होते। पर इस विद्या ने गुप्त-काल में किस हद तक उन्नति कर ली थी, इसका जीता-जागता प्रत्यक्ष उदाहरण दिल्ली के समीप महरौली मे प्राप्त लौहस्तम्भ है। यह स्तम्भ २४ फीट ऊँचा और १८० मन के लगभग भारी है। इतना भारी और बड़ा लौहस्तम्भ किस प्रकार तैयार किया गया, यह एक गूढ़ रहस्य है। लोहे को गरम कर के चोट देकर इतना विशाल स्तम्भ कभी भी तैयार नहीं किया जा सकता, क्योंकि गरम करने से जो आँच पैदा होगी, उसके कारण इतनी दूर तक कोई आदमी खडा नहीं हो सकेगा, कि चोट देकर उसे एक निश्चित आकृति का बनाया जा सके। दूसरा तरीका यह हो सकता है, कि इस लाट को ढालकर बनाया गया हो। यदि गुप्त-काल के भारतीय शिल्पी इतनी बड़ी लोहे की लाट को ढाल सकते थे, तो निस्संदेह वे धातु-विज्ञान और शिल्प में बहुत अधिक उन्नति

कर चुके थे। इस लौह-स्तम्भ में आश्चर्य की एकबात यह है, कि १६०० वर्ष के लगभग बीत जाने पर भी इसपर जंग का नाम-निशान तक नही है। यह स्तम्भ इतने दीर्घकाल से वर्षा, आँधी, गरमी, सरदी सब सहता रहा है, पर पानी या ऋतु का इसपर कोई प्रभाव नहीं पडा। लोहे को किस प्रकार ऐसा बनाया गया कि इस पर जंग भी न लगे, यह एक ऐसा रहस्य है, जिसे वर्तमान वैज्ञानिक भी नही समझ सके हैं। विज्ञान ने गुप्त-काल मे कैसी उन्नति की थी, इसका यह ज्वलन्त उदाहरण है।

वराहमिहिरकृत बृहत्संहिता मे गणित और ज्यातिष के अतिरिक्त अन्य बहुत-से विषयो का भी प्रतिपादन किया गया है। तलवारों को किस प्रकार तीक्ष्ण बनाया जाए, सोने व रत्नों के आभूषण कैसे तैयार किए जाएँ, मुक्ता, वैदूर्य, रत्न आदि की क्या पहचान हैं; वृक्ष किस प्रकार मौसम से भिन्न दूसरे समय मे भी फल दे सकते हैं; घोडे, हाथी, कुत्ते आदि मे अच्छे या बुरे की पहचान कैसे की जाय; मन्दिर, राजप्रासाद आदि कैसे बनाए जाएँ; भूमि मे नीचे कहाँ जल की धारा है यह कैसे जाना जाय, बादलों के कितने प्रकार होते हैं, और वर्षा या मौसम के भविष्य का पता कैसे लगाया जाय; आदि सब विषयो पर वराहमिहिर ने अपने ग्रन्थ मे विचार किया है। इससे सूचित होता है, कि गुप्त-काल के विचारक इन सब बातो के विषय मे जानकारी प्राप्त करने मे व्यापृत रहते थे।

(२) दार्शनिक साहित्य

षड्दर्शनो का निर्माण मौर्य युग व उससे पूर्व हो चुका था। पर दार्शनिक विचारों का विकास गुप्त-काल मे भी जारी रहा। मीमासा पर शबरभाष्य ३०० ई० के लगभग लिखा गया था। मीमासा-सूत्रो मे जिन विचारो को सूक्ष्म रूप से प्रकट किया गया था, शबरभाष्य मे उन्ही का बहुत विकास किया गया है। साख्यदर्शन का प्रसिद्ध ग्रन्थ सांख्यकारिका चौथी सदी के शुरू में लिखा गया था। इसका लेखक ईश्वरकृष्ण था। योगसूत्रों पर भी इस युग मे व्यासभाष्य लिखा गया। यह माना जाता है, कि योगसूत्रों का रचयिता महर्षि पतजलि था, पर उनकी विशद रूप से व्याख्या आचार्य व्यास ने की। योग के इस व्यासभाष्य का रचनाकाल तीसरी सदी के अन्त मे माना गया है।

न्यायसूत्रो पर भी इस युग मे वात्स्यायन-भाष्य लिखा गया। इस भाष्य मे बौद्धो के माध्यमिक और योगाचार सम्प्रदायो के मंतव्यों का खण्डन किया गया है। बौद्धो के इन सम्प्रदायो का विकास गुप्त-काल से पहले हो चुका था, अतः यह स्पष्ट है, कि उनके मन्तव्यो का खण्डन करने वाला यह वात्स्यायन भाष्य गुप्त-काल की ही कृति है। वैशेषिक दर्शन के प्राचीन सूत्रो की विशद-व्याख्या करने के लिए आचार्य प्रशस्तपाद ने एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ इस युग मे लिखा। यह 'पदार्थ-धर्म-संग्रह' वैशेषिक दर्शन का एक अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है।

बौद्धो के भी दार्शनिक साहित्य का इस युग में बहुत विकास हुआ। कनिष्क के समय तक बौद्ध-धर्म दो प्रमुख सम्प्रदायो मे विभक्त हो गया था—महायान और हीनयान। इस काल मे इन दोनों मे बहुत-से नये दार्शनिक विचारों का विकास हुआ।

पाँचवीं सदी के प्रारम्भ में बुद्धघोष नाम का एक बड़ा विद्वान् हुआ था। यह मगध का रहने वाला था। वैदिक धर्म का परित्याग कर इस पण्डित ने बौद्धधर्म स्वीकार किया, और लंका में अनुराधपुर के विहार को अपना कार्यक्षेत्र निश्चित किया। इसकी कृतियों में सबसे प्रसिद्ध विसुद्धिमग्ग (विशुद्धि मार्ग) है, जिसमे यह प्रतिपादित किया गया है, कि शील, समाधि और प्रज्ञा से मनुष्य किस प्रकार निर्वाणपद को प्राप्त कर सकता है। त्रिपिटक पर भी बुद्धघोष ने भाष्य लिखे। हीनयान सम्प्रदाय की उन्नति में बुद्धघोष का बड़ा हाथ है। उसके कुछ समय बाद बुद्धदत्त नाम के मागध पण्डित ने लंका जाकर अभिधम्मावतार, रूपारूपविभाग और विनयविनिच्चय नाम के ग्रन्थ लिखे। हीनयान के धार्मिक व दार्शनिक साहित्य में इन पण्डितों के ग्रन्थों का बहुत ऊँचा स्थान है।

उत्तर-पश्चिमी भारत मे वसुबन्धु नाम का प्रकाण्ड बौद्ध पण्डित इसी युग में हुआ, जिसके लिखे ग्रन्थ अभिधर्मकोष में बौद्ध-धर्म के मौलिक सिद्धान्तों को इतने सुन्दर रूप में प्रतिपादित किया गया है, कि बौद्धों के सभी सम्प्रदाय उसे प्रामाणिक रूप मे स्वीकार करते हैं। पर उत्तर-पश्चिमी भारत मे मुख्यतया महायान का ही प्रचार रहा। इसके भी दो मुख्य सम्प्रदाय थे—माध्यमिक और योगाचार। माध्यमिक सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक नागार्जुन था। उसका प्रमुख शिष्य आर्यदेव था, जिसने तीसरी सदी मे चतुःशतक नामक प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ लिखा। महायान के दो अन्य प्रसिद्ध ग्रंथ वज्रच्छेदिका-प्रज्ञापारमिता और प्रज्ञापारमिताहृदयसूत्र भी इसी सदीमे लिखे गये। योगाचार-सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक मैत्रेयनाथ दूसरी सदी के अन्त मे हुआ था। पर उस के दार्शनिक विचारों का विकास गुप्त-काल मे ही हुआ। इस विकास मे आचार्य असंग का बड़ा हाथ है। बुद्धघोष के समान वह भी पहले वैदिकधर्म का अनुयायी था पर बाद मे बौद्ध हो गया था। उसने तीसरी सदी के अन्त में महायान-सम्परिग्रह, योगाचार-भूमिशास्त्र और महायान-सूत्रालंकार नाम के प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखे। असंग प्रकाण्ड पण्डित था। बौद्धों मे दार्शनिक विचारों के विकास का बहुत-कुछ श्रेय असंग और वसुबन्धु को ही है। वसुबन्धु ने जहाँ अभिधर्मकोष लिखा जो सब बौद्धो को समानरूप से मान्य था, वहाँ अनेक दार्शनिक ग्रन्थों की भी रचना की। विज्ञानवाद का वही महान् प्रवक्ता हुआ। इस बौद्ध-दर्शन के अनुसार संसार मिथ्या है। सत्य सत्ता केवल 'विज्ञान' है। अन्य सब पदार्थ शशशृंग व बन्ध्यापुत्र के समान मिथ्या हैं। जलती हुई लकड़ी को घुमाने से जैसे आग का चक्कर-सा नजर आता है, पर वस्तुतः उसकी कोई सत्ता नही होती, ऐसे ही संसार मे जो कुछ दृष्टिगोचर हो रहा है, उसकी वस्तुतः कोई सत्ता नही है। यह विचारधारा वेदान्त के अद्वैतवाद से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। वसुबन्धु ने विंशतिका और त्रिंशतिका ग्रन्थों मे इसी विज्ञानवाद का सुचारु रूप से प्रतिपादन किया है। उसने अपने अन्य ग्रंथों मे सांख्य, योग, वैशेषिक और मीमांसा दर्शनो के सिद्धान्तों का खण्डन भी किया है। बौद्धो के पृथक् तर्कशास्त्र का प्रारम्भ भी वसुबन्धु द्वारा ही हुआ, पर बौद्ध-तर्कशास्त्र के विकास का प्रधान श्रेय आचार्य दिङ्नाग को है। दिङ्नाग गुप्त-काल मे चौथी सदी के अन्त मे हुआ था। उसने न्याय और तर्कशास्त्र पर बहुत-सी पुस्तकें लिखी। दुर्भाग्यवश ये इस समय उपलब्ध नहीं होतीं, यद्यपि इनके अनेक उद्धरण उद्योतकर और कुमारिलभट्ट

सदृश पण्डितों ने अपने ग्रन्थों मे दिये हैं। दिङ्नाग की एक पुस्तक न्यायमुख चीनी और तिब्बती भाषाओं मे मिली है।

पुराने जैन धर्म-ग्रंथो पर अनेक भाष्य इस समय लिखे गये, जिन्हें निर्युक्ति और चूर्णि कहते हैं। इस युग के जैन-भाष्यकारो मे भद्रबाहु द्वितीय का नाम विशेष-रूप से उल्लेखनीय है। उसने बहुत-से प्राचीन ग्रन्थो पर निर्युक्ति लिख कर न केवल उनके आशय को अधिक स्पष्ट किया, अपितु नवीन शैली मे दार्शनिक विचारों को भी प्रकट किया। जैनों के ग्रन्थ पहले प्रायः प्राकृत-भाषा में थे। पर गुप्त-काल मे संस्कृत का पुनरुत्थान हुआ था। इस युग मे जैनो ने भी संस्कृत मे अपनी पुस्तकों को लिखना शुरू किया। आचार्य उमास्वाति ने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ तत्त्वार्थाधिगमसूत्र और सिद्धसेन ने अपना न्यायावतार संस्कृत मे ही लिखा।

(३) धार्मिक दशा

यज्ञों का प्रचार—मौर्योत्तर-युग में प्राचीन वैदिक धर्म के पुनरुद्धार की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई थी, गुप्त-काल में उसने और भी जोर पकडा। प्रायः सभी गुप्त सम्राट् भागवत वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। पर अहिंसावाद-प्रधान वैष्णव धर्म को मानते हुए भी उन्होंने प्राचीन वैदिक परम्परा के अनुसार अश्वमेध यज्ञ किये। महाभारत, मनुस्मृति और मीमासा सूत्रो मे यज्ञो की उपयोगिता पर बहुत बल दिया गया है। इस काल के आर्य पण्डित वैदिक धर्म का पुनः प्रचार करने मे व्यापृत थे। यही कारण है, कि यज्ञों की परिपाटी इस युग में फिर से शुरू हो गयी थी। न केवल गुप्त-सम्राटों ने, अपितु इस युग के अन्य अनेक राजाओं ने भी अश्वमेध यज्ञो का अनुष्ठान किया था। दक्षिणी भारत मे शालंकायन-वंश के राजा विजयदेव वर्मन् और त्रैकूटक-वंश के राजा दह्रसेन ने इसी काल मे अश्वमेध यज्ञ किये। केवल अश्वमेध ही नही, अग्निष्टोम, बाजपेय, वाजसनेय, बृहस्पतिसव आदि प्राचीन वैदिक यज्ञो के अनुष्ठान का भी इस युग में उल्लेख आता है। इन यज्ञो के अवसर पर जो यूप बनाये गये थे, उनमे से कतिपय के अवशेष भी वर्तमान समय मे उपलब्ध हुए हैं। न केवल बड़े-बड़े सम्राट्, अपितु विविध सामन्त राजा भी इस युग मे विविध यज्ञो के अनुष्ठान मे तत्पर थे। बौद्ध-धर्म के प्रबल होने के समय मे इन यज्ञो की परिपाटी बहुत कुछ नष्ट हो गयी थी। यही कारण है, कि शैशुनाग, नन्द और मौर्य राजाओ ने इन प्राचीन यज्ञो का अनुष्ठान नही किया था। यज्ञो से कोई लाभ नही है, यह विचार उस समय प्रबल हो गया था। पर वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के इस युग मे अब याज्ञिक परिपाटी फिर प्रारम्भ हुई। यज्ञों को निमित्त बनाकर मनुष्य दीन, अनाथ, आतुर और दुखी लोगों की बहुत सहायता कर सकता है, यह विचार इस समय बहुत जोर पकड़ गया था। सम्भवतः इसीलिए समुद्रगुप्त ने लिखा था, कि पृथिवी का जय करने के बाद अब वह अपने सुकर्मों से स्वर्ग की विजय करने में तत्पर है।

वैष्णव और शैव-धर्म—पुराने वैदिक धर्म मे परिवर्तन होकर जिन नये पौराणिक सम्प्रदायो का प्रादुर्भाव हुआ था, उनपर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। भागवत और शैव धर्म इस युग मे बहुत जोर पकड़ रहे थे। गुप्त-सम्राट् वैष्णव भागवत धर्म के

अनुयायी थे। उनके संरक्षण के कारण इस धर्म की बहुत उन्नति हुई। इस युग में बहुत-से वैष्णव मन्दिरों का निर्माण हुआ। अनेक शिलालेखों में धर्मप्राण भक्त लोगों द्वारा बनवाये गये विष्णु मंदिरों और विष्णुध्वजो का उल्लेख है। विष्णु के दस अवतारो मे से वराह और कृष्ण की पूजा इस समय अधिक प्रचलित थी। अनुश्रुति के अनुसार वराह ने प्रलय के समय मग्न होती हुई पृथिवी का उद्धार किया था। दस्युओं और म्लेच्छो के आक्रमणों से भारतभूमि मे जो एक प्रकार का प्रलय-सा उपस्थित हो गया था, उसका निराकरण करने वाले सम्राटो के इस शासनकाल में यदि भगवान् के वराहावतार की विशेष रूप से पूजा हो, तो इसमे आश्चर्य ही क्या है। राम को भगवान् विष्णु का अवतार मानकर पूजा करने की प्रवृत्ति इस समय तक प्रचलित नही हुई थी। कृष्ण की पूजा का उल्लेख इस युग के बहुत-से शिलालेखों मे पाया जाता है। पर राम की पूजा के सम्बन्ध में कोई ऐसा निर्देश इस युग के अवशेषो मे उपलब्ध नही होता, यद्यपि राम के परम पावन चरित्र के कारण उसमें भगवान् के अंश का विचार इस समय मे विकसित होना आरम्भ हो गया था। कालिदास ने इसका निर्देश किया है। पर राम की पूजा भारत में छठी सदी के बाद मे ही शुरू हुई।

गुप्त काल मे बहुत-से शिव मदिरों का भी निर्माण हुआ। गुप्त-सम्राटो के शिलालेखों में दो अमात्यो का उल्लेख आया है, जो शैव धर्म के अनुयायी थे। इनके नाम शाब और पृथ्वीषेण है। इन्होने अपने नाम को अमर करने के लिए शिव के मंदिरों का निर्माण कराया था। गुप्तों के पूर्ववर्ती भारशिव और वाकाटक राजा शैव धर्म के अनुयायी थे। गुप्त-काल मे भी वाकाटक, मैत्रक, कदम्ब और परिव्राजक वंशो के राजा मुख्यतया शैव धर्म का अनुसरण करते थे। हूण राजा मिहिरगुल ने भी शैव धर्म ग्रहण किया था। इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि वैष्णव धर्म के साथ-साथ शैव धर्म भी गुप्त-काल मे प्रचलित था। शैव मंदिरो में जहाँ शिवलिंग की स्थापना की जाती थी, वहाँ जटाजूटधारी, सर्प, गंगा और चन्द्रमा से युक्त शिव की मानवी मूर्ति को भी प्रतिष्ठापित किया जाता था। शैव राजाओ के सिक्को पर प्राय. त्रिशूल और नन्दी के चित्र अंकित रहते है।

मौर्योत्तर-काल मे सूर्य के भी मन्दिरो की स्थापना शुरू हो गई थी। ऐसा पहला मदिर सम्भवतः मुलतान मे बना था। पर गुप्तकाल मे मालवा, ग्वालियर, इन्दौर और बघेलखण्ड मे भी सूर्य के मन्दिरो का निर्माण हुआ। इससे सूचित होता है, कि सूर्य की पूजा भी इस युग मे अधिकाधिक लोकप्रिय होती जा रही थी।

बौद्ध-धर्म—सनातन वैदिक धर्म के पुनरुद्धार से बौद्ध और जैन धर्मों का जोर कुछ कम अवश्य हो गया था, पर अभी भारत में उनका काफी प्रचार था। काश्मीर, पंजाब और अफगानिस्तान के प्रदेशो मे प्रायः सभी लोग बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। जब चीनी यात्री फाइयान भारत में यात्रा के लिए आया, तो उसने देखा कि इन प्रदेशों में हजारों बौद्ध-विहार विद्यमान थे, जिनमे लाखो की संख्या मे भिक्षु निवास करते थे। वर्तमान उत्तर-प्रदेश, बिहार, बंगाल और मध्यप्रदेश मे भी बौद्ध-धर्म बहुत समृद्ध दशा मे था। फाइयान के अनुसार कपिलवस्तु, श्रावस्ती, वैशाली सदृश पुरानी नगरियाँ अब बहुत कुछ क्षीण दशा में थी। पर इसका कारण बौद्ध-धर्म का क्षय नहीं था।

भारत के राजनैतिक जीवन में पुराने गणराज्यो और जनपदो का स्थान अब शक्तिशाली मागध-साम्राज्य ने ले लिया था। अब भारत की वैभवशाली नगरियाँ पाटलिपुत्र और उज्जयिनी थी। पर मथुरा, कौशाम्बी, कसिया (कुसीनगर) और सारनाथ में अब भी बौद्ध-विहार बडी समृद्ध दशा मे विद्यमान थे। अजन्ता, एल्लोरा, कन्हेरी, जुन्नार आदि के गुहामन्दिरो मे अब भी बौद्ध-भिक्षु हजारो की सख्या मे रहते थे। खास मगध मे ही नालन्दा के प्रसिद्ध बौद्ध-विहार के अनुपम गौरव का प्रारम्भ गुप्तकाल में ही हुआ था। इस युग मे आन्ध्र देश बौद्ध-धर्म का बहुत महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। उसे आचार्य नागार्जुन ने अपना प्रधान कार्यक्षेत्र चुना था, और उसकी शिष्य-परम्परा के प्रयत्नो के कारण वह प्रदेश बौद्ध धर्म का गढ-सा बन गया था। नागार्जुनीकोण्ड नाम का बडा समृद्ध विहार वहाँ विद्यमान था, जिसमे हजारो की संख्या में भिक्षु लोग निवास करते थे। इस वैभवपूर्ण विहार के भग्नावशेष अब तक भी विद्यमान है। काँची और वलभी में भी बडे-बडे विहार इस काल में विद्यमान थे, जो बौद्ध दर्शन, धर्म और शिक्षा के बडे केन्द्र माने जाते थे। इनमे भिक्षुओं को भोजन, वस्त्र आदि सब जनता की तरफ से दिये जाते थे। राजा और प्रजा—सब इनकी सहायता के लिए उदारता के साथ दान देते थे। वैष्णव और शैव-धर्मों के प्रचार के बावजूद भी गुप्त-काल मे बौद्ध-धर्म पर्याप्त उन्नत और विस्तीर्ण था।

जैन-धर्म—जैन-धर्म के इतिहास मे भी गुप्त-काल का बहुत महत्त्व है। इस समय तक जैनो में दो मुख्य सम्प्रदाय थे—दिगम्बर और श्वेताम्बर। श्वेताम्बर सम्प्रदाय की दो प्रसिद्ध महासभाएँ गुप्त-काल मे ही हुई। पहली महासभा वलभी मे ३१३ ईस्वी में हुई थी। इसके अध्यक्ष आचार्य नागार्जुन (जैन नागार्जुन, बौद्ध नागार्जुन नही) थे। दूसरी महासभा भी वलभी मे ही ४५३ ईस्वी मे आचार्य क्षमा-श्रमण के सभापतित्व में की गयी। इन महासभाओ मे यह निश्चय किया गया, कि जैन-धर्म के मान्य ग्रन्थों के शुद्ध पाठ कौन-से हैं, और जैनों के कौन-से सिद्धान्त प्रामाणिक हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय मुख्यतया पश्चिमी भारत में प्रचलित था। वलभी और मथुरा उसके सर्वप्रधान केन्द्र थे। दिगम्बर सम्प्रदाय का प्रचार प्रधानतया पूर्वी भारत में था, और बंगाल की पुण्ड्रवर्धन नगरी इस काल मे उसका केन्द्र थी। दक्षिण भारत में भी दिगम्बर सम्प्रदाय का ही प्रचार था। मैसूर या कर्णाटक के निवासी प्राय: जैन-धर्म के ही अनुयायी थे। सुदूर दक्षिण में तमिल लोगो में भी इस समय तक जैन-धर्म फैल चुका था। पल्लव और पांड्य-वशो के अनेक राजाओं ने भी जैन-धर्म को स्वीकार किया था। तमिल भाषा में जैन-धर्म की बहुत-सी पुस्तकें इस काल में लिखी गयी। तमिल-संस्कृति का सर्वप्रधान केन्द्र मदुरा था। वहाँ के 'संगमों' मे तामिल काव्य और साहित्य का बहुत उत्तम विकास हुआ था। ४७० ईस्वी मे जैन लोगो ने मदुरा मे एक विशेष 'संगम' का आयोजन किया। इसका अध्यक्ष आचार्य वज्रनन्दी था। जैन-धर्म के तमिल ग्रन्थो के निर्माण में इस सगम ने महत्त्व का कार्य किया। दक्षिणी आरकोट जिले की पाटलिकापुरी में जैनों का एक प्रसिद्ध मन्दिर था, जहाँ मुनि सर्वनन्दी ने ४५८ ईस्वी में लोकविभंग नाम के प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की थी। जैन-दर्शन का भी विकास गुप्तकाल में हुआ। आचार्य सिद्धसेन ने न्यायवार्त्ता की

रचना कर उस तर्कप्रणाली का प्रारम्भ किया, जिसके कारण आगे चलकर जैन-पण्डित दर्शन और न्याय में अन्य सम्प्रदायों के समकक्ष हो गये।

धार्मिक सहिष्णुता—इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि गुप्त-काल मे पौराणिक आर्य-धर्म, बौद्ध-धर्म और जैन-धर्म भारत में साथ-साथ फल-फूल रहे थे। तीन मुख्य धर्मों और उनके बहुत-से सम्प्रदायों व मतमतान्तरों के एक साथ रहते हुए भी इस काल में साम्प्रदायिक विद्वेष का अभाव था। सब मतों के आचार्य व पण्डित आपस में शास्त्रार्थों में व्यापृत रहते थे। अपने ग्रन्थों मे वे जहाँ एक दूसरे का युक्ति व तर्क द्वारा खण्डन करते थे, वहाँ पण्डित-मण्डलियों और जनसाधारण के समक्ष भी उनमें शास्त्रार्थ व वाद-विवाद होते रहते थे। पर इनके कारण जनता में धार्मिक विद्वेष उत्पन्न नही होता था। इस काल के राजा धर्म के मामले में सहिष्णु थे। सम्राट् चन्द्रगुप्त परम-भागवत थे, वे वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। पर उन्होने अपने राजकुमारों की शिक्षा के लिए आचार्य वसुबन्धु को नियत किया था, जो अपने समय का प्रख्यात बौद्ध-विद्वान् था। एक ही परिवार में भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न धर्मों के अनुयायी हो सकते थे। राजा शान्तमूल स्वयं वैदिक धर्म का मानने वाला था, पर उसकी बहिन, लड़कियाँ और पुत्रवधुएँ बौद्ध-धर्म की अनुयायी थी। गुप्तवंश में भी कई सम्राट् बौद्ध हुए। पुरुगुप्त, नरसिंहगुप्त और बुधगुप्त धर्म की दृष्टि से बौद्ध थे। सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम का बडा लड़का पुरुगुप्त बौद्ध था, और छोटा लड़का स्कन्दगुप्त परमभागवत था। यह इस युग की धार्मिक सहिष्णुता का ज्वलन्त उदाहरण है। दान के अवसर पर राजा लोग सब सम्प्रदायों को दृष्टि मे रखते थे। सम्राट् वैण्यगुप्त स्वयं शैव था, पर उसने महायान सम्प्रदाय के वैवर्त्तक सघ को उदारतापूर्वक दान दिया था। नालन्दा के प्रसिद्ध बौद्ध-विहार के वैभव का सूत्रपात वैष्णव-धर्मावलम्बी गुप्त-सम्राटों के दान से ही हुआ था। उच्च राजकीय कर्मचारियो को नियुक्त करते समय भी धर्म-भेद को कोई महत्त्व नही दिया जाता था। वैष्णव गुप्त-सम्राटों के कितने ही उच्च राजकर्मचारी बौद्ध थे। ये बौद्ध कर्मचारी अपने धर्म का स्वतन्त्रता के साथ अनुसरण करते थे और अपनी श्रद्धा के अनुसार बौद्ध-विहारों और चैत्यो को सहायता देते थे।

सनातन पौराणिक धर्म के विविध सम्प्रदायों मे भी इसी प्रकार सौमनस्य की भावना विद्यमान थी। प्राचीन आर्य-धर्म के इतिहास मे यह युग समन्वय का था। शिव, विष्णु, सूर्य, दुर्गा आदि देवी-देवता एक ही भगवान् के विविध रूप हैं, यह स्मार्त भावना इस काल मे प्रारम्भ हो गयी थी। साधारण आर्य गृहस्थ सब मन्दिरों को, सब देवी-देवताओं को और सब धर्माचार्यों को सम्मान की दृष्टि से देखता था।

पर बौद्ध और जैन धर्म सनातन पौराणिक धर्म से इस युग मे पृथक् होते जा रहे थे। मौर्योत्तर-काल मे बौद्ध-भिक्षुओ और जैन-मुनियो के प्रति श्रद्धा की जो भावना सर्वसाधारण भारतीय जनता में थी, वह अब क्षीण हो रही थी। इसका कारण यह है, कि पौराणिक धर्म के पुनरुत्थान के युग में जो प्रबल धार्मिक आन्दोलन शुरू हुए थे, उन्होंने जनता में बौद्धो और जैनों के प्रति विरोध की भावना को बहुत कुछ प्रज्वलित कर दिया था। पुष्यमित्र शुंग ने बौद्धों पर जो अत्याचार किये, वे इसी भावना के परिणाम थे। अब समय के साथ-साथ विधर्मियों के प्रति विरोध तो मन्द पड गया था,

पर बौद्ध लोग पौराणिक हिन्दुओं से पृथक् हैं, यह विचार जनता मे भलीभाँति उद्बुद्ध होने लग गया था।

(४) गुप्त-साम्राज्य की शासन-व्यवस्था

साम्राज्य का सुशासन—मौर्य-वंश के शासनकाल के सम्बन्ध में जैसा परिचय कौटलीय अर्थशास्त्र से मिलता है, वैसा परिचय गुप्तों के शासन के सम्बन्ध में किसी ग्रंथ से नही मिलता। मैगस्थनीज जैसा कोई विदेशी यात्री भी इस काल में नहीं आया। चीनी यात्री फाइयान पाँचवी सदी के शुरू मे भारत-यात्रा के लिए आया था। वह पाटलिपुत्र मे रहा भी था। उसके भ्रमणकाल मे चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का शासन था। भारत के बहुत बडे क्षेत्र मे उसका साम्राज्य विस्तृत था। फाइयान पेशावर से बंगाल की खाड़ी तक सर्वत्र गया, पर उसे राज्य, शासन, आर्थिक दशा आदि बातों से कोई दिलचस्पी नही थी। वह बौद्ध-भिक्षु था, बौद्धधर्म के तीर्थस्थानों के दर्शन तथा धार्मिक ग्रन्थो के अनुशीलन के लिए ही वह इस देश मे आया था। उसने भारत के प्रतापी सम्राट् तक का नाम अपने यात्रा-विवरण मे नही लिखा। इसीलिए उसके विवरण से हमे गुप्त-साम्राज्य के शासन का कुछ भी परिचय नही मिलता। पर फाइयान के निम्नलिखित वाक्य गुप्त-काल के शासन की उत्कृष्टता को प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त है—

"प्रजा प्रभूत और सुखी है। व्यवहार की लिखा-पढ़ी और पंचायत कुछ नही है। वे राजा की भूमि जोतते है, और उसका अंश देते है। जहाँ चाहे रहे। राजा न प्राणदण्ड देता है, न शारीरिक दण्ड देता है। अपराधी की अवस्था के अनुसार उत्तम साहस या मध्यम साहस का अर्थदण्ड (जुर्माना) दिया जाता है। बार-बार दस्युकर्म करने पर दक्षिण करच्छेद किया जाता है। राजा के प्रतीहार और सहचर वेतनभोगी होते है। सारे देश मे सिवाय चाण्डाल के कोई अधिवासी न जीवहिंसा करता है, न मद्य पीता है, और न लहसुन खाता है। दस्यु को चाण्डाल कहते हैं। वे नगर के बाहर रहते है और नगर मे जब आते है, तो सूचना के लिए लकडी बजाते चलते हैं, कि लोग जान जायँ और बचकर चले, कही उनसे छू न जायँ। जनपद मे सूअर और मुर्गी नही पालते, न जीवित पशु बेचते है, न कही सूनागार (बूचडखाने) और मद्य की दूकानें है। क्रय-विक्रय मे कौडियो का व्यवहार है। केवल चाण्डाल मछली मारते, मृगया करते और मास बेचते है।"

फाइयान जिन लोगो के साथ रहा था, उनका जीवन सचमुच ऐसा ही था। पर मास, मद्य आदि का सेवन सर्वसाधारण जनता मे था या नहीं, इस विषय मे बारीकी से परिचय प्राप्त करने का अवसर फाइयान को नही मिला। बौद्ध, जैन और वैष्णव धर्मो के प्रचार के कारण भारत का सामाजिक और वैयक्तिक जीवन उस युग में निःसन्देह बहुत ऊँचा था। राज्यशासन की उत्कृष्टता के विषय मे फाइयान के निर्देश वस्तुत. बड़े महत्त्व के है। फाइयान भारत मे हजारो मीलो तक भ्रमण करता रहा। पर उसे कही भी चोर, डाकू व दस्युओ का सामना नही करना पड़ा। लगभग दो सदी बाद जब ह्युनत्साग भारत-यात्रा को आया, तो कई जगह उस पर डाकुओं ने हमले

किए। उस समय भारत में किसी एक प्रतापी राजवंश का शासन नहीं था, और राजनीतिक अव्यवस्था के कारण देश में शान्ति नहीं रह गयी थी। पर फाइयान के समय में प्रतापी गुप्त-सम्राटों का शासन था, और सब जगह शांति विराज रही थी। यही कारण है, कि फाइयान ने देश को सुखी और समृद्ध पाया।

साम्राज्य का स्वरूप—कौटलीय अर्थशास्त्र जैसे ग्रंथ और मैगस्थनीज जैसे विदेशी यात्री के अभाव में भी हमारे पास अनेक ऐसे साधन हैं, जिनसे हम गुप्त-साम्राज्य के शासन के सम्बन्ध मे बहुत-सी उपयोगी बातें जान सकते हैं। गुप्त-सम्राटों के जो बहुत-से शिलालेख व सिक्के मिले हैं, वे इस युग के शासन के विषय में प्रकाश डालते है। गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत सब प्रदेशों पर गुप्त-सम्राटों का सीधा शासन नही था। उनके अधीन अनेक महाराजा, राजा तथा गणराज्य थे, जो अपने आन्तरिक शासन में स्वतन्त्र थे। सामन्तों को उनके राज्य व शक्ति के अनुसार महाराजा व राजा कहते थे। सब सामन्तों की स्थिति भी एक समान नही थी। आर्यावर्त्त या मध्यदेश के सामन्त गुप्त-सम्राटो के अधिक प्रभाव मे थे। सुदूरवर्ती सामन्त प्रायः स्वतन्त्र स्थिति रखते थे, यद्यपि वे गुप्त-सम्राटों की अधीनता को स्वीकार करते थे। यही दशा गण-राज्यों की थी। शासन की दृष्टि से हम गुप्त-साम्राज्य को निम्नलिखित भागों में बाँट सकते हैं--

(१) गुप्त सम्राटों के शासन में विद्यमान प्रदेश—ये शासन की सुगमता के लिए भुक्तियो (प्रान्तों या सूबों) मे विभक्त थे। प्रत्येक भुक्ति मे अनेक 'विषय' और उनके भी विविध विभाग होते थे।

(२) आर्यावर्त्त व मध्यदेश के सामन्त—इनकी यद्यपि पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता थी, पर ये सम्राट् की अधीनता में ही शासन-कार्य करते थे।

(३) गणराज्य—प्राचीन यौधेय, मालव, आर्जुनायन, प्रार्जुन, काक, खर्परिक मद्र आदि अनेक गणराज्य गुप्तों के शासन-काल मे भी विद्यमान थे। वे गुप्त-सम्राटो के प्रभुत्व को स्वीकार करते थे।

(४) अधीनस्थ राजा—दक्षिण कोशल, महाकातार, पिष्टपुर, कोट्टूर, ऐरंड-पल्ल, देवराष्ट्र, अवमुक्त आदि बहुत-से राज्य इस काल मे पृथक् रूप से विद्यमान थे। पर उनके राजाओं ने गुप्त-सम्राटों की शक्ति के सम्मुख सिर झुका दिया था।

(५) सीमावर्ती राज्य—असम, नैपाल, समतट, कर्तृपुर आदि के सीमावर्ती राज्य प्रायः स्वतन्त्र सत्ता रखते थे। पर ये भेंट-उपहार भेजकर व आज्ञाओं का पालन कर गुप्त सम्राटो को सन्तुष्ट रखते थे।

(६) अनुकूल मित्र राज्य—सिंहलद्वीप और भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमा के कुशाण-राजा गुप्त-सम्राटों को भेंट-उपहार व कन्यादान आदि उपायो से मित्र बनाये रखने के लिए उत्सुक रहते थे। यद्यपि उनके राज्य गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत नही थे, तथापि वे गुप्त-सम्राटो को अपना अधिपति मानते थे।

केन्द्रीय शासन—गुप्त-साम्राज्य का शासन सम्राट् मे केन्द्रित था। मौर्यों के समान गुप्तों ने भी अपनी वैयक्तिक शक्ति, साहस और प्रताप से एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, जिसका शासन भी वे स्वयं ही 'एकराट्' रूप में करते थे। ये

गुप्त-राजा अपने को 'महाराजाधिराज', 'परमेश्वर', 'परम भागवत', 'परम दैवत' आदि विरुदो से विभूषित करते थे। विविध देवताओ और लोकपालो के अंशों से राजा शक्ति प्राप्त करता है, यह विचार उस समय बल पकड गया था। समुद्रगुप्त को एक शिलालेख मे 'लोकधाम्नो देवस्य' भी कहा गया है। इस लेख के अनुसार समुद्रगुप्त 'लोक-नियमो के अनुष्ठान और पालन करने भर के लिए ही मनुष्यरूप था, वस्तुतः वह संसार मे रहने वाला 'देवता' ही था। राजाओ के प्रति यह दैवी भावना इस युग की स्मृतियो से भी प्रगट होती है। राजा देवताओ के अश से बना होने के कारण दैवी होता है, यह भाव याज्ञवल्क्य और नारद-स्मृतियो मे विद्यमान है। कौटलीय अर्थशास्त्र के समय मे यह विचार था अवश्य, पर इसका प्रयोग गुप्तचर लोग सर्व-साधारण लोगों मे राजा का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए ही करते थे। पर गुप्त-काल तक यह एक सर्वसम्मत सिद्धान्त हो गया था, और शिलालेखो तक मे इसका उल्लेख होने लगा था।

सम्राट् को शासन कार्य मे सहायता देने के लिए मन्त्री या सचिव होते थे, जिनकी कोई सख्या निश्चित नही थी। नारदस्मृति ने राज्य की एक सभा का उल्लेख किया है, जिसके सभासद् धर्मशास्त्र मे कुशल, अर्थज्ञान मे प्रवीण, कुलीन, सत्यवादी और शत्रु व मित्र को एक दृष्टि से देखने वाले होने चाहिएँ। राजा अपनी राजसभा के इन सभासदो के साथ राज्यकार्य की चिन्ता करता था, और उनके परामर्श के अनुसार कार्य करता था। देश का कानून इस काल मे भी परम्परागत धर्म, चरित्र और व्यवहार पर आश्रित था। जनता के कल्याण और लोकरंजन को ही राजा लोग अपना उद्देश्य मानते थे। इसका परिणाम यह था, कि गुप्त-सम्राट् भी स्वेच्छाचारी व निरकुश नही हो सकते थे।

साम्राज्य के मुख्य-मुख्य पदो पर काम करने वाले कर्मचारियो को 'कुमारामात्य' कहते थे। कुमारामात्य राजघराने के भी होते थे और दूसरे भी। साम्राज्य के विविध अगो—भुक्ति, विषय आदि का शासन करने के लिए जहाँ इनकी नियुक्ति की जाती थी, वहाँ सेना, न्याय आदि के उच्च पदो पर भी ये कार्य करते थे। कुमारामात्य साम्राज्य की स्थिर सेवा मे होते थे, और शासन-सूत्र का सचालन इन्ही के हाथो में रहता था।

केन्द्रीय शासन के विविध विभागो को 'अधिकरण' कहते थे। प्रत्येक अधिकरण की अपनी-अपनी मुद्रा (सील) होती थी। गुप्त-काल के शिलालेखो व मुद्राओ आदि से निम्नलिखित अधिकरणो और प्रधान राजकर्मचारियों के विषय मे परिचय मिलता है—

(१) महासेनापति—गुप्त-सम्राट् स्वय कुशल सेनानायक और योद्धा थे। वे दिग्विजयो व विजययात्राओ के अवसर पर स्वयं सेना का सचालन करते थे। पर उनके अधीन महासेनापति भी होते थे, जो साम्राज्य के विविध भागो मे, विशेषतया सीमान्त प्रदेशों मे, सैन्यसंचालन के लिए नियत रहते थे। सेना के ये सबसे बडे पदाधिकारी 'महासेनापति' कहाते थे।

(२) महादण्डनायक—महासेनापति के अधीन अनेक महादण्डनायक होते थे, जो युद्ध के अवसर पर सेना का नेतृत्व करते थे। गुप्तकाल की सेना के तीन प्रधान विभाग होते थे, पदाति, घुड़सवार और हाथी। महादण्डनायकों के अधीन महाश्वपति,

अश्वपति, महापीलपति, पीलपति आदि अनेक सेनानायक रहते थे। साधारण सैनिक को 'चाट' और सेना की छोटी टुकड़ी को 'चमू' कहते थे। चमू का नायक 'चमूप' कहलाता था। युद्ध के लिए परशु, शर, अंकुश, शक्ति, तोमर, भिंदिपाल, नाराच आदि अनेकविध अस्त्रों को प्रयुक्त किया जाता था।

(३) रणभांडागारिक—सेना के लिए सब प्रकार की सामग्री (अस्त्र-शस्त्र, भोजन आदि) को जुटाने का विभाग रणभांडागारिक के अधीन होता था।

(४) महाबलाधिकृत—सेना, छावनी और व्यूहरचना का विभाग महाबलाध्यक्ष या महाबलाधिकृत के हाथ मे होता था। उसके अधीन अनेक 'अधिकृत' रहते थे।

(५) दण्डपाशिक—पुलिस विभाग का सर्वोच्च अधिकारी दण्डपाशिक कहाता था। इसके नीचे खुफिया विभाग का अधिकारी 'चौरोद्धरणिक' व 'दूत' आदि अनेक कर्मचारी रहते थे। पुलिस के साधारण सिपाही को भट कहते थे।

(६) महासान्धिविग्रहिक—इस उच्च अधिकारी का कार्य पड़ोसी राज्यो, सामन्तो और गणराज्यो के साथ संधि या विग्रह की नीति का अनुसरण करना होता था। यह सम्राट् का अत्यन्त विश्वस्त कर्मचारी होता था, जो साम्राज्य की नीति का निर्धारण करता था। किन देशो पर आक्रमण किया जाय, अधीनस्थ राजाओ व सामन्तों से क्या व्यवहार किया जाय, ये सब बाते इसी के द्वारा तय की जाती थी।

(७) विनय-स्थिति-स्थापक—मौर्यकाल मे जो कार्य धर्म-महामात्र करते थे, वही गुप्त-काल मे विनय-स्थिति-स्थापक करते थे। देश मे धर्मनीति की स्थापना, जनता के चरित्र को उन्नत रखना, और विविध सम्प्रदायो मे मेल-जोल रखना इन्हीं अमात्यो का कार्य था।

(८) भाडागाराधिकृत—यह कोषविभाग का अध्यक्ष होता था।

(९) महाक्षपटलिक—राज्य के सब आदेशो का रिकार्ड रखना इसके 'अधिकरण' का कार्य था। राजकीय आय-व्यय आदि के सब लेखे भी इसी अमात्य द्वारा रखे जाते थे।

(१०) सर्वाध्यक्ष—यह सम्भवत. साम्राज्य के केन्द्रीय कार्यालय का प्रधान अधिकारी होता था।

इन मुख्य पदाधिकारियों के अतिरिक्त, राज्य-कर को वसूल करने का विभाग 'ध्रुवाधिकरण' कहलाता था। इस अधिकरण के अधीन शौल्किक (भूमिकर वसूल करने वाला), गौल्मिक (जगलों से विविध आमदनी प्राप्त करने वाला), तलवाटक व गोप (ग्रामों के विविध कर्मचारी) आदि अनेक राजपुरुष होते थे। राजप्रासाद का विभाग बहुत विशाल होता था। महाप्रतीहार और प्रतीहार नाम के अनेक कर्मचारी उसके विविध कार्यों को संभालते थे। सम्राट् के प्राइवेट सेक्रेटरी को 'रहसि-नियुक्त' कहते थे। युवराजभट्टारक और युवराज के पदों पर राजकुल के व्यक्ति ही नियत किये जाते थे। सम्राट् का बड़ा लड़का 'युवराजभट्टारक' और अन्य लड़के 'युवराज' कहाते थे। शासन में इन्हें अनेक महत्त्वपूर्ण पद दिये जाते थे। यदि कोई युवराज (राजपुत्र) कुमारामात्य के रूप में कार्य करे, तो वह 'युवराज कुमारामात्य' कहाता था। सम्राट् के निजी स्टाफ में नियुक्त कुमारामात्य 'परमभट्टारकपादीय कुमारामात्य' कहाते थे।

इसी प्रकार युवराज भट्टारक के स्टाफ के बड़े पदाधिकारी 'युवराजभट्टारकपादीय कुमारामात्य' कहे जाते थे। राजा के विविध पुत्र प्रान्तीय शासक व इसी प्रकार के अन्य ऊँचे राजपदों पर नियुक्त होकर शासन-कार्य में सम्राट् की सहायता करते थे।

विविध राजकर्मचारियों के नाम गुप्तकाल में सर्वथा नये हो गए थे। मौर्यकाल में सम्राट् को केवल 'राजा' कहते थे। बौद्ध-धर्म के अनुयायी अशोक सदृश राजा अपने साथ 'देवाना प्रिय: प्रियदर्शी' विशेषण लगाते थे। पर गुप्त सम्राट् 'महाराजाधिराज' कहलाते थे, और अपने धर्मके अनुसार 'परमभागवत' या 'परममाहेश्वर' या 'परमसौगत' विशेषण प्रयुक्त करते थे। पुराने मौर्यकालीन 'तीर्थों' का स्थान अब 'अधिकरणों' ने ले लिया था। उनके प्रधान कर्मचारी अब 'अधिकृत' कहाते थे।

प्रान्तीय शासन—विशाल गुप्त-साम्राज्य अनेक राष्ट्रों या देशों में विभक्त था। साम्राज्य मे कुल कितने देश या राष्ट्र थे, इसकी ठीक संख्या ज्ञात नही है। प्रत्येक राष्ट्र मे अनेक 'भुक्तियाँ' और प्रत्येक 'भुक्ति' मे अनेक 'विषय' होते थे। भुक्ति को हम वर्तमान समय की कमिश्नरी के समान समझ सकते हैं। गुप्तकालीन शिलालेखों मे तीर, भुक्ति (तिरहुत), 'पुण्ड्रवर्धन, भुक्ति (दीनाजपुर, राजशाही आदि), मगध, भुक्ति आदि अनेक भुक्तियो का उल्लेख मिलता है। 'विषय' वर्तमान समय के जिलो के समान थे। प्राचीन काल के महाजनपदो और जनपदो का अब अन्त हो गया था। सैकडों वर्षों तक मागध साम्राज्य के अधीन रहने के कारण अपनी पृथक् सत्ता की स्मृति अब उनमे बहुत मन्द पड गई थी। अब उनका स्थान भुक्तियो ने ले लिया था, जिनका निर्माण शासन की सहूलियत को दृष्टि मे रखकर किया जाता था।

देश या राष्ट्र के शासक के रूप में प्राय: राजकुल के व्यक्ति नियत होते थे। इन्हे 'युवराज कुमारामात्य' कहते थे। इनके अपने-अपने महासेनापति, महादंडनायक आदि प्रधान कर्मचारी होते थे। युवराज-कुमारामात्यो के अधीन भुक्तियो का शासन करने के लिए 'उपरिक' नियत किये जाते थे। उपरिकों की नियुक्ति भी सम्राट् द्वारा की जाती थी। इस पद पर राजकुल के कुमार भी नियुक्त होते थे। प्रत्येक भुक्ति अनेक 'विषयों' मे विभक्त होती थी। विषय के शासक 'विषयपति' कहाते थे। इनकी नियुक्ति भी सम्राट् द्वारा ही की जाती थी।

गुप्तकाल के जो लेख मिले है, उनमे सुराष्ट्र, मालवा, मन्दसौर और कौशाम्बी, इन चार राष्ट्रों का परिचय मिलता है। सुराष्ट्र का राष्ट्रिक (राष्ट्र का शासक) समुद्रगुप्त के समय मे पर्णदत्त था, और मन्दसोर का शासन बन्धुवर्मा के हाथों में था। इसमें सन्देह नही, कि विशाल गुप्त-साम्राज्य में अन्य भी अनेक राष्ट्र रहे होंगे, पर उनका उल्लेख इस काल के शिलालेखो मे नही हुआ है।

भुक्ति के शासक को उपरिक के अतिरिक्त भोगिक, भोगपति और गोप्ता भी कहते थे। दामोदरगुप्त के समय में पुण्ड्रवर्धनभुक्ति का शासक 'उपरिकर महाराज राजपुत्र देवभट्टारक' था। वह राजकुल का था। उससे पूर्व इस पद पर चिरतिदत्त रह चुका था, जो कि राजकुल का नही था। इसी तरह चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के शासनकाल मे तीर, भुक्ति का शासक सम्राट् का पुत्र गोविन्दगुप्त था। इन उपरिक महाराजाओं की बहुत-सी मोहरें इस समय उपलब्ध होती हैं।

विषय (जिले) के शासक 'विषयपति' को अपने कार्य में परामर्श देने के लिए एक सभा होती थी, जिसके सभासद् 'विषय-महत्तर' (जिले के बड़े लोग) कहाते थे। इनकी संख्या तीस के लगभग होती थी। नगरश्रेष्ठी, सार्थवाह (व्यापारियों का मुखिया), प्रथम कुलीन (शिल्पियों का मुखिया) और प्रथम कायस्थ (लेखक-श्रेणी का मुखिया), इस विषय-सभा में अवश्य रहते थे। इनके अतिरिक्त जिले में रहनेवाली जनता के अन्य मुख्य लोग भी इसमें 'महत्तर' के रूप में सम्मिलित होते थे। सम्भवतः, इन महत्तरोंकी नियुक्ति चुनाव द्वारा नहीं की जाती थी। विषयपति अपने प्रदेश के मुख्य-मुख्य व्यक्तियों को इस कार्य के लिए नियुक्त कर लेता था। इन महत्तरों के कारण जिले के शासन में सर्वसाधारण जनता का पर्याप्त हाथ रहता था। विषयपति को यह भली-भाँति मालूम होता रहता था, कि उसके क्षेत्र की जनता क्या सोचती और क्या चाहती है।

विषय के शासक कुमारात्यों (विषयपतियों) का गुप्त-साम्राज्य के शासन में बडा महत्त्व था। अपने प्रदेश की सुरक्षा, शांति और व्यवस्था के लिए वे ही उत्तरदायी थे। उनके अधीन राजकीय करो को एकत्र करने के लिए अनेक कर्मचारी रहते थे, जिन्हें युक्त, आयुक्त, नियुक्त आदि अनेक नामों से कहा जाता था। मौर्यकाल में भी जिले के इन कर्मचारियों को 'युक्त' ही कहते थे। गुप्तकाल मे बड़े पदाधिकारियों की संज्ञा बदल गयी थी, पर छोटे राजपुरुषों की अब भी वही संज्ञा थी, जो कम-से-कम सात सदियो से भारत में प्रयुक्त होती आ रही थी। विषयपति के अधीन दण्डपाशिक (पुलिस के कर्मचारी), चौरोद्धरणिक (खुफिया पुलिस), आरक्षाधिकृत (जनता के रक्षार्थ नियुक्त कर्मचारी) और दण्डनायक (जिले की सेना के अधिकारी) रहते थे।

'विषय' मे अनेक शहर और ग्राम होते थे। शहरो के शासन के लिए 'पुरपाल' नाम का कर्मचारी होता था, जिसकी स्थिति कुमारामात्य की मानी जाती थी। पुरपाल केवल बडे-बडे नगरो मे ही नियुक्त होते थे। विषय के महत्तर इसे भी शासनकार्य मे परामर्श देते थे। पुरो की निगम-सभाएँ तथा व्यापारियो और शिल्पियो के संघ इस काल मे भी विद्यमान थे। ग्रामो के शासन मे पंचायत का बडा हाथ रहता था। इस युग मे पंचायत को 'पंच-मंडली' कहते थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के अन्यतम सेनापति अम्रकार्दव ने एक ग्राम की पंच-मण्डली को २५ दीनारें एक विशेष प्रयोजन के लिए दी थी। इसका उल्लेख साँची के एक शिलालेख मे किया गया है।

राजकीय कर—गुप्तकाल के लेखो के अनुशीलन से ज्ञात होता है, कि इस युग में राजकीय आय के निम्नलिखित साधन मुख्य थे—

(१) भाग कर—खेती मे प्रयुक्त होनेवाली जमीन से पैदावार का निश्चित भाग राज्यकर के रूप मे लिया जाता था। इस भाग की मात्रा १८ फी सदी से २५ फी सदी तक होती थी। यह भागकर प्राय. पैदावार के रूप मे ही लिया जाता था।

(२) भोग कर—मौर्यकाल मे चुंगी के लिए शुल्क शब्द प्रयुक्त होता था, उसी को गुप्तकाल में भोग-कर कहते थे।

(३) भूतोवात प्रत्याय—विदेशो से स्वदेश में आने वाले और देश मे उत्पन्न होनेवाले विविध पदार्थो पर जो कर लगता था, उसे भूतोवात-प्रत्याय कहते थे।

अधीनस्थ राज्यों का शासन—गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत जो अधीनस्थ सामन्त राजा थे, उनपर सम्राट् के प्रभुत्व का स्वरूप यह था, कि छोटे सामन्त 'विषयपति कुमारामात्यों' के और बड़े सामन्त भुक्ति के शासक 'उपरिक महाराज कुमारामात्यों' के अधीन होते थे। अपने इन कुमारामात्यों द्वारा गुप्त सम्राट् विविध सामन्तों पर अपना नियंत्रण व निरीक्षण रखते थे।

इस काल मे भारत मे एक प्रकार की जागीरदारी प्रथा या सामन्तपद्धति (फ्यूडलिज्म) का विकास हो गया था। बड़े सामन्तों के अधीन छोटे सामन्त और उनके भी अधीन और छोटे सामन्त होते थे। सम्राट् बुधगुप्त के अधीन महाराजा सुरश्मिचन्द्र एक बडा सामन्त था, जिसके अधीनस्थ एक अन्य सामन्त मातृविष्णु था। गुप्त-सम्राटों के अधीन परिव्राजक, उच्छकल्प और वर्मन् आदि विविध वशो के शक्तिशाली सामन्त महाराज अपने-अपने राज्यो मे शासन करते थे। इनकी अपनी सेनाएँ भी होती थी। ये अपना राजकीय कर स्वय वसूल करते थे और अपने आन्तरिक मामलो मे प्रायः स्वतंत्र थे। साम्राज्य के साधिविग्रहिक के निरीक्षण मे ये महाराज अपने शासन का स्वय संचालन करते थे। अनेक सामन्त महाराज ऐसे भी थे, जिन पर सम्राट् का नियन्त्रण अधिक कठोर था, और जिन्हे राजकीय कर को वसूल करने का भी पूरा अधिकार नही था। यूरोप के मध्यकालीन इतिहास मे जिस प्रकार 'फ्यूडल सिस्टम' का विकास हो गया था, वैसा ही इस युग मे भारत में भी हुआ। गुप्तकाल में बड़े और छोटे सब प्रकार के सामन्त थे, जो अपनी पृथक् सेनाएँ रखते थे। प्रतापी गुप्त-सम्राटो ने इन्हे जीतकर अपने अधीन कर लिया था, पर इनकी **पृथक्** व स्वतंत्र सत्ता को नष्ट नही किया था।

शक, यवन, कुशाण आदि म्लेच्छो के आक्रमणो से भारत मे जो अव्यवस्था और अशाति उत्पन्न हो गयी थी, उसी ने इस पद्धति को जन्म दिया था। पुराने मागध-साम्राज्य के उच्च महामात्रो ने इस परिस्थिति से लाभ उठाकर अपनी शक्ति को बढा लिया और वे वशक्रमानुगत रूप से अपने-अपने प्रदेश मे स्वतन्त्र रूप से राज्य करने लगे। अव्यवस्था के युग मे अनेक महत्त्वाकाक्षी शक्तिशाली व्यक्तियो ने भी अपने पृथक् राज्य कायम कर लिए थे। गुप्त-सम्राटो ने इन सब राजा-महाराजाओं का अन्त नहीं किया। यही कारण है, कि उनकी शक्ति के शिथिल होते ही ये न केवल पुनः स्वतन्त्र हो गये, पर परस्पर युद्धो और विजययात्राओ द्वारा अपनी शक्ति के विस्तार मे भी तत्पर हो गए। इसी का परिणाम हुआ, कि सारे उत्तरी भारत मे अव्यवस्था छा गयी, और एक प्रकार के 'मात्स्यन्याय' का प्रारम्भ हो गया। इसीलिए तिब्बती लामा तारानाथ को यह लिखने का अवसर मिला, कि इस काल मे 'हर एक ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपनी-अपनी जगह राजा बन बैठा।' सामन्त-महाराजाओं के आपस के युद्धों ने सचमुच ही मात्स्यन्याय की अवस्था उत्पन्न कर दी थी। गुप्त-काल की सामन्त-पद्धति का ही यह परिणाम था, कि भारत मे यशोधर्मा और हर्षवर्धन जैसे 'आसमुद्र-क्षितीश' तो बाद मे भी हुए, पर वे स्थिर रूप से किसी विशाल साम्राज्य की स्थापना नही कर सके। गुप्तो के साथ ही भारत भर मे एक शक्तिशाली विशाल साम्राज्य की कल्पना भी समाप्त हो गयी। सामन्त-पद्धति का यह एक स्वाभाविक परिणाम था।

गुप्त-साम्राज्य के अधीन जो यौधेय, कुणिन्द, मालव, आर्जुनायन आदि अनेक गणराज्य थे, उनमें भी इस युग मे लोकतन्त्र शासन की परम्परा का ह्रास हो रहा था। कुछ विशेष शक्तिशाली कुलों में इन गणराज्यों की राजशक्ति केन्द्रित होती जा रही थी। ये कुलीन लोग अपने को 'महाराज' और 'महासेनापति' कहते थे। अपने युग की प्रवृत्ति के प्रभाव से गणराज्य भी नही बच सके, और धीरे-धीरे वे भी एक प्रकार के ऐसे महाराजाओ के अधीन हो गये, जो सामन्तो की-सी स्थिति रखते थे।

(५) गुप्त-काल के सिक्के

गुप्त-सम्राटो के बहुत-से सिक्के इस समय में उपलब्ध हुए हैं। इस वश का इतिहास ही मुख्यतया इन सिक्को के आधार पर तैयार किया गया है। चन्द्रगुप्त प्रथम के केवल एक ही प्रकार के सिक्के मिले हैं। इनके एक ओर चन्द्रगुप्त मुकुट, कोट पायजामा और आभूषण पहने खडा है, उसके बाएँ हाथ मे ध्वजा और दाहिने हाथ मे अगूठी है। सामने वस्त्र और आभूषणो मे सज्जित रानी कुमारदेवी है। राजा अपनी पत्नी को अंगूठी दे रहा है। इस सिक्के के बॉयी ओर 'चन्द्रगुप्त' और दाँयी ओर 'श्रीकुमारदेवी' लिखा है। सिक्के की दूसरी तरफ लक्ष्मी का चित्र है, जो सिंह पर सवार है। लक्ष्मी के पैर के नीचे कमल है। साथ ही, नीचे 'लिच्छवय.' लिखा गया है। लिच्छविगण की सहायता से चन्द्रगुप्त ने पाटलिपुत्र पर अधिकार किया था, और अपने साम्राज्य की नीव डाली थी। लिच्छविकुमारी श्री कुमारदेवी से विवाह के कारण ही उसके उत्कर्ष का प्रारम्भ हुआ था। इसीलिए चन्द्रगुप्त प्रथम के इन सिक्को पर लिच्छवियों और कुमारदेवी को इतनी प्रधानता दी गयी है। चन्द्रगुप्त के ये सिक्के सोने के है, और तोल मे १११ ग्रेन हैं।

समुद्रगुप्त के सिक्के अनेक प्रकार के मिले हैं। वे सोने और ताम्बे दोनो के बने हुए है। समुद्रगुप्त ने छः प्रकार के सोने के सिक्के प्रचारित किये थे। (१) गरुड़-ध्वजांकित—इनमे एक तरफ मुकुट, कोट और पायजामा पहने सम्राट् की खडी मूर्ति है। उसके बाँएँ हाथ मे ध्वजा और दाएँ हाथ मे अग्निकुण्ड मे डालने के लिए आहुति दिखाई पडती है। कुण्ड के पीछे गरुड़ध्वज है। सम्राट् के बाएँ हाथ के नीचे उसका नाम 'समुद्र' या समुद्रगुप्त लिखा है। सिक्के के दूसरी ओर 'समरशत वितत‌विजयी जितारि-पुरजितो दिवं जयति' लिखा है। सिक्के के दूसरी ओर सिंहासन पर बैठी लक्ष्मी की मूर्ति है। यह वस्त्र और आभूषणो से सुसज्जित है, तथा साथ ही 'पराक्रम.' लिखा है। (२) इन सिक्को में धनुष-बाण लिए हुए सम्राट् की मूर्ति गरुडध्वज के साथ है। बाएँ हाथ के नीचे सम्राट् का नाम 'समुद्र' लिखा है, और चारों ओर 'अप्रतिरथो विजित्य क्षिति सुचरितैः दिवं जयति' लिखा है। सिक्के के दूसरी ओर सिंहासन पर विराजमान लक्ष्मी की मूर्ति है, और 'अप्रतिरथः' लिखा है। (३) इन सिक्कों मे एक ओर परशु लिए सम्राट् की मूर्ति है। साथ ही दाहिनी तरफ एक छोटे बालक का चित्र है। बाँयी तरफ समुद्र' या 'समुद्रगुप्त' लिखा है, और चारों ओर 'कृतांतपरशुर्जयत्यजितराजजेता-जितः' लिखा है। सिक्के के दूसरी ओर सिंहासन पर विराजमान लक्ष्मी की मूर्ति है, और नीचे 'परशुः' लिखा है। (४) इन सिक्कों में एक ओर धनुष-बाण से सज्जित

सम्राट् का चित्र है, जिसे एक व्याघ्र का संहार करते हुए दिखाया गया है। सम्राट् के बाएँ हाथ के नीचे 'व्याघ्रपराक्रमः' लिखा है। सिक्के के दूसरी ओर मकर पर खड़ी हाथ में कमल लिए गंगा देवी का चित्र है, और नीचे 'राजा समुद्रगुप्त' लिखा है। (५) इन सिक्कों में एक ओर संगीतप्रेमी सम्राट् का चित्र है, जो एक पृष्ठयुक्त पर्यङ्क पर बैठा हुआ जाँघ मोडे हुए वीणा बजा रहा है। चारो ओर 'महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्त' लिखा है। सिक्के के दूसरी ओर आसन पर बैठी हुई एक देवी की मूर्ति है, और साथ मे 'समुद्रगुप्त.' लिखा है। (६) ये सिक्के अश्वमेध यज्ञ के उपलक्ष में प्रचारित किए गए थे। इनमे एक ओर यूप से बँधे हुए यज्ञीय अश्व की मूर्ति है, और चारों ओर 'राजाधिराजः पृथिवी विजित्वा दिवं जयत्याहृतवाजिमेधः लिखा है। सिक्के के दूसरी ओर चंवर लिए हुए राजमहिषी का चित्र है, और 'अश्वमेधपराक्रम.' लिखा है। समुद्रगुप्त के सोने के सिक्के भार में ११८.१२२ ग्रेन है। उसके ताम्बे के भी सिक्के मिले हैं, जिनपर गरुड़ का चित्र और 'समुद्र' लिखा है।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के सोने के सिक्के भार की दृष्टि से तीन प्रकार के हैं, १२१ ग्रेन, १२५ ग्रेन और १३२ ग्रेन के। चित्रों की दृष्टि से ये पाँच प्रकार के हैं— (१) इनके एक ओर धनुष-बाण लिए हुए चन्द्रगुप्त द्वितीय की खड़ी हुई मूर्ति है, और साथ मे गरुडध्वज है। दूसरी ओर कमलासन पर बैठी हुई लक्ष्मी की मूर्ति है। (२) इन सिक्को के एक ओर खड़े हुए रूप मे राजा की मूर्ति है, जिसका एक हाथ तलवार की मूठ पर है, और पीछे एक वामन छत्र पकड हुए खडा है। दूसरी ओर कमल पर खडी लक्ष्मी की मूर्ति है। (३) इन सिक्कों मे एक तरफ सम्राट् पर्यक पर बैठा है, उसके दाएँ हाथ में कमल है, और बायाँ हाथ पर्यङ्क पर टिका हुआ है। सिक्के के दूसरी ओर सिंहासन पर आसीन लक्ष्मी का चित्र है। (४) इनमे एक ओर सम्राट् को धनुष-बाण द्वारा सिंह को मारते हुए दिखाया गया है, और दूसरी ओर सिंह पर विराजमान लक्ष्मी का चित्र है। (५) इन सिक्कों मे एक ओर घोडे पर चढे हुए सम्राट् का चित्र है, और दूसरी ओर आसन पर विराजमान देवी की मूर्ति है, जिसके हाथ मे कमल है। इन सब सिक्को पर 'महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त', 'क्षितिमवजित्य सुचरितैः दिवं जयति विक्रमादित्य', 'नरेन्द्रचन्द्र.प्रथितदिवं जयत्यजेय भुवि सिंहविक्रम', 'नरेन्द्रसिंहचन्द्रगुप्तः पृथिवी जित्वा दिव जयति' आदि अनेक प्रकार की उक्तियां उल्लिखित हैं।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के अनेक सिक्के चाँदी के भी मिले है। इनमें सम्राट् के अर्धशरीर (बस्ट) की मूर्ति है, और दूसरी ओर गरुड का चित्र है। इनपर 'परमभागवत महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तस्य विक्रमादित्य., अथवा 'श्रीगुप्तकुलस्य महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्त विक्रमांकस्य' लिखा है। इस सम्राट् के ताम्बे के बने हुए भी कुछ सिक्के मिले हैं, जिन पर गरुड का चित्र है।

गुप्त-सम्राटो मे सबसे अधिक सिक्के कुमारगुप्त प्रथम के मिले है। ये सिक्के भार में १२४ और १२६ ग्रेन हैं। चित्रों की दृष्टि से ये नौ प्रकार के हैं—(१) इनके एक ओर धनुष-बाण लिए सम्राट् का चित्र है, और दूसरी ओर कमलासन पर बैठी देवी की मूर्ति है। (२) इनके एक ओर तलवार की मूठ पर हाथ टेके हुए सम्राट् की मूर्ति है, और साथ मे गरुड़ध्वज भी है। दूसरी ओर कमल पर विराजमान लक्ष्मी का

चित्र है। (३) इनमें एक ओर यज्ञीय अश्व है, दूसरी ओर अस्त्रों और आभूषणों से सुसज्जित राजमहिषी की मूर्ति है। (४) इनमें एक ओर घोड़े पर सवार सम्राट् का चित्र है, और दूसरी ओर हाथ में कमल का फूल लिए एक देवी बैठी है। (५) इनमें एक ओर सिंह को मारते हुए सम्राट् का चित्र है, और दूसरी ओर सिंह पर आरूढ अम्बिका की मूर्ति है। (६) इनमें एक ओर धनुष-बाण से व्याघ्र को मारते हुए सम्राट् का चित्र है, दूसरी ओर मोर को फल खिलाती हुई देवी की खडी मूर्ति है। (७) इनमे एक ओर मोर को फल खिलाते हुए सम्राट् खडा है, और दूसरी ओर मयूर पर विराजमान कार्तिकेय की मूर्ति है। (८) इनमे एक ओर बीच मे एक पुरुष खड़ा है, जिसके दोनों तरफ दो स्त्रियाँ है। सिक्के के दूसरी ओर एक देवी बैठी हुई है। (९) इनमे एक ओर हाथी पर सवार सम्राट् का चित्र है, और दूसरी ओर हाथ मे कमल लिए हुए लक्ष्मी की खडी मूर्ति है।

इन सिक्को पर 'क्षितिपतिरजितमहेद्रः कुमारगुप्तो दिवं जयति', 'गुप्तकुलव्योमशशिः जयत्यजेयो जितमहेन्द्रः' 'कुमारगुप्तो विजयी सिहमहेंद्रो दिवं जयति' आदि अनेक लेख उत्कीर्ण हैं। कुमारगुप्त के चाँदी और ताम्बे के भी बहुत-से सिक्के उपलब्ध हुए है।

स्कन्दगुप्त के सोने के सिक्के भार मे १३२ और १४४ ग्रेन के मिले है। ये दो प्रकार के हैं—(१) इनमे एक ओर धनुष-बाण धारण किए सम्राट् का चित्र है, और दूसरी ओर पद्मासन पर विराजमान लक्ष्मी की मूर्ति है। (२) इनमे एक ओर सम्राट् और राजमहिषी के चित्र हैं, बीच मे गरुड़ध्वज है, और दूसरी ओर कमल हाथ मे लिए हुए देवी की मूर्ति है। सिक्को पर भी अनेक लेख उत्कीर्ण है। स्कन्दगुप्त के भी चाँदी और ताम्बे के अनेक सिक्के उपलब्ध हुए है।

स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारियो में पुरुगुप्त, नरसिंहगुप्त, कुमारगुप्त द्वितीय, बुधगुप्त, वैण्यगुप्त आदि प्रायः सभी गुप्त-सम्राटो के सिक्के मिलते है। इन सब मे प्रायः 'विजितावनिरवनिपतिः कुमारगुप्तो दिव जयति' के सदृश लेख उत्कीर्ण है। सम्राट् का नाम बदलता जाता है, पर लेख प्राय. इसी के सदृश रहता है।

(६) गुप्त साम्राज्य के प्रधान नगर

पाटलिपुत्र—गुप्त-साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी। इसके विषय मे चीनी यात्री फाइयान ने लिखा है—"मध्यदेश मे यह नगर सबसे बडा है। इसके निवासी सम्पन्न और समृद्धिशाली है। दान और सत्य में स्पर्धालु हैं। प्रतिवर्ष रथयात्रा होती है। दूसरे मास की आठवी तिथि को यात्रा निकलती है। चार पहिये के रथ बनते है। यह यूप पर ठाटी जाती हैं, जिसमे धुरी और हर्से लगे रहते है। यह २० हाथ ऊँचा और सूप के आकार का बनता है। ऊपर से सफेद चमकीला ऊनी कपड़ा मढ़ा जाता है। भाँति-भाँति की रंगाई होती है। देवताओं की मूर्तियाँ सोने-चाँदी और स्फटिक की भव्य बनती हैं। रेशम की ध्वजा और चाँदनी लगती है। चारों कोनों पर कलगियाँ लगती हैं। बीच में बुद्धदेव की मूर्ति होती है, और पास मे बोधिसत्व खड़ा किया जाता है। बीस रथ होते हैं, एक से एक सुन्दर और भड़कीले, सब के रंग न्यारे। नियत दिन आस-पास के यति और गृही इकट्ठे होते है। गाने-बजाने वाले साथ लेते

हैं। फूल और गंध से पूजा करते है। फिर ब्राह्मण आते हैं, और बुद्धदेव को नगर में पधारने के लिए निमन्त्रण करते है। पारी-पारी नगर में प्रवेश करते हैं। इसमें दो रात बीत जाती हैं। सारी रात दीया जलता है। गाना-बजाना होता है। पूजा होती है। जनपद-जनपद मे ऐसा ही होता है। जनपद के वैश्यो के मुखिया लोग नगर में सदावर्त और औषधालय स्थापित करते है। देश के निर्धन, अपग, अनाथ, विधवा, नि.संतान, लूले, लंगडे और रोगी लोग इस स्थान पर आते है, उन्हे सब प्रकार की सहायता मिलती है। वैद्य रोगो की चिकित्सा करते है। वे अनुकूल औषध और पथ्य पाते है। अच्छे होते हैं, तब जाते है।"

फाइयान को बौद्ध-धर्म के अनुष्ठानो व तीर्थस्थानो को देखने के अतिरिक्त अन्य किसी काम के लिए अवकाश नही था। पाटलिपुत्र आकर उसने अशोक के पुराने राज-प्रासाद, स्तूपो और विहारों को ही देखा। पर उसके विवरण से इसमे कोई सन्देह नही रह जाता, कि गुप्त-सम्राटों के शासनकाल मे पाटलिपुत्र बहुत समृद्ध नगर था, और उसके निवासी भी सम्पन्न और समृद्धिशाली थे। वे रथयात्राओ मे बडे शौक से शामिल होते थे, और खूब दिल खोलकर दान-पुण्य करते थे।

वैशाली—पाटलिपुत्र के समीप ही वैशाली गुप्तकाल की एक अत्यन्त समृद्धि-शाली नगरी थी। इसके अवशेषो मे बहुत-सी मोहरों के साँचे मिले है, जिन्हे वैशाली के 'श्रेष्ठीसार्थवाहकुलिकनिगम' की ओर से काम मे लाया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है, कि इस विशाल नगरी के श्रेष्ठी (साहूकार), सार्थवाह (व्यापारी) और कुलिक (शिल्पी) लोगो का एक बडा (निगम) संघ था, जो अपनी मोहर से मुद्रित कर विविध व्यापारिक आदेश जारी किया करता था।

उज्जयिनी—गुप्त-काल मे उज्जयिनी भी बहुत समृद्ध दशा में थी। गुप्त-सम्राट् प्राय. वहाँ ही निवास करते थे। विशेषतया, शको को परास्त करने के बाद जब साम्राज्य पश्चिम मे गुजरात-काठियावाड तक विस्तृत हो गया था, तब उज्जयिनी ने साम्राज्य की द्वितीय राजधानी का पद प्राप्त कर लिया था। ज्योतिष के अनुशीलन का यह बड़ा महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर ने यहीं अपनी वेध-शाला बनाई थी, और देश तथा काल की गणना इसी को आधार बनाकर की थी। गुप्तो के बाद भी भारतीय ज्योतिषी उज्जयिनी को ही आधार बनाकर देश और काल की गणना करते रहे, और यहां की वेधशाला भारत मे अत्यन्त प्रसिद्ध रही।

दशपुर—गुप्त-काल मे मालवा का दशपुर भी एक अत्यन्त समृद्ध नगर था। सम्राट् कुमारगुप्त के समय के मन्दसौर मे प्राप्त एक शिलालेख में इस नगर के सौन्दर्य और वैभव का बडा उत्तम वर्णन किया गया है। इसके गगनचुम्बी सुन्दर प्रासादो की माला, रमणीक वाटिकाओं की छटा, मदमत्त हाथियो की क्रीड़ा, पिंजरबद्ध हंसों के विलास और रमणियो के संगीत के वर्णन को पढकर ऐसा प्रतीत होता है, कि दशपुर एक बहुत ही समृद्ध नगर था। इस शिलालेख के रचयिता कवि वत्सभट्टि ने दशपुर का वर्णन करते हुए लिखा है—इस नगरी में कैलाश के शिखर के समान ऊँचे मकानो की पंक्तियाँ ऐसे शोभित होती थीं, मानो गगन को छूते हुए विमानों की मालाएँ हों।

नगर में बहुत से उद्यान और तालाब थे, जिनमें विविध प्रकार के पक्षी हर समय कलरव करते रहते थे।

इनके अतिरिक्त, कौशाम्बी, मथुरा, वाराणसी, चम्पा, ताम्रलिप्ति, कान्यकुब्ज आदि अन्य बहुत-सी नगरियाँ भी इस काल मे सम्पन्न अवस्था में विद्यमान थीं। फाइयान ने इन सबकी यात्रा की थी। इनके विहारों, स्तूपों, भिक्षुओं आदि के सम्बन्ध मे तो फाइयान ने बहुत कुछ लिखा है, पर खेद यही है कि इनके वैभव, समृद्धि, आर्थिक दशा व सामाजिक जीवन के विषय मे इस चीनी यात्री ने कुछ भी विवरण नही दिया।

(७) चीनी यात्री फाइयान

फाइयान का उल्लेख पहले किया जा चुका है। वह चीन के अन्यतम प्रदेश शेन-सी की राजधानी चाग-गान का रहने वाला था। उसके समय तक चीन मे बौद्धधर्म का प्रचार हो चुका था, और बहुत-से लोग भिक्षु-जीवन को भी स्वीकार कर चुके थे। फाइयान बचपन मे प्रव्रज्या ग्रहण करके बौद्ध-धर्म के अध्ययन मे ही अपना सम्पूर्ण समय व्यतीत कर रहा था। उसने विचार किया, कि चीन मे जो विनयपिटक हैं, वे अपूर्ण है। प्रामाणिक धर्म-ग्रन्थों की खोज मे उसने भारत यात्रा का सकल्प किया। चीन से चलकर भारत पहुँचने और यहां से अपने देश को वापस लौटने तक उसे कुल १५ वर्ष लगे। चौथी सदी के अन्त मे वह चीन से चला था, और सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के शासनकाल में पाँचवीं सदी के शुरू में उसने भारत के विविध प्रदेशों का भ्रमण किया था। उसके यात्रा-विवरण मे से हम यहाँ कुछ ऐसे प्रसंग उद्धृत करते है, जो इस युग के भारत के जीवन पर प्रकाश डालते हैं।

"इस देश (शेन-शेन, पूर्वी तुर्किस्तान में) के राजा का धर्म हमारा ही है। यहाँ लगभग चार हजार से अधिक श्रमण रहते हैं। सब के सब हीनयान सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। इधर के देश के सब लोग क्या गृहस्थ और क्या भिक्षु, सब भारतीय आचार और नियम का पालन करते है। यहाँ से पश्चिम में जिन-जिन देशों में गये, सभी में ऐसा ही पाया। सब गृहत्यागी विरक्त भारतीय ग्रन्थों और भारतीय भाषा का अध्ययन करते है।

"खोतन जनपद सुखप्रद और सम्पन्न है। अधिवासी धार्मिक हैं।

"कुफेन (काबुल) में एक सहस्र से अधिक भिक्षु हैं। सब महायान के अनुयायी हैं।"

"किचा के श्रमणों का आचार आश्चर्यजनक है, इतना विधिनिषेधात्मक कि वर्णनातीत है।

"गांधार देश के निवासी सब हीनयान के अनुयायी हैं। तक्षशिला में राजा, मन्त्री और जनसाधारण सब उनकी (स्तूपों की) पूजा करते हैं। इन स्तूपो पर पुष्प और दीप चढ़ाने वालों का तौता कभी नहीं टूटता।

"यहाँ (पुष्पपुर या पेशावर मे) सात सौ से अधिक श्रमण होगे। जब मध्याह्न होता है, श्रमण भिक्षापात्र लेकर निकलते हैं।

"(पेशावर से) दक्षिण दिशा में १६ योजन चलकर जनपद की सीमा पर हेलो (हेड्डा) नगर में पहुँचे, यहाँ विहार पर सोने के पत्र चढे हैं, और सप्तरत्न जड़े हैं।

"(मथुरा को जाते हुए) मार्ग मे लगातार बहुत-से विहार मिले, जिनमें लाखों श्रमण मिले। सब स्थानों मे होते हुए एक जनपद मे पहुँचे, जिसका नाम मथुरा था। नदी के दाएँ-बाएँ किनारे बीस विहार थे, जिनमे तीस हजार से अधिक भिक्षु थे। अब तक बौद्ध-धर्म का अच्छा प्रचार है। मरुभूमि से पश्चिम भारत के सभी जनपदों के अधिपति बौद्ध-धर्म के अनुयायी मिले। भिक्षुसघ को भिक्षा कराते समय वे अपने मुकुट उतार डालते है। अपने बन्धुओं और अमात्यो सहित अपने हाथो से भोजन परोसते है। परोस कर प्रधान महासंघ (स्थविर) के आगे आसन बिछाकर बैठ जाते है। संघ के सामने खाट पर बैठने का साहस नही करते। तथागत के समय मे जो प्रथा राजाओं मे भिक्षा कराने की थी, वही अब तक चली आती है।

"यहाँ से दक्षिण मध्यदेश कहलाता है। यहाँ शीत और उष्ण सम है। प्रजा प्रभूत और सुखी है। व्यवहार की लिखा-पढी और पंचायत कुछ नही है। लोग राजा की भूमि जोतते है, और उपज का अंश देते हैं। जहाँ चाहे जायँ जहाँ चाहे रहें। राजा न प्राणदण्ड देता है, और न शारीरिक दण्ड देता है। अपराधी को अवस्थानुसार उत्तम साहस व मध्यम साहस का अर्थदण्ड दिया जाता है। बार-बार दस्युकर्म करने पर दक्षिण करच्छेद किया जाता है। राजा के प्रतिहार और सहचर वेतनभोगी हैं। सारे देश मे कोई अधिवासी न जीवहिंसा करता है, न मद्य पीता है, और न लहसुन-प्याज खाता है, सिवाय चाण्डाल के। दस्यु को चाण्डाल कहते है। वे नगर के बाहर रहते हैं, और नगर मे जब बैठते है, तो सूचना के लिए लकडी बजाते चलते है, कि लोग जान जायँ और बचकर चलें, कही उनसे छू न जाएँ। जनपद मे सूअर और मुर्गी नही पालते, न जीवित पशु बेचते है, न कही सूनागार और मद्य की दूकानें है। क्रय-विक्रय मे कौड़ियो का व्यवहार है। केवल चाण्डाल मछली मारते, मृगया करते और मांस बेचते है।

"श्रमणो का कृत्य शुभ कर्मो से धनोपार्जन करना, सूत्रों का पाठ करना और ध्यान लगाना है। आगंतुक (अतिथि) भिक्षु आते है, तो रहने वाले (स्थायी) भिक्षु उन्हे आगे बढ़ कर लेते है। उनके भिक्षापात्र और वस्त्र स्वयं ले आते हैं। उन्हे पैर धोने को जल और सिर मे लगाने को तेल देते हैं। विश्राम ले लेने पर उनसे पूछते हैं, कि कितने दिनों से प्रव्रज्या ग्रहण की है। फिर उन्हें उनकी योग्यता के अनुसार आवास देते हैं, और यथानियम उनसे व्यवहार करते है।

"जब भिक्षु वार्षिकी अग्रहार पा जाते है, तब सेठ और ब्राह्मण लोग वस्त्र और अन्य उपहार बाँटते है। भिक्षु उन्हें लेकर यथाभाग विभक्त करते है। बुद्धदेव के बोधि-प्राप्ति-काल से ही यह रीति, आचार-व्यवहार और नियम अविच्छिन्न लगातार चले आते हैं। हियंतु (सिन्धु नदी) उतरने के स्थान से दक्षिण भारत तक और दक्षिण समुद्र तक चालीस-पचास हजार ली तक चौरस (भूमि) है। इसमें कही पर्वत झरने नही है, नदी का ही जल है।

"(कान्यकुब्ज—कन्नौज) नगर गंगा के किनारे है। जो संघाराम हैं, सब हीनयान के अनुयायियों के हैं। नगर से पश्चिम सात ली पर गंगा के किनारे बुद्ध ने अपने शिष्यों को उपदेश दिया था।

"दक्षिण दिशा में चले। आठ योजन चलकर कोशल जनपद के नगर श्रावस्ती में पहुँचे। नगर में बहुत कम अधिवासी हैं, और जो हैं, तितर-बितर है। सब मिलाकर दो सौ से कुछ अधिक घर होगे।

"मध्यदेश में ६६ पाषण्डों (सम्प्रदायों) का प्रचार है। सब लोक-परलोक को मानते है। उनके साधुसंघ हैं। वे भिक्षा करते हैं, केवल भिक्षापात्र नहीं रखते। सब नाना रूप से धर्मानुष्ठान करते हैं। मार्गों पर धर्मशालाएँ स्थापित की हैं। वहाँ आये-गये को आवास, खाट, बिस्तर, खाना-पीना मिलता है। यति भी वहाँ आते-जाते और निवास करते हैं।

"कपिलवस्तु नगर में न राजा है, न प्रजा। केवल खण्डहर और उजाड है। कुछ श्रमण रहते है, और दस घर अधिवासी है। कपिलवस्तु जनपद जनशून्य है। अधिवासी बहुत कम है। मार्ग मे श्वेत हस्ती और सिंह से बचने की आवश्यकता है, बिना सावधानी के जाने योग्य नही है।

"राजगृह नगर के भीतर सुनसान है, कोई मनुष्य नही।

"दक्षिण जनपद बड़े निराले हैं। मार्ग भयावह और दुस्तर है। कठिनाइयो को झेलकर जाने के इच्छुक सदा धन और उपहार वस्तु साथ ले जाते हैं, और जनपद के राजा को देते है। राजा प्रसन्न होकर रक्षक मनुष्य साथ भेजता है, जो एक बस्ती से दूसरी बस्ती तक पहुँचाते और सुगम मार्ग बताते है।

"ताम्रलिप्ति नगर एक बन्दरगाह है, इस जनपद में २४ संघाराम है। श्रमण संघ मे रहते है। बौद्ध-धर्म का अच्छा प्रचार है।"

फाइयान के इन उद्धरणो मे भी यद्यपि बौद्ध-धर्म की दशा का ही चित्रण अधिक है, पर उस समय के भारत का कुछ-न-कुछ निदर्शन इनसे अवश्य मिल जाता है। पाटलिपुत्र उस समय भारत का सबसे बडा नगर था, वहाँ के निवासी सम्पन्न और समृद्ध थे। फाइयान वहाँ तीन साल तक रहा। बौद्ध-धर्म के जिन ग्रन्थो का वह अध्ययन करना चाहता था, वे सब उसे वही मिले। पर श्रावस्ती, कपिलवस्तु, राजगृह आदि अनेक पुराने नगर इस समय खण्डहर हो चुके थे।

(८) आर्थिक जीवन

व्यवसायी और व्यापारी गुप्तकाल मे भी श्रेणियों और निगमों में संगठित थे। गुप्तकाल के शिलालेखों और मोहरो से सूचित होता है, कि उस समय मे न केवल श्रेष्ठियो और सार्थवाहों के निगम थे, अपितु जुलाहे, तेली आदि विविध व्यवसायी भी अपनी-अपनी श्रेणियो मे संगठित थे। जनता का इन पर पूर्ण विश्वास था। यही कारण है, कि इनके पास रुपया विविध प्रयोजनों से धरोहर (अक्षयनीवि रूप मे या सामयिक रूप मे) रखा दिया जाता था, और ये उसपर सूद दिया करते थे। इन निगमों व श्रेणियों का एक मुखिया और उसको परामर्श देने के लिए चार या पाँच व्यक्तियों की

एक समिति रहती थी। कुमारगुप्त प्रथम के समय के एक शिलालेख मे पटकारों (जुलाहों) की एक श्रेणी का उल्लेख है, जो लाट (गुजरात) देश से आकर दशपुर में बस गयी थी। स्कन्दगुप्त के एक शिलालेख में 'इन्द्रपुरनिवासिनी तैलिक श्रेणी' का उल्लेख है। इसी प्रकार मृत्तिकार (कुम्हार), शिल्पकार, वणिक् आदि की भी श्रेणियों का उल्लेख इस युग के लेखो मे है। अकेले वैशाली से २७४ मिट्टी की मोहरें मिली हैं, जो विविध लेखो को मुद्रित करने के काम में आती थी। ये मोहरें 'श्रेष्ठीसार्थवाहकुलिकनिगम' की हैं। उस काल मे वैशाली मे साहूकार, व्यापारी और शिल्पयों की श्रेणियों का यह सम्मिलित शक्तिशाली निगम था। इसका कार्य भारत के बहुत-से नगरों में फैला हुआ था। जो पत्र इस निगम द्वारा भेजे जाते थे, उन्हे बन्द करके ऊपर से ये मोहरें लगाई जाती थी, ताकि पत्र सुरक्षित रहे। निगम की मोहर (कामन-सील) के अतिरिक्त इन पत्रो पर एक और मोहर भी लगाई जाती थी, जो सम्भवतः विविध नगरो मे विद्यमान निगमशाखाओ के अध्यक्ष की निजी मोहर होती थी।

वैशाली के इस निगम के अतिरिक्त अन्यत्र भी इसी प्रकार के विविध निगम गुप्तकाल में विद्यमान थे। वर्तमान समय के बैंको का कार्य इस काल मे ये श्रेणियाँ और निगम ही करते थे। अपने झगडों का निर्णय भी वे स्वय करते थे। उनका अपना न्यायालय होता था, जिसमें धर्म, चरित्र और व्यवहार के अनुसार निर्णय किया जाता था। इनके मुखिया या प्रतिनिधि विषयपति की राजसभा मे भी सभासद् रहते थे। गुप्तकाल के आर्थिक जीवन मे इन श्रेणियो व निगमो का बडा महत्त्व था।

श्रेणियाँ छोटी और बडी सब प्रकार की होती थीं। श्रेणी का मुखिया आचार्य कहलाता था। उसके साथ बहुत-से शागिर्द (अंतेवासी) रहते थे, जो आचार्य के घर में पुत्रो की तरह निवास करते थे। नारदस्मृति ने इस विषय को बहुत अच्छी तरह स्पष्ट किया है। वहाँ लिखा है–जिस किसी को कोई शिल्प सीखना हो, वह अपने बांधवों की अनुमति लेकर आचार्य के पास जाय और उससे समय आदि का निश्चय कर उसी के पास रहे। यदि शिल्प को जल्दी भी सीख लिया जाय, तो भी जितने काल का फैसला किया गया हो, उतने समय तक अवश्य ही गुरु के घर में निवास करे। आचार्य अपने अन्तेवासी के साथ पुत्र की तरह व्यवहार करे, कोई दूसरा काम उससे न ले, उसे अपने पास से भोजन देवे और उसे भली-भाँति शिल्प की शिक्षा दे। जब अंतेवासी शिल्प को सीख ले, और निश्चित किया हुआ समय समाप्त हो जाय, तब आचार्य को दक्षिणा देकर वह अपने घर लौट आये।

नारदस्मृति के इस सन्दर्भ से एक छोटी श्रेणी का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। आचार्य के घर मे जो अंतेवासी रहते थे, वे एक निश्चित समय तक शागिर्दी करने के लिए प्रतिज्ञा करते थे। इस बीच मे आचार्य उनसे शिल्प-सम्बन्धी सब काम लेता था, बदले में केवल भोजन या निर्वाह का खर्चा देता था। आचार्य के अधीन बहुत-से अंतेवासी रहा करते थे। उसे मजदूर रखने की आवश्यकता नही होती थी। निर्धारित समय समाप्त हो जाने पर ये अंतेवासी अपना स्वतन्त्र व्यवसाय कर सकते थे। भारत में ऐसी श्रेणियाँ मौर्यकाल व उससे भी पहले से चली आ रही थी। पर गुप्त-युग में अनेक व्यवसायों में छोटी-छोटी श्रेणियों का स्थान बड़े पैमाने की सुसंगठित श्रेणियों ने ले

लिया था। मन्दसौर की प्रशस्ति मे जिस पटकार श्रेणी के लाटदेश से दशपुर आकर बस जाने का उल्लेख है, उसके सम्बन्ध में यह लिखा गया है कि उसके बहुत-से सदस्य थे, जो भिन्न-भिन्न विद्याओं में निपुण थे। वस्त्र बुनने में तो सभी दक्ष थे, पर साथ ही उनमें से अनेक व्यक्ति गान, कथा, धर्मप्रसंग, ज्योतिष, शील, विनय और युद्धविद्या में भी प्रवीण थे। इस प्रकार की बड़ी-बड़ी श्रेणियों और निगमों का विकास गुप्तकाल की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। विविध श्रेणियों व निगमों के संघ भी इस समय तक बन गए थे, जो केवल एक नगर मे ही नहीं, अपितु बहुत विस्तृत क्षेत्र मे अपना कार्य करते थे। ये बड़ी-बड़ी श्रेणियाँ इतनी समृद्ध थी, कि दशपुर की तंतुवायश्रेणी ने स्वयं अपने कमाये हुए धन से एक विशाल सूर्य-मन्दिर का निर्माण कराया था, और उसी की प्रतिष्ठा के उपलक्ष मे मन्दसौर की प्रशस्ति उत्कीर्ण करायी थी।

गुप्तकाल मे व्यापार भी बहुत विकसित था। न केवल भारत के विविध प्रदेशों में, अपितु पूर्व और पश्चिम दोनों ओर के समुद्र-पार के देशों के साथ इस युग मे भारत का व्यापारिक सम्बन्ध विद्यमान था। पाटलिपुत्र से कौशाम्बी और उज्जयिनी होते हुए एक सड़क भड़ोंच को गयी थी, जो इस युग मे पश्चिमी भारत का बहुत समृद्ध नगर और बन्दरगाह था। यहाँ से मिस्र, रोम, ग्रीस, ईरान और अरब के साथ व्यापार होता था। पूर्व मे बंगाल की खाडी के तट पर ताम्रलिप्ति बहुत बडा बन्दरगाह था। यहाँ से भारतीय व्यापारी बरमा, जावा, सुमात्रा, चीन आदि सुदूर-पूर्व के देशो मे व्यापार के लिए आया-जाया करते थे। फाइयान ने यही से अपने देश के लिए प्रस्थान किया था। इस युग मे हिन्द महासागर के विविध द्वीपों और सुदूर पूर्व के अनेक प्रदेशो में बृहत्तर भारत का विकास हो चुका था। भारतीयों का अपने इन उपनिवेशो के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। इन उपनिवेशो मे आने-जाने के लिए ताम्रलिप्ति (वर्तमान तामलूक) का बन्दरगाह बहुत काम मे आता था। इसके अतिरिक्त भारत के पूर्वी समुद्र तट पर कदूर, घंटशाली, कावेरी-पट्टनम, तोदई, कोरकई आदि अन्य भी अनेक बन्दरगाह थे।

मिस्र और रोमन साम्राज्य के साथ जो व्यापार गुप्तवंश के शासन से पहले प्रारम्भ हो चुका था, वह अब तक भी जारी था। रोम की शक्ति के क्षीण हो जाने के बाद पूर्व मे कोंस्टैन्टिनोपल (पुराना बाइजेण्टियम) पूर्वी रोमन साम्राज्य का प्रधान केन्द्र हो गया था। कोंस्टैन्टिनोपल के सम्राटों के शासनकाल मे भी भारत के साथ पश्चिमी दुनिया का व्यापार-सम्बन्ध कायम रहा, और यवन जहाज भड़ौच तथा पश्चिमी तट के अन्य बन्दरगाहो पर आते रहे। रोम की शक्ति के क्षीण होने के बाद भारत के पश्चिमी विदेशी व्यापार मे अरब लोगो ने अधिक दिलचस्पी लेनी शुरू की, और भारत का माल अरब व्यापारियों द्वारा ही पश्चिमी दुनिया में जाने लगा। भारत से बाहर जाने वाले माल में मोती, मणि, सुगंधि, सूती वस्त्र, मसाले, नील, औषधि, हाथीदाँत आदि प्रमुख थे। इनके बदले में चाँदी, ताम्बा, टिन, रेशम, काफूर, घोड़े और खजूर आदि भारत में आते थे।

सोलहवाँ अध्याय

गुप्तकाल की कृतियाँ और अवशेष

(१) मूर्तियाँ और स्तम्भ

शिलालेखो और सिक्को के अतिरिक्त गुप्तकाल की बहुत-सी मूर्तियाँ, मन्दिर, स्तम्भ व अन्य अवशेष इस समय उपलब्ध है। इनसे उस युग की कला और शिल्प का अच्छा ज्ञान होता है। इस काल की मूर्तियाँ बौद्ध, शैव, वैष्णव और जैन—सब सम्प्रदायों की मिलती है। बौद्ध-धर्म की मुख्य मूर्तियाँ निम्नलिखित हैं—

(१) सारनाथ की बुद्ध-मूर्ति—इस मूर्ति मे पद्मासन बाँधकर बैठे हुए भगवान् बुद्ध सारनाथ मे धर्मचक्र का प्रवर्त्तन करते हुए दिखाए गये है। बुद्ध के मुखमण्डल पर अपूर्व शाति, प्रभा, कोमलता और गम्भीरता है। अंग-प्रत्यंग में सौकुमार्य और सौन्दर्य होते हुए भी ऐहलौकिकता का सर्वथा अभाव है। ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध लोकोत्तर भावना को लिए हुए, अपने ज्ञान (बोध) को संसार को प्रदान करने के लिए ही ऐहलौकिक व्यवहार मे तत्पर हैं। मूर्ति मे दोनों कधे महीन वस्त्र से ढके हुए प्रदर्शित किए गए हैं। ये वस्त्र पैरो तक है, और आसन के समीप पैरो से इनका भेद स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। सिर के चारो ओर सुन्दर अलंकृत प्रभामण्डल है, जिसके दोनो ओर दो देवो की मूर्तियाँ बनी है। देव हाथ मे पत्र-पुष्प लिए हुए हैं। आसन के मध्य भाग मे एक चक्र बनाया गया है, जिसके दोनो ओर दो मृग हैं। यह मूर्ति गुप्तकालीन मूर्तिकला का अत्यन्त सुन्दर उदाहरण है। ऐसी ही अनेक मूर्तियाँ कलकत्ता म्यूजियम मे सुरक्षित है। इनमे सारनाथ की मूर्ति से बहुत समता है। ऐसा प्रतीत होता है, कि भक्तों ने बुद्ध के प्रति अपनी श्रद्धा को प्रदर्शित करने के लिए इन विविध मूर्तियों की प्रतिष्ठा करायी थी।

(२) मथुरा की खडी हुई बुद्ध-मूर्ति—इसके मुखमण्डल पर भी शाँति, करुणा और आध्यात्मिक भावना का अपूर्व सम्मिश्रण है। बुद्ध निष्कम्प प्रदीप के समान खडे है, और उनके मुख पर एक दैवी स्मिति भी है। इस मूर्ति मे बुद्ध ने जो वस्त्र पहने है, वे बहुत ही महीन हैं, । उनमें से उनके शरीर का प्रत्येक अंग स्पष्ट रूप से दिखायी देता है। सिर के चारों ओर अलंकृत प्रभामण्डल है। यह मूर्ति इस समय मथुरा के म्यूजियम मे सुरक्षित है। इसी के नमूने की भी अन्य बहुत-सी बुद्ध-मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं।

(३) ताम्र की बुद्ध-मूर्ति—यह बिहार प्रान्त के भागलपुर जिले में सुलतानगंज से प्राप्त हुई थी, और अब इंग्लैण्ड मे बरमिंघम के म्यूजियम में रखी है। ताम्बे की बनी हुई खडे प्रकार की यह मूर्ति साढे सात फीट ऊँची है। इसमे बुद्ध का स्वरूप समुद्र की तरह गम्भीर, महान्, पूर्ण और लोकोत्तर है। उनका दाहिना हाथ अभयमुद्रा मे कुछ आगे बढा हुआ है। मुखमण्डल पर अपूर्व शान्ति, करुणा और दिव्य तेज है। गुप्तकाल

की मूर्तियों में ताम्र की यह प्रतिमा वस्तुतः बड़ी अद्भुत और अनुपम है। धातु को ढालकर इतनी सुन्दर मूर्ति जो शिल्पी बना सकते थे, उनकी दक्षता, कला और प्रतिभा की सचमुच प्रशंसा करनी पड़ती है।

गुप्तकाल में मूर्तिनिर्माण कला के तीन बड़े केन्द्र थे—मथुरा, सारनाथ और पाटलिपुत्र। तीनों केन्द्रों की कुछ अपनी-अपनी विशेषताएँ थीं। ऊपर लिखी तीनों मूर्तियाँ इन केन्द्रों की कला की प्रतिनिधि समझी जा सकती हैं। इन्ही के नमूने की बहुत-सी मूर्तियाँ भारत के विविध स्थानो पर पायी जाती हैं। खेद यह है, कि इनमें से अधिकाश भग्न दशा मे हैं। किसी का दायाँ हाथ टूटा है, तो किसी का बायाँ। किसी का सिर टूट गया है, और किसी के कान, नाक आदि तोड दिये गये हैं। समय की गति और कुछ मूर्तिपूजा-विरोधी सम्प्रदायों के कोप का ही यह परिणाम हुआ है।

प्रस्तर-फलक—भगवान् बुद्ध की सम्पूर्ण मूर्तियो के अतिरिक्त इस काल के बहुत-से ऐसे प्रस्तर-फलक भी मिलते हैं, जिन पर बुद्ध के जीवन की विविध घटनाओं को उत्कीर्ण करके प्रदर्शित किया गया है। ऐसे बहुत-से-प्रस्तरखंड सारनाथ मे उपलब्ध हुए हैं, जिन पर लुम्बिनीवन मे महात्मा बुद्ध का जन्म, बोधिवृक्ष के नीचे बुद्ध की ज्ञानप्राप्ति, सारनाथ में धर्मचक्र का प्रवर्तन और कुशीनगर में बुद्ध का महापरिनिर्वाण आदि प्रस्तरखण्ड को तरास कर सुन्दर रीति से चित्रित किये गये हैं। इसी तरह बुद्ध की माता का स्वप्न, कुमार सिद्धार्थ का अभिनिष्क्रमण, बुद्ध का विश्व-रूप-प्रदर्शन आदि बहुत-सी अन्य घटनाएँ भी मूर्तियों द्वारा प्रदर्शित की गयी हैं। पत्थर तरास कर उसे जीवित-जागृत रूप दे देने की कला मे गुप्तकाल के शिल्पी बहुत ही प्रवीण थे।

बुद्ध की मूर्तियों के अतिरिक्त अनेक बोधिसत्वो और बौद्ध देवी-देवताओं की मूर्तियाँ भी इस युग मे बनाई गयी। बौद्ध-धर्म मे इस समय तक अनेक देवताओ व बोधिसत्वो की पूजा का प्रारम्भ हो चुका था, और उनके सम्बन्ध में बहुत-सी गाथाएँ बन गयी थी। यही कारण है, कि इन गाथाओं की अनेक घटनाओं को भी मूर्तियो द्वारा अंकित किया गया, और बोधिसत्वों की बहुत-सी छोटी-बड़ी मूर्तियाँ बनाई गयी। अवलोकितेश्वर, मैत्रेय, मञ्जुश्री आदि की अनेक और विविध प्रकार की मूर्तियां इस समय मे बनी।

पौराणिक मूर्तियाँ—पौराणिक धर्म के साथ सम्बन्ध रखने वाली गुप्तयुग की जो बहुत-सी मूर्तियाँ अब उपलब्ध हैं, उनमे निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

(१) मध्यभारत मे भिलसा के पास उदयगिरि में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा बनवाये हुए मन्दिरों के बाहर पृथिवी का उद्धार करते हुए वराह अवतार की एक विशाल मूर्ति मिली है। पौराणिक कथा के अनुसार प्रलय के जल मे मग्न होती हुई पृथ्वी का उद्धार करने के लिये भगवान् विष्णु ने वराह का रूप धारण किया था। इस मूर्ति मे भगवान् के इसी वाराह रूप को अंकित किया गया है। इस में वराह के बाएँ पैर के नीचे शेष की आकृति बनी हुई है, और पृथ्वी को वराह अपनी दंष्ट्राओं पर उठाये हुए हैं। मूर्ति का शरीर मनुष्य का है, पर मुख वराह का है।

(२) गोवर्धनधारी कृष्ण—यह मूर्ति काशी के समीप एक टीले से मिली थी,

और अब सारनाथ के सग्रहालय में सुरक्षित है। इसमें कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को गेंद की तरह उठाया हुआ है।

(३) शेषशायी विष्णु—झाँसी जिले मे देवगढ़ नामक स्थान पर गुप्तकाल के एक विष्णु-मन्दिर में विष्णु भगवान् की एक मूर्ति है, जो शेषनाग पर शयन करती हुई दिखाई गयी है। इसमे एक ओर शेषशायी विष्णु हैं, जिनके नाभिकमल पर ब्रह्मा स्थित हैं, चरणों के पास लक्ष्मी बैठी है, ऊपर आकाश मे कार्तिकेय, इन्द्र, शिव, पार्वती आदि उनके दर्शन कर रहे है। विष्णु के सिर पर मुकुट, कानों मे कुण्डल, गले मे हार तथा हाथों मे कगन है। साथ ही, अन्य अनेक देवी-देवताओ की मूर्तियाँ है।

(४) कौशाम्बी की सूर्य-मूर्ति—प्राचीन भारत मे सूर्य की भी मूर्ति बनाई जाती थी, और उसके अनेक मन्दिर विविध स्थानों पर विद्यमान थे। दशपुर मे सूर्य का एक मन्दिर तंतुवायो की श्रेणी ने गुप्तकाल मे भी बनवाया था। कौशाम्बी में प्राप्त सूर्य की यह मूर्ति भी बडी भव्य और सुन्दर है।

(५) कार्तिकेय—यह मूर्ति काशी के कलाभवन मे सुरक्षित है। यह मोर पर बैठी हुई बनाई गयी है, जिस में कीर्तिकेय के दोनो पैर मोर के गले मे पडे हुए हैं। इसके भी सिर पर मुकुट, कानो मे कुण्डल, गले मे हार तथा अन्य बहुत-से आभूषण है। कार्तिकेय देवताओं की सेना का सेनापति था। अतः उसके हाव-भाव मे गाम्भीर्य और पौरुष होना ही चाहिये। ये सब गुण इस मूर्ति मे सुन्दरता के साथ प्रकट किये गये है।

(६) भरतपुर राज्य मे रूपवास नामक स्थान पर चार विशालकाय मूर्तियाँ विद्यमान है, जिनमे से एक बलदेव की है। इसकी ऊँचाई सत्ताईस फीट से भी अधिक है। दूसरी मूर्ति लक्ष्मीनारायण की है। इसकी ऊँचाई नौ फीट से कुछ ऊपर है।

(७) गुप्तकाल मे निर्मित शिव की भी अनेक मूर्तियाँ मिली है। सारनाथ के सग्रहालय में लोकेश्वर शिव का एक सिर है, जिसका जटाजूट भारतीय प्रभाव से प्रभावित चीन की मूर्तियो के सदृश है। इसके अतिरिक्त गुप्तकाल के अनेक शिवलिंग व एकमुखलिंग भी इस समय प्राप्त हुए है। एकमुखलिंग वे है, जिनमे लिंग के एक ओर मनुष्य के सिर की आकृति बनी होती है। ऐसी एक एकमुखलिंग प्रतिमा नागोद के क्षेत्र से मिली है, जिसके सिर पर रत्न-जटित मुकुट है, और जटाजूट के ऊपर अर्धचन्द्र विद्यमान है। ललाट पर शिव का तृतीय नेत्र भी प्रदर्शित किया गया है।

(८) बगाल के राजशाही जिले मे कृष्णलीला-सम्बन्धी भी अनेक मूर्तियाँ मिली हैं, जो गुप्तकाल की मानी जाती हैं।

जैन-मूर्तियाँ—बौद्ध तथा पौराणिक मूर्तियो के अतिरिक्त गुप्त-काल की जैन-मूर्तियाँ भी पाई गयी हैं। मथुरा से वर्धमान महावीर की एक मूर्ति मिली है, जो कुमारगुप्त के समय की है। इसमें महावीर पद्मासन लगाये ध्यानमग्न बैठे हैं। इसी तरह की मूर्तियाँ गोरखपुर जिले व अन्य स्थानो से भी प्राप्त हुई हैं।

मूर्तिनिर्माण कला की मौलिकता—भारत में मूर्तिनिर्माण की कला बहुत प्राचीन है। शैशुनाग और मौर्य वशो के शासन-समय मे इस कला ने विशेष रूप से उन्नति प्रारम्भ की थी। यवन और शक लोगो के सम्पर्क से इस कला ने और अधिक उन्नति

की। अध्यात्मवाद और पाश्चात्य भौतिकवाद ने मिलकर एक नई शैली को जन्म दिया, जिसने इस देश की मूर्तियों में एक अपूर्व सौन्दर्य ला दिया। गुप्तकाल की मूर्तियो में विदेशी प्रभाव का सर्वथा अभाव है। वे विशुद्ध भारतीय हैं। आकृति मुद्रा और भाव-भंगी पूर्णतया भारतीय होते हुए भी उनमें अनुपम सौन्दर्य है। भौतिक सौन्दर्य की अपेक्षा भी उनमे आन्तरिक शान्ति, ओज और आध्यात्मिक आनन्द की जो झलक है, वह वर्णनातीत है। मूर्तिनिर्माण कला की दृष्टि से गुप्तकाल वस्तुतः अद्वितीय है।

प्रस्तर मूर्तियो के अतिरिक्त गुप्तकाल मे मिट्टी व मसाले की मूर्तियो का भी रिवाज था। इस युग की अनेक नक्काशीदार ईंटें पहले साँचे से ढाली जाती थी, फिर उनपर औजार से तरह-तरह की चित्रकारी की जाती थी। फिर सुखाकर उन्हें पका लिया जाता था। गुप्तकाल की ये नक्काशीदार ईंटें बहुत ही सुन्दर हैं, और उनपर अनेक प्रकार के चित्र अंकित हैं। ईंटो की तरह ही नक्काशीदार खम्भे तथा अन्य इमारती साज भी इस काल में तैयार किये जाते थे। गुप्तकाल की मिट्टी की जो मूर्तियाँ मिली हैं, वे भी बौद्ध और पौराणिक देवी-देवताओ की है। इनका सौन्दर्य पत्थर की मूर्तियो से किसी भी प्रकार कम नही है। पकी हुई ईंटों का चूरा तथा चूना भी मूर्तियो को बनाने के लिए प्रयुक्त होता था। इस प्रकार की बहुत-सी मूर्तियाँ सारनाथ, कौशाम्बी, मथुरा, राजघाट, अहिच्छत्र, श्रावस्ती आदि प्राचीन स्थानों से उपलब्ध हुई हैं। मूर्तियो के अतिरिक्त इन स्थानो से मिट्टी पकाकर बनाये हुए खिलौने व मिट्टी के बैल, हाथी, घोडे व अन्य छोटे-छोटे प्राणी भी बडी संख्या में प्राप्त हुए है। गुप्तकाल मे यह कला बहुत उन्नत दशा मे थी। देवी-देवताओ के अतिरिक्त सब प्रकार के स्त्री-पुरुषो की छोटी-छोटी मूर्तियाँ भी इस काल में बनती थी। शक, यवन, हूण आदि जो विदेशी इस काल के भारतीय समाज मे प्रचुर संख्या मे दिखाई देते थे, कलाकारो का ध्यान उनकी ओर भी आकृष्ट होता था। यही कारण है, कि इस युग की मिट्टी की छोटी-छोटी मूर्तियो मे इन विदेशियों की मूर्तियों की संख्या बहुत अधिक है।

(२) प्रस्तर-स्तंभ

अशोक के समान गुप्त-सम्राटों ने भी बहुत से प्रस्तर-स्तम्भ बनवाये थे। ये किसी महत्त्वपूर्ण विजय की स्मृति मे या किसी सम्राट् की कीर्ति को स्थिर करने के लिए या विविध प्रदेशों की सीमा निश्चित करने के लिए और धार्मिक प्रयोजन से बनाये गए थे। गुप्तकाल के अनेक स्तम्भ इस समय उपलब्ध हुए हैं। गोरखपुर जिले में कहौम नामक स्थान पर स्कन्दगुप्त का एक प्रस्तर-स्तम्भ है, जिसपर इस प्रतापी सम्राट् की कीर्ति उत्कीर्ण है। गुप्तकाल मे भगवान् विष्णु की प्रतिष्ठा में ध्वजस्तम्भ बनाने का बहुत रिवाज था। सम्राट् बुधगुप्त के समय में सामंत राजा मातृविष्णु व धन्यविष्णु द्वारा बनवाया हुआ ऐसा एक स्तम्भ एरण मे विद्यमान है। कुमारगुप्त के समय का ऐसा ही एक स्तम्भ भिलसद में स्थित है, जिसे स्वामी महासेन के मन्दिर के स्मारक रूप में बनवाया था। गाजीपुर जिले के भिटरी गाँव में भगवान् विष्णु की एक प्रतिमा की प्रतिष्ठा के अवसर पर उसके उपलक्ष में स्थापित किया हुआ एक स्तम्भ

उस गाँव में अब तक विद्यमान है। इसी तरह का एक स्मृतिस्तम्भ पटना जिले के बिहार नगर में है, जिसे सेनापति गोपराज की यादगार मे स्थापित किया गया था।

मौर्यकाल के स्तम्भ गोल होते थे, और उनपर चिकना चमकदार वज्रलेप होता था। पर गुप्तकाल के स्तम्भ गोल व चिकने नही हैं। गुप्तों के स्तम्भ अनेक कोणों से युक्त हैं। एक ही स्तम्भ के विविध भागों मे विविध कोण हैं। कोई स्तम्भ नीचे आधार में यदि चार कोणों का है, तो बीच मे आठ कोणों का हो गया है। कई स्तम्भ ऐसे भी हैं, जो नीचे चार कोणो के और बीच में गोल हैं। किसी-किसी स्तम्भ में ऊपर सिंह व गरुड़ की मूर्तियाँ भी हैं। प्रस्तर के अतिरिक्त धातु का २४ फीट ऊँचा जो विशाल स्तम्भ दिल्ली के समीप महरौली मे है, वह भी गुप्तकाल का ही है। यह लौहस्तम्भ संसार के आश्चर्यों मे गिना जाना चाहिये। इसका निर्माण भी विष्णुध्वज के रूप में हुआ था।

(३) भवन और मंदिर

गुप्त-काल के कोई राजप्रासाद या भवन अब तक उपलब्ध नहीं हुए। पाटलिपुत्र, उज्जयिनी आदि किसी भी प्राचीन नगरी में गुप्त-सम्राटो व उनके सामंत राजाओं या धनी पुरुषों के महलो के कोई खण्डहर अभी तक नही पाए गए। पर अमरावती, नागार्जुनी-कोंड और अजंता की गुफाओ में विद्यमान विविध चित्रों व प्रतिमाओं में प्राचीन राजप्रासादों को भी चित्रित किया गया है। इस काल के साहित्य मे भी सुन्दर प्रासादो के वर्णन हैं, जिनसे सूचित होता है, कि गुप्तकाल के भवन बहुत विशाल और मनोरम होते थे।

सौभाग्यवश, गुप्तकाल के अनेक स्तूप, विहार, मन्दिर और गुफाएँ अब तक भी विद्यमान है, यद्यपि ये भग्न दशा मे हैं। गुप्तकाल मे पौराणिक धर्म प्रधान था। यही कारण है, कि इस युग में वैष्णव, शैव और सूर्य देवताओ के बहुत-से मंदिर बनाये गए। अब तक गुप्त युग के जो पौराणिक मंदिर मिले हैं, उनमे सर्वप्रधान निम्नलिखित हैं—

(१) मध्यप्रदेश के नागोद क्षेत्र मे भूमरा नामक स्थान पर प्राचीन समय का एक शिवमंदिर है। अब यह बहुत भग्न दशा में है। इसका केवल चबूतरा और गर्भगृह ही अब सुरक्षित दशा मे है। चबूतरा प्रदक्षिणापथ के काम मे आता था। मंदिर के गर्भगृह में एकमुख शिवलिंग की मूर्ति स्थापित है, जो मूर्तिकला का एक अत्यन्त सुन्दर उदाहरण है। मंदिर के द्वार-स्तम्भ के दाँयी ओर गंगा और बाँयी ओर यमुना की मूर्तियाँ है। अनेक सुन्दर मूर्तियाँ भी यहाँ प्रस्तर पर उत्कीर्ण हैं।

(२) मध्यप्रदेश के जबलपुर जिले मे तिगवा के समीप गुप्तकाल का एक मंदिर पाया गया है, जो एक टीले पर स्थित है। यह पाँचवी सदी के शुरू मे बना था। इसकी चौखट आदि की कारीगरी बहुत सुन्दर है।

(३) भूमरा से दस मील दूर अजयगढ के समीप नचना-कूथना नामक स्थान पर पार्वती का एक पुराना मन्दिर है। इसकी बनावट भूमरा के मन्दिर के ही समान है।

(४) झाँसी जिले के देवगढ़ नामक स्थान पर गुप्तकाल का दशावतार का

मंदिर है। गुप्त-युग के मन्दिरों में यह सबसे प्रसिद्ध और उत्कृष्ट है। एक ऊँचे चबूतरे पर बीच में मन्दिर बना हुआ है। इसके गर्भगृह में चार द्वार हैं, जिनके प्रस्तरस्तम्भों पर सुन्दर मूर्तियाँ अंकित की गयी हैं। अनंतशायी विष्णु की प्रसिद्ध मूर्ति यहीं पर विद्यमान है, और इस मन्दिर के ऊपर शिखर भी है। भारत के आधुनिक मन्दिरो के ऊपर शिखर अवश्य होता है। पर गुप्त-काल मे शुरू-शुरू मे जो मंदिर बने थे, उनकी छत चपटी होती थी, और ऊपर शिखर नहीं रहता था। गुप्त-काल के समाप्त होने से पूर्व ही मंदिरों पर शिखरों का निर्माण शुरू हो गया था। देवगढ के इस दशावतार के मंदिर का शिखर सम्भवतः भारत मे सबसे पुराना है, और इसी कारण इस मंदिर का बहुत महत्त्व है।

(५) कानपुर के समीप भिटरगाँव में गुप्तकाल का एक विशाल मंदिर अब तक विद्यमान है, जो ईंटों का बना है। ऊपर जिन मंदिरों का उल्लेख किया गया है, वे प्रस्तर-शिलाओं द्वारा निर्मित है। पर भिटरगाँव का यह मंदिर ईंटो का बना है, और उसकी दीवारो का बाहरी अंश मिट्टी के पकाये हुए फलकों से बनाया गया है। इन फलको पर तरह-तरह की चित्रकारी व मूर्तियाँ अंकित की हुई हैं।

(६) महाराष्ट्र के बीजापुर जिले मे अयहोल या ऐहोल नामक स्थान पर एक पुराना मंदिर है, जो गुप्तकाल का है। इसके भी प्रमुख द्वार पर गगा और यमुना की मूर्तियाँ हैं, और इसकी खिडकियाँ नक्काशीदार पत्थर की बनी हैं।

इन के अतिरिक्त मुकन्द-दर्रा (राजस्थान), सांची, एरण (मध्य प्रदेश के सागर जिले में), रामगढ (बिहार), अहिच्छत्र आदि मे गुप्तकाल के अन्य भी अनेक मन्दिर ध्वंसावशेष रूप मे विद्यमान है।

पौराणिक धर्म के साथ सम्बन्ध रखने वाले इन मन्दिरों के अतिरिक्त गुप्तकाल के बौद्ध-धर्म के अनेक स्तूप व विहार भी आजकल विद्यमान है। सारनाथ का धमेख-स्तूप गुप्तकाल मे ही बना था। इसके बाहरी भाग में जो प्रस्तर हैं, वे अनेक प्रकार के चित्रो व प्रतिमाओ से अंकित हैं। चित्रो के बेल व बूंटे बहुत सुन्दर बनाये गये है। सारनाथ मे ही एक प्राचीन विहार के खंडहर मिले है, जो गुप्तकाल के माने जाते हैं। इसी तरह बिहारशरीफ (पटना जिला) के समीप नालंदा मे पुराने विहारों के जो बहुत से खडहर अब उपलब्ध हैं, वे गुप्तकाल के ही समझे जाते हैं।

गुहाभवन—गुप्तकाल के गुहाभवनो में भिलसा के समीप की उदयगिरि की गुहा सबसे महत्त्व की है। यही पर विष्णु के वाराह-अवतार की विशाल प्रतिमा खडी है, जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। उदयगिरि की इस गुहा के द्वार-स्तम्भों तथा अन्य दीवारों पर भी बहुत-सी प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं। अजंता की विश्वविख्यात गुफाओं में से भी कम-से-कम तीन गुप्तकाल मे बनी थी। अजंता में छोटी-बडी कुल उनतीस गुहाएँ हैं। इनके दो भेद हैं, स्तूपगुहा और विहारगुहा। स्तूपगुहाओं मे केवल उपासना की जाती थी। ये लम्बाई मे अधिक हैं, और इनके आखिरी सिरे पर एक स्तूप होता है, जिसके चारों ओर प्रदक्षिणा करने की जगह रहती है। विहारगुहाओं मे भिक्षुओं के रहने और पढने-लिखने के लिए भी जगह बनाई गयी है। इन गुफाओ को पहाड़ काट कर बनाया गया है। बाहर से देखने पर पहाड़ ही दृष्टिगोचर होता है, पर अंदर

विशाल भवन बने हैं, जिनकी रचना पहाड काटकर की गयी है। गुप्तकाल मे बनी १६ नं० की गुहा ६५ फीट लम्बी और इतनी ही चौडी है। इसमे रहने के छः कमरे हैं, और कुल मिलाकर सोलह स्तम्भ हैं। १७ नं० की गुहा भी आकार में इतनी ही बड़ी है। अजन्ता के अतिरिक्त एलोरा, बाघ और मन्दारगिरि आदि के गुहाभवनों में से भी कतिपय का निर्माण गुप्तयुग मे हुआ था।

(४) चित्रकला

गुप्तकाल की चित्रकला के सबसे उत्तम अवशेष अजता की गुहाओं मे विद्यमान है। ऊपर अजंता की नं० १६ और नं० १७ की जिन गुहाओं का उल्लेख हुआ है, उनकी दीवारो पर बडे सुन्दर चित्र बने हुए है, जो कला की दृष्टि से अनुपम हैं। न० १६ की गुहा में चित्रित एक चित्र मे रात्रि के समय कुमार सिद्धार्थ गृहत्याग कर रहे हैं। यशोधरा और उनके साथ शिशु राहुल सोये हुए हैं। समीप मे परिचारिकाएँ भी गहरी नीद मे सो रही है। सिद्धार्थ इन सब पर अंतिम दृष्टि डाल रहे है। उस दृष्टि मे मोह-ममता नही है, इन सबके प्रति निर्मोहबुद्धि उस दृष्टि की विशेषता है, जिसे चित्रित करने मे चित्रकार को अपूर्व सफलता हुई है। १६वी गुहा के एक अन्य चित्र मे एक मरणासन्न कुमारी का चित्र अंकित है, जिसकी रक्षा के सब प्रयत्न व्यर्थ हो चुके हैं। मरणासन्न राजकुमारी की दशा और समीप के लोगो की विकलता को इस चित्र मे बडी सुन्दरता के साथ प्रकट किया गया है। १७वी गुहा मे माता-पुत्र का एक प्रसिद्ध चित्र है। सम्भवतः, यह चित्र यशोधरा का है, जो अपने पुत्र राहुल को बुद्ध के अर्पण कर रही है। बुद्ध हो जाने के बाद सिद्धार्थ एक बार फिर कपिलवस्तु गये थे। जब वे भिक्षा माँगते हुए यशोधरा के घर गये, तो उसने राहुल को उनकी भेंट किया। उसी दृश्य को इस चित्र में प्रदर्शित किया गया है। माता यशोधरा के मुख पर जो आग्रह और विवशता का भाव है, वह सचमुच अनुपम है। बालक राहुल के मुख पर भी आत्म-समर्पण का भाव बडे सुन्दर रूप मे अंकित है।

इसी गुहा मे एक अन्य चित्र एक राजकीय जलूम का है, जिसमे बहुत-से आदमी अनुपम रूप से सज-धज कर जा रहे है। किसी के हाथ मे ऊँचा छत्र है, किसी के हाथ मे बजाने की शृंगी। स्त्रियो के शरीर पर सुन्दर आभूषण है, और उनके वस्त्र इतने महीन है, कि सारा शरीर दिखाई पडता है। इस गुहा के अनेक चित्र जातक ग्रन्थो के कथानको को दृष्टि मे रखकर बनाये गये हैं। वेस्सतर जातक के अनुसार बनाये गये एक चित्र मे एक वानप्रस्थ राजकुमार से एक याचक ब्राह्मण उनके एकमात्र अल्पवयस्क पुत्र को माँग लेता है। वचनबद्ध राजकुमार अपने पुत्र को सहर्ष दे देता है। चित्र का ब्राह्मण बहुत क्षीणकाय है, उसके दाँत बाहर निकले हुए हैं। तपस्वी राजकुमार बिना किसी क्षोभ व दुःख के अपने बालक को देने के लिए उद्यत है, और बालक का शरीर अतीव हृष्टपुष्ट और सुन्दर है। एक अन्य चित्र मे चार दिव्य गायक प्रदर्शित किये गये है, जिनकी गान मे तल्लीनता देखते ही बनती है। अजन्ता की नं० १७ की गुहा मे इसी तरह के बहुत-से चित्र हैं, जिन्हें देखते हुए मनुष्य कभी तृप्त नहीं होता।

वे दर्शक को एक कल्पनामयी मधुर दुनिया मे ले जाते हैं, जहाँ पहुँचकर मनुष्य अपने को पूर्णतया भूल जाता है।

अजन्ता के समान ही ग्वालियर के अमझेरा क्षेत्र मे बाघ नामक स्थान पर अनेक गुहामन्दिर मिले हैं, जो विंध्याचल की पहाड़ियों को काटकर बनाये गये हैं। इन्हें गुप्तकाल के अन्तिम भाग का माना जाता है। इनमें भी अजन्ता के समान ही बड़ी सुन्दर चित्रकारी की गयी है। इन गुहाओं की संख्या नौ है। इनमे से चौथी गुहा रंग-महल कहाती है। इस समय इसके बहुत-से चित्र नष्ट हो चुके हैं। विशेषतया छत के चित्र तो बिल्कुल ही मिट गये हैं। इस रंगमहल तथा पाँचवी गुहा मे कुल मिलाकर छः चित्र इस समय सुरक्षित हैं, जो सौन्दर्य और कला की दृष्टि से अजन्ता के चित्रों से किसी भी प्रकार कम नहीं हैं।

गुप्तकाल के साहित्यिक ग्रन्थो में भी चित्रलेखन का अनेक-स्थानो पर उल्लेख आता है। कवि विशाखदत्त-रचित मुद्राराक्षस मे आचार्य चाणक्य द्वारा नियुक्त जिस गुप्तचर को अमात्य राक्षस की मुद्रा उपलब्ध हुई थी, वह यमराज का पट फैलाकर भिक्षा माँग रहा था। इस पट पर यमराज का चित्र अंकित था। अजन्ता के गुहाचित्रों मे एक ऐसा भी है, जिसमे क्षपणको का एक दल चित्रपट हाथ मे लिए भीख माँगता फिर रहा है। ये क्षपणक नगे है, और हाथ मे चित्रपट लिये हुए है। गुप्तकाल मे क्षपणको का एक ऐसा सम्प्रदाय था, जो इस तरह भिक्षा माँगा करता था। पर उस युग में चित्र केवल दीवारो पर ही नही बनाये जाते थे, अपितु कपडे पर भी अनेक प्रकार के चित्र चित्रित किये जाते थे, यह इससे अवश्य सूचित होता है। कालिदास के काव्यों को पढने से ज्ञात होता है, कि उस युग में प्रेमी और प्रेयसी एक दूसरे के चित्रों को बनाते थे, और विवाह-सम्बन्ध स्थिर करने से पूर्व चित्रों को भी देखा जाता था। कालिदास ने चित्र की कल्पना तथा उन्मीलन (रंग भरना) का उल्लेख अनेक स्थानों पर किया है।

गुप्तकाल मे चित्रकला इतनी अधिक उन्नति कर चुकी थी, कि बृहत्तर भारत के विविध उपनिवेशों मे भी अनेक गुहाचित्र व रेशमी कपडे आदि पर बनाये हुए ऐसे चित्र मिले है, जो इसी काल के है, और उसी शैली के है, जो भारत मे प्रचलित थी। भारत के ही चित्रकारों ने सुदूर देशो मे जाकर अपनी कला के चमत्कार दिखाये थे।

(५) संगीत

समृद्धि और वैभव के इस युग में संगीत, अभिनय आदि का भी लोगो को शौक था। गुप्त-सम्राट् स्वयं संगीत के बड़े प्रेमी थे। इसीलिये समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य जैसे प्रतापी सम्राटों ने अपने कुछ सिक्के ऐसे भी जारी किये, जिनमें वे वीणा या अन्य वाद्य का रसास्वादन कर रहे हैं। बाघ गुहामन्दिरों के एक चित्र में नृत्य करने वाली दो मण्डलियाँ दिखाई गयी हैं। प्रथम मण्डली में एक नर्तक नाच रहा है, और सात स्त्रियों ने उसे घर रखा है। इनमें से एक स्त्री मृदंग, तीन झाँझ

और बाकी तीन कोई अन्य बाजा बजा रही हैं। दूसरी मण्डली के मध्य में भी एक नर्त्तक नाच रहा है, और छः स्त्रियाँ विविध बाजे बजा रही हैं। सारनाथ में प्राप्त एक प्रस्तरखण्ड पर भी ऐसा ही दृश्य उत्कीर्ण है। इसमें नृत्य करने वाली भी स्त्री है, और बाजा बजाने वाली भी स्त्रियाँ हैं। इन चित्रों को देखकर इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि गुप्तकाल मे संगीत और नृत्य का बडा प्रचार था। इसी काल में कालिदास, विशाखदत्त आदि अनेक कवियों ने अपने नाटक लिखे। ये जहाँ काव्य की दृष्टि से अनुपम हैं, वहाँ अभिनयकला की दृष्टि से भी अत्यन्त सुन्दर और निर्दोष हैं। ये नाटक जहाँ स्वयं इस काल के संगीत और अभिनयकला के उत्कृष्ट प्रमाण हैं, वहाँ इनके अन्दर भी नृत्य, गायन और अभिनय का जगह-जगह उल्लेख किया गया है।

सत्रहवाँ अध्याय

भारतीय सभ्यता और धर्म का विदेशों में विस्तार

(१) बृहत्तर भारत का विकास

भारत के प्राचीन इतिहास मे 'बृहत्तर भारत' का बहुत अधिक महत्त्व है। सम्राट् अशोक के समय मे आचार्य मोद्गलिपुत्र तिष्य के नेतृत्व मे बौद्ध-धर्म के विदेशों मे प्रचार का जो प्रयत्न हुआ था, आगे चलकर उसे बहुत सफलता मिली। तीसरी सदी ई० पू० में बौद्ध-धर्म की तीसरी संगीति (महासभा) द्वारा जिस बीज का आरोपण किया गया था, सात सदियो मे (पाँचवी सदी ई० प० तक) वह एक विशाल वृक्ष के रूप मे विकसित हो गया था, और उसकी शाखाएँ पश्चिम मे ईरान से लेकर पूर्व मे इण्डोनेशिया और जापान तक, और उत्तर में साइबेरिया की सीमा से दक्षिण मे सिंहल द्वीप तक फैल गयी थी। इसमे सन्देह नही, कि भारतीय सभ्यता और धर्म के विदेशों में प्रसार-कार्य मे सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य बौद्ध लोगो ने किया था। पर उनका अनुसरण कर वैष्णव और शैव धर्मों के प्रचारक भी अन्य देशों मे गये, और वहाँ उन्होंने अपने धर्म की विजयपताका फहराई। भारत के प्राचीन निवासी समुद्रयात्रा को पाप नही समझते थे। वे प्रधानतया तीन प्रयोजनो से विदेश-यात्रा करते थे—(१) व्यापार के लिए, (२) धर्मप्रचार के लिए, और (३) उपनिवेश बसाने के लिए।

व्यापार—प्राचीन समय मे पृथिवी के जिन प्रदेशो मे सभ्य जातियो का निवास था, भारत की स्थिति उनके ठीक मध्य में है। चीन, भारत, ईरान और ग्रीस प्राचीन काल मे सभ्यता के मुख्य केन्द्र थे। भारत के व्यापारी पूर्व मे चीन से शुरू कर पश्चिम में सिकन्दरिया (नील नदी के मुहाने पर स्थित अलेग्जेण्ड्रिया नगरी) तक व्यापार के लिए आया-जाया करते थे। भारतीयों का ख्याल था, कि बरमा, मलाया आदि धन-धान्य से परिपूर्ण हैं, और वहाँ सोने की खाने भी हैं, अतः अनेक महत्त्वाकाक्षी व साहसी युवक इन प्रदेशों में धन कमाने के उद्देश्य से जाया करते थे, और इन प्रदेशो का नाम ही 'सुवर्णभूमि' पड़ गया था। जातक-ग्रन्थो मे अनेक ऐसी कथाएँ आती हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि भारतीय लोग इन प्रदेशों की यात्रा कर धन कमाने के लिए बहुत उत्सुक रहते थे। एक जातक-कथा के अनुसार विदेह का राजा लड़ाई में मारा गया, था और उसकी रानी चम्पा चली गयी थी। उसका कुमार जब बडा हुआ, तो उसने माँ से कहा—"अपने कोश का आधा मुझे दे दे, मैं सुवर्णभूमि जाऊँगा। वहाँ खूब धन कमाऊँगा और फिर बाप-दादा के धन को लौटा दूंगा।" एक अन्य जातक कथा के अनुसार वाराणसी के समीप के एक वर्धकि-ग्राम के हजार परिवारों ने जंगल काटकर जहाज बनाये, और गंगा से होकर समुद्र पहुँचे, और उसे पार कर सुवर्णभूमि चले गये।

इसी प्रकार की कथाएँ बृहत्कथा और जैन-ग्रन्थों मे भी पायी जाती हैं। भारत के ये साहसी व सभ्य व्यापारी विदेशों में जहाँ कहीं जाते, वहाँ के निवासियों को अपनी संस्कृति मे लाने का प्रयत्न करते। दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध प्रदेशों मे न केवल भारतीय राजाओं के ही शिलालेख मिलते हैं, अपितु अनेक व्यापारियों द्वारा उत्कीर्ण कराये हुए लेखो की भी वहाँ से प्राप्ति हुई है। इस प्रकार का एक लेख मलाया के वेल्जली जिले में मिला है, जिसे चौथी सदी में बुधगुप्त नाम के नाविक ने लिखवाया था।

धर्म-प्रचार—भारत के बहुत-से बौद्ध भिक्षु और धर्माचार्य केवल धर्म-प्रचार के पुनीत उद्देश्य को सम्मुख रखकर विदेशो में गये। सारनाथ मे धर्मचक्र का प्रवर्त्तन करते समय महात्मा बुद्ध ने अपने शिष्यो को जो उपदेश दिया था, कि "भिक्षुओ! बहुत जनो के हित के लिए, लोक पर दया करने के लिए...विचरण करो, एक साथ दो मत जाओ', भिक्षुओ ने उसका उत्साहपूर्वक पालन किया। हिमालय और हिन्दूकुश की पर्वतमालाओं को लाँघकर और समुद्र को पार कर वे सुदूर देशों मे गये, और बुद्ध के अष्टांगिक आर्य मार्ग का उन्होंने सर्वत्र प्रचार किया। बौद्धों के धर्म-प्रचार का यह परिणाम हुआ, कि चीन, जापान, इण्डोनेशिया, विएत-नाम, बर्मा, सियाम, अफगानिस्तान, लंका, तुर्किस्तान आदि सब देश भारतीय संस्कृति के प्रभाव मे आ गये। शुंग, भारशिव और गुप्त-वंशों के शासनकाल मे जब भागवत और शैव धर्मों का पुनरुत्थान हुआ, तो इन धर्मों के आचार्यो ने भी बौद्ध भिक्षुओं का अनुसरण किया, और वे भी समुद्र पार कर पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया मे अपने-अपने धर्मों का प्रचार करने के लिए गए। जैन मुनि भी बौद्ध भिक्षुओ के समान विदेशो मे जाते थे, और तीर्थंकर महावीर की शिक्षाओं का वहाँ प्रचार करते थे। भारतीय धर्मों का विदेशो मे प्रचार होने के साथ-साथ इस देश की भाषा, साहित्य और संस्कृति का भी वहाँ प्रचार हुआ।

उपनिवेश—साहसी भारतीय युवक उपनिवेश बसाने के लिए भी बड़ी संख्या मे प्रवास किया करते थे। अशोक के अन्यतम पुत्र कुस्तन द्वारा खोतन मे भारतीय बस्ती बसाये जाने की बात तिब्बत की ऐतिहासिक अनुश्रुति में विद्यमान है। कौण्डिन्य नामक ब्राह्मण के नेतृत्व मे बहुत से भारतीय सुवर्णभूमि गए थे, और वहाँ उन्होंने उस उपनिवेश की स्थापना की थी, जो चीनी इतिहास मे फूनान नाम से प्रसिद्ध था। दक्षिण-पूर्वी एशिया के कम्बोज, चम्पा आदि कितने ही उपनिवेशों की स्थापना भारतीयों द्वारा ही की गयी थी।

व्यापार, धर्म-प्रचार और उपनिवेश-स्थापना—इन तीन प्रयोजनो से धीरे-धीरे भारत का एक विशाल सांस्कृतिक साम्राज्य स्थापित हुआ, जिसे स्थूल रूप से 'बृहत्तर भारत' कहा जाता है। इस बृहत्तर भारत को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—दक्षिण-पूर्वी एशिया का क्षेत्र और उपरला भारत। दक्षिण-पूर्वी एशिया के क्षेत्र के बृहत्तर भारत में बर्मा, मलाया, सियाम, विएतनाम, इण्डोनेशिया (जावा, सुमात्रा, बाली आदि) और समीप के द्वीपो को सम्मिलित किया जाता है। उपरले या उत्तर-पश्चिमी भारत में अफगानिस्तान और मध्य एशिया अन्तर्गत थे। इन प्रदेशो का धर्म और संस्कृति प्रायः भारतीय ही थे, और ऐतिहासिक दृष्टि से इन्हे भारत का ही अंग समझा जा सकता है। पर सांस्कृतिक प्रभाव की दृष्टि से चीन, तिब्बत और मंगोलिया

भी भारत के धार्मिक या सांस्कृतिक साम्राज्य मे सम्मिलित थे, और क्रिश्चिएनिटी तथा इस्लाम के प्रसार से पूर्व ईरान, ईराक आदि पश्चिमी एशिया के देश भी भारतीय सांस्कृतिक प्रभाव से अछूते नही रहे थे।

(२) दक्षिण-पूर्वी एशिया का बृहत्तर भारत

बर्मा—प्राचीन भारतीय लोग दक्षिण-पूर्वी एशिया के जिस भाग को 'सुवर्ण-भूमि' कहते थे, दक्षिणी बर्मा भी उसका अंग था। अशोक के समय में स्थविर उत्तर और सोण इस प्रदेश में बौद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिए गये थे। पाँचवी सदी ईस्वी तक दक्षिणी बर्मा मे बौद्ध-धर्म का भली-भाँति प्रचार हो चुका था। वर्त्तमान प्रोम से पाँच मील दक्षिण में प्यू जाति की राजधानी श्रीक्षेत्र थी, जिसके अवशेष ह्मावजा नामक स्थान पर विद्यमान हैं। ह्मावजा के समीप मौमेंगन नामक गाँव मे सुवर्णपत्र पर उत्कीर्ण दो लेख मिले हैं, जिनमे कदम्ब लिपि और पाली भाषा मे बुद्ध के वचन लिखे गये हैं। ह्मावजा के अवशेषो मे न केवल भग्न दशा मे शिलालेख ही मिले हैं, अपितु एक पोथी भी प्राप्त हुई है, जो पाली भाषा मे है। पुरातत्त्व-सम्बन्धी ये अवशेष इस बात के ठोस प्रमाण हैं, कि पाँचवी सदी तक दक्षिणी बर्मा भारत के धर्म, भाषा और लिपि को अपना चुका था। बाद मे बौद्ध-धर्म का और अधिक प्रचार हुआ, और धीरे-धीरे बर्मा पूर्णतया बौद्धधर्म का अनुयायी हो गया।

फूनान—विएतनाम के पश्चिम मे स्थित कम्बोडिया राज्य मे प्राचीन समय मे एक भारतीय राज्य की सत्ता थी, जिसका नाम फूनान था। वहाँ के मूल निवासी असभ्य और जगली थे। ईसा की पहली सदी मे जावा से जाकर कुछ भारतीय वहाँ बसे, और उन्होने वहाँ सभ्यता का सूत्रपात किया। फूनान मे पहला राज्य-सस्थापक राजा कौण्डिन्य नाम का एक ब्राह्मण था। उसने वहाँ के मूल निवासियो की रानी सोमा के साथ विवाह कर एक नये राजवश की स्थापना की। कौण्डिन्य अकेला फूनान नही गया था, उसके साथ अन्य भी बहुत-से भारतीय वहाँ जाकर बसे थे जो सदा के लिए अपनी मातृभूमि को प्रणाम कर फूनान मे बस गये थे।

कौण्डिन्य के बाद के राजा फान्-चे-मन् (मृत्युकाल २२५ ईस्वी) ने फूनान राज्य का बहुत विस्तार किया, और मलाया तक के प्रदेश को जीत लिया। २४० ई० प० के लगभग फूनान के राजदूत भारत आये थे, और पाटलिपुत्र के मुलुन (मुरुण्ड) राजा के दरबार मे गये थे। कनिष्क के समय मे पाटलिपुत्र पर कुशाणों अधिकार हो गया था और वहाँ जो क्षत्रप शासन करते थे, वे शक-मुरुण्ड कहाते थे। पाँचवी सदी के मध्यभाग में फूनान का राजा जयवर्मा था, जो कौण्डिन्य का वंशज था। ४८४ ईस्वी में जयवर्मा ने नागसेन नाम के भिक्षु को चीन के दरबार मे अपना राजदूत बनाकर भेजा था। ५१४ ईस्वी मे जयवर्मा की मृत्यु हुई। अब उसका पुत्र रुद्रवर्मा फूनान का राजा बना। ५३९ ईस्वी मे उसने भी अपना राजदूत चीन के सम्राट् की सेवा में भेजा। फूनान के राजाओं का चीन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था, इसीलिए चीन की ऐतिहासिक अनुश्रुति से उनके सम्बन्ध मे बहुत-सी बातें ज्ञात होती हैं।

फूनान के राजा शैव धर्म के अनुयायी थे, और उनकी भाषा संस्कृत थी।

जयवर्मा की रानी का नाम कुलप्रभावती था। रानी कुलप्रभावती और उसके पुत्र रुद्रवर्मा द्वारा उत्कीर्ण कराये हुए अनेक शिलालेख इस समय उपलब्ध होते हैं। ये लेख शुद्ध संस्कृत भाषा में है, और इनके अध्ययन से ज्ञात होता है, कि पाँचवी-छठी सदियों के फूनान मे शैव धर्म के साथ-साथ वैष्णव और बौद्ध-धर्मों का भी प्रचार था। बौद्ध-धर्म की सत्ता के प्रमाणस्वरूप अनेक उत्कीर्ण लेख भी इस प्रदेश से उपलब्ध हुए है, जिनमे विविध स्तूपो के निर्माण का उल्लेख है।

कौण्डिन्य द्वारा स्थापित राजवंश फूनान में छठी सदी के मध्य तक कायम रहा। राजा रुद्रवर्मा के बाद वहाँ अशांति फैल गयी, और समीप के कम्बुज राज्य के राजा (जो पहले फूनान की अधीनता स्वीकृत करते थे) ने उसे अपने अधीन कर लिया।

कम्बुज राज्य—यह राज्य वर्तमान कम्बोडिया के उत्तरी भाग मे स्थित था। यह भी भारतीयो का ही एक उपनिवेश था, और शुरू मे फूनान के राज्य के अन्तर्गत था। जिस राजा ने फूनान के राजा रुद्रवर्मा को परास्त कर कम्बुज के उत्कर्ष का प्रारम्भ किया उसका नाम भववर्मा था। फूनान को परास्त कर उसने जो अमित सम्पत्ति प्राप्त की थी, वही उसके वंश के उत्कर्ष मे सहायक हुई। सियाम के सीमान्त पर एक शिवलिङ्ग मिला है, जिसकी पीठिका पर यह लेख उत्कीर्ण है—"धनुष के पराक्रम से जीती निधियो को प्रदान कर उभय लोक कर-धारी राजा श्री भववर्मा ने त्र्यम्बक के इस लिङ्ग की प्रतिष्ठा की।" इसी सयय का एक अन्य लेख मिला है, जो इस प्रकार है—"वह श्री भववर्मा की भगिनी तथा श्री वीरवर्मा की पुत्री थी, जो अपने पति और धर्म की भक्ति मे दूसरी अरुन्धती थी। उसी हिरण्यवर्मा की माता को जिसने पत्नी के रूप मे ग्रहण किया, उस ब्राह्मणो मे सोमसमान स्वामी···सामवेदवित् अग्रणी श्री सोमशर्मा ने पूजा विधि और अतुलदान के साथ सूर्य और त्रिभुवनेश्वर की प्रतिष्ठा की। प्रतिदिन अखण्ड पाठ के लिए उसने रामायण और पुराण के साथ सम्पूर्ण (महा) भारत को प्रदान किया।" ये लेख यह समझने के लिए पर्याप्त हैं, कि छठी सदी मे कम्बुज देश की संस्कृति और धर्म का क्या स्वरूप था। उस युग मे यह प्रदेश पूर्ण-रूप से भारतीय था, और वहाँ के राजा एक भारतीय धर्म (शैव धर्म) के अनुयायी थे। भववर्मा के बाद महेन्द्रवर्मा कम्बुज राज्य का स्वामी बना। उसके एक शिलालेख मे 'शिवपद' के दान का वर्णन है। भारत मे विष्णुपद की पूजा तो अब तक होती है, गया मे विष्णुपद विद्यमान भी है, पर 'शिवपद' की पूजा नही होती। परन्तु वर्तमान कम्बो-डिया मे सातवी सदी मे शिवपद की पूजा भी प्रचलित थी, और राजा महेन्द्रवर्मा ने उसकी प्रतिष्ठा कर एक शिलालेख उत्कीर्ण कराया था।

महेन्द्रवर्मा के बाद ईशानवर्मा कम्बुज राज्य के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। उसकी राजधानी का नाम 'ईशानपुर' था, जिसकी स्थापना सम्भवत: उसी ने अपने नाम पर की थी। वह भारत के सम्राट् हर्षवर्धन का समकालीन था, और उसने ६१६ ईस्वी में अपना एक दूतमण्डल चीन भेजा था। चीन की ऐतिहासिक अनुश्रुति मे इस राजा का उल्लेख है। ईशानवर्मा के उत्तराधिकारियो के शासन-काल के भी अनेक उत्कीर्ण लेख कम्बोडिया से उपलब्ध हुए है, जिनमे शकाब्द का प्रयोग किया गया है। भारत के समान कम्बुज के प्राचीन लेखों में भी शकाब्द का प्रयोग इस बात का स्पष्ट

प्रमाण है, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के सुदूरवर्ती इस राज्य का भारत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था, और कम्बुज न केवल धर्म, भाषा और संस्कृति की दृष्टि से ही भारतीय था, अपितु वहाँ की ऐतिहासिक परम्परा भी भारतीय थी।

सातवीं सदी में जावा (यवद्वीप) के शैलेन्द्रवंशी राजाओं ने अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए कम्बुज पर भी आक्रमण किया, और उसे जीतकर अपने अधीन कर लिया। पर कम्बुज देर तक शैलेन्द्र-साम्राज्य की अधीनता में नहीं रहा। नवीं सदी के प्रारम्भ (८०२ ईस्वी) मे वहाँ एक ऐसे वीर पुरुष का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने एक बार फिर कम्बुज को स्वतन्त्र किया। इस वीर पुरुष का नाम जयवर्मा था। इसके शासन-काल से कम्बुज राज्य के सुवर्ण-युग का प्रारम्भ हुआ, और इस देश ने बहुत उन्नति की। जयवर्मा के साथ सम्बन्ध रखने वाले अनेक शिलालेख कम्बुज मे उपलब्ध हुए हैं, और उनसे उसकी कीर्ति, वीरता और समृद्धि का भली-भाँति परिचय मिलता है।

जयवर्मा के बाद उसके पुत्र जयवर्धन (८६९–८७७) ने और फिर इन्द्रवर्मा (८७७–८८९) ने कम्बुज का शासन किया। इन्द्रवर्मा के बाद उसका पुत्र यशोवर्मा (८८९–९०९) कम्बुज का राजा बना। इन्द्रवर्मा बडा प्रतापी राजा था। उसने पूर्व की ओर आक्रमण कर चम्पा के राज्य को जीत लिया। इस विजय से कम्बुज की शक्ति बहुत बढ गयी। कम्बोडिया में संस्कृत भाषा के बहुत-से शिलालेख उपलब्ध हुए हैं, जो इन राजाओ द्वारा उत्कीर्ण कराये गये थे। इनको पढने से ज्ञात होता है, कि कम्बुज देश मे इन सदियों में संस्कृत की वही स्थिति थी, जो भारत मे थी। समुद्रगुप्त और रुद्रदामा की प्रशस्तियों के समान कम्बुज देश के ये शिलालेख भी संस्कृत की साहित्यिक शैली के उत्कृष्ट उदाहरण है।

तेरहवीं सदी के अन्त तक कम्बुज के भारतीय उपनिवेश की स्वतन्त्रता कायम रही। मंगोल सम्राट् कुबले खाँ ने १२९६ मे उसे जीतकर अपने अधीन कर लिया, और तब उसकी स्वतन्त्र सत्ता का अन्त हुआ।

कम्बुज भारतीय संस्कृति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। शिव, विष्णु, दुर्गा आदि पौराणिक देवी-देवताओ की वहाँ पूजा हुआ करती थी। वेद, पुराण, रामायण, महाभारत आदि का वहाँ उसी प्रकार अध्ययन होता था, जैसा कि भारत में। राजा ईशानवर्मा ने कम्बुज मे अनेक आश्रम बनवाये। जैसे बौद्ध-धर्म के मठ विहार कहाते थे, वैसे ही पौराणिक धर्म के मठों को आश्रम कहते थे। इनमें संन्यासी लोग निवास करते थे, और बौद्ध भिक्षुओ की तरह धर्म प्रचार, विद्याध्ययन तथा शिक्षण कार्य में व्यापृत रहते थे। राजा ईशान वर्मा के समय मे ही कम्बुज मे शिव (हर) और विष्णु (हरि) की सम्मिलित मूर्ति बनाई गयी। इससे सूचित होता है, कि कम्बुज देश के शैव और वैष्णव शिव और विष्णु मे अभेद और अविरोध मानते थे। नवीं सदी मे कम्बुज का राजा यशोवर्मा था। उसने यशोधरपुर नाम से अपनी नयी राजधानी बनायी थी। उसके भग्नावशेष अंगकोरथोम में उपलब्ध हैं। इस नगरी के चारों ओर ३३० फीट चौड़ी खाई है, जिसके भीतर की ओर एक विशाल प्राचीर बनी हुई है। नगर वर्गाकार है, जिसकी प्रत्येक भुजा लम्बाई में दो मील से भी अधिक है। नगर के महाद्वार विशाल व सुन्दर हैं। इनके दोनों ओर रक्षकों के लिए मकान बने हैं। तीन सिर वाले विशाल

हाथी द्वारों की मीनारों को अपनी पीठ पर थामे हुए हैं। सौ फीट चौडे और मील भर लम्बे पाँच राजमार्ग द्वारो से नगर के मध्य तक गये हैं। पक्की चिनाई के भिन्न-भिन्न आकृतिवाले अनेक सरोवर अब तक भी अंगकोरथोम के खण्डहरों में विद्यमान हैं। नगर के ठीक बीच मे शिव का एक विशाल मन्दिर है। इसके तीन खण्ड हैं। प्रत्येक खण्ड पर एक-एक ऊँची मीनार है। बीच की मीनार की ऊँचाई भग्न दशा मे भी १५० फीट के लगभग है। ऊँची मीनार के चारो ओर बहुत-सी छोटी-छोटी मीनारें हैं। इनके चारों ओर एक-एक नरमूर्ति बनी हुई है, जो समाधिस्थ शिव की मूर्तियाँ हैं। इस विशाल शिवमन्दिर मे स्थान-स्थान पर सुन्दर चित्रकारी की गयी है। पौराणिक धर्म के किसी मन्दिर के इतने पुराने और विशाल अवशेष भारत मे कही उपलब्ध नही होते। बारहवी सदी के पूर्वार्ध मे कम्बुज देश का राजा सूर्यवर्मा द्वितीय था। उसने एक विशाल विष्णु मन्दिर का निर्माण कराया, जो अंगकोर वात के रूप मे अब तक भी विद्यमान है। इसके चारो ओर की खाई की चौडाई ७०० फीट है। झील के समान चौडी इस खाई को पार करने के लिए पश्चिम की ओर एक पुल बना है। पुल पार करने पर एक विशाल द्वार आता है, जिसकी चौडाई १००० फीट से भी अधिक है। खाई और महाद्वार को पार करने पर जो मन्दिर है, वह भी बहुत विशाल है।

अगकोरथोम और अगकोरवात के अतिरिक्त अन्य भी बहुत-से प्राचीन अवशेष कम्बोडिया मे विद्यमान है, जो प्राय भग्न मन्दिरों, शीर्ण राजप्रासादो और उजडी हुई नगरियों के रूप मे है। ये सब अवशेष जिस युग के स्मारक है, उसमे कम्बोडिया पूर्ण रूप से भारतीय उपनिवेश था, और उसकी भाषा, धर्म, संस्कृति आदि सब भारतीय थे। इस देश के धर्म मे पहले पौराणिक हिन्दू-धर्म की प्रधानता थी, पर बाद मे उस का ह्रास होकर बौद्ध-धर्म का जोर बढ गया।

चम्पा—विएत-नाम के क्षेत्र मे भारत का सबसे पुराना उपनिवेश चम्पा था। यह ईस्वी सन् के प्रारम्भिक भाग मे स्थापित हुआ था। चीनी ऐतिहासिक अनुश्रुति के अनुसार चम्पा की स्थापना १९२ ईस्वी के लगभग हुई थी। इस उपनिवेश की स्थिति कम्बोडिया (कम्बुज) के पूर्व मे और विएत-नाम के दक्षिणी भाग मे थी। चम्पा का पहला भारतीय राजा श्रीमार था। इसका समय दूसरी सदी ई० प० के अन्तिम भाग मे था। श्रीमार और उसके उत्तराधिकारी विशुद्ध भारतीय राजा थे। उनकी भाषा सस्कृत थी, और उनका धर्म शैव था। इन राजाओं द्वारा उत्कीर्ण कराये हुए संस्कृत भाषा के अनेक शिलालेख दक्षिणी विएत-नाम में उपलब्ध हुए है।

चीनी ऐतिहासिक अनुश्रुति से ज्ञात होता है, कि फनवेन नाम के चम्पा के एक भारतीय राजा ने ३४० ई० में चीन के सम्राट् के पास एक राजदूत भेजा था। उसने अपने दूत से यह कहलवाया कि चीन और चम्पा के राज्यो के बीच की सीमा होन-सोन पर्वतमाला को निश्चित कर दिया जाय। इस नई सीमा के अनुसार-न्हुत नाम का उपजाऊ प्रदेश चम्पा के राज्य मे सम्मिलित हो जाता था। चीनी सम्राट् इसके लिए तैयार नही हुआ। इसपर ३४७ ई० मे फनवेन ने चीन पर आक्रमण कर दिया, और न्हुत-नाम को जीतकर चम्पा के राज्य को होन-सोन पर्वतमाला तक विस्तृत कर दिया। यद्यपि इस युद्ध मे चम्पा के राजा फनवेन की मृत्यु हो गयी, पर उसके प्रयत्नों के

कारण चम्पा का राज्य बहुत समृद्ध तथा शक्तिशाली हो गया। चीन और चम्पा का संघर्ष फनवेन के बाद भी जारी रहा। चम्पा के राजा फन फो (३४६ से ३६० ई० प० तक) के शासनकाल मे चीन अपने खोये हुए प्रदेश (न्हुत-नाम) को पुनः जीत लेने के लिए निरन्तर प्रयत्न करता रहा। यह यत्न फन हुता (३६० से ४१३ ई० प० तक) के समय मे भी जारी रहा।

यह ध्यान मे रखना चाहिए, कि चम्पा के राजाओ के फनवेन आदि जो नाम हमने दिए है, वे चीनी अनुश्रुति के अनुसार हैं। राजा फन-हुता का असली नाम धर्म-महाराज श्री भद्रवर्मा था। इस राजा के अनेक लेख चम्पा में उपलब्ध हुए हैं। श्री भद्रवर्मा वेदो का परम विद्वान् और महापण्डित था। उसने शिव के एक विशाल मन्दिर का निर्माण करवाया, और उसमे भद्रेश्वरस्वामी शिव की मूर्ति की प्रतिष्ठा की। यह मन्दिर चम्पा में धर्म और संस्कृति का केन्द्र बन गया, और इसकी कीर्ति देर तक स्थिर रही। भद्रवर्मा का उत्तराधिकारी गगाराज (४१३ से ४१५ ई० प० तक) था। उसके शासनकाल मे चम्पा मे अव्यवस्था फैल गयी, और वह राजसिंहासन का परित्याग कर गगावास के लिए भारत चला आया। चम्पा के ये राजा धर्म, भाषा, संस्कृति आदि मे पूर्णतया भारतीय थे। वहाँ के अन्यतम एक राजा इन्द्रवर्मा तृतीय (६११-६७२) के एक शिलालेख में उसे षड्दर्शन, बौद्ध-दर्शन, काशिकावृत्ति सहित पाणिनीय व्याकरण, आख्यान तथा शैव उत्तरकल्प का प्रकाण्ड पण्डित कहा गया है। (मीमांसा षट्तर्क जिनेन्द्रर्मिस्सकाशिकाव्याकरणोदकौघ.। आख्यानशैवोत्तरकल्पमीनः पटिष्ठ एतेष्विति सत्कवीनाम् ॥)।

मलाया--दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशो के समान मलाया (मलयद्वीप) मे भी भारतीयों ने अपने अनेक उपनिवेश प्राचीन समय मे स्थापित किये थे। अनुश्रुति के अनुसार पाटलिपुत्र के राजवंश का कोई राजकुमार तीसरी सदी ई० प० मे समुद्रमार्ग द्वारा मलाया गया था, और वहाँ उसने अपना शासन स्थापित किया था। मलाया में इस भारतीय राजकुमार का नाम 'मरोङ्' प्रसिद्ध है। मरोङ् के बाद मलाया मे महापोदिमत (महाबोधिसत्व) और श्रीमहावंश आदि राजा हुए। मरोङ् द्वारा स्थापित भारतीय उपनिवेश का नाम लंकाशुक था। इसके अतिरिक्त अन्य भी अनेक भारतीय राज्य मलाया मे विद्यमान थे। यही कारण है, कि वहाँ बहुत-से ऐसे अवशेष उपलब्ध हुए है, जिनका सम्बन्ध भारतीय धर्म और संस्कृति के साथ है। गनोङ् जिराई के समीप सुँगइबत्न की जमीदारी मे एक हिन्दू मन्दिर के अवशेष और अनेक प्रस्तर-मूर्तियाँ मिली हैं। इसके समीप ही चौथी सदी मे बने एक बौद्ध मन्दिर के अवशेष प्राप्त हुए है, जिनके साथ संस्कृत का एक शिलालेख भी है। मलाया के वेल्जली जिले के उत्तरी भाग में बौद्ध-मन्दिरों के बहुत-से स्तम्भ मिले है, जो उनपर उत्कीर्ण अक्षरों से चौथी-पाँचवी सदी के माने जाते हैं। पेराक राज्य के शलिनसिङ् स्थान से गरुडारूढ विष्णु की मूर्ति प्राप्त हुई है, जिसके साथ सोने का एक आभूषण भी है। प्राचीन युग के ये और इसी प्रकार के अन्य अवशेष इस बात के ठोस प्रमाण हैं, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य प्रदेशो के समान मलाया में भी प्राचीन काल मे भारतीय धर्म, भाषा और संस्कृति का प्रचार था।

सुमात्रा (सुवर्णद्वीप)—हिन्द महासागर के द्वीपों मे भी प्राचीन समय में भारतीयो ने अपने उपनिवेश स्थापित किये थे। इन द्वीपो को आजकल सामूहिक रूप से इण्डोनेशिया कहते हैं। इण्डोनेशिया के अन्तर्गत द्वीपों में सुमात्रा का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसे प्राचीन समय में सुवर्णद्वीप कहते थे, और इसका सबसे पुराना राजनीतिक केन्द्र श्रीविजय था, जो कम्पर नदी के तट पर स्थित था। श्रीविजय की स्थापना चौथी सदी ईस्वी से पहले ही हो चुकी थी। पर सातवी सदी मे इसने बहुत अधिक उन्नति की, और इसके प्रतापी राजाओं ने पडोस के अनेक प्रदेशों को जीतकर अपने अधीन कर लिया। ६८४ ईस्वी मे श्रीविजय के राजसिंहासन पर जयनाग का अधिकार था, जो धर्म से बौद्ध था। ६८६ मे उसने जावा (यवद्वीप) की विजय के लिए सेनाएँ भेजी। श्रीविजय के राजनीतिक इतिहास को यहाँ लिखना उपयोगी नहीं है, पर महत्त्व की बात यह है, कि यह नगर धर्म, संस्कृति और ज्ञान का बडा केन्द्र था। चीनी यात्री इत्सिंग सात साल (६८८ से ६९५ ई० प०) तक यहाँ रहा था, और यही रहकर उसने संस्कृत भाषा का अध्ययन किया था। इत्सिंग के अनुसार चीनी यात्री भारत जाते हुए पहले श्रीविजय रहकर संस्कृत का ज्ञान प्राप्त किया करते थे। संस्कृत के बहुत-से शिलालेख श्रीविजय और सुमात्रा के अन्य स्थानों से उपलब्ध हुए हैं।

जावा (यवद्वीप)—इण्डोनेशिया के अन्तर्गत द्वीपो में जावा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसका प्राचीन नाम यवद्वीप था। दूसरी सदी तक वहाँ भारतीय लोग बस चुके थे। चीनी अनुश्रुति के अनुसार ६५ ई० प० के लगभग भारतीयों ने इस द्वीप में बसना प्रारम्भ किया था। १३२ ईस्वी में जावा का राजा देववर्मा था, जिसने अपना राजदूत चीन के सम्राट् की राजसभा मे भेजा था। पाँचवी सदी के शुरू (४१४ ई० प०) में जब प्रसिद्ध चीनी यात्री फाइयान भारत से चीन लौटा, तो वह मार्ग में यवद्वीप भी ठहरा। फाइयान के यात्रा-विवरण से सूचित होता है, कि इस द्वीप में भारतीय लोग अच्छी बडी संख्या में निवास करते थे, और उनमें से बहुत-से शैव धर्म के अनुयायी थे। फाइयान जिस जहाज से यवद्वीप गया था, उसमें २०० भारतीय व्यापारी भी थे।

पाँचवी सदी मे यवद्वीप व उसके समीपवर्ती अन्य द्वीपो मे बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ। इसका प्रधान श्रेय गुणवर्मा को है। गुणवर्मा का स्थान उन प्रचारकों में बहुत ऊँचा है, जिन्होंने विदेशों में बौद्ध-धर्म का प्रचार किया। तीस वर्ष की आयु में वह लंका गया, और कुछ समय वहाँ रहकर फिर उसने जावा के लिए प्रस्थान किया। जावा की राजमाता शीघ्र ही उसके प्रभाव में आ गयी, और उसने बौद्ध-धर्म को स्वीकार कर लिया। माता की प्रेरणा से जावा के राजा ने भी बौद्ध-धर्म की दीक्षा ली। इसी समय किसी विदेशी सेना ने जावा पर आक्रमण किया। अहिंसा-प्रधान बौद्ध-धर्म के अनुयायी राजा के सम्मुख यह समस्या उपस्थित हुई, कि इस आक्रमण का मुकाबला करने के लिए युद्ध करना चाहिए या नही। इस समस्या का समाधान गुणवर्मा ने किया। उसने कहा कि दस्युओं को नष्ट करना हिंसा नही है, और उनसे

युद्ध करना सबका धर्म है। आक्रमण करने वाली शत्रु-सेनाएँ परास्त हो गयीं, और जावा की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रही। गुणवर्मा की कीर्ति जावा के समीप के सब भारतीय उपनिवेशों में फैल गयी थी। चीन में भी उसके ज्ञान और गुण का यश पहुँच गया था। चीनी भिक्षुओं ने अपने राजा से प्रार्थना की, कि गुणवर्मा को चीन निमन्त्रित किया जाय। भिक्षुओं का आवेदन स्वीकार कर चीन के सम्राट् ने अपना दूत जावा के राजा और गुणवर्मा के पास भेजा और यह प्रार्थना की कि आचार्य चीन पधारें। चीन के सम्राट् की प्रार्थना को गुणवर्मा ने स्वीकार कर लिया, और ४३१ ईस्वी में वह दक्षिणी चीन में नार्नकिंग पहुँच गया। जिस जहाज पर गुणवर्मा चीन गया था, वह नन्दी नाम के भारतीय व्यापारी का था, जो भारत का माल बेचने के लिए चीन जा रहा था। जावा और समीप के अन्य द्वीपों में बौद्ध-धर्म के प्रचार में गुणवर्मा का कर्तृत्व बहुत अधिक है।

जावा में संस्कृत भाषा मे लिखे हुए अनेक शिलालेख उपलब्ध हुए हैं। इनमें से चार लेख पाँचवी सदी के मध्य भाग के हैं, जिन्हे राजा पूर्णवर्मा ने उत्कीर्ण कराया था। पूर्णवर्मा की राजधानी तारूमा थी, जो वर्तमान जाकर्ता के समीप ही स्थित थी। इन लेखों से यह भी सूचित होता है, कि पूर्णवर्मा के पूर्वज राजाधिराज ने चन्द्रभागा नामक नहर खुदवाकर उसे समुद्र तक पहुँचवाया था। पूर्णवर्मा ने स्वयं भी गोमती नाम की एक नहर खुदवाई थी।

शैलेन्द्र वंश—सातवी सदी मे श्रीविजय (सुमात्रा मे) के प्रतापी शैलेन्द्रवंशी राजाओ ने जावा को जीतकर अपने साम्राज्य के अन्तर्गत कर लिया। शैलेन्द्र वंश के राजा बड़े महत्त्वाकाक्षी और प्रतापी थे। उन्होने न केवल जावा को अपने अधीन किया, अपितु मलाया, कम्बोडिया और दक्षिणी बर्मा को भी जीत लिया। सातवी सदी से बारहवी सदी तक शैलेन्द्र वंश के राजा दक्षिण-पूर्वी एशिया के बहुत-से प्रदेशों और द्वीपों का शासन करते रहे। इन राजाओं के शिलालेख न केवल सुमात्रा मे अपितु जावा आदि अन्य द्वीपो मे भी अच्छी बड़ी सख्या मे उपलब्ध हुए है। ये सब लेख संस्कृत मे है, और इनसे शैलेन्द्र राजाओ के वैभव और शक्ति का सुचारु रूप से परिचय प्राप्त होता है। ये राजा बौद्ध-धर्म के अनुयायी थे, और उनके सरक्षण के कारण दक्षिण-पूर्वी एशिया मे बौद्ध-धर्म का बहुत अधिक उत्कर्ष हुआ। उन्होंने इस क्षेत्र मे बहुत-से बौद्ध विहार व चैत्यो का भी निर्माण कराया। शैलेन्द्र वंश की दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्राचीन इतिहास मे वही स्थिति है, जो कि भारत के इतिहास में गुप्तवंश की थी। इन राजाओं ने न केवल इण्डोनेशिया के प्रायः सब द्वीपों को अपितु इण्डोचायना के बडे भाग, मलाया और दक्षिणी बर्मा को भी जीतकर अपने साम्राज्य मे सम्मिलित किया। भारत के साथ भी इन शैलेन्द्र राजाओ का घनिष्ठ सम्बन्ध था। यही कारण है, कि जहाँ इन राजाओं के उत्कीर्ण लेख जावा, सुमात्रा, मलाया आदि मे उपलब्ध होते हैं, वहाँ भारत में भी इनके साथ सम्बन्ध रखने वाले कुछ लेख मिले हैं। चीनी और अरब लेखकों ने भी इनके विषय में बहुत कुछ लिखा है। अरब लेखक इब्न रोस्ता (९०३ ई० प०) ने लिखा था, कि "जावक (जावा) का महान् शासक महाराज कहलाता है। वह भारत के राजाओं मे सबसे बड़ा इसलिए नहीं माना जाता, क्योंकि वह द्वीपों का स्वामी है। उस जैसा धनी

एवं शक्तिशाली दूसरा कोई राजा नहीं है, और न किसी की उतनी बडी आमदनी ही है।" भारत मे नालन्दा की खुदाई से एक ताम्रपत्र मिला है, जिसमे श्रीविजय के शैलेन्द्र राजा का वर्णन है। इस ताम्रपत्र मे यह उल्लेख किया गया है, कि शैलेन्द्रवंशतिलक यवभूमिपाल महाराज श्री बालपुत्रदेव ने नालन्दा मे एक विहार का निर्माण कराया, और उसके लिए राजा देवपाल से कहकर राजगृह विषय (जिले) के नन्दिवनक, मणिवाटक, नाटिकाग्राम तथा हस्तिग्राम और गया विषय (जिले) के पामालक गाँव का दान किया। पालवशी भारतीय राजाओ के समान श्रीविजय के शैलेन्द्र राजा भी नालन्दा के महाविहार के संरक्षक थे, यह इस ताम्रपत्र से सूचित होता है।

शैलेन्द्र वंश के राजाओ की कीर्ति और प्रताप के स्मारकरूप अनेक स्तूप व विहार अब तक भी दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध प्रदेशो मे विद्यमान है। उनका सबसे पुराना अवशेष कलसन-मदिर है, जो आठवी सदी मे बना था। इसे शैलेन्द्र राजा पर्णकरण ने ७७८ ई० मे बनवाया था, और कलसगाँव नाम के एक ग्राम के साथ उसे भिक्षुसंघ को दान किया था। यह मन्दिर बृहत्तर भारत की वास्तु-कला का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। पर शैलेन्द्रयुग की सबसे महत्त्वपूर्ण कृति बरोबदूर का महाचैत्य है, जो साँची के स्तूप के समान एक पहाडी पर स्थित है। जावा मे विद्यमान यह विशाल स्तूप चारो ओर एक के ऊपर एक सीढीनुमा नौ चक्करो से मिलकर बना है, जिनमे ऊपर की ओर का प्रत्येक चक्कर अपने से नीचे वाले चक्कर से थोडा भीतर की ओर सिमटा हुआ है। सबसे ऊपर के चक्कर के ऊपर घटाकार चैत्य है। सबसे नीचे के चक्कर की लम्बाई १३१ गज है, और सबसे ऊपर के चक्कर की ३० गज। अगकोरथोम क मन्दिर के समान बरोबदूर का यह चैत्य भी वस्तुत. एक अद्भुत और विशाल इमारत है, जो दर्शको को आश्चर्य मे डालदेती है। इस चैत्य के विविध गलियारो मे सब मिलाकर १५०० चित्रावलियाँ चित्रित है, जिनका सम्बन्ध बौद्ध कथाओ के साथ है।

बाली द्वीप—जावा के पूर्व मे बाली नाम का छोटा-सा द्वीप है, जिसकी जनसख्या दस लाख के लगभग है। इन्डोनेशिया के अन्य द्वीपो मे तो इस समय हिन्दू-धर्म का लोप हो चुका है, पर बाली मे वह अब तक भी जीवित रूप मे विद्यमान है। चीनी अनुश्रुति द्वारा ज्ञात होता है, कि छठी सदी ईस्वी मे बाली द्वीप मे भारतीयों का निवास था, और वहाँ के राजवश का नाम कौण्डिन्य था। ५१८ ई० प० मे बाली के भारतीय राजा ने अपना एक राजदूत चीन के सम्राट् की सेवा मे भी भेजा था। इण्डोनेशिया के अन्य द्वीपो के समान बाली मे भी सस्कृत भाषा मे लिखे हुए अनेक शिलालेख उपलब्ध हुए है।

बोर्नियो—इण्डोनेशिया के द्वीपो मे बोर्नियो सबसे बडा है। इस द्वीप के सबसे पुराने उत्कीर्ण लेख महकम नदी के तट पर उपलब्ध हुए है, जिनसे सूचित होता है कि प्राचीन समय मे वहाँ भी भारतीयो का उपनिवेश विद्यमान था। ४०० ईस्वी मे लगभग के चार शिलालेख इस द्वीप से मिले है, जिनमे राजा अश्ववर्मा के पुत्र मूलवर्मा के दान-पुण्य और यज्ञो का वर्णन है। सस्कृत भाषा के ये लेख जिन स्तम्भों पर उत्कीर्ण है, वे राजा मूल वर्मा के यज्ञो मे यूप के तौर पर प्रयुक्त होने के लिए बनाए गए थे। इन यज्ञो के अवसर पर वप्रकेश्वर तीर्थ मे बीस हजार गौएँ और बहुत-सा धन दान दिया गया था।

पूर्वी बोर्नियो में भी बहुत-से ऐसे ध्वंसावशेष मिले हैं, जो इस द्वीप में हिन्दू संस्कृति की सत्ता के प्रकाट्य प्रमाण हैं। इनमें कोम्बेङ की गुफा सबसे महत्त्वपूर्ण है। यह गुफा तेलेन नदी की ऊपरी धारा के पूर्व में स्थित है। गुफा में दो कोठरियाँ हैं। पिछली कोठरी में बलुए पत्थर से बनी हुई बारह मूर्तियाँ हैं, जो शिव, गणेश, नन्दी, अगस्त्य, नन्दीश्वर, ब्रह्मा, स्कन्द और महाकाल की हैं।

फिलिप्पीन और सेलेबीज द्वीपों में ऐसी मूर्तियाँ मिली हैं, जो इन सुदूरवर्ती द्वीपों में भी भारतीय संस्कृति और धर्म के प्रचार का प्रमाण उपस्थित करती हैं।

दक्षिण-पूर्वी एशिया में बृहत्तर भारत के विकास का अनुशीलन करते हुए हमें यह दृष्टि मे रखना चाहिए, कि सुदूर पूर्व के इन उपनिवेशों की स्थापना किसी राजा या सम्राट् की कृति नही थी। जिस प्रवृत्ति से आर्य लोग भारत में दूर-दूर तक बसे थे, उसी से वे बंगाल की खाडी को पार कर इन प्रदेशो में भी आबाद हुए थे। प्राचीन समय मे आर्यों मे उत्कट जीवनी शक्ति थी, और वे विघ्न-बाधाओं की परवाह न करते हुए दूर-दूर तक जाकर बसने मे तत्पर रहते थे। राजकुमारो और योद्धाओ की महत्त्वाकाँक्षाएँ, व्यापारियों की धनलिप्सा और मुनियो व भिक्षुओ की धर्मसाधना—इन सब प्रवृत्तियो से मिलकर भारत के इन उपनिवेशो को जन्म दिया था। भारत के साथ इनका बहुत निकट का सम्बन्ध था। धर्म-प्रचारक और व्यापारी इनमे निरतर आते-जाते रहते थे। समुद्रगुप्त जैसे प्रतापी दिग्विजयी सम्राट् इन उपनिवेशों को भी अपने चातुरंत साम्राज्य मे सम्मिलित करने के लिए प्रयत्न करते थे। वस्तुतः, ये उपनिवेश भारत के ही अंग थे। यह बात बडे महत्त्व की है, कि सुदूर-पूर्व का यह सारा एशिया इस युग मे भारतीय धर्म और सभ्यता का अनुयायी था। वहाँ अपना पैर जमाकर भारतीय लोग चीन के विशाल भूखंड मे अपने धर्म और व्यापार का प्रसार करने मे लगे थे, और इस प्रकार एशिया का बहुत बडा भाग इस युग मे भारतीय जीवन और संस्कृति से अनुप्राणित हो रहा था।

(३) उत्तर-पश्चिम का बृहत्तर भारत

उत्तर-पश्चिमी भारत के गाधार और कम्बोज बौद्ध-काल के सोलह महाजनपदो मे सम्मिलित थे। कम्बोज का अभिप्राय हिन्दूकुश पर्वत से परे पामीर के पार्वत्य प्रदेश और बदख्शा से है। प्राचीन समय मे गान्धार और कम्बोज भारत के ही अग थे। पर प्राचीन समय मे भारतीयों ने गान्धार और कम्बोज से भी परे बाल्हीक (बल्ख) से आगे बढकर अपनी संस्कृति और धर्म का विस्तार किया, और इस प्रकार बृहत्तर भारत के एक नये क्षेत्र का निर्माण किया। इस प्रक्रिया का प्रारम्भ मौर्य काल में हुआ था। सम्राट् अशोक की धर्मविजय की नीति के कारण खोतन तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों में किस प्रकार भारतीय उपनिवेशो का सूत्रपात हुआ, और कैसे वहाँ बौद्ध-धर्म का प्रचार हुआ, इस पर हम पहले प्रकाश डाल चुके है। अशोक के समय में जिस प्रक्रिया का प्रारम्भ हुआ था, वह गुप्त-काल मे पूर्ण विकास को प्राप्त हुई। इस सारे प्रदेश में अनेक भारतीय उपनिवेशों का विस्तार हुआ, जिनमें भारतीय लोग बड़ी संख्या में जाकर

आबाद हुए। मूल निवासियों के साथ विवाह करके उन्होंने एक नयी संकर जाति का विकास किया, जो धर्म सभ्यता, भाषा और संस्कृति मे भारतीय ही थी।

इस क्षेत्र के राज्य—इस उत्तर-पश्चिमी बृहत्तर भारत में निम्नलिखित राज्य सम्मिलित थे—(१) शैलदेश (काशगर), (२) चौक्कुक (यारकंद), (३) खोतन्न (खोतन), (४) चलमद (शान शान), (५) भरुक (पौलुकिया), (६) कुची (कुचर), (७), अग्निदेश (करासहर) और (८) कोचाग (तुर्फान)। इन आठ राज्यो मे खोतन और कुची सबसे मुख्य थे, और इनके भी परे के चीन व अन्य राज्यों में भारतीय धर्म व संस्कृति के प्रसार में इन्होंने बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया था।

चौक्कुक, खोतन्न, शैलदेश और चलमद मे भारतीयो की आबादी बहुत अधिक थी। कम्बोज और गाधार से इनका व्यापार-सम्बन्ध भी बहुत घनिष्ठ था। व्यापार के कारण ये निरंतर भारत मे आते-जाते रहते थे। यहाँ की भाषा भी प्राकृत थी, जो उत्तर-पश्चिमी भारत की प्राकृत भाषा से बहुत मिलती-जुलती थी। पहले यह भारतीय प्राकृत खरोष्ठी लिपि में लिखी जाती थी। पर गुप्तकाल मे इन उपनिवेशों में भी ब्राह्मी लिपि का प्रयोग होने लगा था। ब्राह्मी लिपि के साथ-साथ संस्कृत का भी इन उपनिवेशों में प्रसार हुआ। चौथी सदी के अन्त मे जब प्रसिद्ध चीनी यात्री फाइयान इस क्षेत्र में आया, तो यहाँ का वर्णन करते हुए उसने लिखा है, कि इन प्रदेशों के निवासी धर्म और संस्कृति की दृष्टि से भारतीयों के समीप हैं। भिक्षु लोग सब संस्कृत पढते है, और बौद्ध-धर्म की भारतीय पुस्तकों का अध्ययन करते है। यही कारण है, कि इस समय बहुत-से प्राचीन सस्कृत ग्रन्थ इस प्रदेश से प्राप्त हुए हैं। अनेक ग्रन्थ सस्कृत के साथ-साथ वहाँ की पुरानी स्थानीय भाषाओ मे भी हैं। इन प्रदेशो की अपनी भाषाओ का परिचय पहले-पहल इन्ही ग्रन्थो मे मिलता है।

खोतन—गुप्त-काल मे खोतन किस प्रकार भारतीय धर्म और संस्कृति का महत्त्व-पूर्ण केन्द्र था, यह बात हमे प्राचीन अनुश्रुति व पुरातत्त्व-सम्बन्धी अवशेषो से ज्ञात होती है। खोतन मे बौद्ध-धर्म की दशा का वर्णन फाइयान ने इस प्रकार किया है—"यहाँ के निवासी बौद्ध-धर्म के अनुयायी हैं। भिक्षुओ की संख्या हजारो मे है। अधिकाश भिक्षु महायान सम्प्रदाय के अनुयायी है। प्रत्येक घर के सामने बौद्ध-स्तूप बनाए गए है। इनमे से कोई भी ऊँचाई मे बीस फीट से कम नही है।" फाइयान के समय मे खोतन में चौदह बड़े बौद्ध विहार थे। उनके अतिरिक्त छोटे-छोटे विहार और भी बहुत-से थे। खोतन के ये विहार शिक्षा के बड़े महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। संस्कृत के बहुत-से बौद्ध ग्रन्थ इनमे सगृहीत रहते थे। अनेक महत्त्व के ग्रन्थ जो अन्यत्र नही मिल सकते थे, खोतन मे प्राप्त हो जाते थे। यही कारण है, कि धर्मक्षेत्र नाम का बौद्ध विद्वान् जो इस समय चीन में प्रचार कर रहा था, ४३३ ईस्वी मे महापरिनिर्वाण-सूत्र की खोज में खोतन आया था।

खोतन मे कई स्थानो पर प्राचीन बौद्ध-काल के अवशेष मिले है। इसमें योत्कन, रावक, दण्डन-उलिक और नीया मुख्य हैं। इन सब स्थानो पर जो खुदाई पिछले वर्षों मे हुई है, उससे बौद्धविहारो और चैत्यो के बहुत-से खण्डहर, मूर्तियाँ और प्रतिमाओं के अवशेष तथा बहुत-से हस्तलिखित ग्रन्थ व चित्र उपलब्ध हुए है। खोतन में आठवी सदी

के अन्त तक भारतीय संस्कृति और धर्म का खूब प्रचार रहा। बाद में इस्लाम मे प्रवेश ने इस भारतीय उपनिवेश के स्वरूप को ही बिल्कुल बदल दिया।

खोतन में न केवल बौद्ध-युग के अवशेष मिले हैं, अपितु बहुत-से लेख भी प्राप्त हुए हैं। इनमें मासी मजार (खोतन नगर से १३ मील दूर), नीया और लोन् लन् में प्राप्त हुए लेख महत्त्वपूर्ण है। ये लेख खरोष्ठी लिपि में है, और काष्ठ-पट्टिकाओ पर लिखे गए हैं। पट्टिकाओं की लम्बाई ७ से १५ इंच तक और चौड़ाई १ से २३/४ इच तक है। कुछ पट्टिकाएँ चौकोर भी हैं। इनको पत्र के रूप मे भेजते हुए लिफाफे की तरह दूसरी काष्ठ-पट्टिकाओं से ढककर मुहर लगा दी जाती थी। लिफाफे का काम करने वाली पट्टिकाओ पर एक तरफ पानेवाले का नाम और दूसरी तरफ पत्र दूत का नाम रहता था। खरोष्ठी लिपि मे लिखे हुए कुछ पत्र ऐसे भी मिले हैं, जो चमडे पर लिखे गए हैं। नीया से मिले इन चर्मपत्रों की लम्बाई ६ से १२ इंच तक है, और चौडाई २ से ६ इंच तक। ये सब पत्र प्राय: राजकीय लिखा-पढी से सम्बन्ध रखते हैं, और इनकी भाषा धम्मपद की प्राकृत भाषा से मिलती-जुलती है। खोतन में प्राप्त इन लेखो का समय दूसरी और तीसरी सदी ई० प० के लगभग का माना जाता है।

कुची या कूचा—खोतन की तरह कुची का राज्य भी भारतीय सस्कृति का केन्द्र था। पुराणो मे सम्भवत: इसी को कुशद्वीप कहा गया है। वराहमिहिर ने बृहत्संहिता मे शक, पल्हव आदि के साथ कुशिक जाति का भी उल्लेख किया है, जो कुची के निवासियो को ही सूचित करती है। कुची या कूचा का यह राज्य उत्तरी तरिम-उपत्यका मे स्थित था। यहाँ के निवासियों मे भी भारतीयों की संख्या बहुत थी। चौथी सदी के शुरू तक यह सारा प्रदेश बौद्ध-धर्म का अनुयायी हो चुका था, और प्राचीन चीनी अनुश्रुति के अनुसार इसमे बौद्ध विहारो और चैत्यो की संख्या दस हजार तक पहुँच गई थी। चीन के प्राचीन इतिवृत्त के अनुसार कुची के राज्य मे बहुत-से विहार थे, जो बहुत ही सुन्दर और विशाल बने हुए थे। राजप्रासाद में भी वुद्ध की मूर्तियो की उसी तरह प्रचुरता थी, जैसे किसी विहार मे होती है। तामू के विहार मे १७० भिक्षु रहते थे। पर्वत के ऊपर बने हुए चेली के विहार में ५० भिक्षुओ का निवास था। राजा ने जो नया विहार बनवाया, उसे किएन मू कहते थे, और उसमे ६० भिक्षु रहते थे। वेनसू के राजकीय विहार मे भिक्षुओ की संख्या ६० थी। ये चारो विहार बुद्धस्वामी नाम के आचार्य द्वारा संचालित हो रहे थे। कोई भिक्षु एक स्थान पर तीन महीने से अधिक समय तक नही रह पाता था। बुद्धस्वामी के निरीक्षण में तीन अन्य विहार थे, जिनमे क्रमश: १८०, ५० और ३० भिक्षु रहते थे। इनमे से एक विहार में केवल भिक्षुणियाँ ही रहती थीं। ये भिक्षुणियाँ प्राय: राजघरानो की थी। पामीर के प्रदेश मे जो विविध भारतीय उपनिवेश थे, उन्ही के राजकुलों की कुमारियाँ भिक्षुव्रत लेकर इन विहारो में रहती थी, और बौद्ध-धर्म का बड़ी तत्परता के साथ पालन करती थीं।

कुची के राजाओं के नाम भी भारतीय थे। वहाँ के कुछ राजाओ के नाम स्वर्ण-देव, हरदेव, सुवर्णपुष्प और हरिपुष्प हैं, जो इस राज्य के भारतीय संस्कृति से प्रभावित होने के स्पष्ट प्रमाण हैं। कुची में जो खुदाई पिछले दिनों में हुई है, उसमें विहारों और

चैत्यों के बहुत-से अवशेष मिले हैं। इसमें सन्देह नही, कि खोतन के समान कुची भी भारत का एक समृद्ध तथा वैभवशाली उपनिवेश था।

इस प्रसंग मे आचार्य कुमारजीव का उल्लेख करना बहुत आवश्यक है। उसके पिता का नाम कुमारायन था। वह भारत के एक राजकुल में उत्पन्न हुआ था, पर अन्य अनेक राजकुमारो की तरह वह भी युवावस्था में ही बौद्ध भिक्षु बन गया था। भिक्षु होकर वह कुची गया। वहाँ के राजा ने उसका बड़े समारोह से स्वागत किया और उसकी विद्या तथा ज्ञान से प्रभावित होकर उसे राजगुरु के पद पर नियुक्त किया। पर कुमारायन देर तक भिक्षु नही रह सका। कुची के राजा की बहन जीवा उसपर मोहित हो गयी, और अन्त मे उन दोनो ने विवाह कर लिया। इनके दो संतानें हुई, कुमारजीव और पुष्यदेव। जब कुमारजीव की आयु केवल सात वर्ष की थी, तो उसकी माता जीवा भिक्षुणी हो गयी और अपने योग्य तथा होनहार पुत्र को लेकर भारत आयी। भारत आने पर उसका उद्देश्य यह था, कि कुमारजीव को बौद्ध-धर्म की ऊँची से ऊँची शिक्षा दी जाए। अनेक प्रदेशो का भ्रमण करने के बाद जीवा काश्मीर गई। वहाँ उन दिनों बन्धुदत्त नाम का बौद्ध आचार्य बडा प्रसिद्ध था। वह काश्मीर के राजा का भाई था, और अपने पांडित्य के लिए उसका नाम दूर-दूर तक फैला हुआ था। बन्धुदत्त के चरणों मे बैठकर कुमारजीव ने बौद्ध आगम को पढा, और धीरे-धीरे वह एक प्रकाण्ड पण्डित हो गया। काश्मीर मे विद्याग्रहण करने के बाद कुमारजीव शैलदेश (काशगर) गया, और वहाँ उसने चारो वेदो, वेदांगों, दर्शन और ज्योतिष आदि का अध्ययन किया। उस समय शैलदेश प्राचीन वैदिक धर्म का बहुत बडा केन्द्र था। इसीलिए कुमारजीव ने वैदिक साहित्य का वहाँ जाकर अध्ययन किया था। शैलदेश से वह चोक्कुक (यारकद) गया, और वहाँ उसने नागार्जुन, आर्यदेव आदि सिद्ध आचार्यों के ग्रथो का अनुशीलन किया। उसके बाद उसने चोक्कुक मे ही महायान सम्प्रदाय की दीक्षा ग्रहण की। इस प्रकार बौद्ध और वैदिक साहित्य का पूर्ण पण्डित होकर वह कुची वापस लौटा, और अपनी मातृभूमि मे उसने अध्यापन का कार्य शुरू किया। उसकी विद्वत्ता की कीर्ति सुनकर दूर-दूर के विद्यार्थी उसके पास शिक्षा ग्रहण करने के लिए आने लगे, और थोडे ही समय मे कुची विद्या का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया।

पर कुमारजीव देर तक कुची मे नही रह सका। ३८३ ईस्वी के लगभग कुची पर चीन ने आक्रमण किया। चीन की प्रबल शक्ति का मुकाबला कर सकना कुची जैसे छोटे-से राज्य के लिए सम्भव नही था। फिर भी वहाँ के राजा ने वीरता के साथ युद्ध किया, पर अन्त मे कुची पर चीन का अधिकार हो गया। जो बहुत-से कैदी कुची से चीन ले जाये गए, उनमे कुमारजीव भी एक था। सूर्य देर तक बादलो मे नही छिपा रह सकता। कुमारजीव की विद्या की ख्याति चीन मे सर्वत्र फैल गयी, और वहाँ के सम्राट् ने उसे अपने राजदरबार मे आमन्त्रित किया। ४०१ ई० में कुमारजीव चीन की राजधानी में पहुँचा। वहाँ उसका बडा सत्कार हुआ। वह संस्कृत और चीनी का अनुपम विद्वान् था। शास्त्रों मे उसकी अप्रतिहत गति थी। अत. उसे यह कार्य सुपुर्द किया गया, कि वह संस्कृत के प्रामाणिक बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद करे। इस कार्य मे उसकी सहायता के लिए अन्य बहुत-से विद्वान् नियत कर दिये गए। दस

वर्ष के लगभग समय में उसने १०६ संस्कृत ग्रंथों का चीनी भाषा मे अनुवाद किया। महायान सम्प्रदाय का चीन में प्रसार कुमारजीव द्वारा ही हुआ। उसके पाण्डित्य की कीर्ति सारे चीन में फैली हुई थी। उससे शिक्षा ग्रहण करने के लिए दूर-दूर से चीनी विद्यार्थी और भिक्षु उसकी सेवा में पहुँचते थे।

अपने कार्य मे सहायता के लिए कुमारजीव ने बहुत-से विद्वानो को भारत से चीन बुलाया। वह भारत में शिक्षा ग्रहण कर चुका था। काश्मीर के बौद्ध पण्डितों से उसका घनिष्ठ परिचय था। उसके अनुरोध से जो भारतीय विद्वान् चीन गये, उनमें पुण्यत्रात, बुद्धयश, गौतम संघदेव, धर्मयश, गुणवर्मन्, गुणभद्र और बुद्धवर्मन् के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। चीन में जो बौद्ध-धर्म का प्रसार हुआ, उसमे ये सब कुमारजीव के सहयोगी थे। चीन में इन विद्वानों का बड़ा ऊँचा स्थान है। ये सब वहाँ धर्मगुरु और धर्माचार्य के रूप मे माने जाते हैं। इन्ही के साहस, पाण्डित्य और लगन का यह परिणाम हुआ, कि धीरे-धीरे सारा चीन बौद्ध-धर्म का अनुयायी हो गया। आज चीन मे जो सैकडो बौद्ध ग्रन्थ उपलब्ध होते है, यह इन्ही विद्वानों की कृति का परिणाम है। इन ग्रन्थो मे बहुत-से अब अपने सस्कृत के मूलरूप में नही मिलते, पर चीनी अनुवाद के रूप मे वे अब भी चीन मे विद्यमान है। अब उनका फिर से संस्कृत रूपान्तर किया जा रहा है।

तुर्फान—कुची या कूचा के पूर्व मे तुर्फान नाम का मरु देश है, जिसमे बहुत-से प्राचीन नगरो के ध्वंसावशेष पाये जाते हैं। इस मरुभूमि मे भी सस्कृत, चीनी, ईरानी और तुर्की भाषाओ के बहुत-से हस्तलेख उपलब्ध हुए है। पाँचवी सदी ईस्वी तक इस देश मे बौद्ध-धर्म का भली-भाँति प्रचार हो गया था, और वहाँ के राजा चाउ (मृत्युकाल ४८० ई० प०) ने मैत्रेय का मन्दिर बनवाकर एक लम्बा अभिलेख उसकी स्थापना की स्मृति मे उत्कीर्ण कराया था। इस प्रदेश से भी बौद्धमूर्तियों और विहारो के भग्नावशेष मिले हैं।

काशगर—राजा कनिष्क के साम्राज्य मे खोतन के समान काशगर का प्रदेश भी सम्मिलित था। सम्भवतः, उसी समय मे वहाँ बौद्ध-धर्म का प्रचार हुआ। ४०० ईस्वी के लगभग जब चीनी यात्री फाहियान काशगर आया था, तो वहाँ पंचवार्षिक महोत्सव मनाया जा रहा था, जिसमे भगवान् बुद्ध की अस्थि (धातु या शरीर) के दर्शन किये जाते थे। काशगर मे उस समय एक बौद्ध विहार था, जिसमे १००० भिक्षु निवास करते थे। ये भिक्षु महायान सम्प्रदाय के अनुयायी थे। ४६० ईस्वी मे काशगर के राजा ने चीन के दरबार मे बुद्ध के चीवर को भेजा था।

प्राचीन ऐतिहासिक निधियाँ—उत्तर-पश्चिमी बृहत्तर भारत के वृत्तान्त के प्रसंग मे उन ऐतिहासिक निधियो का जिक्र करना उपयोगी है, जो इस क्षेत्र के विविध प्रदेशों मे उपलब्ध हुई हैं। गत वर्षों मे रूस, फ्रांस, जर्मनी, ब्रिटेन आदि पाश्चात्य देशो के पुरातत्ववेत्ताओं को इस क्षेत्र मे अनेक स्थानो पर ऐसे अवशेष प्राप्त हुए हैं, जिनसे इसके प्राचीन इतिहास के विषय मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामग्री हाथ लग गयी है। कुची से पूर्व की ओर करासहर, तुर्फान आदि के परे चीन की सीमा के पास तुङ्ह्वा नामक स्थान है। इसके दक्षिण-पश्चिम में नंगे पहाड़ो की पंक्तियाँ है, जो खोदकर

बनाई गयी फाम्रों के कारण मधुछत्र-सी प्रतीत होती हैं। इन्हें सहस्र-बुद्ध-गुहा।विहार कहते हैं। तुङ्-ह्वा की गुफाएँ चौथी सदी ईस्वी में बननी शुरू हुईं, और छठी सदी तक बनती रहीं। सहस्र-बुद्ध-गुहा-विहार की ये गुफाएँ तुङ्-ह्वा से नौ मील हैं, और एक हजार गज से भी अधिक दूरी तक फैली हुई है। इन गुफाओं की भित्तियों पर बहुत-से चित्र हैं, और उनमें बहुत-सी सुन्दर मूर्तियाँ भी विद्यमान हैं। भारत की अजन्ता-गुफाओ मे जिस ढंग के चित्र हैं, वैसे ही इनमें भी हैं। भेद यह है, कि सहस्र-बुद्धगुहाओं के चित्र अधिक सुरक्षित दशा में है। तुङ्-ह्वा के समीप के ये गुहाचित्र भारतीय कला, गान्धार कला और चीनी कला के सम्मिश्रण के परिणाम हैं। अनेक चित्रों में ग्रीक, ईरानी और नैपाली शैली का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। चित्र दो प्रकार के हैं, बोधिसत्वो, अर्हतो और देवताओं के, और सासारिक जीवन के साथ सम्बन्ध रखनेवाले। इन गुहाओं की मूर्तियाँ प्रधानतया बौद्ध-धर्म के महायान सम्प्रदाय के साथ सम्बन्ध रखती हैं।

तुङ्-ह्वा की गुहाओ मे केवल चित्र और मूर्तियाँ ही उपलब्ध नही हुईं, अपितु वहाँ पुस्तको का एक बहुत बड़ा भण्डार भी प्राप्त हुआ है। सहस्र-बुद्ध-गुहा-विहार की एक गुहा को खोदते हुए अकस्मात् एक छोटी गुफा निकल आई, जो हस्तलिखित पुस्तकों से भरी हुई थी। ये पुस्तकें चीनी, तिब्बती, उइगुर और संस्कृत भाषाओ में लिखी हुई हैं। इनमें बहुत-सी पुस्तको में ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियो का प्रयोग किया गया है। तुङ्-ह्वा के समीप की गुफाओं में जो पुस्तक-भण्डार मिला है, उसकी पुस्तक-संख्या हजारो मे है। अभी इसकी सूची पूर्ण रूप से नही बन सकी है। पर फास, ब्रिटेन आदि के विद्वान् इन पुस्तकों को अपने देशो मे ले गये है।

तुङ्-ह्वा के समान कूचा, कामगर और लोलन आदि मध्य एशिया के अन्य स्थानो से भी प्राचीन पुस्तके प्राप्त हुई है, और इस प्रदेश के ये पुस्तक-भण्डार मध्य-एशिया मे भारतीय धर्म, भाषा और संस्कृति के प्रचार के ठोस प्रमाण हैं।

तुङ्-ह्वा की गुफाओ का बडा भाग चौथी सदी से छठी सदी तक बना था। पर बाद मे भी इन गुफाओं का निर्माण होता रहा। चौदहवी सदी तक अनेक श्रद्धालु राजा और सम्पन्न पुरुष यहाँ विहारो, मूर्तियो और चैत्यो के निमित्त गुहाओ का निर्माण कराते रहे। आठवी से चौदहवी सदी तक के भी बहुत-से उत्कीर्ण लेख इस स्थान से मिले है, जिनमे सहस्र-बुद्ध-गुहाविहार के लिए दान, नवनिर्माण और पुनर्निर्माण का उल्लेख है।

(४) हूणों का भारतीय बनना

गुप्त-काल मे भारतीय धर्मों मे अद्वितीय जीवनी शक्ति थी। न केवल बौद्ध अपितु जैन, शैव, वैष्णव आदि अन्य भारतीय धर्मों में भी उस समय यह शक्ति विद्यमान थी, कि वे विदेशी जातियो को अपने धर्म मे दीक्षित कर उन्हे भारतीय समाज का अंग बना सकें। यवन, शक और कुशाण लोग किस प्रकार भारत में आकर भारतीय बन गये, यह हम पहले प्रदर्शित कर चुके हैं।

गुप्तकाल में जो हूण भारत में आक्रांता के रूप में प्रविष्ट हुए, उन्होंने शुरू में बड़ी बर्बरता प्रदर्शित की, पर बाद में वे भी पूर्णतया भारतीय समाज के अंग बन गये। हूण-राजा मिहिरगुल ने शैव-धर्म को स्वीकार कर लिया था। एक शिलालेख में लिखा है, कि स्थाणु शिव के अतिरिक्त किसी के सम्मुख वह सिर नही झुकाता था। उसके जो सिक्के मिले है, उनपर त्रिशूल और नन्दी के चिह्न अंकित हैं, और 'जयतु वृषः' यह उत्कीर्ण किया गया है।

उस युग के भारत की इस प्रवृत्ति को पुराणो मे बड़े सुन्दर रूप में वर्णित किया गया है। शक, यवन, हूण आदि जातियों को गिनाकर पुराणकार ने भक्ति के आवेश मे आकर कहा है, कि ये और अन्य जो भी पापयोनि जातियाँ हैं, वे सब जिस विष्णु के सम्पर्क मे आकर शुद्ध हो जाती हैं, उस प्रभुविष्णु विष्णु को नमस्कार हो। भगवान् विष्णु की यह पतितपावनी शक्ति भारत में गुप्त-काल में कायम थी। मुसलिम धर्म के भारत-प्रवेश के बाद यह शक्ति नष्ट हो गयी, और उस समय के भारतीय अरब और तुर्क आक्रांताओं को अपने में नही मिला सके।

पौराणिक और बौद्ध धर्मों को स्वीकार कर हूण लोग भारतीय समाज के ही अंग बन गए। इस समय यह बता सकना बहुत कठिन है, कि शक, यवन, युइशि और हूण आक्राताओ के वर्तमान प्रतिनिधि कौन लोग हैं। ये सब जातियाँ बहुत बड़ी संख्या में भारत में प्रविष्ट हुई थीं। पर इनके उत्तराधिकारियो की हिन्दू-समाज में कोई पृथक् सत्ता नहीं है। वस्तुतः, ये हिन्दू समाज में बिलकुल ही घुल-मिल गयीं, और हिन्दुओं की विविध जातियो मे गिनी जाने लगी। जहाँ भारत की वर्तमान अनेक जातियाँ पुराने गणराज्यों की प्रतिनिधि है, वहाँ अनेक इन म्लेच्छ आक्रांताओं का भी प्रतिनिधित्व करती है। पर इस समय वे क्षत्रियों के अन्तर्गत हैं, और उनमें पाप या पापयोनिपन कुछ भी शेष नही हैं।

इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व एक बात और लिखनी आवश्यक है। जहाँ भारतीयों ने सुदुर पूर्व मे और पामीर के उत्तर-पश्चिम मे अपनी बस्तियाँ बसाई थी, वहाँ प्राचीन सीरिया और मैसोपोटामिया में भी उनके छोटे-छोटे उपनिवेश विद्यमान थे। यूफ्रेटस नदी के तट पर उनके दो बडे मन्दिर थे, जिन्हे सेण्ट ग्रेगरी के नेतृत्व मे ईसाइयो ने नष्ट किया था। वह घटना ३०४ ईस्वी की है। जब ईसाइयो ने अपने धर्मप्रसार के जोश मे इन मन्दिरों पर आक्रमण किया, तो भारतीय लोग बडी वीरता के साथ उनसे लडे। पर ईसाई उनकी अपेक्षा बहुत अधिक संख्या मे थे। भारतीयों को उनसे परास्त होना पड़ा। मैसोपोटामिया के ये प्राचीन भारतीय मन्दिर नष्ट कर दिये गये, और इस प्रदेश की भारतीय बस्ती भी बहुत कुछ छिन्न-भिन्न हो गयी। पर गुप्त-काल में भारतीयों ने इतनी दूर पश्चिम मे भी अपनी बस्तियाँ कायम की थी, यह एक ऐतिहासिक तथ्य है।

अठारहवाँ अध्याय

बौद्ध-धर्म की प्रगति और ह्रास

(१) महायान और वज्रयान

महायान का प्रादुर्भाव— महात्मा बुद्ध के निर्वाण के सौ वर्ष बाद ही बौद्ध धर्म दो निकायो (सम्प्रदायों) मे विभक्त हो गया था, जिन्हे स्थविरवाद (थेरवाद) और महासांघिक कहते थे। वैशाली की द्वितीय बौद्ध-महासभा के अवसर पर इन दोनो सम्प्रदायो के भेद ने बहुत स्पष्ट रूप धारण कर लिया था। इस दूसरी महासभा के सवा सौ वर्ष बाद जब सम्राट् अशोक मौर्य के समय मे (तीसरी सदी ई० पू०) बौद्धों की तीसरी महासभा हुई, तब तक बौद्ध-धर्म मे अठारह निकायो का विकास हो चुका था। इनमे से छः का सम्बन्ध महासांघिक सम्प्रदाय के साथ था और बारह का स्थविरवाद के साथ। महासांघिक व उससे सम्बद्ध निकाय बुद्ध को अलौकिक व अमानव रूप देने का प्रयत्न कर रहे थे, और स्थविरवादी लोग इस बात के लिए प्रयत्नशील थे कि बुद्ध के मानव रूप की रक्षा हो।

महासांघिक सम्प्रदाय के साथ सम्बन्ध रखने वाले छः निकायों मे एक निकाय 'वैपुल्यवाद' था। इसी से आगे चलकर महायान की उत्पत्ति हुई। वैपुल्यवादी लोग अन्य बौद्धों से जिन विषयो पर मतभेद रखते थे, ये निम्नलिखित थे—(१) बौद्ध-संघ न दान ग्रहण करता है, न उसे परिशुद्ध करता है, न उसका उपभोग करता है, और न संघ को देने मे महाफल है। (२) बुद्ध को दान देने मे न महाफल है, न बुद्ध लोक मे आकर रहे और न उन्होंने धर्मोपदेश किया। (३) किसी विशेष अभिप्राय से मैथुन का सेवन किया जा सकता है। वैपुल्यवादियों की ये तीनों ही बाते ऐसी थी, जो बौद्ध-धर्म मे विप्लव मचाने वाली थी। विशेषतया, बुद्ध के सम्बन्ध मे यह प्रतिपादित करना कि उन्होने न कभी मानव-तन धारण कर ससार मे प्रवेश किया और न उन्होने कभी धर्म का उपदेश दिया, एक ऐसा विचार उपस्थित करता था, जिससे बुद्ध पूर्णतया अमानव व अलौकिक बन जाते थे। वैपुल्यवाद का केन्द्र श्रीधान्यकटक के प्रदश मे था और वही से उसका प्रचार (पहली सदी ई० पू० मे) सिंहलद्वीप मे हुआ था। आचार्य नागार्जुन इसके सबसे महत्त्वपूर्ण प्रचारक थे, और उन्ही के प्रयत्न से वैपुल्यवाद का महत्त्व अन्य बौद्ध सम्प्रदायों की अपेक्षा बहुत अधिक बढ गया। आगे चल कर वैपुल्यवाद ही महायान के रूप मे परिवर्तित हो गया।

महायान ने जीवन का एक ऊँचा आदर्श जनता के सम्मुख रखा, जिसके अनुसार कोई भी चीज ऐसी नही हो सकती, जिसे प्राणिमात्र के हित के लिए अदेय समझा जा

सके। इस चरम साधना के लिए महायान ने बोधिसत्व-जीवन का उपदेश दिया। बोधिसत्व वह होता है, जो परोपकार के लिए किसी कष्ट को कष्ट नहीं मानता। बुद्धपद प्राप्त करने से पूर्व सिद्धार्थ ने बोधिसत्व के रूप मे अनेक जन्म लिए थे और विविध प्रकार से दूसरो का हित-सम्पादन किया था। मनुष्य का आदर्श यही है कि दुःखतप्त प्राणियों के आर्तिनाशन के लिए अपना सर्वस्व निछावर कर बोधिसत्व के रूप मे जीवन व्यतीत करे और अन्त मे बुद्ध-पद प्राप्त कर अपना निर्वाण कर ले।

महायान ने दार्शनिक विचारो के विकास द्वारा एक नए सिद्धान्त को उपस्थित किया। इस नए दर्शनशास्त्र के विकास का प्रधान श्रेय आचार्य नागार्जुन और असङ्ग को है। बुद्ध विश्व को क्षण-क्षण परिवर्तनशील मानते थे। उनके अनुसार कोई सत्ता नित्य नही है। नागार्जुन ने 'अनित्यता' के इसी विचार को लेकर शून्यवाद या सापेक्षतावाद के सिद्धान्त का विकास किया।

प्राय: इतिहास-ग्रन्थो मे यह लिखा जाता है कि कुशाण-राजा कनिष्क ने बौद्ध-धर्म के जिस सम्प्रदाय को स्वीकार किया था, वह महायान था। पर बहुत-से बौद्ध विद्वान् इसे स्वीकार नही करते। उनके अनुसार कनिष्क और अश्वघोष महायान के अनुयायी न होकर 'सर्वास्तिवादी' थे। सर्वास्तिवाद स्थविरवादी निकाय के अन्तर्गत था, और उसका महायान के साथ कोई सम्बन्ध नही था। शुरू मे महायान का प्रादुर्भाव श्रीधान्य-कटक मे हुआ था, जो वैपुल्यवाद-निकाय का केन्द्र था। इसके प्रादुर्भाव का समय स्थूल रूप से पहली सदी ई० पू० या उसके कुछ बाद समझा जा सकता है। चौथी सदी ई० प० तक महायान का प्रचार बहुत बढ गया था, और वह प्राय: सारे भारत मे फैल गया था। भारत से वह उपरले हिन्द (भारत के उत्तर-पश्चिम मे स्थित मध्य एशिया का क्षेत्र) म फैला, और चीन, जापान तथा कोरिया को भी उसने आत्मसात् कर लिया। उत्तरी एशिया के इन देशो मे अब तक भी महायान बौद्ध-धर्म का प्रचार है।

महायान के अनुयायी अपने से भिन्न सम्प्रदायो को हीनयान कहते थे। इस सम्प्रदाय का प्रचार प्रधानतया सिंहलद्वीप, बरमा और दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशो मे हुआ। हीनयान के धार्मिक ग्रन्थ पालि भाषा मे हैं और महायान के सस्कृत मे। बौद्धो के धार्मिक साहित्य (त्रिपिटक) का परिचय हम पहले दे चुके है।

वज्रयान-सम्प्रदाय—बौद्ध धर्म का प्रारम्भिक रूप स्थविरवाद था। फिर महासांघिक निकाय उससे पृथक् हुआ और धीरे-धीरे ये दो सम्प्रदाय अठारह निकायो के रूप मे विकसित हुए। इन अठारह निकायो के भी अनेक भेद होते गए और यही कारण है कि 'कथावत्थु' ग्रन्थ मे बौद्ध धर्म के २१४ सिद्धान्तो का विवेचन किया गया है। तीसरी सदी के लगभग भारत मे महायान का महत्त्व बहुत अधिक बढ गया, और कालान्तर मे भारत मे सर्वत्र उसका प्रचार हो गया। वज्रयान-सम्प्रदाय का विकास महायान से ही हुआ, या यो कहना अधिक उपयुक्त होगा, कि धीरे-धीरे भारत का महायान ही वज्रयान के रूप मे परिवर्तित हो गया। सातवी सदी से शुरू कर भारत के मध्यकालीन इतिहास मे बौद्ध-धर्म का जो रूप प्रचलित था, वह वज्रयान ही था।

जो स्थान पौराणिक हिन्दू-धर्म में वाममार्ग का है, वही बौद्ध-धर्म में वज्रयान का है। मारण, मोहन, उच्चाटन आदि की अद्भुत शक्ति जिन शब्दों में हो, उन्हें मन्त्र कहा जाता है। न केवल भारत में अपितु संसार के अन्य प्राचीन देशों में भी यह विश्वास प्रचलित था कि मन्त्रशक्ति का प्रयोग कर मनुष्य अभिलषित फल को प्राप्त कर सकता है। साथ ही, लोग यह भी समझते थे कि जादू-टोना आदि अभिचार-क्रियाएँ वस्तुतः फलवती होती हैं। बौद्ध-धर्म के प्रादुर्भाव से पूर्व भी भारत मे मन्त्र-शक्ति और अभिचार-क्रियाओं में विश्वास की सत्ता थी। कौटलीय अर्थशास्त्र में इस प्रकार की बहुत-सी क्रियाओं का उल्लेख किया गया है, जिनके लिए आचार्य चाणक्य ने 'औपनिषदिक' शब्द का प्रयोग किया है। ये क्रियाएँ गुप्त रखी जाती थीं। इन्हे केवल वही व्यक्ति जान सकता था, जो गुरु का अत्यधिक विश्वासपात्र हो। इस दशा मे इनके लिए 'औपनिषदिक' शब्द सर्वथा उपयुक्त था। चाणक्य ने नन्द का विनाश करने के लिए जहाँ सेना और कूटनीति का प्रयोग किया था, वहाँ साथ ही 'अभिचार-वज्र' से भी काम लिया था। कौटलीय अर्थशास्त्र में स्पष्ट रूप से इस बात का उल्लेख है। बौद्ध-धर्म के प्रादुर्भाव के बाद जिस युग में महात्मा बुद्ध के अनुयायियों मे तन्त्र-मन्त्र का प्रचलन नही था, चाणक्य सदृश आचार्य औपनिषदिक क्रियाओ का प्रतिपादन करते थे और अभिचार-वज्र का प्रयोग करते थे।

जब भारत की जनता मे तन्त्र-मन्त्र की शक्ति के प्रति विश्वास विद्यमान था, तो यह कैसे सम्भव था कि बौद्ध-धर्म उससे अछूता रह जाता। यद्यपि बुद्ध अन्धविश्वासों और रहस्यमयी क्रियाओ के विरोधी थे और जीवन की साधना का ही उपदेश उन्होंने दिया था, पर जब सर्वसाधारण जनता ने उनके धर्म को अपनाया, तो वह अपने मज्जातन्तुगत विश्वासो को कैसे दूर कर सकती थी। परिणाम यह हुआ, कि बौद्ध-धर्म में भी तन्त्र-मन्त्र का प्रवेश हुआ।

बौद्धों के वैपुल्यवादी सम्प्रदाय का यह भी मन्तव्य था कि विशेष अभिप्राय से भिक्षु और भिक्षुणी मैथुन का भी सेवन कर सकते हैं। बौद्ध-सघ में जो व्यक्ति भिक्षु या भिक्षुणी बनने के लिए प्रव्रज्या ग्रहण करते थे, वे सब वृद्ध या 'लुप्तव्यवाय' ही नही होते थे। बहुत-से युवक व युवतियाँ भी प्रव्रज्या ग्रहण कर संघ में शामिल हो जाते थे। भिक्षुओ और भिक्षुणियो को एक साथ रहने का अवसर नही मिलता था, क्योंकि उनके संघ और विहार पृथक्-पृथक् होते थे। पर जो हजारों-लाखो युवक-युवतियाँ प्रव्रज्या ग्रहण कर पीत वस्त्र धारण कर लेते थे, वे सभी कामवासना को वशीभूत करने मे समर्थ हों, यह सम्भव नही था। भिक्षु बन जाने के बाद भी उनमें मैथुन की इच्छा बनी रहती थी। सम्भवतः, इसीलिए वैपुल्यवादियों ने 'विशेष अभिप्राय' से (एकाभिप्रायेण) मैथुन की अनुमति प्रदान की थी। मानव-शरीर की प्राकृतिक आवश्यकता को गृहस्थाश्रम के सीधे और सरल मार्ग द्वारा पूर्ण न कर सकने के कारण बौद्धो ने 'विशेष अभिप्राय' की आड़ ली, और रहस्यपूर्ण शब्द-जाल द्वारा मैथुन-क्रिया को 'सम्यक् संबुद्ध' बनने के लिए सहायक प्रतिपादित करना प्रारम्भ किया। वज्रगुरु काम-वासना की पूर्ति के लिए मैथुन का सेवन नही करता, अपितु सम्यक्-सम्बुद्ध व सिद्ध बनने के विशेष अभिप्राय

से ही इसका प्रयोग करता है। वैपुल्यवादियों ने जो विचारसरणी प्रतिपादित की थी, उसी ने महायान को जन्म दिया। मैथुन-विषयक उनके विचार महायान में भी विद्यमान थे। बाद में उन्होंने बहुत जोर पकड़ा, और वज्रगुरु व सिद्ध बनने के लिए लोग ऐसे उपायों का प्रयोग करने लगे, जो गुह्य और रहस्यमय थे और जिनमें मैथुन-क्रियाओं को भी स्थान था। आठवीं सदी के बाद जब वज्रयान का भली-भाँति विकास हो गया था, वैपुल्यवादियों द्वारा बोया गया बीज एक महान् वृक्ष के रूप में परिणत हो गया, और सिद्धि को प्राप्त करने के इच्छुक साधक लोग भैरवी चक्र की आड़ में ऐसी बातें करने लगे, जो धार्मिक संघ के लिए तो क्या सभ्य समाज के लिए भी घृणास्पद थी।

वज्रयान के रूप में केवल मैथुन ही बौद्ध-धर्म में प्रविष्ट नहीं हुआ, अपितु तन्त्र-मन्त्र और हठयोग ने भी उसमें महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। शुरू में बौद्ध लोग अपने धार्मिक सूत्रों (सुत्तों) का पाठ किया करते थे। पर ये सूत्र बहुत बड़े-बड़े थे। इनके पाठ में बहुत समय लगता था। वैपुल्यवादियों ने विचार किया कि लम्बे-लम्बे सूत्रों के पाठ से जो फल प्राप्त होता है, वह संक्षिप्त शब्द-समूह से भी प्राप्त हो सकना चाहिए, क्योंकि शब्द में विशेष शक्ति होती है और उस शक्ति के लिए सुदीर्घ सूत्रों की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। इसलिए वैपुल्यवादियों ने कुछ पंक्तियों की छोटी-छोटी धारणियाँ बनाई और उनके पाठ द्वारा भी वही फल माना, जो सूत्रों के पाठ से प्राप्त होता था। पर धारणियों का पाठ भी लोगों को कष्टकर प्रतीत होता था, अतः बाद में मन्त्रों की सृष्टि की गयी, जिसमें केवल कुछ शब्द ही होते थे। 'ओ मुने मुने महामुने स्वाहा' 'ओ आ हुँ' आदि इसी प्रकार के मन्त्र थे, जिनके जप से बौद्ध लोग अभिलषित फल की आशा रखते थे। मन्त्र-शक्ति में विश्वास के साथ-साथ यौगिक क्रियाओं ने भी बौद्ध-धर्म में प्रवेश किया। बौद्ध-धर्म के प्रादुर्भाव से पूर्व ही भारत में योगक्रियाएँ प्रचलित हो चुकी थी। इसमें सन्देह नहीं, कि इन क्रियाओं द्वारा शरीर की उन्नति और मानसिक शक्तियों के विकास में सहायता मिलती थी। जनता योगियों के प्रति श्रद्धा रखती थी और उनके अनेक प्रकार के चमत्कारों को देखकर चमत्कृत भी हो जाती थी। जब जनता को योग में श्रद्धा थी, तो यह कैसे सम्भव था कि बौद्ध-धर्म के आचार्य उसकी उपेक्षा करते। बौद्ध-धर्म के जो प्रचारक शाक्यकुलोत्पन्न सिद्धार्थ को अलौकिक व अमानव बताकर या मानव-शरीर में बुद्ध की सत्ता से ही इन्कार कर जनता को अपने धर्म में अनुरक्त करने के लिए प्रयत्नशील थे, वे योग-सिद्धियों की उपेक्षा करते, यह सम्भव नहीं था। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ, कि धीरे-धीरे भारत में बौद्ध-धर्म ने एक ऐसा रूप धारण कर लिया, जिसके अनुसार बुद्ध अलौकिक पुरुष थे, जिसके छोटे-छोटे मन्त्र अभिलषित फल प्रदान करने वाले थे, और जिसके गुरु योगाभिचार-क्रियाओं, गुह्य सिद्धियों और रहस्यमय साधनाओं द्वारा वज्रगुरु या सिद्ध का पद प्राप्त कर लेते थे। इन सिद्ध गुरुओं को न सदाचारमय जीवन की आवश्यकता थी, और न इन्द्रियजय की। उचित-अनुचित, खाद्य-अखाद्य आदि का कोई विचार इनके सम्मुख नहीं था, क्योंकि ये इन तुच्छ बातों से ऊँचे उठकर सिद्ध दशा को प्राप्त कर चुके थे। जब मनुष्य साधारण जीवन से ऊँचा उठकर सिद्ध बन जाता है,

तो उसके लिए कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य व उचित-अनुचित का भेद ही नही रह जाता। इन भेदों से ऊँचा उठने के लिए ही वह सब पदार्थों को खाद्य मानता है, स्त्रीमात्र से मैथुन करना अपनी साधना मे सहायक समझता है, और मदिरा-सेवन को योग-क्रियाओं के लिए आवश्यक मानता है। आठवी सदी तक यह वज्रयान भारत मे भली-भाँति विकसित हो गया था, और जनता इसके सिद्धों के प्रति अत्यधिक आदर भावना रखने लग गयी थी।

बौद्ध-धर्म के अन्त के साथ भारत से वज्रयान का भी अब अन्त हो चुका है। पर तिब्बत में इस सम्प्रदाय का प्रभाव अब तक भी विद्यमान है। तिब्बत मे जब बौद्ध-धर्म का प्रवेश हुआ, तो भारत मे वज्रयान का उदय हो चुका था। यही कारण है, कि तिब्बत मे वज्रयान का भी प्रचार हुआ। न केवल तिब्बत मे, अपितु अन्य भी अनेक प्रदेशों में पहले इस सम्प्रदाय का प्रचार रह चुका है, यद्यपि उनसे बौद्ध-धर्म का अन्त हो जाने के साथ इसका भी लोप हो गया है।

(२) बौद्ध-धर्म का अन्य देशों में प्रसार

मौर्य और गुप्त-वंशो के शासनकाल मे जिस प्रकार विदेशो मे बौद्ध-धर्म का प्रचार हुआ, उसका वर्णन हम इस इतिहास मे पहले कर चुके हैं। पर गुप्त-युग के साथ इस प्रक्रिया का अन्त नही हो गया। पाँचवी सदी के बाद भी बहुत-से भारतीय विद्वान् अन्य देशो मे बौद्ध-धर्म का प्रचार करने या धर्म-ग्रन्थो का विदेशी भाषाओं मे अनुवाद करने के लिए विदेश जाते रहे। पाँचवी सदी से चीन आदि देशो से भी लोगो ने भारत आना शुरू किया, ताकि वे जहाँ बौद्ध-धर्म के पवित्र स्थानो का दर्शन करें, वहाँ साथ ही अपने धर्म के प्रामाणिक ग्रन्थो को भी प्राप्त करें। इस प्रकरण मे हम इसी विषय पर प्रकाश डालेंगे।

कुमारजीव और गुणवर्मन् ने गुप्त-सम्राटो के शासनकाल मे चीन मे बौद्ध-धर्म के प्रसार के लिए जो यत्न किये, उनका निर्देश पहले किया जा चुका है। गुणवर्मन् के कुछ समय पश्चात् ४३५ ई० मे आचार्य गुणभद्र मध्यदेश से चीन गये। संस्कृत की पुस्तको को चीनी भाषा मे अनूदित करने के लिए उन्होने बडा प्रयास किया। कुल मिलाकर ७८ बौद्ध-ग्रन्थो का चीनी भाषा मे अनुवाद किया गया, जिनमे से अब केवल २८ ही प्राप्त होते हैं। ७५ वर्ष की आयु मे ४६८ ई० मे चीन मे ही उनकी मृत्यु हुई। गुणभद्र के बाद ४८१ ई० मे धर्मजातयश और छठी सदी मे धर्मरुचि, रत्नमति, बोधिरुचि और गौतम प्रज्ञारुचि नाम के विद्वान् भारत के मध्य देश से चीन गये, और बौद्ध-ग्रन्थों का चीनी भाषा मे अनुवाद करने तथा धर्मप्रचार मे व्यापृत रहे। चीन के लोग मगध तथा उसके समीप के प्रदेशों को ही मध्यदेश कहते थे, और वहाँ नालन्दा तथा काशी उस समय विद्वानो के सबसे बड़े केन्द्र थे। ये सब पण्डित इन्ही नगरों के महाविहारों से सम्बन्ध रखते थे। भारतीय पण्डितो के निरन्तर चीन जाने का यह परिणाम हुआ, कि उस देश के विहारो में हजारों की संख्या मे भारतीय भिक्षु निवास करने लगे। एक अनुश्रुति के अनुसार छठी सदी के शुरू में चीन मे भारतीय भिक्षुओं

की संख्या तीन हजार के लगभग थी। इन्ही भारतीय पण्डितो के प्रयत्न का यह परिणाम हुआ, कि बौद्ध-धर्म की दृष्टि से छठी सदी चीन के इतिहास मे सुवर्णयुग मानी जाती है। वहाँ का सम्राट् वू-ती बौद्ध-धर्म का कट्टर अनुयायी था। अपने जीवन के अन्तिम भाग में भारतीय आदर्श के अनुसार उसने राज्य का परित्याग कर भिक्षुओं के काषाय वस्त्र धारण कर लिए थे। ५३९ ई० में वू-ती की प्रेरणा से एक चीनी मण्डल भारत इस उद्देश्य से आया, कि यहाँ से बौद्ध-ग्रन्थों को अपने देश मे ले जाए। यह मण्डल चीन को वापस लौटते हुए परमार्थ नाम के एक प्रसिद्ध विद्वान् को भी अपने साथ ले गया, और इसी के प्रयत्न से चीन मे बौद्ध-धर्म के योगाचार-सम्प्रदाय का प्रवेश हुआ। भिक्षु परमार्थ ने असंग और वसुबन्धु के ग्रन्थों का भी चीनी भाषा मे अनुवाद किया। छठी सदी में जो अन्य भारतीय पण्डित चीन गये, उनमे जिनगुप्त, ज्ञानभद्र, जिनयश और गौतमधर्मज्ञान के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें से जिनगुप्त पेशावर का रहने वाला था। उसने भारतीय धर्म-ग्रन्थो को चीनी भाषा में अनूदित करने के लिए एक सघ की स्थापना की। इस संघ मे बहुत-से भारतीय और चीनी पण्डित शामिल हुए। अपने उद्देश्य मे उन्होंने अपूर्व सफलता प्राप्त की, और सैकडों संस्कृत पुस्तकों का अनुवाद चीनी भाषा मे किया।

सातवी सदी के मध्य भाग मे प्रसिद्ध चीनी भिक्षु ह्यु एन-त्साग भारत आया। वह चीन लौटते समय ६५७ बौद्ध-ग्रन्थों को अपने साथ ले गया। चीन में रहने वाले भारतीय पण्डित जो कार्य कर रहे थे, उसमे इन ग्रन्थों से बहुत सहायता मिली। भारत के बौद्ध-धर्म मे उस समय बहुत जीवनी शक्ति थी, इसीलिए नये-नये आचार्य दर्शन, धर्म आदि पर नये-नये ग्रन्थों की रचनाएँ करते रहते थे। चीन के बौद्ध पण्डित किसी नये बौद्ध-दर्शन के विकास मे प्रयत्नशील नही थे, वे अपने धर्मगुरु भारत के विविध आचार्यों द्वारा लिखे ग्रन्थो को अपनी भाषा मे पढ़कर ही धर्म व तत्त्वज्ञान की पिपासा को शान्त कर लेते थे। आठवी सदी के आरम्भ मे आचार्य अमोघवज्र चीन गया। वह तन्त्रशास्त्र का महान् पण्डित था। मगध के बौद्ध महाविहारों में इस समय तान्त्रिक धर्म (वज्रयान) का जोर था। अमोघवज्र ने ४१ तन्त्रग्रन्थों का चीनी भाषा मे अनुवाद किया। चीन के राजा की उसमे अपार श्रद्धा थी। उसने उसे 'राज्यकर्णधार' और 'त्रिपिटक-भदन्त' की उपाधियो से विभूषित किया था। अमोघवज्र और उसके अन्य साथियो से ही चीन मे तान्त्रिक धर्म का प्रवेश हुआ। ९७१ ई० मे मञ्जुश्री और फिर ९७३ ई० मे धर्मदेव नाम के आचार्य चीन गये। ये नालन्दा के निवासी थे। धर्मदेव ने ४६ ग्रन्थों का चीनी भाषा मे अनुवाद किया। १००४ ईस्वी मे धर्मरक्ष अनेक पण्डितो के साथ चीन गया। वह भी मगध का निवासी था। ९६ वर्ष की आयु मे १०५३ ई० में चीन मे ही उसकी मृत्यु हुई। इसके बाद सन् १०५३ में ज्ञानश्री नाम के आचार्य ने मगध से चीन के लिए प्रस्थान किया। सम्भवत:, यह अन्तिम आचार्य था, जो भारत से चीन में धर्म-प्रचार के लिए गया था। ग्यारहवी सदी के बाद चीनी अनुश्रुति में किसी ऐसे भारतीय पण्डित का उल्लेख नहीं मिलता, जो चीन जाकर बौद्ध-धर्म के प्रचार में व्यापृत रहा हो। तुर्कों के जो आक्रमण दसवीं सदी के अन्त में

भारत पर प्रारम्भ हो गये थे, उन्होने इस देश की व्यवस्था और शांति पर कठोर कुठाराघात किया था। इन नये प्रकार के म्लेच्छो व 'यवनों' के आक्रमणों से भारत की जीवनी-शक्ति निर्बल पड़ने लग गयी थी, और मगध के महाविहार भी देर तक अपनी सत्ता को कायम रखने में असमर्थ रहे थे। इसमे सन्देह नही, कि मगध और भारत के अन्य प्रदेशों के पण्डितों ने चीन जाकर वहाँ भारतीय धर्म, भाषा, सभ्यता, कला और संस्कृति के प्रचार के लिए जो अनुपम कार्य किया, वह भारत के इतिहास के लिए अत्यन्त गौरव की वस्तु है।

तिब्बत मे बौद्ध-धर्म का प्रवेश चौथी सदी मे हुआ था। मौर्य राजा अशोक के समय में जो बौद्ध-प्रचारक हिमवन्त प्रदेशो मे धर्म-प्रचार के लिए गये थे, सम्भवतः, उन्ही की शिष्य-परम्परा ने बाद मे तिब्बत मे भी कार्य किया। पर इन आचार्यों के नाम इस समय तक ज्ञात नही हुए है। तिब्बत मे बौद्ध-धर्म का प्रचार विशेष रूप से सातवी सदी में हुआ। उस समय तिब्बत मे स्रोङ्-ग्चन्-गम्-पो नाम का प्रतापी राजा राज्य करता था। इसके दो विवाह हुए, एक चीन के किसी राजा की कुमारी से और दूसरा नेपाल के राजा अशुवर्मन् की कन्या भृकुटीदेवी से। ये दोनों कुमारियाँ बौद्ध-धर्म को माननेवाली थी। इनके प्रभाव से राजा ने भी बौद्ध-धर्म को अपनाया। इसी वंश मे आगे चलकर खि-स्रोङ्-ल्दे-व्चन तिब्बत का राजा हुआ। इसका एक अमात्य चीन देश का रहने वाला और कट्टर बौद्ध था। उसके प्रभाव से राजा ने शातरक्षित नाम के भारतीय आचार्य को तिब्बत आने का निमंत्रण दिया। आचार्य पद्मसम्भव के सहयोग से शांतरक्षित ने तिब्बत मे बौद्ध-धर्म का प्रचार किया। आठवी सदी मे जिन भारतीय पण्डितो ने तिब्बत मे अपना काम शुरू किया, वे मगध के निवासी थे। मगध के महाविहारों के अनुकरण मे तिब्बत की राजधानी ल्हासा से तीस मील दक्षिण-पूर्व में सम्-ये नामक स्थान पर इन्होंने एक महाविहार का निर्माण कराया। यह बहुत समय तक तिब्बत में ज्ञान और विद्या का केन्द्र रहा। यह अब तक भी विद्यमान है, और तिब्बत के प्रसिद्ध विहारों में गिना जाता है। यह बौद्धो के सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। शातरक्षित इसी सम्प्रदाय के अनुयायी थे। उन्होने अपने सहयोग के लिए बारह अन्य पण्डितों को भारत से बुलाया, और इनके प्रयत्न से तिब्बती लोग बौद्ध भिक्षु बनने लगे। पद्मसम्भव तान्त्रिक अनुष्ठानो मे विश्वास करता था। उसके प्रयत्न से तिब्बत मे वज्रयान का प्रवेश हुआ। बाद मे आर्यदेव, बुद्धकीर्ति, कुमारश्री, कर्णपति, कर्णश्री, सूर्यध्वज, सुमतिसेन और कमलशील आदि अनेक भारतीय आचार्य तिब्बत में गये, और उन्होंने इस दुर्गम देश मे भारतीय धर्म के प्रचार का श्लाघनीय प्रयत्न किया। इन आचार्यों मे कमलशील का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसे खास तौर पर भारत से बुलाया गया था। कारण यह, कि एक चीनी बौद्ध भिक्षु, जिसका नाम ह्वा-शंग था, इस समय चीन में बौद्ध-धर्म के शून्यवाद सम्प्रदाय का प्रचार करने में व्यापृत था। भारतीय आचार्य सर्वास्तिवाद और माध्यमिक सम्प्रदायो के अनुयायी थे। ह्वा-शंग का मुकाबला करने के लिए यह आवश्यकता अनुभव हुई, कि भारत से एक प्रकाण्ड पण्डित को तिब्बत बुलाया जाय। इसी उद्देश्य से कमलशील तिब्बत गये, और राजा के

सभापतित्व में हुई भारी सभा मे चीनी भिक्षु के साथ उनका शास्त्रार्थ हुआ। शास्त्रार्थ मे कमलशील की विजय हुई, और ह्वा-शंग ने अपने हाथों से कमलशील को जयमाला पहनाई। कमलशील का तिब्बत में बड़ा आदर हुआ। उसे लोग दूसरा भगवान् बुद्ध मानने लगे। इस भारतीय आचार्य का विविध मसालों से सुरक्षित किया हुआ शव अब तक तिब्बत के एक बिहार मे सुरक्षित है, और तिब्बती लोग उसे बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। इन भारतीय विद्वानों ने बौद्ध-धर्म के सस्कृत-ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में अनुवाद भी शुरू किया। संस्कृत की पुस्तको का तिब्बती मे अनुवाद करने के लिए जनमित्र, शीलेन्द्रबोधि, दानशील, प्रज्ञावर्मन्, सुरेन्द्रबोधि आदि अनेक भारतीय पण्डित तिब्बत बुलाये गये, और इनके प्रयत्नो से न केवल सम्पूर्ण बौद्ध त्रिपिटक, अपितु अन्य भी बहुत-से ग्रन्थों का तिब्बती भाषा मे अनुवाद किया गया। नवी सदी मे यह प्रक्रिया निरन्तर जारी रही, और अन्य भी अनेक भारतीय पण्डित तिब्बत गये। तिब्बत मे अनेक लोग ऐसे भी थे, जो बौद्ध-धर्म के द्वेषी थे, और भारतीय आचार्यों के प्रभुत्व को पसन्द नही करते थे। इनके विरोध के कारण दसवी सदी मे भारतीय पण्डितों का तिब्बत जाना कुछ समय के लिए रुक गया। पर ग्यारहवीं सदी में फिर स्मृति, धर्मपाल, सिद्धपाल, गुणपाल, प्रज्ञापाल, सुभूति, श्रीशांति और दीङ्कर श्रीज्ञात अतीश आदि अनेक आचार्य तिब्बत गये। इनमे अतीश के सम्बन्ध मे अधिक विस्तार से लिखने की आवश्यकता है। ये विक्रमशिला महाविहार के प्रधान कुलपति थे। उनकी कीर्ति को सुनकर तिब्बत के राजा ने एक दूतमण्डल इस उद्देश्य से भेजा था, कि उन्हे तिब्बत मे निमंत्रित करे। सत्तर वर्ष के वृद्ध होने पर भी आचार्य अतीश तिब्बत गये, और वहाँ जाकर उन्होंने बौद्ध-धर्म को पुनः संगठित किया। अतीश बहुत बडे विद्वान् थे। उन्होने २०० के लगभग ग्रन्थ लिखे, जिनमें पुराने संस्कृत ग्रन्थो के तिब्बती अनुवाद भी सम्मिलित थे। उनकी मृत्यु तिब्बत में ही हुई। ल्हासा से बीस मील की दूरी पर क्यु-ची नदी के तट पर उनकी समाधि अब तक विद्यमान है, और तिब्बती लोग उसे बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। तिब्बत मे बौद्ध-धर्म का जो संगठन आचार्य अतीश ने किया था, वही कुछ परिवर्तित रूप में अब तक विद्यमान है।

मगध के महाविहारो के विविध बौद्ध-आचार्यों ने चीन और तिब्बत मे धर्म और संस्कृति के प्रचार के लिए जो उद्योग किया, वह वस्तुतः अनुपम था।

(३) बौद्ध-धर्म का ह्रास

अनेक गुप्त-साम्राट् और मगध के पालवंशी राजा जिस बौद्ध-धर्म के अनुयायी थे, और जिसके महाविहारों के विद्वान् आचार्य बारहवीं सदी तक ज्ञान और धर्म के सन्देशवाहक होकर सुदूर देशो में जाया करते थे, वह अफगानों के आक्रमणों के बाद भारत से सर्वथा लुप्त-सा हो गया, यह बात बड़े आश्चर्य की है। मौर्यों के बाद भारत में पौराणिक वैदिक धर्म के पुनरुत्थान का जो आन्दोलन शुरू हुआ था, उसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। भारत के सर्वसाधारण गृहस्थ ब्राह्मणों और श्रमणों का समान रूप से आदर करते थे। वे अपनी स्थानीय परम्पराओं के अनुसार विविध प्रकार के

अनुष्ठानों का प्रयोग करते थे, और सब संन्यासियों एवं भिक्षुओं की एक सदृश सेवा करते थे। विदेशों मे जो बौद्ध-प्रचारक गये, वे उन देशों में एक नयी सभ्यता और संस्कृति के सन्देशवाहक थे, क्योंकि वहाँ के निवासी भारत की अपेक्षा बहुत पिछड़े हुए थे। पर भारत मे वे केवल धर्म का नेतृत्व करते थे। वहाँ उन्हे किसी नई सभ्यता व संस्कृति से जनता को परिचित नही कराना था। बौद्ध-संघ की आतरिक शिथिलता के साथ-साथ ज्यो-ज्यों अन्य धर्मों के ब्राह्मणो व सन्यासियों में जीवन और स्फूर्ति बढती गयी, त्यों-त्यों बौद्ध-भिक्षुओं का जनता पर प्रभाव कम होता चला गया।

इसके अतिरिक्त, पौराणिक धर्म के पुनरुत्थान के साथ जिन देवी-देवताओं की उपासना का प्रारम्भ हुआ था, वे भारत की प्राचीन परम्परा के अनुसार लोगो के हृदय मे गहरा स्थान रखते थे। बौद्ध लोग उनकी उपेक्षा नही कर सके। उन्होंने भी उन विविध देवी-देवताओं को नये नामो से अपने धर्म मे स्थान देना शुरू किया। मंजुश्री, तारा, अवलोकितेश्वर आदि के रूप मे अनेक देवी-देवताओं ने बौद्ध-धर्म मे भी प्रवेश कर लिया था। बौद्धों के जो बहुत-से सम्प्रदाय व उप-सम्प्रदाय धीरे-धीरे विकसित हो गये थे, उनमे और पौराणिक धर्म मे बहुत कम भेद रह गया था। तन्त्रवाद के प्रवेश से तो शक्ति के उपासक पौराणिक और वज्रयानी बौद्ध एक-दूसरे के बहुत समीप आ गये थे। भगवान् के दस अवतारो मे पौराणिक लोगो ने बुद्ध को भी शामिल कर लिया था। जिस महाप्रतापी सिद्धार्थ के अनुयायी न केवल भारत मे अपितु सुदूर विदेशो मे संस्कृत-भाषा, भारतीय धर्म और भारतीय संस्कृति के प्रचार में लगे थे, जिसके स्तूपो, चैत्यो और विहारो से सारा सभ्य संसार आच्छादित था, वह भगवान् का साक्षात् अवतार नही था तो क्या था। पौराणिक लोग बुद्ध को अवतार मानते थे और बौद्ध लोग भारत के पुराने देवी-देवताओं और दार्शनिक विचारसरणी का अनुसरण करते थे। इस दशा में यदि उनमे भेद बहुत कम रह गया हो, तो यह सर्वथा स्वाभाविक था।

गुप्त-सम्राटो मे कुछ वैष्णव, कुछ शैव और कुछ बौद्ध थे। एक ही परिवार मे भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न धर्मों के अनुयायी हो सकते थे। सम्राट् हर्षवर्धन सूर्य की उपासना करता था, शिव को मानता था, और साथ ही बौद्ध स्थविरो में भी श्रद्धा रखता था। पालवशी राजा बौद्ध थे, पर ब्राह्मण पण्डितो को दान देने मे और पौराणिक मन्दिरो की सहायता करने मे वे सकोच नही करते थे। भारत के विविध धर्मों का भेद अब केवल उनके नेताओं तक ही सीमित रह गया था। बौद्ध भिक्षु अपने महाविहारो मे रहते थे, पौराणिक संन्यासी आश्रमों और मठो मे निवास करते थे। विविध धर्मों के इन विविध पण्डितों मे प्रायः शास्त्रार्थ होते रहते थे। जिस धर्म के पण्डित, ब्राह्मण व सन्यासी अधिक विद्वान् व त्यागी होते, वही जनता पर अपना अधिक प्रभाव कायम कर लेता। सातवी सदी मे अनेक ऐसे पौराणिक विद्वान् भारत में हुए, जिन्होने अपनी विद्वता, तर्क और प्रभाव से सबको चकाचौंध-सा कर दिया। प्रभाकर और कुमारिल भट्ट के नाम इनमे विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कुमारिल ने बौद्ध-सिद्धान्तो पर आक्रमण किये, और वैदिक अनुष्ठानों तथा प्राचीन दर्शनपद्धति के गौरव

को पुनरुज्जीवित किया। बाद में शंकराचार्य ने सारे भारत मे भ्रमण कर बौद्धो के साथ जगह-जगह पर शास्त्रार्थ किये और बौद्ध भिक्षुसंघों से मुकाबले मे अपने मठों का संगठन किया, जिनमें हजारों संन्यासी विद्याध्ययन मे व्यापृत रहने लगे। इन संन्यासियों के सम्मुख बौद्ध-भिक्षुओ का प्रभाव मन्द पड गया। बौद्ध-संघ को कायम हुए हजार से अधिक साल हो चुके थे, वैभवपूर्ण सम्राटों के दान और साहाय्य से उसके पास अपार सम्पत्ति एकत्र हो गयी थी। मगध के महाविहारों में हजारो भिक्षु निश्चिन्त होकर आनन्द के साथ जीवन व्यतीत करते थे। उन्हें लोगों के पास भिक्षा-पात्र लेकर जाने की आवश्यकता अब नही रही थी। वे नाम को ही भिक्षु थे। इसके विपरीत आश्रमो और मठो मे रहने वाले संन्यासियों मे इस समय नई स्फूर्ति विद्यमान थी। परिणाम यह हुआ, कि भारतीयो की श्रद्धा बौद्ध-भिक्षुओं में कम हो गयी, और वे सन्यासियो के उपदेशों को अधिक सम्मान के साथ श्रवण करने लगे।

बारहवी सदी के अन्त मे अफगानो के आक्रमणो से जब मगध के महाविहार तथा अन्य स्थानों के संघाराम और विहार विनष्ट हुए, तो बौद्ध-भिक्षुओं का रहा-सहा प्रभाव भी नष्ट हो गया। सुदूर दक्षिण के सन्यासियो के मठ इन विदेशी के आक्रमणों से बचे रहे थे। रामानुज, शकराचार्य आदि ने जिन नये धार्मिक आन्दोलनो का सूत्रपात किया था, उनके केन्द्र दक्षिणी भारत मे थे। वहाँ के सन्यासी बाद मे भी भारत-भ्रमण करते हुए जनता को धर्म का मार्ग प्रदर्शित करते रहे। मगध के मुसलिम आक्राताओं द्वारा पराभूत होने और बौद्ध-विहारो के ध्वस के बाद बहुत-से भिक्षु नेपाल और तिब्बत की ओर चले गए थे। मुसलमानो को बौद्ध-भिक्षुओ से बहुत द्वेष था। जब मुसलिम तुर्कों ने मध्य एशिया पर हमले किये थे, तो उस क्षेत्र मे भी बौद्ध-धर्म का प्रचार था। वहाँ भी उन्होने बौद्ध विहारो और भिक्षुओ का विनाश किया था। भारत मे भी उन्हे जब वही विहार और वही भिक्षु दिखाई दिये, तो उन्होने यहाँ भी उनके साथ बडी क्रूरता का बरताव किया। भारत से बौद्ध-धर्म के लोप का यह भी एक महत्त्वपूर्ण कारण था।

वज्रयान के विकास ने भी भारत मे बौद्ध-धर्म के ह्रास मे बहुत सहायता दी। सातवीं सदी के बाद भारत मे जिस बौद्ध-धर्म का प्रचार था, वह मुख्यतया वज्रयान ही था। इस सम्प्रदाय के सिद्ध वज्रगुरु जिस प्रकार का जीवन व्यतीत करते थे, वह अन्धविश्वासी और अन्धभक्त लोगो को चाहे अपने प्रति अनुरक्त रख सके, पर विचार-शील लोग उससे कदापि सन्तोष अनुभव नही कर सकते थे। बौद्ध-संघ के पास धन की कमी नही थी। इस धन का उपयोग वे अब एक ऐसे विलासपूर्ण व उच्छृङ्खल जीवन को बिताने मे करने लगे थे, जिसे उन्होंने रहस्यमय साधनाओं और जटिल वाग्जाल की आड़ लेकर योगसिद्धि का उपाय मान रखा था। दूसरी ओर कुमारिल और शंकर जैसे पण्डित जहाँ अगाध विद्वान् थे, वहाँ साथ ही त्यागी और तपस्वी भी थे। उन्होने अपने सिद्धान्तो का प्रचार करने के लिए पण्डितों और संन्यासियों की जिन मण्डलियो को संगठित किया, वे पवित्र और तेजस्वी जीवन में विश्वास रखती थी। परिणाम यह हुआ, कि जनता की श्रद्धा बौद्ध-धर्म में कम होने लगी, और वह प्रधानतया उन

महाविहारों में ही केन्द्रित रह गया, जिन्हें राजाओं से प्रचुर सहायता प्राप्त होती थी, और जिनके पास अतुल धनराशि संचित थी। इसमें सन्देह नहीं, कि कुमारिल और शंकर के बाद भी भारत में बौद्धधर्म का प्रचार रहा। बंगाल और मगध के पालराजा धर्म से बौद्ध थे। प्रतापी गहड़वाल वंश के अनेक राजपुरुषों ने भी बौद्धधर्म के प्रति भक्ति प्रदर्शित की थी। कतिपय अन्य राजवंश भी बौद्धधर्म के अनुयायी रहे। पर इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता, कि मध्य युग में न भारत की बहुसंख्यक जनता ही बौद्ध-धर्म की अनुयायी रही थी, और न उसके बहुसंख्यक राजवंश ही। मौर्यों के बाद वैदिक धर्म का जो पुनरुत्थान हुआ था, वह धीरे-धीरे जोर पकड़ता जा रहा था। कुमारिल और शंकर जैसे आचार्यों के प्रयास के कारण जनता की श्रद्धा वैदिक व पौराणिक सम्प्रदायों के प्रति बढ़ रही थी। इस युग में वैष्णवों और शैवों में भी यह शक्ति थी, कि वे विदेशी जातियों को अपने में दीक्षित कर सकें, और विदेशों में जाकर अपने धर्म का प्रचार करें। मध्ययुग में बौद्ध-धर्म का प्रधान केन्द्र मगध था, जहाँ बौद्ध-धर्म के अनुयायी पाल राजाओं का शासन था। अन्यत्र इस धर्म का तेजी के साथ ह्रास हो रहा था। जब मुहम्मद बिन बख्तियार खिलजी जैसे धर्मान्ध आक्रान्ताओं ने विहार के बौद्ध-केन्द्रों को भूमिसात् कर दिया, तब यह धर्म इस देश से लुप्त हो गया।

(४) भारतीय संस्कृति को बौद्ध धर्म की देन

यद्यपि बौद्ध-धर्म भारत से लुप्त हो चुका है, पर वह इस देश की संस्कृति, विचारसरणी और जीवन पर अपना गहरा प्रभाव छोड़ गया है। एक हजार साल से भी अधिक समय तक बौद्ध-धर्म का इस देश में प्रचार रहा। इस सुदीर्घ काल में इस धर्म ने यहाँ के सामाजिक जीवन को इतना अधिक प्रभावित किया, कि बौद्ध-धर्म को लुप्त हुए आठ सदी के लगभग समय बीत जाने पर भी उसका प्रभाव अभी तक विद्यमान है। भारत की संस्कृति और जीवन को बौद्धों ने जिस प्रकार प्रभावित किया है, इसका संक्षिप्त रूप में इस प्रकार निदर्शन किया जा सकता है—

(१) भारतीय दर्शन पर बौद्ध-धर्म का बहुत अधिक प्रभाव है। प्राचीन समय में वैदिक या आस्तिक दर्शनों का किस प्रकार विकास हुआ, इस पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। पर भारतीय दर्शनशास्त्र का विकास प्राचीन काल में ही समाप्त नहीं हो गया था। बौद्ध-युग और बाद के काल में भी उसका विकास जारी रहा। नव्यन्याय प्राचीन न्यायशास्त्र से बहुत अधिक विकसित है। वेदान्त का प्रतिपादन जिस रूप में शंकराचार्य ने किया, वह उपनिषदों व ब्रह्मसूत्रों के वेदान्त से अनेक अंशों में भिन्न है। दर्शनशास्त्र का जिस ढंग से विकास बाद में हुआ, उसमें बौद्ध-पण्डितों का बड़ा कर्तृत्व था। भारतीय न्यायशास्त्र का सूत्रपात और विकास करने में अक्षपाद, वात्स्यायन, वाचस्पति, उदयनाचार्य और गंगेशोपाध्याय ने जो कार्य किया, उससे कम महत्त्वपूर्ण कार्य नागार्जुन, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकरगुप्त और ज्ञानश्री आदि बौद्ध पण्डितों ने नहीं किया। इन बौद्ध-पण्डितों की छाप न्यायशास्त्र पर बहुत अधिक स्पष्ट है। शंकराचार्य के वेदान्तदर्शन पर भी बौद्ध विचारसरणी का प्रभाव बहुत अधिक है।

शंकर का मायावाद नागार्जुन के शून्यवाद का रूपान्तर ही है। शंकर सृष्टिकर्त्ता के रूप में ईश्वर की आवश्यकता को नही मानता। उसका 'ब्रह्म' सृष्टि का कारण अवश्य है, पर ब्रह्म सृष्टि का कर्त्ता नहीं है। माया से अवच्छिन्न हो जाने पर सृष्टि के रूप मे उसी का आभास होता है। शंकर के अनुयायी श्रीहर्ष का 'खण्डनखण्डखाद्य' बौद्धों के माध्यमिक दर्शन से अधिक भिन्न नहीं है। यही कारण है, कि अनेक विचारकों ने शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध कहा है। सांख्य दर्शन ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता न मानकर कपिल के रूप में एक सर्वाधिक ज्ञानवान् व्यक्ति को गुरु-रूप से प्रतिपादित करता है, यह भी बौद्ध-दर्शन के प्रभाव का ही परिणाम है। इसमे सन्देह नही, कि भारत के दर्शन-शास्त्रो का जिस रूप मे आगे चलकर विकास हुआ, उसपर बौद्ध-दर्शनो का प्रभाव बहुत स्पष्ट है।

(२) बौद्ध-धर्म ने याज्ञिक अनुष्ठान और पशुहिंसा के विरुद्ध आवाज उठाई थी। इसीलिए जब शुङ्ग-युग मे पुराने वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ, तो यज्ञो और याज्ञिक अनुष्ठानो मे पशुबलि का वह स्थान नही रहा, जो बोद्धों से पहले था। बौद्ध धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में भागवत, शैव आदि जो पौराणिक सम्प्रदाय प्रचलित हुए, वे भक्ति और पूजा को यज्ञो की तुलना मे अधिक महत्त्व देते थे। यदि बौद्ध लोग जीवन की उन्नति के लिए महात्मा बुद्ध को जनता के सम्मुख आदर्श रूप में पेश करते थे, तो भागवत धर्म के आचार्यों ने कृष्ण और राम को पूर्ण पुरुषों के रूप में उपस्थित किया। यदि बुद्ध की भक्ति द्वारा मनुष्य परमलाभ प्राप्त कर सकता था, तो राम और कृष्ण सदृश लोकोत्तर व्यक्तियो (ईश्वर के अवतारो) की भक्ति भी उसे अभिलषित फल प्राप्त करा सकती थी। बौद्ध-धर्म में जो स्थान बुद्ध का था, भागवत-धर्म मे वही वासुदेव कृष्ण का था। बौद्ध लोग बुद्ध की पूजा के लिए चैत्यो का निर्माण करते थे और उनमे बुद्ध की मूर्ति स्थापित करते थे। पौराणिको ने कृष्ण, राम, शिव, स्कन्द, विशाख आदि की प्रतिमाएँ बनाकर मन्दिरो मे उनकी प्रतिष्ठा करना प्रारम्भ कर दिया था। बौद्धो के पूजा-पाठ मे आडम्बर की वृद्धि होने पर पौराणिको ने भी उसका अनुकरण कर अपनी पूजा विधि को जटिल बना लिया। मन्दिरो मे कृष्ण व राम की जो मूर्तियाँ स्थापित होती थी, उनका साज-शृङ्गार किया जाने लगा। उनको सन्तुष्ट करने के लिए नाचने और गाने की प्रथा शुरू हुई, और उनके सम्मुख भोग लगाया जाने लगा। बौद्धों के वज्रयान के समान पौराणिक धर्म में भी अब ऐसे सम्प्रदाय उत्पन्न हुए, जो अलौकिक सिद्धि प्राप्त करना ही अपना ध्येय मानते थे। शैवो के पाशुपत और कापालिक सम्प्रदायों ने बहुत जोर पकडा। ये दोनों सम्प्रदाय वज्रयानी बौद्धो के समान सिद्धियो मे विश्वास रखते थे, और उनके लिए अनेक रहस्यमय अनुष्ठानों का प्रतिपादन करते थे। बाद में शाक्त सम्प्रदाय बहुत प्रबल हुआ। इसमें आनन्दभैरवी आदि देवियो की पूजा की जाती थी। इसी को वाममार्ग भी कहते थे।

(३) बौद्ध-विहारों के अनुकरण में पौराणिक सम्प्रदायो ने मठों का संगठन किया। इन मठों में हजारों संन्यासी या साधु एक साथ रहने लगे, और उनका जीवन बौद्ध भिक्षुओं से अधिक भिन्न नहीं रहा। बौद्धों से पूर्व भारत में मठों या बिहारों की

प्रथा नही थी। उस युग में अरण्यों में आश्रमों की सत्ता अवश्य थी, जिनमें तत्त्वचिन्तक ऋषि-मुनि पुत्र कलत्र के साथ निवास किया करते थे, और ज्ञानपिपासुओं को उपदेश करते थे। पर प्रव्रज्या द्वारा भिक्षुव्रत लेकर हजारो भिक्षुओं का विहारों मे निवास करना बौद्ध-धर्म द्वारा ही प्रारम्भ हुआ, और उसी के अनुकरण मे पौराणिक सम्प्रदायों के मठ संगठित हुए, जिनमें सन्यास लेकर बहुत-से साधु एक साथ निवास करने लगे।

(४) भारत मे विद्या और ज्ञान के विकास मे भी बौद्धो ने बहुत भाग लिया। संस्कृत व्याकरण में चन्द्रगोमि का व्याकरण अपना विशेष स्थान रखता है, यद्यपि उसने वैदिक सस्कृत का स्पर्श नही किया, क्योकि वह बौद्ध था। काशिकाकार जयादित्य और न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि बौद्ध-धर्म के अनुयायी थे। पाणिनि मुनि की अष्टाध्यायी की इन दोनो टीकाओ का व्याकरण-साहित्य मे बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। संस्कृत के अत्यन्त प्रसिद्ध कोश 'अमरकोश' का रचयिता अमरसिंह बौद्ध था। आयुर्वेद की रसायन शाखा के विकास मे आचार्य नागार्जुन ने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। कालिदास से पूर्व महाकवि अश्वघोष ने 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरानन्द' जैसे महाकाव्य, और 'राष्ट्रपाल' व 'सारिपुत्र' जैसे नाटक लिखकर सस्कृत-काव्य की उस धारा को प्रारम्भ किया, जिसे आगे चलकर कालिदास और भवभूति ने बहुत उन्नत किया। हर्ष ने नागानन्द लिखकर बोधिसत्त्व के आदर्श का चित्रण किया। हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भ का श्रेय भी बौद्ध विद्वानों को ही प्राप्त है। बौद्ध विद्वानो की सदा यह नीति रही, कि उन्होने अपने मन्तव्यो का प्रचार करने के लिए ऐसी भाषा का प्रयोग किया, जिसे सर्वसाधारण जनता भलीभाँति समझ सकती थी। बुद्ध ने अपने उपदेश पालि भाषा मे दिये थे, इसलिए स्थविरवाद के त्रिपिटक की भाषा पालि ही थी। वज्रयान के विकास होने पर उसके सिद्ध गुरुओ ने एक ऐसी अपभ्रंश भाषा को अपने उपदेशो के लिए प्रयुक्त किया, जो उस समय जनता की भाषा थी, और जो आगे चलकर विकसित होती-होती हिन्दी के रूप मे परिवर्तित हो गयी। यही कारण है, कि सरहपा सिद्ध को हिन्दी का आदिकवि माना जाता है। यह वज्रयानी सिद्ध सातवी सदी मे हुआ था। उदाहरण के लिए इसका एक दोहा यहाँ उल्लिखित करना उपयोगी होगा :

जह मन पवन न सञ्चरइ, रवि शशि नाह प्रवेश।
तहि वट चित्त विसाम करु, सरहे कहिअ उवेश॥

(५) भारत की मूर्तिकला और वास्तुकला के विकास मे बौद्धो ने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। साञ्ची, भरहुत, गान्धार व मथुरा की कला बौद्धो की ही कृति थी। अजन्ता, बाघ आदि के गुहामन्दिर और उनकी दीवारो पर बनाए गए सुन्दर चित्र बौद्धों द्वारा इस क्षेत्र मे किये गए कार्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। एलोरा, अजन्ता, कार्ला आदि मे पहाड काटकर बनाये गए भव्य प्रासाद बौद्ध शिल्पियो की ही कृति है। बडे-बडे चैत्यों, स्तूपो और विहारों के निर्माण मे जो कर्तृत्व बौद्धों ने प्रदर्शित किया, वह वस्तुतः अद्भुत था। बौद्धो के प्रयत्न से ही वास्तुकला के ये विविध नमूने भारत में सर्वत्र व्याप्त हो गए, और भारत के जो प्राचीनतम भवन, मूर्तियाँ आदि विकल व खण्डहर रूप मे आजकल उपलब्ध होते है, वे सब प्रायः बौद्धो द्वारा ही बनवाये गए थे।

(६) अहिंसा, प्राणिमात्र का हित व कल्याण और सदाचारमय जीवन के जो आदर्श बौद्ध-धर्म ने उपस्थित किए थे, वह आज तक भी भारतीयों के जीवन को अनुप्राणित करते है। बौद्धों ने अपने धर्म के प्रचार के लिए कभी पाशविक बल का उपयोग नही किया। सब प्राणियों के प्रति मैत्रीभावना ही उनकी लोकप्रियता मे प्रधान कारण हुई। बौद्धों की इसी भावना का यह परिणाम हुआ, कि इस देश में धार्मिक विद्वेष कभी उस रूप में प्रगट नही हुआ, जैसा कि अन्यत्र हुआ था।

(७) महात्मा बुद्ध के सन्देश को विदेशो में दूर-दूर तक फैलाकर बौद्ध-प्रचारकों ने भारतीय भाषा, सभ्यता, संस्कृति और साहित्य को सार्वभौम रूप प्रदान किया। भारत के प्राचीन इतिहास का यह सबसे अधिक उज्ज्वल और गौरवपूर्ण पहलू है। उत्तर-पश्चिम और दक्षिण-पूर्व के सुविस्तृत क्षेत्रो मे किस प्रकार बृहत्तर भारत का विकास हुआ था, इस विषय पर हम विशदरूप से प्रकाश डाल चुके हैं। भारतीय सस्कृति का इस ढग से इतने विशाल क्षेत्र मे प्रसार करने का प्रधान श्रेय बौद्धों को ही प्राप्त है, और यही उनकी भारतीय इतिहास को सबसे महत्त्वपूर्ण देन है।

उन्नीसवां अध्याय

पूर्व-मध्य युग की सभ्यता और संस्कृति

(१) पूर्व-मध्य युग की विशेषताएँ

छठी शताब्दी में गुप्त-साम्राज्य का क्षय हुआ, और बारहवी सदी के अन्त तक उत्तरी भारत के बड़े भाग पर मुसलिम आक्रान्ताओं का शासन स्थापित हो गया। सातवीं सदी से बारहवी सदी तक—छ: शताब्दियों को भारत के इतिहास का पूर्व-मध्य-युग कहा जा सकता है। इस युग की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित थी :—

(१) इन सदियो मे भारत में कोई ऐसी राजनीतिक शक्ति नही थी, जो देश के बडे भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित कर एक ऐसे साम्राज्य की नीव डालने में समर्थ होती, जिससे यह देश एक राजनीतिक सूत्र में संगठित रहता। राजनीतिक इतिहास की दृष्टि से यह युग अव्यवस्था का था। इस काल मे अनेक ऐसे राजवंशों की सत्ता थी, जिनके राजा निरन्तर आपस मे लड़ते रहते थे, और जो अनेक बार दूर-दूर तक विजय-यात्राएँ करके भी किसी स्थिर साम्राज्य की नीव डालने मे असमर्थ रहते थे। सातवी सदी के पूर्वार्ध मे स्थाण्वीश्वर और कन्नौज के राजा हर्षवर्धन ने उत्तरी भारत में, और चालुक्य पुलकेशी द्वितीय ने दक्षिणापथ मे विशाल साम्राज्यों का निर्माण किया। पर उनकी कृति देर तक स्थिर नही रही। आठवी सदी में उत्तरी भारत मे पाल, गुर्जरप्रतीहार, कर्कोट आदि राजवशो ने और दक्षिणी भारत में राष्ट्रकूट,पल्लव, गंग, चोल, चालुक्य आदि राजवशों ने शासन किया। यही दशा नवी, दसवी, ग्यारहवी और बारहवी सदियों मे रही। यद्यपि इस काल में शासन करनेवाले राजवंशो में परिवर्तन होता रहा, पर राजनीतिक दशा में कोई अन्तर नही आया। कन्नौज मे गुर्जरप्रतीहारों का स्थान गहड्वालो ने ले लिया, और दक्षिणापथ मे राष्ट्रकूटो का स्थान कल्याणी के चालुक्यो ने। पर गुप्त-साम्राज्य के क्षय के बाद भारत मे जो राजनीतिक अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी थी, उसमे किसी प्रकार का अन्तर नहीं आया।

(२) प्राचीन बौद्ध-धर्म का स्वरूप इस युग में बहुत परिवर्तित हुआ। मन्त्र-शक्ति और तान्त्रिक क्रियाओ के प्रवेश के कारण बौद्ध-धर्म के रूप में बहुत परिवर्तन आ गया, और वज्रयानी बौद्ध-गुरु मन्त्र-सिद्धियों द्वारा अपने अनुयायियों का कल्याण करने के लिए प्रयत्नशील हुए। पौराणिक हिन्दू-धर्म में भी शाक्त (वाममार्गी) सम्प्रदाय के रूप में एक ऐसे मत का प्रादुर्भाव हुआ, जो वज्रयान से बहुत मिलता-जुलता था। बौद्ध और हिन्दू—दोनों धर्मों मे वाममार्ग का प्रवेश इस युग की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। इसके कारण भारत के प्राचीन धर्मों की शक्ति और महत्ता में बहुत अन्तर आया, और जीवन को नवस्फूर्ति, सदाचार भावना व उच्च आदर्श से अनुप्राणित करने का जो

कार्य भारत के प्राचीन धर्म किया करते थे, उनका स्थान अब उन रहस्यमयी क्रियाओं ने ले लिया, जिनकी तह तक पहुँच सकना सर्वसाधारण जनता के लिए सर्वथा असम्भव था। इतना ही नहीं, भारत के धर्म मे इस समय वह शक्ति भी नही रह गयी, जो किसी समय यवन, शक, पार्थियन, कुशाण, हूण आदि विदेशी जातियों को आत्मसात् करने में समर्थ हुई थी। दसवी सदी के अन्त में जब महमूद गजनवी ने भारत पर आक्रमण किया, और तुर्क लोग भारत में बसने लगे, तो इस देश के शैव, वैष्णव आदि धर्म उन्हें अपना अनुयायी बनाने में या उन्हें अपने दायरे में ले सकने में असमर्थ रहे। बैक्ट्रिया के जिन यवनों ने दूसरी सदी ई० पू० मे भारत में प्रवेश किया था, सभ्यता व संस्कृति की दृष्टि मे वे अच्छे उन्नत थे। पर फिर भी उन्होंने भारत के धर्म की दीक्षा ली। मुस्लिम तुर्कों व अफगानों को आत्मसात् करने के विषय में जो असामर्थ्य भारतीयों ने प्रदर्शित किया, उसमें इस्लाम की शक्ति जहाँ कारण थी, वहाँ भारतीय धर्मों का आन्तरिक ह्रास भी उसके लिए उत्तरदायी था।

(३) सामाजिक दृष्टि से इस युग मे संकीर्णता उत्पन्न हुई। प्राचीन समय में भारत का सामाजिक संगठन वर्ण-धर्म के सिद्धान्त पर अवश्य आश्रित था, पर उस समय जातिभेद ने उग्र रूप धारण नही किया था। मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार शिल्प, व्यवसाय व पेशे का अनुसरण कर सकता था, और कर्म के अनुसार ऊँचे या नीचे वर्ण को भी प्राप्त कर सकता था। विविध वर्णों के लोगो में विवाह-सम्बन्ध भी निषिद्ध नही था, और खान-पान के मामले मे भी लोग संकीर्ण विचार नहीं रखते थे। पर मध्यकाल से यह स्थिति बदल गयी, और जातिभेद उस रूप मे आ गया, जिसमें कि वह आजकल पाया जाता है। भारतीय समाज के पुराने वर्णों, वर्गों, जनों (कबीलों) और श्रेणियो (व्यवसायी व व्यपारी वर्ग के संगठनों) का जात-पाँत के रूप मे परिवर्तित हो जाना इस युग की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

(४) यह सच है, कि इस युग में भी भारत मे अनेक कवि, दार्शनिक, स्मृतिकार और विज्ञानवेत्ता हुए। पर साहित्य और ज्ञान के क्षेत्र मे इस काल के भारतीयों ने उस असाधारण प्रतिभा का परिचय नही दिया, जो प्राचीन काल के विद्वानो ने प्रदर्शित की थी। इस युग के कवि और साहित्यिक बाल्मीकि और कालिदास का मुकाबला नही कर सकते। उनके काव्य मे सौन्दर्य अवश्य है, पर उसका प्रधान कारण अलकार है, स्वाभाविकता नही। इस युग के दार्शनिक सृष्टि के तत्त्वों की गहराई मे पहुँचने का उतना प्रयत्न नही करते, जितना कि शब्दजाल द्वारा बाल की खाल उतारने के लिए करते है। यही कारण है, कि मौर्यों और गुप्तों के युग में भारत में जो असाधारण उन्नति हुई थी, उसकी प्रगति इस समय अवरुद्ध हो गयी। गणित, ज्योतिष आदि विज्ञानों के क्षेत्र में भी इस युग मे कोई विशेष उन्नति नही हुई।

(२) चीनी यात्री ह्यु एन-त्सांग

इससे पूर्व कि हम मध्यकाल की शासन-व्यवस्था, साहित्य, कला आदि का विवेचन करें : यह उपयोगी होगा कि प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यु एन-त्सांग के सम्बन्ध में कुछ परिचय दिया जाए। यह चीनी यात्री मध्यकाल के आरम्भ में (सातवी सदी के

पूर्वार्ध में) जब कन्नौज का राजा हर्षवर्धन उत्तरी भारत मे सबसे अधिक शक्तिशाली राजा था, भारत की यात्रा के लिए आया था। भारत के सास्कृतिक इतिहास मे इस चीनी यात्री का बहुत अधिक महत्त्व है। इसने अपनी यात्रा का जो विवरण लिखा है, उससे भारत के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं, और साथ ही यह भी सूचित होता है कि सातवी सदी में भारत और चीन मे कितना घनिष्ठ सम्बन्ध था। ह्यु एन-त्साग का महत्त्व केवल भारतीय इतिहास मे ही नही है, अपितु चीन के बौद्ध लोगों मे भी उसका नाम अत्यन्त श्रद्धा और आदर के साथ स्मरण किया जाता है। पश्चिमी चीन के सियान नामक स्थान पर उसकी समाधि अब तक भी विद्यमान है, जिस पर ये शब्द अंकित हैं—"यह महापुरुष उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम सब दिशाओं मे गया, और वहाँ के दुर्गम मार्गों को उसने सुगम कर दिया, ताकि बाद के यात्रियों को उन पर आने-जाने में कठिनाई न हो।"

ह्यु एन-त्सांग ६२० ईस्वी के लगभग भारत पहुँचा, और १५ वर्ष तक इस देश मे रहा। यहाँ उसने केवल बौद्ध धर्म का ही अनुशीलन नहीं किया, अपितु इस देश के समाज, रीतिरिवाज, ऐतिहासिक अनुश्रुति आदि का भी गम्भीरता से अनुशीलन किया। यही कारण है कि सातवी सदी के भारत को भलीभाँति समझने के लिए ह्यु एन-त्साग का भारत वर्णन विश्वकोष का काम देता है। इस चीनी यात्री का कुछ परिचय देना इस काल के इतिहास को समझने के लिए बहुत उपयोगी है।

६०० ईस्वी के लगभग कन्फ्यूसियस के धर्म को मानने वाले एक परिवार मे ह्यु एन-त्साग का जन्म हुआ था। उसके तीन भाई और थे। उम्र मे वह सबसे छोटा था। छोटी आयु मे ही उसका ध्यान बौद्ध-धर्म की ओर आकृष्ट हुआ, और उसने भिक्षु बनकर इस धर्म का भली-भाति अध्ययन करने का सकल्प किया। बीस वर्ष की आयु मे वह भिक्षु हो गया, और चीन के विविध विहारों मे जाकर बौद्ध-धर्म का अध्ययन करने लगा। चीन के स्थविरो से जो कुछ भी सीखा जा सकता था, वह सब उसने सीख लिया। पर उसे इससे सन्तोष नही हुआ। चीनी भाषा मे अनूदित बौद्ध-ग्रन्थो से उसकी जिज्ञासा पूर्ण नही हुई। उसने विचार किया कि भारत जाकर बौद्ध-धर्म के मूल ग्रन्थों का अनुशीलन करे, और उन पवित्र तीर्थस्थानो का भी दर्शन करे, जिनसे भगवान् बुद्ध और उनके प्रमुख शिष्यो का सम्बन्ध है। सब समुचित तैयारी कर २९ वर्ष की आयु मे ह्यु एन-त्साग ने चीन से भारत के लिए प्रस्थान किया। इस समय चीन से भारत आने के लिए अनेक मार्ग थे, जिनमे से एक उत्तरी मध्य एशिया से होकर आता था। ह्यु एन-त्सांग ने इसी मार्ग का अवलम्बन किया, और वह तुर्फान, ताशकन्द, समरकन्द और काबुल होता हुआ भारत आया। चीन से भारत पहुंचने मे उसे एक साल लगा।

हिन्दुकुश पर्वतमाला को पार कर वह कपिशा की राजधानी में शलोका नामक विहार मे रहा। अपना चातुर्मास्य उसने वही व्यतीत किया। वहा से अन्य अनेक नगरों और विहारों की यात्रा करता हुआ वह काश्मीर गया। ह्यु एन-त्साग काश्मीर में दो वर्ष तक रहा। इस युग मे भी काश्मीर बौद्ध-धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। ह्यु एन-त्साग ने अपने दो साल काश्मीर में बौद्ध-ग्रन्थों के अध्ययन में व्यतीत किए। काश्मीर

से वह पंजाब के अनेक स्थानों का भ्रमण करता हुआ स्थाण्वीश्वर पहुँचा। यहाँ जयगुप्त नाम का एक प्रसिद्ध विद्वान् रहता था। ह्यु एन-त्साग ने उसके पास कई मास तक अध्ययन किया। वहाँ से वह कन्नौज गया, जो उस समय उत्तरी भारत की प्रधान राजनीतिक शक्ति था। यही उसका सम्राट् हर्षवर्धन से परिचय हुआ। कन्नौज से ह्यु एन-त्सांग अयोध्या, प्रयाग, कौशाम्बी, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, कुशीनगर, वाराणसी और वैशाली आदि होता हुआ मगध पहुँचा। पाटलिपुत्र उस समय बिलकुल क्षीण हो चुका था। अब से लगभग दो सदी पहले जब फाइयान भारत आया था, तो पाटलिपुत्र मे महाप्रतापी गुप्त-सम्राटो का शासन था। यह नगरी न केवल एक विशाल साम्राज्य की राजधानी थी, अपितु ज्ञान, शिक्षा और संस्कृति की भी महत्त्वपूर्ण केन्द्र थी। यही कारण है, कि फाइयान ने पाटलिपुत्र मे रहकर ही धर्म और ज्ञान की पिपासा को शात किया था। पर गुप्तो की शक्ति के क्षीण होने और कन्नौज के मौखरि राजाओं के उत्कर्ष के कारण पाटलिपुत्र का स्थान अब कन्नौज ने ले लिया था। मगध के गुप्त राजा इस समय निर्बल थे, और हर्षवर्धन के सम्मुख उनकी शक्ति सर्वथा मन्द थी। पिछले दिनों की अव्यवस्था और अशांति से पाटलिपुत्र का वैभव भी क्षीणप्राय हो गया था। यही कारण है, कि ह्यु एन-त्साग पाटलिपुत्र मे देर तक नही ठहरा। वहा के प्रसिद्ध स्तूपो और विहारों का दर्शन कर वह बोधिवृक्ष के दर्शनो के लिए गया। ह्यु एन-त्साग ने लिखा है, कि राजा शशाक बौद्ध-धर्म से बडा द्वेष रखता था, और शैव-धर्म का कट्टर अनुयायी था। उसने बोधिवृक्ष को कटवा दिया और पटना मे बुद्ध के पद-चिह्नो से अंकित पत्थर को, जिसकी बौद्ध लोग पूजा करते थे, गंगा मे फेंकवा दिया। ह्यु एन-त्साग ने बोधिवृक्ष के नीचे उस स्थान के दर्शन कर अपार सन्तोष प्राप्त किया, जहाँ भगवान् बुद्ध को बोध हुआ था। भक्त लोगों ने बोधिवृक्ष का फिर से आरोपण कर दिया था। यहाँ से ह्यु एन-त्साग नालन्दा गया। इस युग में नालन्दा का विहार शिक्षा और ज्ञान के लिए सबसे बडा केन्द्र था। चीनी यात्री ने कुछ समय तक वहाँ रहकर बौद्ध धर्म के विविध ग्रंथों का भली-भाँति अनुशीलन किया। नालन्दा से हिरण्य-देश (मुगेर), चम्पा, राजमहल, पुण्ड्रवर्धन, कर्णसुवर्ण आदि होता हुआ वह दक्षिणी भारत की ओर मुडा। उडीसा तथा दक्षिण-कोशल होता हुआ ह्यु एन-त्सांग धनकटक पहुँचा। यहाँ अमरावती के विहार मे वह कई महीने तक रहा। अमरावती से वह काँची गया। इसके बाद वह उत्तर-पश्चिम की ओर मुड़ा और वनवासी देश होता हुआ महाराष्ट्र पहुँच गया। दक्षिण के अनेक नगरों और देहातों का भ्रमण करता हुआ ह्यु एन-त्सांग सिंध और मुलतान भी गया। अनेक नवीन स्थानों का अवलोकन करता हुआ वह वहाँ से फिर नालन्दा लौटा। बौद्ध वाङ्मय के जो ग्रन्थ उसने अभी तक नही पढे थे, उन सबका इस बार उसने अनुशीलन किया।

इन दिनों कामरूप (असम) में भास्करवर्मा का शासन था। वह कन्नौज के सम्राट् की अधीनता स्वीकार करता था। उसने ह्यु एन-त्साग को असम पधारने के लिए निमन्त्रण दिया। असम में उस समय बौद्ध-धर्म का यथेष्ठ प्रचार नही था। अतः अपने गुरु और नालन्दा के प्रधान आचार्य शीलभद्र की आज्ञा से ह्यु एन-त्सांग ने

असम के लिए प्रस्थान किया। भास्करवर्मा ने बड़े आदर के साथ इस प्रसिद्ध विदेशी बौद्ध विद्वान् का स्वागत किया।

इस समय सम्राट् हर्षवर्धन बंगाल मे राजमहल मे पड़ाव डाले पड़ा था। जब उसे ज्ञात हुआ, कि ह्यु एन-त्साग असम मे है, तो उसने भास्करवर्मा को यह आदेश दिया कि वह चीनी विद्वान् को साथ लेकर गंगा के मार्ग से कन्नौज आए। हर्षवर्धन ने कन्नौज मे एक बौद्ध-महासभा का आयोजन किया था, जिसमें बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों पर विचार करने के लिए दूर-दूर से भिक्षुओं और विद्वानों को आमन्त्रित किया गया था। हर्ष की इच्छा थी, कि ह्यु एन-त्साग भी इस महासभा में सम्मिलित हो। हर्ष के आदेश से भास्करवर्मा ह्यु एन-त्साग को साथ लेकर कन्नौज आया। वहाँ इस चीनी विद्वान् के पाण्डित्य का बहुत आदर हुआ। बाद मे वह हर्ष के साथ प्रयाग गया, जहाँ सम्राट् ने बहुत दान-पुण्य किया। इस प्रकार पन्द्रह वर्ष के लगभग भारत मे रहकर और इस देश से बहुत-से धर्मग्रन्थों को साथ लेकर ह्यु एन-त्साग उत्तर-पश्चिम के स्थल मार्ग से चीन को लौट गया। ह्यु एन-त्साग के भारत-भ्रमण का यही संक्षिप्त वृत्तान्त है।

कन्नौज की जिस महासभा के लिए हर्षवर्धन ने ह्यु एन-त्सांग को विशेषरूप से निमन्त्रित किया था, उसमें बीस सामन्त राजा, चार हजार बौद्ध भिक्षु और लगभग तीन हजार जैन व हिन्दू पण्डित सम्मिलित हुए थे। इस महासभा के लिए हर्षवर्धन ने गङ्गा नदी के पश्चिमी तट पर एक विशाल मण्डप और एक चैत्य का निर्माण कराया था, जिसकी ऊँचाई सौ फीट थी। चैत्य के भीतर बुद्ध की एक सुवर्ण-मूर्ति स्थापित कराई गयी थी, जो ऊँचाई मे हर्षवर्धन के बराबर थी। इस मण्डप के पश्चिम की ओर कुछ दूरी पर राजा ने अपने और अपने प्रतिष्ठित अतिथियों के निवास के लिए भवनों का निर्माण कराया था। प्रतिदिन प्रातःकाल के समय बुद्ध की सुवर्णमूर्ति का जुलूस निकाला जाता था। मूर्ति को एक उत्तुंग हाथी पर रखकर हर्ष और भास्करवर्मा उसके साथ रहते थे। इस अवसर पर हर्ष इन्द्र (शक्र) का वेश धारण करता था, और भास्करवर्मा ब्रह्मा का। सामन्त राजा, उच्च राजकर्मचारी, प्रतिष्ठित अतिथि और प्रमुख भिक्षु व पण्डित हाथियों पर आरूढ़ होकर पीछे-पीछे चलते थे। सौ हाथियों पर तो केवल वे बाजेवाले ही बैठते थे, जो विविध प्रकार के बाजे बजाते हुए जुलूस के साथ-साथ रहते थे। जब यह विशाल जुलूस चैत्य के समीप पहुँच जाता था, तो राजा हर्षवर्धन विविध मणि-माणिक्य से सुशोभित हजारों-लाखों रेशमी वस्त्रों को बुद्ध की मूर्ति पर चढाता था। अन्य बहुमूल्य उपहार भी इस समय बुद्ध की मूर्ति के भेंट किए जाते थे। बुद्ध की प्रतिमा की पूजा के बाद सहभोज होता था, और फिर सब लोग महासभा के अधिवेशन मे सम्मिलित होते थे। ह्यु एन-त्साग को इस सभा में प्रधान पद प्राप्त था, क्योंकि हर्ष उसे अत्यन्त सम्मान की दृष्टि से देखता था। एक मास तक निरन्तर इसी प्रकार इस सभा के अधिवेशन होते रहे। एक महीना बीत जाने पर किसी व्यक्ति ने चैत्य को आग लगा दी, और जब हर्ष आग को बुझाने के लिए व्यवस्था कर रहा था, एक आततायी ने उसपर आक्रमण किया। पर उसे अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई, और हर्ष के अंगरक्षकों ने उसे बन्दी बना लिया। पूछने पर उसने बताया, कि ब्राह्मण

पण्डितों ने उसे हर्ष की हत्या के लिए नियुक्त किया था, और उन्होंने ही चैत्य मे आग लगवाई थी। हर्ष जिस प्रकार बौद्ध-धर्म के प्रति पक्षपात प्रदर्शित कर रहा था, पण्डित लोग उससे बहुत असन्तुष्ट थे, और इसी कारण उन्होने यह षड्यन्त्र किया था। पाँच सौ ब्राह्मणों को षड्यन्त्र में शामिल होने के अपराध मे दण्ड दिया गया, और जो निरपराध पाये गए उन्हे छोड दिया गया।

कन्नौज की महासभा की समाप्ति पर हर्ष ने प्रयाग के लिए प्रस्थान किया। गङ्गा-यमुना के सगम पर हर पाँचवें साल हर्ष एक महोत्सव किया करता था। सब सामन्त राजा व उच्च राजकर्मचारी इस उत्सव में भी सम्मिलित होते थे। ह्यु एन-त्सांग इस उत्सव मे भी हर्ष के साथ था। उसने अपने यात्रा-विवरण मे इसका भी विशद रूप से वर्णन किया है। पाँच वर्षों में जो धन हर्ष के राज्यकोष मे एकत्र होजाता था, उसे वह इस उत्सव मे दान-पुण्य में व्यय कर देता था। ह्यु एन-त्साग के वर्णन के अनुसार उत्सव के प्रथम दिन बुद्ध की मूर्ति स्थापित की जाती थी, और अत्यन्त बहुमूल्य रत्न आदि से उसकी पूजा कर इन रत्नों को दान कर दिया जाता था। इसी प्रकार दूसरे दिन आदित्यदेव की और तीसरे दिन ईश्वरदेव की अर्चना की जाती थी। चौथे दिन दस हजार बौद्ध भिक्षुओं को दान-पुण्य किया जाता था। प्रत्येक भिक्षु को सौ सुवर्ण-मुद्राएँ, एक रत्न, वस्त्र और भोजन तथा सुगन्ध आदि प्रदान किये जाते थे। अगले बीस दिन ब्राह्मणों को दानपुण्य दिया जाता था। इसके बाद अगले दस दिन जैन, लोकायत आदि अन्य सम्प्रदायों के लोग दान ग्रहण करते थे। फिर एक मास तक दरिद्र, अनाथ आदि दान प्राप्त करते थे। इस प्रकार दान-पुण्य करते-करते जब राज्यकोष का सब धन समाप्त हो जाता था, तो हर्ष अपनी वैयक्तिक सम्पत्ति का दान प्रारम्भ करता था। जब वह भी समाप्त हो जाती, तो इस सर्वमेध यज्ञ की इतिश्री होती। इस अवसर पर हर्ष के पास एक वस्त्र तक भी शेष न बचता, और वह अपनी बहन राज्यश्री से एक पुराना वस्त्र माँगकर उसे धारण करता, और बुद्ध भगवान् की पूजा कर आनन्द-निमग्न हो जाता। धर्म के लिए सर्वस्व स्वाहा कर उसे हार्दिक आनन्द अनुभव होता था, और इसी को वह गौरव की बात समझता था।

प्रयाग के जिस सर्वमेध यज्ञ मे ह्यु एन-त्सांग सम्मिलित हुआ, वह हर्ष के जीवन-काल का छठा यज्ञ था। इससे पूर्व वह इसी ढंग के पाँच यज्ञ और कर चुका था। इस प्रकार बार-बार अपने राज्यकोष को खाली कर के हर्ष अपनी शक्ति को कैसे स्थिर रख सका था, यह समझ सकना सुगम बात नही है। सम्भवतः, इसीलिए उसके मरते ही उसका राज्य छिन्न-भिन्न हो गया, और अपने बाहुबल से जो विशाल साम्राज्य उसने स्थापित किया था, वह उसकी मृत्यु के बाद कायम नही रह सका।

पन्द्रह वर्ष के लगभग भारत में रहकर और इस देश से बहुत-से धर्म ग्रन्थों को साथ लेकर ह्यु एन-त्साग उत्तर-पश्चिम के स्थल-मार्ग द्वारा चीन को लौट गया। उसने अपना शेष जीवन बौद्ध ग्रंथों को चीनी भाषा मे अनूदित करने में व्यतीत किया। उसने कुल मिलाकर ७४ ग्रन्थों का अनुवाद किया, जिनके सूक्तों (अध्यायों) की संख्या १३३५ थी। उसके समय से चीन के इतिहास में वह प्रक्रिया शुरू हुई, जिसमें चीन से विविध विद्वान् भारत आकर बौद्ध धर्म का अध्ययन करते थे, और अपने देश को लौटते हुए

बौद्ध ग्रन्थों को बड़ी संख्या में अपने साथ ले जाते थे। ६६६ मे सियान में ह्यु एन-त्सांग की मृत्यु हुई, जहाँ उसकी समाधि अब तक विद्यमान है।

(३) शासन-व्यवस्था

मध्य-युग मे भारत बहुत-से छोटे बडे राज्यो मे विभक्त था, जिनकी सीमाएँ राजा के वैयक्तिक शौर्य और शक्ति के अनुसार घटती-बढती रहती थीं। इन राज्यों की शासन-व्यवस्था पर विचार करते हुए इन बातों को ध्यान मे रखना चाहिये—

(१) इस समय भारत के विविध राज्यो मे सामन्त-पद्धति का विकास हो गया था। महाराजाधिराज की अधीनता मे बहुत-से छोटे-बडे सामन्त राजा होते थे, जो अपने-अपने क्षेत्र मे पृथक् रूप से शासन किया करते थे। इन सामन्त राजाओ की अपनी सेना होती थी, इनका अपना राजकोष होता था, और अपने प्रदेश मे इनकी स्थिति स्वतन्त्र शासक के सदृश रहती थी। यदि महाराजाधिराज निर्बल हो, तो ऐसे सुवर्णीय अवसर का लाभ उठाकर पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो जाने मे ये जरा भी संकोच नही करते थे, और स्वयं विजययात्रा के लिये निकल पडते थे। इस युग की सामन्त-पद्धति के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण पर्याप्त होगा। पालवंशी सम्राट् धर्मपाल (७६६–८७६) ने जब कन्नौज के राजा इन्द्रायुध या इन्द्रराज को परास्त किया, तो उसने इस राज्य को सीधा अपने शासन मे नही लिया, अपितु आयुध वश के ही एक कुमार चक्रायुध को कन्नौज के राजसिंहासन पर प्रतिष्ठापित किया। चक्रायुध की स्थिति पाल-सम्राट् धर्मपाल के 'महासामन्त' की थी, और उसकी अधीनता मे कुरु, यदु, यवन, अवन्ति, गाधार, कीर, भोज, मत्स्य और मद्र आदि के राजा सामन्त की स्थिति मे अपने-अपने प्रदेश का शासन करते थे। स्वयं धर्मपाल इस बात के लिए उत्सुक था, कि कन्नौज के अधीनस्थ सामन्त राजा वहाँ के महासामन्त चक्रायुध का आधिपत्य स्वीकार करें। इस युग के एक उत्कीर्ण लेख के अनुसार सामन्त राजाओं को काँपते हुए राजमुकुटो सहित आदर से झुककर उसे (चक्रायुध को) स्वीकार करना पड़ा। पंचाल के वृद्धों ने उसके लिए सुवर्ण के अभिषेक-घट खुशी से पकडे। यह महाप्रतापी चक्रायुध, जिसकी अधीनता मे इतने प्रदेश थे, स्वतन्त्र राजा न होकर धर्मपाल का महासामन्त मात्र था। सामन्त-पद्धति (फ्यूडल सिस्टम) का सबसे बडा दोष यही होता है, कि उसके कारण राज्यलक्ष्मी किसी एक राजवंश मे स्थिर नही रहने पाती, और अकेन्द्रीभाव की प्रवृत्तियो को बल मिलता रहता है। मध्यकाल में विरचित युक्तिकल्पतरु ग्रन्थ के लेखक ने राजा का लक्षण करते हुए यह प्रश्न किया है, कि यह क्या बात है जो चक्रवर्ती सम्राट् भी राजा कहाता है, और किसी ग्राम या जागीर के स्वामी की भी यही संज्ञा होती है। नीतिकार ने इस प्रश्न का यही उत्तर दिया, कि जो कोई भी अपने क्षेत्र मे अपने राजशासन को स्वीकार कराने मे समर्थ हो, उसी को राजा कहा जाना चाहिये। राजा का यह लक्षण सामन्त-पद्धति के राजा पर पूरी तरह से चरितार्थ होता है।

(२) प्राचीन युग के जनपदों का इस काल मे अन्त हो चुका था। सामन्त-पद्धति में राज्य-शासन का आधार पुर या जनपद के स्थान पर वह राजवंश हो गया, जिनका नृपति एक विशेष प्रदेश का शासक होता था। जिस प्रदेश पर चन्देलों या

कलचूरियों का आधिपत्य था, उसका शासन वहाँ के निवासियो की जानपद-सभा (जिसमें उस प्रदेश के ग्रामों के ग्रामणी सम्मिलित होते हो) के हाथ मे न रहकर चन्देल या कलचूरीकुल के लोगो के हाथो में आ गया था। इस युग मे एक ऐसी विशिष्ट श्रेणी राजशक्ति का उपभोग करती थी, जिसका सम्बन्ध राज्य के राजवंश के साथ होता था। चन्देल, कलचूरी, गुर्जरप्रतीहार, राष्ट्रकूट, चालुक्य, गंग, परमार आदि जहाँ राजवंशों के नाम है, वहाँ साथ ही वे एक विशिष्ट जाति या कुल का भी बोध कराते है। गुर्जर-प्रतीहार राज्य की राजशक्ति उन गुर्जरप्रतीहार लोगों मे निहित थी, जिन्होंने अपने नेता के नेतृत्व मे कन्नौज को राजधानी बनाकर अपना राज्य स्थापित किया था। यही बात चन्देल, चौहान आदि अन्य वर्गों के विषय मे भी कही जा सकती है। भारतीय इतिहास मे यह एक नई बात थी, जो सामन्त-पद्धति की परिस्थितियो के कारण ही उत्पन्न हुई थी। इस काल मे राजा अपने कुल के प्रमुख पुरुषो की सहायता से राज्य का शासन करता था, और राजदरबार में बैठकर राजकार्य का चिन्तन करता था। वस्तुतः, यह युग ऐसे राजाओं का था, जो निरंकुश और स्वेच्छाचारी थे। इसी कारण यदि राजा योग्य होता तो वह प्रजा के हित और कल्याण का सम्पादन करता था। यदि वह अयोग्य और नृशंस होता, तो प्रजा को पीडित करता था।

(३) सामन्त पद्धति के कारण यह सम्भव नही रहता, कि राजशक्ति के धारण करनेवाले लोग प्रजा के हित और कल्याण पर ध्यान दे सकें। उनकी सब शक्ति इसी काम मे लग जाती है, कि परस्पर युद्ध करके अपने उत्कर्ष के लिए प्रयत्न करते रहे। सर्वसाधारण जनता की दृष्टि से यह पद्धति अराजकता को उत्पन्न करती है। इस स्थिति में शक्ति और व्यवस्था को स्थापित रखने, जनता का हित और कल्याण सम्पादित करने और परस्पर सहयोग द्वारा सामूहिक उन्नति करने की उत्तरदायिता उन ग्रामसभाओ पर आ गयी, जो भारत मे अत्यन्त प्राचीन काल से विद्यमान थी। बौद्ध, मौर्य, शुङ्ग, सातवाहन आदि के काल मे भी ग्राम-संस्थाएँ अच्छी उन्नत दशा मे थी। पर मध्यकाल मे उनका महत्त्व बहुत अधिक बढ गया, और राजवशों की अराजकता और जनसाधारण के हितो के प्रति उपेक्षावृत्ति को दृष्टि मे रख कर इन ग्राम-संस्थाओं ने ऐसे बहुत-से कार्य अपने हाथ मे ले लिए, जो साधारणतया राजाओ की उत्तरादायिता होते हैं। इस युग मे ग्राम-संस्थाओ का जिस रूप में विकास हुआ, उसका भारतीय इतिहास मे बहुत अधिक महत्त्व है। मध्यकाल मे विकसित हुई ग्राम-संस्थाएँ अफगान और मुगलयुगो मे भी कायम रही, और ब्रिटिश शासन भी उनका अन्त करने मे समर्थ नही हुआ। यद्यपि मध्यकालीन भारत के विविध राज्यों में लोकतन्त्र शासन का सर्वथा अभाव था, पर ग्राम-सस्थाओं के रूप मे इस युग मे भी ऐसी संस्थाएँ विद्यमान थी, जिनके द्वारा जनता अपने साथ सम्बन्ध रखनेवाले मामलों की व्यवस्था स्वय किया करती थी। इस विषय में सर चार्ल्स मेटकॉफ का निम्नलिखित उद्धरण बड़े महत्त्व का है—"ग्राम-संस्थाएँ छोटे-छोटे लोकतन्त्र राज्यों का नाम था, जो अपने आप मे पूर्ण थीं। उन्हें जो कुछ भी चाहिए था, वह उनके अपने अन्दर मौजूद था। अपने से बाहर के साथ उनका सम्बन्ध बहुत कम था। ऐसा प्रतीत होता है, कि जहाँ अन्य कोई नहीं बचा, वहाँ वे बची रहीं। एक राजवंश के बाद दूसरा राजवंश आया। एक क्रान्ति के

बाद दूसरी क्रान्ति हुई—पर ग्राम-संस्थाएँ पूर्ववत् वही की वही कायम रही। मेरी सम्मति में ये ग्राम-संस्थाएँ ही, जिनमें से प्रत्येक एक पृथक् राज्य की तरह है, भारतीय जनता की रक्षा में सबसे अधिक समर्थ रही। इन्ही के कारण सब परिवर्तनों और क्रान्तियो में जनता की रक्षा होती रही। भारतीयों को जो कुछ प्रसन्नता व स्वतन्त्रता आदि प्राप्त हैं, उसमे ये ही सब से अधिक सहायक हैं।"

(४) ग्राम-संस्थाएँ

मध्यकाल की राजकीय अव्यवस्था से सर्वसाधारण जनता की रक्षा करने के लिए ग्राम-संस्थाओं ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। इस युग के बहुत-से ऐसे अभिलेख मिले है, जिनसे इन ग्राम-संस्थाओं के विषय में अनेक उपयोगी बातें ज्ञात होती हैं।

ग्रामसभा—प्रत्येक ग्राम की एक सभा या महासभा होती थी, जो अपने क्षेत्र में शासन का सब कार्य सम्भालती थी। स्थान और काल के भेद से ग्रामसभाओं के संगठन भी भिन्न-भिन्न प्रकार के थे। कुछ ग्रामों की ग्रामसभाओं में वहाँ के सब बालिग (वयस्क) पुरुष सदस्य-रूप से सम्मिलित होते थे। कुछ ग्राम ऐसे भी थे, जिनमें सब वयस्क पुरुषों को ग्रामसभा की सदस्यता का अधिकार नही होता था। दक्षिणी भारत के एक उत्कीर्ण लेख के अनुसार एक ग्राम के वयस्क पुरुषो की संख्या ४०० थी, पर उसकी सभा के सदस्य केवल ३०० पुरुष थे। एक अन्य ग्रामसभा के सदस्यों की संख्या ५१२ लिखी गयी है। एक अन्य लेख में एक ऐसे ग्राम का उल्लेख है जिसकी सभा की सदस्य-सख्या १०६० थी। ग्राम-सभा का अधिवेशन या तो मन्दिर मे होता था, या किसी वृक्ष की छाया मे। कतिपय ग्राम ऐसे भी थे, जिनमे सभा के लिए पृथक् भवन भी विद्यमान थे।

समितियाँ—ग्राम के शासन का सब अधिकार ग्राम-सभा के हाथो मे होता था, जिसके अधिवेशनो की अध्यक्षता ग्रामणी नामक कर्मचारी करता था। पर शासन-कार्य की सुविधा के लिये अनेक समितियो का भी निर्माण किया जाता था, जिन्हें विविध प्रकार के कार्य सुपुर्द रहते थे। ये समितियाँ निम्नलिखित थी—(१) वर्ष भर के लिए नियुक्त समिति, या वर्ष भर तक शासन-कार्य का नियन्त्रण व निरीक्षण करने वाली समिति, (२) दान की व्यवस्था करने वाली समिति, (३) जलाशय की व्यवस्था करने वाली समिति, (४) उद्यानों का प्रबन्ध करने वाली समिति, (५) न्याय की व्यवस्था करने वाली समिति, (६) सुवर्ण और कोष की प्रबन्धकर्त्री समिति, (७) ग्राम के विविध विभागो का निरीक्षण करने वाली समिति, (८) खेतों और मैदानों की व्यवस्था व निरीक्षण करने वाली समिति, (९) मन्दिरो का प्रबन्ध करने वाली समिति, (१०) साधु व विरक्त लोगो की व्यवस्था करने वाली समिति। इन दस समितियों के क्या कार्य होते थे, यह इनके नामों से ही स्पष्ट है।

दक्षिणी भारत के एक अभिलेख में एक ग्राम के सम्बन्ध मे यह लिखा गया है, कि ग्राम तीस भागों मे विभक्त था। प्रत्येक भाग के सब वयस्क पुरुष एकत्र होकर उन व्यक्तियों की सूची तैयार करते थे, जो समितियों के सदस्य बनने के लिए उपयुक्त हों। समिति की सदस्यता के लिए यह आवश्यक था, कि सदस्यों की न्यूनतम आयु ३५ वर्ष

और अधिकतम आयु ७० वर्ष की हो। जो पुरुष शिक्षित हो, ईमानदार हों और कुछ सम्पत्ति भी रखते हों, वे ही समितियों की सदस्यता के अधिकारी माने जाते थे। कोई ऐसा व्यक्ति, जिसने किसी समिति के सदस्य-रूप में खर्च किये धन का सही हिसाब न दिया हो, या जिस पर कोई अपराध साबित हो चुका हो, भविष्य के लिए समितियों की सदस्यता का अधिकारी नहीं समझा जाता था, और उसका नाम उस सूची में शामिल नहीं किया जाता था, जो ग्राम के विविध भागों द्वारा तैयार की जाती थी। जब यह सूची तैयार हो जाती थी, तो लाटरी डाल कर एक पुरुष का नाम निकाला जाता था। इस प्रकार ग्राम के तीस भागों से तीस नाम निकलते थे, और विविध समितियों के सदस्य रूप में इन्हीं की नियुक्ति कर दी जाती थी। तीस पुरुषों में से किसे किस समिति का सदस्य बनाया जाय, इस बात का निर्णय उसकी योग्यता और अनुभव के आधार पर किया जाता था। विविध समितियाँ किस ढंग से अपने-अपने कार्य करें, इसके नियम भी विशद रूप से बनाये गए थे। ग्राम के सब योग्य वयस्क पुरुषों को समितियों की सदस्यता का अवसर मिल सके, इसके लिए यह नियम बनाया गया था, कि केवल उन्हीं पुरुषों को सदस्यता के लिए उपयुक्त व्यक्तियों की सूची में शामिल किया जाय, जो पिछले तीन वर्षों में कभी किसी समिति के सदस्य न रहे हों। इसमें सन्देह नहीं, कि ग्राम-संस्था की विविध समितियों के सदस्यों की नियुक्ति का यह ढंग बहुत ही उत्तम और निराला था।

ग्राम-संस्थाओं के कार्य—ग्राम-संस्थाओं का स्वरूप छोटे-छोटे राज्यों के समान था। इसीलिए वे प्रायः उन सब कार्यों को करती थीं, जो राज्य किया करते हैं। ग्राम-संस्था की जो अपनी सम्पत्ति हो, उसे बेचना व अमानत रखकर रुपया प्राप्त करना, ग्राम के क्षेत्र में उत्पन्न हुए विविध प्रकार के झगड़ों और अभियोगों का फैसला करना, मण्डी व बाजार का प्रबन्ध करना, टैक्स वसूल करना, ग्राम के लाभ के लिए नये कर लगाना, ग्रामवासियों से ग्राम के हित के लिए काम लेना, जलाशयों, उद्यानों, खेतों, चरागाहों व मैदानों की देख-रेख करना और मार्गों को ठीक हालत में रखना—इस प्रकार के कार्य थे, जो ग्राम-संस्थाओं के सुपुर्द थे। यदि कोई व्यक्ति किसी विशेष उद्देश्य से कुछ धन जमा कराना चाहे, तो ग्राम-सभा के पास जमा करा सकता था, और ग्राम सभा का यह कर्तव्य होता था, कि वह उसकी समुचित रूप से व्यवस्था करे, और धन जमा कराने वाले मनुष्य की इच्छा के अनुसार उसके सूद को व उस धन को खर्च करे। दान-पुण्य की रकमें प्राय. ग्राम-सभाओं के पास ही जमा की जाती थीं। दुर्भिक्ष आदि प्राकृतिक विपत्तियों के समय ग्राम-सभाओं की उत्तरदायिता बहुत बढ़ जाती थी, और वे इस बात की व्यवस्था करती थीं, कि गरीब लोग भूखे न मरने पाएँ। इसके लिए यदि वे आवश्यक समझें, तो रुपया उधार भी देती थीं, या अपनी सम्पत्ति को बेच कर व उसकी जमानत पर कर्ज लेकर खर्च चलाती थीं। शिक्षा आदि के लिए धन खर्च करना भी उनका महत्त्वपूर्ण कार्य समझा जाता था। शत्रुओं व डाकुओं से ग्राम की रक्षा करना भी ग्राम-संस्थाओं का काम था, और जो लोग इसमें विशेष पराक्रम प्रदर्शित करते थे, उनका वे अनेक प्रकार से सम्मान भी करती थीं। विशालय-देव नाम के एक वीर पुरुष ने अपने ग्राम के मन्दिर से मुसलिम आक्रान्ताओं को

निकाल कर बाहर किया था। इस वीर कृत्य के उपलक्ष में ग्रामसभा ने व्यवस्था की थी, कि प्रत्येक किसान अपनी उपज का एक निश्चित भाग नियमित रूप से विशालयदेव को प्रदान किया करे। जो ग्रामवासी देश की रक्षा या इसी प्रकार के किसी अन्य उत्कृष्ट कार्य के लिए अपने जीवन की आहुति दे देते थे, उनके परिवार को ग्रामसभाओं की ओर से ऐसी भूमि प्रदान कर दी जाती थी, जिस पर कोई लगान नही लगता था। यदि कोई आदमी ग्राम के विरुद्ध आचरण करे, कोई ऐसा कार्य करे जिससे ग्राम को हानि पहुँचती हो, तो उसे ग्रामद्रोही करार करके दण्ड दिया जाता था। यह दण्ड प्रायः इस प्रकार का होता था, कि वह अन्य ग्रामवासियों की दृष्टि मे गिर जाय और पश्चात्ताप का अनुभव करे। इस प्रकार का एक दण्ड यह था, कि ग्रामद्रोही को भगवान् शिव की मूर्ति को स्पर्श करने का अधिकार नही रहता था। ग्राम के क्षेत्र से राज्य के लिए वसूल किए जाने वाले करो को एकत्र करना ग्राम-संस्था का ही कार्य था। ग्राम-सभा के अधिकारियों का यह कर्त्तव्य था, कि वे राजकीय करो को वसूल करें, उनका सही-सही हिसाब रखें, और एकत्र धन को राजकोष मे पहुंचा दे। यदि कोई अपने इस कर्त्तव्य मे शिथिलता प्रदर्शित करता था, तो वह दण्डनीय होता था।

(५) शासन-व्यवस्था का स्वरूप

दक्षिणी भारत—चोलमण्डल मे बहुत-से ऐसे शिलालेख व ताम्रपत्र उपलब्ध हुए है, जिनसे इस युग की शासन-व्यवस्था की कुछ झाँकी ली जा सकती है।

चोल-राज्य में शासन की इकाई ग्राम होते थे, जो छोटे-छोटे राज्यो के सदृश थे, और जो अपना शासन स्वय करते थे। कतिपय ग्राम मिलकर एक समूह का निर्माण करते थे, जिन्हे 'कुर्रम्' कहा जाता था। कुर्रमों का समूह 'नाडु' और नाडुओ के समूह को 'कोट्टम्' या 'वलनाडु' कहते थे। कोट्टम् को हम आजकल का जिला समझ सकते हैं। इसी प्रकार नाडु तहसील और कुर्रम् को परगना कहा जा सकता है। कतिपय कोट्टम् या वलनाडु मिलकर 'मण्डलम्' का निर्माण करते थे। 'चोलमण्डलम्' इसी प्रकार का एक मण्डल था। पर चोलवश के राजाओ के उत्कर्ष-काल मे चोल-साम्राज्य मे 'चोल-मण्डलम्' के अतिरिक्त अन्य प्रदेश मे सम्मिलित थे, जो दो प्रकार के थे, विजित और सामन्तवर्गीय। राजराज प्रथम और राजेन्द्र सदृश प्रतापी सम्राटों ने चोल-साम्राज्य को बहुत अधिक विस्तृत कर लिया था। इन द्वारा विजय किए हुए अनेक प्रदेशो मे अपने पृथक् राजवंशों का शासन था, जिनकी स्थिति अब सामन्त राजाओं के सदृश हो गयी थी। पाण्ड्य, केरल आदि के ये सामन्त-राज्य भी चोलमण्डलम् के समान कोट्टम्, नाडु आदि में विभक्त थे, और इनके शासन का प्रकार भी प्रायः चोल-मण्डलम् के ही सदृश था। पर राजराज प्रथम (दसवी सदी) के साम्राज्य विस्तार से पूर्व भी अनेक चोल-राजाओं ने चोलमण्डलम् के समीपवर्त्ती प्रदेशो को जीतकर अपने राज्य का विस्तार किया था, और अनेक ऐसे प्रदेश (जिनमे तमिल भाषा का ही प्रचार था) उनके राज्य के अन्तर्गत हो गये थे, जो चोलमण्डलम् के दायरे से बाहर थे। ये प्रदेश चोलों के 'विजित' थे, और इन्हें भी पृथक् मण्डलो मे विभक्त कर दिया गया था। इनका शासन करने के लिए जो शासक चोलराजा की ओर से नियुक्त किए जाते थे, वे

प्रायः राजकुल के ही होते थे। 'विजित' द्वारा निर्मित मण्डल भी कोट्टम्, नाडु, कुर्रम् आदि उपविभागों में विभक्त थे, और उनके शासन में भी स्थानीय सभाओं और संस्थाओं का पर्याप्त स्थान था। जिन सामन्त-राजाओं ने चोल सम्राटों को अपना अधिपति स्वीकार किया था, वे उन्हें नियमित रूप से वार्षिक कर, भेंट-उपहार आदि प्रदान कर संतुष्ट रखते थे। पर चोल-सम्राट् के प्रति उनकी भक्ति का आधार केवल उसकी अपनी शक्ति ही होती थी। यही कारण है, कि सम्राट् की शक्ति के निर्बल होते ही ये सामन्त राजा विद्रोह कर पुनः स्वतन्त्र हो जाने के लिए तत्पर हो जाते थे।

ग्राम के शासन के लिए जिस प्रकार की ग्रामसभाएँ थीं, वैसी ही कुछ सभाओं की सत्ता कुर्रम्, नाडु आदि मे भी थी। नाडु की सभा को नाट्टर कहते थे। दक्षिण भारत में उपलब्ध हुए अनेक उत्कीर्ण लेखों मे नाडु की सभाओं का उल्लेख है। एक लेख के अनुसार एक नाडु की नाट्टरसभा ने दो आदमियों की नियुक्ति इस प्रयोजन से की, कि वे नाडु में विक्रयार्थ आनेवाले पान के पत्तों पर दलाली वसूल किया करें, और इस प्रकार उन्हें जो आमदनी हो, उससे नाडु के मन्दिर के लिए काम में आने वाले पान प्रदान किया करें। इस काम मे कोई प्रमाद न हो, इसकी उत्तरदायिता नाडु के 'पाँच सौ निर्दोष पुरुषों' के ऊपर रखी गयी। ये पाँच सौ निर्दोष पुरुष सम्भवतः नाडु के अन्तर्गत विविध कुर्रमों और ग्रामों के प्रतिनिधि थे, और इनकी सभा को अपने क्षेत्र के शासन मे अनेक प्रकार के उत्तरदायित्व और अधिकार प्राप्त थे। कुछ उत्कीर्ण लेखों के अध्ययन से यह भी सूचित होता है, कि नाडु व अन्य विभागों की सभाओं को न्याय सम्बन्धी अधिकार भी प्राप्त थे, और वे अपने क्षेत्र के सार्वजनिक हित के कार्यों मे भी अपना कर्तृत्व प्रदर्शित करती थीं। यदि किसी नदी पर बाँध बाँधने की आवश्यकता हो, सड़क का निर्माण करना हो या इसी ढंग का कोई अन्य काम हो, तो नाडु की सभा अपने क्षेत्र के अन्तर्गत प्रत्येक गाँव से ऐसे कार्य के लिए कर वसूल करने का अधिकार भी रखती थी।

ग्राम, नाडु आदि की स्थानीय सभाओं के कारण सर्वसाधारण जनता को यह अवसर मिलता था, कि वह अपने साथ सम्बन्ध रखनेवाले विषयों की व्यवस्था स्वयं कर सके। इन सभाओं की सत्ता के कारण जनता की स्वतन्त्रता बहुत अंश तक सुरक्षित बनी हुई थी। पर जहाँ तक राज्य के केन्द्रीय शासन का सम्बन्ध है, राजा स्वेच्छाचारी और निरंकुश होते थे। पर राज्यचक्र एक आदमी द्वारा संचालित नहीं हो सकता, इसलिए राजा को अपनी सहायता के लिए मन्त्रियों की नियुक्ति करनी होती थी, और वह उन्हीं के परामर्श के अनुसार शासन की व्यवस्था करता था। चोल-राज्य मे उस समय तक कोई राजाज्ञा जारी नहीं की जा सकती थी, जब तक कि उस पर ओलैनायकम् (मुख्य सचिव) के हस्ताक्षर न हो जाएँ। इससे यह अभिप्राय निकलता है, कि प्रत्येक राजाज्ञा की अन्तिम उत्तरदायिता राजा के अतिरिक्त उसके मुख्य सचिव पर भी होती थी।

उत्तरी भारत—गुप्त-साम्राज्य के समान उत्तरी भारत के पाल, आदि वंशों के राज्य भी भुक्ति, विषय, मण्डल, भोग और ग्रामों में विभक्त थे। भुक्ति के शासक की नियुक्ति राजा द्वारा होती थी, और विषय आदि के शासकों को भुक्ति का शासक

नियुक्त करता था। विषयपति (विषय का शासक) को शासन-कार्य में सहायता देने के लिये एक राज्यसभा की सत्ता होती थी, जिसके सम्बन्ध मे एक उत्कीर्ण लेख से अनेक महत्त्वपूर्ण बाते ज्ञात होती है। इस विषयसभा मे निम्नलिखित सदस्य होते थे—(१) नगरश्रेष्ठी—विषय के प्रधान नगर का मुख्य सेठ या जगत्सेठ, (२) सार्थवाह—जो विषय के अन्तर्गत विविध व्यापारी संगठनो का प्रतिनिधित्व करता था, (३) प्रथम कुलिक—जो विविध शिल्पिश्रेणियो का प्रतिनिधि होता था, (४) प्रथम कायस्थ—जो सरकारी कर्मचारियो का प्रतिनिधित्व करता था। पालवंश के राजाओ के अनेक ऐसे उत्कीर्ण लेख मिले हैं, जिनमे इस युग के विविध राजकर्मचारियों के नाम दिये गए है। पालवंशी राजा धर्मपाल के खालिमपुर के ताम्रपत्र मे राजा द्वारा दान की गयी एक जागीर का उल्लेख है, जिसकी सूचना निम्नलिखित कर्मचारियो को दी गयी थी—(१) राजा—अधीनस्थ सामन्त राजा, (२) राजपुत्र—सामन्त राजाओ के युवराज, (३) राजामात्य, (४) राजनक—विविध जागीरदार, (५) सेनापति (६) विषयपति—विषय नामक विभाग या जिले का शासक (७) भोगपति—विषय के उपविभाग 'भोग' का शासक (८) षष्ठाधिकृत—किसानो द्वारा वसूल किए जाने वाले षड्भाग का प्रधान अधिकारी (९) दण्डशक्ति—सम्भवतः, पुलिस विभाग का अधिकारी (१०) दण्डपाशक—पुलिस विभाग का ही अन्य अधिकारी, (११) चौरोद्धारणिक—चोरो को पकड़ने के लिए नियुक्त पुलिस अधिकारी, (१२) दौसाधसाधनिक—सम्भवतः, ग्रामो का व्यवस्थापक, (१३) दूत, (१४) खोल, (१५) गमागमिक, (१६) अभित्वरमान, (१७) हस्तिअश्वगोमहिष-अजाविक अध्यक्ष, (१८) नौकाध्यक्ष, (१९) बलाध्यक्ष, (२०) तटिक—नदी पार उतरने के स्थानो का अधिकारी, (२१) शौल्किक—शुल्क वसूल करने वाला अधिकारी, (२२) गौल्मिक, (२३) तदायुक्त, (२४) विनियुक्त, (२५) ज्येष्ठ कायस्थ, (२६) महामहत्तर, (२७) महत्तर, (२८) दशग्रामिक, (२९) करण—हिसाब रखने वाला।

खालिमपुर के ताम्रपत्र मे जिन कर्मचारियो के नाम आये हैं, उनमे से सब का ठीक-ठीक अभिप्राय स्पष्ट नही है। पर इसमें कोई सन्देह नही, कि ये सब राजकर्मचारी थे, और जागीर के दान की सूचना के लिए ही इनका उल्लेख ताम्रपत्र मे किया गया है। सेन आदि अन्य राजवंशो के उत्कीर्ण लेखो मे भी इसी प्रकार से अनेक राजकर्मचारियो के नाम दिए गए हैं, जिनसे मध्ययुग के उत्तरी भारत के राजकर्मचारी-तन्त्र का कुछ धुधला-सा आभास मिल जाता है।

इस प्रसंग मे यह ध्यान रखना आवश्यक है, कि दक्षिणी भारत के समान उत्तरी भारत मे भी ग्रामसभाओ की सत्ता थी, और ग्रामों की जनता अपने साथ सम्बन्ध रखने वाले मामलो की व्यवस्था अपनी ग्रामसभा द्वारा किया करती थी। इसी कारण राजवंशों मे निरन्तर युद्ध जारी रहते हुए भी सर्वसाधारण लोगों पर उनका विशेष प्रभाव नही होता था।

(६) साहित्य

मध्ययुग मे संस्कृत और प्राकृत भाषाओ मे अनेक नये ग्रन्थों का निर्माण हुआ, और बहुत-से कवियों ने अपनी साहित्यिक प्रतिभा का परिचय दिया। इस युग के प्रसिद्ध कवि निम्नलिखित थे—

(१) भवभूति—ये प्रसिद्ध नाटककार आठवी सदी में कान्यकुब्ज-नरेश यशोवर्मा की राजसभा मे रहते थे। जब काश्मीर के राजा ललितादित्य ने यशोवर्मा को परास्त किया, तो वह भवभूति को भी अपने साथ काश्मीर ले गया। इन्होने तीन नाटक लिखे—महावीरचरित, मालतीमाधव और उत्तररामचरित। भवभूति की नाटक-कला उत्तररामचरित मे सौष्ठव की पराकाष्ठा को पहुँच गयी है। अनेक पण्डितो की सम्मति तो यह है, कि इस नाटक मे भवभूति कालिदास से भी बढ गए है।

(२) बाणभट्ट—ये सम्राट् हर्षवर्धन (सातवी सदी) के राजपण्डित थे। इनके दो ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं—हर्षचरित और कादम्बरी। हर्षचरित में बाणभट्ट ने अपने आश्रयदाता हर्षवर्धन का जीवनचरित्र बड़ी सुन्दर शैली में प्रस्तुत किया है। यह पुस्तक गद्य मे है। कादम्बरी संस्कृत-साहित्य का सबसे उत्कृष्ट गद्य काव्य है।

(३) कुमारदास—ये सिहल देश के निवासी थे। सातवी सदी में इन्होंने 'जानकीहरण' नाम का महाकाव्य लिखा था।

(४) भारवि—ये सातवी सदी मे हुए, और चालुक्यवशी राजा विष्णुवर्धन की राजसभा मे थे। इनका काव्य 'किरातार्जुनीय' बहुत प्रसिद्ध है।

(५) भट्टि—ये भी सातवी सदी मे हुए। इनके भट्टि-काव्य मे राम के चरित्र के वर्णन के साथ-साथ व्याकरण के सिद्धान्त भी प्रतिपादित है।

(६) माघ—ये भी सातवी सदी के अन्त में हुए। इनके महाकाव्य 'शिशुपाल-वध' मे जहाँ उत्तम कविता है, वहाँ साथ ही प्रगाढ पाण्डित्य भी है।

(७) त्रिविक्रम भट्ट—ये नवी सदी मे हुए। इनका ग्रन्थ 'नलचम्पू' बहुत प्रसिद्ध है। चम्पू उस काव्य को कहते है, जिसमें गद्य और पद्य दोनो हो।

(८) भट्टनारायण—ये सातवी सदी मे हुए। इन द्वारा रचित 'वेणीसंहार' नाटक महाभारत के कथानक को लेकर लिखा गया है।

(९) दण्डी—इनका समय भी सातवी सदी मे है। इन्होंने 'दशकुमारचरित' नाम के एक सुन्दर गद्य-ग्रन्थ की रचना की।

(१०) सुबन्धु—इनका लिखा ग्रन्थ 'वासवदत्ता' बडा ही सुन्दर गद्य-काव्य है। इनका समय भी सातवीं सदी मे माना जाता है।

(११) हर्षवर्धन—बाणभट्ट के आश्रयदाता सम्राट् हर्षवर्धन जहाँ विद्या और काव्य के अत्यन्त प्रेमी थे, वहाँ स्वय भी उत्कृष्ट कवि थे। उनके लिखे तीन नाटक इस समय मिलते हैं, रत्नावली, प्रियदर्शिका और नागानन्द।

(१२) राजशेखर—ये कन्नौज के गुर्जरप्रतिहारवंशी राजा महेन्द्रपाल की राजसभा मे थे। इनका समय दसवी सदी मे है।

इनके अतिरिक्त अन्य भी बहुत-से कवि इस युग मे हुए, जिन्होने अपने काव्य,

नाटक, चम्पू आदि द्वारा संस्कृत-साहित्य के भण्डार को पूर्ण किया। पर गुप्त-युग के संस्कृत-साहित्य मे जो गौरव और उत्कृष्टता है, वह बाद के साहित्य में नहीं पायी जाती। भवभूति के बाद संस्कृत के कवियों की शैली निरन्तर अधिक-अधिक कृत्रिम होती गयी है। ऐसा प्रतीत होता है, कि इस युग में संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत भाषाओं की अधिक उन्नति हुई। गुप्त-युग के बाद संस्कृत का प्रचार कम होता गया। वह प्रधानतया पण्डितों की ही भाषा रह गयी। इसीलिए उसके लेखकों में वह प्रसाद गुण नहीं है, जो गुप्त-युग के कवियों में पाया जाता है। इस काल की कविता मे सहज सौन्दर्य का स्थान अलंकार, श्लेष आदि की भूषा ने ले लिया।

इतिहास-सम्बन्धी कुछ ग्रन्थ भी इस युग में लिखे गए। बाणभट्ट द्वारा विरचित हर्षचरित का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। कन्नौज के राजा यशोवर्मा (आठवीं सदी) के समय में वाक्पतिराज नामक कवि हुए, जिन्होंने 'गउड वहो' नामक एक ग्रन्थ लिखा। यह प्राकृत भाषा मे है। राजा यशोवर्मा ने गौड (बगाल) देश पर आक्रमण कर उसकी विजय की थी। उसी का वृत्तान्त इस पुस्तक मे दिया गया है। चालुक्यवंशी राजा विक्रमादित्य षष्ठ का वृत्तान्त कवि बिल्हण (बारहवी सदी) ने बडे विस्तार के साथ 'विक्रमाक-देवचरित' नामक ग्रन्थ में लिखा है। इसी प्रकार पद्मगुप्त (ग्यारहवीं सदी) ने मालवा के राजा सिन्धुराज का चरित 'नवसाहसाकचरित' मे और बल्लाल ने राजा भोज का चरित 'भोज-प्रबन्ध' में लिखा है। पर इन सबकी अपेक्षा ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व का ग्रन्थ राजतरंगिणी है, जिसे कल्हण ने लिखा था। कल्हण का काल बारहवी सदी मे है, और उसने राजतरंगिणी मे काश्मीर का क्रमबद्ध इतिहास दिया है।

इसी प्रकार कवि जयानक ने 'पृथिवीराजविजय' लिखकर चौहानवंशी राजा पृथिवीराज का और हेमचन्द्र ने 'कुमारपालचरितम्' लिखकर चालुक्यराजा कुमारपाल (बारहवी सदी) के नाम को अमर किया। इनके अतिरिक्त जो अनेक ग्रन्थ ऐतिहासिक काव्य इस युग मे लिखे गए, उनमे सोमेश्वर का कीर्तिकौमुदी', अरिसिंह का 'सुकृत-सकीर्त्तन', जयसिंह सूरि का 'हम्मीर-मदमर्दन', मेरुतुङ्ग का 'प्रबन्धचिन्तामणि', राज-शेखर का 'चतुर्विशति प्रबन्ध', नयचन्द्र सूरि का 'हम्मीर महाकाव्य', आनन्द भट्ट का 'बल्लालचरित' और चन्द्रप्रभ सूरि का 'प्रभावकचरित' उल्लेखनीय हैं। ये सब काव्य कतिपय वीर पुरुषों के चरित्र को दृष्टि में रखकर लिखे गए है, और इनसे जहाँ इन वीरो के सम्बन्ध मे ऐतिहासिक ज्ञान प्राप्त करने मे सहायता मिलती है, वहाँ साथ ही उनसे काव्य-रस का भी अच्छा आस्वाद मिलता है।

काव्य, नाटक, चम्पू और गद्य के अतिरिक्त इस युग मे कथा-साहित्य भी लिखा गया। ग्यारहवी सदी में क्षेमेन्द्र ने बृहत्कथामंजरी और सोमदेव ने कथासरित्सागर की रचना की। इसी प्रकार वैतालपंचविंशति, सिंहासनद्वात्रिंशिका और शुकसप्तति नामक कथा-ग्रन्थों का निर्माण भी इसी युग में हुआ।

साहित्य के विकास के साथ-साथ अलंकारशास्त्र-विषयक अनेक ग्रन्थ भी इस काल मे लिखे गए, जिनमे काव्य के विभिन्न रसों का सूक्ष्मतापूर्वक विवेचन किया गया है। छठी सदी में आचार्य भामह ने काव्यालंकार ग्रन्थ की रचना की। बाद में दण्डी,

वामन (आठवीं सदी), आनन्दवर्धन (नवी सदी), अभिनवगुप्त और मम्मट आदि साहित्य-विवेचकों ने साहित्य-शास्त्र का और अधिक विकास किया।

बड़े साहित्य-ग्रन्थों के साथ ही मुक्तक और गेय काव्यों की भी अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएँ इस युग में हुईं। भर्तृहरि के शृंगारशतक, वैराग्यशतक और नीतिशतक, कवि अमरु का अमरुशतक और जयदेव का गीतगोविन्द इसी युग की कृतियाँ हैं। ये सब अपने ढंग के अनुपम काव्य हैं।

अनेक महत्त्वपूर्ण व्याकरण-ग्रन्थ भी इस युग मे लिखे गए। सातवी सदी में पाणिनि की अष्टाध्यायी पर काशिकावृत्ति लिखी गयी, जो महाभाष्य के बाद पाणिनि-सूत्रों का सबसे महत्त्वपूर्ण व्याख्या-ग्रन्थ है। इसका लेखक जयादित्य था। भर्तृहरि के वाक्यप्रदीप, महाभाष्यप्रदीपिका और महाभाष्यत्रिपदी नामक व्याकरण-ग्रन्थ भी इसी युग की कृति है। पाणिनीय व्याकरण की परम्परा से भिन्न एक अन्य संस्कृत व्याकरण इस समय मे लिखा गया, जो 'कातन्त्र' कहाता है। इसका रचयिता शर्ववर्मा था। भारत से बाहर अन्य देशों मे इसका बहुत प्रचार हुआ। मध्य एशिया और बालि द्वीप में इसकी पुरानी प्रतियाँ उपलब्ध हुई है।

व्याकरण के अतिरिक्त कोश-विषयक अनेक ग्रन्थ भी इस युग मे लिखे गए। अमरकोष की रचना गुप्तकाल में हो चुकी थी। वह इतना लोकप्रिय हुआ, कि उस पर पचास के लगभग टीकाएँ इस युग मे लिखी गयी। इनमे ग्यारहवी सदी में लिखित क्षीर-स्वामी की टीका सबसे अधिक प्रसिद्ध है। अभिधानचिंतामणि, अनेकार्थसग्रह, वैजयन्ती, अधिधानरत्नमाला आदि अन्य अनेक कोश-ग्रन्थ भी इस काल मे बने। कामशास्त्र, सगीत, राजनीति आदि विषयों पर भी अनेक पुस्तके इस युग मे लिखी गयी, और संस्कृत का साहित्य-भण्डार निरन्तर अधिक समृद्ध होता गया।

(७) दर्शन-शास्त्र

दर्शनशास्त्र के विकास की दृष्टि से मध्ययुग का महत्त्व बहुत अधिक है। बौद्ध, जैन और हिन्दू—तीनों प्रकार के दर्शनशास्त्रो का इस युग में चरम विकास हुआ। चौथी सदी मे असंग नामक बौद्ध विद्वान् ने महायानोत्तरतन्त्र सूत्रालंकार आदि ग्रन्थ लिखकर 'क्षणिक विज्ञानवाद' मत का बडी योग्यता के साथ प्रतिपादन किया था। पाँचवी सदी मे दिङ्नाग ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ प्रमाणसमुच्चय की रचना की। ये दोनों बौद्ध दार्शनिक मध्ययुग से पहले हो चुके थे। पर इस काल मे धर्मकीर्ति और शांतरक्षित नामक दार्शनिकों ने बौद्ध-दर्शन को विकास की चरम सीमा पर पहुँचा दिया। धर्मकीर्ति (सातवी सदी) के ग्रन्थों मे प्रमाणवार्तिक और प्रमाणविनिश्चय सर्वप्रधान है। बौद्ध-संसार में ये ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हुए, और तिब्बती आदि अनेक भाषाओं में इनका अनुवाद किया गया। धर्मकीर्त्ति असंग द्वारा प्रतिपादित 'विज्ञानवाद' के अनुयायी थे, और उन्होंने इसी मत को कुछ अंशों में परिवर्त्तित व विकसित कर तर्क द्वारा उसका प्रतिपादन किया। धर्मकीर्त्ति के बाद शांतरक्षित, कमलशील और ज्ञानश्री जैसे बौद्ध दार्शनिकों ने दर्शन-शास्त्र का और अधिक विकास किया। यहाँ हमारे लिए यह सम्भव नही है, कि इन महान् दार्शनिकों के विचारो का संक्षिप्त रूप से भी निर्देश कर सकें। यद्यपि वज्रयान

के विकास के कारण इस युग मे बौद्ध-धर्म का ह्रास हो रहा था, पर दार्शनिक क्षेत्र में अनेक बौद्ध-विद्वान् अत्यन्त योग्यतापूर्वक अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन और विरोधी सिद्धान्तों के खण्डन मे तत्पर थे।

दार्शनिक दृष्टि से बौद्ध-दर्शन को चार प्रधान सम्प्रदायो में विभक्त किया जा सकता है—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक। इन चारो सम्प्रदायों का पक्षपोषण करते हुए जो विशाल साहित्य इस युग मे लिखा गया, वह संसार के दार्शनिक साहित्य मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

बौद्धो के समान अनेक जैन विद्वानों ने भी इस युग मे अपने दार्शनिक विचारों का प्रतिपादन किया। जैन-दर्शन का प्रारम्भ उमास्वाति और कुन्दकुन्दाचार्य नामक विद्वानो ने किया था, जो पहली सदी ई० पू० मे हुए थे। पर इसका विशेष रूप से विकास मध्य युग मे हुआ। जैन दार्शनिको में सिद्धसेन दिवाकर (पाँचवी सदी), समन्तभद्र (सातवी सदी), हरिभद्र (आठवी सदी), भट्ट अकलङ्क (आठवीं सदी), विद्यानन्द (नवी सदी), हेमचन्द्र (ग्यारहवी सदी) और मल्लिसेण सूरी (तेरहवी सदी) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

हिन्दू या आस्तिक दर्शन के सिद्धान्तों का हम पिछले एक अध्याय मे उल्लेख कर चुके हैं। इन आस्तिक दर्शनो पर भी अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ इस युग मे लिखे गए, जिनमे अपने मत के प्रतिपादन के साथ-साथ बौद्धो और जैनों का विशेषरूप से खण्डन भी किया गया। इसमे सन्देह नही, कि आस्तिक दर्शनो का विकास इस युग से पूर्ववर्त्ती काल मे ही हो गया था, पर उन पर नये-नये और सुविस्तृत ग्रन्थ इसी काल मे लिखे गए। बौद्ध-धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया होकर जब सनातन वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ, तो उसके विद्वानों के लिए यह भी आवश्यक हो गया, कि वे बौद्ध विचारधारा का खण्डन कर आस्तिक दर्शन का खण्डन करे। इसीलिए मध्य युग मे दर्शनशास्त्रो पर अनेक अत्यन्त उत्कृष्ट ग्रन्थों की रचना हुई।

मीमांसा-दर्शन के कर्त्ता जैमिनि मुनि थे। उन्होने मीमासा-सूत्रो की रचना की थी। दूसरी सदी ई० पू० के लगभग उपवर्ष भवदास और शबरस्वामी ने इन सूत्रो पर वृत्तियाँ लिखी, जिनमें मीमासा के सिद्धान्तों को बहुत विशद रूप दिया गया। शबरस्वामी द्वारा लिखा हुआ शाबरभाष्य (मीमासासूत्रो पर) मीमासा दर्शन का अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ है। आठवी सदी के पूर्वार्ध में कुमारिल भट्ट ने इस दर्शन को और अधिक विकसित किया, और बौद्ध-दर्शन का खण्डन कर मीमांसा के सिद्धान्तों की सत्यता सिद्ध की। कुमारिल भट्ट के शिष्य मण्डनमिश्र थे, जिन्होने विधिविवेक और भावनाविवेक नामक ग्रन्थो को लिखकर अपने गुरु की विचारसरणी को और अधिक विकसित किया।

वेदान्तसूत्रों का निर्माण महर्षि बादरायण ने किया था। जिस सिद्धान्त को महर्षि बादरायण ने सूत्र-रूप से लिखा था, मध्ययुग के दार्शनिकों ने उसे बहुत अधिक विकसित किया। इसके लिए उन्होने वेदान्तसूत्रो (ब्रह्मसूत्रो) पर विस्तृत भाष्य लिखे। वेदान्तदर्शन को विशदरूप से प्रतिपादित करने वाले दार्शनिकों में सर्वोच्च स्थान शंकराचार्य का है, जो आठवी सदी के उत्तरार्ध में उत्पन्न हुए थे। उनका जन्म केरल

(मलाबार) के एक ब्राह्मण कुल में हुआ था। आचार्य गौड़पाद से शिक्षा प्राप्त कर उन्होंने वेदान्त-दर्शन के प्रतिपादन और बौद्ध-मत के खण्डन में अपनी सब शक्ति को लगा दिया। इस उद्देश्य से उन्होंने कन्याकुमारी से बदरीनाथ तक पर्यटन किया, और स्थान-स्थान पर बौद्धों से शास्त्रार्थ किए। यह संसार मिथ्या है, एकमात्र ब्रह्म ही सत्य सत्ता है, इस विचार को उन्होंने युक्तिपूर्वक प्रतिपादित किया।

शंकराचार्य ने जिस ढंग से वेदान्तसूत्रों की व्याख्या की थी, अन्य अनेक दार्शनिकों ने उसे पसन्द नहीं किया। ब्रह्म के अतिरिक्त जीव की सत्ता को न मानने से ईश्वर-भक्ति का कुछ अर्थ ही नहीं रह जाता। इसलिए वैष्णव आचार्यों ने वेदान्तसूत्रों की इस प्रकार व्याख्या की, जिससे ब्रह्म और जीव की पृथक् सत्ता सिद्ध की गयी।

इन दार्शनिकों में रामानुज (११४० ई०), मध्व (११२७ ई०), निम्बार्क (१२५० ई०) और वल्लभाचार्य (१५०० ई०) के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। रामानुज के अनुसार जीव और जगत् ईश्वर के ही दो प्रकार हैं। इसी लिए उनका मत विशिष्टाद्वैत कहाता है। मध्वाचार्य के मत में ईश्वर और जीव दो पृथक् सत्ताएँ हैं। उनके मत को 'द्वैत' कहा जाता है। निम्बार्क जीव और ईश्वर को पारमार्थिक दृष्टि से अभिन्न मानते है, पर व्यावहारिक रूप से उनकी भिन्न सत्ता को स्वीकार करते है। इसीलिए उनके मत को द्वैताद्वैत कहते हैं।

शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र शाँकरभाष्य लिखकर वेदान्त दर्शन का प्रतिपादन किया था। नवी सदी में वाचस्पति ने इस भाष्य पर भामती टीका लिखी। वेदान्त के अन्य उत्कृष्ट ग्रन्थो में श्रीहर्ष (बारहवी सदी) का खण्डनखाद्य, चित्सुखाचार्य (तेरहवी सदी) की तत्त्वदीपिका, विद्यारण्यस्वामी (चौदहवीं सदी) की पञ्चदशी और मधुसूदन सरस्वती (सोलहवी सदी) की अद्वैतसिद्धि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। ये सब ग्रन्थ मध्य युग में ही लिखे गए थे।

महर्षि गौतम ने जिस न्यायशास्त्र का सूत्र-रूप से प्रतिपादन किया था, उसपर प्राचीन समय में वात्स्यायन ने भाष्य लिखा। वात्स्यायन को दूसरी सदी ई० पू० के लगभग में हुआ माना जाता है। पर मध्यकाल मे इस दर्शन का असाधारण रूप से विकास हुआ, और अनेक दार्शनिको ने इस पर उत्कृष्ट ग्रन्थो की रचना की। इन दार्शनिकों में उद्योतकर (छठी सदी), वाचस्पति मिश्र (नवी सदी), जयन्तभट्ट (नवी सदी) और उदयनाचार्य (दसवी सदी) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। तेरहवीं सदी में गंगेश उपाध्याय नामक दार्शनिक ने न्यायदर्शन के एक नए सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन किया, जिसे 'नव्यन्याय' कहते हैं। मुसलिम युग में इस सम्प्रदाय का बहुत विकास हुआ, और इसको प्रतिपादित करने के लिए अनेक ग्रन्थों की रचना की गयी।

इसी प्रकार से सांख्य, योग और वैशेषिक दर्शनों पर भी अनेक ग्रन्थ मध्यकाल में लिखे गए, जिनमें वैशेषिक दर्शन के प्रसिद्ध आचार्य प्रशस्तपाद के पदार्थधर्म-संग्रह पर लिखी हुई व्योमशिखाचार्य (आठवी सदी), उदयनाचार्य (नवी सदी) और श्रीधराचार्य (दसवीं सदी) की टीकाएँ, सांख्यदर्शन पर वाचस्पति मिश्र (नवी सदी) द्वारा लिखी हुई तत्त्वकौमुदी और योगदर्शन पर भोज द्वारा लिखित भोजवृत्ति विशेषतया महत्त्वपूर्ण है।

इसमें सन्देह नही, कि दर्शनशास्त्र के क्षेत्र मे मध्ययुग में बहुत उन्नति हुई। इस युग के भारतीय विचारकों ने प्राचीनकाल मे प्रादुर्भूत हुए दार्शनिक सिद्धान्तों को विकसित कर एक ऐसा रूप प्रदान किया, जो संसार के दार्शनिक साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है।

(८) वैज्ञानिक उन्नति

गुप्त-युग मे भारत के विभिन्न विद्वानों ने गणित, ज्योतिष आदि विज्ञानों की किस प्रकार उन्नति की थी, इस पर पिछले एक अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। गुप्त-युग मे वैज्ञानिक उन्नति की जो प्रक्रिया शुरू हुई थी, यदि वह मध्यकाल मे भी जारी रहती, तो भारत विज्ञान के क्षेत्र मे बहुत उन्नत हो जाता। पर फिर भी इस काल में अनेक ऐसे विद्वान् उत्पन्न हुए, जिन्होंने गणित, ज्योतिष और आयुर्वेद पर नये ग्रन्थो की रचना की। इस प्रकरण मे हम इन्ही का सक्षिप्त रूप से उल्लेख करेगे।

सातवी सदी के पूर्वार्ध मे ब्रह्मगुप्त ने 'ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त' लिखा, जो ज्योतिष का एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। बारहवी सदी में भास्कराचार्य ने 'सिद्धान्तशिरोमणि' की रचना की, जिसके एक भाग मे गणित और दूसरे भाग मे ज्योतिष का प्रतिपादन है। मध्यकाल मे यूरोप के ज्योतिषी पृथिवी को चपटी मानते थे, पर भास्कराचार्य ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया, कि पृथिवी चपटी न होकर गोल है। उसने आकर्षणशक्ति के सिद्धान्त का भी सुन्दर रीति से निरूपण किया। मध्ययुग मे पाश्चात्य जगत् के लोग इस सिद्धान्त से सर्वथा अपरिचित थे। ज्योतिष का ज्ञान भारत से अरब मे गया, और अरब लोगों से यूरोपियन लोगो ने उसे सीखा। बगदाद के अरब खलीफा हारूँ रशीद ने भारत के अनेक ज्योतिषियो को अपनी राजधानी में निमन्त्रित किया था, और उनकी सहायता से अनेक भारतीय ज्योतिष-ग्रन्थों का अनुवाद अरबी भाषा मे करवाया था। गणित-विज्ञान मे भारतीय लोगों ने न केवल अंकगणित और दशमलव के सिद्धान्त का विकास किया,अपितु त्रिकोणमिति का भी विकास किया। गणित की सहायतासे भारतीय ज्योतिषी ग्रहो और राशियो की गणना से भली-भाँति परिचित हो गये थे।

धन्वन्तरि और चरक जैसे पुराने आचार्यों ने आयुर्वेद-शास्त्र के जो ग्रन्थ प्राचीन युग मे लिखे थे, उनका जिक्र पहले किया जा चुका है। मध्य युग में आयुर्वेद पर अनेक नये ग्रन्थ लिखे गये। ८०० ईस्वी के लगभग 'अष्टागहृदय' की और माधवकरण ने 'माधवनिदान' की चरचा की। ये दोनो ग्रन्थ आयुर्वेद मे बहुत ऊँचा स्थान रखते है। माधवनिदान मे विविध रोगो के निदान (उत्पत्ति का कारण) पर बहुत विशदरूप से विचार किया गया है। ग्यारहवी सदी मे चक्रपाणिदत्त नाम के बंगाली वैद्य ने चरक और सुश्रुत के प्राचीन ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी, और साथ ही 'चिकित्सासारसंग्रह' नामक नये ग्रन्थ की रचना की। बारहवी सदी के अन्त मे 'शारंगधरसंहिता' लिखी गयी, जिसमें विभिन्न विषों और रसों का वैज्ञानिक पद्धति से विवेचन किया गया है। ये सब ग्रन्थ आयुर्वेद मे बहुत ऊँचा स्थान रखते हैं, और इनके अध्ययन से ज्ञात होता है, कि मध्यकाल में चिकित्सा-शास्त्र ने बहुत उन्नति कर ली थी। इसी उन्नति का यह परिणाम

था, कि बगदाद के खलीफा हारूँरसीद ने जब ज्योतिषियो को भारत से बुलाया था, तब साथ ही अनेक वैद्यों को भी उसने अपने देश में निमन्त्रित किया था। इनकी सहायता से उसने अनेक वैद्यक ग्रन्थों का अरबी मे अनुवाद कराया, और उनसे भारत के चिकित्सा-शास्त्र का ज्ञान अरब लोगों ने प्राप्त किया।

पशुओ की चिकित्सा के विषय पर भी अनेक ग्रन्थ इस युग मे लिखे गये। इनमे पालकाप्य द्वारा विरचित गजचिकित्सा, गजायुर्वेद, गजदर्पण, गजपरीक्षा और गजलक्षण, जयदत्तकृत अश्वचिकित्सा, नकुल का शालिहोत्र-शास्त्र और अश्वतन्त्र विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। ये ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नही होते, यद्यपि अन्य पुस्तको में इनके उद्धरण दिये गये हैं। सम्राट् अशोक ने विविध देशो मे अपनी धर्मविजय की स्थापना के लिए जो चिकित्सालय स्थापित करवाये थे, उनमें न केवल मनुष्यों अपितु पशुओं की चिकित्सा की भी व्यवस्था थी। मध्ययुग के भारतीय चिकित्सक मनुष्यो और पशुओ की चिकित्सा की प्राचीन विधियो का अध्ययन करने के साथ-साथ इन विषयो पर नई पुस्तको की रचना मे भी तत्पर रहे।

गणित, ज्योतिष और आयुर्वेद के अतिरिक्त वास्तुकला आदि पर भी अनेक ग्रन्थ इस युग मे लिखे गये। इनमे राजा भोज द्वारा विरचित 'समरांगणसूत्रधार' और 'युक्तिकल्पतरु' विशेष महत्त्व रखते है।

(९) शिक्षा के केन्द्र

बौद्ध युग के भारत मे शिक्षा का सर्वप्रधान केन्द्र तक्षशिला था, जहाँ वेद, दर्शन राजनीति शास्त्र, युद्धविद्या आदि की उच्च शिक्षा दीजाती थी। जब भारत की राजशक्ति का प्रधान केन्द्र मगध बन गया, तो काशी या वाराणसी शिक्षा का एक मुख्य केन्द्र बन गया। बौद्ध-धर्म के विस्तार के साथ-साथ भारत के बहुत-से नगरो मे विहारों की स्थापना हुई, जिनमे बौद्ध-भिक्षु विद्या के अध्ययन और अध्यापन मे तत्पर रहते थे। मध्यकाल मे नालन्दा, विक्रमशिला और उड्यन्तपुर के महाविहारो ने विश्वविद्यालयों का रूप धारण कर लिया, जिनमे न केवल बौद्धो के धार्मिक और दार्शनिक साहित्य का ही अध्यापन होता था, पर साथ ही गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि विज्ञानो का भी शिक्षण होता था। केवल भारत के ही नही, अपितु चीन, तिब्बत आदि विदेशों के छात्र व विद्वान् भी इन शिक्षा-केन्द्रो से आकृष्ट होकर इनमे आया करते थे।

मदुरा का संगम—प्राचीनकाल में सुदूर दक्षिण मे मदुरा नगरी मे भी एक विद्यापीठ था, जिसका नाम सगम था। तक्षशिला के समान इसमें भी बहुत-से संसार-प्रसिद्ध आचार्य रहते थे। यहाँ प्राचीन तमिल साहित्य का विकास हुआ। सगम के आचार्य केवल शिक्षा का कार्य ही नही करते थे, अपितु साहित्य की रचना को भी वे बहुत महत्त्व देते थे। इसी काण यहाँ उत्कृष्ट तमिल साहित्य की रचना हुई। इनमें तिरुवल्लुवर का 'कुरल' सबसे प्रसिद्ध है। यह विश्व-साहित्य में एक अनुपम रत्न गिना जाता है, और इसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार विभागों द्वारा मानव-जीवन के लिए उपयोगी सूक्तियों व उपदेशों का प्रतिपादन किया गया है। तमिल साहित्य में इस ग्रन्थ का बहुत ऊँचा व सर्वश्रेष्ठ स्थान है। कुरल के अतिरिक्त 'मणिमेखला' और

'शीलप्पतिकारम्' ग्रन्थों का उल्लेख भी यहाँ आवश्यक है। ये दोनों तमिल भाषा के महाकाव्य है, और इनकी रचना भी मदुरा के संगम मे ही हुई।

नालन्दा महाविहार—मगध मे नालन्दा का महाविहार शिक्षा का बडा केन्द्र था। इसकी स्थापना गुप्तवशी सम्राट् कुमारगुप्त (राज्य-काल ४२५–५५ ई० प०) ने की थी। बाद के अन्य गुप्तवंशी सम्राटो ने भी यहाँ बहुत-सी इमारते बनवायी, और नालन्दा के शिक्षकों और विद्यार्थियो के खर्चे के लिए बहुत-सी जायदाद लगा दी। शीघ्र ही, शिक्षा और ज्ञान के केन्द्र के रूप मे नालन्दा की ख्याति दूर-दूर तक पहुंच गयी, और देश-विदेश के हजारों विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने के लिए वहाँ आने लगे। अनेक चीनी विद्वान् उसकी कीर्त्ति सुनकर उसके प्रति आकृष्ट हुए। उन्होने अपने देश लौट कर जो यात्रा-विवरण लिखे, आज उन्ही से हमें नालन्दा के आचार्यों और शिक्षा-पद्धति आदि के विषय मे परिचय मिलता है। प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्युएन-त्सांग ने नालन्दा का जो विवरण लिखा है, उससे ज्ञात होता है कि यहाँ के आचार्यों और विद्यार्थियों की सख्या मिलकर दस हजार से भी अधिक थी। नालन्दा के शिक्षक अपने ज्ञान और विद्वत्ता के लिए सर्वत्र प्रसिद्ध थे। कई शिक्षक तो ऐसे थे, जिनकी ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई थी। इव सब का चरित्र सर्वथा उज्ज्वल और निर्दोष था। सदाचार के सब नियमों का वे पूर्ण तत्परता और सचाई से पालन करते थे। भारत के सब प्रदेशो में उनका आदर था, और सर्वत्र उनका अनुसरण किया जाता था। इस महाविद्यालय के नियम बड़े कठोर थे, और यहाँ के निवासियों के लिए यह अनिवार्य था कि वे उनका पालन करें।

नालन्दा महाविहार में प्रवेश पाने के लिए यह आवश्यक था, कि पहले एक परीक्षा को उत्तीर्ण किया जाय। यह परीक्षा 'द्वार-पण्डित' लेता था। महाविहार के प्रवेश द्वार को लांघने के लिए इस द्वार-पण्डित की परीक्षा मे उत्तीर्ण होना अनिवार्य था। यह परीक्षा बहुत कठिन होती थी। ह्युएन-त्साग के अनुसार २० व ३० फीसदी से अधिक परीक्षार्थी इस परीक्षा को उत्तीर्ण नही कर पाते थे। ह्युएन-त्सांग स्वयं बहुत समय तक नालन्दा रहा था। वह यहाँ के ज्ञानमय वातावरण और चरित्र की उच्चता द्वारा बहुत प्रभावित हुआ था। द्वार-पण्डित को पराजित कर जो विद्यार्थी नालन्दा के महाविहार मे प्रविष्ट होते थे, उन्हें वहाँ बहुत मेहनत करनी पड़ती थी। चीनी यात्री ह्युएन-त्सांग के अनुसार महाविहार मे प्रविष्ट होकर भी बहुत-से विद्यार्थी वहाँ परास्त हो जाते थे। जो वहाँ भी विजय करके (परीक्षाओं में उत्तीर्ण होकर) बाहर जाते थे, उनके ज्ञान और पाण्डित्य का सर्वत्र आदर होता था।

इत्सिग नाम का एक अन्य चीनी यात्री सातवी सदी में भारत आया। उसने ६७१ ई० मे चीन से प्रस्थान किया और ६७३ ई० मे वह ताम्रलिप्ति के बन्दरगाह पर पहुँचा। इत्सिग का मुख्य उद्देश्य भारत आकर बौद्ध-धर्म का उच्च ज्ञान प्राप्त करना और यहाँ से धर्म की प्रामाणिक पुस्तकों को एकत्र कर चीन ले जाना था। अतः उसका अधिकांश समय नालन्दा में ही व्यतीत हुआ। इत्सिग के विवरण से भी यह प्रमाणित होता है, कि नालन्दा महाविहार में विद्यार्थियों की संख्या हजारों मे थी। वहाँ प्रवेश पाने के लिये व्याकरण, हेतु-विद्या (न्याय) और अभिधर्मकोश का ज्ञान

आवश्यक था। महाविहार में शिक्षा के लिए प्रवेश पा चुकने पर विद्यार्थी जहाँ बौद्ध-धर्म के विशाल साहित्य का अध्ययन करते थे, वहाँ साथ ही शब्द-विद्या, चिकित्सा-विज्ञान, सांख्यशास्त्र, तन्त्र, वेद आदि की पढ़ाई की भी वहाँ व्यवस्था थी। महाविहार के खर्च के लिए राज्य द्वारा बहुत-सी भूसम्पत्ति दान दी गई थी। इसकी सब आमदनी इस शिक्षा-केन्द्र के खर्च के लिए काम आती थी।

नालन्दा का पुस्तकालय बडा विशाल था। इसकी तीन विशाल इमारतें थीं, जिनके नाम थे—रत्नसागर, रत्नोदधि और रत्नारंजक। रत्नोदधि-भवन नौ मंजिल ऊँचा था। इसमें धर्म-ग्रन्थों का संग्रह किया गया था। अन्य दोनों इमारतें भी इसी प्रकार विशाल और विस्तीर्ण थी।

आठवीं सदी के शुरू में तिब्बत के राजा ने नालन्दा के एक प्रसिद्ध आचार्य शान्तरक्षित को इस उद्देश्य से अपने देश में निमन्त्रित किया, कि वह वहाँ बौद्ध-धर्म की अच्छी तरह स्थापना करे। तिब्बत पहुँचने पर शान्तरक्षित का बड़ी धूमधाम के साथ स्वागत किया गया, और उसे आचार्य बोधिसत्व की उपाधि से विभूषित किया गया शान्तरक्षित के कुछ समय बाद कमलशील नामक एक अन्य आचार्य को नालन्दा से बुलाया गया, और इन दो भारतीय आचार्यों ने तिब्बत में धर्म की स्थापना की। बाद में अतीश नाम के अन्य आचार्य को तिब्बत मे धर्मस्थापना के लिए आमन्त्रित किया गया। यह मगध में ही विद्यमान विक्रमशिला महाविहार का प्रधान आचार्य था।

नालन्दा महाविहार की स्थापना पाँचवीं सदी ईस्वी मे हुई थी। ग्यारहवीं सदी तक वह भारत का प्रधान शिक्षा-केन्द्र रहा। इस समय विक्रमशिला नाम के एक अन्य महाविहार की स्थापना हो गयी थी, जिसे पालवंशी राजाओं का संरक्षण प्राप्त था। विक्रमशिला के विकास से नालन्दा की कीर्ति कुछ मन्द पड़ने लगी, और उसमें ह्रास के चिह्न प्रगट होने लगे। बाद में जब मुहम्मद बिन बख्तियार खिलजी ने बिहार पर आक्रमण किया, तो नालन्दा के इस प्राचीन महाविहार का अन्तिम रूप से विनाश हुआ।

विक्रमशिला—नालन्दा के समान विक्रमशिला का महाविहार भी मगध मे ही था। इसकी स्थापना पालवंशी राजा धर्मपाल ने नवीं सदी में की थी। धर्मपाल बौद्ध-धर्म का अनुयायी था, और अपने को "परमपरमेश्वर-परमभट्टारक महाराजाधिराज' की उपाधि से विभूषित करता था। धर्मपाल ने विक्रमशिला मे एक महाविहार बनवा कर वहाँ अध्यापन के लिए १०८ आचार्यों की नियुक्ति की। इस नये शिक्षणालय को राजवंश की संरक्षा प्राप्त थी। इसके खर्च के लिए अतुल धनराशि राजा धर्मपाल व उसके उत्तराधिकारियो द्वारा दी गयी। परिणाम यह हुआ, कि बहुत-से विद्यार्थी इसमें शिक्षा-ग्रहण करने के लिए आने लगे। चार सदियों तक यह महाविहार कायम रहा, और इस बीच में इसने बड़े-बड़े विद्वान् उत्पन्न किए। विक्रमशिला से जो विद्यार्थी शिक्षा पूर्ण करते थे, उन्हें 'पण्डित' की उपाधि प्रदान की जाती थी। यह उपाधि पालवंशी राजाओं द्वारा उन्हे दी जाती थी।

नालन्दा के समान विक्रमशिला में भी द्वारपण्डित होते थे। यहाँ द्वारपण्डितों की संख्या छः थी। ऐसा प्रतीत होता है, कि विक्रमशिला के महाविहार में छः कालेज

या विद्यालय थे, और इनमें से प्रत्येक का द्वारपण्डित पृथक्-पृथक् होता था। तिब्बती लेखक तारानाथ ने लिखा है, कि विक्रमशिला के दक्षिणी द्वार का द्वारपण्डित प्रज्ञाकरमति था। इसी प्रकार पूर्वी द्वार का रत्नाकरशान्ति, पश्चिमी द्वार का वागीश्वरकीर्त्ति, उत्तरी द्वार का नारोपन्त, प्रथम केन्द्रीय द्वार का रत्नवज्र और द्वितीय केन्द्रीय द्वार का द्वारपण्डित ज्ञानश्रीमित्र था। द्वार-पण्डित के पद पर बहुत ही उच्च कोटि के विद्वानो को नियत किया जाता था। प्रत्येक कालेज मे शिक्षको की सख्या १०८ रखी गई थी। इस प्रकार विक्रमशिला में शिक्षको की कुल संख्या ६४८ थी। वहाँ कितने विद्यार्थी शिक्षा पाते थे, इसका उल्लेख किसी विदेशी यात्री ने नही किया। पर विक्रमशिला का जो सभाभवन था, उसमे ८००० व्यक्ति एक साथ बैठ सकते थे। इससे सूचित होता है, कि इसके विद्यार्थियों की संख्या भी हजारो में थी। महाविहार के बाहर एक धर्मशाला भी बनायी गई थी, ताकि विद्यार्थी प्रविष्ट होने से पहले उसमें निवास कर सकें। महाविहार के चारो ओर एक प्राचीर थी, जैसी कि दुर्गों के चारो ओर हुआ करती थी।

विक्रमशिला मे बौद्ध-साहित्य, वैदिक साहित्य और अन्य ज्ञान-विज्ञान की पढाई होती थी। पर यह महाविहार बौद्धों के वज्रयान सम्प्रदाय के अध्ययन का सबसे प्रामाणिक केन्द्र था। इस युग के भारत में तन्त्र-विद्या का बहुत प्रचार हो गया था। बौद्ध और पौराणिक—दोनों धर्मों मे तान्त्रिक साधना को बहुत महत्त्व दिया जाने लगा था। तन्त्रवाद जो इस युग के धर्म का बहुत महत्त्वपूर्ण भाग बन गया, उसका श्रेय प्रधानतया इसी महाविहार को है।

विक्रमशिला मे शिक्षा पाए हुए विद्यार्थियों में से अनेको ने विद्वता के क्षेत्र मे बडी ख्याति प्राप्त की। इनमे रत्नवज्र, आचार्य रत्नकीर्त्ति, ज्ञानश्रीमित्र, रत्नाकरशान्ति और दीपङ्कर अतीश के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अतीश को तिब्बत मे बौद्ध-धर्म की पुनः स्थापना के लिए बुलाया गया था, और उसने वहाँ उस व्यवस्था को कायम किया था, जो लामाओ की अधीनता मे अब तक वहाँ विद्यमान है। रत्नकीर्त्ति अतीश का गुरु था, और ज्ञानश्रीमित्र अतीश का उत्तराधिकारी था। अतीश के तिब्बत चले जाने के बाद ज्ञानश्रीमित्र ही विक्रमशिला महाविहार का प्रधान आचार्य बना था।

उड्यन्तपुर—नालन्दा और विक्रमशिला के समान ही पूर्व-मध्ययुग मे एक अन्य महाविहार था, जिसे उड्यन्तपुर कहते थे। इसकी स्थापना पालवश के प्रवर्त्तक व प्रथम राजा गोपाल द्वारा की गई थी। यह महाविहार उस स्थान पर विद्यमान था, जहाँ आजकल विहार नामक नगरी है। सम्भवतः, उड्यन्तपुर के महाविहार के कारण ही इस नगर का नाम बिहार पडा, और बाद में सारे प्रान्त का नाम ही विहार हो गया। गोपाल द्वारा स्थापित होने के बाद उड्यन्तपुर का महाविहार निरन्तर उन्नति करता गया। शुरू में नालन्दा की ख्याति के कारण इसकी बहुत प्रतिष्ठा नहीं हुई, और बाद में राजा धर्मपाल द्वारा विक्रमशिला मे अन्य महाविहार की स्थापना हो जाने के कारण उड्यन्तपुर का विहार विशेष प्रसिद्ध नहीं रहा। पर बारहवी सदी मे यह शिक्षा का अच्छा बडा केन्द्र हो गया था, और इसमें भी हजारों आचार्य व विद्यार्थी निवास करते

थे। उड्यन्तपुर के विहार का उल्लेख इस काल के अनेक शिलालेखों में भी उपलब्ध होता है।

११९९ ई० प० मे जब मुहम्मद बिन बख्तियार खिलजी ने वर्तमान समय के विहार प्रान्त पर आक्रमण किया, तो वहाँ का राजा पालवंशी गोविन्दपाल था। उसकी शक्ति बहुत न्यून थी। मुहम्मद ने इस हमले में देखा, कि उड्यन्तपुर का विहार एक दुर्ग के समान है। उसने उसे घेर लिया और उस पर हमला किया। इस अवसर पर इस महाविहार के आचार्यों और विद्यार्थियो ने भी शस्त्र उठाये, और डटकर मुहम्मद की सेनाओ का मुकाबला किया। जब तक एक भी आचार्य व विद्यार्थी जीवित रहा, उन्होने उड्यन्तपुर पर अफगानो का अधिकार नही होने दिया। जब महाविहार के सब निवासी लडते-लडते मर गये, तब मुहम्मद का उस पर अधिकार हुआ। वहाँ के विशाल पुस्तकालय को मुहम्मद ने अग्नि के भेट कर दिया, और भारत के प्राचीन ज्ञान और विज्ञान का यह विशाल भण्डार बात की बात मे नष्ट हो गया। विक्रमशिला के महा-विहार का अन्त भी इस अफगान आक्रान्ता द्वारा ही हुआ था।

मगध के इन महाविहारो के अतिरिक्त अन्य भी अनेक विहार या महाविहार मध्य युग में शिक्षा के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। इनमे श्रीनगर (काश्मीर) के जयेन्द्र विहार और राजविहार, अनुपमपुर (काश्मीर) के रत्नगुप्त विहार और रत्नरश्मि विहार, बंगाल के सोमपुरी विहार और जगद्दल विहार तथा कौशाम्बी और काम्पिल्य के विहार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये सब विहार बौद्धधर्म और संस्कृति के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। मध्यकाल मे ये फलती-फूलती दशा मे रहे, और मुसलिम आक्रमणो के समय में ही नष्ट हुए। नालन्दा, विक्रमशिला आदि के अतिरिक्त मध्ययुग मे वलभी (काठिया-वाड मे) भी शिक्षा का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। चीनी यात्री इत्सिग के अनुसार नालन्दा के समान यह भी एक विद्याकेन्द्र के रूप मे बहुत प्रसिद्ध था, और यहाँ भी दूर-दूर से विद्यार्थी उच्च शिक्षा ग्रहण करने के लिए आया करते थे।

मध्ययुग मे भारत के विविध प्रदेशो मे जो विभिन्न राजवश शासन करते थे, उनके राजाओ ने भी अपनी राजधानियो में अनेक शिक्षा-केन्द्र स्थापित किये थे। इस काल के राजाओ ने विद्या और ज्ञान के प्रोत्साहन और सवर्धन मे असाधारण तत्परता प्रदर्शित की। इनमे परमार राजा भोज का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। उसने अपनी राजधानी धारा मे एक महाविद्यालय की स्थापना की थी, जिसके कारण विद्वानों और साहित्यिको को बहुत प्रोत्साहन मिला था। परमार वश मे केवल भोज ही नही, अपितु मुञ्ज, सिन्धुराज आदि अन्य राजा भी बड़े विद्यानुरागी थे। वे स्वयं भी सुकवि और विद्वान् थे। भोज द्वारा स्थापित महाविद्यालय चिरकाल तक स्थिर रहा, पर अन्त मे उसे भी मुसलिम आक्रान्ताओ का कोपभाजन बनना पडा। उसे गिराकर एक मसजिद का रूप प्रदान कर दिया गया। पर अब तक भी इस मसजिद मे और इसके समीपवर्ती स्थानों पर अनेक ऐसे प्रमाण विद्यमान है, जिससे इसका महाविद्यालय होना प्रमाणित होता है। यही राजा भोज का एक शिलालेख भी उपलब्ध हुआ है, जिससे इसके मूल रूप के सम्बन्ध मे कोई सन्देह नही रह जाता।

परमार वंशी भोज के समान चाहमान (चौहान) वंशी राजा विग्रहराज चतुर्थ ने

भी अपनी राजधानी अजमेर में एक महाविद्यालय की स्थापना की थी। अफगान आक्रान्ता शहाबुद्दीन गौरी ने इसे भी एक मसजिद के रूप मे परिवर्तित कर दिया। कन्नौज, मिथिला, उज्जयिनी, पैठन, मालखेड़, कल्याणी आदि में भी वहाँ के विविध राजाओ ने इसी प्रकार के महाविद्यालय स्थापित किये थे, जिनमें वेदशास्त्र, व्याकरण गणित, ज्योतिष, कला आदि की शिक्षा की व्यवस्था थी। इनका खर्च चलाने के लिए राजाओ की ओर से भरपूर सहायता दी जाती थी। अध्यापको और विद्यार्थियों का सब व्यय राजकीय सहायया द्वारा ही चलता था।

राजाश्रय से चलने वाले विद्यालयों और महाविद्यालयों के अतिरिक्त तीर्थ और मन्दिर भी मध्ययुग मे शिक्षा के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। वाराणसी, काञ्ची आदि नगरियाँ हिन्दुओं की पवित्र तीर्थ थीं, जहाँ बहुत-से पण्डित अध्ययन-अध्यापन के कार्य मे व्यापृत रहा करते थे। बौद्धों के विहार व महाविहार शिक्षा का कार्य करते थे, यह ऊपर लिखा जा चुका है। मध्ययुग में जब बौद्धधर्म का ह्रास हुआ, और भागवत वैष्णव, शैव, शाक्त आदि सम्प्रदायो ने जोर पकडा, तो इन धर्मो के भी विशाल मन्दिर बनवाये गये। ये मन्दिर जहाँ हिन्दू धर्म और संस्कृति के केन्द्र थे, वहाँ साथ ही शिक्षा का कार्य भी इनमे किया जाता था। यद्यपि इनमें प्रधानतया वेदशास्त्रों की शिक्षा दी जाती थी, पर गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि का भी इनमे अध्ययन होता था। मध्ययुग में प्रायः सभी मन्दिरों के साथ विद्यालय भी विद्यमान थे।

बड़े विद्यालयों या विद्यापीठो के अतिरिक्त नगरों और ग्रामों में भी बहुत-सी पाठशालाएँ विद्यमान थीं, जिनमें ब्राह्मण लोग अध्ययन-अध्यापन के कार्य मे व्यापृत रहा करते थे। इन ब्राह्मण-पण्डितों के निर्वाह की व्यवस्था प्रायः स्थानीय लोगो द्वारा ही कर दी जाती थी। पर राजा लोग भी इनका खर्च चलाने के लिए इन्हे कतिपय भूमि प्रदान कर दिया करते थे, जिसे 'अग्रहार' कहते थे। इस भूमि से प्राप्त होने वाली आमदनी से ब्राह्मण-पण्डित निश्चिन्तता के साथ अपना निर्वाह कर सकते थे।

(१०) सामाजिक दशा

भारत मे जाति-भेद का विकास किन परिस्थितियो मे और किस प्रकार हुआ, इस विषय पर हम पहले प्रकाश डाल चुके है। मध्य युग में जाति-भेद ने एक ऐसा रूप धारण कर लिया, कि विभिन्न जाति के लोगों में खान-पान और विवाह का सम्बन्ध होने में अनेक प्रकार की रुकावटें आने लगी। पर यह स्थिति एकदम व अकस्मात् उत्पन्न नहीं हो गयी, इसका विकास धीरे-धीरे हुआ। वर्तमान समय में सवर्ण लोग शूद्रों के हाथ का बना भोजन खाना उचित नहीं समझते। पर प्राचीन समय में यह सिद्धान्त माना जाता था, कि 'शूद्र लोग भोजन बनाएँ, और आर्य लोग उसका सेवन करें।' मध्यकाल में भी शूद्रों के हाथ का भोजन करने मे दोष नहीं माना जाता था। व्यासस्मृति के अनुसार दास, ग्वाले, नाई आदि के साथ भोजन करने में कोई हानि नहीं है। पर यह विचार इस युग में उत्पन्न हो गया था, कि शूद्र के साथ तभी भोजन-सम्बन्ध रखा जा सकता है, जब कि परम्परागत रूप से उससे मैत्री-सम्बन्ध हो। खान-पान के सदृश विवाह-सम्बन्ध के मामले में भी जातियों ने धीरे-धीरे संकीर्ण रूप धारण

किया। प्राचीन ससय में सवर्ण विवाह को श्रेष्ठ समझते हुए भी अनुलोम (उच्च वर्ण का अपने से निम्नवर्ण की स्त्री के साथ विवाह) विवाह को धर्मानुमोदित स्वीकार किया जाता था। कतिपय परिस्थितियों में प्रतिलोम विवाह भी विहित था। सातवीं सदी में महाकवि बाण ने पारशव नामक एक ब्राह्मण का उल्लेख किया है, जिसकी माता शूद्रा थी। पारशव के ब्राह्मण पिता ने शूद्र स्त्री से विवाह किया था, और उससे उत्पन्न पुत्र को ब्राह्मण ही माना गया था। बारहवी सदी तक अनुलोम-विवाह असाधारण नही समझे जाते थे। उत्कीर्ण लेखों तक में उनका जिक्र आता है। ब्राह्मण कवि राजशेखर ने क्षत्रिय (चौहान) कन्या अवन्तिसुन्दरी से विवाह किया था। तेरहवी सदी मे 'स्मृति-चन्द्रिका' ने इस प्रकार के विवाहों को कलिकाल के लिए निषिद्ध ठहराया, और बाद में हेमाद्रि, कमलाकर आदि ने यही बात प्रतिपादित की। परिणाम यह हुआ, कि धीरे-धीरे भारत मे अन्य जाति मे विवाह कर सकना सम्भव नही रह गया, और जाति-बन्धन बहुत अधिक दृढ हो गया।

जाति-भेद के अत्यधिक कठोर हो जाने का ही यह परिणाम हुआ, कि जब मध्य-काल मे तुर्क व अफगान आक्रान्ताओ ने प्राचीन युग के यवनों, शको व हूणो के समान भारत में प्रवेश किया, तो भारत का समाज उन्हे आत्मसात् नही कर सका। जाति-भेद के कारण भारत में जो सकीर्ण मनोवृत्ति इस समय उत्पन्न हो गयी थी, उसे अलबरूनी (दसवी सदी का अन्त) ने इस प्रकार प्रगट किया है, "हिन्दुओं की कट्टरता का शिकार विदेशी जातियाँ होती है। वे उन्हें म्लेच्छ और अपवित्र समझते है। वे उनके साथ खान-पान व विवाह का कोई सम्बन्ध नही रखते। उनका विचार है, कि ऐसा करने से हम भ्रष्ट हो जायँगे।" प्राचीन समय में यवनों, शकों, कुशाणो व हूणों के प्रति भारतीयो की यह मनोवृत्ति नही थी। पर जाति-भेद के विकास के कारण अब दसवी सदी में तुर्कों के प्रति भारतीयों की मनोवृत्ति बहुत बदल गयी थी, और उनके लिए यह सम्भव नही रह गया था, कि वे उन्हे अपने समाज का अंग बना सकें। पर यह दशा भी सर्वत्र एक समय मे ही नही आ गयी थी। बारहवी सदी के अन्तिम चरण मे जब शहाबुद्दीन गौरी ने गुजरात मे हार खाई, तो उसकी मुसलिम सेना का बडा भाग कैद हो गया। गुजरात के हिन्दुओं ने उन्हे आत्मसात् कर लिया। इसी प्रकार तेरहवी सदी मे जब अहोम जाति ने असम में प्रवेश किया, तो वह भी हिन्दू-समाज का अग बन गयी। पर इसमे सन्देह नही, कि मध्यकाल मे हिन्दू-समाज मे विदेशियो को आत्मसात् करने की शक्ति निरन्तर क्षीण होती जा रही थी, और धीरे-धीरे यह स्थिति आ गयी थी, कि उनके लिए अपने समाज के भी पतित हुए अग को अपने मे मिला सकना सम्भव नही रहा था।

मध्य युग मे स्त्रियों की क्या स्थिति थी, इस सम्बन्ध में भी कतिपय बातों का उल्लेख आवश्यक है। हर्षवर्धन की बहन राज्यश्री सुशिक्षित महिला थी, और उसने दिवाकरमित्र नामक बौद्ध-पण्डित से धर्म की शिक्षा ली थी। प्रसिद्ध ज्योतिषी भास्करा-चार्य (बारहवीं सदी) ने अपनी पुत्री लीलावती को गणित का ज्ञान देने के लिए 'लीलावती' नामक पुस्तक लिखी, जो संस्कृत में गणित-विषयक अनुपम पुस्तिका है। कवि राजशेखर की पत्नी अवन्तिसुन्दरी अच्छी विदुषी थी। उसने प्राकृत भाषा के एक

कोश का भी निर्माण किया था। मध्य युग में अनेक स्त्रियों ने संस्कृत-काव्यों की भी रचना की। इन्दुलेखा, विज्जिका, शीला, सुभद्रा, मदालसा आदि कितनी ही कवयित्रियों की रचनाओं का आभास हमे इस युग के अलंकार ग्रन्थों द्वारा मिल जाता है, यद्यपि उनकी रचनाएँ इस समय उपलब्ध नही है। स्त्रियों मे शिक्षा प्रचार होने पर भी समाज में उनकी स्थिति अब निरन्तर हीन होती जाती थी। विधवा-विवाह अब बुरा माना जाने लगा था, और सती प्रथा का भी प्रारम्भ हो गया था। हर्ष की माता विधवा होने पर सती हो गयी थी, और उसकी बहन राज्यश्री भी चितारोहण की तैयारी मे थी, जब उसके भाई ने कर्त्तव्य-ज्ञान कराके उसे सती होने से रोक लिया। भारत के समाज में स्त्रियो की जो हीन स्थिति बाद मे हो गयी, उसका प्रारम्भ इस युग मे हो गया था।

जातिभेद के गुण और दोष—भारत में जाति-भेद का विकास विशेष ऐतिहासिक परिस्थितियों का परिणाम है। इसमे सन्देह नही, कि किसी समय में इससे बहुत लाभ हुआ। एकतन्त्र सम्राटों के शासनकाल मे भी भारत में जाति, जनपद, श्रेणी और निगम आदि संगठनो के कारण जनता मे आन्तरिक स्वतन्त्रता और 'स्वशासन' की परम्परा कायम रही। देश के राजसिंहासन पर किस वंश या किस धर्म का राजा विद्यमान है, वह धर्मात्मा या दुरात्मा है, इस बात का असर प्राचीन काल में सर्वसाधारण जनता पर विशेष नही पड़ता था। जनता का प्रत्यक्ष सम्बन्ध उन कानूनों व व्यवहारो से होना था, जिन्हे वे स्वय अपनी श्रेणियों व निगमो मे बनाते थे, या जो उनमे परम्परागत रूप मे चले आते थे। प्राचीन भारत मे शिल्पियो और व्यापारियो के सगठनो के समान ब्राह्मणो तक के संगठन (निगम) विद्यमान थे। इन संगठनो द्वारा उनकी स्वतन्त्रता पूर्णतया सुरक्षित थी। भारत मे अब तक जातियो व बिरादरियो की अपनी पचायते है, उनका अपना चरित्र व व्यवहार है। सामाजिक कानून भी उनके अपने-अपने हैं। क्रियात्मक दृष्टि से वे ऐसे सगठन थे, जो राजनीतिक क्षेत्र को छोडकर अन्य सब दृष्टियो से अपनी स्वतन्त्रता व पृथक् सत्ता रखते थे।

जाति-भेद द्वारा भारत मे यह भी प्रवृत्ति थी, कि प्रत्येक शिल्प कुछ विशेष कुलो मे ही सुरक्षित रहे। पुत्र अपने पिता से शिल्प का ज्ञान प्राप्त करता था। कुमारावस्था के लोग अपनी ही जाति के किसी आचार्य से अन्तेवासी के रूप मे शिल्प की विशेष शिक्षा प्राप्त करते थे। इसका परिणाम यह था, कि उन कुलों मे शिल्प का विशेष ज्ञान विकसित होता रहता था। प्राचीन भारत मे विद्या, विज्ञान, व्यापार, शिल्प आदि सभी क्षेत्रों मे जो इतनी अधिक उन्नति हुई, उसका कुछ श्रेय इस जाति-भेद को भी दिया जा सकता है, क्योकि इसके कारण विभिन्न जातियाँ पृथक् क्षेत्रो मे ही विकास व उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहती थी। किसी एक क्षेत्र मे विशिष्टता प्राप्त कर सकना इस पद्धति द्वारा सम्भव हो जाता था।

पर जाति-भेद के अनेक कुपरिणाम भी हुए। इससे भारतवासियो में सकीर्णता की भावना विकसित हो गयी। ब्राह्मण लोग अन्य जातियो के लोगों के सम्पर्क मे आना अपनी प्रतिष्ठा के विरुद्ध समझने लगे। विद्या और ज्ञान ब्राह्मणो तक ही सीमित रह गये। इसका सबसे बुरा परिणाम यह हुआ, कि सर्वसाधारण शिल्पी व व्यवसायी शिक्षा से प्रायः वंचित हो गये। प्राचीन और मध्य कालों का भारतीय शिल्पी पाश्चात्य जगत्

के शिल्पी से किसी भी तरह कम नहीं था। पर आधुनिक युग में जब यूरोप का शिल्पी नये ज्ञान और विज्ञान की सहायता से अपने शिल्प की उन्नति करने लगा, तो भारत का शिल्पी अशिक्षित होने के कारण अपनी पुरानी दशा से आगे नही बढ़ सका। ब्राह्मण के पास ज्ञान था, और शिल्पी के पास कला (हुनर) थी। पर इन दोनों में किसी प्रकार का सम्पर्क नही था। ब्राह्मण का ज्ञान अधिक-अधिक अक्रियात्मक होता गया, वह केवल सिद्धान्त की बातों में ही लगा रहा। क्रियात्मक जीवन से सम्बन्ध न होने के काण भारत का ब्राह्मण अपने ज्ञान का कोई सांसारिक लाभ नही प्राप्त कर सका। विद्या के प्रकाश के अभाव में यहाँ का शिल्पी भी उन्नति की दौड़ मे पीछे रह गया।

जाति-भेद का अन्य कुपरिणाम इस देश में यह हुआ, कि यहाँ की जनता में एकता की भावना उत्पन्न नही हो पायी। सब देशवासी एक हैं, एक राष्ट्र व एक समाज के अंग है, यह विचार यहाँ पनपने नही पाया। अब तक भी भारत में राष्ट्रीय एकता की जो कमी है, उसका प्रधान उत्तरदायित्व इस जाति-भेद पर ही है।

इसी जाति-भेद के कारण भारतीय जनता का बहुत बड़ा भाग पददलित दशा मे रहा है। ब्राह्मण और क्षत्रिय जैसे उच्च वर्गों के लोग संख्या मे कम थे। बहुसंख्यक जनता उन जातियो द्वारा निर्मित थी, जिन्हे ब्राह्मण लोग नीची दृष्टि से देखते थे। इन लोगो मे अपनी हीनता की भावना विकसित हो गई, और यह बात राष्ट्रीय दृष्टि से बहुत हानिकारक सिद्ध हुई।

(११) धर्म

बौद्ध धर्म—मौर्य साम्राज्य के पतन के अनन्तर शुग वंश के शासनकाल में प्राचीन सनातन वैदिक धर्म के पुनरुत्थान की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई थी, गुप्त सम्राटो के शासन मे उसे बहुत बल मिला था। समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य जैसे प्रतापी सम्राट् 'परमभागवत' और 'परमवैष्णव' थे, और उनके समय में बौद्ध धर्म का ह्रास होकर वैष्णव और शैव धर्मों की बहुत उन्नति हुई। गुप्त काल के पश्चात् मध्ययुग मे यह प्रक्रिया निरन्तर जारी रही, और तेरहवी सदी के प्रारम्भ तक यह दशा आ गई, कि बौद्ध धर्म का भारत से लोप हो गया।

भारत से बौद्ध धर्म का अन्त मध्ययुग के अन्तिम भाग (तेरहवी सदी के प्रारम्भ) मे हुआ। यद्यपि गुप्त-काल मे ही उसका ह्रास शुरू हो चुका था, पर मध्ययुग मे वह भारत के प्रमुख धर्मों में से एक था। कन्नौज का प्रतापी सम्राट् हर्षवर्धन (सातवीं सदी) बौद्ध धर्म का अनुयायी था और उसके राज्य में बौद्ध धर्म ने बहुत उन्नति की थी। पर सातवीं सदी में भारत के विभिन्न धर्मों व सम्प्रदायो मे समन्वय की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो गई थी। यही कारण है कि हर्षवर्धन जैसा बौद्ध राजा भी अन्य धर्मों के आचार्यों को दानपुण्य का उपयुक्त पात्र मानता था। ह्यु एनत्साग के यात्रा विवरण के अनुसार सातवीं सदी मे पश्चिमी भारत के बौद्ध भिक्षु आलसी, कर्त्तव्यविमूढ़ और पतित हो गये थे। यही कारण है, जो सातवीं सदी में भी भारतीय जनता के हृदय मे बौद्ध भिक्षुओ के प्रति वह श्रद्धा नही रह गई थी जो फाइयान के समय में थी। वज्रयान के विकास के कारण बौद्ध भिक्षुओं में लोकहित-सम्पादन की वह भावना भी नहीं रही

थी, जिसके कारण बौद्ध धर्म देश-विदेशों में सर्वत्र प्रसारित हुआ था। वज्रयान के अनुसार बुद्ध "वज्रगुरु" थे, जिन्हें अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त थीं। उनके अनुयायियों का भी यही कर्त्तव्य है कि वे अपने गुरु के समान अलौकिक सिद्धियों को प्राप्त करें, और उनकी प्राप्ति के लिए गुह्य साधनों का प्रयोग करें। प्राणिमात्र के हित और मनुष्यों के कल्याण का जो उच्च आदर्श बुद्ध ने उपस्थित किया था, वह वज्रयान के विकास के अनन्तर बौद्धों की आँखों से ओझल हो गया था। मध्य युग मे बौद्ध धर्म के ह्रास का यही प्रधान कारण था। सम्भवतः, हूणों के आक्रमणो ने भी बौद्ध धर्म के ह्रास में सहायता पहुँचाई। गुप्त वंश के शासन काल में हूणों के जो आक्रमण शुरू हुए थे, वे सातवी सदी तक जारी रहे। सम्पूर्ण उत्तर-पश्चिमी भारत इनसे आक्रान्त रहा। भारत में आकर हूण भी भारतीय हो गये थे, और उन्होने भारतीय धर्म और संस्कृति को अपना लिया था। पर हूणों को शैव धर्म अपनी प्रकृति के अधिक अनुकूल प्रतीत हुआ। बौद्ध धर्म को उन्होने नही अपनाया। मध्य युग के अनेक राजपूत वंशो का सम्बन्ध हूणो के साथ था। इन राजपूत राजाओं की बौद्ध धर्म के प्रति जरा भी आस्था नहीं थी। इसी कारण मध्ययुग मे यह धर्म उत्तर-पश्चिमी और उत्तरी भारत से सर्वथा लुप्त हो गया था और इसके जो भी केन्द्र शेष रहे थे, वे प्रधानतया पूर्वी भारत में ही थे। इस युग मे बौद्ध धर्म प्रायः उन्ही प्रदेशों में रह गया था, जहाँ राजपूत राजवंशों के रूप में प्रकट हुई नई राजशक्ति का प्रभाव नहीं था।

बंगाल के पाल वंशी राजा बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। उनके संरक्षण में पूर्वी भारत मे बौद्ध धर्म न केवल कायम रहा, अपितु वहाँ के अनेक बौद्ध विद्वान् व भिक्षु अपने धर्म के प्रचार के लिए अन्यत्र आते जाते भी रहे। पाल वंशी राजा महीपाल (९७५–१०२६ ई०) और उसका पुत्र नयपाल (१०२६–१०४१ ई०) बड़े प्रतापी थे। उन्होने अपने साम्राज्य के विस्तार के लिए बहुत प्रयत्न किया था, और बिहार और उसके समीपवर्ती प्रदेशो को भी अपने शासन मे ले लिया था। उनके संरक्षण के कारण बिहार में स्थित नालंदा, उड्यन्तपुर और विक्रमशिला के महाबिहारों (विश्वविद्यालयों) की बहुत उन्नति हुई। पाल वंश का एक अन्य राजा राजपाल (१०७७–११२०) भी बौद्ध धर्म का परम सहायक था। इन राजाओं के शासन काल मे बिहार के नालन्दा आदि महाबिहारों में अनेक ऐसे विद्वान् हुए, जिनका बौद्ध-धर्म के इतिहास मे बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके ज्ञान और विद्वत्ता से आकृष्ट होकर भारत भर से बौद्ध विद्यार्थी इन महाबिहारो में शिक्षा प्राप्त करने के लिए आने लगे। केवल भारत से ही नही, अपितु चीन, तिब्बत आदि से भी बहुत-से भिक्षु इन महा-बिहारों मे आये और उन्होंने अपनी ज्ञानपिपासा को शान्त किया। अनेक बौद्ध विद्वानों को भी इस युग में तिब्बत आदि विदेशों मे धर्म के प्रचार व शिक्षा के लिए आमंत्रित किया गया।

विक्रमशिला और उड्न्तपुर के महाविहारो की स्थापना पाल वंश के राजाओं द्वारा की गई थी, यह हम ऊपर लिख चुके हैं। पर इन राजाओ ने बंगाल में भी अनेक महाबिहारों की स्थापना की। राजा धर्मपाल (७६९–८०९ ई०) ने वारेन्द्र (राजाशाही जिले मे) में सोमपुरी नामक एक महाबिहार का निर्माण कराया, जिसके

अवशेष पहाड़पुर नामक स्थान पर उपलब्ध हैं। सोमपुरी का यह महाबिहार ग्यारहवीं सदी तक बहुत उन्नत व समृद्ध दशा मे रहा। बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध विद्वान् अतीश दीपङ्कर ने यही रह कर अनेक ग्रन्थो का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया था। ग्यारहवी सदी में जब राजा रामपाल (९७५–१०२६) ने जगद्दल में एक नये महाबिहार की स्थापना कर दी, तब सोमपुरी के महाबिहार का महत्त्व कम हो गया। विभूतिचन्द्र, दानशील, मोक्षाकर गुप्त, शुभाकर गुप्त आदि कितने ही विद्वान् जगद्दल मे हुए, जिन्होने बौद्ध धर्म पर अनेक दार्शनिक ग्रन्थों की रचना की। सोमपुरी और जगद्दल के अतिरिक्त देवीकोट और पण्डित विहार नाम के दो अन्य विहार भी पाल वशी राजाओं द्वारा बंगाल में स्थापित किये गये। इन महाबिहारों के कारण मध्ययुग मे बौद्ध धर्म बंगाल मे फलता फूलता रहा।

यद्यपि पालवंशी राजाओ के शासन काल में पूर्वी भारत में बौद्ध धर्म ने अच्छी उन्नति की, पर इस युग मे महात्मा बुद्ध के अनुयायियो मे यह शक्ति नही रह गई थी, कि वे शंकर, रामानुज आदि के मुकाबले में अपने धर्म का प्रभाव जनता पर स्थिर रख सकते। इसी कारण अब बौद्ध धर्म कतिपय ऐसे महाबिहारो में ही केन्द्रित रह गया था, जिन्हें राजाओं की उदारता के कारण अपार धन-सम्पत्ति प्राप्त थी, और जिनमें हजारो भिक्षु निवास करते थे। जब ये महाबिहार मुस्लिम आक्रान्ताओ के कोपभाजन बने, तो बौद्ध पण्डितों और भिक्षुओं के लिए केवल यह मार्ग रह गया कि वे नेपाल, तिब्बत आदि जाकर आश्रय प्राप्त करें।

बिहार-बंगाल के समान काश्मीर भी मध्ययुग मे बौद्ध धर्म का केन्द्र था। वहाँ जयेन्द्र-बिहार (श्रीनगर मे) और राजबिहार (परिहासपुर मे) नामक दो महाबिहार थे, जो बौद्ध धर्म और शिक्षा के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। ग्यारहवी सदी मे इनका महत्त्व कम हो गया, और इनका स्थान रत्नगुप्त बिहार और रत्नश्री बिहार नामक बिहारो ने ले लिया, जो अनुपमपुर नामक नगर में स्थित थे। बारहवी सदी तक ये दोनो बिहार काश्मीर मे बौद्ध धर्म और शिक्षा के प्रधान केन्द्र रहे। दूर-दूर से बहुत-से विद्यार्थी इन महाबिहारों मे भी बौद्ध धर्म के अनुशीलन और अध्ययन के लिए आते रहे, और यहाँ के अनेक विद्वान् चीन, तिब्बत, मध्य एशिया आदि मे धर्म प्रचार के लिए जाते रहे। ९८० ई० मे चीन के सम्राट् ने काश्मीर से दो श्रमणों को अपने देश मे इस प्रयोजन से आमन्त्रित किया, कि वे बौद्ध धर्म के संस्कृत ग्रन्थों का चीनी भाषा मे अनुवाद करें। इसी प्रकार १००५ ई० मे एक अन्य काश्मीरी श्रमण को चीन आमन्त्रित किया गया। वह न केवल बहुत-से बौद्ध ग्रन्थों को चीन ले गया, अपितु बौद्ध वृक्ष की एक शाखा को भी चीन में आरोपित करने के लिए अपने साथ ले गया। इसी प्रकार तिब्बत, मध्य एशिया आदि मे भी अनेक काश्मीरी भिक्षु बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए गये। मध्य युग के काश्मीरी विद्वानों मे ज्ञानश्रीमित्र, ब्रह्मश्रीजान, सर्वज्ञश्रीरक्षित, शाक्यश्रीभद्र, भव्यराज और शंकरानन्द के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके ग्रन्थो का बौद्ध साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

भारत के मध्यदेश और दक्षिणी भारत में इस काल मे कोई ऐसा प्रदेश नहीं था, जिसे बौद्ध धर्म का केन्द्र कहा जा सके। इन प्रदेशों पर गुर्जरप्रतिहार, चन्देल,

गहड्वाल आदि जिन वंशों ने मध्यकाल में शासन किया, वे बौद्धधर्म के अनुयायी नही थे। जनता पर से भी इस काल में बौद्धधर्म के प्रभाव मे न्यूनता आ गई थी। पर अब भी मध्यदेश मे अनेक ऐसे स्थान थे, जहाँ बौद्ध धर्म भली-भाँति फल-फूल रहा था। सारनाथ मध्यकाल मे भी बौद्धधर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। पालवंशी राजा महीपाल (६७५-१०२६) का एक शिलालेख सारनाथ में मिला है, जिसमे इस राजा द्वारा वहाँ के प्राचीन विहारों व स्तूपो के पुनरुद्धार का उल्लेख है। सारनाथ के समान कौशाम्बी में भी बौद्धधर्म का अच्छा प्रचार था। वहाँ के एक निवासी बालादित्य ने ग्यारहवीं सदी के प्रारम्भ में नालन्दा महाविहार (जो अग्नि द्वारा भस्मसात् हो गया था) का जीर्णोद्धार कराया था। पर इन कतिपय अपवादो के अतिरिक्त मध्ययुग में बौद्धधर्म की सत्ता के कोई प्रमाण मध्यदेश और दक्षिणी भारत से प्राप्त नही होते। वस्तुत:, शैव और वैष्णव धर्मों के प्रसार के कारण इस युग में बौद्ध धर्म निरन्तर क्षीण होता जा रहा था, और शनै. शनै: उसका अन्त हो गया था।

जैन धर्म—गुजरात और राजपूताना मध्ययुग मे जैन धर्म के प्रधान केन्द्र थे। गुर्जर-प्रतीहारों की शक्ति के क्षीण होने पर जो अनेक स्वतंत्र राज्य स्थापित हो गये थे, उनमे से एक अन्हिलबाडा के चालुक्यों का भी था। इस 'चालुक्य' राजवंश का संस्थापक मूलराज था, जिसने ६४१ ईस्वी मे अन्हिलबाडा को राजधानी बना कर अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की थी। गुजरात और दक्षिणी राजपूताना के प्रदेश इस राज्य के अन्तर्गत थे। मूलराज जैन धर्म का अनुयायी था और उसने अपनी राजधानी अन्हिलबाडा मे मूलबस्तिका नाम से एक जैन मन्दिर का निर्माण कराया था। मूलराज के वंश मे राजा भीम (१०२१-१०६३) बहुत प्रसिद्ध हुआ। जिस विमलशाह ने आबू पर्वत पर भगवान् आदिनाथ के प्रसिद्ध जैन मन्दिर का निर्माण कराया था, वह भीम का ही अन्यतम मन्त्री था। इस मन्दिर के सम्बन्ध मे इसी अध्याय मे आगे चलकर विस्तार के साथ लिखा जायेगा। अन्हिलबाडा के चालुक्य राजा जयसिंह सिद्धराज (१०६३-११४३) और कुमारपाल (११४३-११७१) जैन धर्म के संरक्षक और जैन विद्वानो के आश्रयदाता थे। प्रसिद्ध जैन विद्वान हेमचन्द्र (१०८८-११७२) कुमारपाल का समकालीन था, और उसकी प्रेरणा से इस चालुक्य राजा ने अपने राज्य मे बहुत-से जैन मन्दिरो का निर्माण कराया था। न केवल राजा अपितु गुजरात की जनता भी इस युग मे जैन धर्म के प्रति अगाध श्रद्धा रखती थी। काठियावाड मे शत्रुञ्जय, गिरनार आदि स्थानो पर जो बहुत-से जैन मन्दिर इस समय विद्यमान है, उनका निर्माण चालुक्य राजवंश के शासन काल मे ही हुआ था।

अन्हिलवाडा के चालुक्यों के समान कल्याणी (दक्षिणापथ) के चालुक्य और द्वारसमुद्र के होयसाल राजा भी जैन धर्म के संरक्षक थे। चालुक्य राजा सत्याश्रय (६६७ ई०) ने प्रसिद्ध जैन आचार्य विमलचन्द्र पण्डितदेव को गुरु धारण किया था, और वह उसी के पथप्रदर्शन मे अपने शासन कार्य का सचालन करता था। सत्याश्रय और उसके उत्तराधिकारियो ने जैन विद्वानो और जैन मन्दिरो को बहुत-सी जागीरें प्रदान की थी। होयसाल वंश के राजा भी जैन धर्म के प्रति अगाध श्रद्धा रखते थे। अनेक शिलालेखों मे इन राजाओं द्वारा जैन मन्दिरों को दिये गये दान-पुण्य का उल्लेख

मिलता है। इसमें सन्देह नही, कि गुजरात, दक्षिणी राजपूताना और माइसूर के प्रदेशों में मध्य काल में जैन धर्म अच्छी उन्नत दशा में था।

वैष्णव धर्म—भागवत वैष्ण धर्म का प्रादुर्भाव किस प्रकार हुआ, इस विषय पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। गुप्त सम्राटों के शासन काल मे इस धर्म की बहुत उन्नति हुई थी, और उस ने भारत के प्रमुख धर्म का स्थान प्राप्त कर लिया था। मध्य युग मे जहाँ वैष्णव धर्म का और अधिक प्रसार हुआ, वहाँ साथ ही उसके मन्तव्यो में भी अनेक परिवर्तन हुए। यह धर्म भक्तिमार्ग का पोषक था। कर्मकाण्ड और अनुष्ठानों की अपेक्षा भक्ति और उपासना को इसमे अधिक महत्त्व दिया जाता था। शुग-काल में ही इस प्रकार के मन्दिरों का निर्माण प्रारम्भ हो गया था, जिनमे वासुदेव कृष्ण की मूर्ति स्थापित की जाती थी। पर मध्य युग में भागवत धर्म की सीधी और सरल भक्ति आडम्बरयुक्त होने लगी। मन्दिरों मे स्थापित मूर्तियों के साज-शृगार को बहुत महत्त्व दिया जाने लगा, और उपास्य देव को सन्तुष्ट करने के लिए नाचने और गाने की प्रथा भी शुरू हुई। अब मन्दिरो मे स्थापित मूर्तियाँ केवल उपलक्षण व प्रतीक मात्र ही नही रह गई, अपितु उन्हे जीवित जागृत देवता मानकर उनको स्नान, भोग, साज-शृगार, वस्त्र आदि द्वारा सन्तुष्ट करने की प्रथा का भी प्रारम्भ हुआ। कृष्ण के सम्बन्ध में जो अनेक प्रकार की गाथाएँ इस समय भारत में प्रचलित हैं, जैसे गोपियो के साथ उनकी क्रीड़ाएँ, राधा का कृष्ण के साथ सम्बन्ध—उन सब का विकास भी इसी युग मे हुआ। भागवत पुराण को मध्य युग (दसवी सदी) की ही कृति माना जाता है। भागवत मे कृष्ण के जीवनचरित्र का जिस ढंग से वर्णन किया गया है, वह महाभारत मे विद्यमान कृष्ण की कथा से बहुत भिन्नता रखता है। कृष्ण की जिस प्रकार की लीलाओ का वर्णन भागवत व ब्रह्मवैवर्त पुराणी मे उपलब्ध है, उनका विकास मध्य युग मे ही हुआ था। इसके कारण वैष्णव धर्म ने एक ऐसा रूप इस काल मे प्राप्त कर लिया था, जो कि पुराने भागवत वैष्णव धर्म से बहुत भिन्न था। कृष्ण और राधा के प्रेम को लेकर कवि जयदेव ने गीतगोविन्द नाम का जो काव्य लिखा था, वह वैष्णव धर्म की इस युग की प्रवृत्तियों का परिचायक है। जयदेव राजा लक्ष्मणसेन (बारहवी सदी) के समय मे हुए थे, और उन्हे सेन वंश के इस राजा का आश्रय प्राप्त था।

वैष्णव धर्म के विकास मे दक्षिणी भारत के आचार्यों और सन्तों ने विशेष रूप से कार्य किया। इन सन्तों को "आलवार" कहते थे। इन्होने भक्ति रस को प्रवाहित करने के लिए बहुत-से गीतो का निर्माण किया, जो जनता मे बहुत लोकप्रिय हुए। दक्षिण के वैष्णवों की दृष्टि में इन गीतो का माहात्म्य वैदिक सूक्तों से किसी भी प्रकार कम नही है। सर्वसाधारण जनता के लिए कठोर तपस्या और याज्ञिक अनुष्ठान की अपेक्षा भक्ति मार्ग का अनुसरण करना अधिक सुगम है। सर्वगुणसम्पन्न उपास्य देव को भक्ति द्वारा सन्तुष्ट कर अभिलषित फल प्राप्त कर लेने का विचार जनता को बहुत अपील करता है। इसीलिए आलवार सन्तो द्वारा प्रवाहित भक्ति-धारा जनता मे बहुत लोकप्रिय हुई।

पर वैष्णव सन्तो के भक्ति आन्दोलन को दो प्रबल विरोधियों का सामना

करना पड़ा। कुमारिल भट्ट ने याज्ञिक कर्मकाण्ड के पक्ष में बहुत प्रबलता के साथ आवाज उठाई, और यह प्रतिपादित किया कि याज्ञिक अनुष्ठान ही स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति के एकमात्र साधन है। शंकराचार्य ने अद्वैतवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर यह सिद्ध किया कि सत्य सत्ता केवल ब्रह्म है, और जीव तथा प्रकृति की कोई पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं। जगत् मिथ्या और ब्रह्म सत्य है, यह ज्ञान ही मोक्षप्राप्ति का एक मात्र साधन है। जिस प्रकार हजारों साल पुराना घोर अंधकार दीपक के प्रकाश से क्षण भर मे दूर हो जाता है, वैसे ही सत्य के ज्ञान द्वारा देर से चला आया अज्ञान क्षण भर मे नष्ट हो जाता है। जब ब्रह्म और जीव मे अभेद है, तो भक्ति से कोई लाभ नही। शंकराचार्य के अगाध पांडित्य और विलक्षण कर्तृत्व के कारण वैष्णवों के भक्ति आन्दोलन को बहुत आघात लगा। इसीलिए दक्षिणी भारत में अनेक ऐसे आचार्यो का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने दार्शनिकरीति से जीव और ब्रह्म की पृथक् सत्ता को सिद्ध कर वैष्णव धर्म का पक्षपोषण किया। इन आचार्यों का प्रयत्न था कि भक्ति-मार्ग और भागवत वैष्णव धर्म को सुदृढ़ दार्शनिक आधार पर स्थापित कर उसे पुष्ट करें।

इस प्रकार के आचार्यों मे सर्वप्रथम नाथमुनि या रंगनाथाचार्य थे। वह दक्षिण आरकोट जिले के वीरनारायणपुर के निवासी थे, और उनका समय दसवीं सदी मे माना जाता है। नाथमुनि ने न्यायतत्त्व आदि अनेक ग्रन्थ लिखकर जहाँ वैष्णव सिद्धान्तो की दार्शनिक व्याख्या की, वहाँ साथ ही आलवार सन्तो के गीतों को एकत्र कर उन्हे रागबद्ध भी किया, और वैष्णव मन्दिरो मे उनके गायन की व्यवस्था की। नाथमुनि द्वारा वैष्णव धर्म के उस सम्प्रदाय का प्रारम्भ हुआ, जिसे 'श्रीवैष्णव' कहा जाता है। कुमारिल भट्ट और मन्डन मिश्र जैसे मीमासको ने जिस ढंग से याज्ञिक अनुष्ठानों को मोक्ष के साधन के रूप मे प्रतिपादित किया था, नाथमुनि ने उसका खण्डन किया। नाथमुनि की शिष्य परम्परा में पुंडरीकाक्ष और राममिश्र नामक आचार्य बहुत प्रसिद्ध हुए, जिनके पश्चात् यमुनाचार्य (नाथमुनि के पौत्र) वैष्णवो के प्रधान आचार्य बने। उन्होने सिद्धित्रय, आगम-प्रामाण्य, गीतार्थसंग्रह आदि अनेक ग्रन्थों की रचना कर उस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जो दर्शन साहित्य में 'विशिष्टाद्वैत' नाम से प्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त के मूल प्रवर्त्तक यमुनाचार्य ही थे। उन्होने यह भी प्रतिपादित किया, कि भक्तियोग के सम्मुख ज्ञानयोग और कर्मयोग की स्थिति कोई महत्त्व नहीं रखती।

यमुनाचार्य के पश्चात् रामानुज (जन्म वर्ष १०१६) हुए, जो विशिष्टाद्वैत के प्रतिपादक के रूप मे प्रसिद्ध हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार जीव ब्रह्म का एक विशिष्ट रूप है, जो ब्रह्म से भिन्न है। अपने विशिष्ट रूप में ब्रह्म से पृथक् होने के कारण जीवात्मा के लिए यह सम्भव है, कि वह भक्ति मार्ग का अनुसरण कर सके। अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हुए रामानुज ने वेदान्त सार, वेदान्त संग्रह, वेदान्तदीप आदि अनेक ग्रन्थ लिखे, और ब्रह्म सूत्रों तथा भगवद्गीता के भाष्य भी किये। रामानुज की शिष्य-परम्परा में विष्णुचित्त, वरदाचार्य, वेङ्कटनाथ आदि अनेक आचार्य हुए, जिन्होंने अपने गुरु के मन्तव्यों को तर्कपूर्वक समर्थित किया।

श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के अतिरिक्त अन्य भी अनेक सम्प्रदायों का वैष्णव धर्म में विकास हुआ। इनमें निम्बार्काचार्य और मध्वाचार्य द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय उल्लेखनीय हैं। निम्बार्काचार्य का समय बारहवीं सदी में माना जाता है। वह तेलगू ब्राह्मण थे, पर उनका जीवन प्रधानतया वृन्दावन में व्यतीत हुआ था। उन्होंने भक्ति मार्ग पर बहुत जोर दिया, और यह प्रतिपादित किया कि मनुष्य को उसी ढंग से भगवान् की भक्ति करनी चाहिए, जैसे कि राधा और अन्य गोपियाँ कृष्ण के प्रति भक्ति व प्रेम रखती थीं। उनके मत में जीव और जगत् ब्रह्म से भिन्न भी हैं, और अभिन्न भी। वे अभिन्न इस कारण हैं, क्योंकि वे अपनी सत्ता के लिए पूर्णतया ब्रह्म पर निर्भर होते हैं।

तेरहवीं सदी में मध्वाचार्य हुए, जो दक्षिण कनारा जिले में उत्पन्न हुए थे। उन्होने जीव को ब्रह्म से सर्वथा भिन्न मानते हुए 'द्वैतवाद' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। वह जीव और जगत् को ब्रह्म से पृथक् मानते थे और यह प्रतिपादित करते थे कि ब्रह्म सृष्टि का निमित कारण है, उपादान कारण नही। मध्वाचार्य ने अपने सिद्धान्त की पुष्टि में ३७ ग्रन्थ लिखे, जिनमे ब्रह्मसूत्र और उपनिषदो पर किये गए उनके भाष्य सर्वप्रधान है। अपने मत का प्रचार करते हुए उन्होंने सम्पूर्ण भारत का भ्रमण भी किया।

नाथमुनि, यमुनाचार्य, निम्बार्क और मध्वाचार्य के प्रयत्न से वैष्णवों को वह दार्शनिक आधार प्राप्त हो गया, जिसकी उन्हें आवश्यकता थी। जब जीव ब्रह्म से विशिष्ट या भिन्न है, तो उसके लिए भक्ति ही मोक्ष साधन का सर्वोत्तम मार्ग है। भारत में सर्वत्र इस मत का प्रचार हुआ और बहुत-से लोग वैष्णव मन्दिरों मे भगवान् की मूर्ति की पूजा और भक्ति के लिए प्रवृत्त हुए।

शैव धर्म—लकुलीश द्वारा किस प्रकार शैव धर्म का प्रारम्भ किया गया था, इस विषय पर पिछले एक अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। छठी सदी तक शैव धर्म का भारत में पर्याप्त प्रचार हो चुका था, और कालिदास, भवभूति, सुबन्धु और बाणभट्ट जैसे कवि व साहित्यिक शिव के उपासकों में गिने जा सकते थे। भारत से बाहर कम्बुज आदि देशो मे भी इस धर्म का बहुत प्रचार हुआ, और दक्षिण-पूर्वी एशिया के क्षेत्र के बृहत्तर भारत के अनेक प्रदेशों के लोग इसके अनुयायी हुए।

मध्ययुग में शैव धर्म ही उत्तरी भारत का प्रधान धर्म था। राजपूत वंशों के रूप में जो नई राजशक्तियाँ उत्तरी भारत मे प्रगट हुई थी, उनके प्रायः सभी राजा शैव धर्म के अनुयायी थे। गुर्जरप्रतीहार, राष्ट्रकूट, चन्देल, परमार आदि राजवंशो के राजा प्रायः इसी धर्म को मानने वाले थे। इस कारण इस युग में बहुत-से शैव मन्दिरों का निर्माण हुआ। दक्षिणापथ और सुदूर दक्षिण के भी बहुत-से राजा शैव थे। पूर्वी चालुक्य, पूर्वी गंग, काकतीय, चोल, कलचुरि आदि राजवंशो के बहुसंख्यक राजा भी इसी धर्म को मानने वाले थे। इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि मध्ययुग में शैव धर्म का भारत में बहुत अधिक प्रचार था, और इसे ही हम इस युग का प्रधान धर्म समझ सकते हैं। पर सम्पूर्ण भारत में शैव धर्म का स्वरूप एक सदृश नही था। जिस प्रकार वैष्णव धर्म में विशिष्टाद्वैत, द्वैत आदि अनेक सम्प्रदाय थे, वैसे ही शैव धर्म में भी

थे। शैव धर्म का एक रूप काश्मीर में था, जो त्रिक, स्पन्द और प्रत्यभिज्ञा नाम से प्रसिद्ध है। इस सम्प्रदाय का प्रवर्तक वसुगुप्त को माना जाता है, जिसके द्वारा 'शिव-सूत्र' प्रकाश में आये थे। यह शिवसूत्र ही काश्मीर के शैव सम्प्रदाय का प्रामाणिक ग्रन्थ था। इस सम्प्रदाय के अनुसार संसार की परम सत्ता शिव है, जो सृष्टि का न केवल निमित्त कारण है, अपितु उपादान कारण भी है। इस दृष्टि से यह शैव मत वेदान्त के अद्वैतवाद से मिलता जुलता है, यद्यपि शैव दार्शनिक संसार को मिथ्या व माया न मानकर यथार्थ रूप से स्वीकार करते है। मध्ययुग मे काश्मीर के निवासी प्रधानतया शैव धर्म के ही अनुयायी थे, यद्यपि वहाँ बौद्ध धर्म की भी सत्ता थी।

भारत मे शैव धर्म के प्रचार मे शंकराचार्य ने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उनका जन्म ७८८ ईस्वी मे केरल देश में हुआ था। वेदान्त के अद्वैतवाद के प्रवर्तक के रूप मे उनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। पर शंकराचार्य केवल दार्शनिक ही नहीं थे, अपितु शैव धर्म के एक प्रमुख आचार्य भी थे। उन्होने शिव की स्तुति मे अनेक स्तोत्रों की भी रचना की थी। अपने धर्म का प्रचार करते हुए उन्होने भारत मे दूर-दूर तक यात्राएँ की, और अन्य सम्प्रदायो के आचार्यों व पण्डितो को शास्त्रार्थ मे परास्त कर शैव धर्म तथा वेदान्त की उत्कृष्टता प्रतिपादित की। शकर की इस दिग्विजय का 'शंकरदिग्विजय' नामक महाकाव्य मे विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। शकराचार्य बहुत कम समय तक जीवित रहे। युवावस्था में हो उनकी मृत्यु हो गई। पर स्वल्पायु में ही उन्होने अद्वैत सिद्धान्त और शैव धर्म के लिए जो कार्य कर दिखाया, वह वस्तुत: अद्भुत है। उनके प्रचार का ही यह परिणाम हुआ, कि बौद्ध धर्म के बहुत-से विद्वान् पण्डित उनसे शास्त्रार्थ मे परास्त होकर सत्य सनातन वैदिक धर्म के अनुयायी हो गये, और सर्वसाधारण जनता पर बौद्धो के पाण्डित्य का जो सिक्का जमा हुआ था उसका अन्त हो गया। शंकराचार्य ने भारत के चारो कोनो पर चार मठो की स्थापना की, जिनमे अब तक भी उनकी शिष्य-परम्परा विद्यमान है। यद्यपि शंकराचार्य शैव धर्म के अनुयायी थे, और उनके शिष्य उन्हे भगवान् शिव का अवतार मानते थे, पर उन्होने जिस विचारसरणी का प्रतिपादन किया, समन्वय उसका मूल तत्त्व था। पारमार्थिक दृष्टि से जगत् को मिथ्या मानते हुए भी वह व्यवहार मे उसकी सत्ता को स्वीकार करते थे, और यह भी प्रतिपादित करते थे कि सब के लिए मोक्षप्राप्ति का एक ही मार्ग सम्भव नही है। प्रत्येक मनुष्य अपनी योग्यता और क्षमता के अनुसार भिन्न-भिन्न मार्गों का अनुसरण कर सकता है। इसी को स्मार्त भावना कहा जाता है, और इसी के कारण शंकराचार्य विविध हिन्दू सम्प्रदायो में एक प्रकार का सामञ्जस्य स्थापित कर सकने मे समर्थ हुए थे। सब कोई उन्हे जगद्गुरु मानते थे, और उन द्वारा स्थापित चारो मठों के मठाधीश अब तक भी 'जगद्गुरु शंकराचार्य' कहाते हैं।

मध्ययुग में बहुत-से शिव-मन्दिरो का निर्माण हुआ। इनमे भगवान् शिव की मूर्ति स्थापित की जाती थी। ये मूर्तियाँ अनेक प्रकार की हैं। शिव के अनेक रूप हैं। वह जगत् का पालन करने वाला है, और अपने भक्तो पर अनुग्रह भी करता है। यह शिव का सौम्य रूप है। शिव सृष्टि का संहार भी करता है। यह उसका उग्र या रौद्र रूप है। वह अनेकविध शिल्पों व विद्याओं का प्रवक्ता भी है। वह उमा या पार्वती का

पति भी है। कृष्ण के समान शिव के सम्बन्ध में भी अनेक कथाएँ पुराणो में विद्यमान हैं। इन सबको लेकर भगवान् शिव की अनेकविध मूर्तियाँ बनायी गई, और उन्हें शिव-मन्दिरों मे प्रतिष्ठापित किया गया। इन मूर्तियो का विशद वर्णन कर सकना यहाँ सम्भव नहीं है। पर शिव की सौम्य, उग्र, नटराज आदि रूपों में बहुत प्रकार की मूर्तियाँ मध्ययुग मे बनायी गई, और उनके जीवन की विविध कथाओं को लेकर उन्हें शिलाखण्डों पर उत्कीर्ण किया गया। बाद में जब तन्त्रवाद का शैव धर्म मे प्रवेश हुआ तब शिवलिंग भी मन्दिरों मे स्थापित किये गए। वर्तमान समय में भारत मे जो शैव मन्दिर हैं, उनमें प्रायः शिवलिंग की ही पूजा की जाती है। यह लिंग सृष्टि के उस तत्त्व को सूचित करता है, जिससे सम्पूर्ण चर जगत् का प्रादुर्भाव होता है।

शैव धर्म मे भी अनेक सम्प्रदाय विकसित हुए। इनमें लिंगायत (वीर शैव), शैव-सिद्धान्त और शिवाद्वैत प्रधान है। वीर शैव सम्प्रदाय के प्रवर्तक पाँच आचार्य थे, जिनके नाम रेणुक, दारुक, घण्टाकर्ण, धनुकर्ण और विश्वकर्ण थे। ये ही पञ्चाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्होंने केदार (हिमालय मे), उज्जयिनी, श्रीशैलम्, रम्भापुरी और वाराणसी मे पाँच मठो की स्थापना की, जिन द्वारा लिंगायत सिद्धान्त का भारत में सर्वत्र प्रचार हुआ। इस सम्प्रदाय के इतिहास मे वासव का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वासव कलचूरि वंश के प्रतापी राजा बिज्जल (११५६—११६८) का प्रधानमन्त्री था। दक्षिणापथ में वीर शैव या लिंगायत सम्प्रदाय के प्रचार के लिए उसने बहुत काम किया। इस सम्प्रदाय के अनुयायी जहाँ शिवलिंग की पूजा करते हैं, वहाँ शक्तिविशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का भी प्रतिपादन करते हैं। इनके अनुसार शिव का स्वरूप सत् चित् और आनन्द है, शक्ति शिव से अभिन्न है, और जीव शिव का ही एक अंश है।

शैव-सिद्धान्त सम्प्रदाय का प्रचार प्रधानतया सुदूर दक्षिण के तमिल प्रदेशो में हुआ। इसके प्रवर्तको मे माणिक्कवाचकर, अप्पर, सम्बन्धर और सुन्दर सर्वप्रधान हैं। इस सम्प्रदाय के अनुयायी जगत् और जीव की पृथक् सत्ता स्वीकार करते है, और शिव को चराचर जगत् का स्वामी मानते है। शिवाद्वैत सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्रीकण्ठ थे, जो रामानुजाचार्य के समकालीन थे। उनके सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म जगत् का न केवल निमित्त कारण है, अपितु उपादान कारण भी है। शिव की शक्ति ही जगत् के रूप मे अभिव्यक्त होती है। ब्रह्म और शिव एक ही सर्वोपरि सत्ता के सूचक है।

जिस प्रकार बौद्धों मे वज्रयान सम्प्रदाय प्रकट हुआ, वैसे ही शैवो मे पाशुपत और कापालिक सम्प्रदाय विकसित हुए। वज्रयान के समान शैव धर्म के ये दोनों सम्प्रदाय भी सिद्धियों में विश्वास रखते थे, और सिद्ध होने के लिए अनेक गुह्य व रहस्यमय अनुष्ठानों का प्रतिपादन करते थे। सातवी सदी मे जब ह्यु एन्-त्सांग भारत यात्रा के लिए आया, तो बिलोचिस्तान के प्रदेश मे पाशुपत सम्प्रदाय की सत्ता थी। काशी में महेश्वर शिव की एक ताम्रमूर्ति प्रतिष्ठापित थी, जो ऊँचाई में सौ फीट के लगभग थी। उस समय काशी पाशुपत-धर्म का मुख्य केन्द्र था और वहाँ बहुत-से मन्दिरों में पशुपति शिव की पूजा होती थी। वज्रयानी बौद्धो के समान पाशुपत लोग भी यह मानते थे कि साधक को जान बूझ कर वे सब कार्य करने चाहियें, जिन्हे लोग निन्दनीय समझते हैं, ताकि साधक कर्तव्य और अकर्तव्य के विवेक से ऊँचा उठ सके।

कापालिक लोग सिद्धि प्राप्त करने के लिए और भी अधिक उग्र व अद्भुत उपायों का अवलम्बन करते थे। नरमुण्ड के बने कपाल-पात्र में भोजन करना, शव की भस्म को शरीर पर रमाना, निरन्तर मदिरा का पान करना और उसी मे प्रतिष्ठित महेश्वर की पूजा करना वे गुह्य सिद्धियों की प्राप्ति का साधन मानते थे। भैरव और उसकी पत्नी चण्डिका इस सम्प्रदाय के प्रमुख उपास्य देव थे। मध्य युग मे इस सम्प्रदाय का बहुत प्रचार हुआ, पर इसने कभी शैव धर्म के प्रमुख सम्प्रदाय की स्थिति प्राप्त नही की। आदि-शंकराचार्य ने इसके विरुद्ध आवाज उठायी थी, और शैव व वैष्णव धर्मों के अन्य आचार्यों के प्रयत्न से यह सम्प्रदाय पौराणिक हिन्दू धर्म में वह महत्त्व नही प्राप्त कर सका, जो कि बौद्धों में वज्रयान ने प्राप्त कर लिया था। यही कारण है, कि जनता में प्रचलित शैव सम्प्रदायों के रूप बहुत उत्कृष्ट प्रकार के थे। काश्मीर का शैव सम्प्रदाय तन्त्र-मन्त्र और गुह्य सिद्धियों को महत्त्व न दे कर जप, प्राणायाम, धारणा, ध्यान और समाधि पर बल देता था। उत्तरी भारत के विविध राज्यों, दक्षिणापथ और सुदूर दक्षिण में प्रचलित शैव धर्म का रूप भी ऐसा ही उदात्त था।

शाक्त सम्प्रदाय—वैष्णव और शैव धर्मों के समान शाक्त सम्प्रदाय का भी मध्य युग मे प्रसार हुआ। सृष्टि की सबसे अद्भुत और रहस्यमयी शक्ति वह है, जो उत्पादन या प्रजनन करती है। इसी आदि शक्ति की उपासना के लिए शाक्तों ने अनेक प्रकार की गुह्य साधनाओं का प्रतिपादन किया, जिनमें बलि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। शाक्त सम्प्रदाय बौद्धों के वज्रयान के समान ही तन्त्र-मन्त्र और गुह्य क्रियाओं मे विश्वास रखता है, और शब्द जाल के आडम्बर से ऐसी क्रियाओं को भी प्रोत्साहित करता है, जिन्हें नैतिकता के प्रतिकूल समझा जा सकता है।

पर शाक्त सम्प्रदाय के सभी अनुयायी उन गुह्य क्रियाओं में विश्वास नही करते, जिनमें तन्त्र-मन्त्र एवं नैतिकता के विपरीत अनुष्ठानों का अनुसरण किया जाता है। शिव की शक्ति के रूप मे जिस उमा या पार्वती की सत्ता पर शैव लोग विश्वास करते थे, धीरे-धीरे उसका महत्त्व बढ़ता गया और लोग यह मानने लगे कि संसार की सृष्टि, स्थिति और प्रलय का मूल कारण यह शक्ति ही है। इसीलिए शक्ति की एक पृथक् देवी के रूप में पूजा प्रारम्भ हुई। धर्माचार्यों ने अनेक रूपो मे इस शक्तिरूप देवी की कल्पना की। क्योंकि विवाह से पूर्व उमा कुमारी थी, अतः कन्या या कुमारी के रूप में उसकी पूजा की जाने लगी। जहाँ शिव का एक कल्याणकारी रूप है, वहाँ सृष्टि का संहार भी वही करता है। शिव के इस भैरव रूप की शक्ति भवानी कहायी, और महिषासुरमर्दिनी, सिंहवाहिनी, दुर्गा, चामुण्डा, काली, कराली आदि रूपों मे उसकी कल्पना की गई। इस प्रकार शक्ति की देवी रूप से कल्पना कर उसके माहात्म्य में देवीपुराण, दुर्गासप्तशती आदि अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया गया, और देवी के विभिन्न रूपों की पूजा के लिए विविध पूजाविधियो का विकास हुआ। जो देवी दुर्गा के रूप में महिषासुर जैसे असुरों का संहार करती है, सिंह जिसका वाहन है, जिसके हाथों में खड्ग सदृश अनेक अस्त्र रहते हैं, उसकी पूजा के लिए यदि पशुबलि का भी प्रारम्भ हो, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। मध्य युग में शाक्त सम्प्रदाय बहुत विकसित दशा में था, और देश के विभिन्न स्थानों पर देवी के बहुत-से मन्दिर स्थापित किये गए थे, जिनमें

विविध ढंग से उसकी पूजा की जाती थी। शाक्त लोग विश्व की मूल या 'आद्या' शक्ति की उपासना करते हैं, और यह मानते हैं कि दुर्गा, चामुण्डा, त्रिपुरसुन्दरी आदि सब देवियाँ इसी 'आद्या' शक्ति के विभिन्न रूप हैं। शक्ति की यह पूजा विविध अन्य रूपों में अन्य सम्प्रदायों में भी पायी जाती है। वैष्णव लोग लक्ष्मी, सीता, राधा आदि के रूप मे और बौद्ध लोग तारा आदि के रूप में जिन देवियों की पूजा करते हैं, वे भी शक्ति के ही विविध रूप हैं। पर शाक्त सम्प्रदाय में शक्ति की पूजा का ही प्रमुख स्थान है।

(१२) मध्य युग की कला

गुप्त वंश के शासन काल तक के वास्तु-कला सम्बन्धी जो अवशेष इस समय उपलब्ध हैं, उनका परिचय इस इतिहास में यथास्थान दिया जा चुका है। अब हम मध्यकाल की कला पर संक्षेप के साथ प्रकाश डालेंगे। कला की दृष्टि से मध्ययुग का बहुत महत्त्व है। इस युग की वास्तुकला प्रधानतया बड़े-बड़े मन्दिरों के निर्माण के रूप में प्रगट हुई थी। इसके दो कारण थे—पौराणिक धर्म ने जो नया रूप इस काल में प्राप्त कर लिया था, उसमे मन्दिरो और उनमें प्रतिस्ठापित की जाने वाली मूर्तियों का बहुत महत्त्व था। भागवत, शैव, शाक्त व अन्य सम्प्रदायो के अनुयायी राजा तथा अन्य समृद्ध लोग अपना यह कर्तव्य समझते थे कि विशाल मन्दिरों का निर्माण कर पुण्य सञ्चय करें। साथ ही, सदियों से भारत में जो अपूर्व समृद्धि चली आ रही थी, उसके कारण इस देश में अपार सम्पत्ति सञ्चित हो गई थी। इस सम्पत्ति का उपयोग अब वास्तुकला के लिए किया गया।

मध्ययुग की वास्तुकला को दो भागों में बाँटा जा सकता है—आर्य और द्रविड़। उत्तरी भारत मे इस युग के जो मन्दिर पाये जाते हैं, वे आर्यकला के अनुसार निर्मित हैं। इन मन्दिरों में मूर्ति की स्थापना के लिए आलय बनाये गए हैं, जिनके सम्मुख खुला स्थान छोड़ा जाता है जो ऊपर की ओर से छता रहता है। इस स्थान से दर्शनार्थी देवमूर्ति का दर्शन कर सकते हैं। मन्दिर के चारों ओर प्रदक्षिणा के लिए स्थान रहता है, जिसे प्रदक्षिणा-पथ कह सकते हैं। इन मन्दिरो के आलय या गर्भ-गृह की छत ठोस, वक्ररेखात्मक और शिखररूप होती है, जो नीचे की ओर चौड़ी और ऊपर की ओर छोटी होती जाती है। सबसे ऊपर गोल आमलक रहता है, जिस पर कलश व ध्वजदण्ड स्थापित किये जाते हैं। द्रविड़ शैली के मन्दिरों में गर्भगृह का ऊपरी भाग चौकोर तथा अनेक मञ्जिलों वाला होता है। उपरली मञ्जिलें अपने से नीचे की मञ्जिल की तुलना में छोटी होती जाती हैं। इससे इन मन्दिरो की छत की आकृति पिरामिड के सदृश बन जाती है। इस प्रकार आर्य और द्रविड़ वास्तुकला में मुख्य अन्तर मन्दिर के शिखर की रचना में है। साथ ही, द्रविड़ शैली के मन्दिरों में गर्भ-गृह के सम्मुख अनेक स्तम्भों वाला मण्डप भी बनाया जाता है, और मन्दिर के प्रांगण में प्रवेश के लिए ऐसे विशाल द्वारों की रचना की जाती है, जिनके ऊपर विविध देवी-देवताओं की मूर्तियों से अलङ्कृत ऊँचे गोपुर रहते हैं। दक्षिणी भारत के मन्दिर प्रायः द्रविड़-शैली के हैं।

उत्तरी भारत के मन्दिर—मध्य युग के उत्तरी भारत के बहुत-से मन्दिरों को तुर्क और अफगान आक्रान्ताओं ने नष्ट कर दिया था। तुर्क और अफगान इस्लाम के अनुयायी थे, और मूर्तिपूजा के कट्टर विरोधी थे। अतः उन्हें मन्दिरो से स्वाभाविक विद्वेष था। फिर भी उत्तरी भारत मे मध्य युग के अनेक मन्दिर अब तक सुरक्षित रूप मे विद्यमान हैं। ये मन्दिर प्रधानतया उड़ीसा, बुन्देलखण्ड, राजस्थान, ग्वालियर और मथुरा में हैं।

उडीसा मे भुवनेश्वर का लिंगराज मन्दिर, कोणार्क का सूर्य मन्दिर और जगन्नाथपुरी का जगन्नाथ मन्दिर सबसे महत्त्वपूर्ण है। इनमे भी कोणार्क का मन्दिर सबसे अधिक प्रसिद्ध है। उसे रथ के आकार का बनाया गया है, जिसे शक्तिशाली घोड़े खीच रहे हैं। रथाकार मन्दिर के पहिये बहुत विशाल हैं, जिन्हें अलकरणो की प्रचुरता ने अत्यन्त मनोहर व कलात्मक बना दिया है। इस मन्दिर का निर्माण राजा नरसिंह (१२३८ ई०) द्वारा किया गया था, जो उडीसा का प्रतापी राजा था, और जिसने दिल्ली के बढते हुए अफगान साम्राज्य का सफलतापूर्वक सामना किया था। मन्दिरों की दृष्टि से उडीसा मे भुवनेश्वर अत्यधिक महत्त्व रखता है, जहाँ ऊचे शिखर वाले तीस मन्दिर हैं। इनमे लिंगराज का मन्दिर सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसका शिखर ऊँचाई में १६० फीट है। इसे ग्यारहवी सदी मे बना हुआ माना जाता है। भुवनेश्वर के सभी मन्दिर वास्तुकला की दृष्टि से अनुपम हैं; उनके मण्डप, शिखर, गोपुर आदि सभी अपनी विशेषताएँ रखते हैं। उनका सौन्दर्य और कलात्मकता वर्णनातीत है। पुरी के प्रसिद्ध जगन्नाथ मन्दिर का निर्माण गगवंश के प्रतापी राजा अनन्त वर्मन् (१०७८ ई०) द्वारा किया गया था। केवल धार्मिक दृष्टि से ही इस मन्दिर का महत्त्व नही है, अपितु वास्तुकला की दृष्टि से भी यह अपना विशेष स्थान रखता है। इसका शिखर २०० फीट ऊँचा है। उडीसा के ये मन्दिर अलंकरणो और मूर्तियो की बहुलता के कारण अनुपम आकर्पण रखते है। मन्दिर का कोई भी कोना अलकरणो से शून्य नही छोडा गया है। अनेक मूर्तियाँ ऐसी हैं, जिन पर शाक्त सम्प्रदाय का प्रभाव बहुत स्पष्ट है।

बुन्देलखण्ड के मन्दिरो मे खजुराहो के मन्दिर सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। यह स्थान झाँसी से १०० मील के लगभग दक्षिण-पूर्व मे पुरानी छतरपुर रियासत में है। खजुराहो के मन्दिर संख्या मे तीस है, जिनमें कुछ मन्दिर शैव सम्प्रदाय के है, कुछ वैष्णवो के और कुछ जैनो के हैं। इनका निर्माण ९५० ईस्वी से १०५० ईस्वी तक के मध्यवर्ती काल मे हुआ था, जब कि इस क्षेत्र मे जेजाकमुक्ति के चन्देलवंशी राजाओं का शासन था। यहाँ के सबसे सुन्दर और विशाल मन्दिरो का निर्माण राजा धग (९५०-९९९ ई०) द्वारा कराया गया था। इनमे सबसे सुन्दर और विशाल कन्दर्यनाथ महादेव का मन्दिर है, जो ११६ फीट ऊँचा है। इसमे अनेक शिखर-समूह हैं जो ऊपर की ओर निरन्तर अधिक-अधिक छोटे होते जाते है। इसके प्रदक्षिणा-पथ मे बहुत-से स्तम्भ अत्यन्त सुन्दर ढंग से निर्मित हैं, और मन्दिर का कोई भी भाग ऐसा नही है, जो अत्यन्त मनोहर अलंकरणो से सुसज्जित न हो। इस युग के धर्म में वाममार्ग और तान्त्रिक तत्त्वों की प्रधानता के कारण इस मन्दिर मे बहुत-सी ऐसी मूर्तियाँ भी हैं,

जिनमें काम कला को मूर्तरूप प्रदान किया गया है। मध्य युग से पूर्व भारत की मूर्ति-कला में अश्लीलता का अभाव था। शृङ्गार का प्रदर्शन तब भी मूर्तियों द्वारा किया जाता था, पर अश्लील ढंग से नही। खजुराहो, भुवनेश्वर, पुरी आदि में विद्यमान इस युग के मन्दिरो मे अश्लील मूर्तियो की प्रचुरता है, जो अपने समय की साम्प्रदायिक प्रवृत्तियो की द्योतक हैं। खजुराहो मे शैव, वैष्णव और जैन मन्दिरो का एक साथ होना मध्य युग की धार्मिक सहिष्णुता का भी स्पष्ट प्रमाण है।

राजस्थान मे भी मध्य युग के अनेक मन्दिर सुरक्षित दशा में विद्यमान हैं। इनमें सर्वोत्कृष्ट आबू पर्वत पर देलवाडा मे स्थित दो जैन मन्दिर हैं, जिनमे से एक का निर्माण ग्यारहवी सदी मे विमलशाह नामक वैश्य ने कराया था। दूसरा मन्दिर तेरहवी सदी के पूर्वार्ध में बना था, और उसका निर्माण कराने वाले व्यक्ति का नाम तेजपाल था। दोनो मन्दिर संगमरमर के हैं, और उनमे अलकरणो का बाहुल्य है। संगमरमर की बनी विलक्षण जालियाँ, प्रतिमाएँ, बेलबूटे और नक्काशियाँ दर्शक को आश्चर्य मे डाल देती है। जिस कला ने मुगल काल में आगरा के ताजमहल का निर्माण किया था, उसका अत्यन्त उन्नत और परिष्कृत रूप इन मन्दिरो मे दृष्टिगोचर होता है। एक कलाविज्ञ के अनुसार इन मन्दिरो में संगमरमर को इस बारीकी के साथ तराशा गया है, मानो किसी सुनार ने रेती से रेत-रेत कर आभूषण बनाये हो या बुनी हुई जालियाँ और झालरें पथरा गई हो। वस्तुतः, देलवाडा के ये मन्दिर कला की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट हैं।

राजस्थान मे अन्यत्र भी अनेक स्थानो पर इस युग के मन्दिर विद्यमान हैं। झालावाड़ मे अनेक ऐसे मन्दिर हैं, जो छोटे होते हुए भी अत्यन्त कलात्मक है। इनमें शिव मन्दिर सबसे अधिक महत्त्व का है। यह सम्भवतः दसवी सदी मे बना था। झालावाड के ये मन्दिर भग्न दशा मे हैं। कुछ मे तो अब केवल स्तम्भ, गर्भगृह और मण्डप ही शेष रह गये हैं। पर इनके पार्श्वों पर पुष्पों, पशुओ और मनुष्यो की आकृतियों की शृंखलाएँ बडे कलात्मक रूप से उत्कीर्ण की गई हैं, जिन्हे देखकर अजन्ता के गुहामन्दिरो में उत्कीर्ण मूर्तियों का स्मरण हो आता है। कोटा नगरी के उत्तर की ओर ३० मील के लगभग दूर चम्बल नदी के तट पर भी इस युग के अनेक मन्दिर विद्यमान हैं, जिनके गोपुर, मण्डप और शिखर कला की दृष्टि से अनुपम है। इनके स्तम्भो पर भी विविध प्रकार की प्रतिमाएँ और लता-पुष्पो की मञ्जरियाँ उत्कीर्ण है। कोटा के क्षेत्र मे ही रामगढ के समीप पहाड़ियों के मध्य मे एक शिव मन्दिर है, जो सम्भवतः नवी सदी मे निर्मित हुआ था। इसके स्तम्भ भी विविध प्रतिमाओं तथा अलंकरणो से विभूषित हैं। कोटा से लगभग ६० मील दूर विलास नाम की एक उजडी हुई नगरी है, जहाँ कितने ही हिन्दू और जैन मन्दिरों के अवशेष विद्यमान है। राजस्थान मे अन्यत्र भी अनेक स्थानों पर मध्ययुग के बहुत-से मन्दिर भग्न दशा मे पाये जाते है, जो जीर्ण-शीर्ण दशा में भी अपने विलुप्त गौरव का स्मरण दिलाते है। जिस उच्च कला के अनुसार इनका निर्माण किया गया था, वह वस्तुतः अत्यन्त उत्कृष्ट थी।

ग्वालियर के किले में तीन भव्य मन्दिर हैं, जिनका निर्माण-काल ग्यारहवीं सदी को माना जाता है। इनमें दो सास बहू के मन्दिर कहाते है, और एक तेली का

मन्दिर। मध्यप्रदेश का विशाल क्षेत्र भी मध्ययुग के मन्दिरों और उनके भग्नावशेषों से परिपूर्ण है। इन सबका यहाँ उल्लेख कर सकना सम्भव नहीं है। जबलपुर के समीप भेड़ाघाट में चौंसठ योगिनियों का विशाल मन्दिर है, जिसका व्यास ११६ फीट है। रीवा के समीप बैजनाथ नामक गाँव में वैद्यनाथ महादेव का एक मन्दिर है, जो वास्तुकला की दृष्टि से भुवनेश्वर के मन्दिरों से मिलता जुलता है।

मथुरा मे इस समय जो बहुत-से मन्दिर है, वे प्रायः मध्ययुग के पश्चात् बने थे। पर मध्ययुग में भी इस पवित्र नगरी में बहुत-से विशाल व कलात्मक मन्दिरों की सत्ता थी, जो तुर्क आक्रान्ताओं के कोप के कारण नष्ट हो गये। महमूद गजनवी के समकालीन लेखक अल-उतबी ने मथुरा के इन मन्दिरों के विषय मे लिखा है कि नगर के मध्य में एक अत्यन्त उत्कृष्ट विशाल मन्दिर है, जिसकी न नक्काशी का शब्दों द्वारा वर्णन किया जा सकता है और न सुन्दरता का। यदि कोई इस जैसा मंदिर बनाना चाहे, तो उसे दस करोड़ सुवर्ण दीनारें खर्च करनी होंगी और वह इसे दो सदी से कम समय में नहीं बना सकेगा। यहाँ जो मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित हैं, उनमें से पाँच खालिस सोने की बनी हुई हैं, जिनमें से प्रत्येक ऊँचाई मे पाँच गज है। इन मूर्तियों की आँखो मे ऐसी मणियाँ लगी हुई हैं, जिनमें से प्रत्येक की कीमत पचास हजार दीनार है। इस मन्दिर में चाँदी की बनी हुई भी बहुत सी मूर्तियाँ थी, जिनकी सख्या अलउतबी ने दो सौ लिखी है। महमूद गजनवी के आदेश से इस मन्दिर को भूमिसात् कर दिया गया, और उसके सोने, चाँदी, मणि-माणिक्य आदि को गजनी भेज दिया गया। पंजाब, उत्तर-प्रदेश, बिहार और बंगाल में मध्ययुग का जो एक भी मन्दिर इस समय सुरक्षित दशा में विद्यमान नही है, उसका एकमात्र कारण तुर्क आक्रान्ताओं द्वारा उनका विनाश है। गंगा यमुना के क्षेत्र में हरिद्वार, मथुरा, प्रयाग, वाराणसी आदि कितने ही तीर्थ स्थान हैं, जो मन्दिरों से परिपूर्ण हैं। पर इनके वर्तमान मन्दिर मध्ययुग के न होकर अर्वाचीन काल के हैं। निस्सन्देह, मध्ययुग में इन सब स्थानों पर बहुत-से विशाल व कलात्मक मन्दिरों की सत्ता थी, जो तुर्क, अफगान और मुगल सम्राटों द्वारा ध्वंस कर दिये गए थे। पर काश्मीर, काँगडा, कुमायूँ आदि पार्वत्य प्रदेशों और बंगाल के कतिपय स्थानों पर ऐसे मन्दिर अब भी विद्यमान हैं, जिनका निर्माण मध्ययुग में हुआ था।

काश्मीर के मन्दिर उत्तरी भारत के अन्य मन्दिरो से भिन्न प्रकार के हैं। इनमें न शिखरों की सत्ता है, और न गौपुरो की। इनमें गर्भगृह के ऊपर एक चपटी छत होती है, और इनके स्तम्भों को भी मूर्तियो, प्रतिमाओं व लता-पुष्प मञ्जरियो द्वारा अलंकृत नहीं किया गया। काश्मीर के मन्दिरो में रुद्रेश का मन्दिर सबसे प्राचीन है, जो श्रीनगर से पन्द्रह मील की दूरी पर स्थित है। इसका निर्माण सम्भवतः आठवी सदी में हुआ था। काश्मीर के राजा ललितादित्य (७२५ ई०) और अवन्तिवर्मा (७८५-८८३ ई०) अत्यन्त प्रतापी थे। उन्होंने अपने राज्य को अनेक विशाल व कलात्मक मन्दिरों से विभूषित किया। ललितादित्य द्वारा निर्मित मन्दिरों में मार्तण्ड का मन्दिर अत्यन्त प्रसिद्ध है। यह श्रीनगर से पहलगाँव जाने वाले मार्ग पर मटन नामक स्थान पर स्थित है। यद्यपि अब यह मन्दिर भग्न दशा में है, पर इसके खण्डहर इसके प्राचीन वैभव व गौरव का आभास देने के लिए पर्याप्त है। श्रीनगर के समीप तख्त-सुलेमान नामक

पहाड़ी पर शंकराचार्य का मन्दिर अब तक भी विद्यमान है, जिसका निर्माण सम्भवतः मध्ययुग में ही हुआ था। राजा अवन्तिवर्मा के शासनकाल में अवन्तेश्वर के शैव मन्दिर का और अनन्तस्वामी के वैष्णव मन्दिर का निर्माण किया गया था। ये दोनों मन्दिर भी इस समय जीर्ण-शीर्ण दशा में हैं।

काश्मीर के समान हिमाचल प्रदेश, गढ़वाल और कुमायूं में भी मध्य युग के बहुत-से मन्दिरों के भग्नावशेष पाये जाते हैं, यद्यपि कुछ मन्दिर अच्छी दशा में भी हैं। हिमाचल प्रदेश के कांगड़ा जिले में मसरूर नामक स्थान पर अनेक मन्दिर विद्यमान हैं, जो आठवीं सदी के हैं। इसी प्रकार बैजनाथ (कांगडा) और चम्बा में नवीं सदी मे निर्मित अनेक मन्दिरों की सत्ता है। कुल्लू के बजौरा नामक स्थान पर महादेव का एक मन्दिर है, जिसके अलंकरण अत्यन्त सुन्दर व कलात्मक हैं। यह मन्दिर दसवीं सदी मे बना था। अलमोडा (कुमायूं) के क्षेत्र में भी सूर्य और अन्य पौराणिक देवी-देवताओं के बहुत-से मन्दिर जीर्ण-शीर्ण दशा मे विद्यमान हैं, जो मध्य युग के हैं। उत्तराखण्ड में बदरीनाथ और केदारनाथ के प्रसिद्ध मन्दिरों का निर्माण भी सम्भवतः इसी युग मे हुआ था। हिमालय के सुविस्तृत क्षेत्र में जो अनेक पार्वत्य राज्य मध्यकाल मे विद्यमान थे, वे प्रायः तुर्क आक्रमणों से बचे रहे। इसीलिए इस प्रदेश के मन्दिरों का उस ढंग से विनाश नही हुआ, जैसा कि उत्तरी भारत के समतल प्रदेशों में स्थित मन्दिरों का हुआ था।

मध्य युग मे बंगाल मे भी अनेक भव्य व विशाल मन्दिरों का अवश्य ही निर्माण हुआ होगा। पर वे तुर्क व अफगान आक्रान्ताओं के कोप से नही बचे रह सके पर बर्दवान और बाँकुरा जिलों में कतिपय ऐसे मन्दिर अब भी विद्यमान है, जो मध्य युग के हैं। कला की दृष्टि से ये भुवनेश्वर (उडीसा) के मन्दिरों के सदृश हैं, यद्यपि भव्यता और अलकरण में ये उन से हीन हैं।

दक्षिणापथ के मन्दिर—मध्य युग के बहुत-से मन्दिर दक्षिणापथ मे सुरक्षित दशा में विद्यमान हैं। इस क्षेत्र के मन्दिरो को दो भागों मे बाँटा जा सकता है, कृष्णा और तुंगभद्रा नदियों के मध्यवर्ती प्रदेश के मन्दिर और खानदेश व उसके समीपवर्ती प्रदेशो के मन्दिर। इन दोनों मे कृष्णा-तुंगभद्रा प्रदेश के मन्दिर अधिक पुराने हैं। ये ऐहोल, पट्टदकल, महाकूटेश्वर और आलमपुर नामक स्थानो पर स्थित हैं। वास्तुकला की दृष्टि से न ये शुद्ध आर्य (नागर) शैली के हैं, और न द्रविड़ शैली के। इनमें दोनों शैलियों का सुन्दर रीति से सम्मिश्रण हुआ है। ऐहोल (जिला बीजापुर) और पट्टदकल (जिला बादामी) में कुल मिलाकर ७० मन्दिर हैं, जिनमें से अनेक पर्याप्त सुरक्षित दशा मे है। इन तथा दक्षिणापथ के अन्य मन्दिरो का विशद रूप से वर्णन कर सकना इस ग्रन्थ मे सम्भव नहीं है। यहाँ इतना लिखना ही पर्याप्त होगा कि ये मन्दिर प्रधानतया शैव और वैष्णव सम्प्रदायों के है, और इनका निर्माण-काल दसवी और ग्यारहवी सदियों में माना जाता है। अलंकरण और कला की दृष्टि से यद्यपि ये खजुराहो और भुवनेश्वर के मन्दिरों के समकक्ष नही है, पर आर्य और द्रविड़ शैलियों के सम्मिश्रण के कारण इनका अपना विशेष महत्त्व है।

अजन्ता के गुहा मन्दिरों का उल्लेख इस ग्रन्थ में पहले किया जा चुका है। यद्यपि

इनका निर्माण गुप्तकाल मे प्रारम्भ हो चुका था, पर इनमे से बहुसंख्यक गुहाओं का निर्माण मध्य युग मे ही हुआ था।

मध्य युग के गुहा-मन्दिरों मे सबमे अधिक महत्त्वपूर्ण एलोरा में स्थित है। यह स्थान आन्ध्र प्रदेश के औरङ्गाबाद नगर से सोलह मील की दूरी पर है। यहाँ एक अच्छी लम्बी पहाडी को काट-काट कर मन्दिरो के रूप में परिवर्तित कर दिया गया है। ये मन्दिर संख्या में तीस के लगभग है, और इनका सम्बन्ध हिन्दू, बौद्ध और जैन तीन धर्मों के साथ है। ऐलोरा के गुहा-मन्दिरों में सब से विशाल और भव्य कैलाश-मन्दिर है, जिसे प्रसिद्ध राष्ट्रकूट राजा कृष्ण (७६०-७७५ ईस्वी) ने बनवाया था। यह मन्दिर ऊँचाई में १६० फीट है, और एक ही चट्टान को काटकर बनाया गया है। इसमें कही भी शिलाओ व पत्थरो को जोडा नही गया है, और चूने-मसाले व कील आदि का प्रयोग नही हुआ है। एक ही चट्टान को काट कर उसी से छत, द्वार, झरोखे खिडकियाँ, स्तम्भ, तोरण, मण्डप, शिखर, गर्भगृह आदि सब को बना दिया गया है। मनुष्य के परिश्रम, धैर्य और कला का ऐसा उत्कृष्ट उदाहरण अन्यत्र मिल सकना दुर्लभ है। यह बात और भी अधिक अद्भुत है, कि यह मन्दिर दुमजिला है। बिना किसी भी जोड के केवल चट्टान को तरास कर दुमंजली इमारत बना लेना एक ऐसा विलक्षण शिल्प है, जिसे देखकर दर्शक मुग्ध रह जाता है। इस मन्दिर के चारो ओर की पहाडियो को काटकर अनेक विश्राम-गृह भी बनाये गए है। मन्दिर के स्तम्भो पर अनेक प्रतिमाएँ उत्कीर्ण की गई है, द्वारो पर मनोहर लता-पुष्प मञ्जरियाँ बनायी गई है, और शिखर को विविध पौराणिक कथाओ को मूर्त रूप देने वाली प्रतिमाओ से विभूषित किया गया है। तोरण के दोनो ओर एक-एक हाथी बनाया गया है। सम्पूर्ण मन्दिर मे कला की दृष्टि से कही कोई भी दोष या कमी नही है। उत्कीर्ण की हुई मूर्तियाँ सजीव हैं। इस मन्दिर के सम्बन्ध मे एक विदेशी कलाविज्ञ की यह सम्मति उल्लेखनीय है—"कैलाश के मन्दिर से बढकर समार भर मे कला का कोई भी नमूना नही है। एथन्स का पेन्थिओन, रोम का सैण्ट पीटर्स का चर्च, और लन्दन का सैण्ट पॉल का गिरजा बनाना विज्ञान और परिश्रम का कार्य है, पर हम यह जानते है कि इनका निर्माण कैसे प्रारम्भ हुआ, कैसे आगे बढा और कैसे पूर्ण किया गया। चाहे कितने ही मनुष्यो ने काम किया हो, उन्होने चाहे कितनी ही उमग से अपना कार्य किया हो और चाहे कितने ही साधन उनके पास हों, पर जब हम यह विचार करते है कि एक ऊँची चट्टान को धीरे-धीरे तरास कर एक ऐसे मन्दिर का रूप प्रदान किया गया, जिसमें बरामदे है, सीढ़ियाँ है, अनगिनत प्रतिमाएँ हैं और संगतरामी का इतना अधिक कार्य है, तो हमारा सिर चकराने लगता है, और यह कार्य अविश्वसनीय प्रतीत होने लगता है।" कैलाश-मन्दिर में उत्कीर्ण प्रतिमाओ द्वारा जो पौराणिक कथाएँ अंकित की गई हैं, उनमें शिव-पार्वती का विवाह, इन्द्र-इन्द्राणी की मूर्तियाँ और रावण द्वारा कैलाश का उत्तोलन उल्लेखनीय है। रावण का कैलाश-उत्तोलन बहुत ही ओजस्वी व भावपूर्ण कृति है। इस दृश्य में रावण कैलाश को उठा रहा है, भयत्रस्त पार्वती शिव के विशाल भुजदण्ड का सहारा ले रही हैं, उसकी सखियाँ भाग रही हैं, शिव अचल खड़े हैं और अपने चरणो से कैलाश पर्वत को दबा कर रावण के परिश्रम को विफल कर रहे है।

चट्टानों को काटकर बनाये गए मन्दिर दक्षिणापथ में अन्यत्र भी विद्यमान हैं। बम्बई से छः मील दूर धारापुरी नामक द्वीप में दो पहाड़ियों के ऊपर के भाग को काट कर मन्दिर और मूर्तियाँ बनायी गयी हैं। ये ही आजकल एलिफेण्टा केव्स के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनका निर्माण आठवीं सदी में हुआ था। ऐलिफेण्टा के गुहा-मन्दिरों में विद्यमान प्रतिमाओं में महेश्वर की त्रिमूर्ति, शिव-ताण्डव और शिव-पार्वती-विवाह की मूर्तियाँ अत्यन्त भव्य और कलात्मक हैं। महेश्वर की मूर्ति के मुखमण्डल पर अपूर्व प्रशान्त गम्भीरता है, और शिवताण्डव नृत्य की मूर्ति में पार्वती के आत्म-समर्पण का भाव अत्यन्त सुन्दर ढंग से प्रदर्शित किया गया है। ऐलिफेण्टा के गुहा-मन्दिरों के सदृश अन्य भी अनेक मन्दिर दक्षिणापथ में विद्यमान हैं, जो सब मध्य युग की ही कृतियाँ हैं।

विशाल चट्टानों को काट-काट कर मन्दिरों और मूर्तियों को बनाने की परम्परा इस युग में केवल भारत तक ही सीमित नहीं रही। सुदूर दक्षिण-पूर्वी एशिया के बृहत्तर भारत में भी इस युग में इसी शैली के विशाल मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण हुआ, जिनका उल्लेख हम इस इतिहास के एक पिछले अध्याय में कर चुके हैं। इसी काल में अंगकोर वाट और अंगकोर थाम के कलात्मक व विशाल मन्दिर बने, जो मध्ययुग की भारतीय कला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं।

दक्षिणी भारत के मन्दिर—दक्षिणी भारत के मध्ययुग के मन्दिर अधिक सुरक्षित दशा में है। वहाँ बुतशिकन (मूर्तिभंजक) मुसलिम आक्रान्ताओं का अधिक प्रकोप नहीं हुआ था। पल्लव वंश के राजाओं ने सुदूर दक्षिण में अनेक विशाल मन्दिरों का निर्माण कराया था। राजा महेन्द्र वर्मा (६००–६२५ ई०) और उसके पुत्र नरसिंह-वर्मा (६२५–६५० ई०) ने काञ्ची नगरी के सामने समुद्र तट पर विशाल चट्टानों को तरसवा कर जो मन्दिर बनवाये थे, वे 'रथ' कहाते हैं। इन्हें संसार की अद्भुत वस्तुओं में गिना जा सकता है। इस प्रकार के रथ-मन्दिरों में सप्त रथसमूह 'सात पेगोडा' के नाम से विश्व-विख्यात हैं। इन सप्त-रथों के नाम धर्मराज रथ, भीम रथ आदि है। ये मन्दिर एक ही चट्टान को तरास कर बनाये गये है, और इनमे कहीं भी जोड नहीं है। इनमे जो मूर्तियाँ है, वे भी अत्यन्त विशाल हैं, और एक ही चट्टान को तरास कर बनायी गई है। रथ-मन्दिरों के समान ये मूर्तियाँ भी अत्यन्त आश्चर्यजनक है। गंगा को पृथिवी पर अवतरित करने वाले भगीरथ की मूर्ति ९८ फीट लम्बी और ४३ फीट चौडी चट्टान को काट कर बनायी गई है। परिश्रम व साधना के कारण ककालमात्र अवशिष्ट भगीरथ गंगा को स्वर्ग से भूतल पर लाने के लिए तप कर रहे हैं, और संसार उनकी तपस्या से चमत्कृत है। यह दृश्य बहुत ही भावपूर्ण तथा सजीव है। काञ्ची नगरी के समीप समुद्र तट पर स्थित मामल्लपुरम् मे विद्यमान ये रथमंदिर और मूर्तियाँ पल्लव राजाओं की अमर कीर्ति है।

सातवीं सदी में पल्लव राजाओं ने मामल्लपुरम् में जिस वास्तुकला का प्रारम्भ किया था, दक्षिणी भारत के अन्य शिल्पियों ने उसका अनुकरण किया। आठवीं सदी में एल्लोरा के गुहामन्दिरों ने अत्यन्त उज्ज्वल व समुन्नत रूप प्राप्त किया, जिसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण कैलाश का मन्दिर है।

पल्लव राजाओं के समय में ही दक्षिणी भारत में ऐसे मन्दिरों का निर्माण प्रारम्भ हुआ, जिन्हें चट्टानो को तरास कर न बना कर चिनाई द्वारा बनवाया जाता था। ऐसे मन्दिरों में नरसिंहवर्मन् द्वितीय (६६५-७२२ ई०) द्वारा बनवाया हुआ वह मन्दिर सर्वप्रथम है, जो मामल्लपुरम् मे ही समुद्र तट पर स्थित है। बाद में राजा राजसिंह पल्लव ने अपनी राजधानी काञ्ची (काञ्जीवरम्) में कैलाशनाथ और वैकुण्ठ पेरुमल के सुन्दर कलात्मक मन्दिरो का निर्माण कराया, जो द्रविड़ वास्तुकला के प्रारम्भिक रूप के उत्कृष्ट उदाहरण है।

पल्लव वंश के राजाओं के बाद चोल राजाओ ने दसवी सदी में वास्तुकला के विकास के लिए बहुत काम किया। उन्होने जो मन्दिर बनवाये, वे सब द्रविड़ वास्तुकला के चरम विकास को सूचित करते हैं। इनमें सर्वश्रेष्ठ राजराज (९८५-१०१२ ई०) द्वारा बनवाया हुआ शिव मन्दिर है, जो तंजोर मे अब भी विद्यमान हैं। इसका विमान या शिखर १४ मंजिल का है, और ऊँचाई में १९० फीट है। इसके ऊपर एक ही शिलाखण्ड का भीमकाय गुम्मद है। तंजोर का यह विशाल शिवमन्दिर नीचे से ऊपर तक मूर्तियों और अलंकरणों से विभूषित है। चोल राजाओ के ये मन्दिर न केवल विशाल हैं, अपितु साथ ही अत्यन्त भव्य व कलात्मक भी है। उन्हें अलंकृत करने के लिए जिस सूक्ष्म तक्षण का उपयोग किया गया है, वह वस्तुत. अनुपम है।

राजराज का उत्तराधिकारी राजेन्द्र चोल प्रथम (१०१२-१०४४) था, जिसने चोल साम्राज्य को उत्कर्ष की चरम सीमा तक पहुँचा दिया था। उसने दिग्विजय करते हुए गगा तट के प्रदेश को जीत कर अपने अधीन किया था। गंगैकोण्ड चोल-पुरम् नाम से उसने एक नई राजधानी बनायी थी, जहाँ उसने अपने पिता का अनुकरण कर एक विशाल मन्दिर का भी निर्माण कराया था। दुर्भाग्यवश यह मन्दिर इस समय सुरक्षित दशा मे नही है, पर भग्न व जीर्ण-शीर्ण रूप मे भी यह अपने महान् निर्माता के वैभव को स्मरण कराने के लिए पर्याप्त है।

चोल साम्राज्य के ह्रास काल मे भी अनेक मन्दिरो का निर्माण हुआ, जिनमें ऐरावतेश्वर और त्रिभुवनेश्वर के मन्दिर उल्लेखनीय है। ये दोनों तंजोर जिले में हैं। चोल युग के परवर्ती भाग की कला की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता गोपुरम् को प्रधान रूप से निर्मित करना है। इन मन्दिरो के प्रवेश द्वार पर जो गोपुरम् बनाये गये है, वे ऊँचाई मे मन्दिर के शिखर की अपेक्षा भी अधिक ऊँचे हैं। साथ ही, इस समय मंदिर के साथ ऐसे विशाल मण्डपो का भी निर्माण शुरू किया गया, जिनमे बहुत-से स्तम्भ होते हैं। मध्ययुग की समाप्ति (१२०० ई०) के बाद दक्षिण मे मदुरा, श्रीरंगम् और रामेश्वरम् आदि मे जो विशाल मन्दिर निर्मित हुए, उनमे द्रविड वास्तुकला की विशेषताओ का पूर्ण विकास हुआ, और अति विशाल गोपुरम् और मण्डपो का निर्माण किया जाने लगा। मदुरा के एक मण्डप मे ९८५ स्तम्भ हैं; जिन सब पर अत्यन्त भव्य नक्काशी की गई है। इस प्रकार के मन्दिरो के निर्माण का सूत्रपात मध्ययुग में ही हो गया था।

द्वारसमुद्र के होयसाल वंशी राजाओं ने भी वास्तुकला के विकास में अच्छा कर्तृत्व प्रदर्शित किया था। माइसूर राज्य में इन राजाओं द्वारा बनवाये हुए अनेक

मन्दिर विद्यमान हैं, जो वर्गाकार न होकर तारक की आकृति के हैं। इनकी कुर्सियाँ ५-६ फीट ऊँची हैं, और इनके शिखर पिरामिड के समान होते हुए भी ऊँचाई में बहुत अधिक नहीं हैं। होयसाल राजाओं के मन्दिरों में सबसे प्रसिद्ध होयलेश्वर का मन्दिर है, जो द्वारसमुद्र या हालेबिद में स्थित है। इस मन्दिर की कुर्सी या चबूतरा ६ फीट ऊँचा है, जिसे बड़े-बडे शिलाफलकों द्वारा पाटा गया है। इन पर नीचे से ऊपर तक ग्यारह अलंकरण पट्टिकाएँ हैं, जो लम्बाई मे ७०० फीट हैं और सारे मन्दिर को घेरे हुए है। इनमें हाथियों, सिंहों और अन्य पशुपक्षियो की प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं। ये प्रतिमाएँ संख्या मे कितनी अधिक है, यह इसी से जाना जा सकता है कि सबसे निचली अलंकरण पट्टिका पर दो हजार हाथी बनाये गये हैं जो सब महावतों और झूलों के साथ हैं। इनमें से कोई भी दो हाथी एक दूसरे से नही मिलते हैं। शिल्पियों ने कितने धैर्य और परिश्रम से इन्हे उत्कीर्ण किया होगा, इसकी कल्पना सहज में ही की जा सकती है।

दक्षिण के चालुक्य राजाओं ने भी बहुत-से मन्दिरों का निर्माण कराया था। इनकी शैली न पूर्णतया आर्य (नागर) है, और न द्रविड़। ये उस शैली से निर्मित हैं, जिसे शिल्पशास्त्र के प्राचीन ग्रन्थो मे वेसर शैली कहा गया है और जो आर्य तथा द्रविड़ दोनो शैलियो का मिश्रण है।

मूर्तिकला—गुप्त युग मे भारत की मूर्तिकला अपने विकास की चरम सीमा को पहुँच गई थी। मध्ययुग मे इस कला मे कोई विशेष उन्नति नही हुई। शनैः शनैः मूर्तियों के निर्माण मे सौन्दर्य और कलात्मकता कम होने लगी, और धार्मिक भावना प्रबलता प्राप्त करने लगी। मध्ययुग मे विविध देवी देवताओं की ऐसी प्रतिमाएँ बनायी जाने लगी, जिनमे देवताओं का सामर्थ्य प्रगट करने के लिए उनके बहुत-से हाथ आदि बनाये गए और उन मे विविध प्रकार के अस्त्र शस्त्र भी रखे गये। यही कारण है कि इस युग की मूर्तियाँ कला की दृष्टि से अधिक उत्कृष्ट नही मानी जाती। पर फिर भी इस युग मे अनेक ऐसी प्रतिमाएँ बनी, जो मूर्तिकला की उत्कृष्ट उदाहरण है। श्रवण बेलगोला (माइसूर) की पहाडी पर गोमतेश्वर की जो विशाल मूर्ति है, वह दसवीं सदी के अन्त मे निर्मित हुई थी। यह मूर्ति ५७ फीट ऊँची और २६ फीट चौडी है, और एक ही शिलाखण्ड को तरास कर बनायी गई है। जिस पत्थर से इसे तरासा गया है वह अत्यन्त कठोर और काले रंग का है। मूर्ति के विविध अङ्ग सुव्यवस्थित और सही अनुपात मे हैं। गोमतेश्वर की इस मूर्ति की मुख मुद्रा शान्त व गम्भीर है। उस पर शान्ति और गम्भीरता के साथ-साथ आकर्षक मन्द मुसकान भी है। इसका निर्माण गंग वंश के एक राजा के मन्त्री चामुण्डराय ने कराया था। श्रवण बेलगोला जैनो का एक प्रसिद्ध तीर्थ है, जहाँ प्रतिवर्ष लाखों यात्री इस मूर्ति के दर्शन व पूजा के लिए जाते है। निर्माण की कठिनता और कल्पना की विशालता की दृष्टि से यह मूर्ति अद्वितीय है।

मध्ययुग की बहुत-सी मूर्तियाँ खजुराहो, राजस्थान, माइसूर, मद्रास आदि राज्यों के मन्दिरों में विद्यमान हैं। इनके सम्बन्ध में कतिपय निर्देश इसी प्रकरण में ऊपर दिये भी जा चुके हैं। पर कतिपय मूर्तियाँ ऐसी हैं, जिनका उल्लेख करना यहाँ

उपयोगी होगा। नटराज शिव की बहुत-सी धातु-प्रतिमाएँ दक्षिणी भारत में उपलब्ध हैं, जो कला की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट और भव्य हैं। ताण्डव नृत्य करते हुए शिव का जैसा सजीव अंकन इन मूर्तियों में किया गया है, वह वस्तुतः आश्चर्यजनक है। राजस्थान की मूर्तियों में शाहाबाद (कोटा) मे उपलब्ध शेषशायी विष्णु की मूर्ति अद्भुत व मनोहर है।

मध्य युग की बहुसंख्यक प्रतिमाएँ देवी देवताओ के साथ सम्बन्ध रखती हैं। पर कतिपय प्रतिमाएँ ऐसी भी है, जिनका धर्म या उपासना के साथ सम्बन्ध नही है। भुवनेश्वर से प्राप्त एक मूर्ति मे किसी नारी को पत्र लिखते हुए बनाया गया है। भुवनेश्वर में ही बच्चे को प्यार करती हुई एक नारी की मूर्ति भी मिली है। ये दोनों मूर्तियाँ ग्यारहवी सदी की हैं। खजुराहो के मन्दिर पर भी एक ऐसी स्त्री की प्रतिमा उत्कीर्ण हैं, जो पत्र लिख रही है।

यह स्वीकार करना होगा कि मध्य युग मे मूर्तिकला मे प्रगति न हो कर कुछ ह्रास ही हुआ। इसका कारण सम्भवतः यह है, कि इस युग के शिल्पी मूर्तियो का निर्माण करते हुए अपनी प्रतिभा और कल्पना की अपेक्षा शास्त्र-वचनों को अधिक महत्त्व देते थे। शास्त्रो के अनुसार देवताओं के शरीर मानव-शरीर मे भिन्न प्रकार के होते है। उनके कान मानव कानो से बडे होते है, आँखें कानो के समीप तक फैली हुई होती है, और हाथ घुटनो से नीचे तक पहुँचते है। मध्ययुग के मूर्तिकारो ने देवी-देवताओ की मूर्तियों का निर्माण करते हुए इन्ही धारणाओ को दृष्टि मे रखा, जिसका परिणाम यह हुआ कि इस काल की मूर्तियो मे वह आकर्षण व सौन्दर्य नही पाया जाता जो कि गुप्त युग की मूर्तियो मे है।

चित्रकला—भारत की प्राचीन चित्रकला का सर्वोत्कृष्ट रूप अजन्ता के गुहा-मन्दिरो की भित्तियो पर दिखायी देता है। मध्य युग मे भित्ति-चित्रों की परम्परा मे भी ह्रास ही हुआ। जिस प्रकार के दिव्य व मनोरम चित्र अजन्ता की भित्तियों पर चित्रित है, वैसे अन्यत्र कही नही है। एलोरा के कैलाश मन्दिर व अन्य मन्दिरो की भित्तियो पर जो चित्र है, वे नवी सदी या उससे पूर्व के काल मे ही चित्रित किये गये थे। इनका चित्रण अजन्ता की परम्परा के अनुसार ही हुआ है।

सुदूर दक्षिण के मन्दिरो की भित्तियो को भी अवश्य ही नानाविध चित्रो से विभूषित किया गया था। अनेक मन्दिरो मे इनके चिन्ह अब तक भी उपलब्ध हैं। ऐसा प्रतीत होता है, कि बाद मे जब इन मन्दिरो की मुरम्मत की गई, तो पुराने चित्रो को मिटा कर उनके स्थान पर नये चित्र बनाये गये। इसी कारण इन मन्दिरों की भित्तियो पर चित्रो की अनेक सतहे विद्यमान है।

मध्ययुग के अनेक ऐसे ग्रंथ इस समय उपलब्ध है, जो ताम्रपत्रों, तालपत्रों और कागज पर उत्कीर्ण व लिखित हैं। इन्हे भी अनेकविध चित्रो से विभूषित किया गया है जिनसे इस काल की चित्र कला का कुछ परिचय प्राप्त हो जाता है। पर ऐसी पुस्तकें न केवल संख्या मे बहुत कम है, अपितु मध्ययुग के अन्तिम भाग की हैं।

बीसवाँ अध्याय

दक्षिणी भारत की संस्कृति

(१) दक्षिणी भारत की प्राचीन संस्कृति

यद्यपि दक्षिणी भारत का राजनीतिक इतिहास उत्तरी भारत से पृथक् रहा है, पर सांस्कृतिक इतिहास के सम्बन्ध मे यह बात नही कही जा सकती। जहाँ तक भारतीय संस्कृति के विकास का प्रश्न है, दक्षिणी भारत ने उसमे पूरा-पूरा सहयोग दिया है। दक्षिणी भारत के बहुसंख्यक निवासी द्रविड जाति के है। ऐतिहासिको का मत है, कि द्रविड लोग भारत के पुराने निवासी है, और आर्यों के आने से पूर्व वे इस देश में अपनी सभ्यता के विकास मे तत्पर थे। वर्तमान समय मे मुख्य द्रविड भाषाएँ तेलगू, तमिल, कन्नड और मलयालम है। इन भाषाओ को बोलने वाले लोग ही द्रविड जाति के माने जाते है। उत्तरी भारत का इतिहास आर्य जाति का है, और दक्षिण का इतिहास प्रधानतया द्रविण जाति का है। द्रविड लोगो मे तमिल लोग सर्व-प्रधान है, और उन्होने ही प्राचीन समय मे द्रविड सस्कृति और सभ्यता के विकास के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया था।

कुरल—द्रविड सस्कृति बहुत प्राचीन है, पर उसका जो साहित्य इस समय मे उपलब्ध होता है, वह मौर्य-युग से अधिक पुराना नही है। तमिल-साहित्य का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कुरल' है, जिसका लेखक तिरुवल्लुवर था। उसका काल दूसरी सदी ई० पू० मे माना जाता है। कुरल एक विशाल ग्रन्थ है, जिसमे १२३ परिच्छेद है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सभी विषयो पर इस ग्रन्थ मे विशद रूप से विचार किया गया है। राजनीति-सम्बन्धी विषयो का भी इसमें समावेश है। कुरल के अनुशीलन से उस उच्च सभ्यता का सुचारु रूप से परिचय मिलता है, जिसका प्राचीन तमिल लोगों ने विकास किया था। तमिल साहित्य मे कुरल का इतना मान है, कि उसके रचयिता तिरुवल्लुवर को ब्रह्मा का अवतार माना जाता है। अनेक भारतीय और विदेशी भाषाओं मे इस ग्रन्थ का अनुवाद भी हो चुका है।

संगम—तमिल साहित्य का विकास उन शिक्षा-केन्द्रों मे हुआ था, जो 'संगम' नाम से प्रसिद्ध हैं। तमिल अनुश्रुति के अनुसार प्राचीन समय में तीन संगम हुए थे। ग्रीस के इतिहास मे जो महत्त्व एथन्स की एकेडमी का है, वही तमिल इतिहास में इन संगमो को प्राप्त है। पहले दो संगमो का इतिहास प्रायः अप्राप्य है, और उनमे जिस ज्ञान व साहित्य का विकास हुआ था, वह भी अब उपलब्ध नही है। पर तीसरे संगम के सम्बन्ध मे हमे बहुत कुछ परिचय प्राप्त है। यह संगम मदुरा में स्थित था, और ऐतिहासिकों के अनुसार इसका काल ५०० ईस्वी पूर्व से ५०० ईस्वी तक था। इसके सदस्यों की संख्या ४९ थी, और इतने ही राजाओ (पाड्य देश के राजाओं) का संरक्षण भी इसे प्राप्त हुआ था। संगम के सम्मुख विविध विद्वान्, कवि और साहित्यिक अपनी

रचनाओं को प्रस्तुत किया करते थे, और संगम द्वारा स्वीकृत होने पर ही उनको साहित्य में स्थान प्राप्त होता था। अनुश्रुति के अनुसार ४४९ कवियों ने अपनी रचनाएँ इस संगम के सम्मुख विचारार्थ प्रस्तुत की थी। तिरुवल्लुवर द्वारा रचित जिस 'कुरल' का हमने अभी उल्लेख किया है, वह भी संगम के सम्मुख प्रस्तुत हुआ था, और वहाँ उसे सम्मानपूर्वक स्वीकृत किया गया था। कुरल के अतिरिक्त संगम द्वारा स्वीकृत ग्रन्थ भी अनेक तमिल ग्रंथ इस समय उपलब्ध है। इनमे तीन विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं, पत्थु-पात्तु, एत्तुथोकई और पडिनेन्किल्कनक्कु। इन ग्रन्थो मे अनेक कवियों के विविध काव्यों का संग्रह है, और साहित्यिक दृष्टि से इन सभी को उच्चकोटि का माना जाता है।

संगम द्वारा स्वीकृत साहित्य के अतिरिक्त प्राचीन तमिल साहित्य में अन्य अनेक काव्य और ग्रथ भी बहुत प्रसिद्ध हैं। दूसरी सदी ईस्वी पूर्व को तमिल साहित्य का सुवर्णीय-युग माना जाता है। इस काल मे अनेक महाकाव्यों की रचना हुई, जिनमें पाँच बहुत प्रसिद्ध हैं। इनके नाम निम्नलिखित है—शिल्पाधिकारम्, मणिमेखलाई, जीवक-चिन्तामणि, वलयपति और कुण्डलकेशी। इस समय इनमे से पहले तीन ही प्राप्तव्य हैं, और इन्हें साहित्यिक दृष्टि से उच्च कोटि का माना जाता है।

समाज संगठन—तमिल लोगो की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति के सम्बन्ध मे इस प्राचीन तमिल साहित्य से बहुत-सी उपयोगी बातें जानी जा सकती है। इसका निर्माण उस काल मे हुआ था, जब कि उत्तरी भारत के आर्यों के साथ द्रविडो का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो चुका था। पर फिर भी इसके अनुशीलन से प्राचीन शुद्ध तमिल संस्कृति के विषय में बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। प्राचीन तमिल लोग मुख्यतया कृषिजीवी थे, और खेती द्वारा ही अपना निर्वाह किया करते थे। इस कारण तमिल जनता का बडा भाग कृषको का ही था। कृषक श्रेणी के नीचे श्रम-जीवियो की एक अन्य श्रेणी थी, जिसे 'कुडीस' कहते थे। कुडीस श्रेणी चार वर्गों में विभक्त थी, पागान, तुडियन, परयन और कदम्बन। इस श्रेणी के लोग कृषको की जमीन पर मजदूरी करके ही अपना निर्वाह किया करते थे। सम्भवत, इन्ही से आगे चलकर तमिल जनता के उस वर्ग का विकास हुआ, जिसे अछूत समझा जाता रहा है। कृषको और श्रमजीवियो के अतिरिक्त उस समय तमिल देश मे बढ़ई, लुहार, जुलाहे आदि शिल्पियो की भी सत्ता थी, जिनकी सामाजिक स्थिति बहुत हीन नही मानी जाती थी।

बाद मे उत्तरी भारत के आर्य ब्राह्मणो ने दक्षिण में प्रवेश किया, और उनके कारण तमिल देश के समाज-संगठन मे परिवर्तन आना प्रारम्भ हुआ। आर्यों के प्रवेश से पूर्व द्रविड लोगो में वर्ण-व्यवस्था व जातिभेद का अभाव था, और वहाँ चातुर्वर्ण्य की सत्ता नहीं थी। उत्तरी भारत से जो आर्य ब्राह्मण दक्षिण मे गये, वे विद्या, ज्ञान और तप की दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट थे। वे एक उच्च संस्कृति का सन्देश लेकर दक्षिण मे आये थे। इसलिए वहाँ के समाज मे उन्होंने प्रतिष्ठित व उच्च पद प्राप्त कर लिया, और वहाँ का समाज 'ब्राह्मण' और 'ब्राह्मणेतर' विभागो मे विभक्त हो गया। पर आर्यों के चातुर्वर्ण्य का विकास दक्षिण मे कभी भी उस प्रकार से नही हुआ, जैसा कि उत्तरी भारत में था। इसी कारण तमिल प्रदेश मे क्षत्रिय और वैश्य वर्गों का अभाव है, और वहाँ का समाज ब्राह्मण और शूद्र वर्गों में ही विभक्त है।

धर्म—आर्यों के सम्पर्क के कारण तमिल तथा अन्य द्रविड़ लोगों ने वैदिक धर्म को भी अपना लिया था। इसीलिए उनके प्राचीन साहित्य द्वारा किसी ऐसे धर्म का परिचय नहीं मिलता, जिसका कि ये लोग आर्यों के सम्पर्क से पूर्व अनुसरण करते हों। तमिल-साहित्य की रचना उन्हीं लोगों द्वारा हुई थी, जो कि उत्तरी भारत के वैदिक, बौद्ध, जैन आदि धर्मों को अपना चुके थे। पर ऐतिहासिकों का मत है कि द्रविड लोग शुरू में अनेक देवी-देवताओं की पूजा किया करते थे, और अपने मृतकों की समाधियों का भी निर्माण करते थे। ऐतिहासिकों के अनुसार आर्य लोगो ने द्रविड़ों के अनेक देवी-देवताओं की पूजा को भी अपने धर्म मे सम्मिलित कर लिया। शिव की पूजा हिन्दू धर्म मे विशेष महत्त्व रखती है। अनेक विद्वानों के मत मे आर्यों ने शिव की पूजा द्रविडों से ही ग्रहण की थी। प्राचीन द्रविडों में शिव की पूजा प्रचलित थी, और जब आर्य लोग उनके सम्पर्क में आये, तो उन्होने भी शिव को अपना लिया। इसी प्रकार कार्तिकेय और गणेश की पूजा का प्रवेश भी आर्यों मे द्रविड़ो द्वारा ही हुआ। पर ये सब विषय विवादग्रस्त है। द्रविडो के मूल धर्म का क्या स्वरूप था, यह अभी निश्चित रूप से नही कहा जा सकता।

(२) आर्य संस्कृति का दक्षिणी भारत में प्रवेश

महर्षि अगस्त्य—दक्षिणी भारत में आर्य-संस्कृति का प्रवेश महर्षि अगस्त्य द्वारा हुआ था। पौराणिक और तमिल साहित्य में इस ऋषि के सम्बन्ध मे अनेक कथाएँ पायी जाती है। अगस्त्य-सम्बन्धी तमिल अनुश्रुति यह है कि प्राचीन समय में कैलाश पर्वत पर शिव और पार्वती का विवाह हुआ। इस अवसर पर सब लोकों के लोग उपस्थित हुए। दक्षिणी भारत के लोग भी शिव और पार्वती के विवाह को देखने के लिये गए। बहुत-से लोगों के एक स्थान पर एकत्र हो जाने का परिणाम यह हुआ, कि पृथ्वी का सन्तुलन नष्ट होने लगा। इस पर लोगों ने शिव से प्रार्थना की कि किसी ऐसे तेजस्वी व्यक्ति को दक्षिणी भारत मे भेजने की कृपा करें, जिसके तेज से आकृष्ट होकर लोग दक्षिण मे भी आबाद हो। लोगों की प्रार्थना सुनकर शिव ने ऋषि अगस्त्य को आदेश दिया कि वह दक्षिण में जाएँ। शिव के आदेश के अनुसार अगस्त्य अपनी पत्नी लोपामुद्रा के साथ दक्षिणी भारत में गया, और वहाँ ताम्रपर्णी नदी (टिनवेली जिले में) के उद्गम स्थान पाडिकई पर्वत को अपने निवास के लिए चुना। तमिल भाषा सीखकर अगस्त्य ने उसका एक व्याकरण भी तैयार किया। इसे तमिल भाषा का प्रथम व्याकरण माना जाता है, यद्यपि वर्तमान समय में यह उपलब्ध नही है। कहते है, कि इस व्याकरण मे १२,००० सूत्र थे।

ऋषि अगस्त्य के साथ सम्बन्ध रखने वाली कथाएँ संस्कृत-साहित्य मे भी विद्यमान हैं। इन कथाओं के अनुसार अगस्त्य ने समुद्र के जल का पान कर उसे सुखा दिया था। सम्भवतः, यह कथा इस तथ्य को सूचित करती है कि विशाल नदियाँ और समुद्र अगस्त्य के मार्ग में बाधक नही हो सके थे, और वह इनको पार करता हुआ सुदूर दक्षिण में इस प्रकार सुविधापूर्वक जा पहुँचने मे समर्थ हुआ था, मानो उसके मार्ग की नदियों और समुद्र का जल सूख गया हो। इसमें सन्देह नहीं, कि पुरानी अनुश्रुति के

अनुसार दक्षिणी भारत मे आर्यों का विस्तार करने वाला प्रथम साहसी व्यक्ति ऋषि अगस्त्य ही था, और उसी के पदचिन्हो का अनुसरण कर बाद मे अन्य बहुत-से आर्य लोग दक्षिण मे अपने उपविवेश बसाने मे समर्थ हुए थे। दक्षिणी भारत के लोग अब तक भी अगस्त्य को बहुत आदर की दृष्टि से देखते है, और अपने साहित्य, काव्य और व्याकरण का प्रारम्भ उसी से मानते है। अगस्त्य का समय क्या था, इस विषय मे कुछ भी निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। पर वैदिक युग के पिछले काल में उसका समय मानना अनुचित न होगा, क्योंकि उसकी गणना भी भारतीय आर्यों के प्रतिष्ठित और प्राचीन ऋषियो मे की जाती है।

रामचन्द्र और दक्षिणी भारत—ऋषि अगस्त्य द्वारा दक्षिणी भारत मे आर्यों के प्रवेश की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई थी, बाद के ऋषियों और मुनियो ने उसे जारी रखा। विंध्याचल पर्वत माला के दक्षिणी प्रदेश प्राचीन समय मे अनेक महाकान्तारो से परिपूर्ण थे, जिनमे दण्डकारण्य मुख्य था। आर्य ऋषि इनमें अपने आश्रम बनाने मे तत्पर थे, और वहाँ के मूल निवासियो से अपनी रक्षा करने की समस्या सदा उनके सम्मुख रहा करती थी। अयोध्या के राजा दशरथ से ऋषि विश्वामित्र ने अनुरोध किया था, कि अपने कुमार राम और लक्ष्मण को राक्षसो से ऋषियो के यज्ञों की रक्षा करने के लिए भेज दे। विश्वामित्र की प्रार्थना को स्वीकार कर राम और लक्ष्मण इसके लिए गये भी थे। बाद मे कैकेयी के षड्यत्र द्वारा जब राम को वनवास मिला, तो वे सीता और लक्ष्मण के साथ दक्षिणी भारत मे गये, और लंका के रावण को परास्त कर उन्होने सुदूर दक्षिण मे आर्यों के प्रभाव व प्रभुत्व को स्थापित किया। रामायण की कथा दक्षिण मे आर्यों के विस्तार को ही सूचित करती है।

दक्षिण में आर्य संस्कृति का विस्तार—अगस्त्य सदृश विविध ऋषि-मुनियो और राम जैसे राजाओ के प्रयत्न से दक्षिणी भारत मे आर्यों का निरन्तर प्रवेश होता गया और चौथी सदी ईस्वी पूर्व तक यह दशा आ चुकी थी, कि दक्षिण के द्रविड़ लोग आर्यों के प्रभाव में भली-भाँति आ गये थे। इसीलिए रामायण मे पांड्य देश की राजधानी मदुरा का वर्णन मिलता है, और संस्कृत के प्रसिद्ध वैयाकरण कात्यायन (चौथी सदी ई० पू०) ने चोल और पाण्ड्य राजाओ का उल्लेख किया है। अशोक (तीसरी सदी ई० पू०) ने सुदूर रक्षिण के चोल, पाण्ड्य, केरल और सातियपुत्र राज्यो मे धर्मविजय की नीति का प्रयोग किया था। इसी काल मे आचार्य उपगुप्त ने अनेक बौद्ध भिक्षुओं को इन प्रदेशो मे बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए भी भेजा था। बौद्धो से पूर्व जैनमुनि भी दक्षिण मे अपने धर्म का प्रचार करने के लिए तत्पर हो चुके थे।

पर इस प्रसग मे यह ध्यान में रखना चाहिए कि जैनो और बौद्धों से बहुत पहले ही आर्य ब्राह्मण दक्षिणी भारत को अपने सास्कृतिक प्रभाव मे ला चुके थे, यद्यपि इनका कोई ऐसा वृत्तान्त उपलब्ध नही है, जिसे ऐतिहासिक दृष्टि से प्रामाणिक कहा जा सके। मदुरा के संगम द्वारा स्वीकृत पुस्तको पर सस्कृत भाषा और आर्यों के विचारो का प्रभाव इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि बौद्धो और जैनों से बहुत पूर्व द्रविड़ प्रदेश आर्य-सभ्यता और संस्कृति के प्रभाव में आने प्रारम्भ हो चुके थे।

दक्षिणी भारत मे आर्यों की संस्कृति का जो प्रवेश हुआ, वह पूर्णतया शातिमय

था। यह कार्य प्रधानतया ऋषि-मुनियो और ब्राह्मणों द्वारा किया गया था। उत्तरी भारत के किसी आर्य राजा ने प्राचीन काल मे अपनी सेना लेकर दक्षिण के द्रविड राज्यों को जीता हो, और विजय द्वारा अपने प्रभुत्व की स्थापना की हो, इसका कोई वृत्तान्त हमे ज्ञात नही है। इसके विपरीत इस बात के अनेक प्रमाण विद्यमान हैं, कि बहुत-से आर्य ब्राह्मण दक्षिण मे दूर-दूर तक गए, और उन्होने इन प्रदेशो मे अपने धर्म और संस्कृति का प्रचार किया। अशोक के समय के बौद्ध-भिक्षुओ के समान उससे पहले के आर्य ऋषि-मुनि भी शातिमय उपायो से ही वहाँ अपने सांस्कृतिक प्रभाव को स्थापित करने मे तत्पर रहे थे। अपने ज्ञान और चरित्र की उत्कृष्टता के कारण ही इन आर्यों ने दक्षिणी भारत के समाज मे प्रतिष्ठित व उच्च स्थान प्राप्त कर लिया था। पर बौद्ध-काल तक आर्यों के कोई राज्य दक्षिणी भारत में स्थापित नही हो पाये थे। इसीलिए बौद्धकाल के सोलह महाजनपदो में अवन्ति (मालवा) से दक्षिण का कोई जनपद अन्तर्गत नही है।

(३) आर्यों का दक्षिणी भारत की संस्कृति पर प्रभाव

राजनीतिक प्रभाव—यद्यपि बौद्ध काल तक विन्ध्याचल के दक्षिण मे आर्यों का कोई राज्य स्थापित नही हुआ था, पर चौथी सदी ईस्वी पूर्व से दक्षिण के प्रदेश भी आर्यों के राजनीतिक प्रभाव मे आने शुरू हो गये थे। मौर्य साम्राज्य के सस्थापक चन्द्रगुप्त का शासन दक्षिणी भारत मे विस्तृत नही था। पर उसके उत्तराधिकारी बिन्दुसार ने दक्षिण के सोलह राज्यो को जीतकर अपने अधीन किया था। सुदूर दक्षिण मे चोल, पाण्ड्य, केरल और सातियपुत्र के चार राज्य ही ऐसे बचे थे, जो मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं हुए थे। अशोक ने भी इन्हे जीतकर अपने अधीन नही किया, और इनकी धर्म-विजय से ही सतोष कर लिया। यद्यपि दक्षिणी भारत पर मौर्यो का शासन देर तक कायम नही रह सका, पर इसमे सन्देह नही कि एक बार आर्यों की अधीनता मे आ जाने के कारण इन प्रदेशों पर आर्यों का राजनीतिक प्रभाव अवश्य स्थापित हो गया। मौर्यों की शक्ति के क्षीण होने पर जो अनेक नवीन राज्य दक्षिण मे कायम हुए, उनमें से अन्यतम राज्य सिमुक (२१० ई० पू०) द्वारा स्थापित आन्ध्र-सातवाहन वंश का था। सातवाहनो के शिलालेख ब्राह्मीलिपि मे उत्कीर्ण है, और उनकी भाषा भी सस्कृत और प्राकृत है। उसका राज्य विन्ध्याचल के दक्षिण और उत्तर दोनो ओर विस्तृत था।

सातवाहन वंश की शक्ति के क्षीण होने पर दक्षिणापथ (दक्खन) मे जो अनेक नये राज्य स्थापित हुए, वे भी आर्यों की संस्कृति से प्रभावित थे। इन राज्यो मे अन्यतम इक्ष्वाकुवंश का भी था, जिसका शासन कृष्णा और गोदावरी नदी के मुहानों के क्षेत्र मे स्थित था। आन्ध्र देश के इस इक्ष्वाकुवश का अयोध्या के प्राचीन इक्ष्वाकुवंश के साथ कोई सम्बन्ध था या नहीं, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। पर इसमें सन्देह नही, कि यह इक्ष्वाकुवंश (तीसरी सदी ई०) और इसके समकालीन दक्षिणापथ के अन्य राजवंश आर्यों की संस्कृति से अवश्य प्रभावित थे।

चालुक्यों और राष्ट्रकूटों द्वारा बाद में (छठी सदी से शुरू कर) जो अनेक राज्य दक्षिणापथ में कायम हुए, उन पर तो आर्यों का प्रभाव और भी अधिक स्पष्ट है। इन वंशों के राजाओं के शिलालेख संस्कृत में हैं, और धर्म तथा संस्कृति की दृष्टि से उनमें और उत्तरी भारत के राजाओं में भेद कर सकना सुगम नहीं है।

राजनीतिक दृष्टि से आर्यों का प्रभाव केवल दक्षिणापथ के राज्यों तक ही सीमित नहीं था। सुदूर दक्षिण के राज्य भी आर्य संस्कृति से प्रभावित हुए थे। कांची (काजीवरम्) के पल्लव राज्य पर आर्यों का प्रभाव बहुत स्पष्ट है। पल्लव वश द्वारा शासित प्रदेश पहले आन्ध्र-सातवाहन साम्राज्य के अन्तर्गत थे। सातवाहनों की शक्ति के क्षीण पड़ने पर काची में पल्लव वंश के राज्य का प्रारम्भ हुआ। पल्लव वंश के राजा आर्य संस्कृति से पूर्णतया प्रभावित थे। इस वंश के संस्थापक बप्पदेव ने अग्निष्टोम, वाजपेय और अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान कर अपनी शक्ति का उत्कर्ष किया था, और तुंगभद्रा तथा कृष्णा नदियों द्वारा सिञ्चित प्रदेश में अपने स्वतन्त्र शासन को स्थापित कर काची को अपनी राजधानी बनाया था। पल्लवों के शासनकाल में काची नगरी आर्यसभ्यता का महत्त्वपूर्ण केन्द्र थी। वहाँ बहुत-से ब्राह्मण परिवारों का निवास था जो संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन मे तत्पर रहते थे। पल्लववंश के राजाओं के शिलालेख भी संस्कृत भाषा मे ही उत्कीर्ण कराये गये थे। पल्लव वंश का शासन कई सदियों तक कायम रहा, और इस काल मे काची आर्य-संस्कृति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया। कांची संस्कृत भाषा के अध्ययन के लिए प्रसिद्ध था, और वहाँ के विश्वविद्यालय की दक्षिणी भारत मे वही स्थिति थी, जो उत्तरी भारत में नालन्दा की थी।

भाषा पर प्रभाव—आर्यों ने दक्षिणी भारत की द्रविड़ भाषाओं को भी प्रभावित किया। इसी कारण इन भाषाओं मे संस्कृत के शब्द बहुत बड़ी संख्या में पाये जाते हैं। तेलगू, कन्नड और मलयालम् का साहित्य संस्कृत शब्दों से परिपूर्ण है, और तमिल मे भी संस्कृत शब्दों का प्रयोग हुआ है। तेलगू, कन्नड़ और मलयालम की वर्णमाला भी वही है, जो संस्कृत (देवनागरी) की है, यद्यपि इनकी लिपि सस्कृत की देवनागरी लिपि से भिन्न है। तमिल की वर्णमाला संस्कृत के समान नही है, पर उसमें भी संस्कृत के अनुसरण में ध्वन्यात्मक अक्षरों का प्रयोग किया जाता है।

धर्म पर प्रभाव—धर्म के क्षेत्र में तो आर्यों ने दक्षिणी भारत के द्रविड़ लोगों को बहुत ही अधिक प्रभावित किया है। वर्तमान समय मे द्रविड़ों का धर्म आर्यों के धर्म से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं है। प्राचीन काल का भी जो साहित्य द्रविड़ भाषाओं में मिलता है, वह उनके किसी पृथक् धर्म को सूचित नहीं करता। इसका अभिप्राय यही है, कि बहुत समय पूर्व जब द्रविड भाषाओं के साहित्य का विकास प्रारम्भ हुआ था, द्रविड़ लोग आर्यों के धार्मिक प्रभाव में आ चुके थे। उन्होंने आर्यों के वैदिक धर्म को अपना लिया था, और उनके अपने धर्म की कोई पृथक् सत्ता नहीं रह गयी थी। उत्तरी भारत के आर्यों के समान दक्षिण के द्रविड़ लोग भी यज्ञों का अनुष्ठान करने लग गये थे, और वेदों के प्रामाण्य में विश्वास रखते थे। जब उत्तरी भारत में बौद्ध और जैन धर्मों का विकास हुआ, तो दक्षिण में भी उनका प्रचार हुआ और बहुत-से द्रविड़ लोग इन धर्मों के अनुयायी हो गये। बौद्ध धर्म के ह्रास के कारण

जब वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ, तो दक्षिण के लोगों ने अनेक अंशों में उसका नेतृत्व भी किया। वैदिक हिन्दू धर्म में भक्ति-आन्दोलन के प्रवर्तक मुख्यतया दक्षिण के लोग ही थे। इस विषय पर हम इसी अध्याय में आगे चलकर प्रकाश डालेंगे।

(४) दक्षिणी भारत द्वारा भारतीय संस्कृति का विकास

आर्य संस्कृति को अपना कर दक्षिणी भारत के निवासियों ने उसके विकास के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। भारत के सभी प्रमुख धर्मों के विकास में दक्षिणी भारत के विद्वानों और धर्माचार्यों का प्रमुख कर्तृत्व रहा है। इसी प्रकार मूर्ति-निर्माण कला, वास्तु कला, संस्कृति, चित्रकला आदि के विकास में भी दक्षिणी भारत ने महत्व का कार्य किया। राजनीतिक दृष्टि से भारतीय इतिहास की मुख्य धारा से पृथक् रहते हुए भी दक्षिणी लोग भारतीय संस्कृति के विकास में उत्तरी भारत के लोगों से पृथक् नहीं रहे। धर्म आदि के विविध क्षेत्रों में जो कार्य उन्होंने किया, उस पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

शैव-धर्म—तमिल साहित्य के अनुशीलन से सूचित होता है, कि सुदूर दक्षिण में बहुत प्राचीन काल से शैव धर्म का प्रचार रहा है। मदुरा के संगम द्वारा स्वीकृत प्राचीन तमिल साहित्य में शिव को सबसे बड़ा देवता माना गया है। जिस शिव के तीन नेत्र होते हैं, और जो अपने जटा-जूट में चन्द्रमा को धारण करता है, जिसका कंठ नील होता है, परशु जिसके हाथो मे रहता है, उमा जिसकी सहचरी है, और जिस शिव ने अगस्त्य ऋषि को दक्षिण भेजा था, प्राचीन तमिल लोग प्रधानतया उसी के उपासक थे। केवल साहित्य द्वारा ही तमिल देश में शैव धर्म के प्रचार की सत्ता प्रमाणित नही होती, अपितु पुरातत्व विषयक अवशेष भी इसके प्रमाण हैं। मद्रास प्रान्त में गुडिमल्लम् नामक ग्राम मे एक शिवलिंग विद्यमान है, जिसे दूसरी सदी ई० पू० का माना जाता है। यह लिंग पांच फीट ऊँचा है, और इसके एक पार्श्व में दो भुजाओं वाली शिव की प्रतिमा भी बनायी गई है। इसी प्रकार की अनेक अन्य प्राचीन शिव-प्रतिमाएँ भी दक्षिणी भारत में उपलब्ध हुई हैं।

पल्लव (छटी सदी ई० प०) और चोल राजाओं (दसवी सदी ई० प०) के शासन काल में दक्षिणी भारत में शैव धर्म का विशेष रूप से विकास हुआ। पल्लव राजा महेन्द्रवर्मन् (६००–६३० ई० प०) पहले जैन धर्म का अनुयायी था। अनुश्रुति के अनुसार उसने जैन होते हुए अन्य धर्मों के अनुयायियों पर अत्याचार भी किये थे। पर अप्पर नामक शैव आचार्य के सम्पर्क मे आकर महेन्द्रवर्मन् ने शैव धर्म को स्वीकार कर लिया, और उसकी संरक्षा में कांची नगरी शैव धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गई। उसने अपने राज्य में बहुत-से शैव मन्दिरों का निर्माण कराया, और उसके उत्तराधिकारियों ने भी शैव धर्म के उत्कर्ष मे बहुत सहायता दी। बाद के प्रायः सभी पल्लव राजा शैव धर्म के ही अनुयायी थे।

छठी सदी में दक्षिणी भारत में शैव धर्म का जो विशेष रूप से प्रचार प्रारम्भ हुआ, उसका मुख्य श्रेय उन शैव सन्तों को है, जिन्हें 'नायन्मार' कहते हैं। ये नायन्मार पण्डित या विद्वान् न होकर भक्त व सन्त थे, जो अपने सुललित गीतों द्वारा सर्वसाधारण जनता

में शिव की भक्ति का प्रचार किया करते थे। जनता इनके गीतो को सुनकर भक्ति-रस में डूब जाती थी, और शिव की पूजा के लिए तत्पर होती थी। तमिल देश के इन शैव नायन्मारों में अप्पर (६४०-६८१ ई०) सम्बन्दर (६४४-६६०), मणिक्कवाचकर (६६०-६९२) और सुन्दरर (७१० ई०) सबसे प्रसिद्ध हैं। इन तथा अन्य नायन्मार सन्तो के गीतों का बाद में संग्रह किया गया, जो न केवल शैव-साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान रखते हैं, अपितु तमिल भाषा के साहित्य मे भी जिनका बहुत गौरव पूर्ण स्थान है। दक्षिण भारत के शैव इनका वेदो के समान ही आदर करते हैं।

जैन धर्म—जैन धर्म का प्रादुर्भाव उत्तरी बिहार मे हुआ था, पर धीरे-धीरे वह कलिंग, दक्षिणापथ और सुदूर दक्षिण मे भी फैल गया। माइसूर के गगवशी राजा जैन धर्म के अनुयायी थे, और उनके शिलालेखों मे जैन मन्दिरो और मुनियो को दिये गए दानो का उल्लेख है। बनवासी (उत्तरी माइसूर) से कदम्ब वंशी राजा भी जैन थे। चालुक्यो के राज्य मे भी जैन धर्म का अच्छा प्रचार था, और इसीलिए अनेक चालुक्य राजाओं ने जैन मन्दिरों को उदारतापूर्वक दान दिये थे। जैन साहित्य के अनेक महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थ कन्नड़ भाषा में लिखे गये थे। इस समय भी कन्नड भाषा मे जैन-साहित्य बहुत बड़े परिमाण में उपलब्ध है। इसका कारण यही है कि गंग, कदम्ब और चालुक्य वंशों के शासन काल में दक्षिणापथ और माइसूर मे जैन धर्म का बहुत प्रचार रहा, और इन प्रदेशों के निवासियों ने जैन धर्म के विकास के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

सुदूर दक्षिण में काँची नगरी भी जैन-धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र थी। पल्लव वंश के अनेक प्रारम्भिक राजा जैन धर्म के अनुयायी थे। काँची के सिंहवर्मन् नामक पल्लव राजा के शासनकाल मे सर्वनन्दी नाम के जैन पण्डित ने 'लोक विभाग' संज्ञक एक ग्रन्थ लिखा था, जो प्राकृत भाषा में है। कुन्दकुन्द नाम का प्रसिद्ध दिगम्बर आचार्य भी काँची का ही निवासी था। उसी के प्रभाव के कारण शिवकुमार महाराज नाम के काँची के राजा ने जैन धर्म को स्वीकृत कर लिया था।

सुदूर दक्षिण में जैन लोगों का धार्मिक संगठन 'मूल संघ' कहाता था। बाद में इसके अधीन अनेक 'गणों' की स्थापना हुई, जिन्होने तमिल प्रदेशों में जैन धर्म के प्रचार के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। दक्षिणी भारत में जैन धर्म का प्रचार होने के कारण ही वहाँ अनेक प्राचीन जैन मन्दिर और बहुत-सी जैन प्रतिमाएँ उपलब्ध होती हैं।

जब शैव सन्त नायन्मारों और वैष्णव सन्त आलवारो ने शिव और विष्णु की भक्ति का दक्षिणी भारत मे प्रचार प्रारम्भ किया, तो जैन धर्म का प्रभाव कम होने लगा, और धीरे-धीरे इसके अनुयायियों की संख्या सर्वथा नगण्य रह गई।

वैष्णव धर्म—बौद्ध और जैन धर्मों के विरुद्ध प्रतिक्रिया होकर जब वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ, तो उत्तरी भारत के समान दक्षिण में भी शैव और वैष्णव धर्मों का प्रचार होने लगा। जिस प्रकार शैव धर्म में नायन्मार सन्त हुए, वैसे ही विष्णु की भक्ति का प्रचार करने का कार्य भी उन भक्त सन्तों ने किया, जिन्हे आलवार कहते हैं। ये आलवार तमिल देश मे ही हुए थे, और इन्होंने तमिल भाषा मे ही विष्णु की भक्ति के गीत बनाकर जनता को भक्तिरस का आस्वादन कराया था। इनका काल पाँचवी सदी

से माना जाता है। ये वैष्णव भक्त सर्वसाधारण जनता में ही उत्पन्न हुए थे, और उसी में अपने धर्म का प्रचार किया करते थे। वैष्णव धर्म मे भक्ति को जो प्रमुख स्थान प्राप्त है, उसका प्रधान श्रेय इन आलवार सन्तों को ही है। भागवत पुराण के अनुसार 'भक्ति' का प्रादुर्भाव दक्षिणी भारत में ही हुआ था। अनेक विद्वानों के अनुसार स्वयं भागवत पुराण की रचना भी दक्षिण मे ही हुई थी।

आलवार सन्तो के गीतों को तमिल देश के वैष्णव वेदों के समान ही आदरणीय समझते हैं। ये गीत भक्ति-रस के अत्यन्त उत्कृष्ट उदाहरण हैं। आलवार सन्तों ने पाँचवी सदी मे अपना कार्य प्रारम्भ किया था, जो प्रायः बारहवी सदी तक जारी रहा।

दर्शन शास्त्र का विकास—दक्षिणी भारत मे नायन्मार और आलवार भक्तों द्वारा शिव और विष्णु की भक्ति का जो आन्दोलन प्रचलित था, बौद्ध और जैन धर्म उसके विरोध में खडे नही रह सके। पर इस भक्ति आन्दोलन को दो अन्य विरोधों का सामना करना पडा, जो वैदिक हिन्दू धर्म के अन्य सम्प्रदायो द्वारा उपस्थित किये गए थे। इनका एक विरोध कुमारिल भट्ट द्वारा हुआ, जो प्रसिद्ध मीमांसक हुए हैं। वे वेदों के कर्मकाण्ड मे विश्वास रखते थे और याज्ञिक अनुष्ठान को ही मुक्ति का मार्ग मानते थे। उनका काल आठवी सदी के आरम्भ मे माना जाता है। उनके प्रभाव के कारण भक्ति आन्दोलन को बहुत धक्का लगा, और विद्वन्मण्डली का ध्यान वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति आकृष्ट हुआ। भक्ति आन्दोलन के मार्ग में दूसरी बाधा शंकराचार्य ने उपस्थित की। शंकर अद्वैतवाद के प्रबल समर्थक थे और जीव की ब्रह्म के पृथक् सत्ता को स्वीकार नही करते थे। भक्ति के लिए भक्त की भगवान् से पृथक् सत्ता का होना अनिवार्य है। यदि भक्त और भगवान् एक ही हों, तो भक्ति करने की आवश्यकता ही नही रह जाती। शंकराचार्य दक्षिणी भारत मे ही उत्पन्न हुए थे, और उनका काल नवीं सदी में माना जाता है। अगाध पाण्डित्य और अनुपम तर्क द्वारा उन्होने अद्वैतवाद का समर्थन किया, और बौद्ध व जैन धर्मों का दार्शनिक आधार पर विरोध किया। यद्यपि शंकराचार्य के प्रयत्नो से वैदिक हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान में बहुत सहायता मिली, पर साथ ही उनके सिद्धान्त भक्ति आन्दोलन के मार्ग मे बाधक भी हुए।

इसी का यह परिणाम हुआ कि दक्षिणी भारत मे ही अनेक ऐसे दार्शनिक उत्पन्न हुए, जिन्होंने कि जीव और ईश्वर मे भेद को दार्शनिक आधार पर प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया। इन दार्शनिकों में सर्वप्रथम नाथमुनि थे। इनका काल दसवीं सदी के अन्तिम भाग में था। नाथमुनि ने न केवल आलवार भक्तों के गीतों का संग्रह किया, अपितु साथ ही वैष्णव सिद्धान्तों की दार्शनिक व्याख्या भी की। वैष्णव धर्म के इतिहास में नाथमुनि का स्थान बहुत महत्त्व का है। मन्दिरों में विष्णु की मूर्ति के सम्मुख भक्ति के गीतों के गायन की परम्परा को प्रारम्भ करने का कार्य उन्होंने ही पहले-पहल संगठित रूप से किया था। नाथमुनि के उत्तराधिकारियो में यमुनाचार्य और रामानुजाचार्य (ग्यारहवीं सदी के अन्त में) बहुत प्रसिद्ध हुए। रामानुज ने शंकराचार्य के अद्वैतवाद के मुकाबले में विशिष्टाद्वैतवाद का प्रतिपादन किया। इस मत के अनुसार जीव और जगत् ईश्वर के ही दो प्रकार हैं, जीव ईश्वर का ही एक विशेषण या विशिष्ट रूप है। शंकराचार्य के अद्वैतवाद में जीव और ब्रह्म की अभिन्नता के कारण

भक्ति को कोई स्थान नहीं था। पर रामानुज के दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार जीव ईश्वर का विशिष्ट रूप होते हुए भी उससे पृथक् सत्ता रखता है। इसलिए जीव ईश्वर की भक्ति कर सकता है।

रामानुज के बाद दक्षिणी भारत मे अन्य भी अनेक ऐसे दार्शनिक हुए, जिन्होंने जीव और ईश्वर मे भेद सिद्ध कर भक्ति मार्ग की उपादेयता का प्रतिपादन किया। इनमे मध्वाचार्य (तेरहवी सदी) मुख्य हैं। उनके मत में जीव और ईश्वर दो पृथक् सत्ताएँ हैं। इसीलिए उनके मत को 'द्वैतवाद' कहा जाता है। यदि जीव ईश्वर से सर्वथा भिन्न है, तो मुक्ति के लिए भक्ति मार्ग का आश्रय लेना सर्वथा उचित है। रामानुज और मध्वाचार्य ने वैष्णवों को अपने भक्ति-मार्ग के लिए समुचित दार्शनिक आधार प्रदान कर दिया, और उनके प्रयत्न से इस मार्ग की बाधाएँ दूर हो गई।

इसी युग में दक्षिणी भारत में ही निम्बार्काचार्य भी हुए, जिन्होंने श्रीकृष्ण के रूप में विष्णु की पूजा पर विशेष बल दिया। गोपियों और राधा के प्रेम को आदर्श बनाकर उन्होंने कृष्ण के प्रेम का प्रतिपादन किया और वृन्दावन को अपने प्रचार कार्य का केन्द्र बनाया। आगे चलकर निम्बार्काचार्य का यह मत बहुत लोकप्रिय हुआ, और वैष्णव धर्म के इसी रूप का उत्तरी भारत मे विस्तृत रूप से प्रचार हुआ।

दक्षिणी भारत के लोगों ने किसी नये धर्म का प्रारम्भ नही किया था। उन्होंने आर्यों के उन्हीं धर्मों और दार्शनिक सम्प्रदायों को अपनाया था, जिनका प्रादुर्भाव उत्तरी भारत में हुआ था। पर उनके विकास में उन्होंने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। शैव और वैष्णव धर्मों का जो रूप आजकल विद्यमान है, उसके विकास में दक्षिणी भारत का बहुत महत्त्वपूर्ण कर्तृत्व है। इसी प्रकार षड्दर्शनो की जो विचार-परम्परा इस समय भारत मे प्रचलित है, उसके अनेक प्रसिद्ध आचार्य दक्षिणी भारत में ही उत्पन्न हुए थे।

कला—दक्षिणी भारत में कला के क्षेत्र में जो असाधारण उन्नति हुई, उसका निदर्शन पिछले अध्याय में किया जा चुका है। मन्दिर निर्माण की शैली दक्षिण में उत्तरी भारत से भिन्न है, पर जहाँ तक चित्रण कला और मूर्ति कला का सम्बन्ध है, उनके लिए दक्षिण में भी उन्ही देवी-देवताओं और पौराणिक गाथाओं का आश्रय लिया गया है, जिनका विकास आर्य जाति द्वारा किया गया था, और जो भारत मे सर्वत्र एकसदृश हैं।

भारतीय संस्कृति का विदेशों में प्रसार—बृहत्तर भारत के विकास के सम्बन्ध मे हम पहले लिख चुके हैं। दक्षिण-पूर्वी एशिया में भारतीय संस्कृति के प्रसार के लिए दक्षिणी भारत का कर्तृत्व बहुत महत्त्व का था। चोल राज्य के राजा बड़े प्रतापी थे, उन्होने अपनी सामुद्रिक सेना के उत्कर्ष पर विशेष रूप से ध्यान दिया था। चोल वंशी राजा राजराज प्रथम (९८५ ई०) ने न केवल सिंहल द्वीप पर आक्रमण किया था, अपितु लक्कदीव और मालदीव नामक द्वीपो की भी विजय की थी। उसके उत्तराधिकारी राजेन्द्र प्रथम (१०१२-१०४४) ने सिंहल द्वीप को जीतकर अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया था, और बंगाल की खाड़ी को पारकर पेगू (बरमा में) के राज्य की भी विजय की थी। चोल सम्राटों ने समुद्र पार के राज्यों को जीतकर उनपर भी

अपना शासन स्थापित किया था, और इस प्रकार इन क्षेत्रों में भारतीय संस्कृति के प्रसार के लिए अनुपम कार्य किया था। चोल राजा जो समुद्र पार अपनी शक्ति का उत्कर्ष कर सके, उसका कारण यही था कि दक्षिणी भारत के लोग बहुत प्राचीन काल जहाजों के निर्माण और समुद्रयात्रा में विशेष तत्परता प्रदर्शित किया करते थे। दक्षिण-पूर्वी एशिया के क्षेत्र में जो अनेक भारतीय उपनिवेश बसाये गये, उनमें दक्षिणी भारत का भी महत्त्वपूर्ण भाग था। भारतीय संस्कृति के विकास के लिए दक्षिण के लोगों का यह गौरवपूर्ण कार्य था।

(५) भारतीय संस्कृति को दक्षिणी भारत की देन

दक्षिणी भारत के द्रविडों के सम्पर्क में आकर आर्य जाति ने अपने धर्म और विचारो में अनेक नये तत्त्वों को प्राप्त किया था। जब किन्ही दो जातियों या संस्कृतियों का परस्पर सम्पर्क होता है, तो उनका प्रभाव एक-दूसरे पर अवश्य पड़ता है। प्राचीन वैदिक युग के आर्य जिन देवी-देवताओ की पूजा करते थे, बाद में उनका स्थान अन्य देवताओं ने ले लिया। ऋग्वेद के प्रधान देवता अग्नि, इन्द्र, मित्र और वरुण हैं। ऋग्वेद के बहुसंख्यक सूक्त इन्ही देवताओं की स्तुति में बनाये गये थे। पर बाद मे इन देवताओं का स्थान शिव और विष्णु ने ले लिया। विष्णु की पूजा भी राम और कृष्ण के रूप में की जाने लगी, जिन्हे विष्णु का अवतार माना जाता है। ऐतिहासिको का मत है कि आर्यों मे शिव की पूजा का जो महत्त्व बढा, वह द्रविड़ लोगों के प्रभाव का ही परिणाम था। सिन्धु घाटी के निवासी, जिन्हें अनेक ऐतिहासिक द्रविड जाति का ही मानते है, पशुपति शिव के पूजक थे। साथ ही, वे एक मातृ-देवता की भी पूजा करते थे, जिसे वे प्रकृति की प्रजनन शक्ति का प्रतीक मानते थे। प्राचीन तमिल साहित्य में शिव की पूजा का विशेष रूप से उल्लेख है। शिव की प्राचीनतम मूर्ति भी दक्षिणी भारत में ही पाई गई हैं। इन सब बातों को दृष्टि में रखकर ऐतिहासिको ने यह परिणाम निकाला है, कि अत्यन्त प्राचीन काल में द्रविड़ लोगों ने आर्यों के धर्म को विशेष रूप से प्रभावित किया था। प्रजनन शक्ति के प्रतीक योनि और लिंग की पूजा जो आर्यों मे प्रचलित हुई, और शिव को जो वे प्रधान देवता मानने लगे, वह द्रविड़ लोगों के सम्पर्क का ही परिणाम था। शिव के गणों के रूप में जिन विविध देवताओं की पूजा आर्यों में प्रारम्भ हुई, उसका कारण भी यही था कि भारत के मूल निवासी इन विविध देवी-देवताओं की पूजा किया करते थे। समन्वय की प्रवृत्ति के कारण आर्यों ने इनकी पूजा को भी अपने धर्म मे सम्मिलित कर लिया था।

केवल अत्यन्त प्राचीन काल में ही नहीं, अपितु बाद में भी दक्षिणी भारत ने भारतीय संस्कृति को अनेक प्रकार से प्रभावित किया। दक्षिण के द्रविड़ लोग आर्यों के धर्म को स्वीकार कर चुके थे। उनकी भाषा संस्कृत के पठन-पाठन को भी उन्होंने प्रारम्भ कर दिया था। संस्कृत ने उनकी द्रविड़ भाषाओं को भी प्रभावित किया था। एक प्रकार से द्रविड़ लोग आर्य संस्कृति के रंग में रंग गये थे। पर आर्यों की इस संस्कृति को भी दक्षिणी लोगों ने अनेक प्रकार से प्रभावित किया। भारतीय संस्कृति

पर दक्षिण के ये प्रभाव निम्नलिखित हैं—

(१) **भक्ति आन्दोलन**—अन्धक-वृष्णि संघ में वासुदेव कृष्ण ने जिस भागवत सम्प्रदाय का प्रारम्भ किया था, वह याज्ञिक कर्मकाण्ड की अपेक्षा विष्णु की भक्ति को अधिक महत्त्व देता था। वैदिक मर्यादा को कायम रखते हुए भागवत लोगों ने भारत के प्राचीन वैदिक धर्म में अनेक सुधार किये थे। बौद्धों और जैनों के समान भागवत लोग भी विष्णु या भगवान् के सगुणरूप को महत्त्व देते थे, और मन्दिरों में ईश्वर की प्रतिमा की प्रतिष्ठा कर उसकी पूजा किया करते थे। यद्यपि भक्ति-तत्त्व का प्रारम्भ उत्तरी भारत में भागवत लोगों द्वारा किया जा चुका था, पर दक्षिण के नायन्मार और आलवार भक्त संतों ने उस पर विशेष रूप से जोर दिया, और उनके आन्दोलनों के कारण भारत के धर्म में भक्ति-तत्त्व का विशेष रूप से विकास हुआ। इन सन्तों के सम्बन्ध में इसी अध्याय में ऊपर लिखा जा चुका है। भक्ति के इस आन्दोलन का प्रभाव केवल दक्षिणी भारत तक ही सीमित नहीं रहा, अपितु उत्तर में भी उसका प्रसार हुआ। पद्मपुराण में भक्ति के सम्बन्ध में लिखा है कि "उसका जन्म द्रविड़ देश में हुआ था, कर्णाटक में उसकी वृद्धि हुई, महाराष्ट्र में उसे स्थिति प्राप्त हुई और गुजरात में आकर वह बूढ़ी हो गई।" इससे स्पष्ट है, कि मध्यकालीन भारत में जो भक्ति आन्दोलन विशेष रूप से प्रचलित हुआ, उसका प्रारम्भ और विकास दक्षिणी भारत में ही हुआ था। वहीं से वह उत्तरी भारत में गया। वर्तमान समय के हिन्दू धर्म में कृष्ण की पूजा का बहुत महत्व है। कृष्ण राधा से प्रेम करते हैं, और गोपियों से घिरे रहते हैं। राधा के साथ कृष्ण की पूजा की जो परम्परा भारत में प्रारम्भ हुई, उसका सूत्रपात दक्षिणी भारत के ही एक आचार्य द्वारा किया गया, जिनका नाम निम्बार्काचार्य (बारहवीं सदी) था। उन्होंने वृन्दावन को केन्द्र बनाकर कृष्ण भक्ति के इस नये रूप का प्रचार किया।

वैष्णव सम्प्रदाय के समान शैव सम्प्रदाय को भी दक्षिणी भारत ने अनेक प्रकार से प्रभावित किया। नायन्मार भक्तों ने शैवों में भी भक्ति का सूत्रपात किया। उत्तरी भारत के शैव लोग योग-साधनाओं द्वारा सिद्धि प्राप्त करने को बहुत महत्त्व देते थे। दक्षिण के शैव नायन्मार सन्तों के कारण भक्ति-मार्ग के अनुयायी बन गये थे। दक्षिण में ही शैव धर्म के एक नये सम्प्रदाय का आरम्भ हुआ, जिसे वीर शैव या लिंगायत कहते हैं। इसका प्रारम्भ बारहवीं सदी में हुआ था, और इसका प्रवर्तक बासव नामक व्यक्ति था, जो कलचूरी वंश के राजा बिज्जल का प्रधानमंत्री था। वीर शैव सम्प्रदाय के अनुयायी सुधारवादी थे, और बाल-विवाह के विरोधी तथा विधवा-विवाह के समर्थक थे। कर्णाटक और महाराष्ट्र में इस धर्म का बहुत प्रचार हुआ। कर्णाटक के लोग अब तक भी इसके अनुयायी हैं।

(२) **दार्शनिक विचारधाराओं का विकास**—भारत में जो विविध दार्शनिक सम्प्रदाय प्रचलित हुए, उनका उल्लेख इस इतिहास में यथास्थान किया जा चुका है। छः आस्तिक (वेदों को प्रमाण रूप से स्वीकार करने वाले) दर्शनों के अतिरिक्त बौद्धों और जैनों ने भी अपने दर्शनों का विकास किया था। भारत के दार्शनिक सिद्धान्तों के विकास में दक्षिण के लोगों ने असाधारण कर्तृत्व प्रदर्शित किया। अद्वैतवाद के प्रबल

समर्थक शंकराचार्य दक्षिण में ही उत्पन्न हुए थे। विशिष्टाद्वैतवाद के प्रवर्त्तक रामानुजाचार्य और द्वैतवाद के प्रतिपादक मध्वाचार्य का जन्म भी दक्षिणी भारत में ही हुआ था। मीमांसा दर्शन द्वारा वैदिक कर्मकाण्ड का समर्थन करने वाले कुमारिल भट्ट भी दक्षिणी ही थे। वर्त्तमान समय में भारत में दर्शनो का जो पठन-पाठन प्रचलित है, उसमे इन दार्शनिक आचार्यों की कृतियों का बहुत सम्मानपूर्ण स्थान है। तर्क द्वारा बौद्धों और जैनों के सिद्धान्तो का खण्डन कर आस्तिकता की स्थापना में दक्षिण के आचार्यों ने बड़े महत्त्व का कार्य किया।

(३) **धार्मिक संगठन**—सघों की स्थापना कर बौद्धो और जैनो ने धार्मिक सगठन बनाने के कार्य मे अपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया था। बौद्धों का संघ 'चातुदिश' माना जाता था, और सर्वत्र भिक्षु-संघों और भिक्षुणी-संघों की सत्ता थी। जैनों ने भी अपने सघों व गणों का सगठन किया था, जिनमें जैन मुनि बडी संख्या मे निवास करते थे। वैदिक हिन्दू धर्म के अनुयायियो और उनके साधु सन्यासियो के कोई संगठन पहले विद्यमान नही थे। पर दक्षिण के धर्माचार्यों द्वारा हिन्दू धर्म के भी धार्मिक संगठन स्थापित किये गये। इस क्षेत्र मे शकराचार्य का कार्य बहुत अधिक महत्त्व का था। बौद्ध सघ के समान शंकर ने सन्यासियो के सघ सगठित किये, और इसके लिए चार केन्द्रों को चुना, जो उत्तर में बद्रीनाथ मे (हिमाचल क्षेत्र के उत्तराखण्ड में), पश्चिम मे द्वारिका मे, पूर्व मे पुरी मे और दक्षिण मे शृंगेरी मे है। इनमे शंकराचार्य ने अपने चार मठ स्थापित किये, जो उनके सिद्धान्तों के प्रचार और हिन्दू धर्म के पुनरुद्धार में बहुत सहायक हुए। हिन्दू धर्म के विविध सम्प्रदायो के मठो को सार्वभौम रूप से संगठित करने की परम्परा शंकराचार्य सदृश दक्षिणी आचार्यों द्वारा ही आरम्भ की गई। शंकर के समान रामानुजाचर्य और मध्वाचार्य आदि ने भी भारत के विविध प्रदेशों मे अपने मठ कायम किये, और यह प्रक्रिया मध्यकाल के सन्तों द्वारा भी जारी रही।

(४) **कला का विकास**—दक्षिणी भारत में मन्दिर निर्माण, मूर्तिकला और चित्रकला आदि के क्षेत्र मे जो असाधारण उन्नति हुई, उसका उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है। जिस प्रकार के विशाल गुहा मन्दिर दक्षिणी भारत मे बने, जिस प्रकार उन्हे सुन्दर चित्रो द्वारा अलंकृत किया गया, बडी-बडी चट्टानों को काटकर जिस प्रकार के विशाल मन्दिरों का निर्माण किया गया, जिस प्रकार विशालकाय मूर्तियाँ वहाँ बनाई गयी, वैसा उत्तरी भारत में नही हुआ। निःसन्देह, यह दक्षिण के लोगो की प्रतिभा का ही परिणाम था, कि उन्होने भारत की कला को विकसित करने मे इतना महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

दक्षिणी भारत के ये मन्दिर न केवल पूजा के लिए प्रयुक्त होते थे, अपितु साथ ही जनता के सार्वजनिक जीवन के भी वे केन्द्र होते थे। मन्दिरो के विशाल मण्डपों में सार्वजनिक सभाएँ, धार्मिक कीर्तन और कथा, नाटक आदि भी हुआ करते थे। मन्दिरों के साथ पाठशालाएँ भी होती थी, और बड़े मन्दिरों की इन पाठशालाओ ने तो विद्यापीठो का रूप भी प्राप्त किया हुआ था।

(५) **विदेशों के साथ सम्बन्ध**—पाश्चात्य देशो के साथ भारत का किस प्रकार घनिष्ठ सम्बन्ध प्राचीन काल में विद्यमान था, इस विषय पर पिछले एक अध्याय में

प्रकाश डाला जा चुका है। न केवल स्थल मार्ग से अपितु समुद्र के मार्ग से भी भारत के लोग दूर-दूर देशों में व्यापार, उपनिवेश-स्थापना और धर्म प्रचार के लिए आया-जाया करते थे। समुद्र मार्ग द्वारा भारत ने विदेशों के साथ जो सम्बन्ध स्थापित किया, उसका मुख्य श्रेय दक्षिणी भारत को ही है। रोमन साम्राज्य के साथ दक्षिणी भारत का जो व्यापार था, उसी के कारण मदुरा आदि दक्षिण के अनेक नगरों से रोमन सिक्के बहुत बड़ी संख्या मे वर्तमान समय में भी उपलब्ध हुए हैं। रोमन साम्राज्य में दक्षिणी भारत में उत्पन्न मिर्च मसालों और विविध प्रकार के रत्नों की बहुत मांग थी। पश्चिमी देशो के साथ दक्षिणी भारत का सम्बन्ध कितना घनिष्ठ था, इसका अनुमान अजन्ता की अन्यतम गुफा (संख्या १) में चित्रित उस चित्र से किया जा सकता है, जिसमें कि पर्शिया के राजा खुसरो द्वितीय और उसकी रानी शिरोन का चित्र अंकित किया गया है। इसी गुफा के एक अन्य चित्र में पर्शिया के राजा द्वारा चालुक्य राजा पुलकेशी द्वितीय की सेवा में भेजे गये दूत-मण्डल का चित्र चित्रित है। अरब, पर्शिया आदि पश्चिमी देशों मे भारत के ज्ञान-विज्ञान का जो प्रवेश हुआ, उसमें भी दक्षिणी भारत के लोगों का बहुत कर्तृत्व था।

दक्षिण-पूर्वी एशिया में भारतीय संस्कृति और धर्म का जो प्रचार हुआ, और वहां जो अनेक उपनिवेश भारतीयो ने बसाये, उनमें भी दक्षिणी भारत के लोगो ने महत्त्वपूर्ण भाग लिया था। दक्षिण के लिए यह स्वाभाविक भी था, क्योकि वहाँ के राजा अपनी सामुद्रिक शक्ति के लिए भी प्रयत्नशील रहते थे। काँची के पल्लव वंश के राजाओ का दक्षिण-पूर्वी एशिया के कम्बुज, चम्पा आदि राज्यो के साथ घनिष्ट सम्बन्ध था। इन राज्यो मे भी शैव धर्म का प्रचार था, और यह शैव धर्म प्राय: उसी ढंग का था, जैसा कि दक्षिणी भारत में प्रचलित था। कम्बुज और चम्पा मे उपलब्ध संस्कृत शिलालेख उसी लिपि में उत्कीर्ण है, जिसमे कि काँची के पल्लव राजाओ के लेख हैं। इनकी वास्तुकला भी पल्लवों की कला से मिलती-जुलती हैं। इनमें मन्दिरों, राजप्रासादों और मूर्तियो के जो भी अवशेष मिले है, वे दक्षिणी भारत की शैली के अनुसार ही निर्मित हैं। इसी प्रकार सुमात्रा, जावा और मलाया के शैलेन्द्र साम्राज्य के सम्राटो का भी दक्षिणी भारत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था, और वे अपनी सांस्कृतिक प्रेरणा वही से प्राप्त करते थे। उनके संस्कृत शिलालेखो की लिपि भी वही है, जो प्राचीन काल मे दक्षिणी भारत मे प्रयुक्त होती थी। इसमें सन्देह नही, कि विदेशों में भारतीय संस्कृति के प्रसार और उनके साथ सम्बन्ध विकसित करने के कार्य में दक्षिणी भारत की देन बहुत ही महत्त्व की है।

इक्कीसवाँ अध्याय

भारत में इस्लाम का प्रवेश

(१) अरबों का आक्रमण

सातवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में जब उत्तरी भारत मे सम्राट् हर्षवर्धन का शासन था, अरब के इतिहास मे एक नये युग का प्रारम्भ हो रहा था। अरब के इस नवयुग के प्रवर्तक हजरत मुहम्मद थे। वे केवल धर्म-सुधारक ही नही थे, अपितु अरब के राष्ट्रीय नेता भी थे। उन्होने अरब को एक राष्ट्र के रूप में संगठित किया। अपने जीवनकाल (५७०–६३२ ई०) मे मुहम्मद ने अरब में राष्ट्रीय एकता स्थापित कर दी थी, और उनके उत्तराधिकारी खलीफाओ के समय में अरब की शक्ति पश्चिम में अटलाटिक सागर तक और पूर्व मे सिन्ध नदी और पामीर की पर्वतमाला तक विस्तृत हो गयी थी। अरब का यह आकस्मिक उत्कर्ष संसार के इतिहास मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। मुहम्मद की मृत्यु के केवल दो साल बाद ६३४ ईस्वी मे अरब सेनाओं ने पूर्वी रोमन साम्राज्य को बुरी तरह से परास्त किया, और पश्चिमी एशिया के सीरिया, दमास्कस, जैरुसलम आदि प्रदेशों पर खलीफाओ का आधिपत्य स्थापित हो गया। ६३७ ईस्वी में अरबो ने ईरान के सुविस्तृत साम्राज्य को परास्त किया, और शीघ्र ही उत्तर-पूर्व की ओर बढ़ते-बढ़ते वे चीन की सीमा तक पहुँच गये। सातवीं सदी के उत्तरार्ध में उन्होंने पश्चिम मे दूर-दूर तक विजय की। मिस्र पर कब्जा कर उन्होंने एलेग्जेण्ड्रिया के सुविख्यात पुस्तकालय का ध्वंस किया, और सम्पूर्ण उत्तरी अफ्रीका को जीतते हुए वे जिबराल्टर के जलडमरू-मध्य को पार कर स्पेन पहुँच गये। स्पेन उनके सम्मुख नही टिक सका, और अरब की सेनाएँ पिरेनीज की पर्वतमाला तक जा पहुँची। आठवी सदी के प्रारम्भ तक यह दशा आ गई थी, कि पिरेनीज की पर्वत-माला से पामीर की पर्वतमाला तक सुविस्तीर्ण भूखण्ड पर अरबों का आधिपत्य था।

सिन्ध की विजय—अरब-साम्राज्य की शक्ति की यह दशा थी, जब कि ७१२ ईस्वी में खलीफा के अन्यतम सेनापति मुहम्मद बिन कासिम ने भारत पर आक्रमण किया। सिन्ध में उस समय कोई ऐसा एक शक्तिशाली राजा नही था, जो विश्वविजयी अरब सेनाओं का सफलतापूर्वक मुकाबला कर सकता। सिन्ध के छोटे-छोटे राजा अरबों से परास्त हो गये, और भारत के इस प्रदेश पर मुहम्मद बिन कासिम का आधिपत्य स्थापित हो गया। यह बात वस्तुतः महत्त्व की है, कि इस समय अरब सेनाएँ सिन्ध से आगे बढ़कर भारत के अन्य प्रदेशों को अपनी अधीनता मे नहीं ला सकीं। खलीफा की ओर से जो शासक सिन्ध में नियुक्त थे, उनका यह निरन्तर प्रयत्न रहा कि वे भारत में और आगे बढकर अपनी शक्ति का विस्तार करें। पर गुर्जर-प्रतीहार और चालुक्य राजाओं ने अरब सेनाओं का मुकाबला करने में अद्भुत पराक्रम प्रदर्शित किया। अरब

लोग जो मुलतान और सिन्ध से आगे नही बढ सके, उसका एकमात्र कारण इस युग के भारत के राजवंशों की सैन्यशक्ति ही थी।

अरबों का शासन—भारत के राजनीतिक इतिहास में अरब आक्रमण का अधिक महत्त्व नही है, क्योंकि इससे इस देश के इतिहास की मुख्य धारा में कोई विशेष परिवर्तन नही हुआ था। पर सिन्ध और मुलतान के जिन प्रदेशो पर आठवी सदी में अरब लोग अपना शासन स्थापित करने मे समर्थ हुए, उनमें उनके शासन का क्या स्वरूप था, यह बात महत्त्व की है—

(१) अरब-विजेताओ ने हिन्दुओं के धर्म मन्दिरो को नष्ट करने और उनमें संचित सम्पत्ति को लूटने मे जरा भी संकोच नही किया। धार्मिक दृष्टि से अरब लोग असहिष्णु थे, और काफिर हिन्दुओ के धर्म को सहन कर सकना उनके लिए सुगम नहीं था। इसीलिए उन्होंने हिन्दुओ पर अत्याचार किये।

(२) पर्शिया आदि जिन अन्य देशो पर अरबों ने आक्रमण किया था, इस्लाम के मुकाबले मे वहाँ के लोग अपने धर्म की रक्षा करने मे असमर्थ रहे थे। जिस प्रकार सूखे जंगल में दावानल बात की बात मे फैल जाता है, वैसे ही मिस्र, ईरान आदि देशो में इस्लाम का प्रसार हो गया था। इन देशों के पुराने धर्मों मे इतनी शक्ति नही थी, कि वे इस्लाम के विरुद्ध अपनी रक्षा कर सकते। पर सिन्ध और मुलतान के हिन्दू अरबो द्वारा आक्रान्त होने पर अपने धर्म की रक्षा करने मे समर्थ रहे। मुसलिम धर्म को न अपनाने के कारण उन्हें जजिया कर देना पडता था। जो कोई मनुष्य इस्लाम को अपना ले, उसे जजिया देने की आवश्यकता नही होती थी। हिन्दुओं और मुसलमानो के पारस्परिक मुकदमो का फैसला मुसलिम-कानून के अनुसार काजी लोगो द्वारा किया जाता था, जिसके कारण हिन्दू सदा नुकसान में रहते थे। पर फिर भी सिन्ध और मुलतान के लाखो हिन्दू जो अपने धर्म पर दृढ रहे, यह उनकी जीवनी-शक्ति और धर्म-प्रेम का परिचायक है।

(३) सिन्ध और मुलतान की विजय के कारण अरब लोगो का आधिपत्य ऐसे प्रदेशो पर स्थापित हो गया था, जिनके निवासी सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र मे अपने शासकों की अपेक्षा अधिक उन्नत थे। इसी कारण अरबो ने अपने शासन में ब्राह्मण कर्मचारियो को प्रथम स्थान दिया, और उन्ही की सहायता और सहयोग से वे शासन-कार्य मे सफल हो सके।

भारत से सम्पर्क का परिणाम—सिन्ध और मुलतान की विजय से अरब के खलीफाओ का सम्पर्क एक ऐसी जाति से हो गया था, जो उस युग मे ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र मे शिरोमणि थी। दर्शन, गणित, ज्योतिष, चिकित्सा-शास्त्र, अध्यात्मचिन्तन आदि सभी विषयों मे आठवी सदी के भारतीय अरबो की अपेक्षा बहुत अधिक उन्नत थे। अरबों ने शीघ्र ही इस तथ्य को अनुभव कर लिया, और बगदाद के खलीफाओं ने भारत के इस ज्ञान से लाभ उठाने का पूरा प्रयत्न किया। खलीफा मन्सूर (७५३—७७४ ई०) ने भारत से अनेक विद्वानों और ज्योतिषियो को बगदाद बुलाया, और उनकी सहायता से ब्रह्मगुप्त आदि विद्वानों के अनेक ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद कराया। खलीफा हारूँ रसीद (७८६—८०९ ई०) के शासन-काल में बहुत-से भारतीय गणितज्ञ,

ज्योतिषी और वैद्य बगदाद बुलाये गये, और बहुत-से भारतीय ग्रन्थो को अरबी-भाषा मे अनूदित किया गया। खलीफा हारूं रशीद के दरबार में बरमक नामक वजीर खानदान का बहुत प्रभाव था। इस खानदान के लोग बल्ख के निवासी थे, और उनके पुरखा वहाँ के बौद्ध विहार के पदाधिकारी रह चुके थे। यद्यपि अब उन्होने इस्लाम को स्वीकार कर लिया था, पर मध्य एशिया और भारत के बौद्ध व अन्य विद्वानो मे उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। इसीलिए उन्होंने भारत के अनेक विद्वानो को बगदाद में निमंत्रित किया, और उन्हें सम्मानपूर्ण पद प्रदान किये। अरब के इतिहास की दृष्टि से यह बात बहुत अधिक महत्त्व की थी। इस युग मे अरबों में अनुपम जीवनी शक्ति थी। भारत से गणित, ज्योतिष और चिकित्साशास्त्र का ज्ञान प्राप्त कर उन्होंने इन विषयो मे अद्भुत उन्नति की। प्रसिद्ध ऐतिहासिक एच० जी० वेल्स के अनुसार मध्य-युग मे जब यूरोप मे सर्वत्र अविद्यान्धकार छाया हुआ था, ज्ञान का दीपक केवल अरब मे ही प्रकाश कर रहा था। अरब में ज्ञान का जो यह दीपक प्रकाशित हुआ, उसका प्रधान कारण उसका भारत के साथ सम्पर्क ही था। गणित, ज्योतिष आदि का जो ज्ञान अरबों ने भारत से प्राप्त किया, उसे अरबों मे यूरोपियन लोगो ने सीखा। मध्य-युग के अन्त मे यूरोप मे जो विद्या का पुन.जागरण हुआ, उसमे सिसली, स्पेन और दक्षिणी इटली का अरबो से घनिष्ठ सम्पर्क एक महत्त्वपूर्ण कारण था।

अरब-शक्ति का ह्रास— आठवी सदी के प्रारम्भ मे सिन्ध और मुलतान के प्रदेश विशाल अरब साम्राज्य की अधीनता मे आ गये थे। पर गुर्जर-प्रतीहार राजा नागभट्ट के पराक्रम के कारण अरब लोग भारत मे अधिक आगे नही बढ सके। ८८४ ईस्वी मे सिन्ध के अरब शासक इम्रां बिन मूसा ने एक बार फिर भारत विजय का प्रयत्न किया, और दक्षिण-पूर्व मे कच्छ के ऊपर आक्रमण किया। पर कन्नौज के प्रतापी गुर्जरप्रतीहार सम्राट् मिहिरभोज ने उसे परास्त कर अरबो की महत्त्वाकाक्षाओ का सदा के लिए अन्त कर दिया। इस बीच मे अरब की खलीफत में भी निर्बलता आनी शुरू हो गई थी, और खलीफाओ के लिए यह सम्भव नही रह गया था, कि वे अपने साम्राज्य के सुदूरवर्ती भारतीय प्रदेशो पर अपना नियन्त्रण रख सके। परिणाम यह हुआ, कि सिन्ध और मुलतान के प्रदेशों में विविध अरब शासक स्वतन्त्र हो गये और पारस्परिक संघर्ष मे अपनी शक्ति को क्षीण करने लगे। दसवी सदी के अन्त में जब तुर्कों ने भारत पर आक्रमण शुरू किये, सिन्ध और मुलतान के अरब-शासकों की स्थिति छोटे-छोटे स्थानीय राजाओ (अमीरो) की रह गयी थी, और भारत के राजनीतिक जीवन मे उनका कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नही था।

(२) तुर्कों के आक्रमण

सातवीं-आठवी सदियों में अरबों ने जिस विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, धीरे-धीरे उसमे क्षीणता के चिह्न प्रगट होने लग गये थे। जिस प्रकार विशाल गुप्त-साम्राज्य हूणों के आक्रमणों का मुकाबला करते-करते क्षीण हो गया था, वैसे ही सुविस्तीर्ण अरब-साम्राज्य पर भी उत्तर और पूर्व की ओर से निरन्तर आक्रमण होते रहते थे, और उनसे अपनी रक्षा करने मे अरब लोग अपने को असमर्थ पाते थे। दसवीं

सदी में अरब साम्राज्य खण्ड-खण्ड होना शुरू हुआ, और उसके भग्नावशेषों पर अनेक नये राज्य कायम हुए। इन राज्यों में तुर्कों द्वारा स्थापित गजनी के राज्य का भारतीय इतिहास के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। तुर्क लोग अरबों के मुकाबले में असभ्य थे। इसी कारण अरबों के सम्पर्क में आकर उन्होंने उनके धर्म और संस्कृति को अपना लिया था। गजनी के तुर्क-राज्य का संस्थापक अलप्तगीन था, और उसने दसवीं सदी के मध्य भाग मे अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की थी। अलप्तगीन के बाद उसका पुत्र सुबुक्तगीन (९७७ ई० प०) गजनी का राजा बना। उसने अपने तुर्क-राज्य के उत्कर्ष के लिए भारत पर अनेक आक्रमण किये। इस समय उत्तर-पश्चिमी भारत जयपाल नामक राजा के शासन में था, जिसकी राजधानी सिन्ध नदी के तट पर स्थित ओहिन्द नगरी थी। जयपाल हिन्दूसाही वंश का था, और वर्तमान समय के अफगानिस्तान के भी कतिपय प्रदेश (प्राचीन पश्चिमी-गान्धार जनपद) उसके राज्य के अन्तर्गत थे। तुर्क-आक्रान्ता का मुकाबला करने के लिए जयपाल ने अन्य भारतीय राजाओं की भी सहायता प्राप्त की। खुर्रम नदी के तट पर तुर्क और भारतीय सेनाओं में युद्ध हुआ, जिसमें सुबुक्तगीन की विजय हुई। इस विजय के कारण सिन्ध नदी के पश्चिम के उत्तर-पश्चिमी भारत पर तुर्कों का अधिकार स्थापित हो गया।

महमूद गजनवी—९९७ ईस्वी मे सुबुक्तगीन की मृत्यु के बाद महमूद गजनी का सुलतान बना। उसने गजनी के तुर्क साम्राज्य को उत्कर्ष की चरम सीमा तक पहुँचा दिया, और अपने राज्य का विस्तार करते हुए भारत पर कई बार आक्रमण किये। दक्षिण-पश्चिम में काठियावाड़ तक और पूर्व में मथुरा और कन्नौज तक महमूद ने विजययात्राएँ की, और उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त, पश्चिमी पंजाब और सिन्ध अब मुसलिम शासकों की अधीनता में चले गये। महमूद के उत्तराधिकारी निर्बल थे। उनके शासनकाल में गजनी का साम्राज्य क्षीण होना शुरू हो गया, और तुर्कों के लिए यह सम्भव नही हुआ, कि वे पश्चिमी पंजाब से आगे बढकर भारत में अपनी शक्ति का विस्तार कर सकें।

ग्यारहवीं सदी के शुरू में महमूद गजनवी ने भारत पर आक्रमण किये थे। इसके बाद लगभग दो सदी तक भारत पर किसी विदेशी आक्रान्ता ने आक्रमण नही किया। बारहवी सदी के अन्त (११९१ ईस्वी) में एक बार फिर अफगानिस्तान के क्षेत्र से मुसलमानों ने भारत पर हमले शुरू किये, और शहाबुद्दीन गौरी ने उत्तरी भारत के अच्छे बड़े प्रदेशों को जीतकर अफगान सल्तनत की नीव डाली। पर लगभग दो सौ साल तक भारत इस्लाम के आक्रमणो से बचा रहा।

(३) इस्लाम का हिन्दू-जाति से प्रथम सम्पर्क

विदेशी तथा विधर्मी लोगों का आक्रमण भारत के लिए कोई नयी बात नहीं थी। अरबों और तुर्कों से पहले भी अनेक विदेशी जातियों ने विजेता के रूप में भारत में प्रवेश किया था। यवन (ग्रीक), शक, युइशि, पार्थियन, कुशाण, हूण आदि कितनी ही जातियों ने भारत के अनेक प्रदेशों की विजय कर वहाँ अपने राज्य स्थापित किये थे। राजनीतिक दृष्टि से ये जातियाँ चाहे विजयी रही हों, पर धर्म, सभ्यता और

संस्कृति के क्षेत्र में ये भारतीयों द्वारा परास्त हो गई थीं। अनेक यवन राजाओं ने भारत के सम्पर्क में आकर बौद्ध, शैव व वैष्णव धर्मों को अपना लिया था। शक, युइशि, हूण आदि भारत में आकर पूर्णरूप से भारतीय बन गये थे। बहुत पुराने समय से भारत में 'व्रात्यस्तोम' यज्ञ की परिपाटी थी, जिससे इन सब व्रात्य जातियों को आर्यों ने अपने धर्म व समाज में सम्मिलित कर लिया था, और भारत में बस जाने के बार ये जातियाँ इस देश के लिए विदेशी नहीं रहीं। इन्होंने यहाँ की भाषा, धर्म, साहित्य और संस्कृति को पूरी तरह से अपना लिया था।

भारत के इतिहास में यह पहला अवसर था, जबकि अरब और तुर्क लोग भारत में प्रविष्ट होने के बाद भी इस देश के समाज का अंग नहीं बन सके। साथ ही, यह बात भी ध्यान देने योग्य है, कि अरब और तुर्क लोगों को भी हिन्दुओं को अपने रंग में रंग सकने में वह सफलता नही हुई, जो उन्हें अन्य देशों में हुई थी। अरब साम्राज्य के उत्कर्ष काल मे जहाँ कही भी अरबो का आधिपत्य स्थापित हुआ, वहाँ की जनता ने पूर्णरूप से अरब के धर्म, सभ्यता और संस्कृति को अपना लिया। प्राचीन मिस्र की यूनानी संस्कृति और प्राचीन ईरान की अपनी उच्च सस्कृति मुसलिम अरबो के सामने नही टिक सकी। पर भारत में मुसलमानों को वह सफलता नही मिली, जो उन्हें मिस्र और ईरान में प्राप्त हुई थी। इस स्थिति के क्या कारण थे ?

(१) इस युग में इस्लाम मे अद्‌भुत जीवनी शक्ति थी। वह एक नई महत्त्वाकांक्षा को लेकर अपनी शक्ति के विस्तार में तत्पर था। मुसलमानों से पूर्व यवन, शक, कुशाण, हूण आदि जिन जातियों ने भारत में प्रवेश किया था, वे किसी ऐसे जीवनपूर्ण धर्म की अनुयायी नही थी, जो अपने को अन्य सब धर्मों की अपेक्षा उत्कृष्ट समझता हो। मुसलमान एक ईश्वर मे विश्वास रखते थे, मूर्ति-पूजा से उन्हें उत्कष्ट घृणा थी, मूर्तियों का भंजन करने मे वे गौरव अनुभव करते थे। इस युग के मुसलमान धर्मों के समन्वय और सामंजस्य को महत्त्व नही देते थे। इस्लाम का प्रयत्न था, कि वह सम्पूर्ण विश्व को आत्मसात् कर ले। उसकी दृष्टि में सब मनुष्य एक बराबर थे, बशर्ते कि वे इस्लाम को स्वीकार कर लें। मुसलमान बन जाने के बाद ऊँच-नीच, छूत-अछूत और स्वामी-दास का भेद-भाव नही रह जाता था। भारत के जाति-भेद-प्रधान हिन्दू-धर्म के मुकाबले में इस्लाम की यह विशेषता बड़े महत्त्व की थी। इस देश के शूद्रों और अन्य नीच समझे जाने वाले लोगों के लिए अपनी स्थिति को ऊँचा बनाने का यह अनुपम अवसर था। हिन्दू धर्म का परित्याग कर इस्लाम को स्वीकार कर लेने मात्र से वे शूद्र या अछूत की हीन स्थिति से ऊँचा उठाकर शसक श्रेणी मे सम्मिलित हो सकते थे। इस कारण मुसलमानों को भारत मे अपने धर्म के प्रसार का अच्छा अवसर प्राप्त था। वे क्यों अपने धर्म को छोड़कर शैव, वैष्णव या बौद्ध धर्म को अपनाते ? इसमे सन्देह नही, कि इस युग के हिन्दू धर्म में सामंजस्य व समन्वय की प्रवृत्ति विद्यमान थी। उनके लिए यह स्वाभाविक था, कि वे अरबों और तुर्कों के 'अल्लाह' को भी विष्णु व शिव का ही रूप मान लेते, और रसूल मुहम्मद को भी कृष्ण तथा बुद्ध के समान ईश्वर का अन्यतम अवतार। 'अल्लोपनिषद्' की रचना इसी प्रवृत्ति का परिणाम थी। पर इस्लाम का अल्लाह 'लाशरीक' था, और शिरकत को मुसलमान लोग बहुत

बड़ा कुफ्र समझते थे। इस दशा मे यह कैसे सम्भव था, कि विश्व भर को अपने दायरे में ले आने के लिए उत्सुक मुसलमान हिन्दू धर्म मे अपने को विलीन कर सकते।

(२) जहाँ एक ओर इस्लाम मे अपूर्व जीवनी शक्ति थी, वहाँ दूसरी ओर हिन्दू-धर्म में क्षीणता आ गयी थी। वज्रयान, वाममार्ग आदि सम्प्रदायो के विकास के कारण भारत के धर्मों का स्वरूप इस प्रकार का हो गया था, कि उनमे लोकहित और मानव-कल्याण की भावना का अन्त होकर गुह्य सिद्धियों की प्राप्ति की उत्कण्ठा प्रबल हो गयी थी। धर्म का सामूहिक प्रयोजन भी कुछ है, यह विचार इस युग के भारतीय धर्मों मे बहुत क्षीण हो गया था। जाति-भेद के विकास के कारण इस देश का जनसमाज बहुत-से छोटे-छोटे विभागो मे विभक्त हो गया था। जब भारत के उच्च वर्ग के लोग अपने धर्म के अनुयायी निम्न वर्ग के लोगो से ही पृथक्त्व अनुभव करते थे, तो उनसे यह आशा कैसे की जा सकती थी, कि वे मुसलमानों को अपने समाज का अग बना सकें। किसी समय भारत के धर्मों में भी पतितपावनी शक्ति विद्यमान थी। भगवान् विष्णु के स्मरण व पूजा से शक, यवन, हूण आदि 'पापयोनि' जातियाँ प्राचीन समय मे अपने को पवित्र कर सकती थी। पर विष्णु की यह पावनी शक्ति इस युग के वैष्णवों की दृष्टि मे लुप्त हो चुकी थी। धर्म के 'लोकहितकारक' क्रियात्मक रूप को आँखों से ओझल कर हिन्दू धर्म के नेता इस समय या तो गुह्य सिद्धियो की साधना मे तत्पर थे, और या यथार्थ ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त करने और भक्ति द्वारा भगवान् को रिझाने में प्रयत्नशील थे। कुछ विचारको ने इस समय शुद्धि द्वारा तुर्कों को आत्मसात् करने का प्रयत्न भी किया। पर इस प्रयत्न के पीछे वह प्रेरणा नही थी, जो विदेशी व विधर्मी लोगो को अपना अङ्ग बना लेती है। अरबों और तुर्कों के रूप में जो नयी 'व्रात्य' या 'पापयोनि' जातियाँ इस समय भारत में प्रविष्ट हुई थी, उन्हे अपने में लीन कर सकने में हिन्दू जाति असमर्थ रही।

जो बात धर्म के सम्बन्ध में हुई, वही भाषा और संस्कृति के क्षेत्र में भी हुई। जब तुर्कों ने शुरू मे भारत पर आक्रमण किया, तो उन्हें यह आवश्यकता अनुभव हुई, कि अपने सिक्कों पर वे संस्कृत-भाषा का प्रयोग करें। वे यह आशा नही करते थे, कि किसी विदेशी भाषा के सहारे वे भारत में अपने शासन को चला सकेंगे। महमूद गजनवी के चाँदी के सिक्कों पर यह लेख पाया जाता है—"अव्यक्तमेकं मुहम्मद अवतार नृपति महमूद अय टंको महमूदपुरे घटे हतो जिनायन संवत्" इसका अर्थ है "एक अव्यक्त (ला इला इल्लिल्लाह) मुहम्मद अवतार (मुहम्मद रसूल इल्लाह) राजा महमूद, यह टंका महमूदपुर की टकसाल में पीटकर बनाया गया, जिन (हजरत) के अयन (भागने-हिजरत) का संवत्।" केवल महमूद ने ही नहीं, अपितु अफगान सुलतानों ने भी शुरू में अपने सिक्कों पर संस्कृत-भाषा का प्रयोग किया था। ऐसे एक टंके पर 'स्री महमूद साम' नागरी अक्षरों में अंकित है, और साथ में बैठे हुए नन्दी की प्रतिमा है। अफगान-युग के एक अन्य टंके पर लक्ष्मी की मूर्ति के साथ 'श्रीमद मीर मुहम्मद साम' शब्द अंकित है। पर मुसलिम शासकों की यह प्रवृत्ति देर तक कायम नही रही। शीघ्र ही, उन्होंने अपने सिक्कों पर से या शासन-सम्बन्धी अन्य कार्यों से संस्कृत-भाषा और देव-नागरी लिपि को दूर कर दिया। वे हिन्दुओं के साथ किसी भी प्रकार की एकता

स्थापित कर सकने में असमर्थ रहे। उन्होने पर्शियन भाषा और पर्शियन लिपि का भारत में उपयोग किया, और हिन्दुओं व मुसलमानों की दुनिया एक दूसरे से सर्वथा पृथक् होती गयी। भारत के इतिहास में यह बात बहुत महत्त्व की है। इसी कारण जब बारहवी सदी के अन्त मे अफगान-आक्रान्ताओ ने भारत के अच्छे बड़े भाग को जीतकर अपने अधीन कर लिया, तो इस देश के लिए उनका शासन विदेशी शासन के सदृश था। दिल्ली के अफगान सुलतान अपने शासन के लिए या तो अपने सजातीय सरदारों और सैनिकों पर निर्भर करते थे, और या उन भारतीयों पर, जिन्होने कि इस्लाम को स्वीकार कर लिया था। मुगल बादशाहों में न केवल अकबर और जहाँगीर की, अपितु औरंगजेब तक की शक्ति का मुख्य आधार राजपूत सैनिक थे, जो हिन्दू-धर्म का दृढ़तापूर्वक अनुसरण करते थे। पर अफगान युग में यह बात नही थी। इस काल में मुसलमानो की एक पृथक् श्रेणी थी, जो अपने धर्म, भाषा और संस्कृति को दृढ़ता-पूर्वक पकड़े हुए थी, और जिसका इस देश की सर्वसाधारण जनता के साथ कोई विशेष सम्पर्क नही था। पर यह बात भी असम्भव थी, कि भारत मे स्थिर रूप से बस जाने के बाद भी तुर्कों और अफगानों पर इस देश की सभ्यता और संस्कृति का कोई असर न पडता, या इस्लाम के रूप मे जो एक नया धर्म इस देश में प्रविष्ट हुआ था, वह भारत के जीवन और विचार-प्रवाह को प्रभावित किए बिना रह जाता। मुसलमानों और हिन्दुओं के इस सम्पर्क द्वारा क्या परिणाम उत्पन्न हुए, इस प्रश्न पर हम अगले एक अध्याय मे विशद रूप से विचार करेंगे। पर पहले यह आवश्यक है, कि भारत में मुसलिम शासन के स्थिर रूप से स्थापित होने के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश डाला जाए, क्योंकि अरबों और तुर्कों के आक्रमणो के बाद भी इस देश की राजशक्ति मुसलमानों के हाथों में नही चली गयी थी। ग्यारहवी और बारहवी सदियों मे भारत का बहुत बडा भाग मुसलिम आधिपत्य से मुक्त था, और इस देश की प्रधान राजशक्ति उन राजपूत राजवशों के हाथों मे थी, जो विविध प्रदेशों मे पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ शासन करते हुए अपने-अपने उत्कर्ष के लिए प्रयत्नशील रहते थे।

(४) तुर्क-अफगान सल्तनत की स्थापना

तुर्क सुलतान महमूद ने गजनी को राजधानी बनाकर जिस विशाल व वैभव-पूर्ण साम्राज्य की स्थापना की थी, उसे उसके निर्बल उत्तराधिकारी सुव्यवस्थित रूप से कायम रख सकने में असमर्थ रहे थे। गजनी के उत्तर मे एक छोटा-सा राज्य था, जिसे गोर कहते थे। तुर्क सुलतानों की निर्बलता से लाभ उठाकर ११५० ई० में गोरी के अफगान सरदार अलाउद्दीन ने अपने को स्वतन्त्र कर लिया, और अवसर पाकर गजनी को भी जीत लिया। गजनी का शासन करने के लिए उसने अपने भाई शहाबुद्दीन गोरी को नियत किया, जो बाद में वहाँ का स्वतन्त्र सुलतान बन गया। शहाबुद्दीन गोरी ने पहले उत्तर-पश्चिमी भारत से तुर्कों के शासन का अन्त किया, और फिर पजाब से आगे बढ़ दिल्ली और कन्नौज के चौहान और गहड्वाल राजाओं को परास्त करने मे समर्थ हुआ। यह प्रथम अवसर था, जब इस्लाम के अनुयायी विदेशी आक्रान्ता ठेठ

उत्तरी भारत को अपने आधिपत्य में लाने में समर्थ हुए थे। कन्नौज की पराजय से काशी तक के प्रदेश पर शहाबुद्दीन गोरी का अधिकार हो गया था।

शहाबुद्दीन गोरी ने भारत के अपने 'विजित' प्रदेश का शासन करने के लिए अपने अन्यतम सेनापति कुतुबुद्दीन ऐबक को नियत किया, जो १२०६ में दिल्ली में स्वतन्त्र रूप से राज्य करने लगा। पर अफगानों की भारत-विजय कन्नौज और काशी को अधिकृत कर लेने के साथ ही समाप्त नही हो गयी थी। ११६७ ईस्वी में अन्यतम अफगान सेनापति मुहम्मद बिन बख्त्यार खिलजी ने काशी से आगे बढकर मगध और बंगाल पर आक्रमण किया, और इनके निर्बल राजा मुसलिम आक्रान्ताओं से अपने राज्यों की रक्षा कर सकने मे असमर्थ रहे। मगध और बंगाल के समान बुन्देलखण्ड पर भी १२०३ मे आक्रमण किया गया, और कालिन्जर के सुदृढ दुर्ग को जीत कर इस प्रदेश को भी अफगान-सल्तनत मे शामिल कर लिया गया।

१२०६ में जब कुतुबुद्दीन दिल्ली के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ, तो प्रायः सम्पूर्ण उत्तरी भारत अफगानों के आधिपत्य में आ चुका था। १२०६ से १५२५ तक तीन सदी से भी अधिक समय तक भारत में तुर्क-अफगानो का शासन रहा।

भारतीय इतिहास के इस अफगान-युग को दो भागो में विभक्त किया जा सकता है। पहला भाग १२१० से १३५० तक था, जबकि दिल्ली के सुलतान भारत के विविध प्रदेशों की विजय में तत्पर रहे। इस युग के सुलतानो की यह आकाक्षा थी, कि वे दूर-दूर तक विजय यात्राएँ कर अपने साम्राज्य का विस्तार करें, और विजित नगरों को लूटकर अपने राज्यकोष को पूर्ण करें। देवगिरि, वारङ्गल आदि से लूटे हुए धन से दिल्ली का राजकोष परिपूर्ण हो गया था, और सुलतान व उनके दरबारी इस धन को भोग-विलास मे स्वेच्छापूर्वक उडा सकते थे। १३५० के लगभग अफगान-युग के द्वितीय भाग का प्रारम्भ हुआ, जबकि दिल्ली की सल्तनत के अनेक प्रान्तीय शासकों ने विद्रोह कर अपने स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना कर ली।

पन्द्रहवी सदी के शुरू में भारत की राजशक्ति का जो स्वरूप विकसित हो गया था, उसे सक्षेप में इस प्रकार सूचित किया जा सकता है, कि दिल्ली के अफगान सुलतानो की शक्ति बहुत क्षीण हो गयी थी, और उनकी स्थिति उनकी अधीनता से मुक्त हुए बहमनी राज्य, गुजरात व मालवा के मुसलिम शासकों के मुकाबले में बहुत कम थी। दिल्ली के सुलतानों की अपेक्षा बंगाल, जौनपुर, माण्डू, अहमदाबाद और दौलताबाद के सुलतान अधिक शक्तिशाली और वैभवपूर्ण थे। इन विविध मुसलिम राजशक्तियों के अतिरिक्त सुदूर दक्षिण के विजयनगर राज्य और राजपूताना के विविध राजपूत राज्यों का इस युग मे निरन्तर उत्कर्ष हो रहा था, और मेवाड़ के राणा उत्तरी भारत के किसी भी मुसलिम सुलतान की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली थे। गुजरात और मालवा के मुसलिम सुलतानो के साथ निरन्तर संघर्ष कर मेवाड के राणाओं ने अपनी शक्ति को बहुत बडा लिया था। सोलहवीं सदी के पूर्वार्ध में मुगलों ने भारत में अपने विशाल साम्राज्य की स्थापना की, और मुगलों के साथ भारत के इतिहास में एक नए युग का प्रारम्भ हुआ।

बाईसवाँ अध्याय

तुर्क-अफगान युग का भारत

(१) शासन-व्यवस्था

तुर्क-अफगान-युग—१२१० से १५२५ ई० तक के काल को हमने भारतीय इतिहास का 'तुर्क-अफगान युग' कहा है। पर तुर्कों और अफगानों के अतिरिक्त बहुत-से भारतीय भी इस युग की मुसलिम शासक-श्रेणी के अंग बन गए थे, क्योंकि उन्होंने इस्लाम को स्वीकार कर लिया था। इस्लाम में विदेशी और विधर्मी लोगों को आत्मसात करने की अनुपम क्षमता थी। भारत की पुरानी शासक व सैनिक श्रेणियों के कुछ लोगो ने भी मुसलिम आक्रान्ताओं के सम्पर्क में आकर इस्लाम की दीक्षा ले ली थी। अलाउद्दीन खिलजी का प्रसिद्ध सेनापति मलिक काफूर तुर्क या अफगान न होकर विशुद्ध भारतीय था, जिसने इस्लाम को अंगीकार कर लिया था। गुजरात में स्वतन्त्र मुसलिम सल्तनत को स्थापित करने वाला राजवंश प्राचीन तक्षक क्षत्रिय जाति का था, जिसके प्रधान पुरुषों ने फीरोज तुगलक के समय में इस्लाम को अपना लिया था। बहमनी राज्य का संस्थापक हसन गंगू भी भारतीय था, जो पहले एक ब्राह्मण कुल की सेवा में नियुक्त था। यदि इस दृष्टि से देखा जाए, तो इस युग की मुसलिम शासक-श्रेणी केवल तुर्कों और अफगानों तक ही सीमित नहीं थी, मुसलिम धर्म को अपनाने वाले बहुत-से भारतीय भी उसके अंग बन गए थे।

राजसत्ता का स्वरूप—इस युग के मुसलिम सुलतान पूर्णतया निरंकुश और स्वेच्छाचारी थे। उनकी शक्ति को मर्यादित करने वाली कोई भी संस्थाएँ व सभाएँ इस युग मे विद्यमान नहीं थी। सुलतान की इच्छा ही कानून मानी जाती थी, और न्याय-सम्बन्धी बातों मे भी उसका निर्णय सर्वोपरि होता था। इस्लाम का प्रादुर्भाव अरब में हुआ था, और वहाँ की राजसत्ता को 'सम्प्रदायतन्त्र' (Theocracy) कहा जा सकता है। हजरत मुहम्मद के उत्तराधिकारी जहाँ अरब साम्राज्य के अधिपति थे, वहा साथ ही इस्लाम के प्रधान धर्माधिकारी भी थे। सम्राट् और पोप दोनों के पद अरब के खलीफाओं में मिलकर एक हो गए थे। अरब साम्राज्य के पतन के बाद जब विभिन्न स्वतन्त्र मुसलिम राज्यों की स्थापना हुई, तो उनके शासक यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से अपने राज्य में स्वतन्त्र थे, पर धार्मिक दृष्टि से वे खलीफा की सर्वोच्च सत्ता को स्वीकार करते थे। भारत में जब अरबों (आठवीं सदी में) और तुर्कों (दसवीं सदी) ने अपने राज्य कायम किये, तो उनके राजा भी खलीफा के धार्मिक प्रभुत्व को मानते थे। सम्पूर्ण मुसलिम संसार एक है, और उसका अधिपति खलीफा है, यह विचार मुसलिम जगत् में बहुत प्रबल था। पर अफगान युग के मुसलिम सुलतानों ने इस विचार के विपरीत आचरण किया, और अपवादस्वरूप कतिपय सुलतानों के अतिरिक्त अन्य सबने अपने नाम से खुतबा पढ़वाया। मुसलिम लोग नमाज के समय जहाँ अल्लाह

और रसूल का स्मरण करते थे, वहाँ साथ ही खलीफा के प्रति भी अपनी भक्ति प्रकट करते थे। खुतबे में खलीफा का स्मरण इस भक्ति का प्रमाण माना जाता था। खलीफा के स्थान पर अपने नाम से खुतबा पढ़वाकर दिल्ली के मुसलिम सुलतानों ने अपनी शक्ति और सत्ता का सर्वोच्च रूप प्रकट किया था। जिन सुलतानो ने खुतबे में खलीफा को स्थान दिया, उनमे अल्तमश, अलाउद्दीन खिलजी और मुहम्मद तुगलक के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। ये सुलतान बहुत शक्तिशाली थे, और भारत के बाहर के मुसलिम जगत् के साथ इनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। पर इन सुलतानो मे भी यह भाव विद्यमान था, कि राज्य मे उनकी शक्ति सर्वोपरि है, और वे अल्लाह की इच्छा के अनुसार ही अपनी सल्तनन का शासन करने के लिए नियुक्त हुए है। मुहम्मद तुगलक की अनेक उपाधियो में एक 'सुलतान-जिलाह-उल्लाह' भी थी, जिसका अर्थ भगवान् की छाया या प्रतिमूर्ति है। निःसन्देह, इस युग के सुलतान अपने को पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि मानते थे, और अपनी शक्ति पर किसी अन्य का अंकुश स्वीकार करने के लिए उद्यत नही थे।

सुलतानों पर अंकुश—पर अफगान युग के मुसलिम सुलतान अविकल रूप से स्वेच्छाचारी व निरंकुश नही थे। उनकी शक्ति को मर्यादित करने वाले तत्त्व निम्नलिखित थे :—

(१) उनकी शक्ति का मुख्य आधार सैनिक वर्ग था। अतः सैनिक नेताओ की इच्छा की वे पूर्णतया उपेक्षा नही कर सकते थे। अफगान-सुलतानो को इस देश की ऐसी बहुसंख्यक जनता पर शासन करना था, जिसमें अभी वीरता और स्वातन्त्र्य-भावना का सर्वथा लोप नहीं हो गया था। इस भारतीय जनता को सैनिक शक्ति द्वारा ही अपने वश में रखा जा सकता था। अतः दिल्ली की सल्तनत में सैनिको और उनके नेताओं का बहुत महत्त्व था। सुलतान उनकी सम्मति की उपेक्षा कर अपनी सत्ता को कायम नही रख सकता था।

(२) दिल्ली के सुलतान उलमा लोगों के प्रभाव मे थे, और इस्लाम के कानून के अनुसार ही शासन करने का प्रयत्न करते थे। अफगान आक्रान्ताओ ने एक ऐसे देश को जीतकर अपने साम्राज्य की स्थापना की थी, जिसकी जनता इस्लाम की दृष्टि में काफिर या विधर्मी थी। अपने सैनिकों मे उत्साह का संचार करने और उन्हे अफगान सल्तनत की रक्षा के लिए अपने जीवन की बलि दे देने की प्रेरणा का सर्वोत्तम उपाय यह था, कि उनमें यह विचार कूट-कूटकर भर दिया जाए, कि दिल्ली की सल्तनत इस्लामी राज्य है, जिसका नेतृत्व उलमाओ के हाथों मे है, और जिसका उद्देश्य इस्लाम का उत्कर्ष है। यही कारण है, कि अफगान-युग के मुसलिम शासक उलमाओं के आदेशों का पालन करते थे, और इस्लाम के कानून को सर्वोपरि मानते थे। उलमाओं के प्रभाव में रहना अफगान सुलतानो के लिए एक अनिवार्य आवश्यकता थी। इसीलिए प्रायः सभी अफगान सुलतानो ने उलमाओं का अनुसरण किया, और उन द्वारा प्रतिपादित शरायत कानून के अनुसार राज्य के शासन का प्रयत्न किया।

अलाउद्दीन खिलजी जैसे प्रतापी सुलतान ने राज्यविषयक मामलों में उलमाओं के हस्तक्षेप और प्रभाव को अनुचित समझा। उसका कथन था कि राज्य में सुलतान

की इच्छा ही सर्वोपरि होनी चाहिए। एक बार उसने काजी मुघिसुद्दीन से प्रश्न किया, कि देवगिरि की लूट में जो अपार सम्पत्ति मैंने अधिगत की थी, शरायत के अनुसार वह मेरी वैयक्तिक सम्पत्ति है, या वह राजकोष में जानी चाहिए। काजी का उत्तर था, कि यह सम्पत्ति सुलतान ने सैनिको की सहायता से प्राप्त की है, अकेले नही, अतः इस पर सुलतान का वैयक्तिक स्वत्व नही हो सकता। इस उत्तर से अलाउद्दीन बहुत क्रुद्ध हुआ, पर काजी मुघिसुद्दीन ने बिना किसी भय के शरायत के कानून का प्रतिपादन किया। यद्यपि अलाउद्दीन काजी के विचार से सहमत नहीं हुआ, पर उसने उसकी उपेक्षा करने का साहस नही किया। अपने व्यवहार में वह पूर्णतया स्वेच्छाचारी था, और उसने अपनी समझ के अनुसार जो कुछ उचित समझा, वही किया। पर उलमा और काजी लोगो का प्रत्यक्ष विरोध करने की शक्ति अलाउद्दीन जैसे उद्दण्ड सुलतान में भी नही थी। उलमाओं का विरोध करने में मुहम्मद तुगलक ने अधिक साहस से काम लिया। उसने न्याय के सम्बन्ध मे काजियो द्वारा दी गयी व्यवस्थाओं की उपेक्षा की, और अनेक ऐसे आदेश दिये, जो उलमाओ की दृष्टि मे शरायत के विरुद्ध थे। परिणाम यह हुआ, कि उलमाओ ने उसके खिलाफ साजिश की, और उसे अपनी योजनाओ मे सफल नही होने दिया। सैनिक नेताओ की वशवर्तिता और उलमाओ का प्रभाव—ये दो ऐसी शक्तियाँ थी, जो अफगान-सुलतानो की स्वेच्छाचारिता पर अंकुश का कार्य करती थी।

(३) दिल्ली के सुलतानों मे उत्तराधिकार का कोई स्पष्ट नियम नही था। सुलतान की मृत्यु के बाद कौन व्यक्ति दिल्ली की राजगद्दी पर आरूढ हो, इसका निश्चय निम्नलिखित बातों को सम्मुख रखकर किया जाता था—(क) मृत सुलतान ने किस व्यक्ति को अपना उत्तराधिकारी नियत किया था। (ख) उसका ज्येष्ठ पुत्र कौन है। (ग) उसके पुत्रों व कुटुम्ब के अन्य मनुष्यों में कौन सबसे अधिक योग्य है। पर इन दृष्टियो से नये सुलतान का निर्णय उन सैनिक नेताओं और अमीर-उमराओं द्वारा किया जाता था, जिनकी सत्ता सल्तनत मे सर्वप्रधान थी। इसी कारण कोई ऐसा व्यक्ति सुलतान-पद को प्राप्त नही कर सकता था, जिसे शक्तिशाली सैनिक नेताओं और अमीर-उमराओं का सहयोग व समर्थन प्राप्त न हो। इसीलिए सल्तनत के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में प्रायः झगड़े होते रहते थे, और जो व्यक्ति इस सघर्ष में सफलता प्राप्त कर राजसिंहासन पर आरूढ़ होता था, वह अपने सहायक व पक्षपाती सैनिक नेताओं की उपेक्षा कर पूर्णरूप से निरंकुश हो सकने मे असमर्थ रहता था।

राजकर्मचारी वर्ग—राज्य के सर्वोच्च अधिकारी को 'वजीर' कहते थे। शासन के सब विभागो पर इस वजीर का नियन्त्रण होता था। शासन के मुख्य विभाग निम्नलिखित थे—(१) दीवाने-अर्ज या अपीलो का विभाग। (२) दीवाने-रिसालत या सैन्य विभाग। (३) दीवाने-इन्शा या पत्र-व्यवहार विभाग। (४) दीवाने-बन्दगान या गुलामो का विभाग। (५) दीवाने-कजाए-ममालिक या न्याय-विभाग। (६) दीवाने-अमीर कोही या कृषि-विभाग। (७) दीवाने-मुस्तखराज या राजकीय आय को वसूल करने वाला विभाग। (८) दीवाने-खैरात या धर्मार्थ व्यय करने वाला विभाग। (९) दीवाने-इस्तिकाक या पेंशन विभाग। इन नौ विभागों के अतिरिक्त गुप्तचर, डाक और

टकसाल के भी पृथक् विभाग थे, जिन सबकी व्यवस्था के लिए विविध राजकर्मचारियों की नियुक्ति की जाती थी। इन विविध विभागों के अधिकारी राज्य में बहुत ऊँचा स्थान रखते थे, और एक वजीर को छोड़कर अन्य सब राजकर्मचारियों के मुकाबले में उनकी स्थिति ऊँची मानी जाती थी। इनके अतिरिक्त राज्य के अन्य प्रमुख कर्मचारी और पदाधिकारी निम्नलिखित होते थे—(१) मुस्तौफी-ऐ-ममालीक या आडिटर-जनरल जिसका कार्य राजकीय व्यय को नियन्त्रित रखना होता था। (२) मुश्रिफे-ममालीक, जिसका कार्य राजकीय आय का हिसाब रखना और उसे वसूल करने की सुव्यवस्था करना होता था। (३) खजान्ची। (४) अमीरे-बहर या जलशक्ति का अध्यक्ष। (५) बख्शी-ए-फोज या सेना को वेतन देने का प्रधान अधिकारी। (६) काजी-उल-कजात या प्रधान न्यायाधीश, जो मुफ्तियों की सहायता से शरायत के अनुसार न्याय की व्यवस्था करता था।

प्रान्तीय और स्थानीय शासन—शासन की सुविधा के लिए अफगान सल्तनत अनेक प्रान्तों में विभक्त थी, जिनकी संख्या सल्तनत के विस्तार के अनुसार घटती बढ़ती रहती थी। अफगान सल्तनत के अधिकतम विस्तार के समय उसके प्रान्तों की संख्या चौबीस थी। इनके प्रान्तीय शासकों को 'नायब सुलतान' कहते थे। अपने-अपने क्षेत्र में इन नायब सुलतानों की स्थिति दिल्ली के सुलतान के ही सदृश होती थी, और इनकी शक्ति के कारण केन्द्रीय सुलतान का प्रत्यक्ष शासन दिल्ली व उसके समीपवर्ती प्रदेशो तक ही सीमित रहता था। सुदूरवर्ती प्रान्तों के नायब सुलतान अवसर पाते ही स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करते थे, जिसके कारण केन्द्रीय सुलतान को उन्हें वश में लाने के लिए निरन्तर संघर्ष करते रहना पडता था। प्रान्त के उपविभागों का शासन 'मुकता' या 'आमिल' नामक पदाधिकारियो के हाथो में रहता था। प्रान्तों के और छोटे उपविभागों के शासक 'शिकदार' कहाते थे। नायब सुलतान अपने प्रान्तीय शासन का खर्च अपने प्रान्त से ही कर आदि द्वारा प्राप्त करते थे, और खर्च चलाकर जो बचे, उसे केन्द्रीय राजकोष मे भेज देते थे। नायब सुलतानों की अपनी पृथक् सेनाएँ होती थी, जिन्हें दिल्ली का सुलतान अपनी विजय-यात्राओ और युद्धों के लिए प्रयुक्त कर सकता था।

अफगान सल्तनत में बहुत-से ऐसे प्रदेश भी थे, जिन पर पुराने समय के हिन्दू राजवंशो का शासन था। ये हिन्दू राजा सुलतान को अपना अधिपति मानते थे, और उसे वार्षिक कर, भेंट व उपहार आदि द्वारा सन्तुष्ट करते रहते थे। अफगान विजेताओं के लिए यह सम्भव नहीं था, कि सब हिन्दू-राजवंशों का मूलोच्छेद कर उन द्वारा शासित प्रदेशों को सीधे अपने शासन में ले आएँ। इन हिन्दू-राजाओं की स्थिति अफगान साम्राज्य में सामन्तों के सदृश थी।

पिछले एक अध्याय में हम ग्राम-पंचायतों का उल्लेख कर चुके हैं, जिनके कारण मध्यकाल में जनता की स्वतन्त्रता सुरक्षित थी। ये ग्राम-पंचायतें इस युग में भी नष्ट नही हुई थीं। अफगान सुलतानों ने ग्रामों के स्थानीय स्वशासन में हस्तक्षेप का कोई प्रयत्न नही किया। इसीलिए सर्वसाधारण जनता पर उनके आधिपत्य का कोई विशेष असर नहीं हुआ। अफगान आक्रमण से पूर्व भी भारत के विविध राजवंश आपस

में संघर्ष करते रहते थे, और दूर-दूर तक विजय-यात्राएँ कर अपने उत्कर्ष का प्रयत्न करते थे। जन-साधारण की दृष्टि मे ये विजय-यात्राएँ एक आँधी व तूफान के समान होती थीं, जिनके कारण बहुत-से लोगों को अपनी जान व माल से हाथ धोना पड़ जाता था। युद्ध में विजयी होकर जो कोई राजवंश उनके प्रदेश पर आधिपत्य कर ले, उसे नियमित रूप से कर देना वे अपना स्वाभाविक कर्तव्य समझते थे। अब विजययात्रा करने वाली राजशक्तियों मे एक अन्य ऐसी शक्ति और आ गयी थी, जो विदेशी व विधर्मी थी। उसको भी सर्वसाधारण जनता ने प्रायः उसी दृष्टि से देखा, जिससे कि वे परमार, चालुक्य, गहड़वाल, पाल आदि को देखती थी। ग्रामसंस्थाओं के कारण अभी तक भी सर्वसाधारण लोग अपने साथ सम्बन्ध रखने वाले मामलों की स्वयं व्यवस्था करते रहे, और इसलिए उनकी स्थिति मे कोई विशेष अन्तर नहीं आया। जो बहुत-से बड़े-बड़े नगर अफगान सल्तनत की अधीनता में थे, उनका शासन-प्रबन्ध कोतवाल और मुहतसिब नामक कर्मचारियों के हाथों से रहता था। कोतवाल नगर मे शान्ति और व्यवस्था के लिए उत्तरदायी होता था, और मुहतसिब का काम नागरिक प्रबन्ध करना समझा जाता था।

परामर्श-सभा—यद्यपि अफगान सुलतान पूर्णरूप से स्वेच्छाचारी और निरंकुश थे, पर वे समय-समय पर अपने अमीर-उमराओं और सैनिक नेताओं से परामर्श करते रहते थे। इसके लिए अनेक परामर्श-सभाएँ थी, जिनमें 'मजलिसे-खलवत' प्रधान थी। इस सभा मे सल्तनत के प्रधान राजकर्मचारी, सैनिक नेता और बड़े अमीर-उमरा उपस्थित होते थे, और महत्वपूर्ण मामलों पर सुलतान को परामर्श देते थे। पर मजलिस का सदस्य होने के लिए कोई निश्चित नियम नही था। सुलतान जिस किसी व्यक्ति को उचित समझे, परामर्श के लिए इस सभा मे बुला लेता था। मजलिस के सदस्य जो परामर्श दें उसे मानना न मानना सुलतान की अपनी इच्छा पर निर्भर करता था। इसके अतिरिक्त 'बारे खास' और 'बारे-आम' नाम की अन्य सभाएँ भी इस युग मे थी, जो मुगल काल के दीवाने-खास और दीवाने-आम के समान स्थिति रखती थीं। बारे-खास में सल्तनत के प्रमुख खान, अमीर और मलिक सम्मिलित होते थे, और 'बारे-आम' में सर्वसाधारण जनता सुलतान की सेवा में अपने प्रार्थना-पत्र आदि उपस्थित कर सकती थी। न्याय-सम्बन्धी अर्जियाँ भी 'बारे-आम' मे ही पेश की जाती थी, और सुलतान वही पर उनका निर्णय करता था।

राजकीय आय के साधन—अफगान सुलतानो की आय-व्यय-सम्बन्धी नीति मुसलिम विधान-शास्त्र के हनफी सम्प्रदाय के अनुसार निर्धारित की जाती थी। इस कारण उनकी राजकीय आय के प्रधान साधन निम्नलिखित थे—(१) खराज—हिन्दू सामन्तों व जागीरदारों द्वारा प्रदान किया जाने वाला भूमि-कर। (२) खालसा या राजकीय भूमि से प्राप्त होने वाली आमदनी। (३) अपने सैनिक अफसरों और अन्य राजकर्मचारियों को दी गयी उन जागीरों की आय का एक निश्चय भाग, जो कि इन राजपुरुषो को जन्म भर के लिए या कुछ निश्चित वर्षों के लिए प्रदान की जाती थीं। (४) जजिया कर, जो हिन्दुओं पर लगाया जाता था, और जिस कर को वसूल करने के बदले में मुसलिम शासक अपनी मुसलिम-भिन्न प्रजा के जान-माल की रक्षा करने को

उद्यत होते थे। (५) युद्ध में प्राप्त हुई लूट। (६) चरागाह, सिंचाई के साधन, इमारत आदि पर लगाये गए अनेक प्रकार के कर। जजिया के अतिरिक्त अन्य सब कर हिन्दुओं और मुसलमानों पर समान रूप से लगते थे। जजिया मुसलिम शासन की एक विशेषता थी। मुसलिम विधान-शास्त्र के अनुसार यह माना जाता था, कि मुसलिम राज्य में हिन्दू आदि अन्य धर्मों के लोग तभी सुरक्षित रूप से रह सकते हैं, जबकि वे अपने जान-माल की रक्षा के बदले में एक अतिरिक्त कर राजा को प्रदान करें। कोई भी गैरमुसलिम इस्लाम को स्वीकार कर अपने को जजिया कर से मुक्त कर सकता था।

सैनिक संगठन—अफगान सल्तनत की शक्ति का मुख्य आधार उसकी सेना थी। अतः सेना के संगठन का इस युग में बहुत अधिक महत्त्व था। दिल्ली के सुलतानों की सेना के प्रायः सभी सैनिक मुसलिम थे, जो या तो अफगान, तुर्क आदि उन जातियों के थे, जिनकी सहायता से शहाबुद्दीन गौरी ने इस देश पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था, और या उन भारतीय क्षत्रियों में से थे, जिन्होंने इस्लाम को ग्रहण कर लिया था। कतिपय हिन्दू सामन्तों व जागीरदारों की सेनायें भी अफगान सेना में शामिल रहती थी, पर ऐसे सैनिकों की संख्या बहुत कम थी। दिल्ली की केन्द्रीय सरकार की सेना के अतिरिक्त प्रान्तीय नायब सुलतानों की भी अपनी सेनाएँ होती थी, जो जहाँ प्रान्तीय क्षेत्र में शांति और व्यवस्था कायम रखने का काम करती थी, वहाँ साथ ही नये प्रदेशों की विजय में या किसी विद्रोही सामन्त के साथ संघर्ष में सुलतान की सहायता भी करती थी। सेना के मुख्य विभाग पदाति, अश्वारोही और गजारोही होते थे। बारूद का प्रयोग अभी तक शुरू नही हुआ था, इसलिए तोपखाने का सेना में कोई स्थान नही था। पर इस प्रकार के कुछ यान्त्रिक उपकरण इस युग तक आविष्कृत हो चुके थे, जिनसे शत्रु पर पत्थर आदि फेंके जा सकते थे।

अमीर-उमरा—अफगान सल्तनत के शासन में अमीर-उमरा लोगों का बहुत महत्त्व था। सैन्य-संचालन, शासन-प्रबन्ध, और सुलतान को परामर्श देने का कार्य इन्ही के हाथो मे था। इतना ही नही, कोई नया सुलतान तभी दिल्ली के राजसिंहासन पर आरूढ हो सकता था, जबकि अमीर-उमराओं का सहयोग व समर्थन उसे प्राप्त हो। सुलतान बन जाने पर भी कोई व्यक्ति इनकी उपेक्षा नही कर सकता था, क्योंकि अमीर-उमरा विद्रोह कर उसके कार्य को कठिन बनाने की क्षमता रखते थे। ये अमीर-उमरा प्रधानतया तुर्क और अफगान जातियो के थे। पर मिस्र, ईरान, अरब, अबीसीनिया आदि अन्य मुसलिम देशो से भी बहुत-से साहसी व्यक्ति इस युग में भारत आ गये थे, और उन्होने दिल्ली की सल्तनत में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिए थे। भारत के पुराने राजवंशो के जिन कुलीन लोगो ने इस्लाम को स्वीकार कर लिया था, वे भी इस नई मुसलिम कुलीन श्रेणी के अङ्ग बन गए थे। मलिक काफूर इसी प्रकार का व्यक्ति था। पर यह ध्यान मे रखना चाहिए, कि अफगान-युग की कुलीन श्रेणी पूर्णतया वंशक्रमानुगत नही थी। नये साहसी व वीर मनुष्यो के लिए उसमे प्रवेश पाने की सदा गुंजाइश रहती थी। यह बात अफगान सल्तनत की शक्ति के लिए जहाँ सहायक होती थी, वहाँ साथ ही इससे अव्यवस्था और अराजकता के उत्पन्न होने में भी मदद मिलती थी। कोई भी प्रतापी व उद्दण्ड प्रकृति का व्यक्ति अफगान शासन मे अकस्मात् महत्त्व

प्राप्त कर सकता था, और सैनिक नेताओं व अमीर-उमराओं का सहयोग प्राप्त कर अपना उत्कर्ष कर लेता था।

(२) आर्थिक दशा

इस युग के मुसलिम लेखकों ने अफगान सुलतानों के शासन के जो वृत्तान्त लिखे हैं, उनमें अमीर-उमराओं के षड्यन्त्रों और राजदरबार के झगड़ों का ही विशद रूप से उल्लेख है। फिर भी इस युग की आर्थिक व सामाजिक दशा के विषय में इस सम्बन्ध में जो निर्देश प्रसंगवश कहीं-कहीं आ गये हैं, उनके आधार पर इस युग के जीवन का धुन्धला-सा चित्र उपस्थित कर सकना सम्भव है।

भारत का वैभव—प्राचीन काल में भारत के विविध राजवंशों ने जो अपार धन-सम्पत्ति एकत्र की थी, तुर्क अफगान आक्रान्ताओं ने उसे दिल खोलकर लूटा था। महमूद गजनवी की लूट का वृत्तान्त फरिश्ता सदृश मुसलिम लेखकों ने विशदरूप से लिखा है। कन्नौज, नगरकोट, सोमनाथ आदि की लूट से अनन्त सम्पत्ति महमूद गजनवी ने प्राप्त की थी, और उसी से उसने अपनी राजधानी गजनी को समृद्ध व वैभव-पूर्ण बनाया था। अफगान सुलतानों ने भी देवगिरि आदि प्राचीन राजधानियों को लूट कर अपार धन प्राप्त किया था, यद्यपि उसे वे भारत से कहीं विदेश में नहीं ले गये थे। अफगान सुलतानों के सम्मुख अपनी आर्थिक समस्या को हल करने का सबसे सीधा और सरल उपाय यही था कि वे किसी स्वतन्त्र राज्य पर आक्रमण कर उसे लूटें, और लूट से प्राप्त धन का उपयोग अपनी सैन्य शक्ति को बढ़ाने के लिये करें। यही कारण है, कि इस युग के सुलतानों ने अपने साम्राज्य की आर्थिक उन्नति पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। लूट और राजकीय करों से उन्हें अच्छी आमदनी प्राप्त हो जाती थी, और यह उनकी सेना तथा दरबार के खर्च के लिये पर्याप्त होती थी।

अफगान आधिपत्य की स्थापना के कारण भारत की सर्वसाधारण जनता के आर्थिक जीवन में विशेष अन्तर नहीं आया था। प्राचीन और मध्य युगों में भारत के शिल्पी, व्यवसायी और व्यापारी अपने संगठनों में संगठित थे, और माल की उत्पत्ति तथा विक्रय अपने संगठनों द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार किया करते थे, यह पहले लिखा जा चुका है। अफगान-युग में भी ये संगठन (श्रेणी और निगम) कायम रहे। जिस प्रकार अफगान आधिपत्य के कारण ग्राम-संस्थाओं की स्थिति में कोई अन्तर नहीं आया, वैसे ही आर्थिक श्रेणियों और निगमों की स्वतन्त्र सत्ता भी उसके कारण नष्ट नहीं हो पाई। इसीलिए इस युग में भी भारत का व्यावसायिक और व्यापारिक जीवन पुराने समय के आर्थिक संगठनों में केन्द्रित रहा, और शिल्पी तथा कर्मकर लोग पूर्ववत् ही अपना कार्य करते रहे, और सुलतानों ने इन संगठनों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया। पर एक विशाल सल्तनत की स्थापना हो जाने के कारण अब दिल्ली का महत्त्व बहुत बढ़ गया था, और उसमें निवास करने वाले अमीर-उमराओं व अन्य धनी-मानी पुरुषों की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए विशेष अध्यवसाय की आवश्यकता थी। साथ ही, सुलतानों को अपनी विशाल सेनाओं के लिए वस्त्र और अस्त्र-शस्त्र आदि की भी प्रचुर मात्रा में आवश्यकता रहती थी, जिसकी पूर्ति के लिए उन्होंने

विशेष रूप से उद्योग किया। इसीलिए उन्होंने दिल्ली में बहुत-से कारखाने खुलवाये, जिनमें अच्छी बडी संख्या मे कारीगर लोग कार्य करते थे। राज्य द्वारा स्थापित हुए रेशमी कपड़ो के कारखानों में ४००० जुलाहे काम करते थे, जिनसे तैयार हुआ रेशमी वस्त्र राजदरबार व अमीर-उमराओं के काम आता था।

भारतीय इतिहास का अफगान-युग अशान्ति, अव्यवस्था और अराजकता का काल था। युद्धों और विद्रोहों के कारण इस युग में शाति और व्यवस्था नष्ट हो गयी थी। इसीलिए इस युग में भारत को अनेक दुर्भिक्षों का सामना करना पड़ा। जलालुद्दीन फीरोज खिलजी (१२९०-१२९६) के शासनकाल में अनाज की इतनी कमी हो गयी थी, कि दिल्ली मे अन्न का भाव ७॥ जीतल प्रति मन से बढ कर ४० जीतल प्रति मन हो गया था। शिवालिक की उपत्यका तक के लोग दुर्भिक्ष से पीड़ित होकर अन्न की खोज में दिल्ली आने लगे, और वहाँ भी भोजन प्राप्त करने में असमर्थ होकर आत्महत्या द्वारा अपने जीवन का अन्त करने लगे। मुहम्मद तुगलक के समय में भी इसी प्रकार का अकाल पडा, और बहुत-से नरनारी भूख से तडप-तडप कर प्राण देने के लिए विवश हुए। अलाउद्दीन खिलजी और मुहम्मद तुगलक जैसे वैभवशाली सुलतानो ने जनता की दुर्भिक्ष से रक्षा करने के लिए अनेक प्रयत्न किये, पर उनके प्रयत्न केवल दिल्ली और उसके समीपवर्ती प्रदेश तक ही सीमित रहे। देश को अकाल से बचाने में उन्हें कोई विशेष सफलता नही हुई।

इस युग के विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में भी अनेक निर्देश उपलब्ध होते हैं। समुद्रमार्ग द्वारा इस काल में चीन, मलाया, ईरान, अरब और यूरोप के साथ भारत का व्यापारिक सम्बन्ध विद्यमान था। इब्नबतूता और मार्को पोलो ने भारत के अनेक बन्दरगाहो का उल्लेख किया है, जिनमे विदेशों के व्यापारी अपना माल बेचने और भारतीय माल का क्रय करने के लिए एकत्र हुआ करते थे। कालीकट और भड़ौच के बन्दरगाह इनमे प्रमुख थे। भारत से जो माल अन्य देशो में बिकने के लिए जाता था, उसमे वस्त्र, अफीम, अन्न, नील और मसाले प्रधान थे। विदेशो से बिकने के लिए आने वाले पण्य में घोडे और खच्चर मुख्य थे, जिनका सैनिक दृष्टि से बहुत उपयोग था। स्थलमार्ग द्वारा भारत का मध्य एशिया, ईरान, तिब्बत और भूटान के साथ व्यापारिक सम्बन्ध था, और घोडो, खच्चरो तथा ऊँटो के काफिलो द्वारा भारत और विदेशों के व्यापारी माल का आदान-प्रदान किया करते थे।

(३) सामाजिक दशा

अफगान-युग में भारत के समाज के दो प्रधान वर्ग थे, मुसलिम और हिन्दू। दिल्ली के सुलतान सैनिक अफसरो और शासक वर्ग को नियत करते हुए यह ध्यान में रखते थे, कि केवल मुसलमानों को ही उच्च पदो पर नियत किया जाय। मुसलिम लोग हिन्दुओ को नीची दृष्टि से देखते थे और सुलतानों के राजदरबार में जानबूझकर उनकी हीन स्थिति का बोध कराया जाता था। इब्नबतूता ने लिखा है, कि जब कोई हिन्दू सुलतान के दरबार में कोई प्रार्थना-पत्र लेकर उपस्थित होता था, तो हाजिब लोग चिल्लाकर कहते थे—'हादाक अल्लाह' या 'भगवान् तुम्हे सन्मार्ग पर ले आये।' जजिया

कर के कारण हिन्दुओं को सदा यह अनुभूति बनी रहती थी, कि सल्तनत में उनकी स्थिति हीन है, और वे अपनी जान व माल के लिए मुसलिम शासकों की कृपा पर निर्भर हैं। यदि कोई हिन्दू अपने धर्म का परित्याग कर इस्लाम को स्वीकार कर ले, तो मुसलमानों की दृष्टि में यह बात बड़े गौरव की होती थी। वे कुफ्र का अंत कर सद्धर्म का प्रचार करने में गर्व अनुभव करते थे।

पर हिन्दू लोगों में स्वाभिमान और आत्मगौरव के भाव नष्ट नहीं हो गये थे। संख्या की दृष्टि से वे मुसलमानों की अपेक्षा बहुत अधिक थे। इसी कारण वे समय-समय पर विद्रोह द्वारा अपने रोष को प्रगट करते रहते थे। अलाउद्दीन खिलजी जैसे प्रतापी सुलतानों ने इस बात का यत्न किया, कि हिन्दुओं की स्थिति को बिलकुल हीन कर दें। वे अनुभव करते थे, कि जब तक हिन्दू लोग सम्पन्न रहेंगे, उनमें हीनभावना का पूर्ण रूप से विकास नहीं होने पायेगा। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर अलाउद्दीन ने हिन्दुओं को सर्वथा निर्धन और अवश बना देने का प्रयत्न किया। भारत के प्राय: सभी किसान इस समय हिन्दू थे। मुसलिम लोगों को हल चलाने की कोई आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि सेना और शासक वर्ग के पद उनके लिए खुले हुए थे। अलाउद्दीन ने व्यवस्था की, कि किसान अपनी पैदावार का ५० प्रतिशत कर के रूप में प्रदान किया करें। उपज का आधा भाग राज्य को प्रदान कर देने के बाद किसानों के पास इतना अन्न नही बच पाता था, जिससे कि वे अपना और अपने परिवार का पेट भर सकते। भारत के प्राचीन राजा उपज का छठा भाग किसानों से बलि रूप में ग्रहण करते थे। छठे भाग के मुकाबले में उपज का आधा भाग कर के रूप में लेकर अलाउद्दीन ने हिन्दुओं की आर्थिक दशा को बहुत ही दयनीय बना दिया था। उसने यह व्यवस्था भी की थी, कि हिन्दुओ के चरागाहो और मकानों पर भी टैक्स लगाये जाएँ। केवल किसानो से ही नही, अपितु भूमिपतियो से भी अलाउद्दीन ने सख्ती से कर वसूल करने शुरू किये, जिसका परिणाम यह हुआ, कि चौधरी, मुकद्दम आदि उच्च वर्ग के हिन्दू लोगो की स्थिति इतनी हीन हो गयी कि अब वे न अच्छे वस्त्र पहन सकते थे, न शस्त्र धारण कर सकते थे और न सवारी के लिए घोडे ही रख सकते थे। अफगान सुलतानो की इस नीति के कारण उच्च वर्ग के हिन्दू भी इतने गरीब व असहाय हो गये, कि उनकी महिलाओं को मुसलिम घरों में नौकरी करने के लिए विवश होना पड़ा। इस युग के मुसलमान हिन्दुओं की इस दुर्दशा को देखकर सन्तोष अनुभव करते थे। बरानी-जैसे लेखक ने अभिमान के साथ लिखा है, कि हिन्दुओं की दशा इतनी हीन हो गयी है, कि वे सिर उठाकर नहीं चल सकते और उनके घरों में सोना-चाँदी या सिक्के का नाम भी शेष नहीं बचा है। यह बात ध्यान देने योग्य है, कि इस हीन दशा में भी हिन्दू लोग अपने धर्म पर दृढ़ रहे, और उन्होंने सांसारिक उत्कर्ष व सुख के लिए अपने धर्म का परित्याग नही कर दिया।

अफगान सल्तनत में दास-प्रथा का बहुत प्रचार था। सुलतान और उसके अमीरउमरा बहुत बड़ी संख्या में दास रखा करते थे। अलाउद्दीन के दासों (बन्दखाने-खास) की संख्या ९०,००० थी, और फीरोजशाह तुगलक के दासों की संख्या २,००,००० के लगभग थी। इस युग के नायब सुलतान और अमीर-उमरा भी बहुत-

से दासों को खरीदकर अपने पास रखा करते थे। सैनिक सेवा, राजसेवा और वैयक्तिक सेवा—सब प्रकार के कार्य दास लोग करते थे। बहुत-से दास अच्छे योग्य व वीर होते थे, और अपनी योग्यता के कारण अच्छी उन्नति भी कर लेते थे। योग्य दासों को दासता से मुक्त कर बडे पदो पर नियुक्त कर देना इस युग मे साधारण बात थी। कुतुबुद्दीन ऐबक और मलिक काफूर जैसे लोग शुरू मे दास ही थे, पर अपनी असाधारण प्रतिभा और योग्यता के बल पर वे सुलतान तथा प्रधान सेनापति के पदों पर पहुँच गये थे। इस युग के दासो मे भारतीयो की संख्या बहुत अधिक थी। युद्ध मे परास्त सैनिको को कैद कर या जीते हुए नगरो के नर-नारियों को बन्दी बनाकर गुलाम के रूप मे बेच देना इस युग मे सर्वथा उचित माना जाता था। सुन्दरी स्त्रियो की दासी-रूप मे अच्छी कीमत वसूल होती थी। इस युग के दास-हट्टों मे केवल भारतीय गुलाम ही नही बिकते थे, अपितु चीन, तुर्किस्तान, ईरान आदि दूरवर्ती देशो के गुलामो का भी उनमे क्रय-विक्रय हुआ करता था।

लूट द्वारा प्राप्त धन के कारण अफगान-युग के मुसलमानो मे अनेक प्रकार की बुराइयाँ उत्पन्न हो गयी थी। अल्तमश, बलबन और अलाउद्दीन सदृश सुलतानो के समय मे तुर्क, अफगान तथा अन्य मुसलमानो मे अपूर्व साहस और उत्साह था। उन्होने युद्ध मे विजय प्राप्त कर भारत मे अपने राज्य की स्थापना की थी। बहुसख्यक हिन्दुओ के विरोध मे वे अपनी सत्ता को तभी कायम कर सकते थे, जब वे अनुपम वीर हो। पर देवगिरि आदि समृद्ध नगरो की लूट द्वारा इतनी अपार सम्पत्ति दिल्ली की सल्तनत को प्राप्त हो गयी थी, कि उसके उपभोग के कारण मुसलिम लोग भोग विलास मे बुरी तरह से फंस गये थे। बडे-बडे सैनिक नेता व शासक लोगो को धन की कोई कमी नही थी, और सर्वसाधारण मुसलमानो के लिए 'खानकाह' खुले हुए थे, जिनमे वे आवश्यक भोजन और अन्य वस्तुओ को बिना मूल्य के प्राप्त कर सकते थे। इस स्थिति मे मुसलमानो को न खेती करने की आवश्यकता थी, और न किसी शिल्प के अनुसरण की। उनमे जो योग्य होते, वे सैनिक और राजकीय पद सुगमता से प्राप्त कर लेते थे। जो अयोग्य होते, वे 'खानकाहों' की कृपा से मजे मे अपना निर्वाह कर सकते थे। कमाई के लिए उन्हे किसी प्रकार के परिश्रम की आवश्यकता नही थी। इस दशा का परिणाम यह हुआ, कि मुसलमानो मे एक प्रकार का निकम्मापन विकसित होने लगा, और वे मदिरापान, द्यूतक्रीडा आदि मे अपने समय और शक्ति को नष्ट करने लगे। इस्लाम की दृष्टि मे मदिरा सेवन अनुचित है, इसलिए अनेक सुलतानों ने उनके विरुद्ध अनेक प्रकार के उपायों का प्रयोग किया। पर भोग-विलास की प्रवृत्ति मुसलमानों में इतनी अधिक बढ गयी थी, कि वे इस बुराई से बच सकने में असमर्थ रहे। नाच-गान व अन्य आमोद-प्रमोद मे मग्न रहने के कारण धीरे-धीरे मुसलिम वर्ग का बल निरन्तर क्षीण होता गया।

इस युग मे स्त्रियो की क्या स्थिति थी, इस सम्बन्ध मे भी कुछ बातें उल्लेखनीय हैं। परदे की प्रथा इस समय उत्तरी भारत में भली-भाँति विकसित हो गयी थी, और हिन्दू व मुसलिम स्त्रिया प्राय: परदे मे ही रहती थी। अफगान युग से पहले भी भारत मे यह प्रथा विद्यमान थी, पर उसकी सत्ता केवल उच्च वर्ग की स्त्रियो में ही थी।

मुसलिम शासन मे इस प्रथा का बहुत प्रसार हुआ। बाल-विवाह भी इस युग की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। उद्दण्ड मुसलिम सैनिकों व राजकर्मचारियों के भय से हिन्दू लोग बचपन में ही अपनी बालिकाओं का विवाह करने लगे, ताकि माता-पिता शीघ्र ही कन्यादान का पुण्य प्राप्त कर निश्चिन्त हो जाएं। सती-प्रथा भारत में पहले भी विद्यमान थी। इस युग में भी उसकी सत्ता के अनेक प्रमाण मिलते है। स्त्रियाँ प्रायः अशिक्षित होती थी, पर इस प्रकार के उदाहरण विद्यमान हैं, जिनमें स्त्रियाँ उच्च शिक्षा-प्राप्त और सुसंस्कृत थीं। इब्नबतूता ने भारत-यात्रा का वर्णन करते हुए लिखा है, कि जब वह हनौर पहुँचा, तो उसने वहाँ १३ ऐसे विद्यालय देखे, जिनमें बालिकाएं शिक्षा ग्रहण करती थी। इसी नगर मे बालको के विद्यालयो की संख्या २३ थी।

(४) हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों का सम्पर्क

इसमें सन्देह नही, कि अफगान युग मे हिन्दू और मुसलिम दो पृथक् वर्ग थे। पर जब दो विभिन्न धर्मों और संस्कृतियो के लोग देर तक एक साथ निवास करते हैं, तो उन पर एक-दूसरे का प्रभाव पडना अवश्यम्भावी हो जाता है। हिन्दू सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से बहुत ऊँचे थे। यद्यपि उनकी राजशक्ति मुसलिम आक्रान्ताओ द्वारा पराभूत हो गयी थी, पर इससे उनकी संस्कृति की उत्कृष्टता नष्ट नही हुई थी। जब मुसलिम विजेता स्थायी रूप से भारत में आबाद हो गये, तो स्वाभाविक रूप से वे भारत के योगियों, सन्तो, धर्माचार्यों, विद्वानो और शिल्पियों के सम्पर्क मे आये, और वे उनसे प्रभावित हुए बिना नही रह सके। इसी प्रकार इस्लाम के रूप मे जो नया धर्म इस देश में प्रविष्ट हुआ था, उनमे अपूर्व जीवनी-शक्ति थी। वह भी इस देश के पुराने धर्म को प्रभावित किये बिना नही रहा। हिन्दू और मुसलिम संस्कृतियो के इस सम्पर्क ने जो परिणाम उत्पन्न किये, उनका भारत के इतिहास मे बहुत महत्त्व है। इसी से भारत की वह आधुनिक संस्कृति प्रादुर्भूत हुई, जिस पर अनेक अंशो मे मुसलिम धर्म का प्रभाव विद्यमान है। पर इस प्रसंग मे यह ध्यान में रखना चाहिए कि दिल्ली की अफगान सल्तनत के क्षेत्र मे हिन्दू और मुसलिम संस्कृतियों को एक-दूसरे के निकट मे आने का वैसा अवसर नही मिला था, जैसा कि गुजरात, मालवा, जौनपुर, दौलताबाद और बंगाल के मुसलिम राज्यों में मिला। चौदहवी सदी के उत्तरार्ध मे स्थापित इन विविध सल्तनतो में तुर्क-अफगानों का वह महत्त्वपूर्ण स्थान नही था, जो कि दिल्ली की केन्द्रीय सल्तनत मे था। इन प्रान्तीय सल्तनतो के शासन में हिन्दू कर्मचारियों का बड़ा भाग था, और इनके सुलतान तथा अन्य अमीर-उमरा हिन्दुओ के बहुत निकट सम्पर्क मे थे। इसी कारण अहमदाबाद, माण्डू, लखनौती आदि मे हिन्दू और मुसलिम संस्कृतियो को एक-दूसरे को प्रभावित करने का सुवर्णावसर प्राप्त हुआ था।

जिन साधनों से हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में आये, वे निम्नलिलित थे :—

(१) यद्यपि दिल्ली की सल्तनत मे सब उच्च पदों पर मुसलमानों की नियुक्ति की जाती थी, पर भूमि-कर आदि करों को वसूल करने के लिए जो कर्मचारी पुराने समय से परम्परागत रूप में चले आ रहे थे, उनके सहयोग के बिना सुलतानों का काम

नही चलता था। जब भारत में अंग्रेजों का शासन स्थापित हुआ, तो गवर्नर, कमिश्नर, कलेक्टर, जज, सेनापति आदि सब उच्च राजकीय पदो पर अंग्रेज अफसरों की नियुक्ति की गयी; पर पटवारी, कानूनगो, पेशकार आदि छोटे राजकर्मचारी भारतीय ही रहे। कुछ इसी प्रकार की स्थिति दिल्ली की अफगान सल्तनत में भी थी। उच्च मुसलिम राजपदाधिकारी छोटे हिन्दू कर्मचारियो के सहयोग से ही भूमिकर वसूल करते थे, और इस प्रकार उनके निकट सम्पर्क में आने का अवसर प्राप्त करते थे।

(२) चौदहवी सदी के उत्तरार्ध में जौनपुर, लखनौती, माण्डू, अहमदाबाद और दौलताबाद को राजधानी बनाकर जो विविध सल्तनते स्थापित हुई थीं, उनमे हिन्दू और मुसलमानों का सम्पर्क और भी अधिक घनिष्ठ था। इन सल्तनतो मे उच्च राजकीय पदों पर हिन्दुओं की नियुक्ति की गयी, और शासन-सूत्र का संचालन बहुत-कुछ उन्ही के हाथो मे रहा। मालवा (माण्डू) की सल्तनत में चन्देरी का राजा मेदिनी राय और उसके मित्र सर्वोच्च राजकीय पदो पर कार्य करते थे। बंगाल के सुलतान हुसेनशाह ने पुरन्दर, रूप और सनातन आदि कितने ही हिन्दुओ को उच्च राजकीय पद दिये। बहमनी सल्तनत मे भी बहुत-से हिन्दू उच्च पदो पर नियुक्त थे, और बीजापुर की आदिलशाही मे तो सब राजकीय कार्य शुरू मे मराठी भाषा में ही किया जाता था। इब्राहीम आदिलशाह को उसकी प्रजा 'जगत्गुरु' कहती थी। काश्मीर के सुलतान जैनुल आब्दीन ने धर्म के विषय मे उसी नीति को अपनाया था, बाद में अकबर ने अपने विशाल साम्राज्य मे जिसका अनुसरण किया। इस युग के विजयनगर राज्य के हिन्दू राजा भी मुसलिम सेनापति और सैनिकों को अपनी सेना मे नियुक्त करने में संकोच नही करते थे। इस प्रकार शासकीय क्षेत्र मे हिन्दुओ और मुसलमानों को एक-दूसरे के सम्पर्क मे आने का अवसर प्राप्त होता था।

(३) इसमे सन्देह नही, कि शुरू मे मुसलमानों ने अपने धर्म का प्रचार करने के लिए शस्त्र-शक्ति का प्रयोग किया था। पर भारत जैसे विशाल देश मे जहाँ वीर लोगो की कमी नही थी, तलवार के जोर पर इस्लाम का प्रचार कर सकना सुगम नही था। जो काम मुसलिम आक्रान्ताओ की तलवार नहीं कर सकी, उसे सम्पन्न करने के लिए अनेक पीर, औलिया व धर्मप्रचारक तत्पर हुए; और उनकी धर्मनिष्ठा, उच्च जीवन और सदुपदेश जनता को अपने प्रभाव मे लाने मे बहुत अंश तक सफल हुए। यद्यपि बहुसंख्यक हिन्दुओ ने इस्लाम को नही अपनाया, पर वे मुसलिम सन्तों और पीरो के प्रभाव मे आये बिना भी न रह सके। इसीलिए इस युग मे अनेक ऐसे मुसलिम पीर हुए, जिनके प्रति हिन्दुओ की भी श्रद्धा थी, और जिनके सदुपदेशों का श्रवण कर गैरमुसलिम भी आनन्द अनुभव करते थे। इसी प्रकार मुसलिम लोग भी भारत के योगियो, सन्त-महात्माओ और दार्शनिकों के प्रभाव मे आये, और उनके प्रति श्रद्धा रखने लगे। वैष्णव भक्तो द्वारा भक्ति की जो मन्दाकिनी इस युग में प्रवाहित हो रही थी, अनेक मुसलमानों ने भी उसमे स्नान कर शान्ति लाभ की।

(४) जिन हिन्दुओ ने मुसलिम शासन के समय मे इस्लाम को स्वीकार कर लिया था, धर्म परिवर्तन के कारण उनमें आमूलचूल परिवर्तन नही आ गया था। सदियों के मज्जातन्तुगत संस्कारो को एकदम नष्ट कर देना किसी के लिए भी सम्भव

नहीं होता। यही कारण है, जो इस युग में अनेक मुसलिम स्त्रियाँ भी सती प्रथा का अनुसरण करती थी, और नये मुसलिम बने हुए लोग पूर्ववत् ही हिन्दू योगियों और साधु-सन्तों का आदर करते थे। इन नव-मुसलिमों के सम्पर्क में आने वाले तुर्क व अफगान लोगों को भी भारत की पुरानी परम्परा से परिचय प्राप्त करने का अवसर मिलता था।

इन सब कारणों से हिन्दू और मुसलमान जिन क्षेत्रों में एक दूसरे के निकट सम्पर्क में आये, वे निम्नलिखित थे—कला, भाषा, साहित्य और धर्म। हम इन चारों पर पृथक्-पृथक् रूप से विचार करेंगे। धर्म के क्षेत्र मे हिन्दू मुसलिम सम्पर्क का जो परिणाम हुआ, वह भारत के इतिहास में बहुत अधिक महत्त्व रखता है। अतः उस पर हम एक पृथक् अध्याय में प्रकाश डालेंगे।

(५) वास्तु कला

हिन्दू और मुसलिम सम्पर्क का सबसे प्रत्यक्ष और स्थूल रूप वह वास्तुकला है, जिसका इस युग मे विकास हुआ, और जिसे ऐतिहासिकों ने 'इण्डो-मुसलिम' या 'पठान' कला का नाम दिया है। मुसलिम शासन की स्थापना से पूर्व वास्तु-कला भारत में अच्छी उन्नत दशा में थी। इसी प्रकार जिन तुर्कों व अफगानो ने भारत पर आक्रमण कर यहाँ अपना आधिपत्य स्थापित किया था, वे भी अपनी विशिष्ट वास्तु कला का विकास कर चुके थे। दसवी सदी तक अरब-साम्राज्य बहुत उन्नत दशा को प्राप्त हो चुका था, और अरब, मिस्र, ईरान आदि मुसलिम देशों की संस्कृतियों के सम्मिश्रण के कारण वहाँ एक ऐसी वास्तु-कला का विकास हो गया था, जो भारत की वास्तु-कला से बहुत भिन्न थी। महमूद गजनवी ने अपने विशाल साम्राज्य का निर्माण कर गजनी को बहुत-सी सुन्दर इमारतों व मसजिदो से सुशोभित किया था, जिनके निर्माण में भारतीय शिल्पियों का भी बडा हाथ था। भारत की लूट से महमूद ने केवल अपार धन-सम्पत्ति ही प्राप्त नही की थी, अपितु हजारों शिल्पी भी वह अपने साथ गजनी ले गया था। इन शिल्पियों ने गजनी की इमारतों में जहाँ मुसलिम कला को दृष्टि में रखा, वहाँ साथ ही भवन-निर्माण के भारतीय आदर्शों और विधियों का भी प्रयोग किया। इसीलिए जब भारत में तुर्कों व अफगानों का शासन स्थापित हुआ, तो इस देश के ये नये शासक भारतीय वास्तु-कला से सर्वथा अपरिचित नही थे। उन्होंने दिल्ली आदि में जो नई इमारतें बनवाईं, उनके निर्माण के लिए उन्होंने भारतीय शिल्पियों से ही काम लिया। इन शिल्पियों के लिए यह असम्भव था, कि वे अपने परम्परागत कला-सम्बन्धी आदर्शों को भुलाकर एक विदेशी कला का प्रयोग कर सकें। इसी कारण अफगान युग की इमारतें भारत की परम्परागत वास्तु-कला के अनुरूप हैं, और इसीलिए हेवल जैसे कलाविज्ञ ने यह प्रतिपादित किया है, कि 'शरीर और आत्मा' दोनों दृष्टियों से इस युग की वास्तु-कला विशुद्ध रूप से भारतीय व आर्य है। यद्यपि फर्ग्युसन सदृश अनेक ऐतिहासिकों ने इस युग की वास्तु-कला को 'पठान' नाम दिया है, पर इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता, कि अफगान युग की बहुसंख्यक इमारतें प्राचीन भारतीय वास्तु-कला से बहुत अधिक प्रभावित हैं, और सर जान मार्शल सदृश अनेक ऐतिहासिकों ने इस

तथ्य को स्वीकार भी किया है। यदि दिल्ली की सल्तनत को दृष्टि से ओझल कर जौनपुर, माण्डू, अहमदाबाद आदि प्रान्तीय सल्तनतों की इमारतों को दृष्टि में रखा जाय, तब तो हिन्दू कला का प्रभाव और भी स्पष्ट हो जाता है।

भारत का प्रथम मुसलिम सुलतान कुतुबुद्दीन ऐबक था। उसके समय में जो इमारतें बनी, उनमे कुतुब मीनार और कुतुब मसजिद सर्वप्रधान हैं। ये दोनों दिल्ली के समीप महरौली में स्थित है। इस स्थान पर प्राचीन समय में एक विशाल हिन्दू-मन्दिर था, जिसके मध्यभाग मे सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य द्वारा एक विष्णु-ध्वज स्थापित किया गया था। चन्द्रगुप्त का यह विष्णुध्वज (लोहे का विशाल स्तम्भ) अब तक वहाँ विद्यमान है, और इस प्राचीन विष्णु मन्दिर का स्मारक है। कुतुब मसजिद का निर्माण इसी मन्दिर को आधार बना कर किया गया था, और उसकी दीवारों पर अब तक भी हिन्दू-मूर्तियाँ सुरक्षित है। कुतुब मीनार के निर्माता के सम्बन्ध मे ऐतिहासिकों मे मतभेद रहा है। अनेक ऐतिहासिकों ने प्रतिपादित किया है, कि यह मीनार चौहान राजा पृथिवीराज या उसके किसी पूर्वज ने अपनी विजयो की स्मृति को स्थिर रखने के लिए 'विजय-स्तम्भ' के रूप मे बनवाई थी। बाद में कुतुबुद्दीन ऐबक ने इसके अनुकरण मे एक नई मीनार का निर्माण शुरू कराया, पर वह उसे पूर्ण नही कर सका। यह दूसरी मीनार अब तक भी अपूर्ण दशा मे विद्यमान है। जिन युक्तियों के आधार पर कुतुब मीनार को मध्य हिन्दू-युग की कृति बताया गया है, उनका उल्लेख करना यहाँ सम्भव नही है। पर बहुसख्यक ऐतिहासिक यही मानते हैं, कि २४२ फीट ऊँची यह विशाल मीनार कुतुबुद्दीन ऐबक के समय में बननी शुरू हुई थी, और सुलतान अल्तमश के शासन-काल मे बनकर तैयार हुई थी। बिजली के आघात से फीरोजशाह तुगलक के समय मे इसकी उपरली मजिल टूट गयी थी, जिसके स्थान पर इस सुलतान ने दो छोटी मजिलों का निर्माण करा दिया था। कुतुबुद्दीन ऐबक के समय की अन्य इमारतों मे अजमेर की 'अढाई दिन का झोपडा' नाम की मसजिद भी बडे महत्त्व की है। यह भी अल्तमश के समय मे बनकर तैयार हुई थी। महरौली की कुतुब मसजिद के समान इसका निर्माण भी एक पुराने हिन्दू-मन्दिर के आधार पर ही किया गया था। कुतुबुद्दीन के शासन-काल मे अल्तमश बदायूँ का सूबेदार था। वहाँ उसने 'हौजे शम्सी' और 'शम्शी ईदगाह' का निर्माण कराया। दिल्ली का सुलतान बनने के बाद भी अल्तमश ने बदायूँ का ध्यान रखा, और १२२३ ईस्वी मे वहाँ की प्रसिद्ध 'जामा मसजिद' का निर्माण कराया। अफगान युग की ये ही इमारते सबसे प्राचीन है।

अलाउद्दीन खिलजी के समय मे दिल्ली की सल्तनत का बहुत उत्कर्ष हुआ। विविध हिन्दू राजवशो का अन्त कर उनकी राजधानियों मे जो अपार सम्पत्ति अलाउद्दीन ने प्राप्त की, उसके कुछ अश का उपयोग उसने इमारतो के निर्माण के लिए भी किया। इनमे सीरी का किला, हजार सितून महल, अलाई दरवाजा, हौज-अलाई और हौजे-खास विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यद्यपि इस समय ये सुरक्षित दशा मे नही हैं, पर इनके भग्नावशेषो से अलाउद्दीन की वास्तुकृतियो का आभास लिया जा सकता है। अलाउद्दीन खिलजी के समय मे ही अजमेर मे 'निजामुद्दीन औलिया की दरगाह' का निर्माण हुआ। ये सब 'इण्डो-मुसलिम' वास्तु कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। विशेषतया,

महरौली की कुतुब मसजिद मे अलाउद्दीन द्वारा निर्मित अलाई दरवाजा कला की दृष्टि से अनुपम है।

तुगलक-वंश के शासन काल मे जो इमारतें बनीं, वे सौन्दर्य और कला की दृष्टि से उतनी उत्कृष्ट नही हैं, जितनी कि इससे पूर्वकाल की हैं। उनमे अलंकरण की अपेक्षा सादगी और गम्भीरता अधिक है। दिल्ली के समीप तुगलकाबाद नगरी इसी युग मे स्थापित हुई थी। उसके पास मे विद्यमान गयासुद्दीन तुगलक का मकबरा बहुत सुन्दर माना जाता है। तुगलक वंश के सुलतान फीरोजशाह को वास्तु-कला से बहुत प्रेम था। उसने अपने नाम से फीरोजशाह की स्थापना की, जिसके भग्नावशेष अब तक भी दिल्ली के चौगिर्द के प्रदेश मे विद्यमान हैं। फतहाबाद और हिसार फीरोजा नाम के दो अन्य नगर भी उसने बसाये, और गोमती नदी के तट पर जौनपुर नामक नगर की नीव डाली, जो आगे चलकर एक स्वतन्त्र सल्तनत की राजधानी बना। फीरोजशाह तुगलक को प्राचीन काल के पुरातत्त्व-सम्बन्धी अवशेषों मे भी बहुत दिलचस्पी थी। इसीलिए सम्राट् अशोक के दो प्रस्तर-स्तम्भों को अम्बाला और मेरठ जिलों से वह दिल्ली ले आया था, जो अब तक भी वहाँ विद्यमान है। लोदी और सैयद-वंशो के शासन काल मे भी अनेक मकबरो और मसजिदो का निर्माण हुआ, जिनमें सुलतान सिकन्दरशाह लोदी का मकबरा और 'मोठ की मसजिद' सबसे प्रसिद्ध है।

पर दिल्ली के सुलतानो के मुकाबले मे जौनपुर, अहमदाबाद, लखनौती, माण्डू और दौलताबाद के सुलतानो ने नये राजप्रासादो, मकबरो और मसजिदों के निर्माण में अधिक कर्तृत्व प्रदर्शित किया। यद्यपि राज्य विस्तार की दृष्टि से ये प्रान्तीय सुलतान दिल्ली के सुलतानो की अपेक्षा हीन थे, पर सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र मे ये उनसे बहुत बढ़े-चढ़े थे। जौनपुर के शरकी सुलतान जहाँ साहित्य और ज्ञान के प्रेमी थे, वहाँ उन्होने अपनी राजधानी को सुन्दर इमारतों से विभूषित करने पर भी बहुत ध्यान दिया। शरकी सुलतानो की बहुत-सी कृतियाँ अब तक भी जौनपुर में विद्यमान हैं, जिनमें सुलतान इब्राहीम (चौदहवी सदी का अन्तिम चरण) द्वारा निर्मित अताला मसजिद और सुलतान हुसैनशाह की जामा मसजिद बहुत प्रसिद्ध हैं। अताला मसजिद को इस युग की सर्वश्रेष्ठ वास्तु-कृतियों मे गिना जाता है, और इसमे सन्देह नहीं, कि उसके निर्माण मे पुरानी हिन्दू वास्तु-कला का उत्कृष्ट रूप से प्रदर्शन किया गया है। इस मसजिद पर हिन्दू-प्रभाव इतना अधिक है, कि सामान्य मसजिदो के समान इसमे ऊँची मीनारो तक को स्थान नही दिया गया। जौनपुर की ये मसजिदें पुराने समय के हिन्दू-मन्दिरो के ही रूपान्तर हैं, यद्यपि इनके निर्माण का प्रयोजन किसी देवप्रतिमा का प्रतिष्ठापन नही था। जौनपुर की लाल दरवाजा मसजिद का स्वरूप तो हिन्दू-शैली से बहुत अधिक समता रखता है।

बंगाल के मुसलिम सुलतानो ने भी अपने मकबरों, मसजिदों और प्रासादों का निर्माण कराते हुए भारत की पुरानी वास्तु-कला का अनुसरण किया था। इसीलिए इन पर हिन्दू-शैली का प्रभाव बहुत स्पष्ट रूप से विद्यमान है। बंगाल में इस युग की जो कृतियाँ अब तक सुरक्षित हैं, उनमें १३६८ में निर्मित अदोना मसजिद, १४४३

ईस्वी के लगभग बनी छोटा सोना मसजिद और १५२६ मे बनी बड़ा सोना मसजिद सर्वप्रधान हैं। प्रसिद्ध कलाविज्ञ फर्ग्युसन के अनुसार बडा सोना मसजिद बंगाल की सर्वश्रेष्ठ वास्तु-कृति है।

गुजरात के सुलतानो ने मसजिदो और मकबरो के निर्माण पर बहुत अधिक श्रम किया था। इस्लाम के प्रवेश से पूर्व गुजरात मे जैन-धर्म का विशेष रूप से प्रचार था। इसीलिए जब वहाँ के मुसलिम सुलतान नई इमारतो के निर्माण में प्रवृत्त हुए, तो उन्होंने जिन शिल्पियो को इमारत बनाने का कार्य सुपुर्द किया, वे जैन मन्दिरों के निर्माण का अनुभव रखते थे। इसीलिए जब उन्होंने मुसलिम सुलतानों के आदेश के अनुसार मसजिदों का निर्माण किया, तो वे अपने परम्परागत अभ्यास को भुला नहीं सके। अहमदाबाद नगर की स्थापना सुलतान अहमद शाह (१४११–१४४१) द्वारा की गयी थी। उसने अपनी राजधानी को अनेक प्रासादो और मसजिदो से विभूषित किया, जिनके निर्माण के लिए न केवल पुराने हिन्दू और जैन मन्दिरो के भग्नावशेषो का प्रयोग किया गया, अपितु उनकी वास्तु-कला का भी अनुसरण किया गया। गुजरात के सुलतान तक्षक क्षत्रिय थे, जिन्होंने इस्लाम को स्वीकार कर लिया था। धर्म-परिवर्तन के बाद भी वे अपनी भारतीयता को नही छोड़ सके थे। इसी कारण उनकी कृतियों पर हिन्दू कला का प्रभाव और भी अधिक है। अहमदाबाद की इमारतों में तीन दरवाजा और जामा मसजिद श्रेष्ठ हैं, जो इस युग की इण्डो-मुसलिम वास्तु-कला के उत्कृष्ट उदाहरण है।

मालवा के सुलतानो ने भी अपनी राजधानी माण्डू को अनेक इमारतों से विभूषित किया। उनकी कृतियो मे जामा मसजिद, हिंडोला महल, जहाज महल, हुशगशाह का मकबरा और बाजबहादुर व रूपमती के राजप्रासाद बहुत प्रसिद्ध हैं।

दक्षिणी भारत मे बहमनी राज्य और उसके भग्नावशेषो पर स्थापित हुई शाहियो के सुलतानो ने भी अनेक प्रकार की इमारतो के लिए उत्साह दिखाया। इनकी वास्तु-कला मे भारतीय तत्त्व के अतिरिक्त ईरानी, तुर्क और मिस्री तत्त्व भी पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान है। इसका कारण यह है, कि इन देशो के अनेक साहसी और सुयोग्य व्यक्ति समय-समय पर बहमनी सुलतानो के राजदरबारों मे आते रहे, और वहाँ उनको समुचित आदर प्राप्त हुआ। इनमे अनेक व्यक्ति ऐसे भी थे, जो वास्तु-कला के विशेषज्ञ थे। पर इसमे सन्देह नही, कि बहमनी राज्य की वास्तु-कला पर भी भारतीय हिन्दू-कला की अमिट छाप है, और वहाँ की अनेक मसजिदे तो प्राचीन हिन्दू-मन्दिरो के रूपान्तर मात्र हैं।

(६) संगीत और चित्रकला

संगीत—वास्तु-कला के अतिरिक्त सगीत के क्षेत्र मे हिन्दू और मुसलमानों के सम्पर्क ने अनेक महत्त्वपूर्ण परिणाम उत्पन्न किये। इस्लाम के प्रादुर्भाव के बाद के प्रारम्भिक काल में अरब लोगो ने संगीत पर ध्यान नही दिया था, क्योंकि इस्लाम में भावना का बहुत स्थान नही था। पर आगे चलकर जब ईरान आदि देशों मे इस्लाम का प्रसार हुआ, तो उस धर्म मे अनेक ऐसे सम्प्रदाय विकसित हुए, जो भक्ति और

भावना को महत्त्व देते थे, और भगवान् की पूजा के लिए संगीत का भी उपयोग करते थे। भारत के मुसलमानों ने भी कव्वाली और खयाल के रूप में अपने मकबरों मे संगीत का प्रारम्भ किया। संगीत के ये प्रकार भारत के लिए नये थे, पर बाद में भारतीय संगीताचार्यों ने इन्हे पूरी तरह से अपना लिया, और ये भारतीय संगीत के महत्त्वपूर्ण अंग बन गये।

अफगान युग में संगीत-कला की जो उन्नति हुई, उसका मुख्य श्रेय जौनपुर के शरकी सुलतानों को प्राप्त है। वहाँ के सुलतान इब्राहीम शाह (१४०९-३७) और हुसैनशाह (१४५७-७९) के दरबारो मे ही संगीत के उस प्रकार का सूत्रपात हुआ, जिसे 'खयाल' कहा जाता है। इब्राहीम के शासनकाल मे बहादुर मलिक नाम के एक राजपुरुष ने संगीत को नवजीवन प्रदान करने के लिए एक महान् सम्मेलन का आयोजन किया, जिसमे विविध प्रदेशो के संगीताचार्य एकत्र हुए। भारतीय संगीत के सम्बन्ध मे जो अनेक बातें विवादग्रस्त थी, उन सब पर विचार करके इस सम्मेलन द्वारा 'संगीत-शिरोमणि' नाम के ग्रन्थ का निर्माण हुआ।

चित्र-कला—अफगान युग मे भारतीय चित्रकला की उस शैली का विकास हुआ, जिसे 'राजस्थानी शैली' कहते है। इसका विकास राजपूताना और गुजरात के प्रदेशों में पन्द्रहवी सदी मे हुआ था। इस शैली के अनुसार इस युग मे जिन चित्रों का निर्माण हुआ, उनका प्रधान प्रयोजन कृष्ण और राधा के सनातन प्रेम का चित्रण करना है। कृष्ण और राधा को निमित्त बनाकर इस युग के चित्रकारों ने पुरुष और स्त्री के प्रेम का बहुत सुन्दर रूप से चित्रण किया है। साथ ही, नायिका भेद, रामायण और महाभारत के विविध कथानक, नल दमयन्ती की कथा, रागमाला और बारहमासा आदि के दृश्य भी राजस्थानी शैली द्वारा बहुत सजीव रूप में अंकित किये गये हैं। इन चित्रों में विविध प्रकार के चटकीले रगो का उपयोग किया गया है, और इनके लिए कागज का प्रयोग किया गया है। इन चित्रो के रंग बहुत आकर्षक और भडकीले हैं।

गुजरात का प्रसिद्ध सुलतान महमूद बेगडा (१४५१-१५११) कला का संरक्षक और कलावन्तों का आश्रयदाता था। उसकी संरक्षा में चित्रकला की राजस्थानी शैली की अच्छी उन्नति हुई। इसी काल मे काश्मीर का शासन जैनुल आब्दीन नामक मुसलिम शासक के अधीन था। वह भी कला का बडा प्रेमी था। संगीत और चित्रकला दोनो की ही उन्नति पर उसने विशेष रूप से ध्यान दिया।

(७) भाषा और साहित्य

शुरू में जब तुर्कों और अफगानों ने भारत में अपना शासन स्थापित किया, तो उन्होंने संस्कृत और प्राकृत भाषाओ का अपने सिक्कों पर उपयोग किया। यदि बाद के मुसलिम शासक भी यही करते, तो मुसलमानों के लिए भारत के जनसमाज का अंग बन जाना अधिक कठिन न होता। पर अफगान युगके मुसलमान अपने को हिन्दुओं से पृथक् समझते थे, और अपने को उनमें मिला देने के लिए तैयार नही थे। इसी कारण उन्होंने पर्शियन को अपनी राजभाषा बनाया। अंग्रेजी शासन के युग मे जो स्थिति अंग्रेजी की थी, वही अफगान सल्तनत के काल में पर्शियन की थी। अफगान सुलतान अपने

राजकीय आदेशों में पर्शियन का प्रयोग करते थे, और अपने सिक्के भी इसी भाषा में अंकित कराते थे। पर यह होते हुए भी यह सम्भव नही था, कि वे इस देश की भाषा की सर्वथा उपेक्षा कर सकते, क्योंकि वे स्थायी रूप से भारत में बस गये थे। इस युग मे भारत के जनसाधारण की भाषा हिन्दी थी, जिसमे साहित्य का निर्माण भी प्रारम्भ हो चुका था। अनेक तुर्क-अफगानो ने हिन्दी को अपनाया, और उसमे कविता की रचना भी की। इस प्रकार के लोगों मे अमीर खुसरो का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने तेरहवी सदी के उत्तरार्ध मे अपनी रचना प्रारम्भ की थी, और बलबन, अलाउद्दीन खिलजी और कुतुबुद्दीन मुबारकशाह के वह समकालीन थे। वे पर्शियन के प्रकाण्ड पण्डित थे, और इस भाषा मे उन्होने बहुत-से ग्रन्थ और काव्य लिखे थे। पर अमीर खुसरो ने अपने भावों को व्यक्त करने लिए केवल पर्शियन भाषा का ही उपयोग नहीं किया। उन्होने हिन्दी (खडी बोली और ब्रजभाषा) मे भी कविताएँ लिखी, और उनके कुछ उदाहरण अब तक भी उपलब्ध हैं। इस्लाम के सूफी सम्प्रदाय के अनेक सन्तों ने भी अपने विचारो का जनसाधारण मे प्रचार करने के लिए हिन्दी-भाषा का आश्रय लिया। इनमे कुतबन (पन्द्रहवी सदी का उत्तरार्ध), मंझन (सोलहवी सदी का पूर्वार्ध) और मलिक मुहम्मद जायसी (सोलहवीं सदी) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। जायसी हिन्दी के बहुत प्रसिद्ध कवि हुए हैं, और उन्होंने 'पदमावत' नाम के एक विशाल महाकाव्य की रचना की थी। इसी प्रकार के अन्य भी अनेक मुसलिम सन्त और कवि हुए, जिन्होने अपनी रचनाओं के लिए हिन्दी-भाषा को अपनाया, और उसमें सुन्दर कविता का सृजन किया। इन कवियो और विद्वानो के कारण हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे के बहुत समीप आ गये थे।

उर्दू-भाषा—हिन्दी-भाषा की जो शैली 'उर्दू' नाम से प्रसिद्ध है, उसका सूत्रपात अफगान युग में ही हो गया था। तुर्क और अफगान शासक राजकीय कार्य में पर्शियन का उपयोग करते थे। भारत के जनसाधारण की भाषा में पर्शियन और अरबी शब्दो का सम्मिश्रण होने से जो नई भाषा विकसित हुई, उसीका नाम उर्दू है। इसे समझ सकना भारतीयों के लिए अधिक कठिन नहीं था, क्योंकि इसका व्याकरण पूर्णरूप से भारतीय था। मुसलिम शासको के सम्पर्क से उन्होंने बहुत-से पर्शियन और अरबी शब्दों को अपना लिया था, और इस नई भाषा को लिखने के लिए पर्शियन लिपि का ही उपयोग किया था। पर उर्दू भारत के लिये विदेशी भाषा नही थी, क्योंकि उसके ८० प्रतिशत से भी अधिक शब्द भारत के जनसाधारण की भाषा से लिये गए थे। उर्दू भाषा का विकास इस युग के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है, क्योंकि इसके कारण हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे के बहुत समीप आ गये थे, और उनका भेद बहुत कुछ दूर हो गया था।

हिन्दी-भाषा—इसी प्रसंग में हमें हिन्दी-भाषा के विकास और साहित्य के विषय मे भी कुछ प्रकाश डालना चाहिये, क्योंकि वह इस युग के जनसाधारण की भाषा थी। प्राचीन समय में भारत की भाषा संस्कृत थी, और राजा व विद्वान् उसी का प्रयोग करते थे। यद्यपि छठी सदी ई० पू० में सर्वसाधारण जनता प्राकृत और पालि भाषाएँ बोलती थी, पर विद्वान् कवि और राजा संस्कृत को ही प्रयुक्त करते थे। महात्मा

बुद्ध ने अपनी शिक्षाओं का जनता में प्रचार करने के लिए पालि भाषा को अपनाया, और इसीलिए बौद्ध त्रिपिटक का निर्माण पालि में ही हुआ। अशोक जैसे बौद्ध-सम्राट् ने अपनी राजाज्ञाओं के लिए पालि भाषा का आश्रय लिया, क्योंकि वह अपने आदेशों को जनसाधारण तक पहुँचाने के लिए उत्सुक था। मौर्य युग के बाद जब वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ, तो साथ ही संस्कृत भाषा का भी एक बार फिर उत्कर्ष हुआ। पर क्योंकि उस समय सर्वसाधारण लोगों की भाषा प्राकृत थी, अतः अनेक कवियों ने उसमें भी अपने काव्य लिखे, और सातवाहन आदि अनेक राजवंशों द्वारा प्राकृत को संरक्षण भी प्राप्त हुआ। भाषा कभी एक रूप में स्थिर नहीं रहती, उसमें निरन्तर विकास होता रहता है। भारत की भाषा में भी निरन्तर विकास हो रहा था, और इसी से अनेक अपभ्रंश भाषाओं का निर्माण हुआ। इन अपभ्रंश भाषाओं में अन्यतम भाषा हिन्दी थी, जिसका विकास आठवीं सदी ईस्वी में ही प्रारम्भ हो गया था। यद्यपि इस युग के पण्डित, विद्वान्, कवि और राजा अपने कार्यों के लिए इस अपभ्रंश भाषा का प्रयोग नहीं करते थे, पर अनेक बौद्ध सन्तों ने अपने विचारों का प्रचार करने के लिए इसे अपनाया। इनमें आचार्य सरह या सरोवज्र का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ऐतिहासिकों के अनुसार इनका समय आठवीं सदी के लगभग था, और ये वज्रयान (बौद्ध-धर्म का अन्यतम सम्प्रदाय) के सुप्रसिद्ध 'सिद्ध' थे। आठवीं सदी में ही हिन्दी ने अपने उस रूप को अनेक अंशों में प्राप्त कर लिया था, जिसमें आगे चल-कर बहुत-से कवियों ने अपने काव्यों की रचना की। सरह के समान अन्य भी कितने ही वज्रयानी सिद्धों ने हिन्दी में अपने उपदेश किये, और जनसाधारण की इस भाषा को अपने मन्तव्यों के प्रतिपादन के लिए प्रयुक्त किया। वज्रयानी सिद्धों के समान नाथ-पंथ के सन्तों ने भी हिन्दी-भाषा को अपनाया, और गोरखनाथ जैसे आचार्यों ने इसी भाषा में अपनी 'साखियाँ' या 'बानियाँ' लिखीं। गोरखनाथ के समय के विषय में बहुत मतभेद है। कुछ विद्वान् उन्हें नवीं सदी में हुआ मानते हैं, और कुछ बारहवीं सदी में। वज्रयान और नाथपंथ की परम्परा का भारत के अन्य सम्प्रदायों ने भी अनुसरण किया और मुसलिम सूफी संत भी इस परम्परा को अपनाये बिना नहीं रह सके। परिणाम यह हुआ, कि जिस समय में मुसलिम शासन स्थापित हुआ, हिन्दी इस देश में न केवल जनसाधारण की भाषा थी, अपितु विविध धर्म-प्रचारक भी अपने उपदेशों और काव्यों के लिए इसी का उपयोग करते थे।

बारहवीं सदी के अन्त में जब भारत पर मुसलमानों के आक्रमण प्रबल रूप से प्रारम्भ हुए, तो इस देश के राजवंशों व सैनिकों के सम्मुख एक नई समस्या उत्पन्न हुई। उन्हें अब एक विदेशी व विधर्मी शक्ति का मुकाबला करना था, और इसके लिए उनमें अनुपम शौर्य व साहस का संचार करने की आवश्यकता थी। इसी कारण इस समय उस काव्य-परम्परा का प्रादुर्भाव हुआ, जिसे 'वीरगाथा काव्य' कहा जाता है। दसवीं सदी के अन्त में तुर्कों के आक्रमणों के समय में ही इन वीर काव्यों का निर्माण प्रारम्भ हो गया था, और 'खुमान रासो' और 'बीसल देव रासो' जैसे काव्यों की रचना हुई थी। पर अफगान युग में इस प्रवृत्ति ने बहुत जोर पकड़ा, और चन्द वरदाई, भट्ट केदार, मधुकर कवि, जगनिक और श्रीधर जैसे कवियों ने अनेक उत्कृष्ट वीर काव्यों

की रचना की। इन कवियो के काव्य इस युग की हिन्दी में थे, और इनके कारण जनता मे वीर भावना के प्रादुर्भाव मे बहुत सहायता मिली थी। पर इन वीर काव्यों के कारण वह ऐतिहासिक प्रक्रिया रुकी नही, जिसका प्रारम्भ शहाबुद्दीन गोरी के आक्रमणों से हुआ था। शीघ्र ही भारत के बडे भाग पर मुसलिम आक्रान्ताओं का आधिपत्य स्थापित हो गया और इस देश की क्षात्रशक्ति के क्षय के साथ ही वीर काव्यो का भी अंत हो गया। राजपूताने के वीर राजवशो के आश्रय मे रहने वाले भाट और चारण लोग बाद मे भी वीरता के गीतो का सृजन करते रहे, पर हिन्दी की मुख्य काव्य-धारा का रुख परिवर्तित हो गया, और उसमे उस भक्ति-रस का प्रवाह शुरू हुआ, जो एक सतप्त व पीडित जनसमाज को शान्ति और सन्तोष का सन्देश देता है।

पर यह स्पष्ट है, कि अफगान युग मे भारत की मुख्य साहित्यिक भाषा हिन्दी थी। इसीलिए मुसलमान भी उसके प्रभाव मे आये बिना नही रह सके। उन्होने भी अपनी साहित्यिक प्रतिभा को अभिव्यक्त करने के लिए उसे अपनाया, और सर्वसाधारण लोगों के सम्पर्क मे आने के उद्देश्य से पर्शियन शब्दो से मिश्रित एक ऐसी हिन्दी-भाषा का उपयोग शुरू किया, जो आगे चलकर उर्दू नाम से हिन्दी की ही एक पृथक् व स्वतंत्र शैली बन गयी।

दक्षिणी हिन्दी या उर्दू—अफगान युग मे उत्तरी भारत मे जिस साहित्य का विकास हुआ, वह या तो धार्मिक था और या वीर काव्यों के रूप में था। इस साहित्य के लिए उन अनेक भाषाओं का उपयोग किया गया था, जो उस युग मे सर्वसाधारण की भाषाएँ थी। उत्तरी भारत के नाथपथी साधुओ ने अपनी बानियाँ जिस भाषा मे लिखी, उसे 'सधुक्कडी' कहा जाता है। साधु सत भारत के सब प्रदेशो मे भ्रमण करते रहते थे, इस कारण उनकी भाषा मे उत्तरी भारत के प्रायः सभी प्रदेशो के शब्द सम्मिलित हो गये थे। उसे किसी एक प्रदेश की भाषा नही कहा जा सकता। सधुक्कडी भाषा के अतिरिक्त अफगान युग मे प्रधानतया राजस्थानी और ब्रजभाषाओं में साहित्य का विकास हुआ। राजस्थानी भाषा का उपयोग मुख्यतया वीर-काव्यो के लिए हुआ, और ब्रजभाषा का भक्ति रस की कविताओ के लिए। दक्षिणी भारत में भक्ति की जिस लहर का प्रादुर्भाव हुआ था, उत्तरी भारत मे जब वह आई, तो वृन्दावन उसका प्रधान केन्द्र बना, और वहाँ की भाषा (ब्रजभाषा) को ही भक्त सतों ने अपने गीतो के लिए प्रयुक्त किया। पर अफगान सल्तनत की राजधानी दिल्ली के आस-पास के प्रदेशो की भाषा 'कौरवी' थी, जिसे खडी बोली भी कहा जाता है। दिल्ली के तुर्क-अफगान शासक इस कौरवी भाषा के ही सबसे अधिक सम्पर्क मे आये, और इसी मे खुसरो आदि ने कविताओ का भी निर्माण किया। इसी मे पर्शियन और अरबी शब्दो के सम्मिश्रण मे उस भाषा का विकास हुआ, जो बाद में 'उर्दू' नाम से प्रसिद्ध हुई। पर दिल्ली के सुलतानो के संरक्षण में इस कौरवी या खडी बोली मे साहित्य का अधिक विकास नही हो सका। इसका कारण यह था, कि दिल्ली के दरबार मे तुर्क-अफगान मुसलमानो की प्रधानता थी और वे पर्शियन भाषा मे ही अपना कार्य किया करते थे। पर उत्तरी भारत के मुसलमानो ने जब दक्षिणापथ मे अपने शासन का विस्तार किया, और वहाँ मुसलिम शासन के अनेक केन्द्र कायम हुए, तो वहाँ विदेशी तुर्क-अफगानों की संख्या

इतनी अधिक नहीं थी, कि वे पर्शियन भाषा को अपने राज्य-कार्य के लिए प्रयुक्त कर सकते। उत्तरी भारत के ये मुसलमान दिल्ली के आस-पास के प्रदेश की कौरवी भाषा को दक्षिणापथ में ले गए, और वहाँ के मुसलिम दरबारों में इसी भाषा ने प्राधान्य प्राप्त किया। यही कारण है, जो दक्षिण के अनेक मुसलमानों और मुगल शासकों के संरक्षण मे 'हिन्दवी' भाषा के साहित्य का विकास हुआ। दक्षिण मे विकसित हुई कौरवी भाषा के इस नये रूप को 'हिन्दी' और 'उर्दू' दोनो कहा जा सकता है। इसका व्याकरण और शब्दकोश कौरवी या खडी बोली के थे, पर इसमें पर्शियन और अरबी शब्दों का भी सम्मिश्रण रहता था। इस नई भाषा का विकास दक्षिणापथ के जिन मुसलिम सुलतानो के दरबार में विशेष रूप से हुआ, उनमें इब्राहीम आदिलशाह (१५७६-१६२६), मुहम्मद कुली कुतुबशाह (१५८०-१६१२) और मुहम्मद कुतुबशाह (१६१२-२५) के नाम उल्लेखनीय हैं। बाद में पर्शियन-मिश्रित कौरवी भाषा का विकास उत्तरी भारत के मुसलिम शासको के दरबारो मे भी होने लगा, और इस प्रकार हिन्दी भाषा की एक नवीन शैली भली-भाँति विकसित हो गयी।

बंगाली साहित्य—अफगान सुलतानो के आश्रय मे भारत की प्रान्तीय भाषाओ को भी प्रोत्साहन मिला। बगाल के सुलतान नसरतशाह (१५१८ ईस्वी) ने महाभारत का बंगाली भाषा मे अनुवाद कराया। प्रसिद्ध कवि विद्यापति ने सुलतान नसरतशाह और घियासुद्दीन महमूदशाह (१५३३ ई०) की बहुत प्रशंसा की है, और उन्हें बगाली भाषा का सरक्षक कहा है। इसी युग मे कृत्तिवास ने बगाली भाषा मे रामायण की रचना की, जिसका बगाल मे प्राय. वही स्थान है, उत्तरी-भारत में जो तुलसीकृत रामायण का है। कृत्तिवास को बंगाल के सुलतानो का आश्रय प्राप्त था। सुलतान हुसैनशाह (१४९३ई०) के संरक्षण मे मालाधर बसु ने भागवत का बगाली भाषा में अनुवाद किया, और इस उपलक्ष्य मे सुलतान ने उसे 'गुणराजखाँ' की उपाधि से विभूषित किया। हुसैनशाह के सेनापति परागल खाँ ने महाभारत का एक अन्य अनुवाद बगाली भाषा मे कराया, जो कार्य कवीन्द्र परमेश्वर ने सम्पन्न किया। परागल खाँ के पुत्र चूती खाँ ने, जो कि बंगाल के सुलतान के अधीन चटगाँव का सूबेदार था, महाभारत के अश्वमेध पर्व का श्रीकर नन्दी द्वारा बंगाली अनुवाद कराया। इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि इस युग के सुलतान, विशेषतया बगाल, गुजरात आदि के प्रान्तीय सुलतान, भारत की प्रान्तीय भाषाओ के भी संरक्षक थे।

इस युग में संस्कृत भाषा में भी अनेक पुस्तकें लिखी गयीं। पर यह कार्य प्राय: उन प्रदेशों मे हुआ, जहाँ अभी मुसलिम शासन स्थापित नही हुआ था।

तेईसवाँ अध्याय

हिन्दू-धर्म की नवीन जागृति

(१) भारत के विविध धर्म और इस्लाम

इस्लाम से सम्पर्क होने पर भारत के पुराने हिन्दू धर्म में नवजीवन का संचार हुआ। एक विदेशी व विधर्मी जाति से परास्त हो जाना भारत के लिए एक असाधारण घटना थी। मुस्लिम आक्रमण से पूर्व भी भारत पर विदेशी लोगों के आक्रमण हुए थे, पर या तो आक्रान्ता इस देश मे स्थायी रूप से अपना शासन स्थापित करने मे असमर्थ रहे थे, और या इस देश मे बसकर वे यहाँ की सभ्यता और संस्कृति के रंग मे ही रंग गये थे। यवन, शक, पार्थियन, कुशाण और हूँण आक्रान्ता भारत में अपनी राजशक्ति को कायम करने मे आंशिक रूप से सफल हुए, पर भारतीयो के सम्पर्क से वे पूर्णतया भारतीय बन गये। उन्होने इस देश की भाषा, सभ्यता, धर्म और संस्कृति को अपना लिया। पर तुर्कों और अफगानों के रूप मे जिन नवीन हूँणो ने भारत मे अपने राज्य स्थापित किये थे, वे एक ऐसे धर्म के अनुयायी थे, जिसमे अपूर्व जीवनी शक्ति थी, और जो सम्पूर्ण मानव समाज को आत्मसात् करने की महत्त्वाकाक्षा रखता था। मनुष्यमात्र की समता और ईश्वर तथा रसूल पर दृढ विश्वास ऐसे तत्त्व थे, जो इस नये धर्म को अनुपम शक्ति प्रदान करते थे। इन्ही के कारण मिस्र, सीरिया, ईरान आदि के पुराने धर्म इस्लाम के सम्मुख नही टिक सके। मुसलमान कहते थे, जो कोई मनुष्य अल्लाह और रसूल पर ईमान ले आएगा, उसमे ऊँच-नीच का भेद नहीं रहेगा। अल्लाह और रसूल पर विश्वास मनुष्य को न केवल इस लोक मे सुख प्रदान करेगा, पर बहिश्त का द्वार भी उसके लिये खुल जायगा। भारत मे इस्लाम का प्रवेश होने पर देश के धार्मिक नेताओ के सम्मुख एक महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित हुआ। क्या वज्रयान और शाक्त सम्प्रदायो की गुह्य साधनाओ, मीमासको के कर्मकाण्ड और अद्वैतवादी स्मार्तों के ज्ञान मार्ग की अपेक्षा इस्लाम का यह मार्ग (अल्लाह और रसूल मे विश्वास) अधिक क्रियात्मक नही है? यह तो स्पष्ट ही था, कि इस्लाम को स्वीकृत करके मनुष्य इहलोक मे अपना अभ्युदय कर सकता था। उसे जजिया कर देने की आवश्यकता नही रहती थी, और राजकीय सेवा का मार्ग भी उसके लिए खुल जाता था। यदि वह नीच जाति का या अछूत हो, तो इस्लाम की दीक्षा लेकर वह 'पापयोनि' न रहकर 'पाक' हो जाता था। और मृत्यु के बाद? इस्लाम कहता था—अल्लाह और रसूल में ईमान लाकर मनुष्य बहिश्त को प्राप्त कर सकता है। सर्वसाधारण लोगों की दृष्टि मे निःश्रेयस, स्वर्ग या बहिश्त का यह उपाय वाममार्गियो की गुह्य साधनाओं व मीमांसको के कर्मकाण्ड की अपेक्षा किसी भी प्रकार हीन नही था।

यदि इस युग के हिन्दू धर्म में जीवनी शक्ति, कल्पना व चिन्तन का अभाव होता, तो इस्लाम के सम्पर्क के कारण उसकी भी वही गति होती, जो ईरान, मिस्र आदि के पुराने धर्मों की हुई थी। बिजली की लहर निर्बल मनुष्य के जीवन का अन्त कर देती है, पर उन मनुष्यों में वह जीवन का संचार करती है, जिनमें अभी शक्ति का अधिक क्षय नहीं हो चुका होता। इस्लाम के सम्पर्क से हिन्दू धर्म में नवजीवन का संचार हुआ। इस्लाम उसे नष्ट नही कर सका, क्योकि उसकी शक्ति का सर्वथा ह्रास नहीं हो गया था। उसके सम्पर्क से हिन्दू धर्म में नवीन जागृति का प्रादुर्भाव हुआ।

(२) मध्य युग के भारतीय धर्म

इससे पूर्व कि हम हिन्दू धर्म की इस नवीन जागृति पर प्रकाश डालें, यह उपयोगी होगा कि इस्लाम के प्रवेश के समय भारत के विविध धर्मों की जो दशा थी, उसका अत्यन्त संक्षिप्त रूप से उल्लेख कर दें।

बौद्ध-धर्म—बारहवी सदी में बौद्ध-धर्म भारत से प्राय: नष्ट हो चुका था। पूर्वी भारत (मगध और बंगाल) मे अभी इस धर्म की सत्ता थी, पर वह प्रधानतया बड़े-बड़े बिहारों मे ही केन्द्रित था, जिनमे हजारों भिक्षु निवास करते थे। इस युग के प्राय: सभी बौद्ध वज्रयान के अनुयायी थे, जो रहस्यमयी क्रियाओ और गुह्य साधनाओ मे विश्वास रखते थे। जनसमाज के हित की इन्हे जरा भी चिन्ता नही थी। वज्रयानी बौद्धों के अनुकरण मे पौराणिक हिन्दू धर्म मे भी वाममार्ग का विकास हो गया था, जो वज्रयान के समान ही गुह्य साधनाओ मे विश्वास रखता था।

याज्ञिक कर्मकाण्ड—कुमारिल भट्ट द्वारा यज्ञो के प्रति पुन: विश्वास उत्पन्न करने का प्रयत्न किया गया था, और अनेक मीमासक तर्क द्वारा याज्ञिक अनुष्ठानो के वैज्ञानिक रूप का प्रतिपादन करते थे। पर मीमासकों का कर्मकाण्ड-प्रधान धर्म सर्व-साधारण जनता मे लोकप्रिय नही हो सकता था, क्योंकि याज्ञिक अनुष्ठान व्ययसाध्य थे, और केवल सम्पन्न लोग ही उनका अनुसरण कर सकते थे।

स्मार्त धर्म—शंकराचार्य ने भारत मे एक नये धार्मिक आन्दोलन का प्रारम्भ किया, जिसके दार्शनिक अंश को 'वेदान्त' और साधना के अंश को 'स्मार्त्त मार्ग' कहते थे। वेदान्त के अनुसार संसार मे केवल ब्रह्म ही सत्य है, अन्य सब मिथ्या है। ब्रह्म सत्य, शुद्ध, सत्, चित् और आनन्द रूप है। जीव ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ नही है, और इन्द्रियों से प्रतीयमान यह संसार मिथ्या है—यह यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेना ही वस्तुत: मोक्षप्राप्ति है। किन्तु इस ज्ञान साधना के लिए आवश्यक है, कि मनुष्य वेदशास्त्र द्वारा विहित वर्णाश्रम धर्म का भली-भाँति पालन कर अपने अन्त:करण को शुद्ध करे। यह आवश्यक नहीं, कि यह शुद्धि एक ही जन्म मे की जा सके। इसके लिए अनेक जन्मो व निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता होगी।

जैन-धर्म—बौद्ध (वज्रयान), शाक्त (वाममार्ग) और पौराणिक (स्मार्त्त) धर्मों के अतिरिक्त जैन धर्म भी इस युग मे भारत के कुछ प्रदेशों में विद्यमान था, और उसके धर्माचार्य भी समय के प्रवाह से अछूते नही रह सके थे। जैनों में भी देवसेन (दसवीं सदी) और मुनि रार्मासह (ग्यारहवी सदी) आदि कितने ही ऐसे धर्माचार्य हुए, जिन्होने

कि शंकराचार्य के सिद्धान्तों से प्रभावित होकर 'ज्ञान' की उपयोगिता पर बल दिया। उन्होंने कहा, कि मनुष्य को चाहिए कि वह ज्ञान के उस एक अग्निकण को अपना ले, जो प्रज्वलित होकर पाप पुण्य को क्षण भर में भस्म कर देता है। विषय-सुखों का उपभोग करता हुआ भी मनुष्य अपने मन को इस ढंग से ढाल सकता है कि इन विषय-सुखों का कोई प्रभाव उसके मन पर न पड़े। इस युग के अन्य धर्माचार्यों के समान जैन लोग भी सत्य ज्ञान और मन की साधना पर बल देते रहे।

सहजयान—इस युग में एक अन्य सम्प्रदाय भी प्रचलित था, जिसे 'सहजयान' कहते हैं। वज्रयानियों के समान सहजयान के अनुयायी भी साधना को महत्त्व देते थे, और वे ऐसी साधनाओं का प्रतिपादन करते थे, जिनके द्वारा चित्तवृत्तियों का निरोध किया जा सके। साधना के लिए गुरु की सहायता अनिवार्य थी। गुरु अपने शिष्य की चित्तवृत्ति की परीक्षा करके उसके अनुसार ही उसे विशेष प्रकार की साधना का उपदेश देता था। जो साधक गुरु द्वारा आदिष्ट मार्ग का अनुसरण कर अपने उद्देश्य में सफल हो जाए, उसे 'सिद्ध' मान लिया जाता था। वज्रयान द्वारा जिस ढंग की अनैतिक और पतन की ओर ले जाने वाली गुह्य साधनाओं को सिद्धि के लिए आवश्यक माना जाता था, सहजयान ने उसके विरुद्ध आवाज उठाई, और चित्तशुद्धि द्वारा साधना के मार्ग पर चलने का उपदेश दिया। पर सभी सिद्ध एवं साधक सहजयानी साधु आचरण की पवित्रता व चित्त शुद्धि के आदर्श को क्रिया में परिणत नहीं कर सके। साधना की आड़ में वे भी अनेक ऐसी क्रियाओं को अपनाते रहे, जिन्हें नैतिकता के अनुकूल नहीं माना जा सकता। सहजयानी लोग भी अनेक प्रकार की गुह्य साधनाओं में विश्वास रखते थे, और चित्तशुद्धि के लिए हठयोग की अनेकविध क्रियाएँ किया करते थे। उनका धर्म भी सर्वसाधारण जनता के लिए न होकर कतिपय साधकों व सिद्धों तक ही सीमित था।

नाथयोगी सम्प्रदाय—इस युग में उत्तरी भारत में नाथयोगी सम्प्रदाय का बहुत प्रचार था। इस सम्प्रदाय के अनुयायी शैव धर्म के थे, और योगेश्वर शिव को अपना आदर्श मानकर योग साधना में तत्पर रहा करते थे। अनुश्रुति के अनुसार इस सम्प्रदाय के आदि प्रवर्तक 'आदिनाथ' शिव थे। पर इनका वृतान्त उपलब्ध नहीं है, यद्यपि नाथयोगी साधुओं में इनके सम्बन्ध में अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। इस सम्प्रदाय के ऐसे गुरु, ऐतिहासिक दृष्टि से प्रामाणिक रूप से जिनकी सत्ता को स्वीकार किया जा सकता है, गुरु गोरखनाथ थे। पर उनके काल के विषय में भी ऐतिहासिकों में बहुत मतभेद है। कोई उन्हें आठवीं सदी का मानता है, तो कोई बारहवीं सदी का। सम्भवतः, उनके काल को आठवीं-नवीं सदी में रखा जा सकता है। समय के समान उनके जन्म स्थान के सम्बन्ध में भी अनेक मत हैं। अब तक जो खोज हुई है, उसके अनुसार गुरु गोरखनाथ पश्चिमी भारत के निवासी थे, और उनका कार्यक्षेत्र उत्तरी भारत, असम, नैपाल आदि तक विस्तृत था। उत्तरी भारत के प्रायः सभी प्रदेशों में उनके धर्म का प्रचार हुआ, और धीरे-धीरे अफगानिस्तान, बलोचिस्तान, सीलोन तथा पेनाग आदि अन्य प्रदेशों में भी उनके मन्तव्यों का प्रसार हो गया। समयान्तर में उन्हें भी अवतार माना जाने लगा, और उनके विषय में यह समझा जाने लगा कि सतयुग

में उन्होंने पेशावर में, त्रेतायुग मे गोरखपुर में, द्वापर में हुरमुज में और कलियुग में गोरखमण्डी मे अवतार ग्रहण किया था।

नाथ योगी सम्प्रदाय के प्रधान गुरु यद्यपि गोरखनाथ हुए, पर उनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक गुरु इस सम्प्रदाय की गुरु-परम्परा में हुए, जिनमें जालन्धरनाथ, चौरंगीनाथ, चुणकरनाथ, पृथ्वीनाथ आदि के नाम उल्लेखनीय है। इनकी 'वाणियाँ' इस सम्प्रदाय के साधुओं में अब तक भी प्रचलित हैं, और गोरखनाथ की रचनाएँ तो प्रकाशित भी हो चुकी है। अन्य नाथ गुरुओं की फुटकर रचनाएँ भी इस समय पुस्तक रूप में उपलब्ध हैं।

गोरखनाथ के दार्शनिक सिद्धान्त वेदान्त के सदृश हैं। पर शंकराचार्य के समान वे केवल ज्ञान मार्ग को पर्याप्त नही समझते। उनका विश्वास था, कि जब तक शरीर व उसकी इन्द्रियों को वश मे नही किया जाता, और चित्तवृत्तियों का पूर्णतया निरोध नही होता, तब तक मनुष्य कदापि अपने उद्देश्य (आत्मज्ञान) को प्राप्त नही कर सकता। इसी लिए उन्होने योग साधना का उपदेश किया, और योग साधना के लिए हठयोग का भी प्रतिपादन किया। गुरु गोरखनाथ शरीर और मन दोनो की शुद्धि को बहुत महत्त्व देते थे, और इसके लिए विविध यौगिक आसनो और संयत जीवन का उपदेश करते थे। उन्होने दूर-दूर तक अपने मन्तव्यों का प्रचार किया, और बहुत-से लोग उनके अनुयायी हो गये। उनके द्वारा प्रवर्तित नाथयोगी सम्प्रदाय की अनेक शाखाएँ अब तक भी विद्यमान हैं, जिनमे सत्यनाथ पन्थ, धर्मनाथ पन्थ, रामनाथ पन्थ, लक्ष्मणनाथ पन्थ आदि मुख्य हैं। इन विविध पन्थो का प्रादुर्भाव गोरखनाथ की शिष्य परम्परा द्वारा ही किया गया था। नाथयोगी सम्प्रदाय का एक मुख्य केन्द्र उत्तर प्रदेश के गोरखपुर जिले में है, जहाँ इसका एक समृद्ध मठ भी है। इस सम्प्रदाय के साधु कनफटे भी कहाते हैं, क्योंकि वे अपने कानों को फाड़कर उनमें बड़े-बड़े छेद कर लेते हैं।

ग्यारहवी और बारहवी सदियो मे दक्षिणी भारत मे भक्ति का आन्दोलन प्रबल हो रहा था, यह हम पिछले एक अध्याय मे लिख चुके हैं। यह आन्दोलन शैव और वैष्णव दोनों सम्प्रदायों मे था। इसी लिए दक्षिणी भारत मे अनेक ऐसे भक्त सन्त उत्पन्न हुए, जिन्होंने कि शिव और विष्णु की भक्ति पर जोर दिया। इस आन्दोलन के कारण दक्षिणी भारत मे इस युग के शैव धर्मों मे भी यौगिक साधनाओं का स्थान शिवभक्ति ने ले लिया था, पर उत्तरी भारत की दशा इससे सर्वथा भिन्न थी। वहाँ शैव धर्म का जो रूप प्रचलित था, उसमे अब तक भी योग साधना का ही महत्त्व था। नाथयोगी सम्प्रदाय जिस प्रकार शरीर और चित्त की शुद्धि के लिए अनेकविध योग-क्रियाओं का प्रतिपादन करता था, लोग उसी का अनुसरण किया करते थे।

काश्मीर का शैव सम्प्रदाय—इस युग में काश्मीर मे शैव धर्म का एक अन्य सम्प्रदाय प्रचलित था, जिसके प्रवर्त्तक वसुगुप्त नाम के आचार्य थे। इनका समय नवीं सदी के प्रारम्भ में माना जाता है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी भी अपनी शारीरिक, मानसिक, व आध्यात्मिक उन्नति के लिए योग साधना का ही आश्रय लेते थे। पर इनकी साधना मे गुह्य उपायों को विशेष स्थान प्राप्त नही था। ये लोग मन्त्रो के जप,

प्राणायाम, धारणा, ध्यान, समाधि तथा पूजा को अधिक महत्त्व देते थे। इसी कारण इनमें वाममार्ग व वज्रयान की प्रवृत्तियाँ कभी बलवती नही हुई।

अन्य शैव सम्प्रदाय—पर उत्तरी भारत के सभी शैव सम्प्रदाय काश्मीरी शैवों के समान नैतिक जीवन बिताने के पक्षपाती नही थे। शैव धर्म मे ऐसे भी अनेक सम्प्रदायो की सत्ता थी, जो वज्रयानी बौद्धो के समान गुह्य साधनाओ द्वारा सिद्धि प्राप्त करने मे विश्वास रखते थे। इस प्रकार के सम्प्रदायो मे कापालिक, कालमुख और पाशुपत सम्प्रदाय मुख्य थे। कापालिक और कालमुख साधु कपाल या नरमुण्ड को पात्र के रूप में प्रयुक्त करते थे, शव की भस्म शरीर पर रमाते थे, हाथ मे त्रिशूल धारण करते थे, मदिरा का सेवन करते थे और मदिरा पात्र में ही प्रतीयमान महेश्वर की पूजा किया करते थे। पाशुपत लोग भी वज्रयानी बौद्धों के समान यह मानते थे, कि कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य और खाद्य-अखाद्य के विवेक से ऊपर उठने के लिए साधक को उन सब कार्यों को करना चाहिए, जिन्हे साधारणतया निन्दनीय माना जाता है।

वैष्णव धर्म—बौद्ध, जैन और शैव धर्मो के साथ-साथ वैष्णव धर्म भी इस युग मे प्रचलित था। गुप्तवश के शासन काल मे वैष्णव धर्म उत्तरी भारत का प्रधान धर्म था। पर ऐसा प्रतीत होता है, कि सातवी सदी व उसके बाद के काल में उत्तरी भारत मे शैव और वज्रयान धर्मों का अधिक प्रचार हो गया था। ये दोनो धर्म योग क्रियाओं और गुह्य साधनो पर जोर देते थे, और भक्ति व पूजा का इनकी दृष्टि में विशेष महत्त्व नही था। पर फिर भी उत्तरी भारत से वैष्णव धर्म का सर्वथा लोप हो गया हो, यह बात नही थी। इस युग मे भी वैष्णव धर्म की सत्ता कायम थी, यद्यपि उसका अधिक प्रचार दक्षिणी भारत मे ही था। उत्तरी भारत मे जो लोग गुह्य साधनाओ व योग-क्रियाओ को महत्त्व नही देते थे, वे स्मार्त्त धर्म के अनुयायी थे। ये स्मार्त्त लोग यथार्थ ज्ञान को मोक्ष-प्राप्ति का साधन मानते थे, और विविध देवी देवताओं में समन्वय करने की प्रवृत्ति रखते थे। वर्णाश्रम धर्म का पालन कर अन्तःकरण की शुद्धि करना इनकी जीवन-साधना का मुख्य रूप था।

भक्ति-मार्ग—जिस समय उत्तरी भारत मे साधना और ज्ञान पर जोर देने वाले इन विविध सम्प्रदायो का विकास हो रहा था, दक्षिणी भारत के विविध धर्माचार्य भक्तिमार्ग का प्रतिपादन करने मे तत्पर थे। भक्तिमार्ग भारत के लिए नवीन नही था। प्राचीन समय मे अन्धक-वृष्णि-सघ के क्षेत्र मे वासुदेव कृष्ण द्वारा जिस भागवत धर्म का सूत्रपात हुआ था, वह याज्ञिक कर्मकाण्ड की अपेक्षा भक्ति को अधिक महत्त्व देता था। पर भगवद्गीता का यह धर्म समन्वयात्मक था। इसमे ज्ञान, भक्ति और कर्म को समान रूप से स्थान दिया गया था। यही कारण है कि 'परम भागवत' और 'परम वैष्णव' गुप्त सम्राट् अश्वमेध यज्ञ का भी अनुष्ठान करते थे। सातवीं सदी मे वज्रयान सम्प्रदाय का विकास शुरू होने पर उत्तरी भारत मे जो धार्मिक विचार-सरणी प्रबल हुई, उसमे या तो साधना को प्रधान स्थान दिया जाता था, या ज्ञान को। भक्ति का उसमें बहुत महत्वपूर्ण स्थान नहीं था। ब्रह्म और जीव की एकता को प्रतिपादित करने वाले शाकर मत मे भी भक्ति को विशेष स्थान नही मिल सकता था। इस दशा मे दक्षिणी भारत मे अनेक ऐसे सन्त हुए, जो भक्ति मार्ग का प्रतिपादन करते थे, और विष्णु की

भक्ति को ही मोक्ष का एक मात्र साधन मानते थे। इन सन्तों को ग्रालवार कहा जाता था। इन ग्रालवारों ने भगवान् की भक्ति में जो अनेक गीत बनाये, उसका संग्रह बाद मे 'प्रबन्धम्' नाम से किया गया, जिसे वैष्णव भक्त लोग बहुत ग्रादर की दृष्टि से देखते हैं। ग्रालवारों के बाद अनेक ऐसे ग्राचार्य दक्षिणी भारत में उत्पन्न हुए, जिन्होंने भक्ति-मार्ग को दार्शनिक विवेचन द्वारा पुष्ट किया। शंकराचार्य के अद्वैतवाद और बौद्धों के विज्ञानवाद व शून्यवाद में ईश्वर और ग्रात्मा की पृथक् सत्ता की गुंजाइश नही रहती थी, और इन मतों को स्वीकार कर लेने पर जीव के लिए भक्तिमार्ग का अनुसरण करना निरर्थक हो जाता था। इसलिए रामानुजाचार्य जैसे ग्राचार्यों ने विशिष्टाद्वैत व द्वैतवाद का प्रतिपादन कर भक्ति मार्ग को दार्शनिक ग्राधार प्रदान करने का प्रयत्न किया। दार्शनिक विवेचन द्वारा पुष्टि पाकर दक्षिणी भारत में भक्तिमार्ग की बहुत उन्नति हुई, और अनेक ग्राचार्यों ने उत्तरी भारत मे भी इसके प्रचार का प्रयत्न किया।

हिन्दू-धर्म में नई जागृति का सूत्रपात—बारहवी सदी के अन्त में जब भारत में मुसलिम राजसत्ता की स्थापना प्रारम्भ हुई, तो देश की धार्मिक दशा का यही रूप था। इस्लाम के प्रवेश के कारण यह ग्रावश्यक हो गया था, कि इस देश के धार्मिक नेता हिन्दू धर्म को एक ऐसा रूप प्रदान करें, जो मुसलिम शासकों और धर्म प्रचारकों से हिन्दू-धर्म की रक्षा कर सके। यही कारण है, कि इस युग में अनेक ऐसे सन्त-महात्मा उत्पन्न हुए, जिन्होंने जाति भेद का विरोध करते हुए यह प्रतिपादित किया, कि भगवान् की दृष्टि मे न कोई मनुष्य नीच है, और न कोई उच्च। अपने गुण, कर्म, सदाचार व भक्ति द्वारा ही कोई मनुष्य ऊँचा पद प्राप्त कर सकता है। साथ ही, इन संत-महात्माओं ने यह भी प्रतिपादित किया, कि ईश्वर पतिपावन है, भक्ति द्वारा प्रसन्न होता है, भक्त का उद्धार करने के लिए उसकी सहायता करता है, और भगवान् तक पहुँचने के लिए गुरु का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। इस्लाम के समान इस युग के भारतीय धार्मिक ग्रान्दोलन भी ईश्वर पर दृढ विश्वास, उसकी भक्ति और गुरु (रसूल) के महत्त्व पर बल देने लगे, और उन्होंने भगवान् के एक ऐसे रूप को जनता के सम्मुख उपस्थित किया, जो दुष्टों का दलन करने और साधु लोगो का परित्राण करने के लिए मानव तन धारण करने मे भी संकोच नही करता। इस अध्याय मे हम भारत के इन नये धार्मिक ग्रान्दोलनो पर भी प्रकाश डालेंगे, क्योंकि इनके कारण हिन्दू धर्म इस्लाम के ग्राक्रमण से अपनी रक्षा करने में समर्थ हुग्रा था, और उसमे एक ऐसी नयी जागृति उत्पन्न हो गयी थी, जो अनेक अंशो मे इस्लाम को भी अपने प्रभाव मे ले ग्राई थी।

(३) इस्लाम और भारत

जिस इस्लाम के प्रवेश के कारण भारत के धार्मिक नेताग्रो के लिए यह ग्राव-श्यकता हो गया था, कि वे अपने धर्म को एक ऐसा रूप दें, जो मुस्लिम शासकों और धर्म-प्रचारकों से हिन्दू धर्म की रक्षा कर सके, उसके स्वरूप पर कुछ अधिक विस्तार से प्रकाश डालना उपयोगी होगा।

भारत में इस्लाम का प्रथम प्रवेश—विशाल अरब साम्राज्य के संगठित होने पर ७१२ ई० में एक अरब के सेनापति मुहम्मद बिन कासिम ने भारत के सिन्ध प्रान्त

पर भी आक्रमण किया था, और उसे जीतकर अपने अधीन कर लिया था। उत्तरी भारत मे इस्लाम का पदार्पण इसी समय से हुआ। पर दक्षिणी भारत मे इस्लाम का प्रवेश इससे पूर्व ही हो चुका था। भारत का पश्चिमी देशो से व्यापारिक सम्बन्ध बहुत पुराना है। भारत के व्यापारी पश्चिमी देशो मे दूर-दूर तक समुद्री मार्ग द्वारा आया जाया करते थे और पश्चिम के व्यापारी भी अच्छी बडी संख्या मे भारत आते थे। अरबो के उत्कर्ष के काल मे भारत के सामुद्रिक व्यापार मे अरब व्यापारियो का महत्व बहुत बढ़ गया था। इस देश मे इस्लाम का प्रवेश सबसे पूर्व इन अरब व्यापारियों द्वारा ही हुआ। ६३६ ई० मे अरब के मुस्लिम व्यापारी भारत के पश्चिमी समुद्र-तट पर आने लगे, और उनके सम्पर्क मे आकर मलाबार के मोपला लोगो ने इस्लाम को स्वीकार करना भी प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार स्पष्ट है कि अरबो द्वारा सिन्ध की विजय से पहले भी भारत मे इस्लाम का प्रवेश हो चुका था, और दक्षिणी भारत के समुद्र-तट के लोग इस नये धर्म को अपनाने लग गये थे। बाद मे इस क्षेत्र मे इस्लाम का प्रचार और भी तेजी के साथ हुआ। नवी सदी के उत्तरार्द्ध मे मलाबार का राजा चैरामन पेरुमल था। अरब व्यापारियो के सपर्क से वह भी इस्लाम के प्रभाव मे आ गया, और उसने अपने राज्य मे मुस्लिम धर्म प्रचारकों को सब प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की। दसवी सदी के प्रारम्भ होने तक भारत के पूर्वी समुद्री तट पर भी इस्लाम का प्रचार प्रारम्भ हो गया था, और बहुत-से मुस्लिम पीर व औलिया इन क्षेत्रों मे अपने धर्म का प्रसार करने के कार्य मे तत्पर हो गये थे।

इसमें सन्देह नही कि महमूद गजनबी के आक्रमण मे पूर्व भी भारत के अनेक प्रदेशो मे इस्लाम का प्रवेश हो चुका था। सिन्ध और दक्षिण के समुद्र-तट के प्रदेश उस युग मे ऐसे क्षेत्र थे, जहाँ मस्जिदो की मीनारें एक नये धर्म की सत्ता की सूचना दिया करती थी। सहिष्णुता की भावना भारतीय सस्कृति की एक अनुपम विशेषता रही है। इसी कारण भारत के राजाओ ने इस्लाम के प्रति भी उदारता और सहिष्णुता की नीति का ही अनुसरण किया।

सूफी सम्प्रदाय—जो अनेक मुस्लिम पीर और औलिया भारत के कतिपय क्षेत्रो मे इस्लाम का प्रचार करने मे तत्पर थे, उनमे सूफी लोग प्रधान थे। सूफी सम्प्रदाय के प्रादुर्भाव मे अनेक ऐसे धर्मों के मन्तव्यो का महत्त्वपूर्ण हाथ था, जिनकी सत्ता इस्लाम से पहले भी थी। अरब से प्रादुर्भूत होकर जिन देशो मे इस्लाम का प्रसार हुआ, उनमें पहले जरदुष्ट्र और ईसामसीह के धर्मो का प्रचार था। ये धर्म भारत के बौद्धों और हिन्दुओ की विचारसरणी और दार्शनिक प्रणाली से अनेक अशो मे प्रभावित हुए थे, यह पहले लिखा जा चुका है। जिन लोगो ने इस्लाम को स्वीकार किया, वे उसकी उपासना और उसके साथ मनुष्य के सम्बन्ध के बारे मे अपने विचार रखते थे, और ये विचार उनमें बहुत बद्धमूल थे। बौद्धो की साधना और हिन्दू योगियों की योगक्रियाओ से उन्हें भली-भाँति परिचय था। इस दशा मे यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि उनके विचारों और विश्वासो का इस्लाम पर भी प्रभाव पड़े। बौद्ध लोग निर्वाण को मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य मानते थे, और उसकी प्राप्ति के लिए अष्टांगिक आर्य मार्ग का प्रतिपादन करते थे। उनके प्रभाव के कारण इस्लाम में भी एक ऐसे सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ,

जिसने कि 'फना' को मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना, और उसकी प्राप्ति के लिए एक ऐसे 'तरीके' का प्रतिपादन किया, जो बौद्धों के अष्टांगिक मार्ग से मिलता जुलता है। भारत के योगी उन चमत्कारो मे विश्वास रखते थे, जिन्हे योग साधन द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। इस्लाम के इस नये सम्प्रदाय ने भी 'करामात' या 'मोजजा' को अपने मन्तव्यो मे स्थान दिया। इस्लाम का यह सम्प्रदाय 'सूफी' कहाता है, और इस पर भारतीय विचार-धारा के प्रभाव को प्रायः सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है। इसीलिए श्री हुमायूँ कबीर ने लिखा है कि सूफी मत का आधार कुरान मे था, पर भारतीय विचार-धारा ने इस पर अत्यन्त गम्भीर प्रभाव डाला है।

सूफी सम्प्रदाय का प्रारम्भ कब और किस प्रकार हुआ, यह स्पष्ट नही है। कुछ लोग तो इसे इस्लाम से भी पहले का मानते हैं, और कुछ के अनुसार इसका प्रारम्भ भी हजरत मुहम्मद द्वारा ही हुआ था। पर ऐतिहासिक दृष्टि से यह कहना अधिक सगत होगा कि जब अरब से बाहर इस्लाम का प्रचार हुआ, तो वहाँ के लोगों मे प्रचलित विचारो और विश्वासों के प्रभाव के कारण ही इस सम्प्रदाय का प्रारम्भ हुआ, और अनेक ऐसे पीरो (साधुओं) ने, जो मुसलमान होने हुए भी बौद्ध, हिन्दू व ईसाई विचार-धाराओ से प्रभावित थे, इस सम्प्रदाय का विकास किया। कट्टर मुसलमान इन सूफी पीरो को काफिर समझते थे, और इनके विचारो को इस्लाम के प्रतिकूल मानते थे। इसी कारण अनेक सूफी पीरो को प्राणदण्ड भी दिया गया। अपने विचारों के लिये शहीद होने वाले सूफी पीरो मे मंसूर-उल-हल्लाज (दसवी सदी) का नाम उल्लेखनीय है। वह ईश्वर और जीव में अभेद मानता था, और इसी कारण उसके विचार कट्टर मुसलमानो को सह्य नही थे। मुस्लिम देशों में सूफी सम्प्रदाय के फकीरो व पीरो के प्रति सहिष्णुता की नीति के न बरते जाने का एक परिणाम यह हुआ, कि बहुत-से-ऐसे फकीर भारत आदि देशो मे आने लगे। इस देश के निवासी धर्म के मामले में बहुत सहिष्णु थे, सब सम्प्रदायों के साधु-महात्माओं का आदर करने का उन्हे चिरकाल से अभ्यास था। इसीलिए सूफी फकीरो ने भारत को अपने धर्मप्रचार का क्षेत्र बनाया, और उन्हे अपने कार्य मे सफलता भी मिली।

मुस्लिम प्रचारकों का भारत में कार्य—उत्तरी भारत मे ग्यारहवी सदी मे मुस्लिम फकीरो और पीरों ने अपना कार्य प्रारम्भ किया। इस काल मे भारत की राज-शक्ति राजपूत राजवंशो के हाथों मे थी। मुस्लिम राजवशो की स्थापना अभी इस देश में नहीं हुई थी। इस कारण मुस्लिम फकीरों को किसी भी प्रकार से राजनैतिक शक्ति का सहारा प्राप्त नही था। पर क्योकि ये फकीर व पीर ऊँचे चरित्र के थे, और साथ ही अनेक प्रकार की साधनाओं में भी तत्पर रहते थे, अतः इन्हे अपने प्रचार कार्य में अच्छी सफलता प्राप्त हुई। इस युग तक भारत के हिन्दुओं में संकीर्ण जाति प्रथा का विकास हो चुका था, और जनता के एक अच्छे बडे भाग को हीन समझा जाने लगा था। अत. इस दलित वर्ग के लोगो को अपना अनुयायी बनाने में मुस्लिम फकीरो को अच्छी सफलता मिली। ग्यारहवी सदी मे शेख इस्माईल और अब्दुल्ला यमनी नाम के फकीर भारत में धर्म के प्रचार के लिए आये, और बारहवी सदी के प्रारम्भ में नून सतागर ईरानी ने गुजरात के अछूत हिन्दुओं को इस्लाम का अनुयायी बनाया। तेरहवीं

सदी के शुरू में ही दिल्ली तुर्क-अफगान सल्तनत की स्थापना हो गयी थी। इस समय से मुसलिम पीर और फकीर अधिक बडी संख्या में भारत आने लगे और प्रचार कार्य में तत्पर हुए। इन मुसलिम फकीरों द्वारा भारत में इस्लाम के प्रचार में बहुत सहायता मिली।

बल प्रयोग द्वारा इस्लाम धर्म का प्रसार—पर यह समझना ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य नहीं होगा, कि भारत में इस्लाम का प्रचार केवल पीरो और फकीरों द्वारा शातिपूर्वक ही हुआ। यह सच है कि जब तक इस देश मे तुर्क-अफगान आक्रांताओं का आधिपत्य स्थापित नही हो गया था, मुसलिम पीर व फकीर शांतिमय उपायों से ही अपने धर्म का प्रचार करने मे तत्पर रहते थे। पर जब शहाबुद्दीन गौरी के आक्रमणों के कारण भारत मे तुर्क-अफगान सल्तनत कायम हो गयी, तो इन विदेशी व विधर्मी शासको ने बल का प्रयोग करके भी भारत की जनता को इस्लाम का अनुयायी बनाने का प्रयत्न किया। पर इस प्रसग मे यह भी ध्यान मे रखना चाहिये कि जिन मुसलमान आक्रातास्रों ने भारत मे अपने शासन की स्थापना की थी, वे अरबो के मुसलिम आदर्शों से बहुत कुछ परे हट चुके थे। तुर्क लोग सभ्यता की दृष्टि से अरबो की तुलना मे बहुत पिछडे हुए थे, और उनके स्वभाव मे बर्बरता बहुत पर्याप्त थी। सभ्यता मे पिछड़े हुए तुर्कों ने पहले बौद्ध धर्म को अपनाया, और फिर अरबो के सम्पर्क में आकर इस्लाम को। पर धर्म परिवर्तन के कारण उनके स्वभाव मे विशेष परिवर्तन नही हुआ। बौद्ध धर्म को स्वीकार कर उन्होने न अशोक की नीति को अपनाया, और न मुसलमान बनकर मुहम्मद के आदर्शों को। इसलिए जब उन्होंने अपनी राजशक्ति का विस्तार करते हुए भारत पर आक्रमण किया, तो यहाँ के निवासियो पर भयंकर अत्याचार किये, और उन्हें अपने धर्म का अनुयायी बनाने के लिये बल का भी प्रयोग किया। तुर्क-अफगान सुलतान भारत मे इस्लाम के प्रचार के लिये इस कारण भी प्रयत्नशील थे, क्योंकि इस देश की जनता का सहयोग वे तभी प्राप्त कर सकते थे, जबकि यहाँ इस्लाम की शक्ति बढे। भारत की जिस राजशक्ति को परास्त कर उन्होंने इस देश मे अपना शासन स्थापित किया था, वह अभी पूर्णतया नष्ट नही हुई थी। विविध राजपूत राजवश अभी विद्यमान थे, भारतभूमि वीरो और सैनिको से विहीन भी नहीं हुई थी। पुराने क्षत्रिय राजा फिर से अपनी राजशक्ति का उद्धार करने के लिये उत्सुक थे। इस दशा मे तुर्क शासन भारत मे तभी स्थायी हो सकता था, जबकि इस देश के निवासियों का एक वर्ग इस्लाम को स्वीकार कर मुस्लिम सुलतानो के शासन का सहायक बन जाए। इसी लिए तुर्क-अफगान सुलतानो ने अपनी हिन्दू प्रजा पर जजिया कर लगाया, और जो लोग इस्लाम को स्वीकार कर लें, उन्हे सम्मानित करने व राजकीय पद प्रदान करने की नीति को अपनाया। सम्भवत., राजनीतिक दृष्टि से उस युग में वह बात सर्वथा अनुचित नही कही जा सकती थी।

इस्लाम की शिक्षाओं मे जिहाद का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। जिहाद का अर्थ है, धर्म-युद्ध। कुरान मे जिहाद का क्या अभिप्राय है, इस बात पर विचार करने की हमे आवश्यकता नही। धर्मपुस्तको की व्याख्या के सम्बन्ध मे धर्माचार्यों और विद्वानो के विविध मत हुआ ही करते हैं। हजरत मुहम्मद ने चाहे अपने अनुयायियों को तलवार

द्वारा विधर्मियों के विरुद्ध जिहाद करने का आदेश न दिया हो, पर यह ऐतिहासिक तथ्य है कि बाद के मुस्लिम धर्माचार्यों के अनुसार दो प्रकार के देश होते थे। जिन देशों के निवासी मुसलमान हों, उन्हें वे 'दारुल-इस्लाम' (शांतिमय देश) कहते थे, और जहाँ इस्लाम का प्रचार न हो, उन्हें वे 'दारुल-हरब' (युद्धस्थली) समझते थे। बाद के मुस्लिम धर्माचार्यों का मत था कि दारुल-हरब के खिलाफ जिहाद करना और उनको जीत कर इस्लाम के झण्डे के नीचे ले आना मुसलमानों का धार्मिक कर्त्तव्य है। जिहाद की यह भावना मुस्लिम राजाओं में विद्यमान थी, इस ऐतिहासिक तथ्य से इन्कार कर सकना सम्भव नही है। मुहम्मद की शिक्षाएँ इसके विपरीत थीं या नहीं, कुरान में जिहाद का मूल अभिप्राय इससे भिन्न है, और सच्चा इस्लाम किसी पर जबरदस्ती करने का उपदेश नही देता, इन बातो पर धार्मिक व सैद्धान्तिक दृष्टि से मतभेद की गुजाइश है। पर यह निःसंदिग्ध है कि बहुत-से मुसलमान राजाओं ने जिहाद का यही अभिप्राय माना कि विधर्मियो को इस्लाम के झण्डे के नीचे ले आना और सर्वत्र मुसलिम धर्म का प्रचार करना उनका पवित्र कर्त्तव्य है। ऐसा करते हुए वे इस्लाम के सच्चे मन्तव्यो से दूर हट गये थे या नही, इस प्रश्न पर धर्माचार्य तर्क-वितर्क कर सकते हैं पर इतिहास के साथ इसका विशेष सम्बन्ध नही है।

हमे यह स्वीकार करना होगा, कि जिन तुर्क-अफगान आक्रांताओं ने भारत पर आक्रमण कर इस देश में अपना शासन स्थापित किया, उनमे जिहाद की भावना विद्यमान थी, और वे जिहाद का यही अभिप्राय समझते थे कि भारत के विधर्मी निवासियों को बल का प्रयोग कर अपने धर्म का अनुयायी बना लें। पर साथ ही यह भी तथ्य है, कि तुर्क-अफगान शासन की स्थापना के समय भारत में जो लूटमार हुई, आक्रांताओं द्वारा जनता पर जो घोर अत्याचार किए गये, जिस प्रकार मन्दिरों और मूर्तियो को तोडा गया—उस सब का उद्देश्य केवल धार्मिक ही नहीं था। इसमे आक्रांताओं की धन-लिप्सा भी एक महत्त्वपूर्ण कारण थी। युद्धों द्वारा जब किसी देश की विजय की जाती है, तो आक्रान्त देश के लोगों को अनेकविध कष्टों को सहना ही पड़ता है। भारत के लोगो को तुर्क आक्रमण के समय जिन भयंकर कष्टों को सहना पड़ा, उनके लिए इस्लाम को उत्तरदायी ठहराना कदापि उचित नही कहा जा सकता। इसमें आक्रांताओं की साम्राज्य-विस्तार सम्बन्धी आकांक्षाएँ एवं धनलिप्सा धार्मिक भावना की तुलना में कही अधिक महत्त्व की बातें थी, यह भी सर्वथा निर्विवाद है।

इस्लाम और हिन्दू धर्म में सम्पर्क—बारहवी सदी के अन्त में तुर्क-अफगानों के आक्रमणों के कारण भारत की हिन्दू जनता को दो प्रकार से इस्लाम का सामना करना पड रहा था। एक ओर मुस्लिम पीर और फकीर शांतिमय उपायो से अपने धर्म के प्रचार में तत्पर थे, और दूसरी ओर तुर्क-अफगान आक्रान्ता बल का प्रयोग कर जनता को इस्लाम का अनुयायी बना रहे थे। इस दशा में हिन्दू-धर्म अपनी रक्षा तभी कर सकता था, जब उसमें नवजीवन का संचार हो। इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिए कि ईजिप्ट, ईरान, और अफगानिस्तान आदि के लोग इस्लाम के मुकाबले मे अपने पुराने धर्मों की रक्षा करने में असमर्थ रहे थे। ईरान का जरदुष्ट्र धर्म इस्लाम की बाढ़ में बह गया था। मध्य एशिया के विविध देशों में कभी बौद्ध धर्म का प्रचार

था, यह बात अब केवल पुरातत्त्व-सम्बन्धी अवशेषो से ही ज्ञात होती है। ईजिप्ट के पुराने निवासी जिन देवी देवताओ की उपासना करते थे, उनका परिचय भी हमे केवल खुदाई द्वारा प्राप्त मूर्त्तियों से ही मिलता है। पर भारत का पुराना हिन्दू धर्म अब तक भी जीवित है। मलाया, इण्डोनीशिया आदि के जो प्रदेश पहले बृहत्तर भारत के क्षेत्र मे थे, उनके पुराने हिन्दू और बौद्ध लोग भी इस्लाम का मुकाबला करने मे असमर्थ रहे। पर मुस्लिम फकीरो के साधनामय चमत्कार और तुर्क-अफगान विजेताओ का बलप्रयोग भी भारत से हिन्दू धर्म को नष्ट कर सकने मे समर्थ नही हो सके। भारत की जनता के एक भाग को वे मुसलमान अवश्य बना सके, पर इस्लाम को स्वीकार कर लेने वाले लोगों की संख्या बहुत कम रही। इसका कारण यही है कि इस युग मे बहुत-से ऐसे सन्त महात्मा भारत मे उत्पन्न हुए, जिन्होने हिन्दू धर्म मे नवजीवन का सचार किया, और जिनके प्रयत्नों द्वारा हिन्दू धर्म मे नई जागृति उत्पन्न हो गयी। इसी जागृति का यह परिणाम हुआ, कि हिन्दू लोग इस्लाम के मुकाबले मे अपने धर्म की रक्षा कर सकने मे समर्थ हुए।

(४) नये धार्मिक आन्दोलन

मध्य काल के अन्त मे भारत मे जो नये धार्मिक आन्दोलन प्रारम्भ हुए, उन्हे स्थूल रूप से दो भागो मे बाँटा जा सकता है—(१) वे जो भगवान् की भक्ति पर जोर देते थे, और ईश्वर के सगुण रूप का प्रतिपादन करते थे। (२) दूसरे वे जो ईश्वर के निर्गुण रूप का प्रतिपादन कर ज्ञान और साधना द्वारा ब्रह्म के साक्षात्कार का उपदेश देते थे।

इनमे से पहले प्रकार के (भक्ति प्रधान) आन्दोलन का सूत्रपात दक्षिण भारत के नायन्मार और आलवार भक्त संतो द्वारा हुआ था। इन सन्तो का उल्लेख पिछले अध्यायो किया जा चुका है। भक्ति की जो धारा सुदूर दक्षिण से शुरू हुई थी, वह तेरहवी सदी मे महाराष्ट्र पहुँची, और बाद मे उत्तरी भारत में उसका प्रवेश हुआ। वैष्णव लोग पहले भी भक्ति मार्ग के अनुयायी थे, पर तुर्क-अफगान युग में दक्षिण के समान उत्तरी भारत में भी बहुत-से ऐसे सन्त महात्माओ का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होने सर्वसाधारण जनता को भक्ति के रस मे निमग्न कर दिया। इन सन्तो के कारण पुराने वैष्णव और शैव धर्मो के स्वरूप मे बहुत परिवर्त्तन आया।

ईश्वर के निर्गुण रूप का प्रतिपादन करने वाले सन्त मुख्यतया उत्तरी भारत मे हुए। साधना और ज्ञान द्वारा ईश्वर की प्राप्ति का जो विचार चिरकाल से भारत मे चला आ रहा था, नाथयोगी सम्प्रदाय के साधुओ से उसे बहुत बल मिला था। यह सम्प्रदाय ईश्वर के निर्गुण रूप का ही प्रतिपादन करता था, और साधना का उपदेश देता था। इसलिए यह स्वाभाविक था कि उत्तरी भारत के बहुत-से सन्तों पर इस विचारधारा का प्रभाव पडे। पर यह ध्यान मे रखना चाहिये कि इस युग में ईश्वर के सगुण और निर्गुण रूपो का प्रतिपादन करने वाले सन्तो मे कोई विरोध नही था। उनकी स्थिति परस्पर विरोधी सम्प्रदायो के समान नही थी। जो सन्त ईश्वर की भक्ति पर जोर देते थे, वे साथ ही ज्ञान और साधना की उपयोगिता को भी स्वीकार करते थे।

भेद यही था, कि कुछ महात्मा भक्ति को अधिक महत्त्व देते थे, और दूसरे ज्ञान व साधना को। शंकराचार्य के समय मे भारत मे जिस स्मार्त्त भावना का विकास हुआ था, उसके कारण अब यह विचार प्रबल हो गया था, कि विविध देवी-देवताओ मे अभेद है, और पूजा-पाठ, भक्ति आदि के विविध प्रकारो द्वारा जिन सर्वोच्च शक्तियो की उपासना की जाती है, वे एक-दूसरे से भिन्न न होकर एक ही भगवान् को सूचित करती हैं।

तुर्क-अफगान युग मे भारत मे जो बहुत-से सन्त-महात्मा उत्पन्न हुए, और जिनके प्रयत्नो से हिन्दू धर्म में नवजीवन का सचार हुआ, अब हम उनका सक्षेप से उल्लेख करेगे।

ज्ञानदेव—भक्ति की जो धारा सुदूर दक्षिण से प्रवाहित होनी प्रारम्भ हुई थी, वह धीरे-धीरे उत्तर की ओर बढने लगी, और इस्लाम के आक्रमणों द्वारा उत्पन्न परिस्थितियो मे उसने बहुत उपयोगी कार्य किया। तेरहवी सदी के अन्त में महाराष्ट्र के पढरपुर नामक स्थान को केन्द्र बनाकर एक नये वैष्णव सम्प्रदाय का प्रारम्भ हुआ, जिसे 'वाराकरी' कहते हैं। इस सम्प्रदाय के अनुयायी कृष्ण की 'विट्ठल भगवान्' के रूप मे पूजा करते थे, और उनकी पूजाविधि मे भक्ति और कीर्तन का प्रधान स्थान था। अद्वैतवाद में विश्वास रखते हुए भी वाराकरी सम्प्रदाय के लोग भक्तिमार्ग का प्रतिपादन करते है। इसके प्रवर्त्तको मे सन्त ज्ञानदेव सर्व-प्रधान थे। उन्होंने गीता पर ज्ञानेश्वरी नाम का भाष्य मराठी भाषा मे लिखा, जिसमे इस सम्प्रदाय के मन्तव्यो को दार्शनिक ढंग से प्रतिपादित किया गया है। ज्ञानदेव को गुरु गोरखनाथ की नाथयोगी शिष्य-परम्परा में सम्मिलित किया जाता है। इसका कारण यह है कि उनके विचारो पर उत्तरी भारत के ज्ञानमार्ग का भी प्रभाव था। वस्तुत:, ज्ञानदेव ने ज्ञान और भक्ति में बडे सुन्दर ढंग से समन्वय किया, और अपने शिष्यो को यह उपदेश दिया कि वे ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर भक्ति द्वारा उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करें। ज्ञानदेव का समय तेरहवी सदी के उत्तरार्द्ध मे माना जाता है।

नामदेव—ज्ञानदेव के समय मे ही महाराष्ट्र मे एक अन्य सन्त उत्पन्न हुए, जिनका नाम नामदेव (१२७०-१३५० ई०) था। इन्होने दक्षिण और उत्तर भारत में दूर-दूर तक यात्राएँ की, और जनता को अपने मार्ग का उपदेश दिया। मराठी भाषा मे विरचित अभङ्गो के अतिरिक्त इनकी हिन्दी रचनाएँ भी प्रचुर संख्या मे मिलती है। नामदेव सगुण भक्ति मार्ग के अनुयायी थे, यद्यपि बाद मे ज्ञानदेव के सग के कारण नाथपन्थ के प्रभाव मे आ गये थे। इस समय भारत के बहुत-से प्रदेशों मे नाथपन्थी योगियों के मत का प्रचार था, जो अन्तर्मुख साधना द्वारा सर्वव्यापक निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान को ही मोक्ष का साधन मानते थे। ज्ञानदेव के सम्पर्क मे आकर सन्त नामदेव का झुकाव भी योगियो के मार्ग की ओर हो गया। यही कारण है, कि उनकी रचना में भक्ति मार्ग द्वारा सगुण ब्रह्म की उपासना और ज्ञान व साधना द्वारा निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार—दोनों ही प्रकार के विचार पाये जाते हैं।

महाराष्ट्र मे सन्त नामदेव ने भगवान् की भक्ति व प्रेम की जो धारा प्रवाहित की, अनेक मुसलमान भी उससे प्रभावित हुए, और वे उनके शिष्य बन गये। यह सर्वथा स्वाभाविक भी था, क्योंकि नामदेव के भक्ति-मार्ग के लिये न मन्दिरों की आवश्यकता

थी, और न मस्जिदों की। उनकी दृष्टि मे हिन्दू और मुसलमान सब एक समान थे। जिसे सत्य ज्ञान हो, वही उनकी दृष्टि में उत्कृष्ट था। जिस प्रकार के विचार आगे चलकर उत्तरी भारत में संत कबीर ने प्रगट किये, प्रायः वैसे ही उनसे कुछ समय पूर्व महाराष्ट्र मे सन्त नामदेव ने अभिव्यक्त किये थे। धीरे-धीरे ये ही विचार सम्पूर्ण भारत मे व्याप्त हो गये, और इनके कारण भारत के विविध धर्मों के स्वरूप मे बहुत कुछ परिवर्तन आ गया।

स्वामी रामानन्द—भारत मे इस्लाम के प्रवेश के बाद हिन्दू धर्म मे जो नवीन जागृति हुई, उसका श्रेय अनेक अंशो मे स्वामी रामानन्द को है। ये रामानुजाचार्य की शिष्य-परम्परा मे थे, और पन्द्रहवी सदी के अन्तिम भाग मे हुए थे। इनके समय मे दिल्ली का सुलतान सिकंदर लोदी था, जिसका शासन काल १४८९ से १५१७ ईस्वी तक था। 'श्रीरामार्चन पद्धति' नामक पुस्तक मे रामानन्द ने अपनी पूरी गुरु-परम्परा दी है। उसके अनुसार वे रामानुजाचार्य के बाद १४वी शिष्य-पीढी मे हुए थे। उनके गुरु राघवानन्द काशी मे निवास करते थे, और उन्ही से इन्होने दीक्षा ग्रहण की थी। रामानुजाचार्य व उनकी शिष्य परम्परा के लोग वैकुण्ठवासी भगवान् विष्णु के उपासक थे, और उन्ही की भक्ति को मोक्ष का साधन मानते थे। रामानन्द ने भक्ति के इस मार्ग मे एक नये तत्त्व का समावेश किया। उन्होंने भगवान् की भक्ति के लिये वैकुण्ठवासी अगोचर विष्णु के स्थान पर मानव शरीर धारण कर राक्षसो का सहार करने वाले विष्णु के अवतार राम का आश्रय लिया, और उन्ही के प्रेम व भक्ति को मोक्ष का साधन माना। राम और कृष्ण को विष्णु का अवतार मानने का विचार इस युग से पूर्व भी भारत मे विद्यमान था। पर राम के रूप मे ही विष्णु की भक्ति करने के विचार के प्रवर्त्तक स्वामी रामानन्द ही थे। सम्भवत., विष्णु के अवतारों की पूजा पहले भी भारत मे प्रचलित थी, पर रामानन्द ने राम की भक्ति को इतना महत्वपूर्ण रूप प्रदान किया, कि वही हिन्दू धर्म का प्रधान तत्त्व बन गई।

रामानन्द से पूर्व रामानुज-सम्प्रदाय मे केवल द्विजातियो को ही दीक्षा दी जाती थी, पर रामानन्द ने रामभक्ति का द्वार सब जातियो के लिये खोल दिया। भक्तकाल के अनुसार उनके प्रधान शिष्य निम्नलिखित थे—अनन्तानन्द, सुखानन्द, सुरसरानन्द, नरहर्यानन्द, भवानन्द, पीपा, कबीर, सेन, धन्ना, रैदास, पद्मावती और सुरसरी। इन बारह शिष्यो मे से कबीर जाति के जुलाहे थे, और सेन नाई। रैदास जाति के चमार थे। नीची समझी जाने वाली जातियो के लोगो को अपनी शिष्य-मण्डली मे सम्मिलित करना वैष्णव आचार्यों के लिये एक नई बात थी। इस्लाम के प्रवेश के कारण हिन्दू धर्म को जो एक जबर्दस्त धक्का लगा था, और उसमे जो एक नयी स्फूर्ति उत्पन्न हुई थी, यह उसी का परिणाम था। अपने मन्तव्यो का प्रचार करने के लिए स्वामी रामानन्द ने बौद्धो के भिक्षु सघ के समान साधुओं के एक नये दल का सगठन किया, जो वैरागी कहाते है। वैरागी साधुओ का सम्प्रदाय अब तक भी विद्यमान है, और अयोध्या व चित्रकूट उसके प्रधान केन्द्र है।

चैतन्य—स्वामी रामानन्द के समय मे ही बगाल में एक प्रसिद्ध वैष्णव सन्त हुए, जिनका नाम चैतन्य था। उनका समय १४८५ से १५३३ तक था। वे नदिया के

एक ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न हुए थे, और चौबीस वर्ष की आयु मे सांसारिक जीवन का परित्याग कर उन्होने अपना सब ध्यान हरि की भक्ति मे लगा दिया था। वे हरि या विष्णु के कृष्णावतार के उपासक थे, और कृष्ण भक्ति को ही मोक्ष-प्राप्ति का साधन मानते थे। कृष्णदास कविराज ने 'चैतन्य चरितामृत' ग्रन्थ मे उनकी जीवनी को विशद रूप से लिखा है। उनके अनुसार कृष्ण के प्रति प्रेम ही मानव-जीवन की परम साधना है। कृष्ण की भक्ति मे वे ऊंच-नीच के भेद-भाव को कोई स्थान नही देते थे। उनका एक शिष्य हरिदास जाति से अछूत था। हरिदास ने एक बार चैतन्य से कहा, कि वे उसे स्पर्श न करें, क्योकि वह अछूत है। इस पर चैतन्य आवेश मे आ गये। प्रेम के आवेश मे उन्होंने हरिदास को छाती से लगा लिया, और उससे कहा--तुम्हारा यह शरीर मेरा अपना है, इसमें एक ऐसी आत्मा का निवास है, जो प्रेम और समर्पण की भावना से परिपूर्ण है, तुम्हारा यह शरीर एक मन्दिर के समान पवित्र है। चैतन्य अपने शिष्यों को उपदेश करते थे, कि वे प्रेम की वेदी पर अपने सर्वस्व को अर्पण कर दें। इसीलिए ब्राह्मण और शूद्र, हिन्दू और मुसलमान---सब उनके संदेश को भक्ति के साथ सुनते थे और उनके अनुकरण मे अपनी जाति व धर्म के भेद को भूल जाते थे।

कबीर---रामानन्द के शिष्यो मे कबीर सर्वप्रधान थे। उनकी जाति, जन्म, कुल आदि के सम्बन्ध मे कोई निश्चित मत स्थिर नही किया जा सका है। हिन्दू लोग उन्हें हिन्दू मानते हैं, और मुसलमान उन्हे मुस्लिम समझते है। इस युग की धार्मिक प्रवृत्तियों ने हिन्दुओं और मुसलमानों को किस अंश तक एक-दूसरे के समीप ला दिया था, कबीर इसके सर्वोत्तम उदाहरण है। इस सम्बन्ध मे सब एक मत है, कि उनका जन्म जुलाहा कुल मे हुआ था और काशी मे उन्होने अपने जीवन का अच्छा बडा भाग व्यतीत किया था। कबीर का मुख्य कार्य यह था, कि उन्होने हिन्दुओ और मुसलमानों के बीच की गहरी खाई को पाटने तथा इन दोनो धर्मो मे समन्वय और सहयोग की भावना को विकसित करने का प्रयत्न किया। हिन्दू और मुसलिम धर्मों के बाह्य भेदों, रूढ़ियो और आडम्बरो की उपेक्षा कर उन्होंने इन धर्मों की आंतरिक एकता को प्रति-पादित किया।

कबीर रामानन्द के शिष्य थे, जो राम की भक्ति पर बल देते थे। पर इस युग की बहुसंख्यक भारतीय जनता नाथपन्थियो के प्रभाव के कारण भक्ति मार्ग से विमुख थी, और ऐसी अंतःसाधना को महत्त्व देती थी, जिसमे प्रेमतत्त्व का अभाव था। ये नाथपथी लोग भगवान् को निर्गुण रूप मे देखते थे और निर्गुण व निराकार ब्रह्म के लिए भक्ति का विषय बन सकना सम्भव नही था। रामानन्द के शिष्य होते हुए भी सन्त कबीर पर नाथपंथी सम्प्रदाय का प्रभाव था। इसीलिए उन्होंने राम या कृष्ण के रूप में भगवान् की उपासना न करके निर्गुण व निराकार रूप मे ही उसकी पूजा की। पर यह करते हुए उन्होने प्रेम मार्ग को अपनाया, और वैष्णव भक्तों के समान निर्गुण भगवान् से प्रेम करने और उसकी भक्ति का उपदेश दिया। इस प्रकार कबीर द्वारा प्रतिपादित मत नाथपंथी योगियो और रामानन्द के भक्ति-मार्ग का सुन्दर समन्वय था। अपने गुरु रामानंद के समान कबीर भी राम के उपासक थे, पर उनके राम धनुर्धारी सीतापति राम न होकर ब्रह्म के पर्याय मात्र थे। जिस प्रकार कबीर ने नाथपंथी सम्प्रदाय के

निर्गुण ब्रह्म की प्रेम द्वारा उपासना करने का उपदेश दिया, वैसे ही इस युग के अन्य संतो का अनुसरण कर उन्होने ऊँच-नीच और हिन्दू-मुस्लिम के भेद-भाव को भी दूर करने का प्रयत्न किया। उनकी दृष्टि मे अल्लाह और राम मे या करीम और केशव में कोई भेद नही था।

इस्लाम का सूफी सम्प्रदाय प्रेम के जिस मार्ग का उपदेश करता था, वह कबीर की निर्गुण भक्ति के मार्ग से बहुत भिन्न नही था। मुसलमानो का अल्लाह वैष्णवो के विष्णु के समान राम व कृष्ण के रूप मे मानव-शरीर को धारण नही करता। उसका स्वरूप नाथ-पंथियो के निर्गुण ब्रह्म से बहुत भिन्न नही है। यदि सूफी इस निर्गुण अल्लाह के प्रति प्रेम कर सकते थे, तो हिन्दू अपने निर्गुण निराकार भगवान् के प्रति प्रेम या भक्ति क्यो नहीं कर सकते ! कबीर के उपदेशो से हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे के बहुत समीप आ गये थे, और इसीलिए उनकी शिष्य मण्डली मे अब तक भी हिन्दू और मुसलमान दोनो विद्यमान है, और उनकी मृत्यु होने पर दोनो ने उनके शव पर दावा किया था।

गुरु नानक—जिस समय वर्तमान समय के उत्तर प्रदेश मे स्वामी रामानन्द हिन्दू धर्म मे नवीन जीवन का सचार करने मे व्यापृत थे, प्राय. उसी समय पजाब मे एक महान् संत सुधारक अपना कार्य कर रहे थे, जिनका नाम गुरु नानक था। नानक का जन्म लाहौर से ३० मील दूर तलवडी नामक ग्राम मे १४६९ ईस्वी मे हुआ था। उनके जीवन के सम्बन्ध मे बहुत-सी बातें ज्ञात है, पर उनका यहाँ उल्लेख करने की आवश्यकता नही। गृहस्थ जीवन को व्यतीत करते हुए उनका ध्यान भगवान् की ओर आकृष्ट हुआ, और वे सासारिक सुख को लात मारकर भगवान् का साक्षात्कार करने के लिए प्रवृत्त हो गए। इस उद्देश्य से उन्होने प्राय: सम्पूर्ण भारत की यात्रा की, और भारत मे बाहर मक्का भी गये। उनकी दृष्टि मे हिन्दू और मुसलमान मे कोई भेद न था। यात्रा करते हुए जब वे हरिद्वार आये, तो उनके सिर पर मुसलमान कलंदरो की पगडी थी, और मस्तक पर हिन्दुओ की भाँति टीका लगा हुआ था। उनकी वेश-भूषा को देखकर यह कोई नही समझ सकता था, कि वे हिन्दू है या मुसलमान है। उनके दो शिष्य सदा उनके साथ रहा करते थे, जिनमे एक मुसलमान था। वे न हिन्दुओ और मुसलमानो मे कोई भेद करते थे, और न ऊँची तथा नीची जातियो मे। गुरु नानक ने जो नया पथ शुरू किया था, वह हिन्दू धर्म और इस्लाम का समन्वयात्मक पंथ था। उस युग की प्रवृत्ति का यह मूर्तिमान् रूप था।

रैदास—स्वामी रामानन्द के शिष्यो मे रैदास भी एक थे, जो जाति के चमार थे। इन्ही से उस सम्प्रदाय का प्रारम्भ हुआ, जिसे "रैदासी" कहते है। चमार जाति के लोग प्राय. इसी मत के अनुयायी है। यद्यपि ये अछूत जाति में उत्पन्न हुए थे, पर इनकी भक्ति से आकृष्ट होकर बहुत-से ब्राह्मण और द्विज भी इनको दण्डवत् किया करते थे। भारत की सन्त परम्परा मे इनका नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। यह हिन्दू धर्म का दुर्भाग्य था, कि वैष्णव धर्म में जात-पाँत की उपेक्षा करने की जो प्रवृत्ति इस युग मे शुरू हुई थी, वह पूर्णतया सफल नहीं हो सकी, और रैदास के अनुयायी और सजातीय लोग एक पृथक् पथ के रूप मे परिवर्तित हो गये। पर रैदास जैसे

अछूत कुलों में उत्पन्न सन्तो का ब्राह्मणो तक से पूजा जाना इस युग की धार्मिक जागृति का परिचायक अवश्य है।

इस युग में अन्य भी बहुत-से ऐसे सन्त-महात्मा हुए, जिन्होने जात-पाँत के भेद-भाव की उपेक्षा कर मनुष्यों की एकता और भक्ति-मार्ग का उपदेश दिया। महाराष्ट्र के सन्त नामदेव के शिष्य चोखमेला जाति के महार थे। महार लोग अछूत माने जाते है। जब सन्त चोखमेला पंढरपुर के प्रसिद्ध मन्दिर का दर्शन करने के लिये गये, तो उसके ब्राह्मण पुरोहितों ने उन्हे मन्दिर मे प्रविष्ट होने से रोका। इस पर उन्होने कहा—ईश्वर अपने बच्चो से भक्ति और प्रेम चाहता है, वह उनकी जाति को नही देखता। रैदास, चोखमेला, नानक, कबीर आदि सन्त जो नई प्रवृत्ति हिन्दू-धर्म में उत्पन्न कर रहे थे, उसने इस धर्म मे नवजीवन का संचार करने में बडा महत्त्वपूर्ण कार्य किया। आगे चलकर तुलसी, मीराबाई आदि ने सन्तो की इस परम्परा को और आगे बढाया। इन पर हम यथास्थान प्रकाश डालेंगे।

(५) इस्लाम पर हिन्दू धर्म का प्रभाव

यह असम्भव था, कि भारत मे प्रवेश करने के बाद इस्लाम पर इस देश की धार्मिक परम्पराओं का कोई असर न पडता। तुर्क और अफगान आक्रान्ताओ ने भारत मे बसकर इस देश की स्त्रियों से विवाह किये थे। यद्यपि उन्होने अपनी पत्नियों को मुस्लिम धर्म मे दीक्षित कर लिया था, पर वे अपने परम्परागत सस्कारो को छोड नही सकती थी। मुसलिम शासको के प्रभाव से जिन बहुत-से हिन्दुओं ने इस्लाम को स्वीकार कर लिया था, वे भी अपनी रूढियों व धार्मिक विश्वासो को तिलाजलि नही दे सकते थे। इसी कारण भारत के मुसलमान अरब आदि अन्य देशों के मुसलमानो से बहुत भिन्न थे, और उन पर भारतीय धर्मों का प्रभाव बहुत प्रत्यक्ष था।

भारत मे आकर इस्लाम ने अनेक नये तत्त्वो को ग्रहण किया। मूर्तिपूजा के कट्टर विरोधी होते हुए भी भारत के मुसलमानों ने शीतला आदि देवियों की पूजा करने मे सकोच नही किया। शीतला (चेचक) से बचने के लिए भारत मे शीतला माता की पूजा की प्रथा प्रचलित थी। भारत की स्त्रियो मे इस देवी के प्रति विश्वास का सस्कार बद्धमूल था। जब उन्होने तुर्क व अफगान लोगो से विवाह कर इस्लाम को स्वीकार कर लिया, तब भी वे अपने इस विश्वास का निराकरण नही कर सकी। मुस्लिम होकर भी उन्होने शीतला की पूजा को जारी रखा, और उनके विदेशी पति अपनी पत्नियो के रुख को बदल सकने मे असमर्थ रहे। बंगाल के मुसलमान काली, धर्मराज, वैद्यनाथ आदि अनेक देवी-देवताओं की पूजा करते थे। भारत के लोगो मे प्रकृति की विविध शक्तियों को देवी-देवता के रूप मे देखने की परम्परा थी। वे नदी पर्वत आदि के अधिष्ठातृ देवताओं की कल्पना कर उनकी पूजा किया करते थे। इस्लाम पर भी भारत की इस परम्परा का प्रभाव पडा, और मुसलमानो ने ख्वाजा खिज्र के रूप मे नदियों के अधिष्ठातृ देवता की और जिन्दा गाजी के रूप मे सिहवाहिनी देवी के प्रेमी देवता की कल्पना कर डाली। भारत के मुसलमान पीरो के मजारों की पूजा करने के लिए भी प्रवृत्त हुए। अपने पीरो व सन्तों के मजार बनाकर उन्होने वहाँ उर्स करने शुरू किये,

जिनमें हिन्दुओं के देव-मन्दिरों के समान नृत्य और गान होता था, और पुष्प आदि द्वारा मजार की पूजा की जाती थी। यह परम्परा अब तक भी भारत के मुसलमानों में विद्यमान है, और इसके कारण भारत का इस्लाम अरब के असली इस्लाम से अनेक अंशो मे भिन्न हो गया है।

इस्लाम के सूफी सम्प्रदाय पर भी भारत के वेदान्त और भक्ति मार्ग का पर्याप्त प्रभाव पडा। सूफी सम्प्रदाय बहुत पुराना है, और इसके पीरो और फकीरो ने इस्लाम के प्रचार के लिए बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया था। भारत मे सूफी सम्प्रदाय का प्रवेश ग्यारहवी सदी के अन्तिम भाग मे हुआ था, जबकि अबुल हसन हुज हुज्विरी नामक सूफी पीर ने गजनी से भारत आकर अपना कार्य शुरू किया। भारत के सूफी पीरों मे सबसे प्रसिद्ध मुइनुद्दीन चिश्ती (तेरहवी सदी) थे, जिनकी दरगाह अजमेर मे विद्यमान है, और जो मुसलमानो का बहुत बडा तीर्थ है। इस दरगाह पर प्रतिवर्ष मेला लगता है, जिसमे मुसलमानो के अतिरिक्त बहुत-से हिन्दू भी शामिल होते है। यहाँ हमे अन्य प्रसिद्ध सूफी पीरो का परिचय देने की आवश्यकता नही है। पर उल्लेखनीय बात यह है, कि इन लोगों ने हिन्दू-परम्परा की अनेक बातो को अपनाया। भारत मे आने से पूर्व ही सूफी लोग प्रेम-साधना मे विश्वास करते थे। पर भारत आ कर वे नाथयोगी सम्प्रदाय के सम्पर्क मे आये, और उससे प्रभावित होकर उन्होने अनेक यौगिक क्रियाओं को अपनी साधना मे समाविष्ट किया। रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत से प्रभावित होकर उन्होने जीव के ईश्वर के प्रति भक्ति करने के मार्ग को अपनाया, और इस प्रकार सूफी सम्प्रदाय ने एक ऐसा रूप धारण कर लिया, जो भारत के 'निर्गुण मार्ग' के अनुयायियो के लिए कोई अपरिचित बात नही थी। कबीर सदृश सन्त जिस ढग की भक्ति और उपासना का प्रतिपादन करते थे, उसको 'निर्गुण मार्ग' कहते है। मुस्लिम सूफियों के प्रेम-मार्ग मे और कबीर के निर्गुण पन्थ मे बहुत समता थी। सूफी पीरों ने अपने मन्तव्यो को सर्वसाधारण जनता को समझाने के लिए जिन प्रेम-कथाओ का आश्रय लिया, वे भारत की अपनी कथाएँ थी, और इस देश मे चिरकाल से प्रचलित थी। मनुष्यो के साथ पशु, पक्षी और वनस्पति को भी सहानुभूति-सूत्र मे बद्ध दिखाकर एक सर्वव्यापी जीवनशक्ति का आभास देना भारत की प्राचीन प्रेम कथाओ की अनुपम विशेषता है। मनुष्य के दुःख से पशु-पक्षी भी प्रभावित होते हैं, और पुष्प-पत्र भी उनका साथ देते है—इस कल्पना को इस देश के कथा-लेखको ने अपनी आँखो से ओझल नही किया था। सूफी लोग जब इस देश मे अपने सम्प्रदाय का प्रचार करने मे प्रवृत्त हुए, तो उन्होने भारत की सभी प्रकार की कथाओ का प्रयोग किया और उनके आधार पर ईश्वर-प्रेम का सन्देश दिया। यही कारण है, कि भारत के सर्वसाधारण लोगो को मुस्लिम पीर व फकीर बहुत बेगाने प्रतीत नही होते थे, और वे उन्हे श्रद्धा और आदर की दृष्टि से देखते थे। हिन्दू लोगो मे जो मुस्लिम पीरो के मजारो की पूजा प्रारम्भ हुई, उसका यही मूल कारण था।

हिन्दू-धर्म और इस्लाम के मेल और एक-दूसरे के समीप आने का एक महत्त्व-पूर्ण परिणाम यह हुआ, कि अनेक ऐसे सम्प्रदायों का प्रारम्भ हुआ, जिनके अनुयायी हिन्दू और मुसलमान दोनो थे। इन सम्प्रदायो मे 'सत्यपीर' के उपासक प्रमुख थे।

बंगाल का सुलतान हुसैनशाह (१४९३–१५१८) इस सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक था। आगे चलकर मुगल काल मे सतनामी और नारायणी नामक दो अन्य ऐसे सम्प्रदाय प्रारम्भ हुए, हिन्दू और मुसलमान जिनके समान रूप से अनुयायी थे। पर पन्द्रहवी सदी के अन्त में 'सत्य पीर' के रूप में हिन्दू और मुसलमानों के एक उभयनिष्ठ देवता का प्रादुर्भाव इस युग की हिन्दू-मुस्लिम समन्वय की प्रवृत्ति का उत्तम उदाहरण है।

हिन्दुओं और मुसलमानों में ऐक्य की यह प्रवृत्ति निरन्तर जोर पकड़ती गयी। तेरहवी सदी में अफगान युग के प्रारम्भिक काल में हिन्दुओं और मुसलमानों के दो सर्वथा पृथक् वर्ग थे। पन्द्रहवी सदी के अन्त तक इस स्थिति में बहुत परिवर्तन आ गया था। मुगल काल में इन दोनों सम्प्रदायो मे समन्वय की भावना को और अधिक बल मिला। अकबर जैसे बादशाह के प्रयत्न से हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे के और अधिक समीप आ गये। पर औरंगजेब की कट्टर मुसलिम नीति ने इस प्रवृत्ति को आघात पहुँचाया। इसी कारण अनेक हिन्दू शक्तियाँ दिल्ली की मुगल बादशाहत के विरुद्ध उठ खडी हुई, और उन्होने मुस्लिम शासन को निर्बल कर विविध हिन्दू राज्यों की स्थापना की।

(६) हिन्दू धर्म पर इस्लाम का प्रभाव

इस्लाम के सम्पर्क के कारण हिन्दू-धर्म में भी कतिपय नई प्रवृत्तियों का प्रारम्भ हुआ—

(१) दक्षिणी भारत के लिंगायत सम्प्रदाय के अनुयायी जाति भेद मे विश्वास नही रखते, तलाक और विधवा विवाह की अनुमति देते है, मुर्दों को जलाने के बजाय दफनाते है, सबके साथ खा-पी सकते है, और श्राद्ध व पुनर्जन्म मे भी विश्वास नहीं रखते। ये सब बाते ऐसी हैं, जिन्हे इस्लाम का प्रभाव कहा जा सकता है। यद्यपि ये भारत के लिए पूर्णतया नवीन नही थी, क्योकि बौद्ध और जैन लोग जाति-भेद के विरोधी थे, और तलाक तथा विधवा विवाह का विधान भी प्राचीन शास्त्रो मे पाया जाता है, और भारत के अनेक संन्यासी सम्प्रदायो मे शवो को गाड़ने की भी प्रथा थी, पर लिंगायत सम्प्रदाय ने जिस ढग से इन सब बातों को अपने मन्तव्यों मे समाविष्ठ किया, उसे यदि इस्लाम के सम्पर्क का परिणाम माना जाए, तो अनुचित नहीं होगा।

(२) इस युग में प्रादुर्भूत हुए सभी धार्मिक आन्दोलनो ने जात-पाँत को अनुचित माना। रामानन्द जैसे महात्मा के शिष्यों मे सभी जातियो के व्यक्ति सम्मिलित थे, चैतन्य अछूत समझे जाने वाले लोगों को भी गले लगाते थे, नानक की दृष्टि मे हिन्दू और मुसलमान में कोई भेद नही था। भारत के धर्माचार्यों मे यह अवश्य एक नई प्रवृत्ति थी। यद्यपि बौद्ध लोग बहुत पुराने समय से जातिभेद के विरुद्ध आवाज उठाते रहे थे, पर मध्यकाल में हिन्दू धर्म का जो रूप था, उसमें जातिभेद को बहुत महत्त्व दिया जाता था। शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित स्मार्त धर्म वर्णाश्रम व्यवस्था का प्रतिपादन करता था, और सब लोगों को अपने-अपने वर्ण-धर्म पर दृढ रहने का उपदेश देता था। परन्तु अफगान युग के भारतीय सन्तों की प्रवृत्ति इससे बहुत भिन्न थी। मुसलमानों द्वारा भारत में जिस नई संस्कृति का प्रवेश हुआ था, उसमें जातिभेद या वर्णभेद

को कोई स्थान था ही नहीं। इस दशा मे यदि भारत के सन्तों ने मनुष्यमात्र की समानता और जातिभेद की उपेक्षा के विचार को इस्लाम से ग्रहण किया हो, तो आश्चर्य की कोई बात नही है।

(३) तुर्क-अफगान युग के हिन्दू सन्त पूजा पाठ और कर्मकाण्ड के बाह्य आडम्बरों को भी निरर्थक मानते थे। मध्य युग मे हिन्दू धर्म का जो स्वरूप था, उसमे धार्मिक कर्मकाण्ड व पूजा-पाठ का बहुत महत्त्व था। इसके विपरीत इस्लाम की पूजा विधि बहुत सरल थी। तुर्क-अफगान युग के सन्तो ने भी कर्मकाण्ड और पुरोहितो के प्रभुत्व का विरोध कर हरि के भजन का उपदेश दिया, जिसे कुछ अंश तक इस्लाम के सरल रूप का प्रभाव माना जा सकता है।

(४) इस्लाम के सम्पर्क से जहाँ हिन्दू धर्म मे अनेक सुधारवादी आन्दोलनो का प्रारम्भ हुआ, वहाँ साथ ही कतिपय ऐसी प्रवृत्तियाँ भी उत्पन्न हुई, जिनके कारण हिन्दू धर्म की रूढियो को और अधिक दृढ करने का प्रयत्न किया गया। इन प्रवृत्तियों के प्रतिपादक यह समझते थे कि यदि प्रत्येक वर्ण के आचरण-सम्बन्धी नियमो को कठोर बना दिया जाए, तो हिन्दू धर्म का रूप एक ऐसे दुर्ग के समान हो जायगा, जिसे भेद सकना इस्लाम के लिए सम्भव नही रहेगा। सम्भवतः, इसी प्रयोजन से कुल्लूकभट्ट, नीलकण्ठ, कमलाकरभट्ट और हेमाद्रि ने इस युग मे स्मृतियों पर जो नई टीकाएँ लिखी, उनमे स्मृतियो द्वारा प्रतिपादित वर्ण-धर्म तथा आचार के नियमो को अधिक कठोर रूप मे व्याख्या की गई।

सामाजिक जीवन पर प्रभाव—इस्लाम के कारण भारत के सामाजिक जीवन पर भी प्रभाव पडा। यह प्रभाव निम्नलिखित रूपों मे प्रगट हुआ—

(१) प्राचीन काल मे भारतीय स्त्रियों मे परदे की प्रथा का अभाव था। पर इस्लाम के सम्पर्क से हिन्दुओ मे भी परदे की प्रथा का प्रचलन हुआ। इससे पूर्व कुलीन राजकुलो की महिमाएँ ही 'असूर्यम्पश्या' हुआ करती थी। पर अब सर्वसाधारण लोग भी स्त्रियो को परदे मे रखने के लिए प्रवृत्त हुए।

(२) बाल-विवाह की प्रथा का प्रारम्भ भी इसी युग मे हुआ। तुर्क-अफगान आक्राता भारतीय कन्याओ का बलात् अपहरण करने मे सकोच नही करते थे। इस दशा मे बहुत-से माता-पिता यह उपयोगी समझने लगे, कि अपनी कन्याओ का बचपन मे ही विवाह कर कन्यादान के पुण्य को प्राप्त कर ले, और कन्या की जिम्मेदारी से भी बच जाएँ। मुस्लिम सम्पर्क के कारण ही भारत मे बाल विवाह की प्रथा प्रारम्भ हुई।

(३) प्राचीन काल मे भारत मे दास प्रथा की सत्ता अवश्य थी, पर इस देश मे दास प्रथा का वह रूप नही था, जो पाश्चात्य देशों मे था, और न ही यहाँ बहुत बडी सख्या मे दास रखने का रिवाज था। तुर्क-अफगानो मे दास प्रथा बहुत प्रचलित थी। इसी कारण इस युग मे दास प्रथा का जोर बहुत बढ गया, और सुलतान व उनके सामन्त बहुत बडी सख्या मे दास रखने लगे। जहाँ भारत के निवासियो को बडी संख्या मे गुलाम बनाया गया, वहाँ साथ ही तुर्किस्तान, ईरान आदि से भी दासो को लाकर भारत मे उनका क्रय-विक्रय होने लगा।

चौदहवाँ अध्याय

तुर्क-अफगान युग के हिन्दू राज्य

(१) विजयनगर साम्राज्य

भारतीय इतिहास के ग्रन्थों मे प्रायः बारहवी सदी के बाद का इतिहास जिस ढंग से लिखा जाता है, उससे पाठको के मन पर यह प्रभाव पडता है, कि इस काल में भारत मे अफगान एव तुर्क जातियो के मुसलमानो का आधिपत्य स्थापित हो गया था। यह सत्य है, कि बारहवी सदी के अन्त मे उत्तरी भारत मे मुस्लिम शासन का सूत्रपात हो गया था, और कुतुबुद्दीन ऐबक, बलबन तथा अलाउद्दीन खिलजी जैसे प्रतापी व महत्त्वाकाक्षी सुलतानो ने दूर-दूर तक विजय-यात्राएँ कर अपनी शक्ति का विस्तार किया था। पर साथ ही यह भी असंदिग्ध है, कि इस युग में भारत के अनेक प्रदेशों पर विविध हिन्दू राजवंशो का आधिपत्य विद्यमान था। यदि क्षेत्रफल की दृष्टि से देखा जाए, तो यह स्वीकार करना होगा कि दिल्ली के तुर्क-अफगान सुलतान और जौनपुर, माण्डू, अहमदाबाद आदि के प्रान्तीय सुलतान सब मिलकर भी भारत के आधे से अधिक प्रदेश को अपने शासन मे नही ला सके थे। भारतीय इतिहास का अनुशीलन करते हुए इस तथ्य को स्पष्ट रूप से अपने सम्मुख रखना चाहिए। इस युग के विविध हिन्दू-राज्यो मे भारतीय इतिहास की वही धारा निर्बाध रूप से प्रवाहित हो रही थी, जो हमे पूर्व-मध्य काल (सातवीं से बारहवी सदी तक) मे दृष्टिगोचर होती है। सभ्यता, सस्कृति व धर्म के क्षेत्र मे इस युग के ये हिन्दू राज्य भारत की प्राचीन परम्परा को कायम रखे हुए थे। ये राज्य निम्नलिखित थे—(१) विजयनगर, (२) उडीसा, (३) कामरूप या असम, और (४) मेवाड या राजपूताना। क्योकि नेपाल भी सास्कृतिक दृष्टि से भारत का ही अंग है, अतः उसे भी इस युग के हिन्दू राज्यो के अन्तर्गत किया जा सकता है।

विजयनगर—अफगान युग के हिन्दू राज्यो मे विजयनगर सबसे प्रधान था। १३३६ ईस्वी मे स्थापित यह राज्य चार सदी से भी अधिक समय तक स्थिर रहा, और इसके कारण कृष्णा नदी के दक्षिण का भारत मुस्लिम आधिपत्य से बचा रहा। यह राज्य कितना वैभवशाली था, इसका अनुमान कतिपय विदेशी यात्रियो के विवरणों द्वारा किया जा सकता है। इटालियन यात्री निकोलो कोन्ति १४२० ई० मे विजयनगर आया था। उसने इस नगरी के सम्बन्ध मे लिखा है—"इस नगरी की परिधि ६० मील है। इसकी प्राचीर पर्वत-शृङ्खला के साथ लगी हुई है, इस कारण इसका विस्तार और भी अधिक हो गया है। नगर में नब्बे हजार ऐसे पुरुष हैं, जो शस्त्र धारण करने योग्य है। इसका राजा भारत के अन्य सब राजाओ की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है।" अब्दुल रज्जाक नाम का एक पर्शियन यात्री १४४२ ईस्वी मे विजयनगर आया था। उसने इसके सम्बन्ध में लिखा है—"यह देश इतना समृद्ध और आबाद है, कि संक्षेप

में इसका वर्णन कर सकना असम्भव है। राजा के कोश मे कितने ही ऐसे कमरे हैं, जो सुवर्ण से भरे हुए है। सोने को पिघलाकर एक बडा ढेर बना दिया गया है। राज्य के सब निवासी चाहे उच्च श्रेणी के हो या नीच वर्ग के, यहाँ तक कि बाजार के शिल्पी तक भी अपने कानों, भुजाओं, गले और उंगलियो मे आभूषण धारण करते हैं।" डोमिन्गो हाएस नाम के पोर्तुगीज यात्री ने विजयनगर का वर्णन करते हुए लिखा है—"इस राज्य के राजा के पास बहुत अधिक कोश है। उसके सैनिक और हाथी भी संख्या में बहुत अधिक हैं···। विजयनगर मे प्रत्येक देश और जाति के लोग प्रचुर संख्या में है, क्योकि यह व्यापार का बहुत बडा केन्द्र है। विविध प्रकार के रत्नों और विशेषतया हीरों का वहाँ बहुत लेन-देन होता है।·········व्यापार की अधिकता के कारण इसके बाजार लदे हुए बैलों से सदा परिपूर्ण रहते है।" एदोर्दो बार्बोसा नामक यात्री ने सोलहवी सदी के शुरु मे विजयनगर के विषय मे लिखा था—"यह नगर व्यापार का बड़ा महत्त्वपूर्ण केन्द्र है। भारत मे उपलब्ध हुए हीरे, पेगु के रूबी, चीन और एलेग्जण्ड्रिया के रेशमी वस्त्र, और मलाबार के चन्दन, मिर्च, मसाले, काफूर और मुश्क यहाँ के व्यापार की प्रधान वस्तुएँ है।" विदेशी यात्रियो के इन उद्धरणो द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है, कि विजयनगर बहुत ही समृद्ध तथा उन्नत राज्य था, और विदेशी आक्रमणो के भय से मुक्त होकर इसके राजा अपने देश की समृद्धि के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील थे।

शासन-व्यवस्था—विजयनगर राज्य का शासन प्राचीन चोल राज्य की परम्परा के अनुरूप था। राज्य मे कूटस्थानीय व मूर्धन्य स्थान राजा का था, जो ब्राह्मणों व अन्य जातियो के मन्त्रियो के परामर्श के अनुसार देश का शासन करता था। राज्य की मन्त्रिपरिषद् के सदस्यो की नियुक्ति राजा द्वारा की जाती थी। मंत्री किसी एक जाति के नहीं होते थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों ही द्विजातियो के योग्य पुरुषों को राजा मन्त्री पद पर नियुक्ति करता था। पर राज्य की समृद्धि और शक्ति राजा की अपनी योग्यता पर ही निर्भर करती थी। इसीलिए राजा कृष्णदेव राय (मृत्युकाल १५३० ईस्वी) ने अपनी पुस्तक 'आमुक्तमाल्यदा' मे राजा के सम्बन्ध मे निम्नलिखित आदर्श का प्रतिपादन किया था—"मूर्धाभिषिक्त राजा को सदा धर्म को दृष्टि मे रखकर शासन करना चाहिए। राजा को इस प्रकार के व्यक्तियो को अपना सहायक बनाना चाहिए, जो दण्डनीति मे प्रवीण हो। उसे इस बात का पता लगाने मे सदा सतर्क रहना चाहिए, कि राज्य मे कहाँ ऐसी खाने है, जिनसे बहुमूल्य धातुएँ उपलब्ध हो सकती हैं। उसे जनता से कर वसूल करते हुए मृदु नीति का अनुसरण करना चाहिए, और उसमें अपने शत्रुओ को शक्ति द्वारा कुचल देने की क्षमता होनी चाहिए। उसे अपनी प्रजा की रक्षा व पालन करने मे समर्थ होना चाहिए, और जनता को वर्णसंकरता से बचाना चाहिए।" निःसन्देह, राजा कृष्णदेव राय के ये विचार भारत के प्राचीन राजशास्त्र के अनुकूल थे और विजयनगर के अनेक राजा इन्हीं के अनुसार शासन करने का प्रयत्न भी करते थे।

शासन की सुविधा के लिए विजयनगर राज्य को छः प्रान्तों (राज्य, मण्डल या, चावडी) मे विभक्त किया गया था। इनके प्रांतीय शासकों को 'नायक' कहा जाता था। नायक-पद पर प्राय. राजकुल के पुरुषो की ही नियुक्ति की जाती थी। प्रान्तों (मण्डलों)

के अनेक उपविभाग थे। तमिल क्षेत्र में इन उपविभागों को कोट्टम्, नाडू, पर्रू और ग्राम कहते थे। कर्णाटक क्षेत्र मे इनके नाम वेण्थे, नाडू, सीम और ग्राम थे। प्राचीन काल की ग्राम-संस्थाएँ इस युग में भी विद्यमान थी, और ग्राम-सभाओ द्वारा सर्व-साधारण जनता अपने साथ सम्बन्ध रखने वाले मामलों की स्वयं व्यवस्था करती थी। ग्रामो और नगरों मे शिल्पियो की 'श्रेणियाँ' और व्यापारियो के 'निगम' इस युग में भी संगठित थे, और स्थानीय स्वशासन की इन विविध संस्थाओ के साथ सम्पर्क रखने के लिए राजा की ओर से एक पृथक् कर्मचारी की नियुक्ति की जाती थी, जिसे 'महा-नायकाचार्य' कहते थे।

विजयनगर राज्य में भूमिकर को 'षिस्ट' कहते थे, जो स्पष्टतः संस्कृत के षड्-भाग का अपभ्रंश है। भारत की प्राचीन परम्परा के अनुसार उपज का छठा भाग भूमि-कर के रूप में वसूल किया जाता था। सम्भवत, इसी प्रथा का अनुसरण विजयनगर मे भी किया गया था। भूमिकर की वसूली के लिये भूमि को तीन वर्गों मे बाँटा गया था, सिंचाई वाली भूमि, सूखी भूमि और उद्यान व जंगल। इन तीन प्रकार की भूमियों के लिए भूमिकर की दरे अलग-अलग थी, और किस खेत से कितना कर वसूल किया जाए, यह स्पष्ट रूप से निश्चित कर दिया जाता था।

विजयनगर के सैनिक विभाग को 'कदाचार' कहते थे, और इसके अध्यक्ष को 'दण्डनायक' कहा जाता था। पदाति, अश्वारोही, गजारोही और उष्ट्रारोही—ये चार प्रकार के सैनिक दण्डनायक की अधीनता मे होते थे। बहुसख्यक सेना 'भृत' होती थी, जिसके सैनिक भृति या वेतन से आकृष्ट होकर ही सेना मे भरती होते थे। यही कारण है, कि विजयनगर की सेना मे बहुत-से मुस्लिम सैनिको ने भी प्रवेश कर लिया था।

राजा के अधीन विविध प्रान्तों के जो 'नायक' थे, उनको बहुत अधिकार प्राप्त थे। उनकी स्थिति अर्धस्वतन्त्र राजाओ के समान थी। उनकी अपनी पृथक् सेनाएँ होती थी, और अपने क्षेत्र से राज्य-कर को वसूल करना और न्याय-व्यवस्था का सचालन करना उन्ही का कार्य होता था। यही कारण है, कि सोलहवी सदी के उत्तरार्ध मे विजयनगर राज्य मे प्रान्तीय स्वतन्त्रता की प्रवृति ने जोर पकड़ा, और अनेक प्रान्तीय नायको ने अपने पृथक् राजवंश स्थापित करने का उद्योग शुरु किया। विजयनगर राज्य के पतन में प्रान्तीय नायकों की यह प्रवृति एक महत्त्वपूर्ण कारण थी।

साहित्य और कला—भारत के सांस्कृतिक इतिहास मे विजयनगर राज्य का बहुत महत्त्व है, क्योंकि साहित्य और कला के क्षेत्र मे वहाँ प्राचीन हिन्दू-परम्परा अक्षुण्ण रूप से कायम रही। विजयनगर के राजाओ से सरक्षण पाकर संस्कृत, तेलगू, तमिल और कन्नड भाषाओं ने बहुत उन्नति की और उनमें उत्कृष्ट साहित्य का निर्माण हुआ। वेदों का प्रसिद्ध भाष्यकार सायण चौदहवी सदी मे हुआ था, और विजयनगर राज्य की स्थापना मे उसने बहुत सहायता की थी। सस्कृत वाङ्मय मे सायणाचार्य का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। चारो वेदो का भाष्य कर उन्होने वैदिक संहिताओं को भली-भाँति समझ सकना बहुत सुगम बना दिया है। वर्तमान समय के विद्वान् वेदों का अध्ययन करते हुए सायण-भाष्य का ही आश्रय लेते है। सायण के भाई माधव का भी संस्कृत साहित्य में बहुत उच्च स्थान है। वे विजयनगर राज्य के

संस्थापक बुक्क के मन्त्री थे, और उन्होंने 'पाराशरमाधवीय' नामक ग्रन्थ की रचना की थी, जिसे हिन्दू-विधान-शास्त्र विषयक पुस्तकों में बहुत आदर की दृष्टि से देखा जाता है। विजयनगर की अनेक रानियाँ साहित्य के क्षेत्र में बहुत ऊँचा स्थान रखती थीं। इनमें 'मधुराविजयम्' की लेखिका गंगादेवी और 'वरदम्बिकापरिणयम्' की लेखिका तिरुमलम्बादेवी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। विजयनगर के प्रसिद्ध राजा कृष्णदेवराय का काल न केवल राजशक्ति के उत्कर्ष की दृष्टि से बहुत महत्त्व का है, अपितु साहित्य और ज्ञान के विकास के लिए भी वह सुवर्णीय युग के सदृश है। कृष्णदेव राय स्वयं भी एक उत्कृष्ट विद्वान्, कवि व संगीतज्ञ था, और उसकी राजसभा में बहुत-से विद्वान् और कवि आश्रय प्राप्त किये हुए थे। जिस प्रकार सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की राजसभा के 'नवरत्न' प्रसिद्ध हैं, वैसे ही कृष्णदेव राय की राजसभा के 'अष्टदिग्गज' प्रसिद्ध हैं। तेलगू साहित्य में इन अष्टदिग्गजों का बहुत ऊँचा स्थान है। इनमें सर्वप्रधान पेद्दन नाम का कवि था, जिसकी कृतियाँ तेलगू साहित्य में बहुत आदर की दृष्टि से देखी जाती हैं। कृष्णदेव राय की रचनाओं में सबसे प्रसिद्ध 'आमुक्तमाल्यदा' है, जो उसने तेलगू भाषा में लिखी थी। इसमें सन्देह नहीं, कि विजयनगर के राजाओं की संरक्षा में दक्षिणी भारत ने साहित्य और ज्ञान के क्षेत्र में बहुत उन्नति की। इस युग में उत्तर भारत में मुसलिम शासन स्थापित हो चुका था, और सुलतानों की संरक्षा में पर्शियन साहित्य की उन्नति हो रही थी। पर दक्षिणी भारत में विजयनगर के राजा संस्कृत और दक्षिणी भाषाओं के संरक्षक थे, और उनके समय की शान्ति व समृद्धि से लाभ उठाकर भारत के अनेक विद्वान् और कवि नवीन साहित्य के सृजन में तत्पर थे।

साहित्य के समान कला के क्षेत्र में भी विजयनगर राज्य ने बहुत उन्नति की थी। विजयनगर इस समय नष्ट हो चुका है, पर उसके भग्नावशेष उसके प्राचीन गौरव का आभास देने के लिए अब तक भी विद्यमान हैं। कृष्णदेवराय के समय में निर्मित 'हजार मन्दिर' इनमें सर्वप्रधान है। प्रसिद्ध कलाविज्ञ लौगहर्स्ट के अनुसार इस समय जितने भी हिन्दू मन्दिर विद्यमान हैं, उनमें कला की दृष्टि से यह मन्दिर सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण व निर्दोष है। इसी प्रकार विजयनगर का विट्ठलस्वामी मन्दिर वास्तुकला का एक अत्यन्त उत्कृष्ट उदाहरण है।

धार्मिक सहिष्णुता—प्राचीन भारतीय परम्परा का अनुसरण करते हुए विजयनगर के हिन्दू राजा सब धर्मों व सम्प्रदायों को समान दृष्टि से देखते थे। न केवल शैव, बौद्ध, वैष्णव और जैन आदि प्राचीन भारतीय धर्मों के प्रति, अपितु ईसाई, यहूदी व इस्लाम सदृश विदेशी धर्मों के प्रति भी ये राजा सहिष्णुता व उदारता की नीति का अनुसरण करते थे। एदोर्दो बार्बोसा ने लिखा है, कि विजयनगर के राजा ने सब लोगों को इतनी अधिक स्वतन्त्रता दी हुई है, कि किसी भी धर्म को मानने वाला कोई भी आदमी उसके राज्य में स्वतन्त्रतापूर्वक आ-जा सकता है, वहाँ बस सकता है, और अपने धर्म का अनुसरण कर सकता है। वहाँ यह नहीं पूछा जाता, कि तुम हिन्दू हो या ईसाई, यहूदी हो या मुसलमान। विजयनगर के राजाओं की धार्मिक सहिष्णुता की नीति की यदि इसी युग के ईसाई व मुसलमान राजाओं की धार्मिक नीति से तुलना की जाय,

तो उनका भेद स्वयं स्पष्ट हो जायगा। धार्मिक सहिष्णुता की नीति के कारण ही विजयनगर के राजाओं ने पोर्तुगीज लोगों को अपने राज्य के समुद्र तट पर बसने और व्यापार को विकसित करने की अनुमति दी, यद्यपि इन यूरोपियन लोगो ने उसका दुरुपयोग करने मे सकोच नही किया।

सामाजिक दशा—विदेशी यात्रियो के वृत्तान्तो से सूचित होता है, कि विजय-नगर राज्य में स्त्रियो की दशा बहुत उन्नत थी। राजनैतिक, सामाजिक और साहित्यिक जीवन में उनका स्थान बहुत ऊँचा था। विजयनगर की जिन अनेक रानियो ने उत्कृष्ट साहित्य की रचना की, उनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। पर यह बात ध्यान देने योग्य है, कि इस राज्य की स्त्रियाँ मल्लविद्या, शस्त्र-संचालन आदि मे भी कुशल होती थी। नूनिज नामक विदेशी यात्री ने लिखा है, कि विजयनगर के राजा की सेवा मे ऐसी भी स्त्रियाँ है, जो कुश्ती करती है, और जो फलित ज्योतिष एवं भविष्यज्ञान मे भी प्रवीण है। राजा की सेवा मे बहुत-सी ऐसी स्त्रियाँ नियुक्त हैं, जो सब हिसाब-किताब रखती है, और राज्य की घटनाओ को लेखबद्ध करती है। उसकी सेवा मे ऐसी स्त्रियाँ भी हैं, जो सगीत व वाद्य मे अत्यन्त कुशल है। उसकी अपनी रानियाँ भी सगीत मे प्रवीण है। इतना ही नही, राजा के अन्तःपुर मे न्याय-प्रतीहार आदि के पदो पर भी स्त्रियाँ नियुक्त हैं, जो अपने कार्य को योग्यता के साथ सम्पादित करती है। स्त्रियो की ऐसी उच्च स्थिति होने पर भी विजयनगर राज्य मे सती की प्रथा विद्यमान थी, और विधवा होने पर बहुत-सी स्त्रियाँ पति के साथ चिता पर बैठकर अपने को भस्म कर देती थी।

विजयनगर राज्य मे मांस भक्षण का बहुत प्रचार था। गाय व बैल को वहाँ अवध्य माना जाता था, और उनके मास को खाने का निषेध था। नूनिज ने विजय-नगर के राजाओ के भोजन के सम्बन्ध मे लिखा है, कि वे सब प्रकार की चीजो का भक्षण करते है। केवल गाय और बैल वे नही खाते, क्योंकि इन्हे वे अवध्य समझते हैं, और इनकी पूजा करते है। भेड, बकरा, सूअर, खरगोश, मुर्गा, बत्तख, कबूतर आदि तो उनके लिए खाद्य है ही, पर साथ ही वे चूहे, बिल्ली और छिपकली को खाने में भी एतराज नही करते। बाजार मे पशु-पक्षी जीवित रूप मे बिकते है, ताकि उन्हें खाने के लिए खरीदने वाले लोगो को अपनी खाद्य वस्तु के सम्बन्ध मे किसी भी भ्रम की गुञ्जाइश न रहे। यद्यपि विजयनगर के राजा कट्टर हिन्दू थे और वैष्णव धर्म के प्रति भी श्रद्धा रखते थे, पर मास-भक्षण के वे विरोधी नही थे। यज्ञो मे पशु हिंसा भी इस समय दक्षिणी भारत मे प्रचलित थी। विजयनगर में 'नौ दिन' का एक उत्सव मनाया जाता था, जिसमे बहुत बडी संख्या मे पशुओ की बलि दी जाती थी। इस उत्सव के अन्तिम दिन २५० भैसो और ४५०० बकरो की बलि दी जाती थी। इन पशुओ की बलि चढ़ाते हुए यह ध्यान में रखा जाता था, कि एक ही आघात से उनका सिर धड़ से अलग हो जाय।

आर्थिक दशा—विजयनगर राज्य के शिल्पी और व्यापारी 'श्रेणियों' और 'निगमो' मे संगठित थे, और अपने आर्थिक सगठनो के नियमो का पालन करते हुए ही आर्थिक उत्पादन किया करते थे। पर इस राज्य की आर्थिक दशा के सम्बन्ध मे

सबसे अधिक उल्लेखनीय बात इसका विदेशी व्यापार है। अब्दुल रज्जाक नामक लेखक ने लिखा है, कि विजयनगर राज्य मे ४०० बन्दरगाह थे, जिनमे सर्वप्रधान कालीकट था। अपने विविध बन्दरगाहो से विजयनगर के व्यापारी बरमा, अरब, ईरान, दक्षिणी अफ्रीका, अबीसीनिया और पोर्तुगाल तक व्यापार के लिए आया-जाया करते थे, और इन देशो के व्यापारी भी अच्छी बडी संख्या मे दक्षिणी भारत आते थे। सामुद्रिक व्यापार के क्षेत्र मे विजयनगर राज्य ने अच्छी उन्नति की थी। भारत से बाहर जाने वाले पण्य मे वस्त्र, चावल, लोहा, शोरा, खाड और मसालो की प्रधानता थी, और जो पण्य विदेशो से इस राज्य मे बिकने के लिये आता था, उसमे घोडे, मोती, ताम्बा, पारा, चीनी रेशम और मूगो की मुख्यता थी। विजयनगर राज्य की नौ-सेना शक्ति भी कम नही थी, और विविध प्रकार के जहाजो का निर्माण भी वहाँ होता था।

विजयनगर की मुद्रा पद्धति मे सुवर्ण, रजत और ताम्र का उपयोग किया जाता था, और उसके सिक्को पर विविध देवताओ की प्रतिमाएँ अंकित रहती थी। वस्तुओं का मूल्य बहुत कम था, इस कारण लोगो को अपने निर्वाह के लिए विशेष कठिनाई नही होती थी। सामान्यतया, लोग समृद्ध और सुखी थे।

(२) अन्य हिन्दू राज्य

उड़ीसा—स्वतन्त्र उडीसा-राज्य का संस्थापक अनन्तवर्मा चोड़ गंग (१०७६–११४८) था। जिस समय भारत पर अफगान आक्रान्ताओ के आक्रमण शुरू हुए, उडीसा का राज्य अच्छा शक्तिशाली हो चुका था, और उसका विस्तार उत्तर मे गगा के मुहाने से शुरू कर दक्षिण मे गोदावरी नदी के मुहाने तक था। कुतुबुद्दीन ऐबक के समय मे अफगानो की सत्ता मगध और बगाल मे स्थापित हो गयी थी। अत. यह स्वाभाविक था, कि बंगाल के मुसलिम शासक उडीसा पर भी आक्रमण करें और उसे जीतकर अपनी अधीनता मे लाने के लिए प्रयत्नशील हो। पर उडीसा के स्वतन्त्र हिन्दू राजाओ ने उनका मुकाबला करने मे अद्भुत वीरता प्रदर्शित की, और अनेक बार आक्रमण करके भी मुसलिम आक्रान्ता उडीसा को जीत सकने मे असमर्थ रहे। मुसलमानो को परास्त करने वाले इन हिन्दू राजाओ मे नरसिंह प्रथम (१२३८–१२६४) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। १४३४ ईस्वी तक नरसिंह प्रथम के उत्तराधिकारी स्वतन्त्र रूप से उडीसा का शासन करते रहे। ये राजा गगवश के थे। चौदहवी सदी के उत्तरार्द्ध में इनकी शक्ति क्षीण होनी प्रारम्भ हो गयी थी।

१४३४ ई० मे गगवश के अन्त के साथ उडीसा से हिन्दू शासन का अन्त नहीं हो गया। गंगवश का अन्त कर उडीसा मे नये राजवश की स्थापना करने वाला राजा कपिलेन्द्र (१४३४–१४७०) था, जिसने एक बार फिर अपने राज्य को उत्कर्ष की चरम सीमा तक पहुँचा दिया। कपिलेन्द्र ने बगाल और बहमनी राज्य के मुसलिम सुलतानो को अनेक युद्धो मे परास्त किया। एक बार तो उसकी सेनाएँ बहमनी सल्तनत की सेनाओ का पीछा करता हुई बीदर तक भी आ पहुँची। बहमनी सुलतानों की शक्ति का क्षय करने मे कपिलेन्द्र की सेनाओ ने बड़ा कर्तृत्व प्रदर्शित किया। कपिलेन्द्र ने विजयनगर राज्य के साथ भी अनेक युद्ध किये, और अपने राज्य की दक्षिणी सीमा को

गोदावरी के दक्षिण मे कावेरी नदी तक विस्तृत कर दिया। कपिलेन्द्र के उत्तराधिकारी भी अच्छे शक्तिशाली थे, और बहमनी सल्तनत तथा विजयनगर राज्य से निरन्तर युद्ध करते हुए अपने राज्य की रक्षा करने में समर्थ रहे थे। उडीसा का यह स्वतन्त्र हिन्दू राज्य १५६८ ईस्वी तक कायम रहा।

उड़ीसा के हिन्दू राजा संस्कृत और तेलगू भाषा के प्रेमी थे, और उनके संरक्षण मे इन भाषाओं के साहित्य ने बहुत उन्नति की। जगन्नाथपुरी के प्रसिद्ध मन्दिर का निर्माण अनन्तवर्मा चोडगग के शासनकाल मे शुरू हुआ था, और राजा नृसिंह प्रथम ने उसे पूर्ण कराया था। कोणार्क का प्रसिद्ध सूर्य मन्दिर भी इसी राजा की कृति थी। उडीसा के इन हिन्दू राजवशों के उल्लेख का प्रयोजन यह प्रदर्शित करना है, कि अफगान युग मे उड़ीसा के रूप में एक ऐसा स्वतन्त्र हिन्दू राज्य पूर्वी भारत मे विद्यमान था, जिसके राजा अत्यन्त शक्तिशाली थे, और जो प्राचीन हिन्दू परम्परा का अनुसरण करते हुए विशाल मन्दिरो का निर्माण कराने और संस्कृत-साहित्य को प्रोत्साहित करने मे तत्पर थे।

मेवाड़—अलाउद्दीन खिलजी के समय (चौदहवी सदी के प्रथम चरण) मे अफगान आक्रान्ताओ ने राजपूताना को अपने अधीन करने का किस प्रकार प्रयत्न किया, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। पर उन्हे अपने उद्देश्य मे सफलता प्राप्त नहीं हुई। कुछ समय के लिए प्रधान राजपूत दुर्गों को अपने अधिकार मे रख कर भी मुसलिम आक्रान्ता इस प्रदेश को अपने आधिपत्य मे लाने में असमर्थ रहे। मेवाड के राणाओ के नेतृत्व मे विविध राजपूत राजवश संगठित हुए, और उन्होंने न केवल अपने-अपने क्षेत्र मे स्वतन्त्रतापूर्वक शासन किया, अपितु गुजरात, मालवा और दिल्ली के सुलतानो के साथ संघर्ष कर अपने अधिपत्य का विस्तार भी किया। मेवाड़ के इन राणाओ मे हम्मीर अत्यन्त शक्तिशाली एव महत्त्वाकाक्षी था और उसके उत्तराधिकारियों में कुम्भा (१४३६ ई०) बडा प्रतापी हुआ। गुजरात और मालवा के मुसलिम सुलतान इस समय अपनी शक्ति के विस्तार मे तत्पर थे। कुम्भा ने उनके साथ बहुत-से युद्ध किये, और एक बार तो मालवा की सल्तनत की राजधानी माण्डू पर भी उसने कब्जा कर लिया। मेवाड की रक्षा के लिए उसने बत्तीस दुर्गों का निर्माण कराया, जिनमें कुम्भलगढ का किला सबसे प्रसिद्ध है। मुस्लिम सुलतानो को परास्त करने के उपलक्ष मे उसने एक विशाल जयस्तम्भ या कीर्तिस्तम्भ का निर्माण कराया, जो उस युग की राजपूत वास्तुकला का उत्कृष्ट उदाहरण है। यह स्तम्भ चित्तौडगढ मे अब तक विद्यमान है, और संसार के सर्वोत्तम कीर्ति-स्तम्भों मे इसकी गणना की जा सकती है। राणा कुम्भा केवल अनुपम विजेता और योद्धा ही नही था, अपितु कवि और सगीतप्रेमी भी था।

राणा कुम्भा के उत्तराधिकारियो के सम्बन्ध मे यहाँ कुछ भी परिचय दे सकना सम्भव नही है। उसके वश मे राणा सांगा (सग्रामसिह) ने मेवाड की शक्ति का और अधिक उत्कर्ष किया, और सोलहवी सदी के प्रारम्भिक भाग मे जब मुगल विजेता बाबर ने भारत पर आक्रमण किया, तो वही उत्तरी भारत की प्रधान राज-शक्ति था।

कामरूप व असम—अफगान युग के प्रारम्भ में असम और पूर्वी बंगाल में अनेक छोटे-छोटे हिन्दू राज्य थे, जो आपस मे सघर्ष करते रहते थे। मगध और बगाल को अपनी अधीनता मे ले आने वाले अफगान आक्रान्ता पूर्व दिशा मे और आगे बढ़कर इन हिन्दू-राज्यो को अपनी अधीनता मे ला सकने मे असमर्थ रहे, और इन हिन्दू राज्यों की स्वतन्त्र सत्ता कायम रही। पन्द्रहवी सदी के प्रारम्भिक भाग मे इन राज्यों मे अन्यतम कामत-राज्य अपने उत्कर्ष मे समर्थ हुआ, और वर्तमान कूचविहार के दक्षिण मे स्थित कामतापुर को राजधानी बनाकर कामत राजाओ ने अपनी शक्ति को बहुत बढा लिया। १४६८ मे इस राज्य का स्वामी नीलाम्बर था। बंगाल के सुलतान अलाउद्दीन हुसैन-शाह ने उस पर आक्रमण किया, और नीलाम्बर उससे अपने राज्य की रक्षा करने में असमर्थ रहा। पर मुसलिम लोग असम पर देर तक शासन नही कर सके। विश्वसिह नाम के एक वीर पुरुष ने शीघ्र ही उसे मुसलिम आधिपत्य से मुक्त किया, और १५१५ के लगभग कूचबिहार को राजधानी बनाकर अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। विश्वसिह द्वारा स्थापित यह हिन्दू राज्य १६३६ ईस्वी तक कायम रहा। इस समय भारत मे शक्तिशाली मुगल साम्राज्य की स्थापना हो चुकी थी, और मुगल बादशाह सुदूर पूर्व के इस प्रदेश को भी अपने आधिपत्य मे लाने में समर्थ हुए थे। पर सम्पूर्ण असम मुगलो की अधीनता मे नही आ गया था। तेरहवी सदी मे अहोम नाम की एक मगोल जाति ने उत्तर की तरफ से असम पर आक्रमण किया था, और उसके उत्तर-पूर्वी प्रदेश पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। जिस समय असम के पश्चिमी प्रदेश पर कामतापुर के राजाओ और विश्वसिह के उत्तराधिकारियो का शासन था, उसके पूर्वी प्रदेश पर अहोम लोगो के स्वतन्त्र राज्य की सत्ता थी। भारत मे आकर अहोम लोगो ने हिन्दू धर्म और भारतीय सस्कृति को अपना लिया था, इसीलिए उन्हे और उनके राज्य को सब दृष्टियो से हिन्दू समझा जा सकता है। मुसलिम आक्रान्ताओ ने उत्तर-पूर्वी असम के अहोम राज्य को भी अपनी अधीनता मे लाने का प्रयत्न किया, पर उन्हे सफलता नही मिली। मुगल सम्राटो के शासन काल मे भी इस राज्य की स्वतन्त्र सत्ता कायम रही। भारत के जो कतिपय प्रदेश मुगलो के शासन मे आने से बच रहे, उनमे अहोम राज्य भी एक था।

पच्चीसवाँ अध्याय

भारतीय इतिहास का मुगल युग

(१) मुगल साम्राज्य

मंगोल आक्रमण—बारहवी सदी के अन्तिम वर्षों में शहाबुद्दीन गौरी की अफगान सेनाओ ने भारत पर आक्रमण किया था। सोलहवी सदी के प्रारम्भिक भाग में मुगल आक्रान्ता बाबर ने भारत की विजय की। शहाबुद्दीन गौरी और बाबर के बीच मे सवा तीन सौ वर्षों का अन्तर था। इस सुदीर्घ काल मे भारत विदेशी आक्रमणों से प्रायः मुक्त रहा। इस काल मे चगेज खाँ और तैमूर लंग ने भारत पर आक्रमण अवश्य किये, पर उन्होने इस देश पर अपना शासन स्थापित करने का प्रयत्न नही किया। पर सोलहवी सदी के प्रारम्भ मे तैमूर के वशज बाबर ने भारत को आक्रान्त किया, और वह यहाँ स्थायी रूप से अपना राज्य कायम करने मे सफल हुआ।

१५३० ई० मे बाबर की मृत्यु हुई। मृत्यु के समय उस द्वारा स्थापित साम्राज्य पश्चिम मे आमू नदी से लेकर पूर्व मे बंगाल की खाडी तक, और उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण मे मालवा तक विस्तृत हो गया था। बाबर के साथ भारतीय इतिहास के मुगल युग का प्रारम्भ हुआ। मुगल बादशाहों मे अकबर सबसे प्रसिद्ध है। वस्तुत., मुगल साम्राज्य का संस्थापक अकबर ही था।

१५५६ ई० में अकबर के राजगद्दी पर आरूढ होने के समय मुगलों का शासन केवल उत्तर-पश्चिमी भारत, पंजाब, दिल्ली और आगरा तक ही सीमित था। भारत मे अपने आधिपत्य का विस्तार करने के लिए अकबर ने बहुत-से युद्ध किये। उसे दो राजशक्तियो के विरुद्ध युद्ध करना था, अफगान और हिन्दू राजपूत। अफगानो और राजपूतो के जो अनेक राज्य इस समय भारत के विविध प्रदेशों मे स्थापित थे, उन्हें परास्त किये बिना अकबर भारत मे अपने आधिपत्य का विस्तार नही कर सकता था। पर साथ ही उसके लिए यह भी सुगम नही था, कि वह अफगान और राजपूत दोनों राजशक्तियो का एक साथ मुकाबला कर सके। अफगानों और मुगलों का धर्म एक था, पर धर्म की एकता उन्हे मित्र बना सकने में असमर्थ रही। इस स्थिति में अकबर का ध्यान राजपूतो की ओर गया, जो वीरता, साहस आदि गुणो में संसार की किसी भी जाति से कम नही थे। अकबर ने भारत में मुगल शासन की स्थापना करते हुए राजपूतों का सहयोग प्राप्त करने का यत्न किया, और इसमें वह सफल भी हुआ। इसी लिए उसने राजपूतों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर उनके साथ मैत्री की। सबसे पूर्व जयपुर के राजा भारमल ने अपनी कन्या का विवाह अकबर के साथ कर दिया। इसके बाद अन्य भी अनेक राजपूत राजाओं ने अकबर के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित

किये। अकबर ने राजपूतों को मुगल साम्राज्य मे ऊँचे-ऊँचे पद प्रदान किये, और उनकी सेना की सहायता से ही भारत के बडे भाग की विजय की। निःसन्देह, अकबर की यह नीति बहुत बुद्धिमत्तापूर्ण थी। इसी के कारण वह भारत में अपना स्थिर शासन स्थापित कर सका था। यद्यपि प्राय सब राजपूत राजाओ ने अकबर के साथ मेल कर लिया था, पर मेवाड के राणा किसी भी प्रकार मुगलो के साथ मैत्री करने और अकबर को अपना अधिपति मानने के लिए तैयार नही हुए। राणा प्रताप के नेतृत्व मे मेवाड के राजपूतो ने मुगलो के विरुद्ध सघर्ष को जारी रखा। पर इसमे सन्देह नही, कि राणा प्रताप के अतिरिक्त अन्य सब राजपूत राजा अकबर की नीति से सन्तुष्ट थे, और उन्होने स्वेच्छापूर्वक उसकी अधीनता को स्वीकार कर लिया था। अपने छोटे-छोटे राज्यो के स्वतन्त्र शासक होने की अपेक्षा उन्हे विशाल मुगल साम्राज्य के उच्च पदाधिकारी, सूबेदार व सेनापति होने मे अधिक गौरव अनुभव होता था, और वे यह भी भली-भाँति समझते थे, कि मुगलो की शक्ति उन्हीं की सहायता और सहयोग पर निर्भर है।

अकबर ने हिन्दुओ के प्रति उदारता की नीति का अनुसरण किया। उससे पूर्व मथुरा, हरिद्वार, अयोध्या, प्रयाग, काशी आदि हिन्दू तीर्थों की यात्रा करने के लिए आने वाले तीर्थयात्रियो पर एक विशेष कर (तीर्थयात्रा-कर) लगाया जाता था। अकबर ने उसे हटा दिया। १५६४ मे उसने हिन्दुओ से जजिया-कर वसूल करना भी बन्द कर दिया। इस कर से राज्य को करोडो रुपये की आमदनी थी। पर अपनी हिन्दू प्रजा को सन्तुष्ट रखने के लिए अकबर ने इस आमदनी की परवाह नही की। जजिया-कर को हटा देने से मुगल साम्राज्य की हिन्दू और मुसलिम प्रजा मे कोई भेद नही रह गया। यह बात भारत के इतिहास मे बहुत महत्त्व रखती है। तुर्क-अफगान युग मे भारत मे मुसलिम वर्ग का शासन था। पर अब अकबर ने अपने साम्राज्य मे एक ऐसे शासन की नीव डाली, जो किसी सम्प्रदाय विशेष या किसी विशिष्ट वर्ग का न होकर सब जातियो व धर्मों का सम्मिलित शासन था। उसने अपने राज्य मे ऊँचे-ऊँचे पदो पर हिन्दुओ को नियत किया। राजा टोडरमल उसका दीवान व अर्थसचिव था। राजा भगवानदास और मानसिंह उसके सबसे बडे सेनापति थे। अफगानिस्तान जैसे मुसलिम प्रदेश का शासन करने के लिए उसने मानसिंह को नियुक्त किया था। इसी प्रकार बगाल आदि अन्य अनेक सूबो के शासक भी इस युग मे हिन्दू लोग थे, जिनकी नियुक्ति सूबेदार के रूप मे अकबर द्वारा की गयी थी। इस सब का परिणाम यह हुआ, कि भारत मे मुगलो के शासन का स्वरूप पूर्ण रूप से 'राष्ट्रीय' हो गया।

अकबर के बाद जहाँगीर और शाहजहाँ ने दक्षिणी भारत मे मुगलो के प्रभुत्व का विस्तार करने के लिए निरन्तर सघर्ष किये। इस कार्य मे राजपूतो की सहायता उन्हे प्राप्त थी, और अपने शासन मे इन बादशाहो ने प्राय. उसी राष्ट्रीय नीति का अनुसरण किया, जिसका सूत्रपात अकबर द्वारा किया गया था। शाहजहाँ का उत्तराधिकारी औरगजेब था। उसने अकबर की नीति का परित्याग कर भारत को एक इस्लामी राज्य के रूप मे परिणत करने का प्रयत्न किया। मुगल साम्राज्य की नीव राजपूतो और हिन्दुओ की सहायता और सहानुभूति पर रखी गयी थी। औरंगजेब ने

इसी पर कुठाराघात किया। इस्लाम के सिद्धान्तो के अनुसार भारत के शासन-सूत्र का संचालन करने के उद्देश्य से जो कार्य औरंगजेब ने किये, उनमे मुख्य निम्नलिखित थे :— (१) हिन्दुओ पर फिर से जजिया-कर लगाया गया। (२) हिन्दू मन्दिरों को तोड़ने की आज्ञा जारी की गयी। काशी मे विश्वनाथ, गुजरात मे सोमनाथ और मथुरा मे केशवराय के मन्दिर उस समय बहुत प्रसिद्ध थे। वे सब औरंगजेब की आज्ञा से तोड दिये गये। अन्य भी बहुत-से मन्दिर गिराये गये। (३) व्यापार, व्यवसाय आदि मे हिन्दुओं और मुसलमानो मे भेद किया गया। यदि मुसलिम व्यापारी से ढाई प्रतिशत कर लिया जाता था, तो हिन्दू व्यापारी से पाँच प्रतिशत कर वसूल करने की व्यवस्था की गयी। इसका प्रयोजन यह था, कि हिन्दू व्यापारी आर्थिक लाभ के लालच से इस्लाम को स्वीकार कर ले। (४) जो हिन्दू इस्लाम की दीक्षा ले लेते थे, उन्हे इनाम दिये जाते थे। उनका जुलूस निकाला जाता था। उन्हे राज्य मे ऊँचा पद मिलता था। 'मुसलमान हो जाओ और कानूनगो बन जाओ'—यह उस समय एक कहावत-सी बन गई थी। (५) यह आज्ञा प्रचलित की गयी, कि हिन्दू लोग सार्वजनिक रूप मे अपने उत्सव और त्यौहार न मना सके। (६) हिन्दुओ को उच्च राजकीय पदो से हटाकर उनके स्थान पर मुसलमानो को नियुक्त करने की नीति को अपनाया गया। (७) दिल्ली के राजदरबार मे जो अनेक हिन्दू रीति रिवाज प्रविष्ट हो गये थे, उन सब को बन्द कर दिया गया।

औरंगजेब की इस हिन्दू-विरोधी नीति का परिणाम मुगल-साम्राज्य के लिए बहुत बुरा हुआ। हिन्दुओ की जो शक्ति अब तक मुगलो के लिए सहारा बनी हुई थी, वह अब उनके विरुद्ध उठ खडी हुई। हिन्दुओ ने औरंगजेब के विरुद्ध जो विद्रोह किये, उनमे मुख्य निम्नलिखित थे — (१) मथुरा के समीप जाटों ने विद्रोह कर दिया। बीस साल तक जाट लोग निरन्तर मुगलो के विरुद्ध संघर्ष करते रहे। (२) नारनौल के समीप सतनामी सम्प्रदाय के अनुयायियो ने विद्रोह किया। इस विद्रोह को शान्त करने मे औरंगजेब की सेनाओं को विकट कठिनाइयो का सामना करना पड़ा। (३) पंजाब मे सिक्खो के गुरु तेगबहादुर ने औरंगजेब की नीति का विरोध किया। बादशाह के खिलाफ बगावत फैलाने के अपराध मे बड़ी क्रूरता के साथ गुरु तेगबहादुर का वध किया गया। गुरु के वध का हाल जानकर सिक्खो मे सनसनी फैल गयी। वे अपने गुरु की हत्या का बदला लेने के लिए उठ खडे हुए। इस समय सिक्खो मे एक वीर पुरुष का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने उन्हे संगठित कर एक प्रबल शक्ति के रूप मे परिवर्तित कर दिया। यह महापुरुष गुरु गोविन्द सिंह थे। उनके प्रयत्न से सिक्ख लोग एक प्रबल सैनिक शक्ति (खालसा) बन गये, और मुगलो के विरुद्ध संघर्ष के लिए तत्पर हुए। (४) राजपूताना मे दुर्गादास राठौर के नेतृत्व मे राजपूतो ने विद्रोह का झण्डा खडा किया। चौथाई सदी के लगभग तक राजपूत लोग मुगलो के विरुद्ध संघर्ष करते रहे। मेवाड के राणा राजसिंह ने भी इस संघर्ष मे दुर्गादास का साथ दिया। कुछ समय के लिए ऐसा प्रतीत होने लगा, कि राजपूताना को अपने आधिपत्य मे रख सकना औरंगजेब के लिए सम्भव नही रहेगा। मुगल बादशाह ने राजपूतों को परास्त करने के लिए जो भी सेनाएँ भेजी, वे प्रायः अपने प्रयत्न मे असफल रहीं। अन्त में औरंगजेब को

राजपूतो के साथ सन्धि करने और उन्हे सन्तुष्ट करने के लिए विवश होना पडा। (५) दक्षिणी भारत मे शिवाजी ने मराठा राज्य की नीव डाली, जिसका उद्देश्य मुसलिम शासन का अन्त कर हिन्दू राजशक्ति का पुनरुद्धार करना था।

मुगल-साम्राज्य की जो नीति अकबर ने निर्धारित की थी, उसके तीन प्रधान तत्त्व थे—(१) शासन को किसी धर्म या वर्ग की शक्ति पर आश्रित न रखकर सम्पूर्ण राष्ट्र पर आश्रित रखना। (२) हिन्दुओ के सहयोग व सहानुभूति को प्राप्त करना। (३) सम्पूर्ण भारत को एक शासन की अधीनता मे लाना। औरगजेब की हिन्दू-विरोधी नीति के कारण उसके समय में पहले दो तत्त्वो का अन्त हो गया था। पर तीसरे तत्त्व को क्रिया मे परिणत करने के प्रयत्न में औरंगजेब ने कोई कसर नही उठा रखी। शाहजहाँ के शासन काल मे दक्षिणापथ मे मुगल सत्ता का बहुत विस्तार हुआ था। अहमदनगर पर मुगलो का अधिकार हो गया था, और बीजापुर की आदिलशाही तथा गोलकुण्डा की कुतुबशाही ने शाहजहाँ के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया था। पर औरंगजेब इन शाहियो द्वारा अधीनता स्वीकृत कर लेने की बात को पर्याप्त नही समझता था। इन शाहियो के सुलतान शिया सम्प्रदाय के अनुयायी थे, और औरगजेब सुन्नी था। उसकी दृष्टि में शिया लोग भी विधर्मी थे। अपने साम्राज्य के विस्तार की आकाक्षा और विधर्मी शिया शासन का अन्त कर देने की अभिलाषा से उसने एक बड़ी सेना को साथ लेकर दक्षिण की ओर प्रस्थान किया। उसके शासनकाल के पिछले पच्चीस वर्ष दक्षिण मे ही व्यतीत हुए। आखिर, औरंगजेब गोलकुण्डा और बीजापुर की स्वतन्त्र सल्तनतो का अन्त कर उन्हें अपने साम्राज्य के अन्तर्गत करने मे सफल हुआ। दक्षिण मे औरगजेब ने केवल गोलकुण्डा और बीजापुर का ही अन्त नही किया, अपितु उसकी अधिक शक्ति मराठो के साथ सघर्ष करने मे व्यतीत हुई।

मराठों का अभ्युदय—औरगजेब के शासन काल की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना मराठा शक्ति का अभ्युदय है। अफगान युग मे हिन्दुओं मे धार्मिक पुनर्जागरण की जो लहर चल रही थी, उसका उल्लेख हम पिछले एक अध्याय मे कर चुके है। इसी लहर के परिणामस्वरूप महाराष्ट्र मे भी अनेक ऐसे सन्त-महात्मा उत्पन्न हुए, जिन्होने मराठा लोगों मे नवजीवन का संचार किया। महाराष्ट्र के इन सन्तो में तुकाराम, रामदास, वामनपण्डित और एकनाथ बहुत प्रसिद्ध हैं। समर्थगुरु रामदास सतरहवी सदी मे हुए थे। उन्होने न केवल मराठो के धार्मिक विचारों में जीवन और स्फूर्ति उत्पन्न की, अपितु उनका ध्यान अपने देश और जाति के प्रति भी आकृष्ट किया। रामदास ने महाराष्ट्र मे वह राष्ट्रीय लहर चलाई, जिसने मराठों मे आत्मसम्मान और राष्ट्रीय उत्कर्ष की भावना को जागृत किया। वे उपदेश करते थे, कि "जो मराठे है, उन सब को मिलाकर एक कर दो। महाराष्ट्रीय धर्म की वृद्धि करो। धर्म के लिए बलि देने को तत्पर रहो। धर्म के शत्रुओ का सहार करो।"

रामदास जैसे महात्माओ के कारण मराठो मे नवजीवन और संगठन तो उत्पन्न हो ही रहा था, ऐसे समय मे उनमे एक महापुरुष का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने उन्हें एक प्रबल शक्ति के रूप मे परिवर्तित कर दिया। इस महापुरुष का नाम शिवाजी (जन्मकाल १६२७ ई०) था। शिवाजी ने किस प्रकार स्वतन्त्र मराठा राज्य की नीव डाली, और

अठारहवीं सदी के पूर्वार्ध मे पेशवाओं के नेतृत्व मे मराठे किस प्रकार भारत की प्रमुख राजशक्ति बन गये, इसका वृत्तान्त लिखने की आवश्यकता नही है। इतना निर्देश कर देना ही पर्याप्त है, कि बालाजी बाजीराव (१७४०-१५६१) के शासन काल मे मराठा साम्राज्य अपनी शक्ति की चरम सीमा पर पहुँच गया था, और दिल्ली का मुगल बादशाह मराठों के हाथों मे कठपुतली के समान हो गया था।

मुगल साम्राज्य का ह्रास—औरंगजेब की हिन्दू विरोधी नीति के कारण मुगल शासन के राष्ट्रीय रूप का अन्त हो गया था, और राजपूत, सिक्ख, मराठे आदि विविध हिन्दू राजशक्तियाँ मुगल आधिपत्य का अन्त कर अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने मे तत्पर हो गयी थी। इस काल मे भारत की राजनीतिक एकता नष्ट हो गई थी, और इस देश मे अनेक राज्य स्थापित हो गये थे, जो परस्पर लडने मे व्यापृत रहते थे।

अठारहवी सदी के उत्तरार्द्ध में भारत की राजशक्ति जिन विविध जातियों व राजवशो के हाथो मे थी, उनका निर्देश इस ढग से किया जा सकता है :—

(१) **मुसलिम**—(क) दिल्ली मे मुगल बादशाहों का शासन था, पर उनकी शक्ति बहुत क्षीण दशा मे थी। (ख) अवध मे एक पृथक् व स्वतन्त्र मुसलिम राजवंश की स्थापना हो गयी थी, जो नाममात्र को मुगल बादशाह की अधीनता स्वीकृत करता था। (ग) बगाल के सूबेदार भी मुसलिम थे, पर क्रियात्मक दृष्टि मे वे स्वतन्त्र थे। (घ) दक्षिणापथ (दक्खन) के सूबे का शासन अठारहवी सदी के शुरू में निजामुलमुल्क के सुपुर्द किया गया था, जो मुगल बादशाह की निर्बलता से लाभ उठाकर स्वतन्त्र रूप से आचरण करने लगा था। चौथ और सरदेशमुखी प्रदान कर मराठों को सन्तुष्ट रखते हुए दक्खन का यह निजाम अपनी स्वतन्त्र सत्ता को कायम रखे हुए था।

(२) **मराठे**—शिवाजी द्वारा मराठा शक्ति का प्रादुर्भाव किया गया था, और पेशवाओं ने उसे अत्यधिक विकसित किया था। अठारहवी सदी के मध्य भाग मे मराठो की शक्ति उत्कर्ष की चरम सीमा को पहुँच चुकी थी, और १७६१ के बाद भी ग्वालियर, नागपुर, इन्दौर, बडौदा व महाराष्ट्र मे उनके स्वतन्त्र व शक्तिशाली राज्य कायम थे। अपने 'स्वराज्य' के अतिरिक्त बहुत-से 'मुगलिया' प्रदेशो पर भी मराठो का आधिपत्य था, जिनसे कि वे चौथ और सरदेशमुखी वसूल करते थे।

(३) **राजपूत**—मुगल बादशाहत के उत्कर्ष-काल में भी राजपूताना के राजपूत राज्य अपने-अपने क्षेत्र मे स्वतन्त्र रूप से शासन करते थे। मुगल सेनाओ के सेनापति एव विभिन्न सूबों के सूबेदारो के रूप मे राजपूत राजाओ की शक्ति व वैभव मे बहुत वृद्धि हो गयी थी। औरंगजेब के बाद राजपूताने के विविध राजा क्रियात्मक दृष्टि से स्वतन्त्र हो गये थे, और मुगल बादशाहत की राजनीति मे खुलकर भाग लेने लगे थे।

(४) **सिक्ख**—औरंगजेब के शासनकाल में ही गुरु गोबिन्दसिंह के नेतृत्व मे सिक्खो ने अपना सैनिक सगठन बना लिया था। १७६१ में पानीपत के रणक्षेत्र मे मराठों के परास्त हो जाने पर पंजाब में अपनी राजशक्ति के विकास का उन्हे अनुपम अवसर मिला, और १७६७ मे अहमदशाह अब्दाली को परास्त कर उन्होंने पंजाब में

अपने अनेक स्वतन्त्र राज्य कायम कर लिए। अठारहवीं सदी के अन्त तक सिक्ख पंजाब की प्रधान राजशक्ति बन चुके थे।

(५) **जाट**—अठारहवीं सदी के मध्य तक दिल्ली और आगरा के समीपवर्ती प्रदेशों में जो अनेक छोटे-छोटे जाट राज्य स्थापित हो गये थे, १६७१ में मराठों के परास्त हो जाने के बाद उन्हें अपने उत्कर्ष का सुवर्णीय अवसर प्राप्त हुआ। सूरजमल नाम के वीर नेता के नेतृत्व में उन्होंने आगरा, धौलपुर, मैनपुरी, हाथरस, अलीगढ़, इटावा, मेरठ, रोहतक, फर्रुखनगर, मेवात, रेवाड़ी, गुड़गाँव और मथुरा के प्रदेशों पर अधिकार कर लिया, और भरतपुर को राजधानी बनाकर अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर ली। अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जाटों का यह राज्य भी भारत की प्रधान राजशक्तियों में अन्यतम था।

भारत की यह राजनीतिक दशा थी, जब कि अंग्रेजों ने इस देश में अपने उत्कर्ष का प्रारम्भ किया। इस विदेशी राजशक्ति को यहाँ अपने आधिपत्य को स्थापित करने में जो सफलता हुई, उसका प्रधान कारण यही था, कि औरंगजेब के बाद मुगल-साम्राज्य खण्ड-खण्ड होना शुरू हो गया था, और इस देश में कोई एक ऐसी प्रबल राजशक्ति नहीं रह गयी थी, जो इन विदेशी व विधर्मी लोगों से भारत की रक्षा करने में समर्थ हो सकती।

(२) मुगल-युग की विशेषताएँ

मुगल युग की कतिपय ऐसी विशेषताएँ हैं, जिन्हें दृष्टि में रखना इस काल की संस्कृति को समझने के लिए उपयोगी है—

(१) **शक्तिशाली केन्द्रीय शासन**—संसार के विविध देशों के मध्यकालीन इतिहास की यह विशेषता रही है, कि सामन्त पद्धति के कारण देश में शान्ति और व्यवस्था का अभाव होकर अराजकता की प्रवृत्तियाँ जोर पकड़ती रही हैं। गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद भारत में भी इसी प्रकार के मध्ययुग का प्रारम्भ हो गया था, जब कि देश में कोई ऐसा राजा नहीं हुआ, जो विविध राजवंशों और सामन्तों को पूर्णतया अपना वशवर्ती बनाकर शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने में समर्थ रहा हो। सातवीं सदी से बारहवीं सदी तक के हिन्दू राजा निरन्तर आपस में लड़ते रहे, और विजय-यात्राओं द्वारा देश में अराजकता उत्पन्न करते रहे। तेरहवीं, चौदहवीं और पन्द्रहवीं सदियों में अफगान सुलतानों के शासन काल में भी यही दशा रही। पर मुगल सम्राटों के शासन काल में इस स्थिति में परिवर्तन आया, और कम से कम विन्ध्याचल के उत्तर के प्रदेशों में एक सुव्यवस्थित शासन स्थापित हो गया।

अकबर से पूर्व सैकड़ों राजा, महाराजा, मुसलिम सरदार और सुलतान भारत के विविध प्रदेशों पर शासन करते थे, और वे सदा आपस में लड़ते रहते थे। पर अकबर की नीति के कारण भारत के विविध राजवंश पूर्णतया मुगल बादशाह के वशवर्ती हो गये थे। अपने छोटे-छोटे राज्यों में स्वतन्त्र राजा के समान शासन करने की अपेक्षा वे आगरा और दिल्ली के दरबार में मनसबदार के रूप में जीवन व्यतीत करना अधिक

सम्मानास्पद समझने लगे थे। मध्य काल की सामन्तपद्धति का ह्रास होकर अब यह स्थिति आ गयी थी, कि पुराने उग्र व स्वतन्त्रताप्रिय राजा और सरदार मुगल दरबार में अमीर-उमराओं के रूप में अदब-कायदे के साथ खड़े होने को गौरव की बात मानने लगे थे। अब इनकी स्थिति केवल अपनी तलवार पर आश्रित न रहकर बादशाह की कृपा दृष्टि पर निर्भर हो गयी थी।

(२) **राष्ट्रीय शासन**—मुगल बादशाहों का शासन किसी सम्प्रदाय या जाति-विशेष का शासन नहीं था। वह सच्चे अर्थों में 'राष्ट्रीय' शासन था, जिसमें हिन्दुओं और मुसलमानों को समान रूप से उन्नति का अवसर था।

(३) **उदारतापूर्ण शासन**—मुगल-दरबार के वैभव और समृद्धि से आकृष्ट होकर बहुत-से विदेशी लोग इस समय भारत में आते रहे, और मुगल बादशाहों ने उन्हें उदारतापूर्वक अपने दरबार व शासन-प्रबन्ध में स्थान दिया। विशेषतया, पर्शिया, मिस्र, अरब आदि मुसलिम देशों के बहुत-से विद्वान् व वीर इस युग में भारत आए और उनके सम्पर्क से यहाँ के ज्ञान व सैनिक शक्ति की वृद्धि में पर्याप्त सहायता मिली।

(४) **विदेशी व्यापार में वृद्धि**—भारत में एक सुव्यवस्थित शासन की स्थापना के कारण इस देश के विदेशी व्यापार में भी बहुत वृद्धि हुई, और स्थल व जल दोनों मार्गों से भारत का विदेशी व्यापार बहुत उन्नत हुआ। इस युग में भारत का विदेशी व्यापार केवल मुस्लिम देशों तक ही सीमित नहीं रहा, अपितु पोर्तुगीज, डच, फ्रेंच, ब्रिटिश आदि यूरोपियन लोग भी व्यापार को दृष्टि में रखकर भारत आने-जाने लगे। मुगल बादशाह इन यूरोपियन व्यापारियों का स्वागत करते थे, और इन्हें व्यापार-विषयक सब प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करते थे।

(५) **राष्ट्रीय एकता**—भारत में राष्ट्रीय एकता के विकास में मुगल-साम्राज्य ने बहुत सहायता पहुँचाई। हिन्दी, उर्दू या हिन्दुस्तानी इस युग में भारत की प्रधान भाषा बन गयी। उत्तरी भारत के बड़े भाग में समझी व बोली जाने वाली हिन्दी भाषा में पर्शियन शब्दों का समावेश होने से इस युग में एक ऐसी भाषा का विकास हुआ, जो न केवल उत्तरी भारत में सर्वत्र प्रयुक्त होने लगी, अपितु मुस्लिम विजेता जिसे दक्षिणी भारत में भी अपने साथ ले गये। इस भाषा का प्रादुर्भाव अफगान युग में ही हो चुका था। पर मुगलकाल में इसका विशेष रूप से विकास हुआ। इस राष्ट्रीय भाषा को पर्शियन लिपि में लिखने पर उर्दू कहते थे, और नागरी लिपि में लिखने पर हिन्दी। पर इसे हिन्दू और मुसलमान समान रूप से प्रयोग में लाते थे। दक्षिण में कितने ही मुसलमान कवियों ने इसमें काव्य की रचना की, और अब्दुर्रहीम खानखाना जैसे मुसलमान कवि (अकबर के समय में) ने इसमें कितनी ही कविताएँ बनाईं।

(६) **शान्ति और व्यवस्था का युग**—मुगलों के शासन में भारत में जो शान्ति और व्यवस्था कायम हुई, उसके कारण इस देश की बहुत समृद्धि हुई। कला, भवन-निर्माण, संगीत, साहित्य, कविता, धर्म आदि सभी क्षेत्रों में इस समय भारत ने असाधारण रूप से उन्नति की।

छब्बीसवाँ अध्याय

मुगल युग का भारत

(१) शासन-व्यवस्था

भारत के इतिहास मे मुगल युग की शासन-व्यवस्था का बहुत अधिक महत्त्व है। इस काल मे देश का शासन जिस ढंग से संगठित हुआ था, उसके अनेक तत्त्व ब्रिटिश युग मे भी कायम रहे, और अब तक भी उसके अवशेष विद्यमान है। शहरो के कोतवाल, मालगुजारी वसूल करने वाले तहसीलदार, कानूनगो और पटवारी उस युग का स्मरण दिलाने के लिए पर्याप्त है, जबकि भारत में मुगलो का शासन था।

मुगल-युग की शासन-व्यवस्था का निर्माण अकबर के समय मे हुआ था। यद्यपि मुगलो के पहले दो बादशाह बाबर और हुमायूं थे, पर वे अपने राज्य को सुव्यवस्थित रूप मे नही दे सके थे, क्योकि उनका अधिकाश समय युद्धो मे और भारत मे अपना आधिपत्य स्थापित करने मे ही व्यतीत हो गया था। पर अकबर से भी पूर्व शेरशाह सूरी ने दिल्ली को हुमायूं की अधीनता से मुक्त कर जब उत्तरी भारत मे अपने साम्राज्य का विस्तार किया, तो उसने अपने शासन को सुसंगठित और सुव्यवस्थित करने पर भी विशेष रूप से ध्यान दिया। शेरशाह सूरी ने मालगुजारी वसूल करने व विविध राजकर्मचारियो द्वारा देश के शासन की जिस व्यवस्था का सूत्रपात किया था, आगे चलकर अकबर ने उसी को विकसित किया। अत मुगल शासन पद्धति को अनेक अशो मे शेरशाह द्वारा स्थापित व्यवस्था का ही विकसित रूप मानना चाहिये।

शासन का स्वरूप—मुगलो द्वारा स्थापित शासन-पद्धति के स्वरूप को भली-भाँति समझने के लिए उसकी निम्नलिखित विशेषताओ को ध्यान मे रखना आवश्यक है—

(१) मुगल आक्रान्ता भारत के लिए विदेशी थे। वे धर्म से मुसलमान थे, और पर्शिया तथा अरब के शासन-सम्बन्धी सिद्धान्तो मे भली-भाँति परिचित थे। पर उनके लिए यह सम्भव नही था, कि भारत की शासन-सम्बन्धी परम्पराओ की सर्वथा उपेक्षा कर मुस्लिम सिद्धान्तो के अनुसार इस देश का शासन कर सकते। इसलिए उनकी शासन-व्यवस्था मुसलिम राज्य के सिद्धान्तो और भारत की परम्परागत शासनविधि के समन्वय का परिणाम थी। भारत मे ग्राम-संस्थाओं और शिल्पियो व व्यापारियो के आर्थिक सगठनो (श्रेणी और निगम) का बहुत महत्त्व था। अफगान युग मे भी स्थानीय स्वशासन की इन परम्परागत संस्थाओ का विनाश नही हुआ था। मुगल युग मे भी ये पूर्ववत् कायम रही, और सर्वसाधारण जनता अपने साथ सम्बन्ध रखने वाले मामलो का पुरानी परम्परा के अनुसार स्वयं शासन करती रही। भारत की विविध

जातियो व विरादरियो मे जो कानून व प्रथाएँ पुराने समय से चली आ रही थी, मुगलों ने उनमे हस्तक्षेप नही किया। उत्तराधिकार, विवाह, स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध आदि सामाजिक मामलों के बे कानून ही कायम रहे, जो विविध जातियो मे चिरकाल से चले आते थे। पर केन्द्रीय शासन और विविध सूबों के शासन की व्यवस्था करते हुए मुगल बादशाहों ने उस शासन-विधि को अपनी दृष्टि मे रखा, जो ईरान, ईराक, मिस्र आदि मुसलिम देशों मे विद्यमान थी, और जिससे वे भली-भाँति परिचित थे।

(२) मुगल-शासन का स्वरूप सैनिक था। उसकी सत्ता सैन्य-शक्ति पर आश्रित थी। अत प्रत्येक उच्च पदाधिकारी के लिए यह अनिवार्य था, कि सेना मे उसका उच्च स्थान हो। ये कर्मचारी 'मनसबदार' कहाते थे। मनसब मुगल-सेना का एक ओहदा होता था, और राज्य के प्रत्येक कर्मचारी के लिए यह आवश्यक था, कि सेना मे वह अपना ओहदा (मनसब) रखे। इन मनसबदारो के दसहजारी, पाँचहजारी, हजारी आदि कितने ही वर्ग थे। सबसे छोटा मनसबदार दस सैनिको का नायक होता था, और सबसे बडा दस हजार सैनिकों का। राज्य के दीवान, बख्शी, काजी, मुहतसिब आदि सब उच्च पदाधिकारी सेना मे भी 'मनसबदार' की स्थिति रखते थे। केवल बड़े पदाधिकारी ही नही, अपितु राज्य के मुनीम आदि छोटे कर्मचारी भी मुगल सेना मे ओहदा रखते थे। विविध कोटि के इन मनसबदारो के लिए यह आवश्यक था, कि वे अपनी स्थिति के अनुसार सैनिको व घुडसवारो की एक निश्चित सख्या अपने अधीन रखे, और अपने वेतन मे उनका खर्च चलाएँ। मनसबदारो को वेतन या तो नकद मिलता था, और या उसके बदले में उन्हे जागीर दे दी जाती थी, जिसकी आमदनी से वे अपना और अपने सैनिको का खर्च चलाते थे।

(३) मुगल सरकार जनता के हित और कल्याण के लिए शिक्षणालय तथा अस्पताल आदि खुलवाना अपने कार्यक्षेत्र से बाहर की बात समझती थी। इस युग मे ससार के विविध देशों के राजा देश में शान्ति स्थापित रखना और बाह्य आक्रमणो से उसकी रक्षा करना ही अपना प्रधान कर्त्तव्य समझते थे। उनके राज्य-शासन का स्वरूप 'पुलिस स्टेट' के सदृश था। जनता के हित व कल्याण के लिए जिस प्रकार के उपायों का अवलम्बन करना आजकल के राज्य अपना कर्तव्य समझते है, वैसा इस युग मे नही समझा जाता था। ये कार्य या तो इस युग के धार्मिक सम्प्रदाय करते थे, और या सम्पन्न व्यक्ति। मुगल-बादशाहो ने भी शिक्षा, साहित्य आदि को प्रोत्साहन देने के लिए धन का उदारतापूर्वक व्यय किया। पर इनका यह कार्य राजा व बादशाह की स्थिति मे न होकर एक सम्पन्न य धनी व्यक्ति की स्थिति मे ही था। इस युग के अन्य सम्पन्न पुरुषो के समान मुगल बादशाहो ने भी विद्वानों और साहित्यिको का संरक्षण व प्रोत्साहन किया। पर यह करते हुए उन्होने इस कार्य को अपना राजकीय कर्त्तव्य नही समझा। बादशाह की स्थिति मे वह अपना प्रधान कर्त्तव्य यही समझते थे, कि देश की आभ्यन्तर व बाह्य शत्रुओं से रक्षा करे, और सेना की सहायता से अपने आधिपत्य के क्षेत्र का विस्तार करने में तत्पर रहें।

(४) मुगल बादशाह पूर्णतया निरकुश और स्वेच्छाचारी थे। उनकी शक्ति को मर्यादित करने के लिए कोई ऐसी सभाएँ व अन्य संस्थाएँ नही थी, जो उनकी

इच्छा पर अंकुश रख सकती। इसमे सन्देह नही कि राज्य-कार्य मे उनकी सहायता करने के लिए मन्त्रियो की सत्ता थी, और दीवाने-खास मे उपस्थित अमीर-उमरा और मनसबदार लोग उसे महत्त्वपूर्ण विषयो पर परामर्श दे सकते थे। पर इस परामर्श को मानना न मानना राजा की अपनी इच्छा पर निर्भर था। यही कारण है, कि अकबर ने हिन्दुओ के प्रति जिस नीति का अनुसरण किया, औरंगजेब ने उसे आमूल-चूल परिवर्तित कर दिया। पर साथ ही यह भी ध्यान मे रखना आवश्यक है, कि बादशाह की निरंकुशता की एक सीमा भी थी। वह ऐसी नीति का अनुसरण नही कर सकता था, जो उसके मनसबदारो को सर्वथा अस्वीकार्य हो। इसी कारण अकबर को 'दीने-इलाही' के प्रचार मे सफलता नही हुई, और इसीलिए औरगजेब की हिन्दू-विरोधी नीति ने मुगल-साम्राज्य को खण्ड-खण्ड कर दिया।

(५) इस्लाम के सिद्धान्तो के अनुसार राजा न केवल अपने राज्य का स्वामी होता है, अपितु साथ ही मुसलिम धर्म का अधिपति भी होता है। इसी लिए हजरत मुहम्मद के उत्तराधिकारी खलीफा जहाँ अरब साम्राज्य के स्वामी थे, वहाँ साथ ही सम्पूर्ण मुसलिम जगत् के भी प्रधान थे। राजा और पोप दोनो के पद उनमे एकीभूत हो गये थे। साथ ही, मुसलिम विधान-शास्त्र के अनुसार यह भी आवश्यक है, कि राजा शरायत के अनुसार शासन करे। मुसलिम राज्य मे राजा मुसलिम प्रजा का शासक होता है। गैर-मुसलिमो की सत्ता या तो मुसलिम राज्य स्वीकार ही नही करता, या उनके जान-माल की रक्षा के बदले मे उनसे एक विशेष कर वसूल करता है, जिसे जजिया कहते हैं। इसी लिए तुर्क-अफगान युग मे हिन्दुओ को जजिया कर देना पडता था। पर अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ ने मुसलिम राज्य के इस सिद्धान्त की उपेक्षा की, और शासन के क्षेत्र मे हिन्दुओ और मुसलमानो के भेद को दूर कर दिया।

(६) जिस प्रकार मुगल बादशाह राज्य-शासन के सर्वोच्च अधिकारी थे, वैसे ही न्याय के क्षेत्र मे भी उनकी सत्ता सर्वोपरि थी। वे अपनी इच्छा के अनुसार 'शासन' (राजाज्ञा) जारी करते थे, और उनका पालन करना सम्पूर्ण प्रजा के लिए आवश्यक था। विवादग्रस्त बातो का अन्तिम निर्णय राजा द्वारा ही किया जाता था, और काजी आदि विविध न्याय-सम्बन्धी अधिकारियो के निर्णयो के विरुद्ध बादशाह की अदालत मे अपील की जा सकती थी। दीवाने-आम मे जनता को यह अवसर मिलता था, कि वह बादशाह की सेवा मे अपने प्रार्थना-पत्र पेश कर सके। जहाँगीर ने आगरा के किले मे स्थित शाहबुर्ज से लेकर यमुना के किनारे तक एक जजीर लटकवा दी थी, जिसके सिरे पर घण्टियाँ बँधी हुई थीं। कोई भी व्यक्ति इस जजीर को खीचकर बादशाह का ध्यान अपनी अर्जी की ओर आकृष्ट कर सकता था। पर मुगल काल का राजा न्यायप्रिय हो या नही, यह भी उसकी अपनी इच्छा और प्रवृत्ति पर ही निर्भर था। साथ ही, इस प्रसग मे यह भी ध्यान देने योग्य है, कि सर्वसाधारण जनता को अपने विवादग्रस्त विषयो के लिए बादशाह और उसके सूबेदारो की सेवा मे उपस्थित होने की विशेष आवश्यकता नही होती थी, क्योकि ग्रामो, आर्थिक सगठनो और बिरादरियो की अपनी-अपनी पचायतें इस युग मे भी विद्यमान थी, और बहुसंख्यक मामलों का निर्णय उन्ही द्वारा होता था। जिन मामलो को आजकल दीवानी (सिविल) कहा

जाता है, वे राजकीय न्यायालयों में बहुत कम पेश होते थे। उनका निर्णय प्राय: जनता की अपनी पंचायतों द्वारा ही होता था। फौजदारी के मामले और मुसलिम प्रजा के मामले काजी की अदालत में पेश होते थे, और प्राय: उन्ही के बारे मे बादशाह की सेवा मे अर्ज की जाती थी।

(७) यद्यपि राज्य के आर्थिक जीवन मे सरकार कोई विशेष दिलचस्पी नही रखती थी, पर अपनी अनेक प्रकार की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए उसकी ओर से बहुत-से कारखाने खुले हुए थे, जिनमे बहुत-से शिल्पी और कर्मकर एकत्र होकर बड़े पैमाने पर आर्थिक उत्पत्ति का कार्य करते थे। मनसबदारो को साल मे दो बार बादशाह की ओर से खिलत (पोशाक) दी जाती थी, और इन मनसबदारो की सख्या ११,००० से भी अधिक थी। इतने मनसबदारो के लिए खिलत तैयार करना साधारण बात नही थी। ये पोशाके राजकीय कारखानो में ही तैयार की जाती थी। इस प्रकार के कारखाने अफगान-युग मे भी विद्यमान थे। वस्त्रो के अतिरिक्त अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र आदि भी राजकीय कारखानो मे तैयार होते थे, जिनका संचालन बादशाह द्वारा नियुक्त दारोगा द्वारा किया जाता था। इस युग की सरकार के विविध कार्यो मे इन कारखानो का सचालन अच्छा महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था।

सरकार के विभाग—मुगल बादशाहत मे सरकार के प्रधान राजपदाधिकारी निम्नलिखित थे, जो अपने-अपने विभाग के मुख्य अध्यक्ष होते थे—(१) **दीवान**—राजकीय आय को प्राप्त करना और उसका हिसाब रखना दीवान का कार्य होता था। बादशाह के बाद राज्य मे उसकी स्थिति सबसे ऊँची होती थी। (२) **खानसामा**—यह राजकीय अन्तःपुर व दरबार का प्रधान अधिकारी होता था। प्राचीन भारत मे जो स्थान 'आन्तर्वंशिक' का था, वही मुगल काल मे खानसामा का था। अकबर के अन्त:पुर मे ५००० के लगभग स्त्रियाँ थी, जो सब उसकी विवाहित पत्नियाँ नही थी। यही दशा अन्य मुगल बादशाहो के अन्त पुरो की भी थी। इतने विशाल अन्त पुरो की सुव्यवस्था के लिए एक पृथक् सरकारी विभाग की सत्ता अनिवार्य थी। यही कारण है, कि इस युग मे खानसामा की स्थिति बहुत महत्त्वपूर्ण थी। (३) **बख्शी**—सेना के खर्च का हिसाब रखना और विविध मनसबदारो को नियमित रूप से वेतन आदि प्रदान करना बख्शी का कार्य था। (४) **काजी**—यह न्याय विभाग का प्रधान अधिकारी होता था। (५) **सदर-उस्-सदूर**—धार्मिक सस्थाओ को जो सहायता बादशाह की तरफ से दी जाती थी, या उसकी ओर से गरीबो व अनाथो के पालन के लिए जो खर्च होता था, उसकी व्यवस्था करना सदर-उस्-सदूर का कार्य था। (६) **मुहतसिब**—जनता के नैतिक कार्यों पर नियन्त्रण रखना इस अधिकारी के विभाग के अधीन था। इन छ. मुख्य पदाधिकारियो के अतिरिक्त (७) दारोगा-ए-तोपखाना और (८) दारोगा-डाक-चौकी नामक दो अन्य उच्च पदाधिकारी भी थे, जो राज्य मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे, यद्यपि उनकी स्थिति पहले छ. अधिकारियो की तुलना में हीन मानी जाती थी।

मुगल-युग के अन्य उच्च राजपदाधिकारी निम्नलिखित थे—(१) टकसाल का दारोगा, जिसका काम मुद्रा-पद्धति की व्यवस्था करना और सिक्को को ढलवाना होता

था। (२) मीर-माल, जिसकी स्थिति वर्तमान समय के 'लार्ड प्रिवी सील' के सदृश होती थी। (३) मुस्तोफी या आडिटर-जनरल। (४) नाजिरे-बुयुनात या सरकारी कारखानों का दारोगा। (५) मुशरिफ, जो भूमिकर विभाग का सचिव होता था। (६) मीर-बहरी या नौसेनाध्यक्ष। (७) मीर-बर्र या जगलात के महकमे का अध्यक्ष। (८) वाकाए नवीस—राज्य मे जो कुछ घटनाएँ घटित हो रही हैं, उन सबसे बादशाह को अवगत कराना इस पदाधिकारी का काम होता था। (९) मीर-अर्ज—यह जनता के प्रार्थनापत्र बादशाह की सेवा मे उपस्थित करता था। (१०) मीर-मजिल या क्वार्टर-मास्टर-जनरल। (११) मीर-तोजक—इसका कार्य शाही दरबार के साथ सम्बन्ध रखने वाली विविध विधियो व कायदो के यथावत् अनुसरण व पालन की व्यवस्था कराना होता था। मुगल बादशाहत के केन्द्रीय शासन मे ये ही राजकर्मचारी सर्वप्रमुख होते थे, जो अपने कार्यों के लिए केवल बादशाह के प्रति ही उत्तरदायी होते थे, और तभी तक अपने पदो पर रह सकते थे, जब तक कि बादशाह का विश्वास उन्हे प्राप्त रहे।

केन्द्रीय सभाओं का अभाव— मुगल बादशाहो के शासन मे कोई ऐसी केन्द्रीय सभाएँ नही थी, जिनमे परामर्श लेना बादशाह के लिए अनिवार्य हो। पर वह अपनी इच्छा के अनुसार मन्त्रियो और राज्य के मनसबदारो से समय-समय पर परामर्श करता रहता था। उनके परामर्श को बादशाह स्वीकार करे या नही, यह उसकी इच्छा पर ही निर्भर था। अफगान-युग के बारे-खास और बारे-आम के समान दीवाने-खास और दीवाने-आम मुगल-युग मे भी विद्यमान थे। दीवाने-आम मे बादशाह सर्वसाधारण जनता के प्रार्थना-पत्रो पर विचार करता था, और दीवाने-खास मे वह राज्य के उच्च पदाधिकारियो से परामर्श करता था। दीवाने-खास मे कौन लोग उपस्थित हो और वे किस क्रम से किस जगह पर बैठे, इन सब बातो के सम्बन्ध मे विशद रूप से नियम बने हुए थे। पर ये संस्थाएँ बादशाह की निरकुशता व स्वेच्छाचारिता को किसी भी रूप मे नियन्त्रित नही कर सकती थी। मुगल-युग के राजा पूर्ण रूप से 'एकतन्त्र' व 'एकराट्' होते थे।

बादशाह की सर्वोच्च सत्ता—मुगल-युग के बादशाह न केवल शासन के क्षेत्र मे सर्वोच्च सत्ता रखते थे, पर धर्म की दृष्टि से भी उनका बहुत ऊँचा स्थान था। इस्लाम के सिद्धान्तो के अनुसार मुसलिम लोग उन्हे अपना 'खलीफा' भी मानते थे, और उन्ही के नाम से 'खुतबा' भी पढा जाता था। अकबर जैसे शक्तिशाली बादशाह ने अपने को भारत के सब निवासियो का धर्मगुरु बनाने का भी प्रयत्न किया था। उसकी अनेक उपाधियो मे 'जगत्-गुरु' भी एक थी। जिस प्रकार लोग प्रातःकाल सूर्य के दर्शन करते है, या अन्य देवी देवताओ के दर्शन करके अपने कार्य को प्रारम्भ करते है, वैसे ही बादशाह के रूप मे जो प्रत्यक्ष देवता विद्यमान था, उसके दर्शन करना भी बहुत-से लोग अपना पुण्य कर्तव्य मानते थे। राजमहल के झरोखे पर खड़ा होकर बादशाह सूर्योदय के दो घडी बाद जनता को दर्शन देता था, और बहुत-से लोग झरोखे के नीचे के विशाल मैदान मे इसी उद्देश्य से एकत्र होते थे, ताकि उन्हे बादशाह के दर्शनो का पुण्य लाभ हो सके। अकबर के समय मे एक ऐसा भी सम्प्रदाय सगठित हो गया था, जिसके अनुयायी बादशाह का दर्शन किये बिना न भोजन ही खाते थे, और न

पानी ही पीते थे। इस सम्प्रदाय को 'दर्शनिया' कहते थे। मुगल बादशाहो के अतुल प्रताप के कारण लोगों ने उनके प्रति देवत्व भावना का विकास कर लिया था। प्राचीन युग के रोमन सम्राटों के समान अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ जैसे बादशाह अपने को "दैवी" मानने लगे थे। यही कारण है, कि जहाँगीर की मलका ने भी 'जगत्-गुमाइनी' की उपाधि धारण कर ली थी।

अफगान-युग मे विविध प्रान्तो के नायब सुलतान प्राय· वही स्थिति रखते थे, जो दिल्ली के सुलतान की होती थी। पर मुगल-युग मे बादशाह की स्थिति प्रान्तीय सूबेदारो की तुलना में बहुत ऊँची मानी जाती थी। बादशाह को कतिपय ऐसे विशेषाधिकार प्राप्त थे, जो साम्राज्य के किसी भी सूबेदार, सिपहसालार या अधीनस्थ राजा को प्राप्त नही थे। इनमे से कुछ विशेषाधिकारों का उल्लेख करना उपयोगी है— (१) राजमहल के झरोखे पर खडे होकर प्रजा को दर्शन देने का अधिकार केवल बादशाह को था। (२) हथेली को जमीन से छुआने के बाद फिर माथे पर लगाकर जो 'तसलीम' की जाती है, वह केवल बादशाह के प्रति ही की जा सकती थी, किसी अन्य व्यक्ति के प्रति नही। (३) जब बादशाह यात्रा के लिए चलता था, तो नगाड़े बजाये जाते थे। इसी प्रकार जब बादशाह दरबार मे हाजिर होता था, तो दमदमा बजाया जाता था। नगाडा और दमदमा केवल बादशाह के लिये ही बज सकते थे। (४) किसी सूबेदार को यह अधिकार नही था, कि वह किसी व्यक्ति को कोई उपाधि या खिताब दे सके। यह अधिकार केवल बादशाह को प्राप्त था। (५) जब बादशाह सवारी पर चलता हो, तो कोई आदमी उसके साथ सवारी पर नही चल सकता था। यदि बादशाह पालकी पर हो, तो उसका लडका घोड़े पर चढ सकता था। पर अन्य सब लोगों के लिए पैदल चलना आवश्यक था। यह अधिकार केवल बादशाह को ही प्राप्त था। मनसबदार व राजा यदि सवारी पर जाते हो, तो अन्य लोग भी सवारी का प्रयोग कर सकते थे। (६) विकलाग करने की आज्ञा देने का अधिकार केवल बादशाह को था। (७) हाथियो की लडाई केवल बादशाह के सामने ही कराई जा सकती थी। मनसबदारों को यह अधिकार नही था, कि वे आमोद-प्रमोद के लिए हाथियों को लडा सके। इसी प्रकार की अन्य अनेक बातो के कारण मुगल-युग मे बादशाहो की स्थिति अन्य सब लोगो की अपेक्षा बहुत अधिक ऊँची बनी हुई थी, क्योकि सर्वसाधारण लोगो की दृष्टि मे इन बातों का बहुत महत्त्व था।

प्रान्तीय शासन—मुगल साम्राज्य की स्थापना के बाद अकबर ने अपने साम्राज्य को बारह सूबों मे विभक्त किया था। उसकी मृत्यु के समय तक मुगल सूबो की सख्या १२ से बढ़कर १५ हो गयी थी, क्योकि कतिपय नये प्रदेश साम्राज्य की अधीनता में आ गये थे। इन पन्द्रह सूबों के नाम निम्नलिखित थे—आगरा, इलाहाबाद, अवध, दिल्ली, लाहौर, मुलतान, काबुल, अजमेर, बंगाल, बिहार, अहमदाबाद, मालवा, बरार, खानदेश और अहमदनगर। जहाँगीर के समय मे मुगल सूबों की संख्या १७ हो गयी, और जब औरंगजेब के समय में मुगल-साम्राज्य चरम उत्कर्ष को प्राप्त कर गया, तो उसके सूबो की संख्या २१ तक पहुँच गयी। मुगल साम्राज्य के सूबों का शासन करने के लिए जो पदाधिकारी नियत किये जाते थे, उन्हें 'नाजिम', 'सूबेदार', 'सिपहसालार',

व 'साहिब-सूबा' कहते थे। क्योंकि सूबे का निजाम अपने क्षेत्र की मुगल-सेना का प्रधान सेनापति भी होता था, अत. उसे सिपहसालार भी कहा जाता था। नाजिम या सूबेदार अपने सूबे के शासन और सेना दोनो का अधिपति होता था। उसके अधीन भी अनेक राजपदाधिकारी होते थे, जिनमे प्रमुख दीवान, बख्शी, काजी, सदर और वाकयानवीस थे। इन पदाधिकारियो की सूबे मे वही स्थिति थी, जो केन्द्रीय शासन मे इन्ही नामो के पदाधिकारियो की होती थी। सूबेदारो की नियुक्ति बादशाह द्वारा की जाती थी।

नाजिम या सूबेदार का प्रधान कार्य अपने सूबे मे शान्ति और व्यवस्था स्थापित रखना समझा जाता था। मुगल बादशाहत का स्वरूप 'पुलिस राज्य' के सदृश था, अत. सूबेदारो से यही आशा की जाती थी, कि वे अपने क्षेत्र की आभ्यन्तर और बाह्य शत्रुओ से रक्षा करे। सार्वजनिक हित के कार्यों के प्रति इस युग के शासक उपेक्षावृत्ति रखते थे, अत. सूबेदार भी इन बातो की ओर कोई ध्यान नही देते थे। यदि वे विद्वानो को आश्रय देते, और ज्ञान, साहित्य आदि के सवर्धन के लिए कोई कार्य करते थे, तो उसे वे अपनी वैयक्तिक स्थिति मे ही करते थे। सूबेदारो के अधीन अनेक फौजदार होते थे, जो सूबे के विभिन्न विभागों मे शान्ति और व्यवस्था कायम रखने का कार्य करते थे।

मुगलो के शासन का प्रभाव मुख्यतदा नगरो तक ही सीमित था, क्योंकि शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने की आवश्यकता विशेष रूप से वही पर होती थी। ग्रामो का प्रबन्ध पुराने युग से चली आ रही ग्रामसस्थाओ के ही हाथो मे था, और उनके कारण सर्वसाधारण जनता को मुगल-शासको के सम्पर्क मे आने का बहुत कम अवसर मिलता था। जमीन की मालगुजारी देने के सम्बन्ध मे किसानो का जिन कर्मचारियो से सम्पर्क होता था, उनके विषय मे हम इसी अध्याय मे आगे चलकर प्रकाश डालेगे।

सैन्य संगठन—मुगल युग की सेना के चार विभाग मुख्य थे—घुडसवार सेना, पदाति सेना, तोपखाना और नौसेना। इनके अतिरिक्त हाथियो और ऊँटो के दस्ते भी होते थे, जो विशेष परिस्थितियो मे प्रयोग मे लाये जाते थे। सेना मे सर्वप्रधान स्थान घुडसवारो का था। इसी लिए विविध वर्गो के मनसबदारों के लिए यह आवश्यक था, कि वे घोडो की एक निश्चित सख्या अपने पास रखे, जिन्हे आवश्यकतानुसार राज्य के लिए प्रयुक्त किया जा सके। तोपखाने का भारत मे प्रवेश बाबर के समय मे हुआ था, और मुगल बादशाहो ने उसकी उन्नति पर बहुत ध्यान दिया था। औरगजेब के समय तक मुगल-सेना मे तोपखाने का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान हो गया था, और युद्धो मे बन्दूको व तोपो का विशेष रूप मे प्रयोग होने लगा था। तोपखाने के सब कर्मचारियों और सैनिको को राज्यकोष से वेतन मिलता था। मनसबदारो के साथ उनका कोई सम्बन्ध नही होता था। मुगल बादशाहो के समय मे नौसेना का भी अच्छा महत्त्व था। इसके लिए एक पृथक् विभाग था, जिसके प्रधान अधिकारी को 'मीर-बहरी' कहते थे। इसके कार्य निम्नलिखित थे—(१) नदियो के पार उतरने के लिए सब प्रकार की नौकाओ का निर्माण करवाना, (२) युद्ध के काम आनेवाले हाथियो को पार उतारने के लिए विशेष प्रकार की नौकाएँ बनवाना, (३) मल्लाहो को भरती करना और उन्हे

नौकानयन सिखाना, (४) नदियों का निरीक्षण करना, और (५) नदियों को पार करने के लिए घाटों पर कर को वसूल करना। इसके अतिरिक्त राज्य के पास ऐसे भी जहाज थे, जिनसे समुद्र यात्रा की जा सकती थी। पूर्वी बगाल मे ढाका मे मुगलो ने ७६८ ऐसे जहाज तैनात किये हुए थे, जो सब प्रकार के अस्त्र-शस्त्रो से सुसज्जित थे। इन जहाजो का प्रयोजन यह था, कि अराकान के लोगो के आक्रमणो से बगाल के समुद्रतट की रक्षा की जा सके। सम्भवत', इसी प्रकार के जहाजी बेड़े मुगल-साम्राज्य के पश्चिमी समुद्रतट पर भी रखे गये थे, यद्यपि मुगल-सेना मे जगी जहाजो का स्थान बहुत महत्त्व-पूर्ण नही था। इस युग मे स्थल सेना का महत्त्व अधिक था, और मुगलो को अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए उसी की अधिक आवश्यकता भी पडती थी। इसी लिए मीर-बहरी का प्रधान कार्य नदियो के पार उतरने योग्य नौकाओ की व्यवस्था करना ही होता था, क्योंकि अपने विशाल साम्राज्य की रक्षा करने व उसका विस्तार करने के लिए नदियो को पार करना बहुत आवश्यक था।

घुडसवार और पदाति सेनाओ का संगठन मनसबदारो के अधीन था। मनसब के सम्बन्ध मे हम पहले भी लिख चुके है। मनसब का अभिप्राय है, पद या सेवा। सबसे छोटा मनसब दस सैनिको का होता था, और सबसे बडा दस हजार का। दस और दस हजार के बीच मे मनसबदारो के ३२ वर्ग थे, और प्रत्येक मनसबदार से यह आशा की जाती थी, कि वह सैनिको और घोडो की एक निश्चित सख्या सदा अपने पास तयार रखे, ताकि आवश्यकता पडने पर सरकारी कार्य के लिए उनका उपयोग किया जा सके। मुगल-युग मे इस प्रकार के मनसबदारो की कुल सख्या ११,५०० थी, जिनमे से ७५०० को अपने व अपने अधीनस्थ सैनिको के खर्च के लिए वेतन मिलता था, और शेष ४००० को वेतन के बदले मे जागीरे दी गई थी, जिनकी आमदनी से वे अपना खर्च चलाते थे। पर सब मनसबदार अपने लिए नियत किये गये सैनिको व घोडो को अवश्य ही अपने पास तैयार रखते हो, ऐसा नही था। बहुत-से मनसबदार इस विषय मे प्रमाद भी करते थे, और अपने वेतन व जागीर की आमदनी का उपयोग अपने वैयक्तिक सुख के लिए करने मे भी सकोच नही करते थे। अकबर ने इस सम्बन्ध मे अनेक व्यवस्थाएँ की थी। उस द्वारा एक आज्ञा यह प्रचारित की गयी थी, कि प्रत्येक मनसबदार अपने सैनिकों का बाकायदा रजिस्टर रखे, जिसमे सैनिक का नाम, उसके बाप का नाम कौम, जन्मस्थान व वैयक्तिक पहचान आदि सब बाते दर्ज हो। इसी प्रकार उसके पास जो घोडे हो, उन्हें भी दाग कर रखा जाय, ताकि जरूरत पडने पर निरीक्षण करने मे कठि-नाई न हो। इन आज्ञाओं के बावजूद भी मनसबदार लोग प्राय. अपने कर्त्तव्य मे शिथिलता करने से बाज नहीं आते थे।

यद्यपि मुगल-साम्राज्य की शक्ति का प्रधान आधार उसकी सेना थी, तथापि इस युग के सैन्य-संगठन को सर्वथा निर्दोष नही कहा जा सकता। युद्धनीति के सम्बन्ध मे सब सैनिक एक नियन्त्रण का अनुसरण नही करते थे। धर्म, जाति व प्रदेश के अनु-सार सैनिकों में बहुत भेद हो जाता था। साथ ही, सैनिक लोग अपने को बादशाह की सेवा मे नियुक्त न समझकर अपने मनसबदार का सेवक समझते थे। इस दृष्टि से मुगल-सेना मध्य-काल की सामन्त पद्धति की सेना से बहुत भिन्न नही थी। बड़े-बड़े मनसबदार

परस्पर ईर्ष्या रखते थे, और अवसर पड़ने पर आपस मे युद्ध करने व राजगद्दी के किसी एक उम्मीदवार का पक्ष लेकर उसकी सहायता करने मे भी संकोच नही करते थे। इस दशा में सैनिक भी अपने मनसबदार की तरफदारी करते थे, और मुगल सेना के विविध अग आपसी युद्ध मे ही व्यापृत हो जाते थे। अकबर के बाद जब मुगलों का वैभव बहुत बढ गया, तो उनकी सेना मे भोग-विलास की प्रवृत्ति उत्पन्न हो गयी। मुगल सेना जब युद्ध के लिए चलती थी, तो ऐसा प्रतीत होता था, मानो कोई नगर एक स्थान से दूसरे स्थान पर चल पडा हो। जहाँ सेना का पडाव पडता था, एक नगर-सा बस जाता था। हजारो खेमे व तम्बू गड जाते थे, जिनमे बड़े मनसबदारों के तम्बू रेशम के होते थे। नर्तक, वादक, गायक और तमाशा दिखाने वाले सेना के साथ-साथ चलते थे। छावनी मे भी मनसबदारो को रूपाजीवाओ और गणिकाओ के बिना चैन नही पडती थी। यही कारण है, कि शिवाजी की मराठी सेनाओ का मुकाबला करने में प्रतापी मुगल सम्राट् असमर्थ रहे।

पुलिस—नगरो मे शान्ति और व्यवस्था कायम रखने के लिए कोतवालो की नियुक्ति की जाती थी। आइने-अकबरी के अनुसार कोतवाल के कर्त्तव्य निम्नलिखित थे—(१) चोरो को पकडना, (२) तोल और माप के उपकरणो को नियन्त्रित रखना, और इस बात का ख्याल रखना कि व्यापारी लोग ग्राहको से मुनासिब कीमत लें, (३) रात के समय शहर के बाजारो, गलियो और मार्गो पर पहरे का इन्तजाम करना; (४) शहर के निवासियो का अपने रजिस्टर मे उल्लेख करना, और बाहरी आदमियो पर निगाह रखना, (५) शहर की गलियो, रास्तो और मकानों का रिकार्ड रखना; (६) खुफिया पुलिस की नियुक्ति करना, जिसका काम शहर के गुण्डो पर निगाह रखना, नागरिको के आय-व्यय का पता करना, और पडोस के ग्रामो के मामलो पर दृष्टि रखना होता था, (७) जिन मृत-लोगो का कोई वारिस न हो, उनकी सम्पति पर कब्जा कर लेना और उसका हिसाब रखना, क्योकि लावारिस सम्पत्ति का मालिक राज्य हो जाता था। (८) गाय, बैल, भैस-भैसे, घोडे और ऊँट के वध को रोकना; मुगल-युग मे प्राय गोवध का निषेध था। (९) किसी स्त्री को उसकी इच्छा के विरुद्ध सती होने के लिए विवश किये जाने पर उसे सती होने से रोकना। निःसन्देह, मुगल-युग के कोतवालो के ये कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण थे, और इन्हे सम्पन्न करते हुए उन्हें बहुत सतर्क होने की आवश्यकता होती थी।

देहात मे शान्ति और व्यवस्था रखने के लिए मुगल-युग मे पुलिस का कोई विशेष प्रबन्ध नही था। प्रान्तीय सूबेदारो की अधीनता मे अनेक फौजदार उस युग मे भी नियुक्त थे, पर फौजदारो का कार्य केवल यह था, कि अपने क्षेत्र में विद्रोह न होने दे। चोर-डाकू आदि से जनसाधारण की रक्षा करने का कार्य इस युग मे भी ग्राम-संस्थाओ के ही हाथो मे था, और वे ही ग्रामो की आन्तरिक सुव्यवस्था के लिए उत्तरदायी थी।

कानून और न्याय-व्यवस्था—जिन अर्थों मे आजकल के राज्यों मे कानून की सत्ता होती है, उस प्रकार के कानून मुगल काल मे विद्यमान नही थे। यद्यपि समय-समय पर बादशाहो की ओर से अनेक 'शासन' (राजाज्ञा) जारी किये जाते थे, और

उनकी स्थिति कानून के सदृश होती थी, पर इस प्रकार के कानूनों की संख्या बहुत कम थी। मुगल-युग मे विवाद-ग्रस्त मामलों का निर्णय जिन कानूनों के अनुसार किया जाता था, उन्हे हम निम्नलिखित भागो मे विभक्त कर सकते है—(१) बादशाह द्वारा जारी की गयी राजाज्ञाएँ। (२) शरायत कानून—क्योकि न्याय का कार्य प्रधानतया काजियो के सुपुर्द था, अतः वे न्याय करते हुए शरायत के कानून को दृष्टि मे रखते थे। कुरान और हदीसो मे जो नियम प्रतिपादित हैं, काजियों के विचार के अनुसार वे सत्य व सनातन कानून होते थे, और न्याय-कार्य में वे उन्ही का उपयोग करते थे। मुसलमानो के आपसी मुकदमो मे तो शरायत का कानून दृष्टि मे रखा ही जाता था, पर जिन मुकदमो मे एक पक्ष हिन्दू और दूसरा पक्ष मुसलिम हो, उनमे भी शरायत के कानून का ही प्रयोग होता था। (३) हिन्दुओ के परम्परागत कानून—जिन मुकदमो मे वादी और प्रतिवादी दोनो हिन्दू हो, उनका निर्णय करते हुए काजी लोग हिन्दुओ के चरित्र और व्यवहार (परम्परागत कानून) को दृष्टि मे रखते थे। पर ऐसा करना उनके लिए अनिवार्य नही था। काजी लोग जो कुछ भी उचित समझें, वही वे करते थे। उनके न्याय कार्य को मर्यादित करने के लिए वर्तमान समय के जाब्ता-दीवानी और जाब्ता-फौजदारी के ढंग के कोई विधान उस समय विद्यमान नही थे। कोई भी मनुष्य काजी के फैसले के खिलाफ बादशाह की सेवा मे अपील कर सकता था। अपीलो को सुनने और उनका निर्णय करने के लिए एक पृथक् महकमा था, जिसमे मीर-अर्ज के अधीन अनेक पदाधिकारी होते थे। महत्त्वपूर्ण मामलों का निर्णय बादशाह स्वय भी करता था, और जब बादशाह विजय-यात्रा पर या अन्य किसी कार्य से राजधानी के बाहर हो, तब भी मीरअर्ज का महकमा उसके साथ-साथ रहता था।

न्याय विभाग के प्रधान अधिकारी को 'काजी-उल्-कजात' कहते थे। यह अधिकारी साम्राज्य के विविध सूबो की राजधानियों मे प्रान्तीय काजियो की नियुक्ति करता था। काजी के न्यायालय मे तीन कर्मचारी होते थे—काजी, मुफ्ती और मीर-अदल। काजी का यह कार्य था, कि वह मामले की जाँच करे। मुफ्ती मुसलिम कानून का प्रतिपादन करता था, और यह बताता था कि शरायत के अनुसार मामले का क्या फैसला होना चाहिये। मीर-अदल काजी की जाँच और मुफ्ती द्वारा की गई कानून-सम्बन्धी व्याख्या के अनुसार फैसला लिखने का कार्य करता था। काजी की अदालत मे दीवानी और फौजदारी दोनो प्रकार के मुकदमे पेश होते थे। हिन्दुओ के पारस्परिक विवादो का निर्णय भी इसी अदालत द्वारा किया जाता था। यह आशा की जाती थी, कि काजी लोग निष्पक्ष, न्यायप्रिय और ईमानदार हो, पर क्रिया मे सभी काजी इन गुणो से युक्त नही होते थे।

पर इस प्रसंग में यह ध्यान मे रखना चाहिये कि काजियो की अदालतें केवल साम्राज्य और सूबों की राजधानियो मे ही थीं। अन्य नगरो मे इन अदालतो का प्रायः अभाव था। बाद मे मुगल बादशाहो ने अन्य बड़े नगरों मे भी काजी नियुक्त किये। पर छोटे नगरो और ग्रामों मे काजियो की अदालतें कभी कायम नही हुई। इन स्थानो पर न्याय का कार्य इस युग में भी ग्राम-पंचायतों के हाथो में ही रहा, जो स्थानीय परम्परागत कानूनों के अनुसार मामलों का निर्णय करने मे तत्पर रहती थी।

(२) मालगुजारी

मुगल-साम्राज्य की राजकीय आमदनी का प्रधान स्रोत मालगुजारी या भूमि-कर था। इसे वसूल करने के लिये जो व्यवस्था शेरशाह सूरी के समय मे शुरू हुई थी, अकबर ने भली-भाँति उसे विकसित किया। जमीन का यथोचित बन्दोबस्त करने और उससे व्यवस्थित रूप से मालगुजारी वसूल करने की जो पद्धति अकबर के समय में शुरू हुई, उसका प्रधान श्रेय राजा टोडरमल को है, जो पहले सहायक दीवान के पद पर नियत था, और बाद मे अकबर का मुख्य दीवान बन गया था। भारत के इतिहास मे टोडरमल द्वारा शुरू की गयी इस व्यवस्था का महत्त्व बहुत अधिक है, क्योकि बाद में ब्रिटिश लोगो ने भी उसे अनेक अशो मे अपनाया। मालगुजारी वसूल करने के लिए इस समय जमीन को चार वर्गो मे विभक्त किया गया—(१) पोलज—जिस जमीन पर प्रतिवर्ष खेती होती हो, और जो कभी परती न पडती हो, उसे पोलज कहते थे। (२) परती—जिस जमीन की उपज-शक्ति को कायम रखने के लिये उसे कभी-कभी खाली छोड देना आवश्यक हो, उसे 'परती' कहते थे। (३) छाचर—यह वह जमीन होती थी, जो तीन या चार साल तक बिना खेती के पडी रहे। (४) बजर—जो जमीन पाँच साल या अधिक समय तक खाली रहे, उसे बजर कहते थे। जमीन को इन चार वर्गो मे विभक्त कर यह अन्दाज किया जाता था कि पोलज और परती जमीनो की औसत पैदावार क्या होती है। इसके लिये प्रत्येक किसान की जमीन को तीन भागो मे बाँटा जाता था, बढिया, मध्यम और घटिया। यदि बढिया जमीन से प्रति बीघा २० मन, मध्यम से १५ मन और घटिया जमीन से १० मन पैदावार मानी जाये, तो उस किसान की औसत पैदावार १५ मन प्रति बीघा मान ली जाती थी। यह सिद्धान्त तय कर लिया गया था, कि प्रत्येक किसान से उसकी औसत पैदावार का तिहाई हिस्सा मालगुजारी के रूप मे वसूल किया जाएगा। जो उदाहरण हमने लिया है उसके अनुसार किसान को पाँच मन प्रति बीघा के हिसाब से मालगुजारी देनी पडती थी। पर माल-गुजारी की मात्रा को तय करते हुए यह भी ध्यान मे रखा जाता था, कि किसान अपने खेतो मे कौन-सी फसल बोता है। उसे यह हक था, कि मालगुजारी चाहे नकद दे और चाहे फसल के रूप मे। नकद मालगुजारी की मात्रा क्या हो, यह पिछले दस सालो मे फसल की जो कीमते रही हो, उनके आधार पर तय किया जाता था। टोडरमल से पहले नकद मालगुजारी तय करते हुए चालू कीमत को ही दृष्टि मे रखा जाता था। पर इसमे अनेक दिक्कते पेश आती थी। अत टोडरमल ने यह व्यवस्था की थी, कि पिछले दस सालो की कीमतो को ध्यान मे रखकर नकद मालगुजारी तय कर दी जाये, और दस सालो के लिये वही मात्रा कायम रहे। दस साल बीत जाने पर जमीन का नया बन्दोबस्त होता था, जिसमे पैदाबार और कीमतो की घटाबढी को दृष्टि में रख कर मालगुजारी की मात्रा तय की जाती थी।

जमीन की पैमाइश के लिये अकबर के समय मे एक नये माप को प्रयुक्त किया गया, जिसे 'इलाही गज' कहते थे। यह ३३ इच के करीब होता था। पहले जमीन को मापने के लिये रस्सी का प्रयोग किया जाता था। अकबर के समय में उसके स्थान

पर जरीब का प्रयोग शुरू हुआ, जिसे बास के टुकड़ो को लोहे के छल्लो से जोडकर बनाया जाता था। आज तक भी जमीन की पैमाइश के लिये भारत मे जरीब इस्तेमाल की जाती है, यद्यपि आजकल की जरीब लोहे की होती है। जरीब से जमीन की पैमाइश करके यह तय किया जाता था, कि किसान कितनी जमीन पर खेती करता है। फिर यह निश्चित होता था, कि उसकी जमीन पोलज, परती, छाचर या बजर—किस प्रकार की है। फिर उसकी औसत पैदावार का हिसाब करके उस पर मालगुजारी की मात्रा नियत की जाती थी। जमीन के बन्दोबस्त की इस पद्धति को 'जब्ती' कहते थे। बिहार, इलाहाबाद, मुलतान, अवध, आगरा, मालवा, लाहौर और दिल्ली के सूबों में इसी पद्धति के अनुसार जमीन का बन्दोबस्त किया गया था। बाद मे गुजरात और अजमेर के सूबो के अनेक प्रदेशो में भी इस पद्धति का अनुसरण किया गया। पर इसके अतिरिक्त बन्दोबस्त के अन्य कई तरीके भी मुगल युग में प्रचलित थे। उनका हम यहाँ उल्लेख नही करेंगे, क्योकि उनका विशेष महत्त्व नही था।

मालगुजारी को वसूल करने के लिये मुगल बादशाहत के सूबेदार अपने अधीनस्थ विविध राजकर्मचारियो की सहायता लेते थे। सूबे में शान्ति और व्यवस्था स्थापित रखने के लिये नाजिम या सूबेदार के अधीन अनेक फौजदार होते थे। पर मालगुजारी को वसूल करने की दृष्टि से सूबे को अनेक विभागो मे विभक्त किया जाता था, जिन्हे सरकार और परगना कहते थे। प्रत्येक सूबे मे बहुत-से सरकार होते थे, और प्रत्येक सरकार मे बहुत-से परगने। परगना बहुत-से ग्रामो से मिलकर बनता था। मालगुजारी को वसूल करने का काम पटवारी और मुकद्दम नाम के दो कर्मचारी करते थे, जो राजकीय सेवा मे न होकर ग्राम-संस्थाओ के अधीन होते थे। प्राचीन-युग के 'ग्रामणी' को ही इस युग मे 'मुकद्दम' कहा जाने लगा था। पटवारी उसके अधीन होता था, और खेती की पैमाइश का हिसाब रखकर जमीन से मालगुजारी वसूल करता था। राज्य के सबसे निम्न श्रेणी के कर्मचारी कारकुन कहाते थे, जो खेतो की पैमाइश करने और उनकी पैदावार का हिसाब रखने का काम करते थे। कारकुनो द्वारा तैयार किये गये हिसाब के आधार पर कानूनगो मालगुजारी की मात्रा निर्धारित करता था। प्रत्येक ग्राम से कितनी मालगुजारी वसूल होनी है, यह निश्चित करना कानूनगो का ही काम था, जो अपने अधीन कारकुनो द्वारा प्रत्येक ग्राम के खेतों की पैमाइश कराता था और उनमे पैदा होने वाली फसल का हिसाब रखता था। कानूनगो द्वारा निर्धारित की गयी मालगुजारी की रकम को वसूल करना ग्राम के मुकद्दम और पटवारी का काम था, जो मालगुजारी की रकम को पोद्दार के पास जमा करा देते थे। पोद्दार उन खजाचियो को कहते थे, जो राज्य की ओर से मालगुजारी व अन्य राजकीय करों को जमा करने और राज्यकोष मे पहुँचाने के लिये नियुक्त थे। मालगुजारी की वसूली के लिये प्रत्येक सूबा अनेक सरकारो मे विभक्त था, यह ऊपर लिख चुके है। 'सरकार' के राजकर्मचारी को 'आलमगुजार' कहते थे, जिसका प्रधान कार्य अपने क्षेत्र की राजकीय आमदनी को समुचित रूप से वसूल किये जाने की व्यवस्था करना था। प्रत्येक सरकार के प्रधान नगर में 'फौजदार' भी होते थे, पर उनका मालगुजारी वसूल करने के साथ

कोई सम्बन्ध नही होता था। उनका मुख्य कार्य यही था, कि वे अपने क्षेत्र में शान्ति और व्यवस्था को कायम रखें।

इसमे सन्देह नही, कि पैदावार का तीसरा भाग मालगुजारी के रूप मे वसूल करने की व्यवस्था करके मुगल-सम्राटो ने भारत की उस प्राचीन परम्परा का उल्लंघन किया था, जिसके अनुसार उपज का केवल 'षड्भाग' भूमिकर के रूप मे लिया जाता था। इससे किसानो मे अवश्य ही असन्तोष उत्पन्न हुआ होगा। पर अकबर आदि सभी मुगल बादशाहो ने यह भी यत्न किया था, कि जो अनेक प्रकार के अन्य कर ग्रामो व नगरो से वसूल किये जाते है उन्हे अब न लिया जाये। अफगान-युग मे इन करों की मात्रा बहुत बढ गयी थी, और ये 'अबवाब' कहाते थे। औरगजेब ने राजाज्ञा द्वारा जिन अबवाब करो को नष्ट करने का आदेश दिया, उनमे से कतिपय का यहाँ उल्लेख करना उपयोगी है। ये अबवाब निम्नलिखित थे—(१) मछली, सब्जी, गोबर के उपले, पेडो की छाल और पत्ते, बाँस और ईंधन, तेल, घडे और कसोरे, तमाखू आदि के क्रय-विक्रय पर वसूल किये जाने वाले कर। (२) जमीन को रहन पर रखने, जायदाद को बेचने और इमारत के मलवे को बेचने पर लिये जाने वाले कर। जब कोई आदमी अपनी जायदाद बेचता था, तो कानूनगो उसमे ढाई प्रतिशत के हिसाब मे अबवाब वसूल करता था। मलवा बेचने पर एक हजार ईंट पीछे तीन टका अबवाब लिया जाता था। (३) राहदारी-कर, जो विविध मार्गों पर पहरे के इन्तजाम का खर्च चलाने के लिये वसूल किया जाता था। (४) बाजार मे जमीन पर बैठ कर शाकसब्जी, फल, कपडा आदि बेचने वाले लोगो से खाली जमीन को इस्तेमाल करने के लिये वसूल किया जाने वाला महसूल। (५) कर्ज की रकम को अदालत द्वारा वसूल कराने पर राजकर्मचारी लोग प्रायः रकम का चौथाई भाग 'शुकराना' के रूप से वसूल कर लेते थे। (६) मल्लाही टैक्स, जो नदियो के नौका द्वारा पार करने पर लिया जाता था। (७) तोल और माप के विविध उपकरणो पर सरकारी मोहर लगाते समय वसूल किया जाने वाला कर। (८) जमीन की चकबन्दी करते हुए जनता से वसूल किया जाने वाला कर। (९) जब किसी इलाके मे कोई नया राजकर्मचारी नियुक्त होकर आता था, तो अपने इलाके के व्यापारियो से पेशकश (भेट-उपहार) प्राप्त करता था। इसी प्रकार के अन्य बहुत-से कर मुगल-साम्राज्य के विविध कर्मचारी जनता से वसूल करते थे, जिनके कारण सर्वसाधारण लोग सदा परेशान रहते थे। मुगल सम्राटो ने यत्न किया, कि इन अबवाबो को नष्ट कर दे। इसीलिये उन्होंने मालगुजारी की मात्रा 'षड्भाग' से बढाकर पैदावार का तीसरा हिस्सा नियत कर दी, ताकि उसमे आमदनी बढ जाने पर सरकार को अबवाब वसूल करने की आवश्यकता न रहे। पर अपने इस उद्देश्य में मुगल-सम्राट् सफल नही हो सके, क्योंकि उनके अधीनस्थ कर्मचारी सब प्रकार के उचित-अनुचित उपायो से अपनी आमदनी की वृद्धि के लिये उत्सुक रहते थे, और बादशाह की आज्ञा की उपेक्षा करने मे भी संकोच नही करते थे।

(३) सामाजिक दशा

मुगल काल के ऐतिहासिकों ने पर्शियन भाषा में जो इतिहास लिखे है, उनमें मुगल बादशाहों की विजय-यात्राओं, उनके राजदरबारों और अन्त.पुर के षड्यन्त्रों का विशद रूप से उल्लेख है। उनके अनुशीलन से इस युग की सामाजिक व आर्थिक दशा के सम्बन्ध में विशेष परिचय नहीं मिलता। पर इस काल में अनेक यूरोपियन यात्री भारत में व्यापार और भ्रमण आदि के लिये आये, और उन्होंने मुगल-साम्राज्य का जो वृतान्त लिखा है, उससे हमें इस युग की सभ्यता और संस्कृति के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात हो सकती है।

मुगल काल का सामाजिक जीवन सामन्त-पद्धति पर आश्रित था, जिसमें बादशाह का स्थान कूटस्थानीय व मूर्धन्य था। बादशाह की स्थिति जन-समाज में सर्वोच्च थी। उसके बाद उन अमीर-उमराओं का स्थान था, जो विविध श्रेणी के मनसब प्राप्त कर राज्य-शासन और समाज में उच्च पद प्राप्त किये हुए थे। इन अमीर-उमरावों को अनेक ऐसे विशेषाधिकार प्राप्त थे, जिनके कारण इनकी स्थिति सर्वसाधारण जनता से सर्वथा भिन्न हो गयी थी। ये अमीर उमरा बड़े आराम के साथ जीवन व्यतीत करते थे, और भोग विलास में स्वाहा करने के लिये इनके पास धन की कोई कमी नहीं होती थी। बादशाह का अपना जीवन भी बहुत अनियन्त्रित और विलासपूर्ण होता था, और अमीर-उमरा लोग अपने-अपने क्षेत्र में अपने मनसब के अनुसार बादशाह का अनुकरण करना अपना जन्म-सिद्ध अधिकार समझते थे। न केवल मुगल बादशाह के, अपितु अमीर-उमराओं के भी बड़े-बड़े हरम (अन्तःपुर) होते थे, जिनमें सैकड़ों हजारों स्त्रियाँ निवास करती थीं। अकबर के हरम में ५००० स्त्रियाँ थीं, जिनके भोजन-आच्छादन व विलास-सामग्री का प्रबन्ध करने के लिये एक पृथक् विभाग था। बादशाह के उदाहरण का अनुकरण कर अमीर-उमरा भी बहुत-सी स्त्रियों, नर्तकियों और पेशलरूपा दासियों को अपने हरम में रखते थे, और उन पर दिल खोलकर खर्च करते थे। बादशाह व अमीर-उमराओं की ओर से बहुत-सी दावतें सदा होती रहती थीं, जिनमें सुरापान और सुस्वादु भोजन के अतिरिक्त नाच-गान भी हुआ करता था। मुगल बादशाहत में 'मनसब' वंशक्रमानुगत नहीं होती थी। यह आवश्यक नहीं था, कि पाँच-हजारी का लड़का भी पिता की मृत्यु के बाद पाँचहजारी पद को प्राप्त करे। यही दशा उन जागीरों के सम्बन्ध में थी, जो बादशाह की ओर से मनसब का खर्च चलाने के लिये किसी मनसबदार को दी जाती थीं। इसका परिणाम यह था, कि अमीर-उमरा अपनी जागीर व मनसब को अपनी वैयक्तिक आमदनी का साधनमात्र समझते थे, और इस आमदनी को मौज बहार में उड़ा देने में ही अपनी भलाई मानते थे। सुन्दर पोशाक, उत्कृष्ट सुरा, षड्रस भोजन, भोग-विलास, नृत्य-गायन व द्यूत-क्रीडा आदि में वे रुपये को पानी की तरह बहाते थे। धन-ऐश्वर्य की प्रचुरता ने उन्हें आलसी और विलासी बना दिया था। मोरलैण्ड ने हिसाब लगाकर बताया है, कि पाँचहजारी मनसबदार की मासिक आय १८००० रुपये थी, और एकहजारी मनसबदार की ५००० रुपये मासिक। यह आय उस खर्च को निकालने के बाद थी, जो मनसबदार को अपने पद के अनुरूप सैनिक

और घोडे आदि को रखने के लिए करना पड़ता था। इस युग में वस्तुओं का मूल्य इतना कम था, कि जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं के क्रय मे यह रकम खर्च ही नही हो सकती थी। इस दशा में यदि विविध मनसबदार अपनी प्रचुर आय को ऐशो-इशरत में व्यय करे, तो यह सर्वथा स्वाभाविक ही था।

अमीर-उमरा और सर्वसाधारण जनता के बीच की एक मध्य श्रेणी का विकास भी इस युग मे हो गया था, जिसमे निम्न वर्ग के कर्मचारी, व्यापारी और समृद्ध शिल्पियों को अन्तर्गत किया जा सकता है। मुगल साम्राज्य के कारण भारत मे जो शान्ति और व्यवस्था स्थापित हो गयी थी, उसमे यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि देश के आभ्यन्तर और बाह्य व्यापार का भली-भाँति विकास हो। बडे-बडे नगरो मे निवास करने वाले व्यापारी एक स्थान के माल को दूसरे स्थान पर बेचकर अच्छी रकम पैदा कर लेते थे, पर वे जानबूझकर अपना रहन-सहन सादा रखते थे, क्योकि नगरों के कोतवालों का एक कार्य यह भी था, कि वे लोगो की आमदनी और खर्च का पता करते रहे। व्यापारियो को सदा यह भय बना रहता था, कि कही राजकर्मचारी उनके रहन-सहन से उनकी आमदनी का अन्दाज न कर ले, और फिर उचित-अनुचित उपायो से रुपया प्राप्त करने का यत्न न करें। इसीलिये वे बहुत सादे तरीके से रहते थे। बर्नियर ने लिखा है, कि व्यापारी लोगो की आमदनी चाहे कितनी भी क्यो न हो, वे अत्यन्त मितव्ययिता से खर्च करते थे। यही दशा समृद्ध शिल्पियो की भी थी, जिन्हे कि मुगल-काल के वैभव के कारण अपने शिल्प से अच्छी खासी आमदनी प्राप्त करने का अवसर मिल गया था। बन्दरगाहो मे निवास करने वाले अनेक ऐसे व्यापारी भी इस युग मे थे, जो विदेशी व्यापार के कारण अत्यन्त धनी हो गये थे। ये अमीर-उमराओं के समान विलासमय जीवन बिताते थे। इन्हे राजकर्मचारियो का विशेष भय भी नही था, क्योकि अनेक मनसबदार समय-समय पर इनसे भेंट-उपहार और कर्ज प्राप्त कर इनसे सन्तुष्ट रहते थे।

अमीर-उमरा व मध्य श्रेणी की तुलना मे सर्वसाधारण जनता की दशा अत्यन्त हीन थी। इस श्रेणी मे किसान, कर्मकर और शिल्पी लोग शामिल थे, जो अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकने योग्य आमदनी को सुगमता के साथ प्राप्त नही कर सकते थे। इनको तन ढकने के लिये कपडा भी कठिनता से प्राप्त हो पाता था। रेशमी व ऊनी कपडो का प्रयोग तो इनकी कल्पना से भी परे था। सर्वसाधारण जनता की दशा के सम्बन्ध मे कतिपय यूरोपियन यात्रियो के विवरणों मे बहुत अच्छा प्रकाश पडता है। फ्रासिस्को पल्सेअर्त नामक यात्री ने जहाँगीर के समय मे भारत की यात्रा की थी। उसने लिखा है कि इस देश की जनता मे तीन वर्ग ऐसे है, जो नाम को तो स्वतन्त्र है, पर जिनकी दशा गुलामो से बहुत भिन्न नही है। ये वर्ग मजदूरों (कर्मकरो), चपरासियो, नौकरो और छोटे दूकानदारो के है। पल्सेअर्त के अनुसार मजदूरो को बहुत कम वेतन दिया जाता था। राजकर्मचारी उनसे स्वेच्छापूर्वक बेगार ले सकते थे। अमीर-उमरा व राजकर्मचारी लोग जिस मजदूर को चाहे, काम के लिये बुला सकते थे। कोई यह साहस नही कर सकता था, कि बेगार देने से इन्कार करे। अमीर-उमरा व राजकर्मचारी काम के बदले मे उन्हे क्या वेतन दे, यह उनकी अपनी इच्छा पर निर्भर

था। मजदूर व नौकर लोग उनसे स्वेच्छापूर्वक वेतन व मजदूरी तय नहीं कर सकते थे। छोटे दूकानदारों को भी अमीर-उमराओं और मनसबदारों का भय सदा बना रहता था। शक्ति-सम्पन्न राजकर्मचारी बाजार भाव से कम कीमत पर उनसे माल खरीदते थे, और कीमत की प्राप्ति के लिए वे उनकी कृपा पर ही निर्भर रहते थे। वे जानबूझकर गरीबी का जीवन बिताते थे, क्योंकि वे सदा राजकर्मचारियों की लूट व शोषण से डरते रहते थे।

पर इस सब विवेचन से यह नहीं समझना चाहिये, कि मुगल-काल में सर्व-साधारण जनता की दशा बहुत खराब थी। कीमतों की कमी के कारण इस युग में मनुष्य बहुत कम खर्च में अपना निर्वाह कर सकता था। अनेक प्रकार के अबवाबों का अन्त कर मुगल-सम्राटों ने मालगुजारी की मात्रा पैदावार के एक तिहाई हिस्से के रूप में निर्धारित कर दी थी, जिसे प्रदान करने के बाद किसान निश्चिन्त रूप से उपज के दो-तिहाई भाग को अपने खर्च के लिए प्रयुक्त कर सकता था। जमींदारी प्रथा उस युग में नहीं थी। जमीन तीन प्रकार की होती थी—खालसा, जागीर और सयूरघाल। जिन जमीनों पर बादशाह का स्वामित्व था, उन्हें खालसा कहते थे। मनसबदारों को वेतन के बदले में जो भूमि प्रदान की जाती थी, उसे जागीर कहते थे। सयूरघाल जमीन वह थी, जो किसी विशेष प्रयोजन से राज्य की ओर से किसी व्यक्ति को मुफ्त में दी गयी होती थी। इन तीनों प्रकार की जमीनों पर किसान को उपज के तृतीयांश से अधिक कर प्रदान करने की आवश्यकता नहीं थी। शेष से वह अपना निर्वाह भली-भाँति कर सकता था।

सुरापान की इल्लत से सर्वसाधारण लोग मुक्त थे। केवल धनी व अमीर-उमरा लोग ही सुरा के व्यसनी थे। टैरी नामक यूरोपियन यात्री ने लिखा है, कि लोग मदमस्त अवस्था में कभी दिखाई नहीं देते, यद्यपि शराब प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है। लोगों का भोजन बहुत सादा होता था, और वे विदेशियों के प्रति भद्रता का व्यवहार करते थे। बाल-विवाह इस युग में भली-भाँति प्रचलित हो चुका था। देल्ला-वाल नामक एक यात्री ने दो बालकों के विवाह का वर्णन किया है, जिन्हें घोड़े पर सहारा देकर बिठाया गया था, और बरात में भी जिन्हें सहारा देकर घोड़े पर ले जाया गया था। अकबर ने इस बात का प्रयत्न किया था, कि बाल-विवाह की प्रथा बन्द हो। उसकी राजाज्ञाओं में से एक यह भी थी, कि रजस्वला होने से पूर्व किसी कन्या का विवाह न हो सके। उसने दहेज-प्रथा, बहु-विवाह और निकट सम्बन्धियों के विवाह को रोकने के लिये भी आदेश दिये थे। पर अकबर को अपने इन प्रयत्नों में कहाँ तक सफलता हुई थी, यह कह सकना कठिन है। पेशवाओं ने भी विवाह के सम्बन्ध में अनेक ऐसे आदेश जारी किये थे, जिनका उद्देश्य पारिवारिक सम्बन्ध को निर्दोष बनाना था। पर यह स्पष्ट है, कि मुगल काल में बाल-विवाह और दहेज प्रथा भली-भाँति विकसित हो चुकी थी। विधवा-विवाह को इस युग में अच्छा नहीं माना जाता था, यद्यपि महा-राष्ट्र की ब्राह्मण-भिन्न जातियों और उत्तरी भारत के जाटों में यह प्रचलित था। विधवाओं के सती हो जाने की प्रथा भी इस युग में प्रचलित थी। अनेक मुगल सम्राटों ने इसे रोकने व मर्यादित करने का प्रयत्न किया, पर वे सफल नहीं हो सके। नगरों के

कोतवालों का एक कर्तव्य यह भी था, कि किसी विधवा को वे उसकी इच्छा के विरुद्ध सती न होने दें। विविध हिन्दू जातियों में अपने कुलीन होने का विचार भी इस युग में भली-भाँति विकसित हो गया था, और कुलीन समझे जाने वाली जातियाँ अन्य लोगों को अपने से हीन समझने लगी थीं।

फलित ज्योतिष में इस युग के हिन्दू और मुसलमान—दोनों का समान रूप से विश्वास था। विजय-यात्रा के लिये प्रस्थान करते हुए या कोई नया कार्य प्रारम्भ करते हुए लोग शकुन का विचार करते थे। पीरों, फकीरों और साधुओं के प्रति जनता में श्रद्धा का भाव था। टेवर्नियर ने लिखा है, कि इस देश में ८,००,००० मुसलिम फकीर और १२,००,००० हिन्दू साधु हैं, जो जनता से भिक्षा प्राप्त कर अपना निर्वाह करते हैं। टेवर्नियर की दी हुई संख्याएँ कहाँ तक सही हैं, यह निश्चय कर सकना कठिन है, पर वर्त्तमान भारत के साधुओं को दृष्टि में रखते हुए इनको सही न मानने का कोई कारण नहीं है। हिन्दुओं की नैतिक दशा बहुत उन्नत थी। टेवर्नियर ने उनके विषय में लिखा है, कि "हिन्दू लोग नैतिक दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट हैं। वैवाहिक जीवन में वे अपनी स्त्रियों के प्रति अनुरक्त रहते हैं, और उनके साथ धोखा नहीं करते। उनमें व्यभिचार या अनैतिकता बहुत कम पाई जाती है।" पर मुसलिम अमीर-उमराओं का जीवन इस ढंग का नहीं था। वे अपने वैयक्तिक जीवन में नैतिकता के आदर्शों का बहुत कम पालन करते थे।

(४) आर्थिक दशा

बाबर और हुमायूँ के समय की आर्थिक दशा के सम्बन्ध में हमें अधिक परिचय नहीं है। बाबरनामा में बादशाह बाबर के काल की आर्थिक दशा के विषय में जो कुछ लिखा है, अनेक ऐतिहासिक इसे प्रामाणिक नहीं मानते। इसी प्रकार गुलबदन बेगम के हुमायूँनामा में उल्लिखित विवरण को भी विश्वास-योग्य नहीं माना जाता। उसके अनुसार अकबर के जन्मस्थान अमरकोट में चार बकरियाँ एक रुपये में खरीदी जा सकती थीं, और अन्य वस्तुओं की कीमतें भी इसी प्रकार से अत्यधिक सस्ती थीं। पर अकबर के समय की आर्थिक दशा पर जहाँ आइने-अकबरी से बहुत प्रकाश पड़ता है, वहाँ इस काल के यूरोपियन यात्रियों के विवरणों से भी इस सम्बन्ध में बहुत-सी बातें ज्ञात होती हैं। बाद के मुगल बादशाहों के शासन-काल के सम्बन्ध में परिचय प्राप्त करने के भी अनेक विश्वसनीय साधन ऐतिहासिकों के पास विद्यमान हैं। इस काल में यूरोपियन व्यापारियों ने अपनी कोठियाँ समुद्र तट के नगरों में स्थापित कर ली थीं, और उनके रिकार्डों से मुगल युग के आर्थिक जीवन के विषय में बहुत प्रामाणिक जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

नगर—मुगल युग में भारत के अनेक नगर बहुत समृद्ध थे। फिच नामक यूरोपियन यात्री ने १५८५ में लिखा था—"आगरा और फतहपुर दो बहुत बड़े नगर हैं। इन दो में से प्रत्येक विशालता और जनसंख्या की दृष्टि से लण्डन की अपेक्षा बहुत बड़ा है। आगरा और फतहपुर के बीच का अन्तर बारह मील है। इस सुदीर्घ मार्ग के दोनों ओर बहुत-सी दुकानें हैं। इस पर चलते हुए इतने मनुष्य मार्ग में मिलते हैं, कि यह

प्रतीत होता है मानो हम बाजार मे घूम रहे हो।" पंजाब के विषय में टैरी ने लिखा है--"यह एक विशाल और उपजाऊ सूबा है। इसका प्रधान नगर लाहौर है, जो बहुत बडा है, और जनसंख्या व सम्पत्ति दोनो दृष्टियो मे अत्यन्त समृद्ध है। व्यापार के लिये यह भारत के सबसे बडे नगरो मे से एक है।" १५८१ मे मोसरात ने लाहौर के विषय मे लिखा था, कि "यह नगर यूरोप व एशिया के किसी भी अन्य नगर की तुलना मे कम नही है।" आगरा, फतहपुर सीकरी और लाहौर के समान बुरहानपुर (खानदेश), अहमदाबाद (गुजरात), बनारस, पटना, राजमहल, बर्दवान, हुगली, ढाका और चटगांव भी मुगल-युग मे अत्यन्त समृद्ध नगर थे।

मुद्रा पद्धति—मुगल-युग की मुद्रा-पद्धति को स्थायी व नियमित रूप देने के लिये अकबर ने बहुत उद्योग किया। १५७७ ई० मे उसने अब्दुस्समद शिराजी को टकसाल का दारोगा बनाया, जिसके अधिकार मे दिल्ली की टकसाल दे दी गयी। इस तरह के दारोगा लाहौर, जौनपुर, अहमदाबाद, पटना आदि की टकसालो के लिये भी नियत किये गये। यह व्यवस्था की गयी, कि इन विभिन्न टकसालो मे जिन सिक्को का निर्माण हो, वे तोल, आकार और धातु-शुद्धता आदि की दृष्टि से एकसदृश हो। अकबर के सिक्को मे रुपया और दाम प्रमुख थे। रुपया चाँदी का होता था, और उसका वजन १७५ ग्रेन या ११ माशा के लगभग था। एक रुपये मे ४० दाम होते थे, जिन्हे पैसा भी कहते थे। दाम या पैसे का वजन ३२३ ग्रेन था। आजकल के पैसे के मुकाबले मे यह बहुत भारी होता था, और इसके निर्माण के लिये ताम्बे का प्रयोग किया जाता था। दाम या पैसे के उपविभाग को जीतल कहते थे। एक पैसा २५ जीतल के बराबर होता था। अकबर ने चाँदी का एक अन्य सिक्का भी जारी किया था, जिसे 'जलाली' कहते थे। यह आकार मे चौकोर होता था। अकबर के समय मे जो मुद्रापद्धति जारी की गयी, वही थोड़े-बहुत अदल-बदल के साथ सम्पूर्ण मुगल युग मे कायम रही।

कीमतें—आइने-अकबरी मे बहुत-सी वस्तुओ की कीमतें दी गयी है, जो मुगल-युग की आर्थिक दशा को जानने के लिये बहुत सहायक है। इनमे से कुछ का उल्लेख करना उपयोगी होगा। अकबर के समय में गेहूँ का भाव १२ दाम प्रति मन था। अन्य वस्तुओ का भाव प्रति मन निम्नलिखित प्रकार था—जौं ८ दाम, चना १६॥ दाम, बढिया चावल २० दाम, घटिया चावल ११ दाम, बाजरा ८ दाम, मूंग १८ दाम, आटा २२ दाम, घी १०५ दाम, तेल ८० दाम, दूध २५ दाम और चीनी १२८ दाम। शक्कर का भाव ५५ दाम प्रति मन और उडद की दाल १६ दाम प्रति मन थी। भेड १½ रुपये मे खरीदी जा सकती थी, और गाय का मूल्य १० रुपया था। बकरे का मास ६५ दाम प्रति मन के भाव से बिकता था। इस प्रसंग मे यह ध्यान मे रखना आवश्यक है, कि अकबर के समय का मन वर्तमान समय के २५ सेर के बराबर होता था। यदि अकबरी रुपये को वर्तमान समय के रुपये (जिसका वजन १२ माशा होता है) के बराबर मान लिया जाय, तो विभिन्न वस्तुओ के मूल्य इस प्रकार होगे—गेहूँ १ रु० की ८३ सेर, बाजरा १ रु० का १२५ सेर, उडद या मूंग की दाल १ रु० की ५६ सेर, घी १ रु० का ६ सेर, दूध १ रु० का ४० सेर, बकरे का मास १ रु० का १५ सेर, और चीनी १ रु० की ८ सेर। वर्तमान समय की कीमतों से तुलना करके यह भली भाँति समझा

जा सकता है, कि अकबर के समय मे सर्वसाधारण जनता के उपयोग की सब वस्तुएँ बहुत अधिक सस्ती थी। पर कीमतों के सस्ती होने के साथ-साथ इस युग में मजदूरी की दर भी बहुत कम थी। मामूली मजदूर की मजदूरी इस समय दो दाम प्रति दिन और मिस्त्री, राज, बढई आदि की मजदूरी ७ दाम प्रति दिन थी। यदि गेहूँ की दृष्टि से देखा जाय, तो अकबर के समय मजदूर अपनी दैनिक मजदूरी से सवा चार सेर के लगभग गेहूँ खरीद सकता था। मिस्त्री, बढई आदि तो अपनी मजदूरी से १३ सेर के लगभग गेहूँ प्रतिदिन प्राप्त कर सकते थे। सस्ती कीमतो के कारण इस युग के लोगो को अपना गुजारा करने मे विशेष कठिनाई नही होती थी। मजदूरी की दर कम होते हुए भी लोग प्रसन्न व सन्तुष्ट थे। एडवर्ड टैरी के अनुसार "सम्पूर्ण देश मे खाद्य पदार्थों का बाहुल्य था'''और बिना किसी कठिनाई के सब लोग रोटी खा सकते थे।" इसमे सन्देह नही, कि मुगलयुग मे सर्वसाधारण जनता आर्थिक दृष्टि से बहुत दुर्दशाग्रस्त नही थी, और वह अपने लिये आवश्यक वस्तुएँ सुगमता से प्राप्त कर लेती थी।

दुर्भिक्ष—मुगल-युग मे भारत को अनेक दुर्भिक्षो का सामना करना पडा। आगरा और बियाना के समीपवर्ती प्रदेशो मे १५५५-५६ मे एक भयकर दुर्भिक्ष पडा, जिसका वर्णन करते हुए बदायुनी ने लिखा है—लोग मानव मांस को खाने मे तत्पर हो गये और दुर्भिक्ष से पीडित नर-नारियो की दशा को आँखो से देख सकना सम्भव नही रहा, और यह सम्पूर्ण प्रदेश एक रेगिस्तान के समान दिखाई देने लगा। १५७३-७४ मे गुजरात मे दुर्भिक्ष पडा, जिसके साथ ही एक भयकर महामारी भी फैल गयी। १५९५ मे लेकर १५९८ तक एक बार भारत को पुन दुर्भिक्ष का सामना करना पडा, और नरमास तक का भक्षण करने मे लोगो ने सकोच नहीं किया। इस दुर्भिक्ष मे अनेक नगरो के बाजार लाशो से पट गये थे, और लाशो को दफना सकना भी सम्भव नही रह गया था। इन तीन दुर्भिक्षो मे से एक बाबर के समय मे हुआ, एक हुमायूँ के समय मे और तीसरा अकबर के समय मे। जहाँगीर के शासनकाल मे भारत को किसी दुर्भिक्ष का सामना नही करना पडा। पर शाहजहाँ के समय मे दक्खन और गुजरात मे एक बार फिर दुर्भिक्ष पडा, जिसका वृतान्त एक डच व्यापारी ने इस प्रकार लिखा है—"गलियो मे अर्धमृत दशा मे पडे हुए लोगो को दूसरे लोग मार डालते थे, और मनुष्य मनुष्य का भक्षण करने के लिये तत्पर हो गये थे। मनुष्यो के लिये गलियो व मार्गो पर चल सकना कठिन हो गया था, क्योकि उन्हे सदा यह भय बना रहता था कि कोई उन पर आक्रमण न कर दे।"

मुगल युग मे दुर्भिक्षो का प्रधान कारण यह था, कि इस काल मे भारत की अधिकाश भूमि दैवमातृका थी। नहरो व कुओ से सिचाई का कोई विशेष प्रबन्ध नहीं था। यदि किसी साल वर्षा न होती, तो फसल नष्ट हो जाती और जनता के लिये भोजन प्राप्त कर सकना कठिन हो जाता। इस युग मे आवागमन और माल की ढुलाई का वैसा प्रबन्ध नही था, जो रेल, मोटर आदि के कारण आजकल के जमाने मे है। अत: यदि गुजरात मे अकाल पडता, तो पंजाब या बंगाल से वहाँ अनाज पहुँचा सकना सुगम नहीं होता था। दुर्भिक्ष की भयंकरता का यही प्रधान कारण था।

शिल्प और व्यवसाय—मुगल-युग मे भारत के आर्थिक जीवन का प्रधान आधार

खेती थी। बहुसंख्यक लोग खेती द्वारा अपना निर्वाह करते थे। पर अनेक व्यवसाय व शिल्प इस युग मे विकसित हो चुके थे, और भारत मे तैयार हुए सूती व रेशमी कपडों और अन्य अनेक पदार्थों की न केवल इस देश के सम्पन्न लोगों मे अपितु विदेशों मे भी बहुत माँग थी। यह ध्यान मे रखना चाहिये, कि यूरोप मे भी अभी व्यावसायिक क्रान्ति नही हुई थी। भारत के समान इंगलेंड और फ्रांस के कारीगर भी अठारहवी सदी के प्रारम्भ तक यान्त्रिक शक्ति की सहायता के बिना छोटे-छोटे उपकरणों से ही आर्थिक उत्पत्ति किया करते थे, और बडे कल-कारखानों का विकास इस समय तक नही हुआ था। यदि अठारहवी सदी के पूर्वार्द्ध तक के व्यावसायिक जीवन को दृष्टि मे रखा जाय, तो भारत फ्रास या इग्लैण्ड से किसी भी प्रकार कम नही था, और इस देश मे तैयार हुए माल को देश-विदेश मे सर्वत्र अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखा जाता था।

भारत के इस युग के व्यवसायो मे वस्त्र-व्यवसाय सर्वप्रधान था। गुजरात, खानदेश, जौनपुर, बनारस, पटना आदि इस व्यवसाय के केन्द्र थे, और बंगाल में जिस ढग का महीन सूती कपडा बनता था, वह ससार मे अपनी तुलना नही रखता था। उडीसा से पूर्वी बगाल तक का सारा प्रदेश कपडे के कारखानो से छाया हुआ था, और ऐसा प्रतीत होता था, कि मानो यह सब प्रदेश वस्त्र-निर्माण का एक विशाल कारखाना हो। विशेषतया, ढाका का जिला महीन मलमल के लिये सर्वत्र प्रसिद्ध था। फ्रांसिस्को पल्सेअर्त के अनुसार पूर्वी बंगाल के सोनारगाँव और चावासपुर मे सब लोग वस्त्र-व्यवसाय द्वारा ही अपना निर्वाह करते थे, और वहाँ तैयार हुआ कपडा अपनी खूबियों के कारण अत्यधिक विख्यात था। बर्नियर ने लिखा है, कि बगाल मे सूती और रेशमी कपडा इतना अधिक होता है, कि उसे न केवल बगाल व मुगल-साम्राज्य का, अपितु सब पडोसी देशो व यूरोप तक का, इस पण्य के लिये विशाल भण्डार समझा जा सकता है। वस्त्र-व्यवसाय के साथ-साथ कपडे की रंगाई और छपाई का शिल्प भी इस देश मे बहुत उन्नत दशा मे था। टैरी के अनुसार सूती कपडे को रंगकर या बिना रगे ही इस प्रकार सुन्दरता के साथ छापा जाता था, कि पानी द्वारा रंग व छपाई को उतार सकना किसी भी तरह सम्भव नही रहता था। भारत की छीट संसार के बाजारो मे सर्वत्र दिखाई देती थी, और सब देशो के धनी लोग बडे शौक से उसे क्रय करते थे। सूती वस्त्रो के समान रेशमी कपडो का भी प्रधान केन्द्र बंगाल ही था। टैवर्नियर के यात्रा-विवरण के आधार पर मोरलैण्ड ने लिखा है, कि बगाल मे २५,००,००० पौण्ड वजन के लगभग का रेशम प्रतिवर्ष तैयार होता था, जिसमे से ७,५०,००० पौण्ड रेशम डच लोग खरीद कर यूरोप भेज देते थे, और शेष बंगाल व भारत के अन्य सूबो मे बुनाई के लिये प्रयुक्त किया जाता था। इस रेशम का कुछ भाग स्थलमार्ग द्वारा मध्य एशिया को भी जाता था। रेशमी कपड़ा बुनने की खड्डियाँ बंगाल के अतिरिक्त लाहौर, आगरा, गुजरात आदि मे भी थी। इसीलिये इन प्रदेशो के व्यवसायी बगाल के रेशम को क्रय करने के लिये सदा उत्सुक रहते थे। अकबर ने शाल और गलीचे के व्यवसाय को भी प्रोत्साहन दिया था। काश्मीर के अतिरिक्त लाहौर और आगरा भी इस व्यवसाय के अच्छे महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। शाल और गलीचों के साथ-साथ अनेक प्रकार के ऊनी वस्त्र व कम्बल भी इन स्थानो के कारखानों मे तैयार होते थे।

मुगल-युग के अन्य व्यवसायों में नौका-निर्माण और शोरे का कारोबार विशेष रूप से उल्लेखनीय है। विशाल मुगल-साम्राज्य में नदियों को पार करने के लिये और विशेषतया सेनाओं को नदियों के पार उतारने के लिये नौकाओं का बहुत महत्त्व था। साथ ही, इस युग मे व्यापार के लिये भी गंगा जैसी नदियाँ बहुत काम आती थी। जल-मार्ग द्वारा माल को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना बहुत सस्ता पड़ता था। इन सब प्रयोजनो के लिये जो नौकाएँ जरूरी थी, वे सब भारत मे ही बनती थी। बगाल की खाडी के समीपवर्ती प्रदेशो की अराकानी लोगो व सामुद्रिक डाकुओ से रक्षा करने के लिये मुगल काल मे एक जहाजी बेडा भी था, यह हम पहले लिख चुके है। ये जहाज भी भारत के शिल्पियो द्वारा ही तैयार किये जाते थे। शोरे का उपयोग बारूद के निर्माण के लिये होता था। मुगल-युग मे बारूद का प्रयोग बड़े पैमाने पर शुरू हो गया था, अत मुगलो के तोपखाने के लिये आवश्यक बारूद का निर्माण करने के प्रयोजन से शोरे की बहुत माँग रहती थी। डच और इग्लिश व्यापारी भी भारत से शोरा खरीद कर अपने देशो को भेजते थे और वहा उसे बारूद के लिये प्रयोग मे लाया जाता था। इस कारण शोरे का व्यवसाय भी इस युग मे अच्छी उन्नत दशा मे था।

विदेशी व्यापार—मुगल-युग मे विदेशो के साथ व्यापार स्थल और जल—दोनो मार्गों से होता था। विदेशी व्यापार के दो स्थल-मार्ग प्रधान थे। एक मार्ग लाहौर से काबुल को जाता था, और दूसरा मुलतान से कन्धार को। सामुद्रिक व्यापार के लिये अनेक बन्दरगाह भारत के समुद्र तट पर विद्यमान थे, जिनमे सिन्ध का लाहौरी बन्दर, गुजरात के सूरत, भडौच और कैम्बे, रत्नगिरि के तटवर्ती बसीन, चौल और दाभोल, मलाबार के कालीकट और कोचीन, और पूर्वी समुद्र तट के सातगाँव, श्रीपुर, चटगाँव, सोनारगाँव, नेगापटम और मछलीपटम बन्दरगाह विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त पश्चिमी समुद्र तट का गोआ बन्दरगाह भी इस समय अच्छी उन्नत दशा मे था, जो पोर्तुगीज व्यापारियो का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। इन बन्दरगाहो से भारत का माल विदेशो मे और विदेशी माल भारत मे विक्रय के लिये आता था। राज्य की ओर से इस माल पर महसूल लिया जाता था, जिसकी मात्रा सोना-चाँदी पर दो प्रतिशत और अन्य सब प्रकार के माल पर साढे तीन प्रतिशत थी। यूरोपियन देशो के बहुत-से व्यापारी इस युग मे व्यापार के लिये भारत आने जाने लगे थे, और इनके कारण भारत के विदेशी व्यापार की मात्रा बहुत अधिक बढ गई थी। मुगल बादशाहों की यह नीति थी, कि सोना-चाँदी भारत से बाहर न जाने पाए, और विदेशी व्यापारी जो माल इस देश से खरीदे, उसकी कीमत वे सोना-चाँदी मे अदा किया करे। इसीलिये यूरोपियन व्यापारियो को भारत का माल प्राप्त करने के लिए सोना-चाँदी अपने साथ लाना पडता था। जो माल बिक्री के लिये भारत से बाहर जाता था, उसमे विविध प्रकार के सूती व रेशमी वस्त्र, मिर्च-मसाले, नील, अफीम और औषधि मुख्य थे। भारत मे बिकने आने वाले विदेशी माल मे सोना, चाँदी, घोडे, धातुएँ, हाथी दाँत, मूँगे, अम्बर, मणि-माणिक्य, सुगन्धि आदि प्रधान थे। विदेशी व्यापार के कारण इस देश के बन्दरगाहो मे निवास करने वाले व्यापारी बहुत समृद्ध हो गये थे, और भारत के वैभव मे भी इससे बहुत सहायता मिली थी।

सताईसवाँ अध्याय

मुगल युग का साहित्य, कला, धर्म और जीवन

(१) शिक्षा

शिक्षणालय—जिस प्रकार आजकल राज्य की ओर से शिक्षणालयों का सचालन व नियन्त्रण होता है, वैसा प्राचीन व मध्यकाल मे नही होता था। इस काल मे शिक्षा का कार्य धार्मिक सस्थाओ के अधीन था, और मन्दिरो व मस्जिदो के साथ अनेक इस प्रकार के विद्यालय स्थापित थे, जिनमे विद्यार्थी साधारण व उच्च शिक्षा प्राप्त करते थे। बौद्ध-युग मे जिन विहारों व महाविहारो की स्थापना हुई थी, वे अब नष्ट हो चुके थे। उनका स्थान अब मन्दिरो और मस्जिदों के साथ सम्बद्ध शिक्षा-सस्थाओं ने ले लिया था। हिन्दू-मन्दिर हिन्दू-धर्म, दार्शनिक चिन्तन और भारतीय सस्कृति के केन्द्र थे, और मस्जिदों मे पर्शियन भाषा, कुरान व अन्य मुसलिम धर्मग्रन्थों की शिक्षा की समुचित व्यवस्था थी। इन धार्मिक शिक्षणालयो का खर्च जहाँ जनता द्वारा दिये जाने वाले दान से चलता था, वहाँ मुगल बादशाह व उनके बडे-बडे मनसबदार व अमीर-उमरा भी इन्हे आर्थिक सहायता व जागीरे प्रदान करते थे और उनकी आमदनी से इनका खर्च भली-भाँति पूरा हो जाता था। मुगल बादशाहो ने मस्जिदो के साथ विद्यमान 'मकतबो' की दिल खोलकर सहायता की, और विद्वानो के सरक्षण व सहायता में भी उन्होने बहुत उदारता दिखाई।

सैयद मकबर अली ने अपनी तवारीख मे बाबर के विषय मे लिखा है, कि बादशाह बाबर ने मकतबो व शिक्षणालयो की उन्नति पर बहुत ध्यान दिया, और उसकी सरकार के अन्यतम विभाग शुहरते-आम का एक कर्तव्य यह था, कि वह शिक्षा-संस्थाओं की उन्नति की व्यवस्था करे। यद्यपि हुमायूं का अधिकाश समय युद्धो में व्यतीत हुआ, पर उसे भूगोल और ज्योतिष का बहुत शौक था। पुस्तको का वह बड़ा प्रेमी था, और युद्ध यात्रा के समय भी वह बहुत-सी पुस्तकों को अपने साथ रखता था। उसने दिल्ली मे एक मदरसे की स्थापना की, और पुराने किले मे शेरशाह द्वारा निर्मित प्रमोद-भवन को पुस्तकालय के रूप मे परिणत किया। अकबर के समय में मुगल साम्राज्य पूर्णतया व्यवस्थित हो गया था। इस कारण बादशाह मकतबो और मदरसों की उन्नति पर विशेष ध्यान दे सका। फतहपुर सीकरी, आगरा व अन्य अनेक नगरों मे उसने मदरसे खुलवाये, जिनमे विविध मुसलिम विद्वान् शिक्षण के कार्य मे व्यापृत रहते थे। अकबर ने यह भी व्यवस्था की, कि इन मदरसों में हिन्दू विद्यार्थी भी शिक्षा प्राप्त कर सकें। जहाँगीर पर्शियन और तुर्की भाषाओं का विद्वान् था। उसने यह आदेश जारी किया, कि जिस किसी धनी मनुष्य का कोई वारिस न हो, उसकी सम्पत्ति पर राज्य का

अधिकार हो जाय, और इस सम्पत्ति का उपयोग मकतबो और मदरसों की मरम्मत के खर्च के लिये किया जाए। 'तारीखे-जॉजहाँ' मे जहाँगीर के विषय में लिखा है, कि जो मदरसे वर्षों से उजडे पडे थे और जिनमे पशु भी निवास करने लगे थे, बादशाह की कोशिश से वे सब अध्यापको और विद्यार्थियो से परिपूर्ण हो गये। शाहजहाँ को भी विद्या और ज्ञान से बहुत प्रेम था। वह अपना कुछ समय नियमित रूप से विद्याध्ययन मे व्यतीत करता था, और उसने दिल्ली मे एक नये मदरसे की स्थापना की थी। दार-उल-बका नाम का एक पुराना मदरसा इस समय बिल्कुल उजडी हुई दशा मे था। शाहजहाँ ने उसका भी जीर्णोद्धार करवाया। शाहजहाँ का ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह अरबी, पर्शियन और संस्कृत का पण्डित था। उसने उपनिषद्, भगवद्-गीता, योगवासिष्ठ आदि अनेक संस्कृत ग्रन्थो का स्वय पर्शियन भाषा मे अनुवाद किया, और सूफी सम्प्रदाय सम्बन्धी अनेक मौलिक ग्रन्थ भी लिखे। औरगजेब स्वय अच्छा विद्वान् था। पर उसकी सब शक्ति मुगल-साम्राज्य का विस्तार करने और राज्यशासन को मुस्लिम सिद्धान्तों के अनुरूप बनाने मे ही लग गयी। वह अपने साम्राज्य मे शिक्षा की उन्नति की ओर ध्यान देने मे असमर्थ रहा, यद्यपि उसने इस्लाम की वृद्धि और मुस्लिम धर्मशास्त्रो के अध्ययन को प्रोत्साहित करने के लिये अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये।

मुसलिम बादशाहो के शासनकाल मे विद्यमान विविध मकतबो और मसजिदो मे बहुत-से विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करते थे। यह शिक्षा प्रधानतया पर्शियन और अरबी भाषाओ और कुरान आदि मुसलिम धर्म-ग्रन्थो की ही होती थी। इसी प्रकार हिन्दू-मन्दिरों मे सस्कृत और हिन्दू शास्त्रो का अध्ययन-अध्यापन होता था। गणित, ज्योतिष, चिकित्सा शास्त्र आदि वैज्ञानिक विषयो की पढाई का भी इनमें प्रबन्ध था, पर ये विषय भी धार्मिक साहित्य के अंग-रूप मे ही पढाये जाते थे। शिल्प की शिक्षा के लिये विद्यार्थी प्राय उस्तादो (आचार्यों) की सेवा मे उपस्थित होते थे, जिनके पास वे शागिर्द (अन्तेवासी) के रूप मे निवास करते थे। पर मस्जिदो और मन्दिरों के साथ सम्बद्ध शिक्षण-सस्थाओ से लाभ उठाने का अवसर सर्वसाधारण जनता को बहुत कम मिलता था, और इस युग के बहुसख्यक लोग प्राय निरक्षर ही होते थे। बडे घरो के लडको के समान उनकी लडकियाँ भी शिक्षा प्राप्त करती थीं। बादशाह के हरम और अमीर-उमरावो के घरो की स्त्रियाँ जहाँ सगीत, कला आदि मे निपुण होती थी, वहाँ साथ ही शिक्षित होने का भी प्रयत्न करती थी। यही कारण है, कि मुगल-युग में हमे अनेक सुशिक्षित व सुसस्कृत महिलाओ का पता मिलता है। बाबर की लडकी गुलबदन बेगम एक सुशिक्षित महिला थी। उसने 'हुमायूँनामा' नामक पर्शियन पुस्तक में अपने भाई हुमायूँ का चरित्र लिखा है। हुमायूँ की भतीजी सलीमा सुलतान ने भी पर्शियन भाषा मे अनेक पुस्तकें लिखी, जिनमे से कतिपय इस समय भी उपलब्ध हैं। जहाँगीर की प्रेयसी मलिका नूरजहाँ और शाहजहाँ की बेगम मुमताज महल अत्यन्त सुसंस्कृत महिलायें थी। मुगल खानदान की अन्य सुशिक्षित महिलाओ मे जहाँनारा और जेबुन्निसा के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये सब स्त्रियाँ अरबी और फारसी पर अधिकार रखती थी, और विद्या व ज्ञान से उन्हें बहुत प्रेम था।

(२) साहित्य

पर्शियन साहित्य—मुगल युग के साहित्य में पर्शियन ग्रन्थों का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस युग के पर्शियन साहित्य को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—(१) इतिहास व जीवन चरित्र, (२) अनुवाद ग्रन्थ और (३) काव्यग्रन्थ। ऐतिहासिक ग्रन्थों में मुल्ला दाऊद द्वारा लिखित तवारीखे-अल्फी, अबुल फजल द्वारा लिखित आइने-अकबरी और अकबर नामा, बदाउनी द्वारा लिखित मुन्तखाब-उत्-तवारीख, निजाम-उद्दीन अहमद द्वारा विरचित तबकाते-अकबरी, फैजी सरहिन्दी द्वारा लिखित अकबरनामा और अब्बुल बकी द्वारा लिखित मआसीरे-रहीमी ग्रन्थ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। मुगल युग का सबसे प्रसिद्ध पर्शियन लेखक अबुल फजल था, जो अकबर का परम मित्र और सहायक था। वह न केवल ऐतिहासिक था, अपितु साथ ही एक सुसंस्कृत कवि, आलोचक और विद्वान् भी था। उसकी आइने-अकबरी का अकबर के समय का ज्ञान प्राप्त करने के लिये उतना ही महत्त्व है, जितना कि मौर्य चन्द्रगुप्त के समय के लिये कौटलीय अर्थ-शास्त्र का है।

मुगल बादशाहों ने अनेक संस्कृत ग्रन्थों का पर्शियन भाषा में अनुवाद कराने के लिये भी प्रयत्न किया। अकबर के आदेश से महाभारत के बहुत-से भागों का पर्शियन में अनुवाद हुआ, और इन्हें 'रज्म-नामा' नाम दिया गया। महाभारत का यह अनुवाद मुस्लिम विद्वानों द्वारा किया गया था, जो कि पर्शियन के साथ-साथ संस्कृत के भी पण्डित थे। १५८६ में बदाउनी ने रामायण का पर्शियन में अनुवाद किया। हाजी इब्राहीम सरहिन्दी ने अथर्ववेद को और फैजी ने लीलावती को पर्शियन भाषा में अनूदित किया। लीलावती गणित का प्रसिद्ध और प्राचीन ग्रन्थ है। इसी प्रकार मुकम्मल खाँ गुजराती ने ज्योतिष के प्राचीन ग्रन्थ 'ताजक' का और मौलाना शाह मुहम्मद शाहबादी ने काश्मीर के इतिहास का पर्शियन में अनुवाद किया। अकबर की प्रेरणा से अनेक ग्रीक और अरबी पुस्तकें भी पर्शियन में अनूदित की गयीं। इसमें सन्देह नहीं, कि बादशाह अकबर के संरक्षण में पर्शियन साहित्य की बहुत उन्नति हुई। जहाँ उसमें अनेक मौलिक पुस्तकें लिखी गयीं, वहाँ अन्य भाषाओं की अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकें अनुवाद द्वारा भी उसमें समाविष्ट हुई। अकबर की संरक्षा में जिन अनेक कवियों ने पर्शियन भाषा में काव्य-रचना की, उनमें फैजी, गिजली, मुहम्मद हुसैन नजीरी और सैयद जमालुद्दीन उर्फी का बहुत ऊँचा स्थान है।

पर्शियन भाषा के जो अनेक विद्वान् व साहित्यिक जहाँगीर के राजदरबार की शोभा बढ़ाते थे, उनमें गियास बेग ननकीब खाँ, मुतमिद खाँ, निआमतुल्ला और अब्दुल हक देहलवी सर्वप्रधान है। इस काल के ऐतिहासिक ग्रन्थों में मुआसीरे-जहाँगीरी और जुब्दुत्तवारीख विशेष प्रसिद्ध हैं।

अपने पिता और पितामह के समान शाहजहाँ भी विद्वानों का संरक्षक व आश्रय-दाता था। उसके आश्रय में निवास करने वाले ऐतिहासिकों ने जो अनेक इतिहास-ग्रन्थ लिखे, उनमें अब्दुल हमीद लाहौरी द्वारा लिखित पादशाहनामा और इनायत खाँ द्वारा लिखित शाहजहाँनामा बहुत प्रसिद्ध हैं। शाहजहाँ के वृत्तान्त और इस युग के भारत

के सम्बन्ध में परिचय प्राप्त करने के ये ही मुख्य साधन है। दाराशिकोह ने जिन अनेक संस्कृत पुस्तको का पर्शियन भाषा मे अनुवाद किया था, उनका उल्लेख हम इसी प्रकरण मे ऊपर कर चुके है। औरंगजेब को शिक्षा और साहित्य से विशेष प्रेम नही था। न उसे संगीत का शौक था, और न कला व कविता का। इतिहास लेखन के भी वह विरुद्ध था। फिर भी उसके समय मे पर्शियन भाषा मे अनेक इतिहास-ग्रन्थ लिखे गये, जिनमे मिर्जा मुहम्मद काजिम का आलमगीरनामा, मुहम्मद साकी का मआसीरे-आलमगीर, सुजानराय खत्री का खुलासातुत्तवारीख, भीमसेन का नुस्खाए-दिलकुशा और ईश्वरदास का फतूहाते-आलमगीरी बहुत महत्त्वपूर्ण है। जिस प्रकार ब्रिटिश युग मे बहुत-से हिन्दू और मुसलमान अंग्रेजी की योग्यता प्राप्त कर इस विदेशी भाषा मे ग्रन्थ प्रणयन करने के लिये प्रवृत्त हुए, वैसे ही मुगल शासन मे अनेक हिन्दुओ ने भी पर्शियन भाषा का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था, और उनके लिखे हुए पर्शियन भाषा के ग्रन्थ भाषा और शैली की दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट कोटि के है। इस युग में राजकीय कार्यो के लिये पर्शियन भाषा का ही उपयोग होता था, और इसी कारण उच्च व सम्पन्न वर्ग के हिन्दू इस भाषा मे योग्यता प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहते थे।

औरंगजेब के शासनकाल के अन्तिम भाग मे मुगल साम्राज्य मे अव्यवस्था और अराजकता छा गयी थी। उसके उत्तराधिकारी निर्बल थे, और वे मुगल बादशाहत को अक्षुण्ण रखने मे असमर्थ रहे। औरंगजेब के बाद भारत की प्रधान राजशक्ति मुगलो के हाथो से निकलकर मराठो के हाथो मे आ गयी। यही कारण है, कि पिछले मुगल बादशाहो के समय मे पर्शियन साहित्य का अधिक विकास नही हो सका।

हिन्दी-साहित्य—हिन्दी साहित्य की दृष्टि से मुगल-युग को 'सुवर्णीय काल' माना जाता है। इसमे सन्देह नही, कि मुगल-साम्राज्य की स्थापना के कारण भारत मे जो शान्ति और सुव्यवस्थित शासन कायम हो गया था, उससे लाभ उठाकर अनेक प्रतिभाशाली कवि इस युग मे हिन्दी काव्य-साहित्य के विकास में तत्पर हुए। हिन्दी भाषा का यह साहित्य प्रधानतया धार्मिक था। अफगान युग मे हिन्दू धर्म में जो नई चेतना उत्पन्न हुई थी, उसके कारण सर्वसाधारण जनता मे नवजीवन का संचार हो गया था। स्वामी रामानन्द, कबीर, नानक, चैतन्य आदि सन्त-महात्माओं ने भारत के धार्मिक क्षेत्र मे जो नई लहर चलाई थी, वह निरन्तर जोर पकड़ रही थी, और उससे प्रभावित होकर तुलसी सूर आदि कवियो ने एक ऐसी भक्तिमयी धारा का प्रवाह शुरू किया, जिससे भारत की सर्वसाधारण जनता ने बहुत शान्ति और सान्त्वना प्राप्त की।

तुलसी, सूर आदि कवियो का इस युग के धार्मिक इतिहास में बहुत अधिक महत्त्व है, क्योंकि उन्होने अपने धार्मिक विचारो के प्रतिपादन के लिये ही काव्य के साधन का उपयोग किया था। उनके धार्मिक विचारो पर हम अगले प्रकरण में प्रकाश डालेंगे। पर तुलसीदास जैसे व्यक्ति केवल सन्त महात्मा व धर्मसुधारक ही नही थे, अपितु महाकवि भी थे। उनके काव्य हिन्दी साहित्य मे बहुत ऊंचा स्थान रखते हैं।

महाकवि तुलसीदास सोलहवी सदी के उत्तरार्द्ध मे हुए थे, और अकबर के समकालीन थे। स्वामी रामानन्द की शिष्यपरम्परा द्वारा रामभक्ति की जो परम्परा निरन्तर पुष्टि पा रही थी, तुलसीदास से उसे बहुत बल मिला। यद्यपि तुलसी का

अकबर के साथ कोई परिचय नहीं था, और उन जैसे सन्त को बादशाह के सम्पर्क व संरक्षण की कोई आवश्यकता भी नही थी, तथापि इस युग के अनेक प्रतिष्ठित व समर्थ पुरुषों का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हुआ, जिनमें अब्दुर्रहीम खानखाना और राजा मानसिंह के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अब्दुर्रहीम खानखाना या 'रहीम' से उनकी समय-समय पर दोहों में लिखा-पढी होती रहती थी, और इसके प्रति वे बहुत आदर का भाव रखते थे। तुलसीदास हिन्दी के सबसे बडे महाकवि हुए हैं, और उनके रामचरितमानस, विनय-पत्रिका आदि काव्य हिन्दी-साहित्य के अमोल रत्न हैं। तुलसी-रचित काव्य-ग्रन्थों मे बारह प्रसिद्ध हैं, जिनमें पाँच बड़े और सात छोटे हैं। रामचरित-मानस को केवल काव्य के रूप मे ही नहीं पढा जाता, सर्वसाधारण जनता की दृष्टि में वह एक धर्मग्रन्थ की भी स्थिति रखता है। इसमे सन्देह नही, कि राजाओं के राज-महलों और गरीबो के झोंपडों मे रामचरितमानस का समान रूप से आदर है, और इस एक ग्रन्थ ने उत्तरी भारत की जनता को कितना अधिक प्रभावित किया है, उतना सम्भवत· अन्य किसी पुस्तक ने नही किया।

तुलसी के समान ही राम की भक्ति का प्रतिपादन करने वाले अनेक अन्य सन्त-कवि इस युग मे हुए, जिनमें नाभादास, हृदयराम और प्राणचन्द चौहान के नाम उल्लेखनीय हैं। पर अफगान युग के वैष्णव आचार्यों ने विष्णु की भक्ति केवल 'राम' के रूप में ही शुरू नही की थी। पुरुषोत्तम कृष्ण को विष्णु का अवतार मानकर उन्होंने कृष्ण-भक्ति की भी लहर चलाई थी। कृष्ण-भक्ति शाखा के भी बहुत-से सन्त-कवि इस युग में हुए, जिनमें सबसे प्रधान स्थान सूरदास और मीराबाई का है। सूरदास जी बाबर, हुमायूं और अकबर के समकालीन थे, और मुगल बादशाहो के सम्पर्क व संरक्षण मे आए बिना ही वे एक ऐसी काव्यधारा का सृजन कर रहे थे, जिसमें स्नान कर आज तक भी करोडो नर-नारी अपने को धन्य मानते है। सूरदास की कविता में अपूर्व माधुर्य है, और उनका एक-एक पद हृत्तन्त्री को झंकृत कर देने की क्षमता रखता है। कृष्ण की भक्ति में जिस ढंग के पदो का उन्होने निर्माण किया, वे हिन्दी-साहित्य के उज्ज्वल रत्न हैं। मीराबाई मेडतिया के राठौर रत्नसिंह की पुत्री थी, और उदयपुर के महाराणा के कुमार भोजराज के साथ उनका विवाह हुआ था। विवाह के कुछ समय बाद ही वे विधवा हो गयी, और उन्होंने अपना सब ध्यान कृष्ण की भक्ति में लगा दिया। वे सोलहवी सदी के मध्य भाग मे हुई थी, और उनके गीत आज तक भी जनता में बहुत लोकप्रिय हैं। कृष्ण-भक्ति मार्ग के अन्य कवियों में कृष्णदास, परमानन्ददास, चतुर्भुज-दास, हितहरिवंश, गदाधर भट्ट, हरिदास, रसखान, ध्रुवदास और श्रीभट्ट के नाम उल्लेखनीय हैं। ये सब कवि मुगल युग में हुए थे, और इन्होंने कृष्ण की भक्ति मे जो पद बनाए थे, वे आज तक भारत के भक्त समाज मे आदर का स्थान रखते हैं। इनमें रसखान का एक विशेष स्थान है, क्योकि ये जन्म और धर्म से मुसलिम होते हुए भी कृष्ण के परम भक्त थे। हिन्दुओं के भक्तिमार्ग से मुसलिम लोग भी जिस प्रकार प्रभावित हो रहे थे, रसखान इसके उत्तम उदाहरण है।

हिन्दी काव्य का विकास इस युग मे केवल सन्त कवियो द्वारा ही नहीं हुआ, अपितु मुगल बादशाहों और उनके अमीर-उमराओं के आश्रय में भी अनेक ऐसे कवि

हुए, जिन्होंने हिन्दी साहित्य को समृद्ध बनाने के लिए बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया। इनमें सर्वप्रधान स्थान अब्दुर्रहीम खानखाना का है। वह बैरम खाँ का पुत्र था, और अकबर के समय के सबसे बडे अमीर-उमराओ मे से एक था। अब्दुर्रहीम अरबी, पर्शियन और संस्कृत का प्रकाण्ड पण्डित था, और अनेक विद्वानो व कवियों का आश्रय-दाता था। पर्शियन के अतिरिक्त हिन्दी मे भी उसने कविता की। हिन्दी जानने वाला कौन ऐसा मनुष्य होगा, जो रहीम के दोहो से अपरिचित हो। मुगल दरबार मे आश्रय पाने वाले अन्य कवियों मे नरहरि, टोडरमल और बीरबल के नाम उल्लेखनीय हैं। अकबर के दरबार मे नरहरि का बडा मान था और बादशाह ने उन्हे 'महापात्र' की उपाधि से विभूषित किया था। रुक्मिणी-मगल, छप्पयनीति, कवित्त-संग्रह आदि अनेक पुस्तको की इन्होने रचना की। गंग अकबर के दरबारी कवि थे, और रहीम इन्हे बहुत मानते थे। कहते है, कि अब्दुर्रहीम खानखाना ने उनके एक छप्पय से प्रसन्न होकर उन्हें छत्तीस लाख रुपये दे डाले थे। अकबर के दीवान टोडरमल हिन्दी मे कविता भी करते थे, और वे सस्कृत के भी विद्वान् थे। अकबर के परम सखा बीरबल द्वारा विरचित अनेक हिन्दी कविताये भी इस समय मिलती हैं। मुगल-साम्राज्य के वास्तविक सस्थापक अकबर के समय मे हिन्दी भाषा का इतना अधिक प्रचार था, कि बहुत-से मुसलमान भी हिन्दी मे कविता करने लग गये थे। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि अब्दुर्रहीम खानखाना का उल्लेख ऊपर हो चुका है। अकबर को स्वयं भी हिन्दी कविता का शौक था, और अनेक ऐसे कवित्त अब तक भी विद्यमान हैं जिन्हे 'साहि अकब्बर' का बनाया हुआ माना जाता है। हो सकता है, कि इन्हे बादशाह के नाम से उसके किसी दरबारी कवि ने बना दिया हो। पर इसमे सन्देह नही, कि अकबर हिन्दी का सरक्षक था, और उसके आश्रय मे अनेक हिन्दी कवि अपना निर्वाह करते थे। इस काल मे अन्य भी अनेक मुसलमान कवियों ने हिन्दी मे कविता की। आलम अकबर के समकालीन थे, जिन्होंने 'माधवानल काम कदला' नाम की प्रेम-कहानी दोहा-चौपाइयो में लिखी थी। इसी प्रकार जमाल, कादिर और मुबारक आदि अनेक मुसलमानो ने इस काल मे हिन्दी में काव्य-रचना की। ये सभी कवि भक्ति-मार्ग के अनुयायी नही थे, और न इनकी कविता का उद्देश्य धार्मिक विचारो का प्रतिपादन ही था। ये कवि रस की अभिव्यक्ति के लिये काव्य की रचना करते थे, और इसमे सन्देह नही कि कला की दृष्टि से इनकी रचनाओ मे बहुत सौन्दर्य है।

काव्य के विकास के साथ-साथ हिन्दी मे अनेक ऐसे लेखक व कवि भी उत्पन्न होन शुरू हुए, जिन्होने कि सस्कृत के अनुकरण मे हिन्दी मे भी अलकार ग्रन्थो की रचना की। इस प्रकार के साहित्यिको मे केशवदास सर्वप्रधान हैं। ये भी अकबर के सम-कालीन थे, और ओरछा नरेश महाराजा रार्मासह के भाई इन्द्रजीतसिह की राजसभा मे इन्हे बहुत मान प्राप्त था। ओरछा का राज्य इस समय मुगलों के अधीन था, और उसके राजा की स्थिति मुगलो के सामन्त के सदृश थी। केशवदास सस्कृत के पण्डित थे, और हिन्दी मे भी उन्होने संस्कृत की शास्त्रीय साहित्यिक पद्धति का अनुसरण किया। उन्होने अलंकारों पर 'कविप्रिया' और रस पर 'रसिक प्रिया' लिखी। इनके अतिरिक्त कतिपय काव्य-ग्रन्थ भी उन्होंने लिखे, जिनमें अलंकार आदि की प्रचुरता है। सेनापति

नाम के एक अन्य कवि भी सतरहवी सदी में हुए, जिनका हिन्दी काव्य-साहित्य मे अच्छा महत्त्वपूर्ण स्थान है। मुगल-युग के बहुत-से हिन्दू और मुसलमान अमीर-उमरा भी बादशाहो के समान ही साहित्य-प्रेमी थे, और कवियों का संरक्षण व प्रोत्साहन करना गौरव की बात समझते थे। विशेषतया, राजपूत राजाओ ने हिन्दी कवियों व साहित्यिको को आश्रय देने में बहुत उत्साह दिखाया। केशवदास के समान इस युग के अन्य अनेक कवियो ने भी राजपूत राजाओ के दरबार मे आश्रय पाकर निश्चिन्तता के साथ साहित्य-सृजन का कार्य किया।

अकबर के काल के बाद हिन्दी के जो कवि हुए, उनमे बिहारी लाल, महाराज जसवन्तसिह, मतिराम, भूषण और घन आनन्द के नाम उल्लेखनीय हैं। ये सब कवि सतरहवीं सदी मे या अठारहवी सदी के प्रारम्भिक भाग मे हुए थे। अकबर के समय मे हिन्दी कवियो ने जो अपूर्व प्रतिभा प्रदर्शित की थी, वह बाद के कवियों मे नहीं पायी जाती। पर इसमे सन्देह नही, कि सम्पूर्ण मुगल-युग मे हिन्दी साहित्य निरन्तर उन्नति करता रहा। औरंगजेब जैसे धर्मान्ध मुसलिम बादशाह से यह आशा नही की जा सकती थी, कि अकबर के समान वह भी हिन्दी कवियों का आदर करता। पर उसकी हिन्दू-विरोधी नीति के कारण भारत मे जो विद्रोह की भावना प्रादुर्भूत हुई, वह भूषण जैसे कवियो के काव्य मे प्रगट हुई, और शिवाजी जैसे वीर द्वारा उन्हें प्रोत्साहन व संरक्षण प्राप्त हुआ।

दक्षिणापथ मे भी बहुत-से कवि इस युग मे हुए, जिन्होने हिन्दी मे काव्य रचना की। ये कवि प्रायः सब मुसलमान थे। दक्षिण की भाषा हिन्दी नही थी। पर वहाँ मुसलिम शासन स्थापित हो चुका था। शासक व सैनिक के रूप में जो बहुत-से मुसलमान व हिन्दू इस युग मे उत्तरी भारत से दक्षिण मे गये, उनकी भाषा हिन्दी ही थी। इसी कारण उन्होने पर्शियन शब्दों से मिश्रित हिन्दी भाषा में कविता की। इन मुसलिम कवियो की भाषा को उर्दू और हिन्दी दोनों ही समझा जा सकता है, पर उसमे आजकल की उर्दू के समान अरबी व पर्शियन शब्दों की भरमार नही है।

बंगाली साहित्य—महाप्रभु चैतन्य द्वारा बगाल मे भक्ति को जिस लहर का प्रारम्भ हुआ था, उसका उल्लेख हम पिछले एक अध्याय मे कर चुके हैं। वैष्णव धर्म से प्रभावित होकर मुगल-युग में बंगाल मे अनेक ऐसे साहित्यिक उत्पन्न हुए, जिन्होंने नवीन साहित्य का सृजन किया। कृष्णदास कविराज (जन्मकाल १५३१ ई०) ने इसी युग मे चैतन्य-चरितामृत नाम से महाप्रभु का जीवन-चरित्र लिखा। इस काल के वैष्णव-साहित्य मे वृन्दावनदास (जन्म काल १५०७ ई०) का चैतन्य-भागवत, जयानन्द (जन्म-काल १५१३ ई०) का चैतन्य-मंगल, त्रिलोचनदास (जन्म १५२३ ई०) का चैतन्यमंगल और नरहरि चक्रवर्ती का भक्ति-रत्नाकर विशेष महत्त्व रखते हैं। इसी काल मे अनेक प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों का बंगाली भाषा में अनुवाद भी किया गया। इन अनुवाद-ग्रन्थों मे काशीराम दास की महाभारत और मुकुन्दराम चक्रवर्ती की कवि-कंकणचण्डी उल्लेखनीय हैं। मुकुन्दराम चक्रवर्ती द्वारा विरचित इस पुस्तक का बंगाल में वही स्थान है, जो कि उत्तरी भारत में तुलसीकृत रामचरितमानस का है।

(३) धर्म

तुलसी और रामभक्ति की लहर—अफगान युग मे हिन्दू-धर्म मे नवजागृति की जो लहर शुरू हुई थी, मुगल काल मे उसे और अधिक बल मिला। स्वामी रामानन्द द्वारा राम भक्ति की जो परम्परा प्रारम्भ की गयी थी, तुलसीदास ने उसे जनसाधारण तक पहुँचा दिया। भारतीय इतिहास मे तुलसी का महत्त्व एक महाकवि के रूप मे उतना नही है, जितना कि एक नवीन धार्मिक लहर को जनसाधारण तक पहुँचाने वाले धर्म-प्रचारक व सुधारक के रूप मे है। आज उत्तरी भारत की बहुसंख्यक जनता संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ होने के कारण वेदशास्त्रों के मर्म से परिचित होने के लिये वेद, ब्राह्मणग्रन्थ व उपनिषद् आदि का अध्ययन करने मे असमर्थ है। पर इस कारण उसे भारतीय धर्म की प्राचीन विचारसरणी से अपरिचित रहने की आवश्यकता नही है। राम के चरित्र को निमित्त बनाकर तुलसीदास ने 'रामचरित मानस' मे उस सब ज्ञान को सरल भाषा मे लिख दिया है, जो वेद-शास्त्र मे विद्यमान है। उपनिषदों का अध्यात्मवाद, दर्शनो का तत्त्वचिन्तन और पुराणो की गाथाएँ—ये सब रामचरितमानस मे उपलब्ध हैं; और वे भी ऐसी सरल भाषा मे जिसे कि सर्वथा निरक्षर व्यक्ति भी सुगमता के साथ समझ सकता है। हिन्दू धर्म, सभ्यता, संस्कृति और विचारसरणी मे जो कुछ भी उत्कृष्ट तत्त्व है, तुलसी ने रामचरितमानस मे उन सबका अत्यन्त सुन्दर रूप मे समावेश कर दिया है। मध्यकालीन यूरोप मे क्रिश्चियन लोग बाइबिल का अध्ययन लैटिन भाषा मे किया करते थे। लैटिन सर्वसाधारण लोगो की भाषा नही थी। इसलिए केवल सुशिक्षित पादरी ही अपने धर्म ग्रन्थो के उपदेशो को जान सकने का अवसर प्राप्त कर सकते थे। मध्य काल के अन्त मे जब प्रोटेस्टेण्ट आन्दोलन शुरू हुआ, तो उसके नेताओ ने बाइबल का लोकभाषाओ मे अनुवाद किया, ताकि लेटिन से अपरिचित सर्वसाधारण लोग अपने धर्म के मान्य ग्रन्थ का अनुशीलन करने में समर्थ हो। तुलसीदास जी ने यही कार्य हिन्दू धर्म-शास्त्रों के सम्बन्ध में किया। उन्होंने वेद-शास्त्रो का अनुवाद तो नही किया, पर उन सब के तत्त्व व सार को स्वतन्त्र रूप से सरल कविता मे इस ढग से अभिव्यक्त किया, कि सर्वसाधारण जनता के लिये अपने धर्म के सिद्धान्तो व आख्यानो को जान सकना बिलकुल सुगम हो गया। धार्मिक क्षेत्र में तुलसी का यह कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। पर उनका कार्य केवल यही तक सीमित नही था। उन्होने विष्णु के अवतार भगवान् राम को एक ऐसे रूप मे जनता के सम्मुख रखा, जो धनुष बाण हाथ मे लेकर राक्षसो का सहार करने मे तत्पर था। बासुरी बजाकर भक्तो के मन को मोह लेने वाले कृष्ण का रूप उन्हे आकृष्ट नही करता था। उनका मस्तक उस भगवान् के सम्मुख झुकता था, जो हाथ में धनुष बाण धारण करता है। उस युग की यही सबसे बडी आवश्यकता थी। इसमे सन्देह नही, कि तुलसीदास के प्रयत्न से जहाँ भारत मे रामभक्ति की लहर लोकप्रिय हुई, वहाँ जनता मे वीरता और आशा का भी सचार हुआ। जो हिन्दू जाति अफगान-युग मे तुर्क व अफगान विजेताओं से निरन्तर आक्रान्त होती रही थी, और निरन्तर पराजयो के कारण जिसमें हीन भावना उत्पन्न हो गयी थी, वह अब धनुष-बाण की सहायता से राक्षसो के हाथ मे पड़ी हुई सीता का

उद्धार करने वाले राम को अपना आदर्श मानकर नये जीवन और स्फूर्ति से परिपूर्ण हो गयी, और उसने मुगल साम्राज्य मे वह स्थान प्राप्त कर लिया, जो उसके लिये उपयुक्त था। अत्याचारी व अधार्मिक रावण का नाश करने वाले राम के वीर और पुनीत चरित्र को जनता के सम्मुख रखकर तुलसीदास ने कहा—

'राम राज भयो काज सगुन सुभ, राजा राम सदा विजयी हैं'

इस सन्देश से—राम के सदा विजयी होने की बात से हिन्दू जाति मे नवीन उत्साह का सचार हुआ, और वह भारत मे अपना उपयुक्त स्थान प्राप्त करने के लिये कटिबद्ध हो गई।

कृष्ण भक्ति—सोलहवी सदी के प्रारम्भिक भाग मे रामानुजाचार्य की शिष्य-परम्परा के अन्यतम आचार्य श्री वल्लभाचार्य ने वृन्दावन को अपना केन्द्र बनाकर कृष्ण के पुरुषोत्तम रूप की भक्ति की जो लहर चलाई थी, उसका उल्लेख हम पहले कर चुके है। वल्लभाचार्य के अनुसार श्रीकृष्ण ही परब्रह्म है, और सब गुणो से सम्पन्न होने के कारण वे पुरुषोत्तम कहाते हैं। आनन्द की पूर्ण अभिव्यक्ति कृष्ण के इसी पुरुषोत्तम रूप मे होती है, और इस रूप मे जो लीलायें वे करते हैं, वे भी नित्य हैं। भगवान् कृष्ण की नित्य लीला मे अपने को आत्मसात् कर देना ही मनुष्य की सर्वोत्कृष्ट गति है। वल्लभाचार्य ने अपने शिष्य पूरनमल खत्री द्वारा गोवर्द्धन पर्वत (वृन्दावन मे) पर एक विशाल मन्दिर का निर्माण कराया, जो कृष्ण की भक्ति का प्रधान केन्द्र बन गया। वल्लभाचार्य के बाद वृन्दावन व अन्यत्र अनेक ऐसे कृष्णभक्त उत्पन्न हुए, जिन्होने कृष्ण की भक्ति को जन-साधारण मे प्रचारित करने के लिये बहुत-से सुन्दर पदो की रचना की। इनमे 'अष्टछाप' के कवि सर्वप्रथम है। वल्लभाचार्य के बाद उनके पुत्र विट्ठल-नाथ जी उनकी गद्दी के स्वामी बने थे। उन्होने कृष्ण के भक्त आठ सर्वोत्तम कवियो को चुनकर 'अष्टछाप' की स्थापना की। ये आठ कवि निम्नलिखित थे—सूरदास, कुम्भन-दास, परमानन्ददास, कृष्ण दास, छीत स्वामी, गोविन्द स्वामी, चतुर्भुजदास और नन्ददास। इनमें सूरदास का स्थान सर्वोच्च है, और उन्होंने कृष्ण की भक्ति का जनता मे प्रसार करने के लिये अपने गीतो द्वारा जो अनुपम कार्य किया, वह भी वस्तुतः अद्वितीय है। ये सब कवि अकबर के समकालीन थे, और इनके भक्ति-गीतो से न केवल हिन्दू अपितु मुसलमान भी बहुत अधिक प्रभावित हुए थे। यही कारण है, कि सम्पूर्ण मुगल काल में बहुत-से ऐसे कवि होते रहे, जो अपने मधुर गीतों द्वारा जनता में कृष्णभक्ति की भावना का सचार करते रहे।

सिक्ख धर्म—अफगान युग मे हिन्दू धर्म में नव-जागृति की जो लहर प्रारम्भ हुई थी, उसमे गुरु नानक का स्थान बहुत महत्त्व का था। नानक की दृष्टि मे हिन्दू और मुसलमान एक समान थे, और उनकी शिक्षा को सब लोग समान रूप से ग्रहण कर सकते थे। नानक के अनुयायी सिक्ख (शिष्य) कहाते थे। उनकी शिष्य परम्परा में दस गुरु हुए, जिनमे अन्तिम गुरु गोविन्द सिंह थे। शुरू के सिक्ख गुरुओं का रूप प्रायः उसी ढंग का था, जैसा कि रामानुजाचार्य व रामानन्द आदि की शिष्य परम्परा के आचार्यों का था। पर धीरे-धीरे सिक्ख पन्थ मे परिवर्तन आना शुरू हुआ, और वह केवल एक धार्मिक सम्प्रदाय ही न रह कर एक राजनीतिक शक्ति भी बन गया। जहाँगीर के समय

मे सिक्खो के गुरु अर्जुनदेव थे। जब राजकुमार खुसरो (जहाँगीर का ज्येष्ठ पुत्र) अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह कर लाहौर जा रहा था, तो गुरु अर्जुनदेव ने उसे आश्रय प्रदान किया। इस बात पर जहाँगीर बहुत नाराज हुआ, और जब खुसरो के सहायकों को भयंकर दण्ड दिये गये, तो अर्जुनदेव भी मुगल बादशाह के कोप के शिकार बने। उन पर जुर्माना किया गया, और जब उन्होने जुर्माना देने से इन्कार किया, तो उन्हे मृत्युदण्ड दिया गया। गुरु अर्जुनदेव समझते थे, कि उनके पास जो कुछ भी सम्पत्ति है, वह पन्थ व ईश्वर की है, उसे वे जुर्माना अदा करने के लिये प्रयुक्त करने का कोई अधिकार नही रखते। इस घटना ने सिक्ख धर्म के इतिहास में भारी परिवर्तन किया, क्योकि सिक्ख लोग अपने गुरु की हत्या को सहन नही कर सके। उन्होने अपने को संगठित करना शुरू किया, और इस प्रकार वे धार्मिक सम्प्रदाय के साथ-साथ एक राजनीतिक शक्ति भी बन गए।

सिक्खो के नवे गुरु तेगबहादुर थे, जो औरगजेब के समकालीन थे। औरगजेब किस प्रकार हिन्दू विरोधी नीति का आश्रय लेकर हिन्दुओ पर जजिया लगाने और उनके मन्दिरो को गिरवाने के लिये प्रयत्नशील था, इसका उल्लेख हम पिछले एक अध्याय मे कर चुके है। गुरु तेगबहादुर ने औरगजेब की इस नीति का विरोध किया। जब बादशाह को यह बात मालूम हुई, तो उसे बहुत क्रोध आया। गुरु तेगबहादुर को दिल्ली बुलाया गया, और उन पर यह अभियोग लगाया गया, कि उन्होने बादशाह के विरुद्ध बगावत फैलायी है। तेगबहादुर के सम्मुख दो विकल्प पेश किये गये, या तो वे इस्लाम को स्वीकार कर ले, अन्यथा उन्हे प्राण-दण्ड दिया जाएगा। तेगबहादुर ने दूसरा विकल्प चुना। बडी क्रूरता के साथ दिल्ली में उनका वध किया गया। गुरु के कत्ल का हाल जानकर सिक्खो मे सनसनी फैल गयी। वे अपने गुरु की हत्या का बदला लेने के लिये उठ खड़े हुए। एक छोटे से धार्मिक सम्प्रदाय के लिए यह सुगम नही था, कि वह शक्तिशाली मुगल बादशाह का सामना कर सकता। पर इस समय सिक्खो में एक महा-पुरुष उत्पन्न हुआ, जिसने उन्हे भली-भाँति सगठित कर एक प्रबल शक्ति के रूप मे परिणत कर दिया। यह महापुरुष गुरु गोविन्द सिंह थे, जो सिक्खो के दसवे व अन्तिम गुरु थे। गोविन्द सिंह ने सिक्खो को एक प्रबल सैन्य शक्ति बना दिया। वह कहा करते थे--'चिडियो से मैं बाज लड़ाऊँ, तो गुरु गोविन्द सिंह कहाऊँ।' सचमुच उन्होने पंजाब की चिडियो को बाज के साथ लडने के योग्य बना दिया। उन्होने प्रत्येक सिक्ख के लिये पाँच ककारों का धारण करना आवश्यक कर दिया। पाँच कक्के ये थे—कघा, कच्छ, कडा, केश और कृपाण। इनका उद्देश्य यह था, कि सिक्ख सिपाहियों की तरह रहे और सैनिक कार्य को गौरव की बात समझें।

गुरु गोविन्दसिंह राजाओं के समान रहते थे। पर मुगल-साम्राज्य के सम्मुख उनकी शक्ति कितनी कम है, इसका भी उन्हे ज्ञान था। इसलिए उन्होंने पंजाब के पहाडो को अपना केन्द्र बनाया, और समय-समय पर वहाँ से निकलकर मुगल छावनियो पर आक्रमण करने शुरू किये। मुगलो ने गुरु गोविन्दसिंह व उनके 'खालसा' को कुचल डालने के लिये कोई कसर बाकी नही रखी। गुरु के दोनो लडके पकड़े गये, और उन्हे इस्लाम स्वीकार करने के लिये कहा गया। पर वे इसके लिये तैयार नही हुए। इस पर

उन्हे जीते-जी दीवार मे चुनवा दिया गया, पर वे धर्म से डिगे नहीं। औरंगजेब की मृत्यु तक गोविन्दसिंह ने मुगलो के विरुद्ध अपने संघर्ष को जारी रखा। औरंगजेब की मृत्यु के बाद जब मुगल साम्राज्य की शक्ति क्षीण होने लगी, तो सिक्खो को अपने उत्कर्ष का अपूर्व अवसर हाथ लगा। गोविन्दसिंह सिक्खो के अन्तिम गुरु थे। उन्होंने अपने बाद के लिये कोई गुरु निश्चित नही किया था। उन्होंने यह व्यवस्था की, कि भविष्य में ग्रन्थ-साहब ही सिक्खो के गुरु का कार्य करे। ग्रन्थ साहब में सिक्ख-गुरुओं की वाणियाँ संगृहीत है। गुरु गोविन्दसिंह ने धार्मिक दृष्टि से जहाँ ग्रन्थ साहब को अपना उत्तराधिकारी नियत किया, वहाँ सिक्खों का सैनिक नेतृत्व उन्होने बन्दा को सौंप दिया। बन्दा वैरागी सम्प्रदाय का था, तथा युद्ध-विद्या और सैन्य सचालन मे अत्यन्त निपुण था। उसने गोविन्दसिंह के लड़को की हत्या का बदला लेने के लिये सरहिन्द पर हमला किया, और वहाँ के फौजदार को परास्त कर सरहिन्द पर कब्जा कर लिया। इसी नगर मे गोविन्दसिंह के पुत्रों को जीते-जी दीवार में चुनवाया गया था। सर्राहद पर कब्जा करने के बाद भी वन्दा बहादुर निरन्तर मुगलों से सघर्ष करता रहा। मुगल बादशाहों को उसके कारण अनेक सकटो का सामना करना पडा। अन्त मे सन् १७१६ में बादशाह फर्रुखसियर उसे गिरफ्तार करने मे सफल हुआ। बन्दा का बडी निर्दयता के साथ वध किया गया, और अन्य भी बहुत-से सिक्खो को कत्ल किया गया। पर इन अत्याचारो से सिक्ख दबे नही। उनकी शक्ति निरन्तर बढती ही गयी। अन्त मे नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणो के कारण जब पजाब मे मुगलो की शासन-शक्ति अस्त-व्यस्त हो गयी, तो सिक्खो ने पजाब मे अपने अनेक स्वतन्त्र राज्य कायम कर लिये।

भारत के आधुनिक इतिहास मे सिक्ख पन्थ का महत्त्व बहुत अधिक है। अफगान-युग मे जो अनेक सन्त व धर्म-सुधारक उत्पन्न हुए थे, उनमे अकेले गुरु नानक ही ऐसे थे, जिनकी शिष्य परम्परा आगे चलकर एक ऐसे पन्थ के रूप मे परिवर्तित हो गयी, जिसमे अपूर्व जीवनी शक्ति है। रामानन्द, वल्लभाचार्य और चैतन्य की शिष्य-परम्परा ने अपने अनुयायियो को चाहे कितनी ही शक्ति प्रदान की हो, पर उसके कारण उनके सम्प्रदायो मे उस ढग के नवजीवन का संचार नही हुआ, जैसा कि सिक्ख पन्थ मे हुआ। जात-पाँत व ऊँच-नीच के भेद का विरोध आदि बातों पर नानक और रामानन्द एक दृष्टिकोण रखते थे। पर रामानन्द व वल्लभाचार्य आदि भक्तिमार्गी आचार्यों के अनुयायी इनसे ऊपर उठने मे उस अश मे सफल नही हुए, जैसे कि नानक के अनुयायी सिक्ख लोग हुए। सिक्ख पन्थ प्राचीन हिन्दू-धर्म का एक ऐसा परिष्कृत रूप है, जिसमे उन बुराइयो को कोई स्थान प्राप्त नही है, जो कि प्राचीन हिन्दू धर्म मे देर से विकसित हो रही थी। पर यह बात अफगान-युग में प्रादुर्भूत हुए अन्य हिन्दू-सम्प्रदायों के सम्बन्ध मे नहीं कही जा सकती।

दीने-इलाही—चिरकाल तक देश मे एक साथ निवास करने के कारण हिन्दुओ और मुसलमानों मे एक दूसरे के निकट सम्पर्क मे आने की जो प्रवृत्ति अफगान-युग में प्रारम्भ हुई थी, मुगल-काल में वह बहुत अधिक जोर पकड गयी। अकबर धर्म के मामले में बहुत सहिष्णु था, और उसकी सहिष्णुता की नीति का जहाँगीर और शाहजहाँ ने भी अनुसरण किया था। इन मुगल बादशाहों ने हिन्दुओं के साथ वैवाहिक

सम्बन्ध स्थापित किये थे, और इनकी हिन्दू रानियाँ विवाह के बाद भी अपने धर्म पर दृढ रही थी। यह स्वाभाविक था, कि इनका असर मुगल बादशाहो पर पडता। अकबर की धार्मिक नीति पर जहाँ उसकी हिन्दू पत्नियो का असर हुआ, वहाँ साथ ही शेख मुबारक और उसके पुत्र अब्दुल फजल और फैजी के विचारो का भी उस पर प्रभाव पडा। ये सूफी सम्प्रदाय के थे, और धार्मिक दृष्टि से बहुत उदार विचार रखते थे। इनके ससर्ग से अकबर के विचारों मे परिवर्तन आना शुरू हुआ, और इनके परामर्श से अकबर ने अपनी राजधानी फतहपुर सीकरी मे एक इबादतखाने (पूजागृह) का निर्माण कराया। प्रति वृहस्पतिवार को यहाँ एक सभा होती थी, जिसमे हिन्दू, जैन, पारसी, यहूदी, ईसाई, शिया, सुन्नी आदि विविध सम्प्रदायो के विद्वान् धार्मिक विषयो पर विचार करते थे। अकबर स्वयं इस सभा मे सभापति का आसन ग्रहण करता था, और विविध धर्माचार्यों के विचारो का ध्यानपूर्वक श्रवण करता था। विविध धर्मों के विद्वानों के विचारो को सुनने के कारण अकबर के धार्मिक विश्वासो मे बहुत परिवर्तन आया, और इस्लाम के प्रति उसका विश्वास शिथिल होने लगा।

जिन विविध आचार्यों के सम्पर्क में आने के कारण अकबर के धार्मिक विचारों मे परिवर्तन आना शुरू हुआ, उनमे से कतिपय के नाम उल्लेखनीय है। हिन्दू-धर्म का अकबर के सम्मुख प्रतिपादन करने वाले विद्वानो मे पुरुषोत्तम और देवी प्रधान थे। देवी ने ब्रह्मा, विष्णु, महेश, कृष्ण, राम, महामाया आदि के वास्तविक स्वरूप का अकबर को उपदेश दिया, और वह बहुधा उससे धर्मचर्चा किया करता था। जैन-धर्म का अकबर के सम्मुख प्रतिपादन करने वाले आचार्य हीरविजय सूरि, विजयसेनसूरि, भानुचन्द्र उपाध्याय और जिनचन्द्र थे। १५७८ के बाद कोई-न-कोई जैनाचार्य सदा अकबर के दरबार मे रहा करता था। हीरविजय के उपदेशो से प्रभावित होकर अकबर ने कुछ निश्चित तिथियों मे पशुहिंसा का भी निषेध कर दिया था। पारसी धर्म के आचार्य दस्तूर मेहरजी राना ने अकबर को जरदुष्ट्र के धर्म का उपदेश किया था, और उसी के प्रभाव के कारण अकबर ने सूर्य की पूजा प्रारम्भ की थी, जो पारसियो की उपास्य अग्नि का सबसे ज्वलन्त व प्रत्यक्ष रूप है। ईसाई धर्म से परिचय प्राप्त करने के लिये अकबर ने गोआ से पोर्तगीज पादरियो को अपने दरबार मे निमन्त्रित किया था। पर इस युग के ईसाई पादरी हिन्दुओ, जैनियो और पारसियो के समान सहिष्णु नहीं थे। उन्होने अकबर के दरबार मे आकर कुरान और पैगम्बर पर इस ढंग से आक्षेप शुरू किये, कि मुसलिम लोग उनसे बहुत नाराज हो गये। सिक्ख गुरुओ के प्रति भी अकबर की बहुत श्रद्धा थी, और वह उनकी वाणियो को बडे आदर के साथ सुनता था।

विविध धर्मों के आचार्यों की शिक्षाओ को श्रवण कर अकबर ने इस बात की कोशिश की, कि एक ऐसे नये धर्म का विकास किया जाए, जिसमे सब धर्मों की अच्छी-अच्छी बातो का समावेश रहे। इस नये धर्म का नाम दीने-इलाही रखा गया। अकबर स्वय दीने-इलाही का प्रवर्तक और गुरु बना। इस धर्म का मुख्य सिद्धान्त यह था, कि ईश्वर एक है, और अकबर उसका पैगम्बर है। मनुष्यो को सत्य-असत्य का निर्णय करते हुए अपनी बुद्धि का प्रयोग करना चाहिए और किसी पर अन्धविश्वास नही रखना चाहिए। दीने-इलाही के अनुयायी मांस-भक्षण से परहेज करते थे, और पशु-हिंसा को पाप मानते

थे। अकबर प्रातःकाल के समय सूर्य को नमस्कार करता था, और अग्नि को दैवी शक्ति का प्रत्यक्ष रूप समझता था। उसके बहुत-से दरबारी दीने-इलाही के अनुयायी बन गए, पर ऐसा करने में उनका प्रधान हेतु बादशाह को प्रसन्न करना ही था। वे इस नए धर्म के सिद्धान्तो से आकृष्ट होकर इसके अनुयायी नही बने थे। यही कारण है, कि यह धर्म देर तक नही चल सका, और अकबर के साथ इसकी भी समाप्ति हो गई। यद्यपि दीने-इलाही सम्प्रदाय ने भारत में अपना कोई स्थिर प्रभाव नही छोड़ा, पर वह इस युग की धार्मिक प्रवृत्तियों का मूर्त रूप था। सदियो से एक साथ निवास करते हुए हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे के इतने समीप आ गए थे, कि दीने-इलाही जैसे धर्म का विकास सम्भव हो सका था। यदि जहाँगीर और शाहजहाँ के बाद दारा शिकोह को मुगल साम्राज्य के राजसिंहासन पर आरूढ होने का अवसर मिलता, तो हिन्दू धर्म और इस्लाम के सामजस्य की इस प्रवृत्ति को और अधिक बल मिलता। पर दुर्भाग्य से औरंगजेब के बादशाह बन जाने के कारण यह प्रवृत्ति निर्बल पड गयी, और उसकी हिन्दू-विरोधी नीति के कारण हिन्दू लोग मुगल बादशाहत के खिलाफ उठ खडे हुए।

धार्मिक सहिष्णुता और समन्वय की प्रवृत्ति—अफगान युग के सत्य-पीर सम्प्रदाय के समान मुगल युग मे भी अनेक ऐसे सम्प्रदायो का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होने हिन्दुओ और मुसलमानो मे एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया। ये सम्प्रदाय सतनामी और नारायणी थे। नारायणी सम्प्रदाय के अनुयायी हिन्दू और मुसलमान दोनों थे, और वे पूर्व की ओर मुख करके दिन में पाँच बार प्रार्थना करते थे, ईश्वर के नामो मे 'अल्लाह' को भी अन्तर्गत करते थे, और अपने मुर्दों को जलाने के बजाय जमीन में गाडा करते थे। इसी युग के एक साधक प्राणनाथ ने एक नया आन्दोलन चलाया, जिसमे जातिभेद, मूर्तिपूजा और ब्राह्मणो के प्रभुत्व का खंडन किया जाता था। प्राणनाथ गुजरात का निवासी था, और हिन्दू मुसलमान दोनों उसके अनुयायी थे। उससे दीक्षा लेने वाले व्यक्ति को हिन्दू और मुसलमान दोनो के साथ बैठकर भोजन करना पडता था। प्राणनाथ कहता था, कि हिन्दू और मुसलमान सबका एक धर्म व एक ईमान होना चाहिए।

मुगल-युग की ये प्रवृत्तियाँ यदि जोर पकड़ती रहती, तो भारत मे हिन्दू मुसलिम समस्या उत्पन्न ही न हो पाती। पर औरंगजेब के समय के बाद ये प्रवृत्तियाँ निर्बल होती गयीं, और हिन्दुओ व मुसलमानों मे सामजस्य की प्रक्रिया बहुत कुछ रुक गई। ब्रिटिश युग मे भारत के विविध धर्मों मे जो जागरण हुआ, उसके कारण तो यह प्रक्रिया एकदम समाप्त हो गई, और हिन्दू व मुसलमान बहुत कुछ उसी प्रकार दो वर्गों मे विभक्त हो गए, जैसे कि तुर्क-अफगान युग के प्रारम्भ मे थे।

(४) वास्तु कला

जिस प्रकार अफगान-युग में प्रादुर्भूत हुई धार्मिक जागृति और साहित्यिक उन्नति की प्रक्रिया मुगल युग में भी जारी रही, उसी प्रकार वास्तुकला के क्षेत्र मे प्राचीन भारतीय कला और मुसलिम कला के सम्पर्क से विशाल व सुन्दर इमारतों के निर्माण की जो शैली अफगान-युग में प्रारम्भ हुई थी, मुगलकाल में वह निरन्तर विकास को प्राप्त

करती रही। यही कारण है, कि मुगल-युग की इमारतों पर हिन्दू और मुसलिम कलाओं के सम्मिश्रण का प्रभाव स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होता है। औरंगजेब को छोडकर अन्य सब मुसलिम बादशाह वास्तु-कला के प्रेमी थे, और उनके संरक्षण मे अनेक सुन्दर इमारते इस देश में निर्मित हुई। धार्मिक कट्टरता के कारण औरंगजेब कला का विरोधी था, और उसकी शक्ति का उपयोग निर्माण की बजाय विनाश के लिए अधिक हुआ था। उसने बहुत-से मन्दिरो को भूमिसात् तो किया, पर किसी उत्कृष्ट इमारत के निर्माण की ओर ध्यान देने की आवश्यकता उसने कभी अनुभव नही की। मन्दिरो को गिरवाकर जो अनेक मस्जिदे उसने बनवाई, वे वास्तु-कला की दृष्टि से अधिक महत्त्व की नहीं है।

बाबर—बाबर बहुत कम समय तक भारत मे शासन कर सका था। पाँच साल के लगभग के स्वल्प शासन काल मे भी उसका ध्यान वास्तु-कला की ओर आकृष्ट हुआ। उसने कान्स्टेन्टिनोपल से शिल्पियो को इस उद्देश्य से भारत निमन्त्रित किया, कि वे यहाँ आकर नई शैली के अनुसार मसजिदो व अन्य इमारतो का निर्माण करे। उन दिनो कान्स्टेन्टिनोपल वास्तु-कला का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था, और वहाँ के अनेक शिल्पी अपनी विशिष्ट शैली के अनुसार भवन निर्माण मे तत्पर थे। पर भारत की किन्ही भी इमारतो पर कान्स्टेन्टिनोपल की वास्तु-कला का प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। अत यह कह सकना कठिन है, कि बाबर सुदूर तुर्की से वास्तु-शिल्पियो को भारत बुलाने की अपनी योजना को क्रियान्वित करने मे सफल हो सका था। पर इसमे सन्देह नही, कि बाबर ने अनेक सुन्दर इमारतो का निर्माण कराया था, जिनमें इस समय केवल तीन ही विद्यमान है। पानीपत की काबुली बाग मसजिद, सम्भल की जामा मसजिद और आगरा के पुराने (लोदी) किले मे विद्यमान मसजिद बाबर के समय की ही कृतियाँ है। पर इनके अतिरिक्त आगरा, धौलपुर, ग्वालियर, बियाना और सीकरी मे भी उसने अनेक इमारते बनवाई थी, जिनका उल्लेख बाबरनामा मे किया गया है। दुर्भाग्यवश, ये इमारते अब नष्ट हो चुकी है।

हुमायूं—हुमायूं के समय की केवल दो मसजिदे इस समय विद्यमान हैं। उनमें से एक आगरा मे है, और दूसरी हिसार जिले के फतहाबाद कस्बे मे। इन इमारतो पर पर्शियन वास्तु-कला का प्रभाव स्पष्ट रूप से विद्यमान है। हुमायूं के शासनकाल के मध्य मे ही अफगान नेता शेरशाह का दिल्ली पर आधिपत्य स्थापित हो गया था। इस कारण हुमायूं इमारतो के बनाने पर विशेष ध्यान नही दे सका। पर इस युग की वास्तु-कला के इतिहास मे शेरशाह का स्थान बहुत महत्त्व का है। दिल्ली के पुराने किले मे जो मसजिद है, वह और इस किले की प्राचीर के अनेक भाग शेरशाह की ही कृतियाँ है। बिहार के जिले मे सहसराम नामक स्थान पर शेरशाह का मकबरा है, जो इण्डो-मुसलिम वास्तु-कला का अत्यन्त उत्कृष्ट उदाहरण है। शाहजहाँ द्वारा निर्मित ताज-महल और सहसराम के इस मकबरे मे कई दृष्टियों से समता है।

अकबर—अकबर का शासनकाल जिस प्रकार हिन्दी-साहित्य के लिए सुवर्णीय युग था, वैसे ही वास्तु-कला की दृष्टि से भी वह सुवर्णीय था। अकबर को वास्तु-कला का बहुत शौक था, और जैसा कि अबुल फजल ने लिखा है, पत्थर और मिट्टी के इन 'परिधानों' का आयोजन करने मे वह स्वयं भी बहुत दिलचस्पी लेता था। अकबर की

वास्तुकृतियाँ संख्या मे बहुत अधिक है। कितने ही किलो, प्रासादो, बुर्जों, सरायों, मदरसों और जलाशयों का उसने निर्माण कराया। उसके समय की वास्तु-कला में हिन्दू, जैन, पर्शियन आदि विविध कलाओ का बहुत सुन्दर सम्मिश्रण हुआ है। जिस प्रकार धर्म के मामले में अकबर समन्वय और सामञ्जस्य की नीति का समर्थक था, और हिन्दू धर्म के अनेक तत्त्व उसने अपना लिए थे, वैसे ही वास्तुकला के क्षेत्र में भी उसने समन्वय की नीति को अपनाया, और प्राचीन भारतीय कला का उदारतापूर्वक उपयोग किया। अकबर के समय की सबसे पुरानी इमारत हुमायूं का मकबरा है, जो दिल्ली मे अब तक भी विद्यमान है। यह १५६५ मे बनकर तैयार हुआ था। कला की दृष्टि से यह भारतीयता के उतने समीप नही है, जितना कि पर्शियन कला से प्रभावित है। पर इसमे रगीन टाइलो का प्रयोग नही हुआ है, जो कि पर्शियन शैली की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। उसके बजाय इसमे भारतीय शैली के अनुसार संगमरमर पत्थर का उदारतापूर्वक उपयोग किया गया है। रणथम्बोर की विजय से वापस लौटते हुए अकबर ने १५६९ मे फतहपुर सीकरी की नीव डाली, जो बाद मे कुछ समय तक मुगलो की राजधानी भी रहा। यह नगर अब तक भी विद्यमान है, यद्यपि मुगल-युग मे इसके विशाल प्रासाद प्रायः गैर-आबाद ही पडे रहे, और अब भी वे भूतो की नगरी के सदृश प्रतीत होते हैं। फतहपुर सीकरी की इमारतो मे सबसे प्रसिद्ध जामा मसजिद और बुलन्द दरवाजा है। बुलन्द दरवाजे का निर्माण अकबर ने दक्षिण की विजय के उपलक्ष मे करवाया था, और निःसन्देह यह भारत का सबसे ऊँचा व विशाल विजय-द्वार है। ऊँचाई में यह १६७ फीट है, और वास्तु-कला की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट है। फतहपुर सीकरी की अन्य इमारतो मे राजा बीरबल का प्रसिद्ध सोनहरा मकान, ख्वाबगाह, दीवाने-खास और इबादतखाना विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यद्यपि ये इमारते बहुत अधिक विशाल नही है, पर सौन्दर्य और कला की दृष्टि से ये सचमुच अनुपम है। इन्ही को दृष्टि मे रखकर ऐतिहासिक स्मिथ ने फतहपुर सीकरी के विषय मे लिखा है, कि यह नगर प्रस्तर द्वारा निर्मित एक काव्य के समान है, जो कि अपना सानी नही रखता। अकबर की इमारतों मे सबसे महत्त्वपूर्ण सिकन्दरा का मकबरा है। इसका निर्माण अकबर ने शुरू कराया था, और जहाँगीर के समय मे यह पूर्ण हुआ। इसे बौद्ध-विहारो के नमूने पर बनाया गया है। शुरू मे इसका जो नक्शा तैयार किया गया था, उसके अनुसार इसका गुम्बज संगमरमर पत्थर का और इसके अन्दर की छत सोने की होनी चाहिए थी। यदि ऐसा कर दिया जाता, तो निःसन्देह बादशाह अकबर का यह मकबरा सौन्दर्य मे अद्वितीय हो जाता। पर इसके बिना भी यह अत्यन्त सुन्दर और कलात्मक है, और अकबर जैसे महान् सम्राट् के अनुरूप है। फतहपुर सीकरी के बाद अकबर ने आगरा को अपनी राजधानी बनाया, और वहाँ के निवास के लिए लाल किले का निर्माण कराया, जिसके प्रासाद व दीवाने-आम और दीवाने-खास वस्तुतः दर्शनीय है। आगरा के किले के प्रासाद को 'जहाँगीर महल' कहते हैं, जिसे कि हिन्दू वास्तुकला के अनुसार बनाया गया है। फतहपुर सीकरी, आगरा और सिकन्दरा की इन इमारतो के अतिरिक्त अकबर ने इलाहाबाद और लाहौर मे भी बहुत-सी इमारतें बनवायी थी। विलियम फिन्च ने लिखा है, कि इलाहाबाद के महल के निर्माण में चालीस साल लगे, और उसमे

पाँच हजार से बीस हजार तक शिल्पी व मजदूर चालीस वर्षों तक निरन्तर काम करते रहे। आगरा के किले के समान लाहौर मे भी अकबर ने एक विशाल किले का निर्माण कराया था।

जहाँगीर—जहाँगीर को चित्रकला का बहुत शौक था, और उसने वास्तु-कला की ओर विशेष ध्यान नही दिया। यही कारण है, कि उनके समय में अधिक इमारतें नही बन पाई। पर उसकी मलिका नूरजहाँ को वास्तु-कला से बहुत प्रेम था, और उसने अपने पिता इतिमादुद्दौला का जो मकबरा आगरा मे बनवाया, वह सौन्दर्य और कला की दृष्टि से वस्तुतः अनुपम है। यह मकबरा संगमरमर से बनाया गया है, और इसकी शैली राजपूत है। उदयपुर मे गोलमण्डल नाम का मन्दिर इसी शैली के अनुसार १६०० ई० के लगभग बना था। इतिमादुद्दौल्ला के मकबरे के निर्माण में इसी मन्दिर का अनुसरण किया गया। जहाँगीर का मकबरा लाहौर मे रावी के पार बना हुआ है, जिसका निर्माण भी नूरजहाँ ने कराया था। यह मकबरा भी कला की दृष्टि से अनुपम है। यद्यपि जहाँगीर ने इमारतो के निर्माण मे विशेष दिलचस्पी नही दिखाई, पर बागों और उद्यानो का उसे बहुत शौक था। काश्मीर मे डल भील के तट पर स्थित सुन्दर उद्यान और अजमेर मे अनासागर के घाट उसके प्रकृति-सौन्दर्य प्रेम के ज्वलन्त उदाहरण है।

शाहजहाँ—मुगल बादशाहों मे वास्तुकला की दृष्टि से शाहजहाँ का स्थान सर्वोच्च है। उस द्वारा निर्मित प्रासाद, दुर्ग, उद्यान, मसजिद आदि आगरा, दिल्ली, लाहौर, काबुल, कन्धार, काश्मीर, अजमेर, अहमदाबाद, मुखलीसपुर आदि कितने ही स्थानो पर अब तक भी विद्यमान हैं। इन सबके निर्माण मे कितना खर्च हुआ होगा, इसका अन्दाज कर सकना सुगम नही है। पर यह निश्चित है कि इनके लिए शाहजहाँ ने करोडों रुपये खर्च किये होगे। शाहजहाँ की वास्तु-कृतियों मे सबसे महत्त्वपूर्ण आगरा का ताजमहल है, जिसे उसने अपनी प्रियतमा मुमताजमहल के चिरविश्राम के लिए बनवाया था। मुमताजमहल की मृत्यु सन् १६३० मे हुई थी, और इसी समय शाहजहाँ ने इस विश्वविख्यात मकबरे का निर्माण शुरू करा दिया था। इसके लिए जहाँ बादशाह ने भारत के कुशल शिल्पियो को नियत किया था, वहाँ साथ ही पर्शिया, अरब, तुर्की आदि से भी अनेक शिल्पियो को आमन्त्रित किया था। ताजमहल के निर्माण का कार्य प्रधानतया उस्ताद ईसा के सुपुर्द था, जिसे १००० रु० मासिक वेतन दिया जाता था। स्पेन के एक पादरी मानरीक ने १६१४ ई० मे आगरा की यात्रा की थी। उसने लिखा है, कि ताज की रूपरेखा जरोनियो बरोनियो नामक एक इटालियन शिल्पी ने तैयार की थी। इसी के आधार पर अनेक ऐतिहासिको ने यह प्रतिपादित किया है, कि ताज की कल्पना यूरोपियन शिल्पयो के दिमाग से उत्पन्न हुई थी। स्मिथ के अनुसार ताजमहल यूरोपियन और एशियन प्रतिभा के सम्मिलित प्रयत्न का परिणाम है। पर बहुसख्यक ऐतिहासिक इस बात को स्वीकृत नही करते। उनका कथन है, कि जरोनियो बरोनियो की मृत्यु १६४० मे हो चुकी थी, और पादरी मानरीक को उससे मिलने का अवसर कभी प्राप्त नही हुआ था। अतः उसने जो सुनी-सुनायी बात अपने यात्रा-विवरण में लिखी है, उसकी प्रामाणिकता सदिग्ध है। मुसलिम लेखक ताजमहल को

उस्ताद ईसा की कल्पना व प्रतिभा का परिणाम बताते हैं, और सम्भवतः यही बात ठीक भी है। पर यह असम्भव नहीं, कि ताजमहल के निर्माण मे कतिपय यूरोपियन शिल्पयों का सहयोग भी प्राप्त रहा हो। इस युग में बहुत-से यूरोपियन यात्री, पादरी और कलाविज्ञ लोग भारत मे आने लगे थे, और मुगल दरबार के साथ उनका घनिष्ठ सम्पर्क था। पर ताजमहल की कला मे कोई ऐसा तत्त्व नही है, जिसे विदेशी या यूरोपियन समझा जा सके। सहसराम मे विद्यमान शेरशाह के मकबरे की शैली ताज से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है, और संगमरमर की जिस ढंग की जालियाँ ताज की अनुपम विशेषता है, वे राजपूताने के अनेक पुराने मन्दिरो मे भी पाई जाती है। पर यह निःसन्दिग्ध है, कि ताजमहल मुगल-युग की वास्तु-कला की सर्वोत्कृष्ट कृति है, और सैकड़ो वर्ष बीत जाने के बाद इस बीसवी सदी मे भी वह संसार भर के कलाप्रेमियों के लिये आश्चर्य की वस्तु है।

आजकल की पुरानी दिल्ली (शाहजहानाबाद) भी शाहजहाँ की ही कृति है। वहाँ उसने लाल किले और जामा मसजिद का निर्माण कराया, जो सौन्दर्य की दृष्टि से अनुपम आकर्षण रखते है। लाल किले की मोती मसजिद, दीवाने-आम, दीवानेखास आदि इमारते शाहजहाँ के सौन्दर्य और कला-प्रेम की परिचायक है। यद्यपि विशालता की दृष्टि से ये अकबर के समय की इमारतो का मुकाबला नही कर सकतीं, पर सौन्दर्य की दृष्टि से ये अनुपम है, और विविध प्रकार के अलकारों द्वारा इन्हे इस ढग से विभूषित कर दिया गया है, कि इन्हे प्रस्तर द्वारा निर्मित आभूषण समझा जा सकता है। शाहजहाँ ने अलकारमयी वास्तुकला द्वारा पृथ्वी पर बहिश्त (स्वर्ग) को उतारने का स्वप्न लिया था, और इसमे उसे सफलता भी प्राप्त हुई। इसी लिये उसने दिल्ली के लाल किले मे बने हुए दीवाने-खास पर पर्शियन भाषा का एक पद उत्कीर्ण करवाया था, जिसका अर्थ है, कि "यदि पृथ्वी पर कही बहिश्त है, तो वह यहाँ है, केवल यहाँ है, अन्यत्र कहीं नही है।"

औरंगजेब—शाहजहाँ की मृत्यु के बाद मुगल-युग की वास्तु-कला मे ह्रास प्रारम्भ हो गया। औरंगजेब को ललित कलाओ का जरा भी शौक नहीं था, और इस्लाम के आदर्शों का अनुसरण कर वह सादगी मे विश्वास रखता था। इसी लिये अपने पूर्वजों के समान उसने किन्ही विशाल व सुन्दर इमारतो के निर्माण का प्रयत्न नही किया। दिल्ली के लाल किले मे उसने अपने निजी प्रयोग के लिये संगमरमर की एक मसजिद का निर्माण करवाया था, जो अब तक भी विद्यमान है, और उसके सादे मिजाज का परिचय देती है। काशी मे विश्वनाथ के मन्दिर को भूमिसात् करा के उसी के भग्नावशेषो पर उसने एक मसजिद का निर्माण कराया था, जो इस मुगल बादशाह की धर्मान्धता का जीता-जागता प्रमाण है। लाहौर की बादशाही मसजिद भी औरंगजेब की ही कृति है।

औरंगजेब के बाद मुगल-साम्राज्य खण्ड-खण्ड हो गया, और उसके उत्तराधिकारी मुगल बादशाह इतने समृद्ध व वैभवपूर्ण नहीं थे, कि वे वास्तुकला पर ध्यान दे सकते। पर मुगल-साम्राज्य के भग्नावशेष पर जो अनेक हिन्दू व मुसलिम राज्य इस युग में कायम हुए, उनके राजाओं व नवाबों ने भवन-निर्माण की प्रक्रिया को जारी

रखा। अमृतसर का सुवर्ण-मन्दिर (अकाल तख्त और गुरुद्वारा), लखनऊ के इमामबाड़े और हैदराबाद की आलीशान इमारतें इसी युग मे निर्मित हुईं।

मन्दिर और मूर्तियाँ—जब भारत मे मुसलमानो का शासन भली-भाँति स्थापित हो गया, तो इस देश मे मूर्तिकला का विकास सम्भव नही रह गया। मुसलिम लोग मूर्तिपूजा के विरोधी थे, और बुतशिकन (मूर्तिभजक) होना गौरव की बात समझते थे। इस दशा मे यह सम्भव नही था, कि भारत के कारीगर नये मन्दिरो का निर्माण करने और उनमें प्रतिष्ठापित की जाने वाली मूर्तियो को गढने में प्रवृत्त हो सकते। इस युग की मूर्तिकला पत्थर पर विविध आकृतियो या बेलों व फूलो के निर्माण में ही प्रगट हुई, और प्राचीन काल तथा मध्य काल मे जिस ढग से विशाल मन्दिरो और मूर्तियों का निर्माण होता था, वह अब प्राय. बन्द हो गया।

पर फिर भी अकबर जैसे उदार व सहिष्णु बादशाहो के शासनकाल मे और ऐसे प्रदेशो मे जहाँ मुसलिम शासन नही था, मुगल युग मे भी हिन्दुओ के अनेक मन्दिरो और मूर्तियो का निर्माण सम्भव हो सका। पन्द्रहवी सदी मे मुगलो की सत्ता के स्थापित होने से कुछ समय पूर्व राजस्थान मे महाराणा कुम्भा ने अनेक विशाल मन्दिर बनवाये, जिनमे कुम्भस्वामी विष्णु का मन्दिर बहुत प्रसिद्ध है। इस मन्दिर के अलकरण बहुत उत्कृष्ट ढंग के है। महाराणा कुम्भा ने गुजरात विजय के उपलक्ष मे एक विशाल विजय-स्तम्भ का भी निर्माण कराया था, जो कि ऊँचाई मे ११२ फीट है।

भारत मे मुगल सत्ता के स्थापित हो जाने पर सोलहवी सदी मे महाराजा मानसिंह ने वृन्दावन मे गोविन्ददेव का विशाल मन्दिर बनवाया। इसी काल मे महाराज वीरसिंह देव ने ओरछा मे चतुर्भुज मन्दिर का निर्माण कराया, जिसमें वैष्णव मन्दिरो के शिखर के आगे एक गुम्बद भी बनाया गया है।

(५) चित्रकला और संगीत

चित्रकला—वास्तुकला के समान चित्रकला मे भी मुगल-युग मे बहुत उन्नति हुई। मुगलो की चित्रकला का उद्‌भव पर्शिया मे हुआ था। पर पर्शिया के स्रोत से जो चित्रकला मुगलो द्वारा भारत मे प्रविष्ट हुई, वह विशुद्ध पर्शियन नही थी। जब मगोल लोगो ने पर्शिया को जीतकर उसे अपने साम्राज्य मे मिला लिया, तो वे अपने साथ एक ऐसी चित्रकला को उस देश मे ले गए, जो बौद्ध, बैक्ट्रियन और मंगोलियन प्रभाव के सम्मिश्रण का परिणाम थी। पर्शिया मे आने पर पर्शियन तत्त्व भी इसमें सम्मिश्रित हो गया और पर्शिया के तैमूर वशी शासको के संरक्षण मे इसका निरन्तर विकास होता रहा। मुगल विजेता बाबर तैमूर के वंश का था। तैमूर के सभी वंशज चित्रकला के प्रेमी थे। विशेषतया, हीरात के शासक हुसैन बैकरा के सरक्षण मे इस कला का असाधारण रूप से विकास हुआ। उसके आश्रय मे बिहजाद नाम का विख्यात चित्रकार रहता था, जिसकी गणना ससार के सर्वोत्कृष्ट कलावन्तो मे की जाती है। बिहजाद ने चित्रकला के एक नये सम्प्रदाय का प्रारम्भ किया, जिसमे पर्शियन, चीनी, बौद्ध आदि कलाओ के सर्वोत्कृष्ट तत्त्वों का अत्यन्त सुन्दर रूप से सम्मिश्रण किया गया था। बिहजाद की कला से बाबर भली-भाँति परिचित था, और जब उसने भारत में अपना

शासन स्थापित किया, तो इस कला का भारत में भी प्रवेश हुआ। उसके समय के अनेक ग्रन्थो की हस्तलिखित प्रतियो को इस कला के अनुसार चित्रित किये गये चित्रो द्वारा विभूषित किया गया। ऐसी अनेक प्रतियाँ इस समय भी उपलब्ध होती हैं।

बाबर के समान हुमायूँ भी चित्रकला का प्रेमी था। शेरशाह द्वारा परास्त होने के कारण वह भारत छोड कर पर्शिया चले जाने के लिए विवश हुआ था। पर्शिया के शाह तहमास्प के पास रहते हुए भी वह अनेक चित्रकारो के सम्पर्क मे आया, और उनकी कला से बहुत प्रभावित हुआ। भारत लौटने पर वह सैयद अली तबरीजी और ख्वाजा अब्दुस्समद नामक दो चित्रकारो को अपने साथ ले आया, जो कि बिहजाद द्वारा स्थापित चित्रकला-सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इन पर्शियन चित्रकारो को उसने 'दास्ताने अमीर-हमजा' नामक ग्रन्थ को चित्रित करने का कार्य सुपुर्द किया। इन दो चित्रकारो द्वारा चित्रित की गयी वह पुस्तक अब तक भी सुरक्षित दशा मे विद्यमान है। हुमायूँ न केवल चित्रकारो का संरक्षक था, अपितु स्वय भी चित्रकार था। उसने अपने पुत्र अकबर को भी इस कला की शिक्षा दी थी।

सैयद अली तबरीजी और ख्वाजा अब्दुस्समद भारत मे ही स्थिर रूप से बस गये थे। हुमायूँ और अकबर के राजदरबार मे निवास करते हुए वे भारत के चित्रकारो के सम्पर्क में भी आये, और इस निकट सम्पर्क के कारण चित्रकला की उस शैली का विकास हुआ, जिसे 'मुगल शैली' कहा जाता है। इसमें बिहजाद की नवीन शैली और भारत की परम्परागत प्राचीन शैली का अत्यन्त सुन्दर रूप से सम्मिश्रण हुआ, और मुगल युग मे वह निरन्तर विकास को प्राप्त करती रही। अकबर के शासन-काल में इस शैली की बहुत उन्नति हुई। साहित्यिकों और कवियो के समान चित्रकारो को भी अकबर ने अपने दरबार में आश्रय दिया था। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही धर्मो के चित्रकार उसके संरक्षण मे रहते हुए अपनी-अपनी कला का चमत्कार प्रदर्शित करने के लिये तत्पर थे। इस युग के प्रमुख चित्रकारो में अब्दुस्समद, सैयद अली तबरीजी, फर्रुखबेग, दसवन्त, बसावन, सावलदास, ताराचन्द और जगन्नाथ के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अब्दुस्समद और सैयद अली पर्शियन थे, जिन्हे हुमायूँ अपने साथ भारत लाया था। उन्ही के द्वारा भारत में बिहजाद की कला का प्रवेश हुआ था। भारतीय चित्रकारो मे दसवन्त जाति से कहार था, पर चित्र-कला की उसमें अपूर्व प्रतिभा थी। जब वह बालक ही था, अकबर का ध्यान उसकी प्रतिभा की ओर आकृष्ट हुआ, और उसकी शिक्षा के लिए अब्दुस्समद को नियत किया गया। इस पर्शियन कलाकार के तत्त्वावधान मे दसवन्त की प्रतिभा का खूब विकास हुआ, और उसने इतनी उन्नति की, कि वह अपने युग के सबसे महान् कलावन्तो मे गिना जाने लगा। हिन्दू कला मे बिहजाद-कला के तत्त्वो का समावेश कर उसने अपनी अनुपम प्रतिभा का परिचय दिया। अकबर के संरक्षण में जो चित्रकार इस ललितकला की उन्नति करने मे तत्पर थे, उनकी सख्या सैकड़ों में थी। इनमें भी सौ चित्रकार बहुत प्रसिद्ध थे, और सतरह कलाकार तो ऐसे थे, जिन्हे अपनी कला का उस्ताद माना जाता था। यह बात ध्यान देने योग्य है, कि इन सतरह उस्तादो मे तेरह हिन्दू थे। अबुल फजल ने इनके सम्बन्ध में लिखा है, कि ये हिन्दू चित्रकार इतने उच्चकोटि के हैं, कि संसार मे मुश्किल से ही कोई इनकी

समकक्षता कर सकता है। अकबर के युग के चित्रकार हस्तलिखित पुस्तकों को चित्रित करने, प्रासादों की दीवारों को विभूषित करने और वस्त्र व कागज पर चित्र बनाने में अपनी कला को अभिव्यक्त करते थे। अकबर के आदेश का पालन कर उन्होंने चंगेज-नामा, रामायण, नलदमयन्ती, कालियदमन आदि विविध प्रसिद्ध पुस्तकों को चित्रों द्वारा विभूषित किया। हुमायूँ द्वारा स्थापित पुस्तकालय में इस प्रकार की सैकड़ों पुस्तकें संगृहीत थी, जिन्हें कि अकबर के आश्रय मे रहने वाले चित्रकारों ने विविध प्रकार के सुन्दर व कलात्मक चित्रों से सुशोभित किया था। जब अकबर ने फतहपुर सीकरी और आगरा को अपनी राजधानी बनाया, तो ये चित्रकार भी उसके साथ-साथ वहाँ गये, और वहाँ भी उन्होंने अपने कार्य को जारी रखा। इसमे सन्देह नही, कि अकबर को चित्रकला से अत्यधिक प्रेम था। उसका विचार था, कि चित्रकार अपनी कला द्वारा ईश्वर की शक्ति को अभिव्यक्त करता है। वह अपनी कला द्वारा विविध रगो से जिस जीवित-जागृत जगत् की सृष्टि करता है, उसमे भगवान् की शक्ति की ही अभिव्यक्ति होती है। अकबर के समय के अनेक मुसलिम धर्माचार्य कला के विरोधी थे, पर चित्रकारों की कला का चमत्कार देखकर उनकी भी आँखें खुल गयी थी।

अकबर के समान जहाँगीर भी चित्रकला का प्रेमी था। उसके संरक्षण मे जिन चित्रकारों ने बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की, उनमे आगा, रजा, अबुल हसन, मुहम्मद नादिर, मुहम्मद मुराद, उस्ताद मन्सूर, बिशनदास, गोवर्धन और मनोहर के नाम उल्लेखनीय है। जहाँगीर ने अपने दरबार मे बहुत-से चित्रकारों को आश्रय दिया था, और यदि किसी अन्य चित्रकार की कलाकृति को उसके सम्मुख लाया जाता था, तो वह उसे अच्छा ऊँचा मूल्य देकर क्रय कर लेने मे गौरव अनुभव करता था। चित्रकला से उसे इतना अधिक प्रेम था, कि वह प्रत्येक चित्र का ध्यान-पूर्वक निरीक्षण करके उसके गुण-दोषों का विवेचन करता था, और यह पहचान भी रखता था, कि कोई चित्र किस शैली के अनुसार और किस चित्रकार द्वारा निर्मित है।

शाहजहाँ को वास्तु-कला से बहुत प्रेम था, पर चित्रकला का उसे अधिक शौक नही था। इसी कारण उसने दरबार के आश्रय मे रहने वाले चित्रकारों की संख्या मे बहुत कमी कर दी थी, और अनेक सुप्रसिद्ध कलाकार राजाश्रय न मिलने के कारण बेरोजगार हो गये थे। मुगल-दरबार से निराश होकर इन कलावन्तों ने राजपूताने के विविध राजाओं और हिमालय के पार्वत्य प्रदेशों के राजाओं का आश्रय लिया, और वहाँ जाकर चित्रकला की उन शैलियों का विकास किया, जिन्हें 'राजपूत-शैली' और 'पहाड़ी शैली' कहते हैं। शाहजहाँ के समय मे चित्रकला की मुगल-शैली का ह्रास शुरू हो गया, और उसके स्थान पर राजपूत आदि शैलियाँ उन्नति करने लगी। पार्सी ब्राउन नामक कलाविज्ञ ने ठीक ही लिखा है, कि मुगल चित्रकला की आत्मा जहाँगीर के साथ ही मृतप्राय हो गयी थी। शाहजहाँ को वास्तु-कला, भवन-निर्माण और मणिमाणिक्य से बहुत अधिक प्रेम था। राजदरबार के शिष्टाचार को वह बहुत महत्त्व देता था। इसलिए कलावन्तों को उसके सम्पर्क मे आने का विशेष अवसर नही मिलता था।

मुगल-युग के चित्रकारों का प्रिय विषय राजदरबार का ऐश्वर्य ही था। इसी कारण वे अमीर उमराओं के ऐश्वर्य, रत्न जटित परदों व बहुमूल्य वस्त्राभूषणों को अपने

चित्रों मे अंकित करने पर विशेष ध्यान देते थे। वे अपने चित्रों मे रंगों का इतने कलात्मक रूप से प्रयोग करते थे, कि उनके चित्रों को देखकर यह प्रतीत होने लगता था, मानो उनमे रंगों के स्थान पर मणि-माणिक्यों का प्रयोग किया गया है। चित्रकला के प्रति शाहजहाँ की उपेक्षा का यह परिणाम हुआ, कि कलावन्त लोग ऐसे चित्रों का निर्माण करने मे प्रवृत्त हुए, जो कि छोटे राजाओं और सम्पन्न जनों को आकृष्ट कर सकें। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के समय मे चित्रों का व्यवसाय प्रायः नहीं होता था। चित्रकार लोग केवल बादशाह और बड़े अमीर-उमराओं की रुचि को दृष्टि में रखकर ही चित्र बनाते थे। पर शाहजहाँ की उपेक्षा और औरंगजेब की कला-द्वेषिता के कारण चित्रकार लोग अब ऐसे चित्र बनाने के लिये प्रवृत्त हुए, जिन्हे सर्वसाधारण लोग भी खरीद सके। यही कारण है, कि अठारहवी सदी मे भारत में चित्रो का बाकायदा व्यवसाय शुरू हो गया, और बहुत-से चित्रकार सम्पन्न लोगों की रुचि को दृष्टि मे रखकर चित्रों के निर्माण मे तत्पर हुए।

संगीत कला—वास्तु-कला और चित्र-कला के समान संगीत कला की भी मुगल-युग मे बहुत उन्नति हुई। लेनपूल के अनुसार प्रत्येक मुगल शाहजादे से यह आशा की जाती थी, कि वह संगीत में भी प्रवीण हो। बाबर को संगीत का बहुत शौक था। हुमायूं के दरबार मे प्रति सोमवार व बुधवार को सगीतज्ञ एकत्रित होते थे, और बादशाह उनके गीतो को बडे शौक के साथ सुनता था। १५३५ ई० मे जब उसने माण्डू की विजय की, तो बहुत-से कैदी उसके हाथ लगे। इन कैदियो के वध की आज्ञा देते समय जब उसे मालूम हुआ, कि कैदियो मे बच्चू नाम का एक गायक भी है, तो उसने उसे अपने पास बुलाया। उसके सगीत को सुनकर वह इतना प्रसन्न हुआ, कि उसने उसे अपने दरबार में स्थान दे दिया। सूरवंशी अफगान सुलतान भी सगीत के प्रेमी थे। आदिलशाह सूरी एक भगत के सगीत पर इतना मुग्ध था, कि उसने उसे दसहजारी का सर्वोच्च मनसब प्रदान किया था। अकबर के दरबार मे तो कितने ही संगीतज्ञों ने आश्रय प्राप्त किया हुआ था। अबुल फजल के अनुसार उसके संरक्षण मे रहने वाले संगीताचार्यों की सख्या ३६ थी, जिनमे भारतीयो के अतिरिक्त पर्शियन, तूरानी और कश्मीरी संगीतज्ञ भी थे। इनमे सबसे प्रधान स्थान मियाँ तानसेन का था, जो ग्वालियर के निवासी थे। वे हिन्दू-कुल मे उत्पन्न हुए थे, पर मुसलमानों के सम्पर्क में आने के कारण उन्होने इस्लाम को स्वीकार कर लिया था। ग्वालियर मे उनकी कबर अब तक विद्यमान है, जिसे आजकल के सगीतज्ञ भी अपने लिये तीर्थ-स्थान मानते हैं। तानसेन भारत का सबसे प्रसिद्ध गायनाचार्य हुआ है, और उसके राग व रागनियाँ आज तक भी भारत मे सर्वत्र प्रचलित हैं। अकबर के समय के अन्य संगीतज्ञों में मालवा के बाज-बहादुर का नाम भी उल्लेखनीय है, जो हिन्दी काव्य और संगीत का विशेषज्ञ था। जहाँगीर और शाहजहाँ ने भी सगीतज्ञो को आश्रय दिया, और उनके समय में भी इस कला की बहुत उन्नति हुई। पर औरगजेब ललित कलाओं का कट्टर शत्रु था। उसने सगीत के विरुद्ध आज्ञा जारी की थी, दिल्ली के लोगों ने जिसके विरुद्ध रोष प्रगट करने के लिये संगीत का एक जनाजा भी निकला था। औरंगजेब की नीति के कारण कलावन्तो को मुगल दरबार का आश्रय मिलना बन्द हो गया, और चित्रकारों के समान

संगीतज्ञ भी राजपूत राजाओं व अन्य श्रीमन्त लोगों का आश्रय प्राप्त करने के लिये विवश हुए। मुगल-साम्राज्य की शक्ति के क्षीण होने पर जो अनेक मुसलिम व हिन्दू राज्य भारत में कायम हुए थे, उनकी राज-सभाओं में संगीतज्ञों को भी आश्रय प्राप्त हुआ था।

(६) भारतीय संस्कृति को मुगल-युग की देन

मुगल-युग की संस्कृति और सभ्यता के विविध अंगों पर प्रकाश डालने के बाद अब इस बात की विशेष आवश्यकता नहीं रह गयी है, कि भारतीय संस्कृति को मुगलों की देन के विषय पर पृथक् रूप से विचार किया जाय। पर उपसंहार के रूप में इसका संक्षेप के साथ उल्लेख करना उपयोगी होगा।

(१) भारत में राजनीतिक एकता की स्थापना में मुगल-शासन से बहुत सहायता मिली। धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भारत एक देश है, पर राजनीतिक क्षेत्र में केवल चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक और गुप्तवंशी सम्राट् ही इस देश के बड़े भाग को एक शासन की अधीनता में लाने में समर्थ हुए थे। गुप्त-साम्राज्य के पतन के बाद भारत में अकेन्द्रीभाव (डीसेण्ट्रलिजेशन) की प्रवृत्तियाँ फिर बलवती हो गयी थीं। ६०० से १२०० ई० तक भारत बहुत-से छोटे-बड़े राज्यों में विभक्त रहा। मुगलों ने भारत के बहुत बड़े भाग पर अपना शासन स्थापित कर एक बार फिर उसमें राजनीतिक एकता की स्थापना की, और उस राष्ट्रीय एकता के लिये मैदान तैयार कर दिया, जिसका चरमोत्कर्ष ब्रिटिश युग में हुआ।

(२) राजनीतिक एकता की स्थापना के साथ-साथ मुगलों के शासन में इस देश की सांस्कृतिक एकता के विकास में भी बहुत सहायता मिली। मुगल शासन का प्रायः सब कार्य पर्शियन भाषा में होता था। सरकार के साथ सम्बन्ध रखने वाले हिन्दू व मुसलमान सब पर्शियन भाषा का अध्ययन करते थे। साम्राज्य के सब सूबों का शासन एक पद्धति से होता था, और सब जगह बादशाहों की आज्ञाएँ समान रूप से लागू होती थीं। साम्राज्य में शान्ति और व्यवस्था के स्थापित होने के कारण भारत का आन्तरिक व्यापार भी निरन्तर उन्नति कर रहा था, और विविध प्रदेशों के लोगों को व्यापार व तीर्थयात्रा आदि द्वारा एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में आने का अवसर मिलता था। राज्य के कर्मचारियों की बहुधा एक सूबे से दूसरे सूबे में बदली होती रहती थी। सैनिक लोग तो उत्तर से दक्षिण में व दक्षिण से उत्तर में प्रायः आते-जाते ही रहते थे। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ, कि भारत के विविध प्रदेशों के लोगों को एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में आने का अवसर मिलता रहा, और उनमें एकता की अनुभूति उत्पन्न हुई।

(३) एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करने वाले सन्त-महात्माओं और फकीरों ने एकता की अनुभूति में और अधिक सहायता की। दक्षिण के वल्लभाचार्य वृन्दावन में रहकर कृष्ण भक्ति का प्रचार करने में तत्पर हुए, और पंजाब के निवासी सिक्ख गुरु भारत के विविध प्रदेशों में अपनी वाणी को सुनाते हुए परिभ्रमण करने लगे। मुसलिम पीरों और फकीरों का भी सर्वत्र समान रूप से आदर होने लगा। धर्म,

वास्तुकला, चित्रकला, सगीत आदि सब क्षेत्रों में इस युग मे समन्वय और एकता की प्रवृत्तियों को बल मिला।

(४) मुगल बादशाहो का पर्शिया और अन्य मुसलिम देशो से घनिष्ठ सम्पर्क था। इसी कारण बहुत-से विद्वान् व कलावन्त इस युग मे विदेशो से भारत आते रहते थे, और उनके ज्ञान व कला से इस देश को बहुत लाभ पहुँचता था। भारत के सम्पर्क में आकर मुसलिम देशो को इस देश के साहित्य, ज्योतिष, गणित, चिकित्सा-शास्त्र आदि का भी परिचय प्राप्त हुआ, और धीरे-धीरे भारत का यह ज्ञान पश्चिमी एशिया के परे यूरोप तक भी पहुंच गया। विदेशी व्यापार द्वारा भी भारत का विदेशो से सान्निध्य स्थापित हुआ। स्थल-मार्गों द्वारा भारत का अन्य देशों के साथ कितना व्यापार होता था, इसका अनुमान इस बात से किया जा सकता है, कि जहाँगीर के शासनकाल मे अकेले बोलान के दर्रे से १४,००० ऊँट प्रतिवर्ष माल से लदकर भारत से बाहर आया-जाया करते थे। विदेशी व्यापार की इस प्रचुरता के कारण भारत का विदेशों के साथ घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित होने मे बहुत मदद मिली।

(५) हिन्दी भाषा के विकास, इस्लाम और हिन्दू-धर्म मे सामीप्य, वास्तुकला, चित्रकला और संगीत के क्षेत्रों मे मुगल-युग मे जो कार्य हुआ, उसका उल्लेख विशद रूप से पहले किया जा चुका है। निःसन्देह, इन क्षेत्रो मे मुगल-युग की देन बहुत महत्त्वपूर्ण थी।

(६) भारत की वेश-भूषा, रहन-सहन और खान-पान पर भी मुगल-युग का प्रभाव बहुत स्पष्ट है। हिन्दी, बंगला, मराठी आदि भारतीय भाषाओं मे पर्शियन और अरबी भाषाओ के बहुत-से शब्द इस युग मे प्रविष्ट हुए, और धीरे-धीरे वे भारतीय भाषाओ के ही अंग बन गये। पर्शियन लिपि के प्रयोग के कारण भारत मे एक नई लिपि का प्रचलन हुआ, जो धीरे-धीरे उत्तरी भारत की एक प्रधान लिपि बन गयी। हिन्दी को लिखने के लिए भी इस लिपि का प्रयोग शुरू हुआ और इसके कारण हिन्दी की एक पृथक् शैली ही विकसित हो गयी, जिसे 'उर्दू' कहते है। हिन्दुओ के विवाह जैसे पवित्र सस्कार मे भी अब सेहरा और जामा का प्रयोग होने लगा, जो मुसलमानो की देन हैं। भारत की पोशाक मे पायजामा, शेरवानी आदि का प्रवेश हुआ, और हिन्दू लोग भी इन्हे निःसंकोच रूप से प्रयुक्त करने लग गये। मुगल बादशाहो के सब दरबारियो की पोशाक एक-सी होती थी, और राजपूत आदि उच्च पदाधिकारी व मनसबदार भी उसी ढंग की पोशाक पहनते थे, जैसी कि इस युग के मुसलमानों द्वारा धारण की जाती थी। शिवाजी तक की पोशाक मुसलिम अमीर-उमराओ की पोशाक के सदृश थी। आमोद-प्रमोद के तरीकों में भी इस युग में परिवर्तन हुआ। बाज द्वारा पक्षियो का शिकार करना, बटेरें लडाना, ताश खेलना और इसी प्रकार की अन्य अनेक बाते इस काल मे मुगलों द्वारा भारत में प्रविष्ट हुई। हिकमत व यूनानी चिकित्सा-पद्धति भी मुसलमानो द्वारा ही भारत में आयी, और कितने ही हिन्दू भी इसे सीखने के लिए प्रवृत्त हुए। यूनानी चिकित्सा प्राचीन भारतीय आयुर्वेद से अनेक अंशो मे भिन्न हैं। मुगल युग मे इसका भारत मे बहुत प्रचार हुआ। वर्तमान समय की अनेक भारतीय मिठाइयाँ भी इसी काल में भारत में प्रविष्ट हुईं। बालूशाही, कलाकन्द, गुलाब जामन, बरफी

आदि कितनी ही मिठाइयों के नाम विदेशी हैं, और सम्भवतः मुसलिम युग से पूर्व के भारतीय इनसे अपरिचित थे।

इस्लाम और हिन्दू धर्म के सम्पर्क के कारण मुगल-युग में एक ऐसी संस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ, जो विशुद्ध रूप से न हिन्दू थी, और न मुसलमान। भारत की यह नयी संस्कृति हिन्दू और मुसलमान दोनो संस्कृतियों के तत्वों के सान्निध्य व सामंजस्य का परिणाम थी। वास्तुकला, धर्म, भाषा, चिकित्सा, संगीत, वेशभूषा, खानपान आदि सभी क्षेत्रो में हिन्दुओं और मुसलमानों का यह सम्मिश्रण दृष्टिगोचर होता है। भारत के लिये अब न अफगान विदेशी रहे थे, और न मुगल। इस देश मे स्थिर रूप से बस जाने के कारण वे पूर्ण रूप से भारतीय बन गये थे, और उनके धर्म इस्लाम ने भी इस देश मे आकर एक ऐसा रूप धारण कर लिया था, जो अरब और पर्शिया के इस्लाम से बहुत भिन्न था।

अठाईसवां अध्याय

ब्रिटिश आधिपत्य की स्थापना

(१) समुद्र द्वारा यूरोप का भारत से सम्पर्क

पन्द्रहवी सदी तक यूरोप के लोगों को बाहरी दुनिया से बहुत कम परिचय था। उस समय समुद्र मे जो जहाज चलते थे, वे चप्पुओं द्वारा खेये जाते थे। दिग्दर्शक-यन्त्र के अभाव के कारण मल्लाहो के लिये यह सम्भव नही था, कि वे महासमुद्रो मे दूर तक आ-जा सकें। पन्द्रहवी सदी मे इस यन्त्र का यूरोप मे पहले-पहल प्रवेश हुआ। चप्पुओं के साथ अब पाल का भी जहाजो मे प्रयोग होने लगा। पाल से चलने वाले जहाजो के लिये यह सम्भव था, कि दिग्दर्शक यन्त्र की सहायता से अनुकूल वायु होने की दशा में वे महासमुद्र को पार कर सकें।

यूरोप और एशिया के बीच में व्यापार बहुत प्राचीन काल से चला आता था। इन महाद्वीपों के बीच का मुख्य व्यापारिक मार्ग लाल सागर से ईजिप्ट होता हुआ भूमध्यसागर पहुँचता था। एक दूसरा मार्ग पर्शिया की खाड़ी से बगदाद होता हुआ एशिया माइनर के बन्दरगाहो तक जाता था। पहले इन व्यापारिक मार्गों पर अरबों का अधिकार था। अरब लोग सभ्य थे, और व्यापार के महत्त्व को भली-भाँति समझते थे। पर पन्द्रहवी सदी मे तुर्क लोग इन प्रदेशो के स्वामी हो गये, और इस कारण एशिया और यूरोप के मध्यवर्ती व्यापारिक मार्ग रुद्ध होने लगे। सन् १४५३ मे जब तुर्क विजेता मुहम्मद द्वितीय ने कान्स्टेन्टिनोपल को भी जीत लिया, तब तो यूरोप के लिये इन पुराने मार्गों से व्यापार कर सकना अत्यन्त कठिन हो गया।

अब यूरोपियन लोगों को एशिया के साथ व्यापार करने के लिये नये मार्ग ढूँढ निकालने की चिन्ता हुई। इस कार्य में पोर्तुगाल और स्पेन ने विशेष तत्परता प्रदर्शित की। पोर्तुगीज लोगो ने विचार किया, कि अफ्रीका का चक्कर काटकर प्राच्य देशों तक पहुँचा जा सकता है। इसी दृष्टि से अनेक पोर्तुगीज मल्लाहों ने समुद्र-तट के साथ-साथ यात्रा प्रारम्भ की। आखिर, १४९८ में वास्को डी गामा नामक पोर्तुगीज मल्लाह अफ्रीका का चक्कर काटकर एक नवीन मार्ग से पहले-पहल भारत पहुँचने में समर्थ हुआ, और पोर्तुगीज व्यापारियो ने पूर्वी देशों के व्यापार को हस्तगत करने का प्रयत्न प्रारम्भ किया। इस व्यापार द्वारा पोर्तुगीज लोग बहुत समृद्ध हो गये, और उनकी देखादेखी अन्य यूरोपियन राज्य भी इसी सामुद्रिक मार्ग से एशिया आने-जाने लगे। हालैंड, फ्रांस, ब्रिटेन आदि देशों में पूर्वी व्यापार को हस्तगत करने के लिये कम्पनियाँ खडी की गयी। ये कम्पनियाँ, भारत आदि एशियन देशों के बन्दरगाहों में अपनी व्यापारी कोठियाँ कायम करती थी, और अधिक-से-अधिक व्यापार पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का उद्योग करती थी।

सोलहवीं और सत्रहवी सदियों में भारत मे प्रतापी मुगल बादशाहों का शासन था। अत इस काल मे यूरोपियन लोग केवल व्यापार द्वारा ही सन्तुष्ट रहे। पोर्तुगीज लोगो के व्यापार का प्रधान केन्द्र भारत के पश्चिमी समुद्री तट पर स्थित गोआ नगरी थी, जो मुगल बादशाहो के साम्राज्य से बाहर थी। सुदूर दक्षिण मे उस समय किसी एक शक्तिशाली भारतीय राजा का शासन नही था। पोर्तगीज लोगो ने इस स्थिति से लाभ उठाया, और केवल व्यापार से ही सन्तुष्ट न रह कर उन्होने गोआ व उसके समीपवर्ती प्रदेशो पर अपना आधिपत्य भी स्थापित करना शुरू किया। पोर्तुगीजो के अनुकरण मे हालैण्ड, फ्रास और इग्लैण्ड के जिन व्यापारियों ने भारत मे व्यापार के उद्देश्य से आना शुरू किया, वे भी सोलहवी और सत्रहवी सदियो में केवल व्यापार से ही, सन्तुष्ट रहे। औरंगजेब के बाद जब मुगल-साम्राज्य की शक्ति क्षीण हो गयी, और भारत मे अनेक छोटे-बडे राज्य कायम हो गये, तो इन यूरोपियन व्यापारियो ने देश की राजनीतिक दुर्दशा से लाभ उठाया, और व्यापार के साथ-साथ अपनी राजसत्ता भी स्थापित करनी शुरू की। हालैण्ड, फ्रास आदि अन्य देशो के मुकाबले मे अग्रेज लोग भारत मे अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करने मे क्यो और किस प्रकार सफल हुए, इस विषय पर प्रकाश डालने की हमे आवश्यकता नहीं है। उन्नीसवी सदी के मध्य भाग तक प्राय सम्पूर्ण भारत मे अग्रेजो का आधिपत्य स्थापित हो गया था, और इस देश मे जो अनेक राजा व नवाब रह गये थे, वे भी अंग्रेजो की अधीनता स्वीकृत करने लग गये थे। पर भारत की जनता इन विदेशी व विधर्मी शासको से बहुत असन्तुष्ट थी। अंग्रेज शासक अपने शासन को ब्रिटेन की आर्थिक समृद्धि का साधन-मात्र समझते थे। साथ ही, वे भारत की पुरानी परम्पराओ और धार्मिक विश्वासो की जरा भी परवाह नहीं करते थे। इसका परिणाम यह हुआ, कि उनके शासन के विरुद्ध भावना इस देश मे निरन्तर जोर पकडती गयी। १८५७ मे यह भावना एक राज्यक्रान्ति के रूप मे परिवर्तित हो गयी। पर ५७ की यह राज्यक्रान्ति सफल नही हो सकी। अंग्रेज लोग इसे कुचलने मे समर्थ हुए, और भारत मे अग्रेजी शासन की जडे और भी मजबूत हो गयी।

(२) भारतीय इतिहास का आधुनिक युग

अठारहवी सदी के उत्तरार्द्ध मे ससार के इतिहास मे आधुनिक युग का सूत्रपात हुआ। इसका प्रारम्भ यूरोप से हुआ था, जहाँ पहले व्यावसायिक क्रान्ति हुई, और बाद मे राजनीतिक क्रान्ति। अठारहवी सदी के पूर्वार्द्ध मे इगलैण्ड, फ्रास, जर्मनी आदि यूरोपियन देशो का आर्थिक जीवन प्रायः वैसा ही था, जैसा कि दो हजार पहले सिकन्दर व सीजर के जमाने मे था। उस समय यूरोप का किसान लकड़ी के हलों से जमीन जोतता था, खुरपी से उसकी नलाई करता था, और दराती से फसल को काटता था। कारीगर तकुए व चरखे पर सूत कातते थे, और लकडी की खड्डियो पर कपडे की बुनाई करते थे। लुहार लोग पुराने युग के घन और हथौडे से अपना काम करते थे। लकडी की बनी हुई गाडियाँ असबाब ढोने व यात्रा करने के काम आती थी। घोड़े की अपेक्षा तेज चलने वाली किसी सवारी का उस समय के यूरोपियन लोगों को परिज्ञान नही था। समुद्र को पार करने वाले जहाज चप्पुओ और पाल से चलते थे। उस समय

(अठारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध मे) यूरोप का आर्थिक व व्यावसायिक जीवन प्रायः वैसा ही था, जैसा कि भारत, चीन आदि एशियन देशों का था।

इतिहास के नवयुग का सूत्रपात—पर अठारहवी सदी के मध्य भाग और उत्तरार्ध मे इस स्थिति मे परिवर्तन आना शुरू हुआ। नये-नये वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण यूरोप के आर्थिक जीवन मे परिवर्तन आने लगा। इसी को इतिहास में 'व्यावसायिक क्रान्ति' कहा जाता है। इस क्रान्ति का प्रारम्भ अचानक व एकदम नही हो गया। वस्तुतः, यह धीरे-धीरे विकसित हुई। पर इसके कारण मनुष्य के जीवन मे एक मौलिक परिवर्तन आ गया, और एक नई सभ्यता का प्रारम्भ हुआ। व्यावसायिक क्रान्ति का प्रारम्भ इगलैण्ड मे हुआ था। वही से शुरू होकर वह न केवल यूरोप मे, अपितु सारे संसार मे व्याप्त हो गयी है। जिन वैज्ञानिक आविष्कारों ने यूरोप मे व्यावसायिक क्रान्ति का सूत्रपात किया, उन्हे तीन भागों मे बाँटा जा सकता है—(१) ऐसे नवीन यान्त्रिक आविष्कार, जिनसे मानव-श्रम की बचत हो। (२) जल, कोयला, भाप और बिजली यान्त्रिक-शक्ति के काम आ सकते है, इस बात का परिज्ञान। (३) रसायन-शास्त्र की नवीन प्रक्रियाओं का आविष्कार। यहाँ हमारे लिये यह सम्भव नही है, कि हम अठारहवी सदी की इस व्यावसायिक क्रान्ति पर विशद रूप से प्रकाश डाल सके। पर ध्यान देने योग्य बात यह है, कि व्यावसायिक क्रान्ति के कारण मानव-समाज के आर्थिक जीवन मे जो महान् परिवर्तन हुआ, वह आधुनिक युग की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

अठारहवी सदी के अन्तिम भाग (१७८९) मे फ्रास मे राज्य-क्रान्ति हुई। इस राज्य-क्रान्ति से पूर्व यूरोप के प्रायः सभी देशों मे स्वेच्छाचारी व निरंकुश राजाओं का शासन था, जो अपनी इच्छा को ही कानून मानते थे। इगलैण्ड के स्टुअर्ट राजा और फ्रास के बूर्बो वंश के राजा पूर्णतया स्वेच्छाचारी थे, और उनके शासन का स्वरूप प्रायः वही था, जो भारत के मुगल बादशाहो का था। यद्यपि इग्लैण्ड मे सतरहवी सदी के मध्य भाग मे ही राज्य-क्रान्ति के परिणामस्वरूप वैध राजसत्ता का प्रादुर्भाव हो चुका था, पर अठारहवी सदी की ब्रिटिश पार्लियामेट जनता का नाममात्र को ही प्रतिनिधित्व करती थी। जिसे हम लोकतन्त्रवाद कहते है, उसका ब्रिटेन में भी सूत्रपात वस्तुत, अठारहवी सदी के अन्तिम भाग मे और उन्नीसवी सदी के पूर्वार्ध मे ही हुआ था। यूरोप के अन्य देशो से तो स्वेच्छाचारी और निरंकुश शासनों का अन्त उन्नीसवी सदी मे ही हुआ।

जिस प्रकार व्यावसायिक क्रान्ति द्वारा यूरोप के आर्थिक जीवन मे नवयुग का सूत्रपात हुआ, वैसे ही फ्रास की राज्यक्रान्ति ने यूरोप के राजनीतिक जीवन मे एक नए युग का प्रारम्भ किया। फ्रास की राज्य-क्रान्ति द्वारा जो नई प्रवृत्तियाँ प्रारम्भ हुई, वे लोकतन्त्रवाद और राष्ट्रीयता की थी। भाषा, धर्म, रीति-रिवाज, ऐतिहासिक परम्परा आदि की दृष्टि से जो लोग एक हों, उनका अपना पृथक् राज्य होना चाहिए, और इस राज्य में किसी एक राजा या किसी एक कुलीन श्रेणी का शासन न होकर सर्वसाधारण जनता का शासन होना चाहिए, ये विचार ससार के इतिहास में फ्रास की राज्य-क्रान्ति की देन हैं।

व्यावसायिक क्रान्ति और राज्य-क्रान्ति के कारण यूरोप के इतिहास में 'आधुनिक युग' का प्रारम्भ हुआ, पर विचार व वैज्ञानिक आविष्कार किसी एक देश व भू-भाग तक सीमित नही रह सकते । गणित, ज्योतिष, चिकित्सा-शास्त्र आदि के क्षेत्रों मे भारत ने जो आविष्कार किए थे, वे धीरे-धीरे अरब और यूरोप मे फैल गए थे । चीन द्वारा आविष्कृत छापाखाना, कागज, दिग्दर्शक यन्त्र आदि को समयान्तर मे अन्य सब देशों ने अपना लिया था । इसी प्रकार अठारहवी सदी में व्यावसायिक क्रान्ति और राज्यक्रान्ति के कारण जो नई प्रवृतियाँ प्रारम्भ हुईं, वे केवल यूरोप तक ही सीमित नही रह सकी । धीरे-धीरे वे अन्य देशो मे भी फैल गयी, और संसार के प्राय: सभी देशो में उनके कारण आधुनिक युग का सूत्रपात हुआ ।

बारूद का पहले-पहल आविष्कार मंगोल लोगो ने किया था । इस आविष्कार के कारण मगोल लोगो के हाथ मे एक ऐसी शक्ति आ गई थी, जो किसी अन्य जाति व देश के पास नही थी । इसी कारण वे प्रशान्त महासागर से कैस्पियन सागर तक विस्तृत विशाल मगोल साम्राज्य की स्थापना मे समर्थ हुए थे । अठारहवी सदी के नए वैज्ञानिक आविष्कारो के कारण पश्चिमी यूरोप के हाथो मे भी ऐसे साधन आ गए थे, जिनसे कि इंग्लैण्ड, फास, हालैण्ड आदि पाश्चात्य देश एशिया व अफ्रीका के विविध प्रदेशो को अपने आधिपत्य मे लाने मे समर्थ हो गए थे । उन्नीसवी सदी के मध्य भाग तक एशिया के अधिकाश प्रदेश पाश्चात्य देशो के प्रभाव व आधिपत्य मे आ चुके थे । भारत मे ब्रिटिश लोगों का शासन अठारहवी सदी मे ही स्थापित होना शुरू हो गया था, और १७५७ मे प्लासी की लड़ाई के परिणामस्वरूप बंगाल पर अंग्रेजी प्रमुत्व कायम हो गया था । १८५७ तक पूरी एक सदी अग्रेजो को भारत मे अपनी सत्ता स्थापित करने के संघर्ष मे लगानी पडी । उन्नीसवी सदी के मध्य भाग तक भारत मे अग्रेजी राज्य की नीव पर्याप्त रूप से सुदृढ हो गई थी ।

भारत में आधुनिक युग का प्रारम्भ—अग्रेजी शासन के परिणामस्वरूप भारत के इतिहास मे नए युग का प्रारम्भ हुआ, जिसे हमने 'आधुनिक-युग' कहा है । जिस प्रकार व्यावसायिक क्रान्ति और राजनीतिक क्रान्ति के कारण यूरोप में एक ऐसे नए युग का सूत्रपात हुआ था, जिसके परिणामस्वरूप आधुनिक यूरोप मध्यकालीन यूरोप से बहुत भिन्न व बहुत अधिक उन्नत हो गया, उसी प्रकार अंग्रेजी शासन के कारण भारत मे उन सब प्रवृत्तियो (व्यवसायिक क्राति, राजनीतिक जागरण, धार्मिक सुधार आदि) का प्रादुर्भाव हुआ, जो इस देश मे भी नवयुग व आधुनिकता को लाने मे समर्थ हुई । यह नहीं समझना चाहिए, कि अग्रेजी राज्य के अभाव मे ये नई प्रवृत्तियाँ भारत मे प्रादुर्भूत न होती । जापान कभी किसी पाश्चात्य देश के अधीन नही रहा । उन्नीसवी सदी के मध्य भाग में जापान की भी प्राय: वही दशा थी, जो अठारहवी सदी में भारत की थी । पर जब जापानी लोगों ने यह अनुभव कर लिया, कि वे ज्ञान-विज्ञान आदि के क्षेत्र मे पाश्चात्य लोगो से बहुत पीछे रह गए हैं, वे अपनी उन्नति के लिए तत्पर हो गए, और आधी सदी के स्वल्प काल मे ही यूरोपियन लोगों के समकक्ष बन गए । यह ठीक है, कि राजनीतिक दृष्टि से अठारहवी सदी के भारत की दशा जापान से बहुत भिन्न थी । अनेक छोटे-बड़े राज्यो की सत्ता और उनके राजाओ के निरन्तर संघर्ष के कारण इस देश के लिए उन्नति-

पथ पर आरूढ़ होना उतना सुगम नही था जितना कि जापान के लिए था। पर चीन में भी किसी विदेशी राजशक्ति का प्रत्यक्ष शासन स्थापित नही हुआ था, वहाँ की राजनीतिक अवस्था प्रायः वैसी ही थी, जैसी कि ब्रिटिश शासन से पूर्व भारत की थी। फिर भी चीनी लोग आधुनिक युग के ज्ञान-विज्ञान को अपना कर अपनी उन्नति मे समर्थ हुए। ध्यान देने योग्य बात यह है कि ज्ञान-विज्ञान व विचार किसी एक देश व जाति की सम्पत्ति बनकर नहीं रह सकते। वे वायु के समान होते हैं, जो शीघ्र ही सर्वत्र फैल जाते हैं। आधुनिक युग के ज्ञान-विज्ञान का प्रादुर्भाव पश्चिमी यूरोप के देशो मे हुआ था, बाद मे उसे पूर्वी यूरोप के देशो ने अपनाया, और फिर एशिया मे भी वे प्रसारित हो गए। इतिहास का यही क्रम है। यदि भारत पर अंग्रेजी राज्य कायम न भी होता, तो भी इस देश में उन ज्ञान-विज्ञानों का प्रवेश हो जाता, जो इंग्लैण्ड और फ्रांस में प्रादुर्भूत हुए थे, और उनके कारण यहाँ नवयुग व आधुनिकता का भी प्रारम्भ हो जाता। पर हमे यह स्वीकार करना होगा, कि अंग्रेजी शासन की स्थापना के कारण पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान व राजनीतिक प्रवृत्तियो के भारत मे प्रविष्ट होने की प्रक्रिया में सहायता अवश्य मिली। आज जो भारत व्यावसायिक व राजनीतिक क्षेत्र मे अच्छा महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, उसका कारण वे प्रवृत्तियाँ ही हैं, जो अंग्रेजी शासन के समय मे इस देश में बलवती होनी शुरू हो गई थी। अंग्रेज शासकों ने जान-बूझकर इन प्रवृत्तियो का प्रारम्भ किया हो, यह सत्य नही है। अंग्रेजो की आर्थिक नीति यह थी, कि भारत इंग्लैण्ड की आर्थिक समृद्धि का साधनमात्र बनकर रहे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने बंगाल के वस्त्र-व्यवसाय को नष्ट करने का प्रयत्न किया, ताकि इंग्लैण्ड के कारखानो में तैयार हुआ कपडा इस देश मे सुगमता के साथ बिक सके। बीसवी सदी के प्रारम्भ तक अंग्रेजो का यही प्रयत्न था, कि भारत में कल-कारखानों का विकास न होने पाए, और इस देश का आर्थिक जीवन इस ढंग का बना रहे, जिससे कि इंग्लैण्ड के कारखानो के लिए आवश्यक कच्चे माल को सस्ती कीमत पर भारत से प्राप्त करता रहे। पर अंग्रेजो की इस नीति के बावजूद भी यह सम्भव नही था, कि यूरोप की व्यावसायिक क्रान्ति का भारत पर कोई प्रभाव नही पड़ता। इसीलिए उन्नीसवी सदी का अन्त होने से पूर्व ही यहाँ कल-कारखाने स्थापित होने शुरू हो गए, और बीसवी सदी के शुरू के स्वदेशी आन्दोलन ने भारत की व्यावसायिक क्रान्ति को बहुत सहायता पहुँचाई।

ब्रिटिश शासन के कारण भारत में आधुनिक युग के सूत्रपात में सहायता—पर यह निर्विवाद है, कि भारत मे नवयुग या 'आधुनिक-युग' के आरम्भ होने मे ब्रिटिश शासन द्वारा अनेक रूपों में मदद मिली। इसे हम निम्नलिखित प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं—

(१) ब्रिटिश युग में सम्पूर्ण भारत एक शासन की अधीनता मे आ गया। औरंगजेब के बाद मुगल शासन की शक्ति के क्षीण होने पर भारत मे जो बहुत-से छोटे-बड़े राज्य स्थापित हो गए थे, उन सबकी स्वतन्त्र सत्ता का अन्त कर अंग्रेजो ने भारत मे एक केन्द्रीय शक्तिशाली सरकार की स्थापना की। इस कारण भारत मे एक सदी के लगभग समय तक इस ढंग की शान्ति और व्यवस्था कायम रही, जैसी कि शायद मौर्य-युग के बाद कभी नही रही थी।

(२) अंग्रेजी राज्य के समय में भारत पर कोई ऐसे विदेशी आक्रमण नही हुए, जो इस देश की शान्ति और व्यवस्था को भग कर सकते। बीसवी सदी के दो महायुद्धों के अवसर पर भी भारत विदेशी सेनाओ द्वारा आक्रान्त होने से बचा रहा, क्योकि अंग्रेजों द्वारा संगठित भारतीय सेना और ब्रिटेन की सामुद्रिक शक्ति इस देश की रक्षा के लिए जागरूक थी।

(३) सम्पूर्ण भारत मे एक सुव्यवस्थित व सुसंगठित सरकार स्थापित कर अंग्रेजो ने भारत मे वही कार्य किया, जो लुई १४वे जैसे शक्तिशाली राजा ने फ्रांस में, हेनरी आठवें ने इगलैण्ड मे, फिलिप द्वितीय ने स्पेन मे और पीटर ने रूस मे किया था। इन राजाओ से पूर्व फ्रास आदि यूरोपियन देशो मे भी बहुत-से छोटे-छोटे राजाओं व सामन्तो की सत्ता थी, जो निरन्तर युद्धो मे व्यापृत रहते थे। शक्तिशाली केन्द्रीय शासन के अभाव मे राज्य के अन्दर शान्ति व व्यवस्था कायम नही हो पाती थी। फ्रास मे लुई चौदहवें ने विविध सामन्त राजाओ को अपना वशवर्ती बनाया, और एक सुदृढ व शक्तिशाली केन्द्रीय शासन की स्थापना की। भारत मे अकबर सदृश शक्तिशाली मुगल बादशाहों ने भी यही प्रयत्न किया था। यदि औरंगजेब अपनी धार्मिक नीति को परिवर्तित न करता, तो शायद मुगलो द्वारा सम्पूर्ण भारत मे सुदृढ व शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की स्थापना हो जाती, और विदेशी राजशक्तियो के लिए इस देश पर अपना आधिपत्य कायम करना सम्भव न होता। पर औरंगजेब की नीति के कारण अठारहवी सदी मे भारत मे सर्वत्र अव्यवस्था और अराजकता उत्पन्न हो गई थी। इस स्थिति का अन्त कर सम्पूर्ण भारत मे एक सुव्यवस्थित केन्द्रीय सरकार की स्थापना अंग्रेजो का एक ऐसा महत्त्वपूर्ण कार्य था, जिससे इस देश मे नवयुग के सूत्रपात मे बहुत अधिक सहायता मिली।

(४) अंग्रेजी राज्य की स्थापना से भारत में अंग्रेजी भाषा का भी प्रवेश हुआ। अंग्रेजो ने अपनी भाषा को ही सरकारी कार्य के लिए प्रयुक्त किया, और विवश होकर उन भारतीयों को अंग्रेजी भाषा सीखनी पडी, जो राज्यकार्य मे ब्रिटिश सरकार के सहयोगी बने। अंग्रेजी के प्रवेश के कारण उन सब ज्ञान-विज्ञानो व विचारधाराओ का स्रोत भारत के लिए खुल गया, जिनका विकास इस युग मे इगलैण्ड व यूरोप के अन्य देशों मे हो रहा था। इससे न केवल भारत की वैज्ञानिक व व्यावसायिक उन्नति मे सहायता मिली, अपितु राष्ट्रीयता, लोकतन्त्रवाद, समाजवाद आदि के नए विचार भी इस देश मे प्रसारित हुए। ब्रिटिश शासन और अंग्रेजी भाषा के प्रसार के कारण भारत का अन्य देशो के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध भी स्थापित हुआ।

(५) अपने शासन को भारत मे भली-भाँति स्थापित रखने के लिए अंग्रेज भी सैनिक शक्ति पर ही निर्भर करते थे। पर इस सुविशाल देश में शान्ति और व्यवस्था कायम रखने के लिए और विदेशी आक्रमणो से इसकी रक्षा करने के लिए केवल अंग्रेजी सेना ही पर्याप्त नही हो सकती थी। अंग्रेजों ने भारत की विजय भारतीय सैनिको की सहायता से ही की थी। भारत मे भृत सैनिको को प्राप्त कर सकना उनके लिए बहुत सुगम था। इस कारण ब्रिटिश शासन की स्थापना के बाद भी अंग्रेजों ने भारतीय सैनिको को अच्छी बडी संख्या मे अपनी सेना मे भरती किया। धीरे-धीरे भारतीयों की

एक ऐसी सेना तैयार हो गई, जो शस्त्र-सचालन व युद्ध-नीति के सब आधुनिक तरीको से अवगत थी। अंग्रेजों का प्रयत्न था, कि यह सेना देश-भक्ति और राष्ट्रीयता की भावनाओ से दूर रहे। बहुत समय तक वे अपने इस प्रयत्न मे सफल भी हुए। पर भारतीय जनता मे राष्ट्रीय चेतना के प्रादुर्भाव होने के साथ-साथ सेना मे भी देश-भक्ति की भावना उत्पन्न होने लगी, और द्वितीय महायुद्ध (१६३६–४५) तक यह स्थिति आ गई, कि अंग्रेजो के लिए भारत मे अपने आधिपत्य को कायम रखने के कार्य मे भारतीय सैनिकों पर निर्भर रह सकना कठिन हो गया।

ये सब बातें थी, जिन्होंने ब्रिटिश युग में भारत मे 'आधुनिकता' व नवीन युग का सूत्रपात करने में सहायता की। इसी प्रसग मे यह भी ध्यान मे रखना चाहिए, कि भारत मे मध्य-काल का अन्त होकर आधुनिक युग का प्रादुर्भाव पूर्णतया उस ढंग से नही हुआ, जैसा कि यूरोप मे हुआ था। यूरोप मे नवयुग की स्थापना मे निम्नलिखित प्रवृत्तियो ने सहायता पहुँचाई थी —

(१) विद्या का पुन.जागरण (रिनैसाम)—तेरहवी सदी से ही यूरोप मे अनेक ऐसे विचारक उत्पन्न होने शुरू हो गए थे, जो ईसाई चर्च के प्रमाणवाद के विरुद्ध थे, और जो बुद्धि-स्वातन्त्र्य व वैज्ञानिक विधि मे सत्य की खोज के पक्षपाती थे। रोजर बेकन (१२१०–१२६२) सदृश अनेक विचारको ने इस बात पर जोर देना शुरू किया था, कि हमे पुरानी लकीर का फकीर न होकर अपनी बुद्धि से काम लेना चाहिए। सत्य को जानने का यह साधन नही है, कि हम प्राचीन धर्म-ग्रन्थों को कठस्थ करें, व उनके शब्दार्थ पर बहस करते रहे। इसके लिए हमे अपने दिमाग को प्रमाणवाद से मुक्त कर वैज्ञानिक परीक्षणो के लिए तत्पर होना चाहिए। बुद्धि-स्वातन्त्र्य के इसी आन्दोलन के परिणाम-स्वरूप यूरोप के अनेक विचारक परीक्षणो द्वारा सत्य की खोज के लिए प्रवृत्त हुए। कोपर्निकस (१४७३-१५४३) और गैलेलियो (१५६४-१६४२) जैसे व्यक्तियो ने परीक्षणो द्वारा अनेक ऐसे मन्तव्यो का खण्डन किया, जो ईसाई धर्म-ग्रन्थों पर आश्रित थे। ईसाई चर्च ने इन स्वतन्त्र विचारको को कडे से कडे दण्ड दिए, पर इन सब अत्याचारो के बावजूद भी यूरोप मे बुद्धि-स्वातन्त्र्य और वैज्ञानिक खोज की प्रवृत्ति रुकी नही, और धीरे-धीरे यूरोप के लोगो ने उन वैज्ञानिक तथ्यो का पता कर लिया, जिनके कारण संसार में नवयुग का प्रारम्भ हुआ।

(२) पन्द्रहवी सदी मे यूरोप मे धार्मिक सुधारणा (रिफर्मेशन) का आन्दोलन शुरू हुआ, जिसके कारण ईसाई चर्च का आधिपत्य बहुत कुछ शिथिल हो गया, और ईसाई धर्म में अनेक ऐसे सम्प्रदाय उत्पन्न हुए, जिनमें नवचेतना और अनुपम स्फूर्ति थी।

(३) बुद्धि-स्वातन्त्र्य और वैज्ञानिक खोज की प्रवृत्तियो के कारण अठारहवी सदी में व्यावसायिक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ, जिसने यूरोप के आर्थिक व सामाजिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन किये।

(४) इंगलिश राज्यक्रान्ति (सत्रहवीं सदी) और फ्रास की राज्यक्रान्ति (अठारहवीं सदी) ने यूरोप मे लोकतन्त्रवाद और राष्ट्रीयता की प्रवृत्तियों को जन्म दिया, जिनके कारण सर्वसाधारण जनता को सामाजिक जीवन और राजनीति मे समुचित स्थान प्राप्त करने का सुअवसर मिला।

भारत के इतिहास में नवयुग का सूत्रपात होने में न इतना समय लगा, और न ये सब प्रवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न कालो मे ही प्रगट हुई। अग्रेजो के आधिपत्य के कारण अकस्मात् ही भारत का सम्पर्क एक ऐसे देश के साथ हो गया, जो ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र मे ससार का शिरोमणि था, और जो व्यावसायिक उन्नति और लोकतन्त्र शासन मे अन्य देशों का अग्रणी था। इसीलिये विद्या के पुनर्जागरण और धार्मिक सुधारणा से पूर्व ही यहाँ यातायात के साधनो मे उन्नति प्रारम्भ हो गयी। १८५३ मे भारत मे रेलवे का प्रयोग शुरू हो गया, और नई व पक्की सडको के निर्माण द्वारा स्थल मार्गों में बहुत उन्नति हुई। नई-नई नहरें निकालकर जमीन की सिंचाई प्रारम्भ की गयी, जो कृषि की उन्नति मे सहायक हुई। रेलवे, पोस्ट-आफिस, तार आदि के प्रयोग से भारत के आर्थिक जीवन में परिवर्तन आने लगा, और बाद मे वस्त्र, लोहा, कोयला, जूट आदि के कारखानों द्वारा व्यावसायिक क्रान्ति के चिह्न भी इस देश मे प्रकट होने लगे।

अग्रेजी शिक्षा के प्रवेश के कारण भारतीयो ने अनुभव किया, कि हम लोग ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र मे पाश्चात्य देशो की तुलना मे बहुत पीछे रह गये हैं। इस अनुभव ने दो प्रवृत्तियों को जन्म दिया—कुछ विचारक यह सोचने लगे, कि पाश्चात्य देशो ने परीक्षणो द्वारा जिन तथ्यो का पता किया है, वे प्राचीन भारतीयो को ज्ञात थे। सूर्य स्थिर है, पृथ्वी उसके चारो ओर घूमती है, विविध नक्षत्र, तारा, ग्रह आदि गुरुत्वाकर्षण के कारण ही अपनी-अपनी जगह पर स्थित है—ये सब वैज्ञानिक तथ्य वेद-शास्त्रो मे प्रतिपादित है। अतः यूरोप के नये ज्ञान-विज्ञान को सीखना किसी नये तथ्य को अवगत करना नही है, अपितु विस्मृत व उपेक्षित सत्यों की ओर फिर अपने ध्यान को आकृष्ट करना है। अन्य विचारको ने सोचा, कि हमे अपनी सब शक्ति को पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान को अवगत करने मे ही लगाना चाहिये। पुराने शास्त्रो को कण्ठस्थ करने व उनके अनुशीलन मे ही अपने जीवन को व्यतीत कर देने से कोई विशेष लाभ नही है। दोनो प्रकार के विचारको के चिन्तन का परिणाम एक सदृश ही हुआ। भारत मे नये ज्ञान-विज्ञान को सीखने की प्रवृत्ति बल पकडने लगी, और प्रमाणवाद का अन्त होकर बुद्धि-स्वातन्त्र्य की ओर लोगो का ध्यान आकृष्ट हुआ। भारत के विविध धर्मों व सम्प्रदायो मे सुधार की प्रवृत्ति भी इस समय शुरू हुई, और ब्रह्म-समाज, आर्य-समाज आदि के रूप मे अनेक ऐसे नये धार्मिक आन्दोलनों का प्रादुर्भाव हुआ, जिनका उद्देश्य धर्म के क्षेत्र मे सुधार करना था। इन नये धार्मिक आन्दोलनो के कारण भारत की पुरानी सामाजिक रूढियो व परम्पराओ मे भारी परिवर्तन हुआ, और पुराने सिद्धान्तो व मन्तव्यो की इस ढग से व्याख्या प्रारम्भ हुई, जो नवयुग की विचारधारा के अनुकूल है। भारत एक राष्ट्र है, उसका अपना स्वतन्त्र राज्य होना चाहिये, और इस राज्य का शासन लोकतन्त्रवाद के अनुसार होना चाहिये, ये विचार भी इस युग में विकसित हुए, और इनके परिणामस्वरूप ब्रिटिश शासन का अन्त कर स्वराज्य की स्थापना के लिये आन्दोलन शुरू हुआ। महात्मा गाधी जैसे नेताओं के नेतृत्व मे सर्वसाधारण जनता मे स्वराज्य की भावना ने इतना प्रबल रूप धारण कर लिया, कि अग्रेजों के लिये भारत पर शासन कर सकना कठिन सम्भव नही रहा, और १९४७ में भारत ब्रिटिश शासन से स्वतन्त्र हो गया।

उनतीसवाँ अध्याय

भारत का नव-जागरण

(१) नवीन शिक्षा

भारतीय इतिहास के ब्रिटिश युग की एक मुख्य विशेषता यह है, कि इस काल मे देश मे नव-जागरण का प्रारम्भ हुआ। संसार के प्राय: सभी देशों में मध्यकाल 'अन्धकार का युग' था, जिसमे मानव-समाज विविध प्रकार की रूढ़ियों मे फंसा हुआ था, और मनुष्य सत्यासत्य का निर्णय करते हुए अपनी बुद्धि का प्रयोग न कर शास्त्रीय प्रमाणवाद पर निर्भर रहता था। ब्रिटिश युग से पूर्व भारत में भी यही दशा थी। इस दशा का अन्त कर नवयुग का प्रारम्भ करने मे वह नवीन शिक्षा बहुत सहायक हुई, जिसका सूत्रपात ब्रिटिश शासन द्वारा ही भारत मे हुआ था।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा शिक्षा के प्रयत्न—अठारहवीं सदी के मध्य भाग में जब बगाल पर अग्रेजो का आधिपत्य स्थापित हुआ, तो वहाँ शिक्षा के प्रधान केन्द्र वे मदरसे और पाठशालाएं थी, जिनका संचालन धर्म-संस्थाओ द्वारा होता था। इनमें मुख्यतया अरबी, फारसी और संस्कृत की शिक्षा दी जाती थी। गणित, इतिहास, भूगोल आदि आधुनिक विषयो के पठन-पाठन की उनमे कोई भी व्यवस्था नही थी। पुराने धर्मशास्त्रो और प्राचीन भाषाओ के ग्रंथो मे जो कुछ ज्ञान उपलब्ध था, विद्यार्थी केवल उसे ही प्राप्त कर सकते थे। शुरू-शुरू मे जब बंगाल पर अग्रेजों का शासन स्थापित हुआ, तो उन्होने भी नवीन शिक्षा-पद्धति पर कोई ध्यान नही दिया। अग्रेज लोग समझते थे कि भारतीयों के लिए वही शिक्षा-पद्धति उपयुक्त है, जो परम्परागत रूप से इस देश मे चली आ रही है। अरबी, फारसी व संस्कृत के अध्ययन से ही इस देश के लोगो का काम चल सकता है, उन्हें नये ज्ञान-विज्ञान को सीखने की कोई आवश्यकता नही हैं। अठारहवी सदी मे इंगलैंड मे भी शिक्षा का कार्य प्रधानता ईसाई चर्च के ही हाथो में था और आक्सफोर्ड व कैम्ब्रिज सदृश विश्वविद्यालयो मे भी ग्रीक और लैटिन के अध्ययन को ही अधिक महत्त्व दिया जाता था। इसलिए १७८१ में वारेन हेस्टिग्स ने कलकत्ता में जिस मदरसे की स्थापना की, उसमे अरबी और फारसी के उच्चतम अध्ययन का प्रबन्ध किया गया। १७८४ मे सर विलियम जोन्स ने 'एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल' का संगठन किया, जिसका उद्देश्य भारत के प्राचीन ज्ञान का अनुशीलन था। १७९२ मे जोनाथन डंकन द्वारा काशी में संस्कृत कालेज कायम किया गया। ये तीनों संस्थाएं प्राचीन ज्ञान के अनुशीलन के लिए ही स्थापित की गई थी। अठारहवी सदी के अन्त तक भारत के ब्रिटिश शासकों ने इस बात पर कोई ध्यान नही दिया, कि सर्व-साधारण जनता को शिक्षित करने और यूरोप में प्रादुर्भूत हुए नवीन ज्ञान से भारतीयो को परिचित कराने के सम्बन्ध में भी सरकार का कोई कर्तव्य है।

ईसाई मिशनरियों के शिक्षणालय—यद्यपि ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारी नवीन शिक्षा के सम्बन्ध मे सर्वथा उदासीन थे, पर ईसाई पादरियो का ध्यान इस की ओर आकृष्ट हुआ। उनका ख्याल था, कि भारत मे ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए अंग्रेजी शिक्षा बहुत सहायक सिद्ध हो सकती है। इसीलिए अठारहवी सदी के उत्तरार्ध मे उन्होंने मद्रास प्रान्त मे अनेक शिक्षा-संस्थाओ का प्रारम्भ किया। १७९२ मे विलियम कैरो नाम का पादरी कलकत्ता आया, और उसके प्रयत्न से बंगाल मे अनेक स्कूल स्थापित हुए। वहाँ अंग्रेजी भाषा की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध था, और उनमे पढने वाले विद्यार्थी अंग्रेजी के साथ-साथ गणित, इतिहास, भूगोल, भौतिक विज्ञान आदि आधुनिक विषयो की शिक्षा भी प्राप्त कर सकते थे। विलियम कैरी के प्रयत्न से पहले-पहल बंगाली भाषा मे बाइबल का अनुवाद हुआ, और बंगाल की इस लोकभाषा मे गद्य-साहित्य का निर्माण प्रारम्भ हुआ।

हिन्दू कालिज की स्थापना—ईसाई पादरियो के अनुकरण मे अनेक विचार-शील व देशभक्त भारतीयों का ध्यान भी नवीन शिक्षा की ओर आकृष्ट हुआ, और राजा राममोहन राय व उनके साथियों के प्रयत्न से कलकत्ता मे हिन्दू कालिज की स्थापना हुई। यही कालिज आगे चलकर 'प्रेसीडेन्सी कालिज' के नाम से विख्यात हुआ।

सरकारी शिक्षा का प्रारम्भ—ईसाई पादरियो और राजा राममोहन राय सदृश भारतीयो के प्रयत्न से भारत मे नवीन शिक्षा के लिये जो रुचि उत्पन्न हो रही थी, सरकार उसकी उपेक्षा नही कर सकती थी। अंग्रेजी शासको ने भी शिक्षा के प्रश्न पर विचार किया। पर भारत मे शिक्षा का क्या स्वरूप हो, इस विषय पर अंग्रेज विचारको मे मतभेद था। बहुसख्यक अंग्रेजो का यह विचार था, कि भारत के लिये संस्कृत, अरबी व फारसी की शिक्षा ही अधिक उपयुक्त है, और सरकार को उसी के लिए अपनी शक्ति का उपयोग करना चाहिए। पर मैकाले सदृश अनेक विचारक यह प्रतिपादित करते थे, कि शासन कार्य की सुविधा के लिए यह आवश्यक है, कि कुछ भारतीय अंग्रेजी भाषा एव अंग्रेजो की विचारसरणी से भी भली-भाँति परिचित हों। इस विशाल देश मे शासन का कार्य चलाने के लिए बहुत-से भारतीय कर्मचारियो का सहयोग भी आवश्यक होगा, और ये तभी अपना कार्य भली-भाँति कर सकेंगे जबकि अंग्रेजी भाषा व इगलिश संस्थाओं से ये भली-भाँति परिचित होंगे। शुरू में पहला मत अधिक प्रबल रहा, और इसी कारण उन्नीसवी सदी के प्रथम चरण तक सरकार की ओर से शिक्षा-सम्बन्धी जो भी प्रयत्न हुए, उन सबका उद्देश्य भारत को प्राचीन भाषाओ और उनके साहित्य का अध्ययन ही था। पर बाद मे जब ब्रिटिश शासन अधिक विस्तृत हो गया, तो आवश्यकता से विवश होकर सरकार की ओर से अनेक ऐसी शिक्षा-संस्थाएँ भी स्थापित की गई, जिनमे अंग्रेजी भाषा के साथ-साथ आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा की भी व्यवस्था थी। १८५७ में कलकत्ता यूनिवर्सिटी की स्थापना की गई, जो ब्रिटिश युग की प्रथम भारतीय यूनिवर्सिटी थी। १८५७ और १८८७ के बीच के तीस वर्षो मे बम्बई, मद्रास, लाहौर और इलाहाबाद मे चार नई यूनिवर्सिटियाँ कायम हुई, जिनमे इग्लैण्ड की विविध यूनिवर्सिटियों मे दी जाने वाली शिक्षा को दृष्टि में रखकर अध्ययन-अध्यापन का प्रबन्ध किया गया। साथ ही, बहुत से

स्कूल व कालिज भी इस काल में स्थापित किये गए, जिनके द्वारा भारतीयो को नवीन ढग की शिक्षा प्राप्त करने का सुवर्णीय अवसर प्राप्त हुआ।

इस प्रसग मे यह भी ध्यान मे रखना चाहिए, कि अग्रेजो द्वारा शुरू की गई इस नवीन शिक्षा का लाभ मुख्यतया मध्य श्रेणी ने ही उठाया, क्योंकि इससे उन्हें अपने जीवन की उन्नति का अवसर प्राप्त होता था। अग्रेज शासको को सरकार का संचालन करने के लिए ऐसे कर्मचारियों की आवश्यकता थी, जो उनकी भाषा को समझते हों, और छोटे राजकीय पदो को सम्भालकर उनके आदेशो को क्रिया मे परिणत करने की सामर्थ्य रखते हों। अग्रेजी शिक्षा-प्राप्त कोई भी नवयुवक इस समय सुगमता से नौकरी प्राप्त कर सकता था। लोग इस नई शिक्षा का यही लाभ समझते थे, कि इसे प्राप्त कर उन्हे अपने योगक्षेम का साधन प्राप्त हो जायगा। मैकाले सदृश अग्रेज शिक्षा-विज्ञ भारतीयो को शिक्षा देने का यही प्रयोजन समझते थे।

वे भारत मे ऐसे शिक्षित लोगों की एक नई श्रेणी उत्पन्न करने के लिए उत्सुक थे, जो रग मे तो काले हो, पर भाषा, विचार, मानसिक चिन्तन, वेश-भूषा व रहन-सहन की दृष्टि से अग्रेजों के सदृश हो। इसमे उन्हे सफलता भी प्राप्त हुई और शुरू-शुरू मे जिन भारतीयो ने अग्रेजी शिक्षा प्राप्त की, वे अग्रेजी बोलने, अग्रेजो की तरह रहने और अपने विदेशी शासको का सब प्रकार से अनुकरण करने मे गौरव अनुभव करने लगे। कुलीन वर्ग के वे लोग, जो ब्रिटिश शासन की स्थापना से पूर्व राजशक्ति के प्रयोग मे हाथ बटाते थे, अग्रेजी शिक्षा को अच्छी निगाह से नही देखते थे। इसलिए उन्होंने इन नई शिक्षा-सस्थाओ से लाभ उठाने का प्रयत्न नहीं किया। धार्मिक सकीर्णता व कट्टरता के कारण मुसलमानो को भी इस नई शिक्षा के प्रति कोई रुचि नही थी। परिणाम यह हुआ, कि भारतीय जनता के ये वर्ग अग्रेजी शिक्षा के लाभो से वचित रह गये।

नवीन शिक्षा का विकास—ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने शिक्षा के विषय मे लार्ड मेकाले के मत को स्वीकार कर लिया था, अतः १८३५ ई० के बाद भारत मे अग्रेजी शिक्षा का तेजी के साथ विकास प्रारम्भ हुआ। १८३५-३६ मे सरकार की ओर से २३ सरकारी स्कूल खोले गये, जिनमे अग्रेजी भाषा की शिक्षा को प्रधान स्थान दिया गया था, और शिक्षा का माध्यम भी अग्रेजी को ही रखा गया था। १८४२ मे ऐसे स्कूलो की सख्या ५१ हो गई, और १८५५ मे ११५१। १८५७ मे कलकत्ता मे भारत के पहले अग्रेजी विश्वविद्यालय की स्थापना हुई, और इस वर्ष का अन्त होने से पूर्व ही मद्रास और बम्बई मे भी विश्वविद्यालय स्थापित हुए। १८८७ तक भारत मे पाँच विश्वविद्यालय स्थापित हो चुके थे, और देश मे अग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियो की सख्या २५ लाख से भी अधिक हो गई थी। स्कूल विभाग की शिक्षा को सुसगठित करने के लिए सरकार द्वारा समय-समय पर अनेक कमीशनो की नियुक्ति की गई, जिन्होने प्रारम्भिक शिक्षा के विस्तार पर विशेष रूप से जोर दिया। १८७२ ई० में नियुक्त किये गये हण्टर कमीशन ने यह सिफारिश की, कि प्रारम्भिक शिक्षा के प्रसार पर विशेष ध्यान देना चाहिए, और अग्रेजी शिक्षा के साथ-साथ भारतीय भाषाओ

की उन्नति का भी यत्न किया जाना चाहिए। जो लोग अपने व्यक्तिगत प्रयत्न से नई शिक्षा-सस्थाएँ खोलें, उन्हे सरकार की ओर से उदारतापूर्वक आर्थिक सहायता देने की सिफारिश भी हण्टर कमीशन द्वारा की गई। १९१० ई० में केन्द्रीय भारत सरकार के अधीन एक पृथक् शिक्षा विभाग खोला गया, जिसके द्वारा भारत मे शिक्षा प्रसार के लिए बहुत उपयोगी कार्य हुआ। प्रथम महायुद्ध (१९१४-१९) के बाद जब भारत के विविध प्रान्तो मे प्रान्तीय स्वशासन की आशिक रूप से स्थापना की गई, तो शिक्षा का विषय उन मन्त्रियो के हाथों मे दिया गया, जो जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी थे। इन मंत्रियो ने शिक्षा के प्रसार पर विशेष ध्यान दिया। इसी कारण १९१७ से १९२२ तक के पाँच वर्षों मे भारत मे विश्वविद्यालयों की सख्या ५ से बढकर १४ हो गई, और पटना (१९१७), वाराणसी, (१९१७) हैदराबाद, (१९१८) लखनऊ, (१९२०), अलीगढ (१९२०), दिल्ली (१९२२) आदि मे अनेक विश्वविद्यालय स्थापित हुए। शिक्षा प्रसार के साथ-साथ भारत मे कालिजो और विश्वविद्यालयो की सख्या मे भी निरन्तर वृद्धि होती गई। १९५२ ई० तक भारत मे कुल मिलाकर ३० विश्वविद्यालय स्थापित हो चुके थे, और उनसे सम्बद्ध कालिजों की सख्या तो सैकडो मे थी।

उच्च शिक्षा के साथ-साथ माध्यमिक और प्रारम्भिक शिक्षा के प्रसार पर भी सरकार ने ध्यान दिया। इसके लिए सब प्रान्तो मे पृथक्-पृथक् शिक्षा-विभागो का सगठन किया गया, और प्राय. सब बड़े नगरो मे हाई स्कूलों और इन्टरमीडिएट कालिजो की स्थापना हुई। प्रारम्भिक स्कूल तो प्रायः सभी नगरो, कस्बो और बडे गाँवो मे कायम किये गये। इन शिक्षणालयो मे शिक्षा का क्या ढग हो, कौन-कौन से विषय पढाये जाएँ, और इन पर सरकारी नियंत्रण का क्या स्वरूप हो—इन प्रश्नो पर विचार करने के लिए केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारो ने समय-समय पर अनेक कमीशनो और कमेटियो की नियुक्ति की, जिनकी सिफारिशो के अनुसार शिक्षा पद्धति में अनेक महत्त्वपूर्ण सुधार भी किए गये।

भारत में नवीन शिक्षा के प्रसार का प्रयत्न केवल ब्रिटिश सरकार द्वारा ही नही हुआ। सुशिक्षित भारतीय जनता का ध्यान भी शिक्षा की समस्या की ओर गया, और विविध धार्मिक सम्प्रदायो तथा समाजो ने अपनी-अपनी शिक्षा-संस्थाएँ खोलकर शिक्षा-प्रसार के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया। यूरोप के ईसाई पादरी भारत मे अपने धर्म के प्रचार के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील थे। शिक्षणालयो को वे धर्म प्रचार का महत्त्व-पूर्ण साधन समझते थे। इसीलिए अठारहवी सदी मे भी ईसाई पादरियो ने भारत में अनेक विद्यालयो की स्थापना की थी। उन्नीसवीं सदी में इन ईसाई शिक्षा-संस्थाओं की संख्या मे बहुत अधिक वृद्धि हुई, और भारत के प्रायः सभी बडे नगरो मे ईसाइयों द्वारा कालिज और स्कूल कायम किए गए। इन शिक्षणालयो मे शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थी जहाँ अंग्रेजी भाषा, पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान और नवीन विचारों से परिचय प्राप्त कर लेते थे, वहाँ साथ ही ईसाई धर्म के प्रभाव से भी वे वचित नही रहते थे। अनेक देशभक्त भारतीयो ने अपने देश मे ईसाई धर्म के इस बढ़ते हुए प्रभाव को हानि-कारक समझा, और उन्होंने ऐसे शिक्षणालयो की स्थापना पर ध्यान दिया, जिनमे नवीन

शिक्षा के साथ-साथ भारतीय धर्मों और संस्कृति का वातावरण हो। राजा राममोहन राय ने इसी उद्देश्य से १८१६ ईस्वी मे हिन्दू कालिज की स्थापना की थी। उन्नीसवी सदी मे भारत मे जो नए धार्मिक आन्दोलन चले, उन सबने शिक्षा के प्रसार की ओर ध्यान दिया। इसी कारण आर्य समाज ने दयानन्द ऐंग्लो-वैदिक कालिजो और आर्य विद्यालयो की स्थापना शुरू की, और सनातनधर्म सभा आदि हिन्दू सस्थाओ द्वारा अनेक सनातन धर्म कालिजो व हिन्दू कालिजो को कायम किया गया। अलीगढ का ऐंग्लो-ओरियण्टल कालिज भी इसी प्रवृत्ति का परिणाम था। भारत के इतिहास मे उन्नीसवी सदी नवजागरण की सदी थी। हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, जैन आदि सभी धर्मो मे इस काल मे नई चेतना उत्पन्न हो रही थी। इसी कारण इन सब धार्मिक सम्प्रदायों की ओर से बहुत-से कालिज व स्कूल इस युग मे स्थापित किए गए, जिनमे नए ज्ञान-विज्ञानो की शिक्षा के साथ-साथ अपने धार्मिक वातावरणो को उत्पन्न करने का प्रयत्न भी किया जाता था। भारत मे नवीन शिक्षा के विकास पर विचार करते हुए यह बात ध्यान मे रखने योग्य है, कि शिक्षा के लिए जितना प्रयत्न सरकार द्वारा किया गया, उससे कही अधिक प्रयत्न उन विविध धार्मिक व सामाजिक संस्थाओं द्वारा हुआ, जिनकी स्थापना भारत मे नई जागृति उत्पन्न करने के उद्देश्य से की गई थी। बहुत से धनी व सम्पन्न लोगो ने भी शिक्षणालय कायम करके अपने धन का सदुपयोग किया, और उनके प्रयत्न से भारत मे नवीन शिक्षा के विकास में बहुत अधिक सहायता मिली।

इन सब बातो का यह परिणाम हुआ, कि भारत में शिक्षा के क्षेत्र मे एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण क्रान्ति का सूत्रपात हुआ। देश के युवक पुराने ढग की सस्कृत, फारसी व अरबी की शिक्षा की अपेक्षा अंग्रेजी भाषा और नए ज्ञान-विज्ञानों को अधिक महत्त्व देने लगे, और उनके विचारो मे क्रान्तिकारी परिवर्तन आना शुरू हुआ।

अंग्रेजी शिक्षा के विरुद्ध प्रतिक्रिया—यद्यपि भारत में अंग्रेजी शिक्षा का तेजी के साथ विकास हो रहा था, पर ऐसे विचारकों की भी कमी नही थी, जो नई शिक्षा को देश के लिए हानिकारक समझते थे। उन्हे नए ज्ञान-विज्ञान से कोई विरोध नही था। पर वे यह पसन्द नहीं करते थे, कि भारतीय बालको को अंग्रेजी भाषा के माध्यम से शिक्षा दी जाए। उनका विचार था कि अंग्रेजी भाषा और साहित्य के अध्ययन पर अधिक जोर देने के कारण भारतीय युवको मे हीनता की भावना उत्पन्न होती है, वे अपने देश की संस्कृति को तुच्छ समझने लगते है, और पाश्चात्य संस्कृति को अपनाने में गौरव अनुभव करने लगते है। यह बात धर्म और राष्ट्रीयता दोनों के लिए विघातक है। इसी लिए उन्नीसवी सदी के अन्तिम वर्षों मे महात्मा मुशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) द्वारा गुरुकुल कांगडी की स्थापना की गई, जिसमे जहाँ संस्कृत और वैदिक साहित्य के अध्ययन को प्रमुख स्थान दिया गया, वहाँ साथ ही हिन्दी भाषा के माध्यम द्वारा नए ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा की भी व्यवस्था की गई। बीसवी सदी के प्रारम्भिक वर्षों में श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर ने बोलपुर मे 'शान्ति निकेतन' की स्थापना की, जो १९२१ ई० मे विश्वभारती यूनिवर्सिटी के रूप में परिवर्तित हो गया। टैगोर द्वारा स्थापित यह शिक्षा-संस्था भी गुरुकुल कागडी के समान भारतीय संस्कृति का प्रसिद्ध केन्द्र है, और उच्च शिक्षा भी वहाँ बंगाली भाषा में दी जाती है। शान्तिनिकेतन और गुरुकुल के अनुकरण मे अनेक

अन्य 'राष्ट्रीय' शिक्षणालय बीसवी सदी के प्रथम चरण मे कायम हुए, जिन्होने अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम स्वीकार करने से इन्कार किया।

महात्मा गाधी के नेतृत्व में जब १६२१ ई० मे असहयोग आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ, तो सरकारी शिक्षणालयो का बहिष्कार भी राष्ट्रीय कार्यक्रम मे सम्मिलित किया गया। इस समय भारत मे काशी विद्यापीठ, जामिया मिल्लिया, बिहार विद्यापीठ, तिलक विद्यापीठ, नेशनल कालिज लाहौर आदि अनेक शिक्षा-संस्थाएँ कायम हुई, जिनमे भारतीय भाषाओं के माध्यम द्वारा उच्च शिक्षा की व्यवस्था की गई। ये सब संस्थाएँ उस प्रतिक्रिया का परिणाम थी, जो अंग्रेजी शिक्षा के विरुद्ध भारत मे प्रारम्भ हुई थी।

धीरे-धीरे इस तथ्य को भारत के शिक्षाशास्त्रियों ने स्वीकार कर लिया, कि अंग्रेजी के माध्यम द्वारा शिक्षा देना जहाँ राष्ट्रीय दृष्टि से हानिकारक है, वहाँ विद्यार्थियो के मानसिक विकास मे भी इसके कारण बाधा पहुँचती है। पहले हाई स्कूलो मे शिक्षा का माध्यम भारतीय भाषाओं को स्वीकार किया गया, और अब वह समय भी आ चुका है, जबकि कालिजो मे भी शिक्षा और परीक्षा के लिए भारतीय भाषाओं को माध्यम रूप से स्वीकार कर लिया गया है। इसके कारण जहाँ नवीन शिक्षा का एक बहुत बडा दोष आशिक रूप से दूर हो गया है, वहाँ सर्वसाधारण जनता मे शिक्षा के प्रसार मे भी इससे बहुत सहायता मिल रही है।

नवीन शिक्षा के परिणाम—(१) अंग्रेज शासकों ने भारत में नई शिक्षा का सूत्रपात चाहे किसी भी उद्देश्य से किया हो, पर यह सम्भव नही था कि अंग्रेजी साहित्य के विचारों का भारतीयों पर कोई प्रभाव न पडता। उन्नीसवी सदी के मध्य भाग तक इंग्लैण्ड मे लोकतन्त्रवाद और जन-साधारण के अधिकारो के आन्दोलन अच्छा प्रबल रूप धारण कर चुके थे। १८३२ के सुधार कानून (रिफार्म एक्ट) द्वारा इंग्लैण्ड मे वोट के अधिकार को अधिक विस्तृत करने का प्रयत्न किया गया। १८३८ में इग्लैण्ड मे दास प्रथा का अन्त करने के लिए कानून बनाया गया। १८३८ मे इंग्लैण्ड मे चार्टिस्ट आन्दोलन ने जोर पकडा, और जनता लोकतन्त्रवाद की स्थापना के लिए उतावली हो उठी। १७८६ और १८३० मे फ्रास को केन्द्र बनाकर राज्यक्रान्ति की जो लहरे यूरोप में प्रादुर्भूत हुई थी, इग्लैण्ड की जनता और अंग्रेजी साहित्य को उसने प्रभावित किया, और अंग्रेजी भाषा में इस प्रकार के साहित्य की रचना शुरू हुई, जो स्वतन्त्रता और लोकतन्त्रवाद की भावनाओं से अनुप्राणित था। अंग्रेजी भाषा द्वारा इस साहित्य का भी भारत मे प्रवेश हुआ, और इस देश के अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग अपने देश की सामाजिक व राजनीतिक दुर्दशा को अनुभव करने लगे। उन्नीसवी सदी के उत्तरार्द्ध मे जब भारत में अनेक विश्वविद्यालय कायम हुए, तो उनमें शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थी जहाँ आधुनिक युग के ज्ञान-विज्ञान से परिचय प्राप्त करने में समर्थ हुए, वहाँ साथ ही उन्हें उन विचार-धाराओं का भी ज्ञान हुआ, जो इस युग में इंग्लैण्ड व यूरोप के अन्य देशों मे विकसित हो रही थी। भारत को ब्रिटिश शासन की अधीनता से मुक्त होकर स्वतन्त्र होना चाहिए, और इस देश में भी लोकतन्त्र शासन की स्थापना होनी चाहिए, इस विचार के विकास में नई शिक्षा द्वारा बहुत सहायता मिली।

इतिहास, भूगोल, गणित, रसायनशास्त्र, भौतिक विज्ञान, साहित्य आदि आधुनिक विषयों का ज्ञान प्राप्त कर लेने के कारण भारत में एक ऐसे शिक्षित वर्ग का विकास हुआ, जिसके लोग जहाँ एक तरफ सरकारी नौकरी प्राप्त कर अपने वैयक्तिक उत्कर्ष के लिए उत्सुक थे, वहाँ साथ ही जो यह भी अनुभव करते थे, कि भारत को भी इग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी आदि पाश्चात्य देशों के समान उन्नति-पथ पर आरूढ होना चाहिए। अपने देश की सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक दुर्दशा को ये तीव्रता के साथ अनुभव करते थे, और इस बात के लिए उत्सुक थे, कि भारत में भी नवयुग का सूत्रपात हो, और भारतीयों का कार्य केवल अंग्रेजी सरकार-रूपी यंत्र का पुर्जा बनकर रहना ही न रहे, अपितु अपने देश के शासन-सूत्र के संचालन में भी उनका हाथ हो।

(२) नवीन शिक्षा का एक अन्य महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि भारत की जनता को अपनी धार्मिक और सामाजिक दुर्दशा का बोध हुआ। हिन्दू धर्म बहुत पुराना है। छठी सदी ईस्वी-पूर्व में बुद्ध, महावीर आदि ने उसमें सुधार करने का प्रयत्न किया था, और धार्मिक सुधारणा के एक नवीन आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ था। मुसलमानों का शासन स्थापित होने पर पन्द्रहवीं और सोलहवीं सदियों में भी भारत में अनेक ऐसे सन्त महात्मा उत्पन्न हुए थे, जिन्होंने कि इस देश के पुराने धर्म में सुधार कर जनता में नवजीवन का सचार करने का प्रयत्न किया था। यही प्रक्रिया अब उन्नीसवीं सदी में भी हुई, जबकि नवीन शिक्षा के कारण राजा राममोहन राय, महादेव गोविन्द रानाडे आदि सुधारकों ने हिन्दू समाज की कुरीतियों का अनुभव कर उसमें सुधार का प्रयत्न किया। स्वामी दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस आदि ऐसे सुधारक भी इस काल में उत्पन्न हुए, जिन्होंने कि हिन्दू-धर्म के वास्तविक व उत्कृष्ट रूप को जनता के सम्मुख रखकर उसमें नई चेतना व जागृति पैदा करने की कोशिश की।

(३) भारत की भौतिक और आर्थिक उन्नति में भी नवीन शिक्षा ने बहुत सहायता पहुँचाई। ब्रिटिश सरकार द्वारा जिस नवीन शिक्षा का सूत्रपात किया गया था, उसमें औद्योगिक और शिल्प सम्बन्धी शिक्षा, कृषि तथा वन सम्बन्धी शिक्षा और चिकित्साशास्त्र को भी समुचित स्थान दिया गया था। १९४७ ईस्वी तक भारत में इंजीनियरिंग और टेकनोलोजी की शिक्षा देने वाले ५०६ स्कूल और १७ कालिज स्थापित हो गए थे, और मनुष्यों व पशुओं की चिकित्सा की शिक्षा देने वाले २६ कालिज और २० स्कूल इस काल तक भारत में स्थापित कर दिए गये थे। कृषि तथा वन सम्बन्धी शिक्षा देने वाले कालिजों की संख्या भी १५ तक पहुँच गई थी। इनके कारण हजारों की सख्या में ऐसे सुशिक्षित व्यक्ति तैयार हो गए थे, जो देश की भौतिक उन्नति व लोक-कल्याण सम्बन्धी कार्यों को करने के लिए उपयुक्त योग्यता रखते थे।

(४) नवीन शिक्षा द्वारा जहाँ इतने लाभ हुए, वहाँ उससे कुछ हानियाँ भी हुईं। भारतीयों में मानसिक गुलामी को विकसित करने में इस शिक्षा द्वारा बहुत सहायता मिली। पराधीन जाति के लोग स्वाभाविक रूप से अपने शासकों के सम्मुख अपने को हीन समझने की प्रवृत्ति रखते हैं। यदि उन्हें शिक्षा भी ऐसी दी जाए, जो उनमें हीन भावना को विकसित करे, तब तो उनमें राष्ट्रीय व जातीय गौरव का स्वाभाविक रूप में ह्रास होने लगता है। ब्रिटिश सरकार द्वारा जिस ढंग की शिक्षा-

प्रणाली का भारत में प्रारम्भ किया गया था, उसमें अंग्रेजी भाषा और साहित्य का प्रमुख स्थान था। भारतीय भाषाओं की उसमें उपेक्षा की जाती थी। शिक्षा का माध्यम भी अंग्रेजी को ही रखा गया था। इन शिक्षणालयों मे पढने वाले विद्यार्थी अंग्रेजी भाषा की योग्यता को ही विद्वत्ता का मानदण्ड समझते थे, और पाश्चात्य संस्कृति को अपनाने मे गौरव अनुभव करते थे। अंग्रेजी रहन सहन, आचार विचार और आदर्शों का उनकी दृष्टि मे बहुत अधिक महत्त्व था। यह प्रवृत्ति भारत की अपनी संस्कृति और राष्ट्रीयता के लिए बहुत हानिकारक सिद्ध हुई।

(५) पर नवीन शिक्षा ने बहुत-से देशभक्त भारतीयो का ध्यान अपने देश के लुप्त गौरव की ओर भी आकृष्ट किया। ब्रिटिश सरकार द्वारा स्थापित शिक्षणालयों में संस्कृत भाषा और प्राचीन साहित्य के अध्ययन को भी स्थान दिया गया था। संस्कृत का अध्ययन-अध्यापन पुराने ढंग के पंडितो द्वारा भी जारी था, पर वैज्ञानिक विधि से उसका अनुशीलन नवीन यूनिवर्सिटियो द्वारा ही शुरू किया गया। नए ढंग से प्राचीन साहित्य और दर्शन का अध्ययन कर अनेक युवकों में अपने देश की प्राचीन विचारधारा के प्रति श्रद्धा का भाव उत्पन्न हुआ, और वे भारतीय संस्कृति व आदर्शों को पुनरुज्जीवित करने के लिए प्रवृत्त हुए। भारत के प्राचीन इतिहास की शोध को भी नई यूनिवर्सिटियो में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया था। इस कारण भारत के लुप्त इतिहास का जनता को ज्ञान हुआ, और वह अपने अतीत गौरव से प्रेरणा तथा उत्साह प्राप्त कर देश की दशा को सुधारने के लिए प्रवृत्त हुई।

(६) स्त्री शिक्षा के प्रचार मे भी नवीन शिक्षा बहुत सहायक हुई। चिरकाल तक मुसलिम शासन के अधीन रहने के कारण भारत मे स्त्रियों की सामाजिक स्थिति बहुत हीन हो गई थी। ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत मे जिस नवीन शिक्षा का सूत्रपात किया गया, उसमें स्त्रियों की शिक्षा पर भी ध्यान दिया गया था। शिक्षा प्राप्त करके स्त्रियों को अपनी दुर्दशा का अनुभव हुआ, और ऐसे अनेक सामाजिक सुधार-सम्बन्धी आन्दोलनो का प्रादुर्भाव हुआ, जिनका उद्देश्य बालविवाह और परदे की प्रथा का विरोध करना, विधवा विवाह का समर्थन करना और स्त्रियो को पुरुषों के बराबर अधिकार व स्थिति प्रदान करना था।

(२) धार्मिक सुधार के आन्दोलन

समाज और धर्म के क्षेत्र मे सुधार के जो विविध आन्दोलन उन्नीसवी सदी में भारत मे शुरू हुए, वे सब नवीन शिक्षा के ही परिणाम नही थे। इसमें सन्देह नही, कि अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य साहित्य को पढकर अनेक सुधारकों ने ऐसे आन्दोलनो का भी सूत्रपात किया, जिनका उद्देश्य भारत के समाज व धर्म में आमूलचूल परिवर्तन करना था। पर साथ ही आर्य समाज सदृश अनेक ऐसे आन्दोलन भी इस युग मे शुरू हुए, जो हिन्दू-धर्म की बुराइयो व कुरीतियो को दूर कर सच्चे व सनातन धर्म की स्थापना के लिए प्रयत्नशील थे। हम इस प्रकरण मे इन दोनों प्रकार के सुधार आन्दोलनो पर अत्यन्त संक्षेप के साथ प्रकाश डालने का यत्न करेंगे।

ब्राह्म समाज—१८२८ ई० में राजा राजमोहन राय ने 'ब्राह्म-समाज' नाम से एक नई संस्था की स्थापना की, जिसमें वे सब लोग सम्मिलित हो सकते थे, जो ईश्वर मे विश्वास रखते हों और मूर्ति पूजा के विरोधी हो। इस सभा के लिए कलकत्ता मे एक भवन का निर्माण किया गया, जिसका स्वामित्व ट्रस्टियों की एक समिति के सुपुर्द किया गया था। १८३० में इस भवन के सेल डीड (विक्रय-पत्र) का निर्माण करते हुए राजा राममोहन राय ने लिखा था, कि नसल, जाति व धर्म का भेदभाव रखे बिना सब प्रकार के लोग इस भवन मे आ कर एक ईश्वर की उपासना कर सकते हैं, और इस उपासना के लिए किसी प्रतिमा, मूर्ति व कर्मकाण्ड का प्रयोग नही किया जाएगा। १८२८ मे स्थापित हुई इस ब्राह्म सभा से ही ब्राह्म समाज का उद्‌भव माना जाता है, और बहुतो का यह विश्वास है कि राजा राममोहन राय ही इस समाज के आदि-संस्थापक थे। पर वस्तुत ब्राह्म समाज की स्थापना उनकी मृत्यु के बाद हुई थी। राजा राममोहन राय अन्तिम क्षण तक अपने को हिन्दू मानते थे, यज्ञोपवीत धारण करते थे, और उनके द्वारा स्थापित ब्राह्म सभा मे वेद मन्त्रों द्वारा ही ईश्वर की उपासना की जाती थी।

ब्राह्म समाज के वास्तविक सस्थापक श्री देवेन्द्रनाथ टैगोर (रवीन्द्रनाथ टैगोर के पिता) थे। वे १८४३ मे ब्राह्म-आन्दोलन मे शामिल हुए, और उनके प्रयत्न से इस आन्दोलन ने एक पृथक् समाज व सम्प्रदाय का रूप धारण कर लिया। उन्होने 'तत्त्व-बोधिनी पत्रिका' नाम से एक नवीन पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया, और 'महा-निर्वाणतत्र' के आधार पर एक नई दीक्षा-विधि का निर्माण किया, जिसके अनुसार ब्राह्म समाज के सदस्यो को दीक्षा दी जानी शुरू की गई। पर देवेन्द्रनाथ टैगोर वेदो में विश्वास रखते थे, और उन्ही को सब धर्मों का आदि स्रोत मानते थे। कुछ समय बाद ब्राह्म समाज मे अनेक ऐमे व्यक्ति प्रविष्ट हुए, जो वेदो की प्रामाणिकता के स्थान पर बुद्धि और तर्क को अधिक महत्त्व देने के पक्षपाती थे। इनके नेता श्री अक्षयकुमार दत्त थे। दत्त महोदय और उनके साथी वेदो की अपौरुषेयता में सन्देह प्रकट करते थे, और पाश्चात्य विचार-सरणी के अनुसार सामाजिक सुधार के आन्दोलन को चलाना चाहते थे। इन लोगों के कारण धीरे-धीरे ब्राह्म-समाज हिन्दू धर्म व समाज से दूर हटने लगा, और उसमे एक पृथक् सम्प्रदाय के रूप मे परिवर्तित हो जाने की प्रवृत्ति का प्रारम्भ हुआ। सन् १८५७ में श्री केशवचन्द्र सेन ब्राह्म-समाज मे सम्मिलित हुए, और उनके कारण इस नए सम्प्रदाय मे नवीन स्फूर्ति और उत्साह का सचार हुआ। केशवचन्द्र की प्रेरणा से बहुत-से ऐसे लोग ब्राह्म-समाज मे शामिल हुए, जिन्होंने कि सासारिक उत्कर्ष व सुख को लात मार कर अपने समाज के सिद्धान्तो के प्रचार मे ही अपने जीवन को लगा देने का सकल्प कर लिया था। इन उत्साही लोगो के प्रयत्न का यह परिणाम हुआ, कि सन् १८६५ मे भारत के विविध प्रदेशों मे ब्राह्म समाज की ५५ शाखाएँ स्थापित हो गई, जिनमे से पचास बगाल मे, दो उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त में, एक पंजाब में और एक मद्रास मे थी। केशव चन्द्र सेन के नेतृत्व में ब्राह्म समाज ने बहुत उन्नति की, पर कुछ समय बाद देवेन्द्र नाथ टैगोर से उनका मतभेद हो गया। केशव-चन्द्र सेन और उनके साथी अन्तर्जातीय विवाह और विधवा-विवाह के पक्षपाती थे,

और उनका प्रचार करना अपना कर्त्तव्य समझते थे। उनका यह भी कहना था कि यज्ञोपवीत धारण करने वाले पुराने ढग के ब्राह्मण पण्डितो को ब्राह्म-समाज की वेदी से उपदेश देने का अवसर नही मिलना चाहिए। ये लोग 'आधुनिकता' के पक्षपाती थे, और ब्राह्म-समाज को एक नवीन ढग का धार्मिक सम्प्रदाय बना देने के लिए प्रयत्नशील थे। देवेन्द्रनाथ टैगोर इस बात से सहमत नही हुए। वे ब्राह्म-समाज को हिन्दू धर्म का ही एक अग बनाए रखना चाहते थे।

केशवचन्द्र सेन और देवेन्द्र नाथ टैगोर के मतभेद ने इतना उग्र रूप धारण किया, कि ब्राह्म समाज दो दलो मे विभक्त हो गया। देवेन्द्र नाथ के अनुयायियो से पृथक् होकर दूसरे दल ने अपना पृथक् सगठन बना लिया। केशवचन्द्र सेन इसके प्रधान नेता थे। उनके नेतृत्व मे ब्राह्म समाज ने असाधारण उन्नति की, और देवेन्द्रनाथ टैगोर का 'आदि ब्राह्म समाज' पीछे रह गया। बहुसख्यक ब्राह्म सामाजियो ने केशवचन्द्र सेन का साथ दिया। यद्यपि केशवचन्द्र और उनके अनुयायी 'आधुनिकता' के पक्षपाती थे, पर वे अपने मज्जातन्तुगत सस्कारो से ऊपर नहीं उठ सके। बाद में चैतन्य द्वारा प्रचारित भक्ति धारा के प्रवाह मे बहकर उन्होने भी सकीर्तन को महत्त्व देना शुरू किया, और ब्राह्म लोग केशवचन्द्र सेन की उसी ढग से पूजा करने लगे, जैसे कि मध्य-युग मे सन्त गुरुओ की पूजा होती थी। प्रगतिशील ब्राह्म समाजियो को यह बात पसन्द नही आई। उन्होने आन्दोलन करना शुरू किया, कि ब्राह्म समाज के नियमो को स्पष्ट रूप मे निर्धारित करना और उसके सिद्धातो व मन्तव्यो का स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करना अनिवार्य है। इसके बिना समाज में ऐसे तत्त्व प्रविष्ट हुए बिना नही रहेगे, जो ब्राह्म आन्दोलन के मूल सिद्धान्तो के विपरीत हो। साथ ही, प्रगतिशील ब्राह्म-समाजियो ने अनेक ऐसी बातें भी कहनी शुरू की, जो केशवचन्द्र सेन को स्वीकार्य नही थी। वे कहते थे, स्त्रियों को भी उसी ढग की उच्च शिक्षा प्राप्त करने का अवसर होना चाहिए जैसी कि पुरुष प्राप्त करते हैं। स्त्रियो और पुरुषो को स्वतन्त्र रूप से मिलने का अवसर मिलना चाहिए, और परदा प्रथा का पूर्ण रूप से अन्त कर देना चाहिए। १८७८ ई० मे केशवचन्द्र सेन ने चौदह वर्ष की आयु की अपनी कन्या का विवाह कूचबिहार के महाराजा के साथ कर दिया। ये महाराज कट्टर सनातनी थे। ब्राह्म-समाजियो को अपने नेता की यह बात बिल्कुल भी पसन्द नहीं आई। वे उनके विरुद्ध उठ खडे हुए, और प्रगतिशील ब्राह्म-समाजियो ने 'साधारण ब्राह्मसमाज' नाम से एक पृथक् संगठन बना लिया।

साधारण ब्राह्म समाज ने आगे चलकर बहुत उन्नति की। इसके अनुयायी सामाजिक सुधार पर बहुत बल देते थे। वे बाल-विवाह के विरोधी थे, विधवा-विवाह का समर्थन करते थे, परदे को हटाकर स्त्रियो को उच्च शिक्षा देना परम आवश्यक समझते थे, और बहु-विवाह को मानव समाज के लिए अत्यन्त हानिकारक मानते थे। सब धर्मो के प्रति सम्मान की भावना रखते हुए वे विविध धर्मों के धर्म-ग्रन्थों को पढ़ना उपयोगी समझते थे, और इस प्रकार विश्वबन्धुत्व की भावना को प्रोत्साहित करते थे। विविध जातियो में विवाह सम्बन्ध स्थापित करना और खान-पान विषयक संकीर्ण विचारो का विरोध करना भी वे अपना कर्त्तव्य समझते थे। इसमे सन्देह नही, कि

साधारण ब्राह्म समाज के आन्दोलन ने बंगाल में हिन्दू-धर्म की पुरानी रूढ़ियों व कुरीतियो को दूर करने के लिए बहुत उपयोगी कार्य किया। ईसाई व मुसलमानो को अपने समाज मे शामिल करने मे यद्यपि उन्हें सफलता नही हुई, पर हिन्दू समाज में उन्होंने एक ऐसा वर्ग अवश्य उत्पन्न कर दिया, जो पुरानी रूढियों का विरोध करके एक उन्नत प्रकार का सामाजिक जीवन बिताने का पक्षपाती था। शुरू में बंगाल के सनातनी हिन्दुओं ने ब्राह्म समाज का बहुत विरोध किया। वे इस समाज के सदस्यों को विधर्मी व विजातीय समझने लगे। पर धीरे-धीरे उनकी मनोवृत्ति में अन्तर आने लगा। शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ अन्य हिन्दुओ ने भी अनुभव किया, कि बाल विवाह बुरी बात है, और स्त्री शिक्षा व विधवा विवाह सामाजिक उन्नति के लिए उपयोगी हैं। उन्नीसवी सदी के उत्तरार्द्ध मे ब्राह्म समाज के मन्तव्य बहुत क्रान्तिकारी माने जाते थे। पर बीसवी सदी मे हिन्दू धर्म के प्राय: सभी प्रगतिशील लोग उनका समर्थन करने लगे। इसका परिणाम यह हुआ, कि सुशिक्षित हिन्दुओ और ब्राह्म सामाजियो मे भेद कम होता गया। ब्राह्म-समाज के आन्दोलन से हिन्दू-धर्म मे सुधार की प्रक्रिया को बहुत बल मिला। ब्राह्म लोग मूर्तिपूजा के विरोधी थे, विविध देवी-देवताओ की पूजा का विरोध कर वे एक ईश्वर की उपासना का प्रचार करते थे। हिन्दू-धर्म ईश्वर मे विश्वास रखता है, पर साथ ही यह मानता है, कि विविध देवी-देवता सर्वशक्तिमान् भगवान् की विविध शक्तियो के प्रतीक है। यह विश्वास हिन्दू-धर्म मे इतना बद्धमूल है, कि ब्राह्म आन्दोलन इसमें शिथिलता नही ला सका। बगाल के हिन्दू आज स्त्री-शिक्षा के पक्षपाती है, बाल विवाह के विरोधी है, सामाजिक सुधार के सम्बन्ध मे वे ब्राह्मो के अनेक मन्तव्यो को स्वीकार कर चुके हैं, पर विविध देवी-देवताओ के रूप मे भगवान की पूजा करने की बात का वे त्याग नहीं कर सके।

प्रार्थना-समाज—राजा राममोहनराय ने धर्म और समाज मे सुधार का जो आन्दोलन शुरू किया था, उसका प्रभाव महाराष्ट्र पर भी पडा। इसी आन्दोलन से प्रभावित होकर १८५६ ई० मे महाराष्ट्र मे 'परमहंस-सभा' की स्थापना हुई। पर इस सभा को अपने कार्य मे विशेष सफलता नही मिली। केशवचन्द्र सेन के नेतृत्व में जब ब्राह्म आन्दोलन ने जोर पकडा, तो उससे प्रभावित होकर १८६७ ई० में महाराष्ट्र मे एक नई सस्था की स्थापना की गई, जिसे 'प्रार्थना समाज' कहते है। महाराष्ट्र के लोगों को हिन्दू-धर्म के प्रति प्रगाढ अनुराग था। नामदेव, ज्ञानदेव, तुकाराम, रामदास आदि सन्तो ने वहाँ की जनता मे हिन्दू-धर्म के प्रति श्रद्धा की भावना को बहुत बढा दिया था। इस कारण वे ब्राह्म समाज जैसी संस्था के अनुयायी नही बन सकते थे, क्योकि इस समाज के लोग अपने को हिन्दू समाज से पृथक् समझते थे। पर महाराष्ट्र के लोग यह अनुभव करते थे, कि हिन्दू-धर्म मे अनेक सुधार आवश्यक है। अछूतोद्धार, जाति-भेद का विरोध, अन्तर्जातीय विवाह और खानपान, स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह आदि को वे हिन्दू-जाति की उन्नति के लिए उपयोगी समझते थे। हिन्दू-धर्म के सिद्धान्तों के विषय मे किसी प्रकार का परिवर्तन करने व उनमें संशोधन करने की आवश्यकता प्रार्थना समाज के सदस्यों को अनुभव नही होती थी। उनका ध्यान हिन्दुओं की सामाजिक कुरीतियों को दूर करने पर ही केन्द्रित था। इसीलिए उन्होने अनेक अनाथालयो,

विधवाश्रमों और कन्या-पाठशालाओं की स्थापना की, और अछूतों की दशा को सुधारने के लिए एक 'दलितोद्धार मिशन' कायम किया। महाराष्ट्र व उसके समीप के प्रदेशों मे प्रार्थना समाज ने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया, और उसके प्रयत्न से हिन्दू जाति की सामाजिक दशा के सुधरने मे बहुत सहायता मिली। इस समाज के प्रधान नेता महादेव गोविन्द रानाडे थे, जो ब्रिटिश सरकार की सेवा में न्यायाधीश (जस्टिस) के पद पर नियुक्त थे। जस्टिस रानाडे के समाज-सुधार-सम्बन्धी विचार बहुत सुलझे हुए थे। उनका मन्तव्य था, कि सामाजिक सुधार के उत्साह मे हमें यह नही भूल जाना चाहिए, कि मनुष्य और समाज का अपने भूतकाल के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। पुरानी परम्पराओं को एकदम तोड सकना मनुष्य के लिए सम्भव नही होता। अतः सुधारक का यह कर्त्तव्य है, कि वह मानव-समाज के भूतकाल को दृष्टि मे रखते हुए और उसके मज्जातन्तुगत संस्कारो तथा पुरानी प्रथाओ का आदर करते हुए ही उनमे परिष्कार का प्रयत्न करे।

आर्य-समाज—प्राचीन हिन्दू-धर्म मे नवजीवन का सचार करने और हिन्दू जाति की सामाजिक दशा मे सुधार करने के लिए उन्नीसवी सदी मे जिन विविध आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ, उनमें आर्य समाज का स्थान सबसे अधिक महत्त्व का है। जो कार्य बंगाल मे राजा राममोहन राय (१७७२–१८३३) ने किया, वही उत्तरी भारत में स्वामी दयानन्द (१८२४–१८८३) ने किया। दयानन्द काठियावाड के एक ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न हुए थे। बुद्ध और वर्धमान महावीर के समान उन्हे भी युवावस्था में ही सासारिक जीवन से वैराग्य हो गया था, और वे घर बार का परित्याग कर सत्य की खोज मे निकल पडे थे। ईश्वर का क्या स्वरूप है, हिन्दू धर्म का वास्तविक रूप क्या है, और ईश्वर के ज्ञान व मोक्ष की प्राप्ति का क्या साधन है—इन बातो की जिज्ञासा को लेकर उन्होने भारत मे दूर-दूर तक भ्रमण किया, बहुत-से साधु-महात्माओ व विद्वानो का सत्सग किया और अनेक प्रकार से तपस्या की। भारत-भ्रमण मे जनता की वास्तविक दशा को देखते हुए और वेदादि प्राचीन धर्मग्रन्थो का अनुशीलन करते हुए उन्होने अनुभव किया, कि हिन्दू धर्म का जो रूप उन्नीसवी सदी के मध्य भाग मे विद्यमान था, वह प्राचीन आर्य धर्म से बहुत भिन्न था। दयानन्द अंग्रेजी भाषा से सर्वथा अपरिचित थे। न वे ईसाई मिशनरियों के सम्पर्क में आए थे, और न ही उन्हे पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन का अवसर मिला था। केवल वेद शास्त्रो का अनुशीलन कर वे इस परिणाम पर पहुँचे, कि बाल विवाह सर्वथा अनुचित है, विशेष परिस्थितियो में विधवा विवाह शास्त्र-सम्मत है, और समाज में ऊँच-नीच का भेद-भाव आर्यधर्म के विपरीत है। जातिभेद उस वर्ण-व्यवस्था का विकृत रूप है, जिसमे कि गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार मानव-समाज को चार भागों मे विभक्त किया गया था, और प्रत्येक मनुष्य को यह अवसर था कि वह अपनी योग्यता और गुणो के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्ण प्राप्त कर सके। स्त्रियो को पुरुषो के समान ही शिक्षा दी जानी चाहिए। छूत और अछूत का भेद धर्म-विरुद्ध है, प्राचीन आर्य समुद्र को पार कर दूर-दूर तक यात्रा किया करते थे, और अब भी भारतीयों को अपने संकीर्ण विचारों का परित्याग कर देश-विदेश की यात्रा करनी चाहिए। ईश्वर एक है, और सबको उस एक ईश्वर

की ही उपासना करनी चाहिए । मूर्त्ति पूजा वेदों मे विहित नही है, और निराकार ईश्वर की प्रतिमा बनाई ही नही जा सकती । ईश्वर मानव रूप धारण कर कभी अवतार नही लेता, राम और कृष्ण सदृश अवतार माने जाने वाले व्यक्ति वस्तुतः महापुरुष थे, जिनका हमे उचित आदर तो करना चाहिए, पर उन्हे ईश्वर का अवतार नही मानना चाहिए । मृत्यु के बाद जीवात्मा पुनः जन्म ग्रहण करता है, अतः श्राद्ध द्वारा उसे जल या भोजन पहुँचाने का प्रयत्न करना सर्वथा निरर्थक है । मन्दिरों मे मूर्ति पर अर्घ्य चढ़ाना ईश्वर की पूजा का समुचित साधन नहीं है; इसके लिए मनुष्यों को ईश्वर की उपासना करनी चाहिए और दैवी गुणों को अपने अन्दर लाने का प्रयत्न करना चाहिए । हिन्दू-धर्म विषयक दयानन्द के ये विचार सचमुच क्रान्तिकारी थे । इनके प्रतिपादन के लिए उन्होने अनेक ग्रन्थ लिखे, जिनमें 'सत्यार्थ-प्रकाश' मुख्य है । वेदो की शिक्षा को सर्वसाधारण जनता तक पहुँचाने के लिए उन्होने वैदिक संहिताओ का हिन्दी भाषा में अनुवाद किया । भारतीय इतिहास मे यह पहला अवसर था, जब कि किसी विद्वान् ने 'अपौरुषेय' और 'अखिल धर्म मूल' वेदो का लोक-भाषा मे अनुवाद करने का उपक्रम किया था । दयानन्द की मातृभाषा गुजराती थी, पर उन्होने अपनी पुस्तके हिन्दी में लिखी, क्योकि वे समझते थे कि हिन्दी-भाषा द्वारा ही वे अपने विचारो को उत्तरी भारत की सर्वसाधारण जनता तक पहुचा सकते है । दयानन्द पहले लेखक थे, जिन्होने हिन्दी में बडे-बडे ग्रन्थो की रचना की । अपने विचारो व सिद्धान्तो का प्रचार करने के लिए उन्होने 'आर्यसमाज' की स्थापना की, जिसकी शाखाए शीघ्र ही भारत के प्रायः सभी प्रधान नगरो मे कायम हो गयी । दयानन्द ने हिन्दू धर्म की बुराइयो को दूर कर केवल सुधार का ही प्रयत्न नही किया, अपितु यह भी प्रतिपादित किया कि अन्य धर्मों के अनुयायी भी आर्य समाज में प्रवेश कर हिन्दू-जाति के अंग बन सकते है । प्राचीन समय मे हिन्दू धर्म मे वह पावनी शक्ति विद्यमान थी, जिसके कारण वह यवन, शक, हूण आदि विदेशी व विधर्मी जातियों को आत्मसात् कर सका था । इस्लाम के प्रवेश के बाद हिन्दू-धर्म मे इतनी सकीर्णता आ गई, कि हिन्दू लोग किसी विधर्मी को अपने अन्दर लीन नहीं कर मकते थे । साधारण प्रकार की धार्मिक व सामाजिक मर्यादाओ का अतिक्रमण करने के कारण हिन्दुओं को धर्मभ्रष्ट मान लिया जाता था । मुसलमान व ईसाई इस स्थिति से लाभ उठा रहे थे, और बहुत-से हिन्दू हर साल अन्य धर्मो मे दीक्षित होने के लिए विवश होते थे । दयानन्द ने कहा, कि प्रत्येक मनुष्य को आर्य समाज मे प्रविष्ट होने का अवसर है । कोई भी मनुष्य 'शुद्धि' द्वारा हिन्दू बन सकता है । किसी समय वेदों का धर्म सारे संसार में प्रचलित था, और आर्य समाज को यह यत्न करना चाहिए, कि एक बार फिर वैदिक धर्म का देश देशान्तर व द्वीप-द्वीपान्तर मे प्रचार हो जाए । निःसन्देह, दयानन्द के ये विचार एकदम क्रान्तिकारी और मौलिक थे ।

दयानन्द केवल वेदो के अगाध विद्वान् और सुधारक ही नही थे । भारत की राजनैतिक दुर्दशा का भी उन्होने तीव्रता के साथ अनुभव किया । उन्होने अपने अनुयायियो का ध्यान भारत के उस लुप्त गौरव की ओर आकृष्ट किया, जब कि इस देश के चक्रवर्ती सम्राट् भारत से बाहर के प्रदेशो को भी अपनी अधीनता मे ले आने के लिए प्रयत्नशील रहते थे, और जब भारत को 'जगद्गुरु' की स्थिति प्राप्त थी । उन्होंने

कहा, आपसी फूट के कारण ही भारत का प्राचीन गौरव नष्ट हो गया, और यह देश पहले मुसलमानों द्वारा आक्रान्त हुआ, और बाद मे अंग्रेजों के द्वारा। विदेशी शासन का अन्त कर भारत को 'स्वराज्य' के लिए प्रयत्न करना चाहिए, यह आवाज पहले-पहल दयानन्द ने ही उठाई। उन्होने यह सिद्धान्त भी प्रतिपादित किया, कि 'सुशासन' कभी 'स्वशासन' का स्थान नही ले सकता। विदेशी राज चाहे कितना ही उत्कृष्ट व सुशासित क्यो न हो, स्वराज्य उसकी अपेक्षा अच्छा है। पाश्चात्य विचारसरणी व पाश्चात्य भाषाओ से पूर्णतया अपरिचित होते हुए भी दयानन्द ने जो इस ढग के विचार जनता के सम्मुख रखे, उन्हे पढकर आश्चर्य-चकित हुए बिना नही रहा जाता। गरीबी और अमीरी की समस्या को हल करने के लिए भी दयानन्द ने सर्वथा मौलिक विचारो का प्रतिपादन किया। उन्होने लिखा, कि यह जाति-नियम और राजनियम होना चाहिए, कि सात वर्ष की आयु होने पर सब बच्चो को शिक्षणालयो मे भेज दिया जाय, ताकि सबको योग्यता-प्राप्ति का समान रूप से अवसर मिल सके। शिक्षणालयो मे राजा और रक सबकी सन्तान को एक सदृश भोजन, शय्या, वस्त्र व शिक्षा मिलनी चाहिए, और शिक्षा की समाप्ति पर सबको योग्यता के अनुरूप कार्य दिया जाना चाहिए। निःसन्देह, दयानन्द एक मौलिक विचारक थे, और उन्होने प्राचीन वेदशास्त्रो के आधार पर हिन्दू-धर्म का एक ऐसा स्वरूप जनता के सम्मुख उपस्थित किया, जिसके कारण हिन्दू-धर्म क्रियात्मक क्षेत्र मे भी ससार के उन्नत धर्मो की समकक्षता मे आ गया।

दयानन्द की शिक्षाओ का प्रसार करने के लिए आर्यसमाज ने जहाँ बहुत-से भजनोपदेशको और धर्म प्रचारको को नियत किया, वहाँ बहुत-से विद्यालयो, कालेजो, अनाथालयो, विधवाश्रमो, चिकित्सालयो और आश्रमो की भी स्थापना की। ईसाई चर्च के प्रसार-कार्य को दृष्टि मे रखकर आर्य-समाज ने उपदेशक-मण्डलियाँ तैयार की, जो विविध नगरो और ग्रामो मे घूम-घूम कर जनता को वैदिक धर्म का सन्देश देती थी, सामाजिक कुरीतियो के विरुद्ध प्रचार करती थी, और विधर्मी लोगो को आर्य-समाजी व हिन्दू बनाने के लिए प्रयत्नशील रहती थी। स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र मे आर्य-समाज ने अनुपम कार्य किया। आर्य-समाज के प्रायः सभी मन्दिरो के साथ पुत्री-पाठशालाओ की स्थापना की गयी। अछूतोद्धार आर्यसमाज का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य था। अछूत जातियो के कितने ही व्यक्ति आर्यसमाज के सम्पर्क मे आकर 'पडित' व 'ठाकुर' बन गये। पहाडो के मेघ और शिल्पकार आर्यसमाज द्वारा 'महाशय' बना दिए गए, और वे यज्ञोपवीत धारण कर यज्ञ-हवन करने मे तत्पर हो गये।

वैदिक साहित्य के अध्ययन-अध्यापन के लिए आर्य-समाज ने गुरुकुलों की स्थापना की, जिनमे निःशुल्क शिक्षा पद्धति का आश्रय लिया गया, और सब 'ब्रह्मचारियो' को एक समान वस्त्र, भोजन व शय्या देने की व्यवस्था की गयी। गुरुकुलों द्वारा भारत के प्राचीन ज्ञान के अनुशीलन मे बहुत सहायता मिली, और इनमें पढे हुए विद्यार्थी वेदशास्त्रो की नये रूप मे व्याख्या करने मे समर्थ हुए। दयानन्द सरस्वती के बाद आर्य समाज के मुख्य नेताओ मे स्वामी श्रद्धानन्द और महात्मा हसराज के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। स्वामी श्रद्धानन्द गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के प्रवर्तक थे। पर आर्य-समाज मे ऐसे लोगो की भी कमी नही थी, जो आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा को

प्राचीन वेद शास्त्रों के अनुशीलन को अपेक्षा अधिक महत्त्व देते थे। इनके नेता महात्मा हंसराज थे। उन्होने लाहौर मे दयानन्द ऐंग्लो-वैदिक कालेज की स्थापना की, और समयान्तर में इसी प्रकार के अनेक कालेज भारत के अन्य नगरो में भी खोले गए। इन कालेजों मे विद्यार्थियो का रहन-सहन आर्य समाज के आदर्शों के अनुसार होता था, और नए ज्ञान-विज्ञान के साथ-साथ उन्हे वैदिक धर्म की भी शिक्षा दी जाती थी। गुरुकुलों की शिक्षा मे प्राचीन वेद-शास्त्रो को प्रमुख स्थान दिया गया, पर आधुनिक ज्ञान-विज्ञानों की उपेक्षा नही की गयी। इन संस्थाओं की शिक्षा मे एक महत्त्व की बात यह थी, कि गणित, रसायनशास्त्र आदि आधुनिक विज्ञानों की शिक्षा भी हिन्दी के माध्यम द्वारा दी जाती थी। इसमे सन्देह नही, कि आर्यसमाज द्वारा स्थापित गुरुकुल शिक्षा के क्षेत्र मे क्रान्तिकारी व राष्ट्रीय आदर्शों का अनुसरण करते थे। जिस समय सरकारी स्कूलों मे शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी था, गुरुकुल मे उच्च शिक्षा के लिए भी हिन्दी को माध्यम के रूप मे स्वीकृत किया जाता था।

धर्म तथा सामाजिक सुधार के क्षेत्र मे आर्य-समाज ने जो कार्य किया, उसका भारत के नवजागरण मे बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। सदियों तक विदेशी व विधर्मी लोगों के शासन मे रहने के कारण हिन्दू जनता मे हीन भावना का विकास हो गया था। दयानन्द ने उसका ध्यान हिन्दू-जाति और आर्य धर्म के प्राचीन गौरव की ओर आकृष्ट करके उसमे नई स्फूर्ति का सचार किया, और उसमे यह आकांक्षा उत्पन्न की कि एक बार फिर हिन्दू लोग अपने लुप्त गौरव को प्राप्त करे। वेद संसार का सबसे प्राचीन धर्म-ग्रन्थ है, सब धर्मों का उद्भव आर्य धर्म से ही हुआ है, आर्य जाति संसार की सर्व-श्रेष्ठ जाति है, और भारतीय सभ्यता व संस्कृति अब भी ससार को शान्ति का मार्ग प्रदर्शित कर सकती है—इन विचारो ने हिन्दू लोगों मे अपूर्व उत्साह किया, और वे अपनी कुरीतियो को दूर करने व उन्नति-पथ पर आरूढ होने के लिए उद्यत हो गये।

रामकृष्ण मिशन—जिस समय ऋषि दयानन्द उत्तरी भारत मे हिन्दू जाति मे नवजीवन का सचार करने के लिए प्रयत्न कर रहे थे, बंगाल मे एक अन्य महात्मा का प्रादुर्भाव हुआ, जिनका नाम रामकृष्ण परमहस (१८३४–१८८६) था। ये कलकत्ता के समीप एक मन्दिर मे निवास करते थे, और वहाँ योग ध्यान मे व्यापृत रहते थे। इन्होने किसी नए समाज व संस्था की स्थापना नही की। इनके अध्यात्मचिन्तन, उच्च त्याग-मय जीवन और पवित्र आदर्शों ने बहुत-से लोगो को अपनी ओर आकृष्ट किया, और कलकत्ता के बहुत-से सुशिक्षित नवयुवक इनके दर्शनो के लिए आने लगे। इनमे नरेन्द्रनाथ दत्त नाम के तेजस्वी व प्रतिभाशाली नवयुवक का नाम विशेष रूप से उल्लेख-नीय है। ये ही आगे चलकर स्वामी विवेकानन्द के नाम से प्रसिद्ध हुए, और इन्होंने रामकृष्ण परमहंस की शिक्षाओं का देश-विदेश में प्रसार करने के लिए अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण कार्य किया। स्वामी विवेकानन्द का व्यक्तित्व अनुपम था, उनकी विद्वत्ता अगाध थी, और उनमे वह तेजस्विता विद्यमान थी, जो अध्यात्मशक्ति के कारण उत्पन्न होती है। १८९३ मे वे शिकागो की विश्व-धर्मपरिषद् (पार्लियामेंट आफ रिलिजन्स) मे शामिल हुए, और वहाँ भारतीय अध्यात्मज्ञान पर उनका जो व्याख्यान हुआ, उसे सुनकर लोग चकित रह गए। तीन साल के लगभग समय तक वे अमेरिका मे रहे, और वहाँ वेदान्त,

अध्यात्म आदि विषयो पर प्रवचन करते रहे। कुछ ही समय में पाश्चात्य जगत् में उनका बहुत नाम हो गया, और वहाँ की जनता हिन्दू-धर्म और उसके अध्यात्मवाद को आदर की दृष्टि से देखने लगी। विवेकानन्द रामकृष्ण परमहंस के शिष्य थे, और उन द्वारा उपदिष्ट अध्यात्मवाद का ही प्रतिपादन करते थे। रामकृष्ण की शिक्षाओं के अनुसार जन-समाज की सेवा करने के लिए 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना की गई, जिसकी शाखाएँ कुछ समय में ही भारत तथा विदेशों में अनेक स्थानो पर कायम हो गयी। रामकृष्ण मिशन के सदस्य जहाँ अपने गुरु द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो व मन्तव्यो का उपदेश करते हैं, वहाँ साथ ही चिकित्सालय, शिक्षणालय आदि खोलकर जनता की सेवा भी करते है। रामकृष्ण के अनुसार ईश्वर एक है, और अध्यात्मवाद का अनुसरण कर ब्रह्म मे लीन होना ही मनुष्य का चरम ध्येय है। पर विविध देवी-देवताओं के रूप में विश्व की सर्वोपरि शक्ति की पूजा की जा सकती है, और प्रतिमापूजन द्वारा मनुष्य अध्यात्म-शक्ति का विकास कर सकता है। रामकृष्ण विविध धर्मों व सम्प्रदायों की आधारभूत एकता पर भी विश्वास रखते थे। उनका मन्तव्य था, कि विविध धर्म उन विविध मार्गों के समान है, जो मनुष्य को एक ही मंजिल की तरफ ले जाते हैं। जिस प्रकार जल के पानी, वाटर, आब आदि कितने ही नाम है, वैसे ही हरि, अल्लाह, कृष्ण आदि एक ही सत्ता के बोधक है। ईश्वर एक है, पर एक होते हुए भी वह अपने को विविध रूपों मे अभिव्यक्त करता है। निर्गुण और सगुण दोनो रूपो से उसकी उपासना की जा सकती है।

इस युग के अनेक अन्य धार्मिक आन्दोलनो के समान रामकृष्ण मिशन ने भी हिन्दू जनता को बहुत अधिक प्रभावित किया। भारत की अशिक्षित, रोगग्रस्त, पददलित और पीडित जनता की सेवा करना और उसकी स्थिति को उन्नत करना इस मिशन का मुख्य उद्देश्य है। स्वामी विवेकानन्द जहाँ भारत के अध्यात्मवाद का देश-विदेश में प्रचार करते थे, वहाँ साथ ही वर्तमान भारत की दुर्दशा की ओर भी वे संसार का ध्यान आकृष्ट करते थे। उनका विश्वास था, कि भौतिक सुखों के पीछे पागल हुई आधुनिक दुनिया को भी भारत का अध्यात्मवाद सच्ची शान्ति का सन्देश दे सकता है। पर यह तभी सम्भव है, जब कि भारत अपनी तमोमयी निद्रा से जागकर ससार मे अपने लिए उपयुक्त स्थान प्राप्त कर ले। स्वामी विवेकानन्द का दृष्टिकोण न केवल अन्तर्राष्ट्रीय था, पर साथ ही राष्ट्रीय भी था। इसलिए उनके मिशन द्वारा भारत के नव-जागरण मे बहुत सहायता मिली।

थियोसोफिकल सोसाइटी—सन् १८५७ में मादाम ब्लावत्सकी और कर्नल आलकोट ने अमेरिका मे थियोसोफिकल सोसाइटी की स्थापना की थी। १८७९ और १८८६ मे ये भारत भी आए, और इन्होने भारत के विविध धार्मिक आन्दोलनों के साथ सम्पर्क स्थापित किया। आर्यसमाज के प्रवर्तक दयानन्द सरस्वती से भी इनका सम्पर्क हुआ, और कुछ समय के लिए इन्होने यह भी प्रयत्न किया, कि आर्यसमाज और थियो-साफिकल सोसाइटी परस्पर मिलकर एक हो जाए, और साथ मिलकर ही कार्य करें। पर दयानन्द वेदो की अपौरुषेयता पर बल देते थे, और इसी कारण ब्लावत्स्की व आलकोट का उनके साथ मेल नही हो सका। आर्य-समाज के साथ मिलकर एक हो जाने

के विषय मे निराश होकर इन्होने मद्रास के अदयार नामक स्थान पर अपना केन्द्र स्थापित किया, और भारत के विविध प्रदेशों मे अपने सिद्धान्तो का प्रचार शुरू किया। प्रारम्भ मे इस सोसाइटी को विशेष सफलता नही मिल सकी, पर जब १८९३ मे श्रीमती एनी बीसेन्ट ने स्थिर रूप से भारत मे बसकर थियोसोफिकल आन्दोलन का संचालन शुरू किया, तो इसकी शक्ति बहुत बढ गई, और बहुत-से शिक्षित लोग इसकी ओर आकृष्ट हुए। श्रीमती बीसेन्ट का कहना था, कि भारत अपनी सब समस्याओं का हल सुगमता-पूर्वक कर सकता है, बशर्ते कि वह अपने प्राचीन आदर्शों और संस्थाओं का पुनरुद्धार कर ले। भारत के लिए यह आवश्यक है, कि उसके निवासियो में आत्मसम्मान की भावना जागृत हो, वे अपने गौरवमय भूतकाल पर गर्व करें और अपने भविष्य की उज्ज्वलता मे विश्वास रखे। इसके बिना भारतीयो मे देश-भक्ति का विकास हो सकना सम्भव नही है। भारत मे नवराष्ट्र का निर्माण तभी हो सकेगा, जब कि इस देश के लोग अपने धर्म, सभ्यता व संस्कृति के लिए गर्व अनुभव करने लगेंगे। निःसन्देह, श्रीमती बीसेन्ट के इन विचारों से भारतीय जनता मे स्फूर्ति और आशा का संचार हुआ। श्रीमती बीसेन्ट लिखने और बोलने की अपूर्व योग्यता रखती थी। उनके भाषण को सुनते हुए श्रोतागण मन्त्र-मुग्ध हो जाते थे। भारत से उन्हे सच्चा प्रेम था, और स्वराज्य आन्दोलन के साथ वे हार्दिक सहानुभूति रखती थी। इसीलिए जनता ने उन्हे राष्ट्रीय महासभा (इण्डियन नेशनल काग्रेस) का अध्यक्ष भी निर्वाचित किया था। श्रीमती बीसेन्ट के प्रयत्न से थियोसोफिकल सोसाइटी की शाखाए भारत के अनेक नगरों मे स्थापित हुई, और उनके सम्पर्क में आकर सुशिक्षित लोगो ने अपने देश की प्राचीन सभ्यता और सस्कृति को गौरव की दृष्टि से देखना शुरू किया। श्रीमती बीसेन्ट द्वारा ही बनारस मे सेण्ट्रल हिन्दू स्कूल की स्थापना हुई, जो कुछ समय बाद ही कालेज के रूप मे परि-वर्तित हो गया। १९१५ मे इसी कालेज को केन्द्र बनाकर पण्डित मदन मोहन मालवीय ने हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की, जो सस्था जहाँ आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की उच्चतम शिक्षा प्रदान करती है, वहाँ साथ ही प्राचीन भारतीय संस्कृति पर भी बल देती है। हिन्दू विश्वविद्यालय भारत की उस नई जागृति का मूर्तरूप है, जो बीसवी सदी के प्रारम्भ मे भली-भाँति प्रादुर्भूत हो चुकी थी।

नये धार्मिक आन्दोलनो का परिणाम—ब्राह्म समाज, प्रार्थना-समाज, आर्य-समाज आदि के रूप मे जो अनेक नये धार्मिक आन्दोलन उन्नीसवी सदी मे चल रहे थे, उन्होंने हिन्दू धर्म मे एक नई जागृति उत्पन्न कर दी। जो लोग पुराने सनातन हिन्दू धर्म के अनुयायी थे, उन पर भी इन आन्दोलनों का प्रभाव पड़ा। उत्तरी भारत मे आर्यसमाज के अनुकरण मे सनातन धर्म सभाओ का संगठन शुरू हुआ, जिनके प्रचारक आर्यसमाजी उपदेशको के समान ही अपने मन्तव्यो का प्रचार करने मे तत्पर हुए। सनातनी लोगो ने भी गुरुकुलो के समान ऋषिकुलो की स्थापना की, और इनमे अपने दृष्टिकोण के अनुसार वेद-शास्त्र, पुराण आदि के पठन-पाठन की व्यवस्था की। युक्ति और तर्क द्वारा पौराणिक सिद्धान्तो की पुष्टि के लिये उन्होंने उद्योग किया, क्योकि वे अब यह भली-भाँति अनुभव करने लगे थे, कि आधुनिक युग मे कोई धार्मिक सिद्धान्त तब तक जनता मे प्रचलित नही रह सकता, जब तक कि तर्क द्वारा उसका पक्षपोषण

न किया जाय। आर्यसमाजियो के समान सनातनियो ने भी स्त्री-शिक्षा के लिये संस्थाएँ खोली, और दयानन्द एंग्लो-वैदिक कालेज के अनुकरण मे अनेक सनातन-धर्म कालेजो की स्थापना की गयी। सुधारवादियो और सनातनियो के ये सब प्रयत्न जहाँ शिक्षित वर्ग मे नव-जागरण उत्पन्न कर रहे थे, वहाँ साथ ही अशिक्षित जनता मे भी वे धर्म-ज्ञान और सत्यासत्य के विवेचन की प्रवृत्ति को विकसित कर रहे थे। आर्य-समाजी और सनातनी—दोनो प्रकार के उपदेशक ग्रामो मे जाकर उपदेश देते थे, भजन गाते थे और शास्त्रार्थ करते थे। अशिक्षित जनता को भी इन भजनों और शास्त्रार्थों से धर्म के तत्त्वो पर विचार करने का अवसर मिलता था, और उसमे नये उत्साह का सचार होता था।

जनता को अपने धार्मिक सिद्धान्तों के प्रति आकृष्ट करने के लिये इन संस्थाओ ने जहाँ चिकित्सालय, विधवाश्रम, अनाथालय आदि खोले, वहाँ साथ ही आर्य वीर दल आदि स्वय-सेवक दलो का भी सगठन किया। ये दल मेलों, उत्सवों आदि के अवसर पर जनता की सेवा करते थे, और हिन्दू सगठन का आदर्श देश के सम्मुख उपस्थित करते थे।

महाराष्ट्र मे प्रार्थना-समाज के आदर्श से प्रभावित होकर १८८४ मे 'दक्खन एजुकेशन सोसाइटी' का निर्माण हुआ। इस सोसाइटी का उद्देश्य यह था, कि ऐसी शिक्षण-संस्थाओ की स्थापना की जाय, जिनमे पढे हुए विद्यार्थी देश-सेवा को ही अपना ध्येय माने। इस सोसाइटी की ओर से पूना मे फर्ग्युसन कालेज और सागली मे विलिंगडन कालेज की स्थापना की गयी, और उनमे कार्य करने के लिये जो प्रोफेसर नियत किये गए, उन्हे जीवन निर्वाह के लिये केवल ७५ रुपये मासिक वेतन देने की व्यवस्था की गयी। केवल ७५ रुपये मासिक लेकर जो प्रोफेसर इन कालेजों में कार्य करते थे, वे अपने विद्यार्थियो के सम्मुख भी त्याग और सेवा के आदर्शो को उपस्थित कर सकते थे। उत्तरी भारत मे जब गुरुकुलो और दयानन्द कालेजों की स्थापना हुई, तो उनके शिक्षकों ने भी इसी आदर्श को अपनाया, और नाम मात्र वेतन लेकर शिक्षण का कार्य शुरू किया। नि:सन्देह, इस समय भारत मे नव जागरण उत्पन्न हो रहा था, और बहुत-से शिक्षित लोग धर्म, देश और जाति की सेवा के लिये कार्य क्षेत्र मे प्रवेश कर रहे थे।

देश-सेवा के उद्देश्य से जो अनेक अन्य सस्थाएँ इस समय कायम होनी शुरू हुई, उनमे पूना की 'सर्वेन्ट्स आफ इण्डिया सोसाइटी' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसके संस्थापक श्री गोपाल कृष्ण गोखले थे। दक्खन एजुकेशन सोसाइटी के सदस्य रूप में २० वर्ष तक ७५ रुपये मासिक पर सेवा-कार्य समाप्त कर १९०५ में उन्होने इस नई सोसाइटी की स्थापना की। इसका उद्देश्य इस प्रकार के राष्ट्रीय प्रचारक (मिशनरी) उत्पन्न करना था, जो सब प्रकार वैध उपायो द्वारा भारतीय जनता के हित साधन में ही अपने सम्पूर्ण जीवन को व्यतीत करने के लिये उद्यत हों। बाद में लाला लाजपतराय ने पजाब में 'सर्वेन्ट्स आफ पीपुल सोसाइटी' के नाम से इसी ढंग की एक अन्य सस्था कायम की। भारत के शिक्षित वर्ग मे जनता की निष्काम भाव से सेवा करने की जो प्रवृत्ति इस युग मे शुरू हुई, उसकी मूल प्रेरणा उन धार्मिक

आन्दोलनो द्वारा ही प्राप्त की गयी थी, जो इस काल मे भारत के विविध प्रदेशों में जारी थे ।

इस्लाम में जागृति—हिन्दू-धर्म मे जो नव-जागरण हो रहा था, उसने इस्लाम को भी प्रभावित किया । ब्रिटिश शासन की स्थापना के समय मुसलिम लोग अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य शिक्षा से घृणा करते थे । उन्हे वे दिन भूले न थे, जब भारत पर विविध मुसलिम राजवशो का शासन था । उनका यह भी विश्वास था, कि ज्ञान के क्षेत्र मे जो कुछ भी जानने योग्य है, वह सब कुरान मे विद्यमान है । कुरान व हदीसों के अतिरिक्त अन्य भी कोई ज्ञान हो सकता है, यह बात उन्नीसवी सदी के पूर्वार्ध तक भारतीय मुसलमानो की समझ मे नहीं आती थी । मुसलिम युग मे स्थापित हुए अनेक मदरसे अब तक भी विद्यमान थे, और मस्जिदो मे अरबी, फारसी व मुसलिम धर्म-ग्रन्थों का पठन-पाठन जारी था । इसीलिये शुरू मे मुसलमानो ने अंग्रेजी भाषा व पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान की उपेक्षा की । पर धीरे-धीरे इस स्थिति मे परिवर्तन आना शुरू हुआ । मुसलमानो मे अनेक ऐसे समझदार व्यक्ति पैदा हुए, जिन्होने अनुभव किया कि पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान से अपरिचित रह जाने के कारण मुसलिम लोग हिन्दुओ के मुकाबले मे बहुत पिछड गये है, और उन्हे भी अंग्रेजी भाषा तथा उसके साहित्य से परिचय प्राप्त करना चाहिये । इस विचार को मुसलमानो के सम्मुख रखने का प्रधान श्रेय सर सैयद अहमद खां को है, जिन्होंने १८७५ मे अलीगढ मे एग्लो-ओरियन्टल कालेज की स्थापना की थी । इस कालेज मे मुसलमान युवकों को आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा दी जाती थी, और साथ ही अरबी, फारसी व मुस्लिम साहित्य के उच्च अध्ययन का भी वहाँ समुचित प्रबन्ध था । बाद मे अलीगढ का यह कालेज मुस्लिम सस्कृति और इस्लाम के नव-जागरण का प्रधान केन्द्र बन गया । इसकी महत्ता इतनी बढ गयी, कि १९२० में इसे मुसलिम यूनिवर्सिटी के रूप मे परिवर्त्तित कर दिया गया ।

इस्लाम के प्राचीन साहित्य और धर्म का अध्ययन करने के लिये अनेक ऐसी संस्थाएँ भी इस युग मे स्थापित हुई, जिनमे आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की उपेक्षा कर पुरानी परिपाटी का अनुसरण किया जाता था । इनमे देवबन्द (जिला सहारनपुर) का मदरसा सर्व-प्रधान है । इस ढंग की संस्थाओं का उद्देश्य जहाँ इस्लाम के धार्मिक साहित्य का अनुशीलन था, वहाँ साथ ही मुसलिम धर्म का प्रचार करने के लिये कार्यकर्त्ताओ को तैयार करना भी था । अलीगढ कालेज के समान इन सस्थाओं ने भी बहुत उन्नति की, और शीघ्र ही ये मुसलिम शिक्षा की केन्द्र बन गई ।

हिन्दू, मुसलिम और ईसाई—सब धर्म इस काल मे नई स्फूर्ति व नये जीवन से अनुप्राणित थे । सबका प्रयत्न था, कि अपने सिद्धान्तों का प्रचार करें और अधिक-से-अधिक लोगों को अपने प्रभाव मे लाने के लिये तत्पर हों । इसीलिये उनमें बहुधा शास्त्रार्थ व मुबाहसे होते रहते थे । इनको सुनने के लिये जनता हजारो की संख्या मे एकत्र होती थी, और विविध धर्माचार्यों के विचारो को सुनकर आनन्द अनुभव करती थी । इस युग के शास्त्रार्थों व मुबाहसों मे साम्प्रदायिक कटुता का अभाव होता था । धर्म के क्षेत्र में लोग सहिष्णु थे, और वे नये-नये विचार सुनने के लिये सदा उत्सुक रहते थे ।

ब्रिटिश सरकार और सामाजिक सुधार—भारत मे ब्रिटिश शासकों की यह नीति थी, कि वे धर्म और समाज के मामले मे तटस्थ रहे। इस युग मे यूरोप के विविध राज्यो की सरकारें भी इन मामलो में तटस्थता की नीति का ही अनुसरण करती थी। पर ब्रिटिश सरकार की यह नीति देर तक कायम नही रह सकी। उन्नीसवी सदी के शुरू तक भी हिन्दू लोगो मे अनेक ऐसी कुरीतियाँ प्रचलित थी, जिनकी उपेक्षा कर सकना किसी भी सभ्य सरकार के लिये सम्भव नही था। राजा राजमोहन राय जैसे सुधारक भी सरकार पर इन कुरीतियों को दूर करने के निमित्त राजशक्ति का उपयोग करने के लिये जोर दे रहे थे। इन कुरीतियो मे सर्वप्रधान सती प्रथा थी, जिसके विरुद्ध अकबर ने भी राजाज्ञा प्रकाशित की थी। राजा राममोहन राय की प्रेरणा व प्रयत्न से १८२९ ई० मे ब्रिटिश सरकार ने सती प्रथा को गैरकानूनी घोषित कर दिया, और यह व्यवस्था की, कि जो कोई व्यक्ति किसी स्त्री को सती होने के लिये प्रेरित या विवश करे, उसे सजा दी जाय। सती प्रथा को बन्द करने से पूर्व अंग्रेजी सरकार ने पुत्रप्राप्ति के लिये सन्तान को बलि देने व कन्यावध को रोकने की प्रथा के सम्बन्ध मे भी अनेक कानून बनाये थे।

(३) भारत में ईसाई धर्म का प्रसार

जिस प्रकार तुर्क-अफगान सल्तनत की स्थापना के कारण बारहवी सदी के अन्त मे भारत मे इस्लाम का प्रसार शुरू हुआ, वैसे ही अठारवी सदी मे अंग्रेजी शासन स्थापित होने के कारण इस देश मे ईसाई धर्म का प्रचार प्रारम्भ हुआ। ईसाई धर्म का प्रादुर्भाव पैलेस्टाइन मे हुआ था। धीरे-धीरे यह धर्म सारे यूरोप मे फैल गया था। रोमन सम्राटो के ईसाई धर्म को स्वीकार कर लेने के कारण पाश्चात्य जगत् में इस धर्म के प्रसार मे बहुत सहायता मिली। पर इस धर्म का प्रसार केवल राजशक्ति द्वारा ही नही हुआ, ईसाई सन्त-महात्माओ ने भी दूर-दूर के प्रदेशों मे अपने धार्मिक मन्तव्यों का प्रचार करने के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। ईसाई अनुश्रुति के अनुसार पहली सदी ईस्वी मे ही कतिपय प्रचारक भारत मे ईसाई धर्म के प्रसार के लिये आ गये थे, और उन्हे अपने प्रयत्न में सफलता भी प्राप्त हुई थी। प्राचीन काल में भारत और पाश्चात्य देशो मे घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध विद्यमान था, और इसी कारण दक्षिणी भारत के समुद्र तट के प्रदेशो में बहुत पुराने समय से ही ईसाई-धर्म का प्रवेश होना शुरू हो गया था। इसीलिये दक्षिण के अनेक हिन्दू राजा ईसाई गिरजो का भी उसी प्रकार सम्मान करते थे, जैसे कि हिन्दू मन्दिरों का। वे ईसाई प्रचारको को सब प्रकार की सुविधाएँ भी उदारतापूर्वक प्रदान करते थे।

पन्द्रहवी सदी के अन्त मे जब अफ्रीका का चक्कर काटकर पोर्तुगीज लोगों ने भारत आना प्रारम्भ किया, तो जिस प्रकार उन्होने इस देश मे अपने शासन की स्थापना का यत्न किया, वैसे ही ईसाई धर्म के प्रचार के लिये भी उन्होंने कोई कसर नही उठा रखी। भारत के पश्चिमी समुद्र तट के जिन प्रदेशो पर पोर्तुगीज लोगों का शासन स्थापित हो गया था, वहाँ उन्होने जनता को जबर्दस्ती ईसाई बनाने का भी यत्न किया। पोर्तुगीज लोगों का विचार था, कि जिस प्रकार अमेरिका के मूल निवासियों

की सभ्यता का अन्त कर उन्हें पूर्णरूप से अपना वशवर्ती बनाया जा सकना सम्भव हुआ है, वैसे ही भारत मे भी किया जा सकता है। पर भारत के निवासी अमेरिका के निवासियो की अपेक्षा अधिक सभ्य व उन्नत थे। इस कारण पोर्तुगीजों को अपने प्रयत्न मे पूर्ण रूप से सफलता नही मिली। पर फिर भी वे अपने अधिकृत प्रदेशो के निवासियों को अच्छी बडी सख्या मे ईसाई धर्म मे दीक्षित करने में समर्थ हुए।

अठारहवी सदी के मध्य भाग में जब ईस्ट इडिया कम्पनी का शासन भारत के अनेक प्रदेशो मे स्थापित हो गया, तो ईसाई धर्म के प्रचार के लिये भी विशेष रूप से प्रयत्न प्रारम्भ हुआ। अग्रेजी शासन के कारण ईसाई प्रचारको का कार्य बहुत सुगम हो गया था। शासक जाति होने के कारण ईसाई पादरियो का जनता की दृष्टि मे बहुत मान था। साथ ही, इस युग मे हिन्दू धर्म मे अनेक खराबियाँ भी विद्यमान थी। जाँत-पाँत और छूत-अछूत के भेद के कारण जनता के एक वर्ग की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। ईसाई पादरियो ने इसी वर्ग को अपने कार्य का क्षेत्र बनाया, और इसके लोगो को अपने धर्म का अनुयायी बनाने मे उन्हे अच्छी सफलता मिली। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासनकाल मे ईसाई पादरियो ने जनता को ईसाई बनाने के लिये बल का प्रयोग नही किया। इसका कारण यह था, कि इस समय तक यूरोप के लोगो की मनोवृत्ति मे बहुत परिवर्तन आ चुका था। बुद्धि-स्वातन्त्र्य और धार्मिक सुधार के जो आन्दोलन यूरोप मे चल रहे थे, उन्होंने वहाँ की जनता को धर्म के मामले में बहुत सहिष्णु बना दिया था। पन्द्रहवी सदी के पोर्तुगीज लोगो की तुलना मे अठारहवी सदी के अग्रेज धार्मिक दृष्टि से अधिक सहिष्णु थे। इसीलिये अंग्रेज पादरियो व शासको ने धर्म प्रचार के लिये बलप्रयोग के उपायो का आश्रय नही लिया, अपितु हिन्दू जनता के उस अग मे अपना प्रचार-कार्य किया, जिसे सामाजिक दृष्टि से हीन माना जाता था। साथ ही, उच्च वर्गों के लोगो को अपने प्रभाव मे लाने के लिये ईसाई पादरियो ने स्कूल, कालिज व अस्पताल खोलने शुरू किये, जिनके सम्पर्क मे आकर भारतीय लोगो के लिये ईसाई धर्म की उत्कृष्टता को स्वीकार कर लेना बहुत सुगम था।

१८१५ ईस्वी तक भारत मे ईसाई धर्म के अनुयायियो की संख्या दो लाख के लगभग तक पहुँच गयी थी। उन्नीसवी सदी मे इस संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गयी। अब वह समय आ गया है, जब भारत मे ८० लाख के लगभग व्यक्ति ईसाई धर्म को अपना चुके है। एक सदी के समय मे ईसाईयो की संख्या मे इतनी अधिक वृद्धि का हो जाना जहाँ ईसाई पादरियो के कर्तृत्व को सूचित करता है, वहाँ साथ ही इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक समय मे हिन्दू धर्म का स्वरूप कितना विकृत हो गया था। यदि आर्यसमाज आदि के रूप में हिन्दू धर्म में नये सुधार-आन्दोलनों का प्रारम्भ न होता, तो सम्भवतः इस देश मे ईसाई धर्म का और भी अधिक प्रचार हो जाता।

भारतीय संस्कृति के इतिहास मे यह बात बहुत महत्त्व की है, कि हिन्दू धर्म तीन प्रबल शक्तियों का सफलतापूर्वक मुकाबला कर सकने में समर्थ रहा है। बौद्ध धर्म के रूप मे जिस नये धार्मिक आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ था, वह न ईश्वर मे विश्वास करता था और न वेदो मे। कुछ समय के लिए यह नास्तिक मत भारत का प्रधान धर्म

बन भी गया। पर अन्त मे हिन्दू धर्म की विजय हुई, और बौद्ध धर्म का इस देश से पूर्णतया लोप हो गया। तुर्क-अफगान सल्तनत के स्थापित हो जाने पर हिन्दू धर्म को इस्लाम का मुकाबला करना पडा। पर्शिया, अफगानिस्तान, इन्डोनीशिया आदि कितने ही देश इस्लाम के मुकाबले मे अपने पुराने धर्मों की रक्षा करने मे असमर्थ रहे। पर पाँच सदी के लगभग तक मुस्लिम शासन कायम रहने के बावजूद भी भारत मे हिन्दू धर्म का लोप नही हुआ, और हिन्दू लोग अपने पुराने धर्म पर दृढ रहे। पन्द्रहवी और सोलहवी शताब्दियों मे भारत मे जो धार्मिक सुधारणा हुई, उसके कारण हिन्दू धर्म इस्लाम के मुकाबले मे अपनी रक्षा करने मे समर्थ रहा। अग्रेजी शासन के स्थापित हो जाने पर हिन्दू धर्म को एक शक्तिसम्पन्न धर्म का मुकाबला करना पडा। राजशक्ति के अपने अनुकूल होने के कारण जहाँ ईसाई पादरियो का भारत मे विशेष रुआब था, वहाँ साथ ही वे एक ऐसी सस्कृति के भी प्रतिनिधि थे, जो नये ज्ञान-विज्ञान के विकास के कारण बहुत उन्नत दशा मे थी। ईसाई धर्म के मन्तव्य चाहे हिन्दू धर्म के मुकाबले मे कितने ही साधारण क्यो न हो, पर उसके साथ यूरोप की उस सभ्यता और सस्कृति का प्रभाव व रुआब भी सम्मिलित था, जो उन्नीसवी सदी मे एशिया, अफ्रीका और अमेरिका मे सर्वत्र अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित कर चुकी थी। पर इस काल मे एक बार फिर हिन्दू धर्म मे सुधार के नये आन्दोलन प्रारम्भ हुए, जिनके कारण हिन्दू लोग ईसाई मत का मुकाबला करने मे बहुत अश तक सफल रहे।

ईसाई धर्म के प्रचार के कारण भारत मे एक नये धार्मिक सम्प्रदाय का प्रवेश हो गया है, और वह अब तक भी अपने अनुयायियों की सख्या बढाने मे तत्पर है। इंगलैण्ड, अमेरिका, इटली, पोर्तुगाल, स्वीडन, फ्रास आदि कितने ही पाश्चात्य देशों के ईसाई प्रचारक भारत मे अपने-अपने ईसाई सम्प्रदायो के प्रचार के लिये तत्पर है, और उनके ऐसे चर्च भारत मे स्थापित है, जिन्हे विदेशों से अच्छी बडी मात्रा मे आर्थिक सहायता प्राप्त होती है। इन चर्चो का विदेशों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, और इनमे कार्य करने वाले पादरी भी प्रायः विदेशी है। यह सही है कि भारत मे ईसाई चर्च का स्वरूप अब निरन्तर अधिक-अधिक राष्ट्रीय होता जा रहा है, और बहुत-से भारतीय पादरी भी ईसाई धर्म के प्रचार के लिये विदेशी प्रचारकों को सहयोग प्रदान कर रहे है। पर यह सब होते हुए भी ईसाई धर्म के प्रचार को भारतीय लोग अच्छी निगाह से नही देखते। इसका कारण सम्भवतः यह है कि ससार के आधुनिक इतिहास मे ईसाई पादरी पाश्चात्य साम्राज्यवाद के सहायक रहे है, और ईसाई धर्म के साथ पाश्चात्य देशो के साम्राज्य-सम्बन्धी उत्कर्ष का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। पर यह भी सत्य है कि भारत के ईसाई चर्चों का रूप अब बहुत कुछ परिवर्तित हो गया है, और भारतीय ईसाई देश-भक्ति व राष्ट्रीय भावना मे अन्य भारतीयो के मुकाबले मे किसी तरह से भी पीछे नही हैं। भारत मे ईसाई धर्म का स्वरूप भी अनेक अंशों में परिवर्तित हो गया है, क्योंकि जिन लोगो ने इस मत को स्वीकार किया है, वे अपने पुराने परम्परागत विचारों, प्रथाओं और मज्जातन्तु-गत संस्कारो का पूर्ण रूप से त्याग नही कर सके है। उनके लिए क्राइस्ट का प्रायः वही रूप है, जो हिन्दुओ के लिए कृष्ण का है। पर इसमे सन्देह नही, कि अग्रेजी शासन के कारण भारत के धर्मों मे एक धर्म

की संख्या और बढ़ गई है, और हिन्दू धर्म व इस्लाम के समान ईसाई धर्म भी भारत में स्थायी रूप से अपना स्थान बना चुका है।

(४) नये साहित्य का विकास

नई शिक्षा के प्रसार और नवीन धार्मिक आन्दोलनों का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि ब्रिटिश युग में हिन्दी आदि विविध भाषाओं में नवीन साहित्य का निर्माण प्रारम्भ हुआ। भारत में कागज का प्रवेश मुसलिम युग में ही हो चुका था। चिकने व बढ़िया कागज पर सुन्दर रीति से लिखी हुई पुस्तकें भी बाजार में बिकने लगी थीं। लकड़ी की तख्तियों पर अक्षरों को उत्कीर्ण कर उनके ठप्पे से कागज की छपाई भी ब्रिटिश युग से पूर्व भारत में शुरू हो चुकी थी। पर अठारहवीं सदी में छापेखाने (प्रिंटिंग प्रेस) का भी भारत में प्रवेश हुआ, और मशीनों द्वारा पुस्तकों व पत्र-पत्रिकाओं को अच्छी बड़ी संख्या में छाप सकना सम्भव हो गया। छापेखाने के प्रवेश के कारण साहित्य की वृद्धि में बहुत अधिक सहायता मिली, और बहुत-सी नई पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएँ बाजार में बिकने के लिये आने लगीं। नये विचारों के प्रचार में कागज और उस पर छपी हुई पुस्तकें बहुत सहायक सिद्ध हुईं, और सर्वसाधारण जनता के लिये ज्ञान वृद्धि कर सकना बहुत सुगम हो गया। ईसाई मिशनरियों ने अपने धर्म का प्रचार करने के लिये भारतीय भाषाओं में बाइबल का अनुवाद किया, और अनेक छोटी-छोटी पुस्तिकाएं प्रकाशित करनी शुरू कीं। अठारहवीं सदी का अन्त होने से पूर्व ही बंगाली भाषा में बाइबिल का अनुवाद प्रकाशित हो चुका था। इस समय तक भारत के साहित्यिक अपनी रचनाएँ प्रायः पद्य में ही किया करते थे। छापेखाने के अभाव में बड़े गद्य-ग्रन्थों का लिखना बहुत क्रियात्मक नहीं था। पर फिर भी अनेक लेखक अपने विचारों को प्रकट करने के लिये गद्य का उपयोग करने लगे थे, और चौदहवीं सदी में ही हिन्दी आदि लोक भाषाओं में अनेक छोटी-छोटी पुस्तकें गद्य में भी लिखी जाने लगी थीं। पर इन पुस्तकों का विषय या तो धर्म होता था, या कथा-कहानियाँ। आधुनिक शैली के गद्य-ग्रन्थ अठारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक भारत की लोक-भाषाओं में प्रायः नहीं लिखे गये थे।

अंग्रेजी शासन के स्थापित होने पर जब भारत में नव-जागरण का प्रारम्भ हुआ, तो हिन्दी, बंगाली, उर्दू आदि में गद्य-ग्रन्थों की रचना की प्रवृत्ति बहुत बढ़ गयी, और एक नये ढंग के साहित्य का निर्माण शुरू हुआ, जिसने नव-जागरण में बहुत सहायता पहुँचाई। भारत में सबसे पूर्व बंगाल अंग्रेजों के शासन में आया था, और वहीं पर सबसे पहले नई शिक्षा का आरम्भ हुआ था। इसीलिये उन्नीसवीं सदी में वहाँ अनेक ऐसे लेखक उत्पन्न हुए, जिन्होंने बहुत-सी अंग्रेजी पुस्तकों का बंगाली में अनुवाद किया, और कुछ स्वतन्त्र व मौलिक पुस्तकों की भी रचना की। इन लेखकों में कृष्ण मोहन बनर्जी (१८१३-१८८५), राजेन्द्रलाल मित्र (१८२१-१८९२), प्यारेचन्द्र मित्र (१८१५-१८८३) और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर (१८२०-१८९१) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये सब लेखक अंग्रेजी भाषा के ज्ञाता थे, और पाश्चात्य साहित्य से परिचय रखते थे। इनके प्रयत्न से बंगाल के लोगों को पाश्चात्य विचारसरणी से

परिचय प्राप्त करने का अवसर मिला। अग्रेजी शिक्षा के प्रभाव के कारण बंगाल के अनेक साहित्यिक बगाली भाषा मे नवीन शैली के काव्य, नाटक व उपन्यास लिखने में भी प्रवृत्त हुए। इस प्रकार के साहित्यिको मे माइकेल मधुसूदन दत्त (१८२७-१८७३), दीनबन्धु मित्र (१८३०-१८७४) और बकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय सर्वप्रधान हैं। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जैसे लेखको ने बंगाली भाषा की गद्य शैली को परिष्कृत रूप देने मे महत्त्वपूर्ण कार्य किया, और बकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने ऐसे मौलिक उपन्यास लिखे, जो विश्व साहित्य मे बहुत ऊँचा स्थान रखते है। उनके 'आनन्दमठ' ने बंगाल मे देशभक्ति और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावनाओ को विकसित करने मे बहुत सहायता की। ब्रिटिश शासन का अन्त कर राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की स्थापना के लिये जो क्रान्तिकारी आन्दोलन बगाल मे शुरू हुआ, उसकी प्रेरणा इसी 'आनन्दमठ' से ली गयी थी। बंगाल के क्रान्तिकारी आनन्दमठ का धर्म-ग्रन्थ के समान अध्ययन करते थे, और उसके अन्यतम गीत 'बन्दे मातरम्' को अपना 'मत्र' व 'सूक्त' समझते थे। भारत मे राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास के साथ-साथ बकिम के 'बन्दे मातरम्' का भी प्रचार होने लगा, और बाद मे यही भारत का राष्ट्रीय गीत बन गया। माइकेल मधुसूदन दत्त ने ईसाई मिशनरियो के सम्पर्क मे आकर क्रिश्चियन धर्म को अपना लिया था। अग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से बोल-चाल, रहन-सहन आदि मे वे पूर्णतया अग्रेजो का अनुसरण करते थे। अग्रेजी भाषा पर उनका अधिकार था, अत· शुरू मे उन्होंने अग्रेजी के माध्यम से ही अपनी साहित्यिक प्रतिभा का परिचय दिया। पर उन्नीसवी सदी के यूरोपियन साहित्य मे राष्ट्रीयता और देशभक्ति की भावनाओ का जो प्राबल्य था, मधुसूदन दत्त भी उससे प्रभावित हुए बिना नही रहे। बाद मे उन्होंने बगाली भाषा मे काव्य-रचना शुरू की, और उन जैसे उच्च शिक्षा-प्राप्त व आधुनिक विचार-सरणी से परिचित कवि द्वारा बगाली मे ऐसे काव्य की सृष्टि हुई, जिसे एक सदी के लगभग समय बीत जाने पर आज भी अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखा जाता है। दीनबन्धु मित्र नाटककार थे, और उन्होंने बगाली भाषा मे आधुनिक शैली के नाटक लिखने की जिस परम्परा का प्रारम्भ किया, आगे चल कर द्विजेन्द्रलाल राय सदृश साहित्यिकों ने उसे पूर्णता तक पहुँचा दिया।

इस युग के अन्य बगाली साहित्यकारो मे अक्षय कुमार दत्त, राजनारायण बोस, देवेन्द्रनाथ टैगोर, हेमचन्द्र बनर्जी और नवीन चन्द्र सेन के नाम भी उल्लेखनीय है। नवीन शिक्षा के प्रसार के कारण बंगाल मे इस समय साहित्य सृजन की एक ऐसी परम्परा का प्रारम्भ हो गया था, जिसके कारण जहाँ बगाली साहित्य असाधारण रूप से उन्नति कर रहा था, वहाँ जनता को भी नये विचारों से परिचय प्राप्त करने का अनुपम अवसर प्राप्त होता था। बगाल की साहित्यिक प्रतिभा का सर्वोत्कृष्ट रूप रवीन्द्रनाथ टैगोर (१८६१-१९४१) के रूप मे प्रकट हुआ, जिनकी ख्याति न केवल भारत मे अपितु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे सर्वत्र फैल गयी। १९१३ में उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'गीताजलि' पर नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया, और विश्व भर के साहित्यिको ने उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि भेंट की। गद्य, पद्य, नाटक, निबन्ध रचना, सगीत, चित्र-कला—सब पर रवीन्द्रनाथ का समान रूप से अधिकार था, और उनकी कृतियाँ

विश्व साहित्य का स्थायी अंग बन गई हैं। इतिहास मे उनकी गणना सदा अमर व 'अमर्त्य' साहित्यिकों मे की जायेगी। शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय आदि कितने ही अन्य साहित्यकार भी आधुनिक युग मे बगाल मे हुए। इनके नामो का निर्देश करना भी इस इतिहास मे सम्भव नही है। पर ध्यान देने योग्य बात यह है, कि भारत के नव-जागरण मे इन साहित्यकारों का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है, और आज जनता मे जो नई स्फूर्ति व चेतना उत्पन्न हो गयी है, उसका श्रेय अनेक अंशों मे इन्ही को दिया जाना चाहिये।

बगाली भाषा के समान हिन्दी मे भी ब्रिटिश युग मे साहित्य का बहुत विकास हुआ। उन्नीसवी सदी के शुरू मे ईसाई मिशनरियों द्वारा हिन्दी मे भी बाइबल का अनुवाद प्रकाशित किया गया। मिशनरियों द्वारा जो अनेक स्कूल इस युग मे स्थापित किये जा रहे थे, उनमे अग्रेजी के साथ-साथ हिन्दी, उर्दू आदि भाषाओं की भी शिक्षा दी जाती थी। मिशनरियों ने आवश्यकता अनुभव की, कि भारतीय भाषाओं मे पाठ्य-पुस्तके तैयार की जानी चाहिएँ। इसीलिये १८८३ ई० मे उन्होने आगरा मे 'स्कूल बुक सोसाइटी' की स्थापना की, और उसकी ओर से इतिहास आदि विषयो पर अनेक हिन्दी पुस्तकें प्रकाशित हुई। १८५७ की राज्यक्रान्ति से पूर्व ही ईसाई मिशनरियों की ओर से मिर्जापुर मे 'आरफेन प्रेस' के नाम से एक मुद्रणालय कायम हो चुका था, जिससे शिक्षा सम्बन्धी अनेक पुस्तके प्रकाशित की गयी थी। उन्नीसवी सदी के प्रारम्भिक भाग मे कलकत्ता के फोर्ट विलियम कालेज की ओर से हिन्दी और उर्दू मे गद्य की पुस्तके लिखवाने की व्यवस्था की गयी, और हिन्दी मे पुस्तके लिखने के लिये लल्लू लाल जी और सदल मिश्र को नियत किया गया। मुन्शी सदासुख लाल और इशा अल्ला खा सदृश व्यक्ति स्वतन्त्र रूप से भी इस युग में गद्य ग्रन्थ लिखने के लिये तत्पर थे। इस प्रकार उन्नीसवी सदी के पूर्वार्ध मे ही हिन्दी मे गद्य साहित्य का निर्माण प्रारम्भ हो गया था। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने ग्रन्थो को हिन्दी मे लिखकर हिन्दी गद्य साहित्य के विकास के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उन्नीसवी सदी के मध्य भाग मे उन्होंने जिस प्रकार के विशाल ग्रन्थ हिन्दी-भाषा मे लिखे, वे वस्तुतः हिन्दी-साहित्य के लिये नई बात थे। स्वामी जी हिन्दी को आर्य-भाषा कहते थे, और अपने अनुयायियों से आशा करते थे, कि वे हिन्दी मे ही अपना सब कार्य किया करे।

उन्नीसवी सदी के उत्तरार्ध के हिन्दी लेखको मे पण्डित श्रद्धाराम फिल्लौरी, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, राजा शिवप्रसाद, राजा लक्ष्मणसिह, पण्डित प्रताप नारायण मिश्र, पण्डित बालकृष्ण भट्ट, ठाकुर जगमोहनसिह और श्री बदरी नारायण चौधरी के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। इनमे भी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का स्थान सर्वोच्च है। हरिश्चन्द्र उत्कृष्ट कवि, सफल नाटककार और मजे हुए गद्य-लेखक थे। अनेक सस्कृत नाटकों का उन्होने हिन्दी में अनुवाद किया, और बहुत-से मौलिक ग्रन्थो की रचना की। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भारत की दुर्दशा को अनुभव करते थे, और देश-भक्ति की भावना उनमे उत्कृष्ट रूप से विद्यमान थी। उनकी पुस्तकों ने पाठको का ध्यान नवयुग की विचार-सरणी की ओर आकृष्ट किया, और उनमें नई स्फूर्ति का संचार किया।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बाद हिन्दी-साहित्य की चौमुखी उन्नति हुई। कितने ही साहित्यिकों ने बंगला, संस्कृत, अंग्रेजी आदि के उत्कृष्ट ग्रन्थों का अनुवाद कर और मौलिक ग्रन्थ लिखकर हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि की। उपन्यास, नाटक, काव्य, निबन्ध आदि सब प्रकार का साहित्य हिन्दी में प्रकाशित होना शुरू हुआ। यहाँ हमारे लिये यह सम्भव नहीं है, कि इन साहित्यकारों का संक्षेप के साथ भी परिचय दे सकें। हिन्दी के पाठक इनसे भली-भाँति परिचित है। इन साहित्यिकों मे किशोरीलाल गोस्वामी, महावीर प्रसाद द्विवेदी, बालमुकुन्द गुप्त, रूपनारायण पाण्डेय, ज्वाला प्रसाद मिश्र, रामकृष्ण वर्मा, देवकीनन्दन खत्री, गोपालराम गहमरी, अयोध्यासिंह उपाध्याय, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, प्रेमचन्द, पद्मसिंह शर्मा, जयशंकर प्रसाद आदि का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इनके प्रयत्न से हिन्दी साहित्य बहुत समृद्ध हो गया है। आधुनिक युग के हिन्दी साहित्यिकों मे प्रेमचन्द का स्थान सर्वोच्च है। उनके उपन्यास व कहानी-संग्रह विश्वसाहित्य की विभूतियाँ है, और उनकी गणना संसार के सर्वोत्कृष्ट आधुनिक साहित्यिकों में की जा सकती है।

भारत के नव जागरण के परिणामस्वरूप हिन्दी-साहित्य के उत्कर्ष की जो प्रक्रिया बीसवीं सदी के प्रारम्भ मे शुरू हुई थी, वह अब तक भी पूर्ण वेग के साथ जारी है। आधुनिक समय के हिन्दी साहित्यिकों मे मैथिली शरण गुप्त, राहुल साकृत्यायन, रामनरेश त्रिपाठी, महादेवी वर्मा, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', यशपाल आदि का बहुत ऊंचा स्थान है, और इनकी कृतियाँ हिन्दी साहित्य के लिये गौरव की वस्तु है। न केवल साहित्य के क्षेत्र मे, अपितु इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति-शास्त्र, रसायन, चिकित्साशास्त्र, भौतिक विज्ञान आदि आधुनिक विषयों पर भी हिन्दी मे उत्कृष्ट ग्रन्थों की रचना तेजी के साथ हो रही है, और वह समय दूर नहीं है, जबकि संसार की अन्य उन्नत भाषाओं के समान हिन्दी-भाषा का वाङ्मय भी अत्यन्त उन्नत दशा को प्राप्त हो जाएगा।

गुजराती, मराठी, उर्दू, तमिल, तेलगू आदि अन्य भाषाओं की भी ब्रिटिश युग मे बहुत उन्नति हुई। हाली, मुहम्मद इकबाल, अकबर आदि कवियों ने उर्दू मे इस प्रकार के काव्य की रचना की, जिससे भारत के नव जागरण मे बहुत सहायता मिली। इकबाल का 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा' गीत उत्तरी भारत के घर-घर में गाया जाने लगा, और उसने सर्वसाधारण जनता मे राष्ट्रीय चेतना को उत्पन्न करने मे बहुत सहायता की। हाली ने अपने काव्य द्वारा इस्लाम के लुप्त गौरव की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया, और भविष्य मे फिर उन्नति करने के लिये उन्हें प्रेरणा दी। मराठी भाषा के आधुनिक साहित्यिकों मे लोकमान्य तिलक, केलकर, फड़के, हरिनारायण आपटे आदि के नाम बहुत प्रसिद्ध है। गुजराती मे रमन लाल बसन्त लाल देसाई और कन्हैया लाल माणिक लाल मुन्शी ने बहुत-से साहित्यिक ग्रन्थ लिखे। धूमकेतु, चन्द्रवदन मेहता, चुन्नीलाल, बलवन्तराम आचार्य आदि साहित्यिकों की गुजराती रचनाओं ने भी बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की। उत्तरी भारत की विविध भाषाओं के समान दक्षिण की तमिल, तेलगू आदि भाषाओं मे भी ब्रिटिश युग मे नये साहित्य का निर्माण हुआ। भारत के इन साहित्यकारों का परिचय इस पुस्तक में दे सकना न

सम्भव है, और न उसकी आवश्यकता ही है। ध्यान देने योग्य बात केवल यह है, कि ब्रिटिश शासन की स्थापना होने के बाद भारत मे नवजागरण की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई थी, उसमे नवीन साहित्य ने बहुत सहायता पहुँचाई, और नवयुग का यह साहित्य स्वयं भी भारत के इस जागरण का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम है। भारत के इस नवीन साहित्य में न निराशा की भावना है, और न ही जनता को मोहनिद्रा मे सुलाने वाले विलास की अभिव्यक्ति। भारत का यह नया साहित्य प्रगतिशील है। इसे पढकर देश की दुर्दशा की अनुभूति होती है और साथ ही अपने उत्कर्ष की उत्कट अभिलाषा इससे उत्पन्न होती है। स्त्रियों की हीन दशा, अछूतों की समस्या, भारत का प्राचीन गौरव, ऊँच-नीच की भावना और जाति भेद की बुराई, जमींदारी प्रथा के दोष आदि विषय थे, जिन्हे लेकर इस युग के पहले साहित्यिकों ने अपनी रचनाएं कीं। विदेशी शासन के विरुद्ध भावना उत्पन्न करने मे इस साहित्य ने बहुत उपयोगी कार्य किया। जब भारत मे स्वराज्य स्थापित हो गया, तो भारत के साहित्यिक उन समस्याओं की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट करने के लिये तत्पर हुए, जो पूँजीपतियो के शोषण और गरीब-अमीर के भेद-रूप मे अब तक भी हमारे देश मे विद्यमान है। भारत के उज्ज्वल भविष्य का यह ज्वलन्त प्रमाण है।

(५) कला और संगीत

जिस प्रकार अफगान और मुगल लोगों के सम्पर्क से भारत की वास्तु-कला, चित्रकला, सगीत और नृत्यकला मे नवीन तत्त्वों का प्रवेश हुआ था, उसी प्रकार अब ब्रिटिश लोगो के सम्पर्क द्वारा भी हुआ। नवजागरण के युग मे जिस नई चित्रकला का विकास भारत मे हुआ, उसका प्रधान श्रेय हैवेल और अवनीन्द्रनाथ टैगोर को है। श्री हैवेल कलकत्ता के 'स्कूल आफ आर्ट्‌स' के आचार्य (प्रिंसिपल) थे। उन्हें भारत की प्राचीन चित्रकला से बहुत प्रेम था, और उसके तत्त्वो को नवयुग के भारतीयों के सम्मुख उपस्थित करने के सम्बन्ध मे उन्होंने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। अवनीन्द्रनाथ टैगोर ने चित्रकला की शिक्षा पाश्चात्य कलाकारो द्वारा प्राप्त की थी। पर उन जैसे प्रतिभाशाली व भावुक भारतीय कलाकार का हृदय पाश्चात्य कला का अनुसरण करने मात्र से सन्तोष अनुभव नही कर सकता था। हैवेल के सम्पर्क मे आकर उन्हें भारत की प्राचीन व मध्यकालीन चित्रकलाओ का बोध हुआ, और उनके प्रमुख तत्त्वों का अपनी कला मे समावेश करके उन्होने एक ऐसी नई शैली का विकास किया, जो आज तक भारत के प्रगतिशील कलाकारो के लिये आदर्श व अनुकरणीय बनी हुई है। सुरेन्द्र गागुली, नन्दलाल बोस, असित कुमार हालदार आदि प्रसिद्ध कलाकारों ने अवनीन्द्रनाथ टैगोर के सम्पर्क में ही अपनी कला का विकास किया। अवनीन्द्रनाथ ने कलकत्ता मे 'इण्डियन सोसाइटी आफ ओरियन्टल आर्ट' (प्राच्य कला की भारतीय परिषद्) का संगठन किया, जिसका प्रधान उद्देश्य भारतीय कला की प्राचीन परम्परा का पुनरुद्धार करना था। कला के क्षेत्र मे भारत का यह पुनर्जागरण था। इससे पूर्व पाश्चात्य लोगों का अन्धानुकरण कर जो चित्रकला भारत मे विकसित होने लगी थी, उसमे भारत की हार्दिक अनुभूति की अभिव्यक्ति नही हो पाती थी। रविवर्मा के चित्र इस कला के

उदाहरण हैं । यद्यपि रविवर्मा के चित्रों का विषय भारत के प्राचीन आख्यान हैं, पर उन्हे देखकर कोई मनुष्य प्राचीन वातावरण मे नही पहुँच पाता । उनकी आलोचना करते हुए हैवेल ने लिखा है—रविवर्मा के चित्रो मे महाभारत के वीर पुरुषो की आकृति आजकल के खिदमतगारो के समान, राधा और सीता की आकृति वर्तमान समय की आयाओ के सदृश और राक्षस स्त्रियों का रूप आजकल की कुली स्त्रियो के समान बनाया गया है, जो वास्तविकता के सर्वथा प्रतिकूल है । अवनीन्द्रनाथ टैगौर और उसकी शिष्य मंडली द्वारा इस दशा में परिवर्तन आया, और इस प्रकार के चित्र बनने शुरू हुए, जो न केवल भारत की प्राचीन परम्परा के अनुरूप है, पर साथ ही जो इस देश की आत्मा को अभिव्यक्त करते हैं । अवनीन्द्रनाथ और हैवेल ने जिस रूप मे भारत की प्राचीन व मध्यकालीन चित्रकला के सौन्दर्य को प्रकट किया, उससे पाश्चात्य कलाकार भी इसकी ओर आकृष्ट हुए, और वे इसकी उत्कृष्टता को स्वीकार करने लगे । विदेशियो का ध्यान भारत की चित्रकला की ओर आकृष्ट करने मे आनन्द कुमार-स्वामी ने भी बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया । उन्होने अमेरिका और यूरोप मे भारतीय कला के सम्बन्ध मे बहुत-से व्याख्यान दिये, और इसी विषय पर अनेक पुस्तको की भी रचना की । पाश्चात्य जगत् के कलाकार अब इस बात को स्वीकार कर चुके है, कि वास्तुकला और चित्रकला के क्षेत्र में भारतीयो ने अनुपम प्रतिभा का प्रदर्शन किया था, और उनकी कलात्मक कृतियाँ उत्कृष्ट है । हैवेल और कुमारस्वामी के प्रयत्नों का ही परिणाम है, कि अब पाश्चात्य देशो मे ऐसी अनेक सस्थाए कायम हो गयी है, जो भारतीय कला का विशेष रूप से अनुशीलन करने मे तत्पर रहती है ।

अवनीन्द्रनाथ टैगौर और उनकी शिष्य मण्डली के अतिरिक्त अन्य भी अनेक ऐसे कलाकार इस युग मे हुए, जिन्होने स्वतन्त्र रूप से भारतीय चित्रकला का विकास किया । इसमे अब्दुलरहमान चुगताई और अमृत शेरगिल के नाम उल्लेखनीय है । कलकत्ता, शान्तिनिकेतन बोलपुर, लखनऊ आदि स्थानो पर अनेक ऐसी सस्थाए भी इस युग मे कायम हुई, जिन्होने चित्रकला के विकास के सम्बन्ध मे महत्त्वपूर्ण कार्य किया ।

चित्रकला के समान संगीत और नाट्य के क्षेत्र मे भी ब्रिटिश युग मे भारत में नवजागरण हुआ । पडित विष्णुनारायण भटखण्डे ने बम्बई की ज्ञानोत्तेजक मण्डली द्वारा सगीत के प्रचार मे बहुत कार्य किया । उन्ही के प्रयत्न से १९१६ मे अखिल भारतीय संगीत सम्मेलन का बडौदा मे प्रथम अधिवेशन हुआ, और उसके बाद अन्य स्थानों पर भी इस सम्मेलन के अधिवेशन हुए । भटखण्डे ने बडौदा मे सगीत के उत्कर्ष के लिए एक नई सस्था की भी स्थापना की । विष्णु दिगम्बर ने गाधर्व महाविद्यालय की स्थापना कर संगीत के प्रति जनता मे बहुत अधिक रुचि उत्पन्न की । उनके शिष्य आजकल भारत के प्रधान संगीताचार्य माने जाते है । विष्णु दिगम्बर द्वारा गाया हुआ 'रघुपति राघव राजाराम, पतित पावन सीताराम' गीत आज भारत के घर-घर मे गाया जाता है । रवीन्द्र नाथ टैगोर द्वारा बगाल मे सगीत की एक नई परम्परा का प्रारम्भ हुआ, जो 'रवीन्द्र संगीत' के नाम से प्रसिद्ध है । जालन्धर मे नियमपूर्वक सगीत सम्मेलन संगठित होते रहे, जिनसे उत्तरी भारत के सगीत प्रेमियो को बहुत प्रोत्साहन मिला । सिनेमा के प्रवेश के कारण भारत के प्राचीन सगीत को कुछ धक्का अवश्य लगा, और

जनता की रुचि कलात्मक संगीत की ओर से हटकर फिल्मी गीतों की ओर बढने लगी। पर प्राचीन व मध्यकालीन कला के अनुयायी ऐसे संगीताचार्य अब भी भारत मे विद्यमान है, जो सर्वसाधारण जनता को भी अपनी कला द्वारा मन्त्र-मुग्ध करने की सामर्थ्य रखते हैं। सुरुचि सम्पन्न लोग इनकी कला का आदर करते हैं, और शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ कलात्मक संगीत के प्रति जनता की रुचि मे निरन्तर वृद्धि हो रही है।

अन्य क्षेत्रो में नवजागरण के साथ ही नृत्य की कत्थक, कथाकली, भारत-नाट्यम्, मणिपुरी आदि पुरानी शैलियो के प्रति भी जनता की रुचि बढ रही है। उदय-शकर, रामगोपाल आदि नृत्याचार्यों के प्रयत्न से न केवल भारत मे अपितु विदेशो मे भी भारत की नृत्यकला का आदर होने लगा है।

अंग्रेजी शासन की स्थापना के साथ ही भारत मे पाश्चात्य वास्तुकला का भी प्रवेश हुआ। भारत मे अंग्रेजो की पहली राजधानी कलकत्ता थी। विक्टोरिया मेमोरियल आदि जो नई इमारते अंग्रेजो द्वारा कलकत्ता में बनवाई गयी, उनका निर्माण पाश्चात्य वास्तुकला के अनुसार ही किया गया था। दिल्ली को राजधानी बनाने के बाद अंग्रेजो ने वहाँ भी बहुत-सी नई इमारते बनवाई। नई दिल्ली के रूप मे एक नया नगर ही इस युग मे बस गया, जो दिल्ली के तुगलकाबाद, शाहजहानाबाद आदि के समान भारतीय इतिहास के एक नवीन युग का प्रतिनिधि है। इस नगर मे राष्ट्रपति भवन, पार्लियामेट हाउस आदि जो प्रसिद्ध इमारते हैं, वे सब पाश्चात्य वास्तुकला के अनुरूप है। नई दिल्ली नगरी का आयोजन भी पाश्चात्य कला के अनुसार ही किया गया है। बम्बई, मद्रास, लखनऊ, लाहौर आदि अन्य बडे नगरो मे भी इस काल मे पाश्चात्य वास्तुकला के अनुसार नई-नई इमारतों का निर्माण हुआ, और बहुत-से भारतीय भी अपने भवनो का निर्माण करने के लिए इस नवीन कला का अनुसरण करने लगे। पर यह सम्भव नही था, कि नवजागरण का प्रभाव वास्तुकला पर न पडता। अनेक कल्पनाशील व्यक्तियो ने इस क्षेत्र मे भी भारत की प्राचीन कला का पुनरुद्धार करने का प्रयत्न किया। रवीन्द्रनाथ टैगोर के शान्ति निकेतन की अनेक इमारतो मे भारतीय कला का अनुसरण किया गया, और दिल्ली आदि के बिडला मन्दिरो मे भी इसी कला के अनेक विशिष्ट तत्त्वो को अपनाया गया। इसमे सन्देह नही, कि भवन निर्माण जैसे कार्य मे आधुनिक युग की प्रवृत्तियो की उपेक्षा कर सकना सम्भव नही है। पर भारत की जलवायु को दृष्टि मे रखते हुए यह भी सम्भव नही है, कि इस देश की इमारतें इगलैण्ड व फास जैसे शीतप्रधान देशो की नकल मात्र हो। इसीलिए वास्तुकला के क्षेत्र मे पुरानी परिपाटी का अनुसरण क्रियात्मक दृष्टि से भी उपयोगी है। साथ ही, जहाँ तक कला का सम्बन्ध है, भारत के आधुनिक भवनों मे उसका उपयोग सौन्दर्य की वृद्धि मे अवश्य सहायक होता है। यही कारण है, कि प्रगतिशील लोग वास्तुकला के क्षेत्र मे भी प्राचीन परम्परा के उपयोगी व कलात्मक तत्त्वो के प्रयोग के पक्षपाती हैं।

चित्रकला, संगीत, नाट्य, वास्तुकला आदि सभी क्षेत्रो में जो नई उन्नति बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध मे प्रारम्भ हुई, वह भारत के उस नवजागरण की प्रक्रिया का ही परिणाम था, जो इस देश को उन्नति पथ पर आरूढ़ करने मे समर्थ हुई है।

तीसवाँ अध्याय

ब्रिटिश-युग में भारत की भौतिक उन्नति

(१) नई भौतिक उन्नति

संसार के इतिहास मे आधुनिक युग की एक मुख्य विशेषता यह है कि इस काल मे मनुष्य ने प्रकृति पर विजय प्राप्त कर उसका उपयोग अपनी सुख-समृद्धि के लिये किया। अत्यन्त प्राचीन काल मे मनुष्य अपने को प्रकृति के सम्मुख असहाय अनुभव करता था। जल, वायु, अग्नि, सूर्य आदि प्रकृति के तत्त्वो को वह आश्चर्य के साथ देखता था, और उनके सामने सिर झुका देने मे ही अपना हित व कल्याण समझता था। इसीलिये इन सब प्राकृतिक शक्तियों मे उसने देवत्व की भावना की, और अनेक प्रकार के विधि-विधानों व अनुष्ठानो द्वारा उन्हे सन्तुष्ट करने का प्रयास किया। वायु, अग्नि आदि जीवित जागृत सत्ताएँ है, जो कुपित होकर मनुष्य का अनर्थ कर सकती है, अतः उन्हे सन्तुष्ट रखने मे ही मनुष्य का लाभ है—ये विचार प्रस्तर-युग व उसके बाद के मनुष्यो मे प्रायः सर्वत्र विद्यमान थे। पर धीरे-धीरे मनुष्य ने इन प्राकृतिक तत्त्वो का उपयोग शुरू किया। अग्नि को वह भोजन पकाने व अस्त्र-शस्त्रो के निर्माण के लिये प्रयुक्त करने लगा। जल और वायु की शक्ति से उसने चक्कियाँ चलाई। पर आधुनिक युग से पूर्व मनुष्य प्रकृति पर उस प्रकार से विजय नही पा सका था, जैसी कि उसने अठारहवी सदी के बाद प्राप्त की है। वैज्ञानिक परीक्षणो द्वारा मनुष्य ने यान्त्रिक शक्ति का आविष्कार किया, और भाप, बिजली गैस आदि की शक्तियो का प्रयोग वह आर्थिक उत्पत्ति के लिये करने मे तत्पर हुआ। यही कारण है, जो पिछली दो सदियो मे मनुष्य भौतिक क्षेत्र मे इतनी अधिक उन्नति कर सका है।

समाज और राजनीति के क्षेत्रो मे भी आधुनिक युग मे जो कुछ प्रगति हुई है, उसका आधारभूत कारण मनुष्य की यह भौतिक उन्नति ही है। व्यावसायिक क्रान्ति के कारण मनुष्य बडे पैमाने पर आर्थिक उत्पत्ति करने मे समर्थ हुआ। यान्त्रिक शक्ति से चलने वाले विशालकाय कारखानो मे कार्य करने के लिये हजारो मजदूर बडे नगरो मे एकत्र होने लगे। इस नई परिस्थिति के कारण व्यावसायिक जीवन का स्वरूप ही एकदम परिवर्तित हो गया। अपने घर पर बैठ कर स्वतन्त्र रूप से कार्य करने वाले शिल्पियों का स्थान अब कारखानो मे काम करने वाले मजदूरो ने ले लिया, जो पूंजी-पतियो के वशवर्ती होकर आर्थिक उत्पत्ति मे तत्पर हुए। इस दशा में विचारशील मनुष्यों ने यह सोचना शुरू किया, कि विविध मनुष्यों मे परस्पर किस प्रकार का सम्बन्ध होना चाहिये। इसी कारण 'समाजवाद' आदि नई विचारधाराओं का विकास हुआ, जो मानव समाज के स्वरूप को ही परिवर्तित कर देने के लिये प्रयत्नशील है। छापे-खाने, कागज आदि के आविष्कार के कारण विद्या व ज्ञान केवल कतिपय व्यक्तियो तक ही सीमित नही रह गये, और सर्वसाधारण जनता को भी शिक्षित होने व नये विचारों

से परिचित होने का अवसर मिला। राजाओं के एकतन्त्र शासन व कुलीन वर्ग के विशेषाधिकारों के विरुद्ध भावना उसमें उत्पन्न हुई, और लोकतन्त्रवाद का विकास हुआ।

रेल, तार, रेडियो, हवाई जहाज आदि के आविष्कार के कारण देश और काल पर विजय स्थापित हुई, और संसार के विविध देश एक-दूसरे के बहुत समीप आ गये। इन्हीं भौतिक साधनों का यह परिणाम है, कि आज अमेरिका में जो नया आविष्कार होता है, वह शीघ्र ही भारत, चीन, अफ्रीका आदि में भी पहुँच जाता है, और रूस या जर्मनी से जो नई विचारधारा शुरू होती है, वह भी शीघ्र ही अन्य देशों के विचारकों को भी प्रभावित करने लगती है।

भौतिक उन्नति के इस युग में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि भारत में भी उन सब नये साधनों का उपयोग शुरू होता, जिनका आविष्कार यूरोप में अठारहवीं सदी में प्रारम्भ हुआ था, और जिनमें बाद के काल में निरन्तर उन्नति होती गई। विज्ञान व विचार हवा के सदृश होते हैं, जो कभी किसी एक देश तक सीमित नहीं रह सकते। आधुनिक युग में भारत में जो भौतिक उन्नति हुई, उसका श्रेय प्रायः ब्रिटिश शासकों को दिया जाता है। पर इस उन्नति के लिये ब्रिटिश शासकों का रुख सहायक न होकर बाधक था। यह सत्य है, कि अंग्रेजों ने भारत में रेलवे का निर्माण किया, डाक, तार आदि की व्यवस्था की, अनेक सड़कें बनवाईं, और नई नहरें खुदवाईं। पर इन सब कार्यों में उनका उद्देश्य अपने शासन को सुदृढ़ और सुव्यवस्थित करना ही था। भारतीय जनता की भौतिक उन्नति की उन्हें कोई विशेष चिन्ता नहीं थी। वे भारत को इंग्लैण्ड की आर्थिक समृद्धि का साधनमात्र समझते थे। इसी कारण उनकी यह नीति थी, कि इस देश में व्यवसायों का विकास न होने पाए। यहाँ केवल कच्चे माल की ही उत्पत्ति हो, जिसे सस्ती कीमत पर प्राप्त कर इंग्लैण्ड के कारखानों को समृद्ध व उन्नत होने का अवसर मिल सके। उन्नीसवीं सदी के अन्त तक अंग्रेजों का यही प्रयत्न रहा कि, भारत से कपास, जूट आदि सस्ते मूल्य पर खरीद कर उसे इंग्लैण्ड के कारखानों में तैयार माल के रूप में परिणत किया जाए, और फिर उसे ऊँची कीमत पर भारत में बेचा जाए। बीसवीं सदी में इस नीति में परिवर्तन आया। पर इसका कारण अंग्रेजों का भारत-प्रेम नहीं था। १९१४–१८ के महायुद्ध के अवसर पर युद्ध की आवश्यकताओं से विवश होकर अंग्रेजों ने भारत की व्यावसायिक उन्नति पर ध्यान दिया और इस देश में उस भौतिक उन्नति का सूत्रपात हुआ, जिसके कारण आज भारत को व्यावसायिक क्षेत्र में एशिया के सर्वाधिक उन्नत देशों में गिना जाता है।

पर इसमें सन्देह नहीं, कि उन्नीसवीं सदी में ही भारत में भौतिक उन्नति की दृष्टि से नवयुग के चिह्न प्रगट होने शुरू हो गये थे। ये चिह्न निम्नलिखित क्षेत्रों में प्रगट हुए—

(१) रेलवे—भारत में पहले-पहल रेलवे का निर्माण १८५३ ई० में हुआ। शुरू में जो रेलवे लाइनें बनीं, वे केवल बम्बई, कलकत्ता और मद्रास के समीपवर्ती प्रदेशों में ही थीं। बाद में इनकी बहुत वृद्धि हुई। भारत के विविध क्षेत्रों में रेलवे का निर्माण करने के लिये इंग्लैण्ड में अनेक कम्पनियाँ खोली गयीं, जिन्हें सरकार की ओर

से यह गारण्टी दी गयी, कि यदि उनका मुनाफा पाँच प्रतिशत से कम होगा, तो उसे भारतीय सरकार की ओर से पूरा कर दिया जाएगा। अपने रुपये के सूद व मुनाफे के विषय मे निश्चिन्त होकर अग्रेज पूंजीपतियो ने भारतीय रेलवे कम्पनियो मे दिल खोलकर रुपया लगाया, और इस कारण इस देश मे रेलवे का विस्तार बड़ी तेजी के साथ होने लगा। उन्नीसवी सदी के अन्त तक भारत मे रेलवे लाइनो का एक जाल-सा बिछ गया था। बीसवी सदी मे रेलवे का और अधिक विस्तार हुआ, और अब वह समय आ चुका है जबकि यातायात की दृष्टि से भारत को संसार के उन्नत देशो मे गिना जा सकता है। नि.सन्देह, रेलवे के कारण भारत मे यातायात की बहुत सुविधा हो गई, और इससे देश के आन्तरिक और विदेशी व्यापार मे बहुत सहायता मिली।

(२) रेलवे लाइनो के साथ-साथ अंग्रेजी सरकार ने पक्की सडको के निर्माण पर भी ध्यान दिया। भारत मे सडकें पहले भी विद्यमान थी, और यातायात व व्यापार के लिये उनका उपयोग भी होता था। पर ककड और तारकोल द्वारा जिस ढग की नई सड़के इस युग मे बनी, उनसे मोटर कार आदि यान्त्रिक शक्ति से चलने वाले यानो के लिये भी उनका उपयोग सुगम हो गया।

(३) रेलवे के विस्तार से पूर्व भारत मे जलमार्गों का बहुत महत्त्व था। गगा आदि नदियो मे चलने वाली नौकाओ से माल को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाने मे बहुत सहायता मिलती थी। इसी प्रकार समुद्र तट के साथ-साथ उस समय बहुत-से जहाज भी चला करते थे। अंग्रेजी शासन में रेलों के चलने के कारण इन जलमार्गों का महत्त्व बहुत कम हो गया। समुद्र-तट के साथ-साथ व्यापार के लिए जहाजो का प्रयोग इस युग मे भी जारी रहा, पर ये जहाज भारतीयो के हाथ से निकल कर अंग्रेजी कम्पनियो के स्वामित्व मे आ गये। भारत के विदेशी व्यापार के लिये भी भाप की शक्ति से चलने वाले विशालकाय जहाजो का प्रयोग शुरू हुआ। पर ये जहाज भी अंग्रेजो की ही सम्पत्ति थे। यद्यपि भारत के आन्तरिक व बाह्य जलमार्ग और उनमें चलने वाले जहाज ब्रिटिश युग मे भारतीयो के स्वामित्व मे नही रहे, पर यह स्वीकार करना होगा कि भाप की शक्ति से सचालित विशालकाय जहाजो के कारण भारत के विदेशी व्यापार मे बहुत सहायता मिली, और इससे उसकी भौतिक उन्नति भी पहले की अपेक्षा अधिक हो गयी।

(४) भारत जैसे कृषि-प्रधान देश के लिए सिंचाई का महत्त्व बहुत अधिक है। प्राचीन और मध्य कालो मे भी अनेक राजाओं ने सिंचाई के लिए नहरे निकालने की बात पर बहुत ध्यान दिया था। ब्रिटिश शासको ने भी भारत की इस समस्या को महत्त्व दिया। इसी कारण १८७४ मे आगरा कैनाल का, १८७८ मे गंगा की नहर का, और १८८२ मे पश्चिमी यमुना कैनाल का निर्माण हुआ। गंगा-यमुना द्वारा सिंचित प्रदेशों मे सिंचाई के लिये इन नहरो से बहुत सहायता मिली। १८९० ई० मे चनाब नदी से एक बडी नहर पंजाब में निकाली गयी, जिससे बीस लाख एकड परती पडी हुई जमीन की सिचाई का प्रबन्ध हुआ। चनाब और रावी नदियो के बीच का बहुत-सा प्रदेश इस नहर के निकलने से पूर्व ऊजड पडा हुआ था। १९०१ तक इस प्रदेश में ८,००,००० मनुष्य आबाद हो गये थे, जो इस नहर की उपयोगिता का स्पष्ट प्रमाण है। बीसवीं

सदी में ब्रिटिश सरकार ने सिंचाई की समस्या पर और अधिक ध्यान दिया। इसके परिणामस्वरूप पंजाब मे सतलज-वेली प्रोजेक्ट, सिन्ध मे सक्खर बेरेज, मद्रास मे कावेरी-रिजर्वोयर, बाम्बे मे लायड-डाम और उत्तर प्रदेश मे शारदा कैनाल का निर्माण किया गया। नहरो के अतिरिक्त ट्यूबवेल बनाने पर भी सरकार ने ध्यान दिया, और इन सब प्रयत्नो के कारण कृषि की बहुत उन्नति हुई।

(५) डाक, तार और टेलीफोन के सम्बन्ध मे जो उन्नति ब्रिटिश युग मे हुई, उसका विशद रूप से उल्लेख कर सकना यहाँ सम्भव नही है। ये सब जहाँ ब्रिटिश शासन की सुव्यवस्था के लिए अत्यन्त उपयोगी थे, वहाँ साथ ही जनता को भी इनसे लाभ उठाने का अवसर मिलता था। भौतिक उन्नति की अन्य अनेक बातो के समान डाक, तार और टेलीफोन भी आधुनिक युग की ही देन हैं। पाश्चात्य देशो में भी इनका विकास इसी युग मे हुआ था। अग्रेजी शासन मे भारत को जिस प्रकार रेलवे प्राप्त हुई, वैसे ही डाक, तार और टेलीफोन की सुविधा भी प्राप्त हुई। इनसे भारत के व्यापार-व्यवसाय और भौतिक उन्नति मे बहुत अधिक सहायता मिली।

रेलवे, पक्की सडके, नहरे, जहाज, डाक, तार आदि भारत के आर्थिक जीवन मे एक नया युग लाने मे समर्थ हुए। इनके कारण जहाँ भारतीय जनता का जीवन पहले की अपेक्षा अधिक सम्पन्न बना, वहाँ साथ ही उसे व्यवसाय और व्यापार के क्षेत्रो मे उन्नति करने का भी अवसर मिला।

(२) व्यवसाय और व्यापार

ब्रिटिश लोगो ने भारत मे अपना शासन स्थापित कर इस देश के व्यवसायों के सम्बन्ध मे किस नीति का अनुसरण किया था, उसका निर्देश हम इसी अध्याय मे ऊपर कर चुके है। अग्रेजो के आगमन से पूर्व भारत शिल्प और व्यवसाय की दृष्टि से अच्छी उन्नत दशा मे था। इस देश मे तैयार हुआ माल विदेशो में अच्छी बडी मात्रा मे बिकता था और यूरोप के बाजारो में बंगाल के वस्त्र की माँग बहुत अधिक थी। भारत के व्यापार से आकृष्ट होकर ही यूरोपियन लोगो ने यहाँ आना शुरू किया था। सत्रहवी सदी के अन्त तक अग्रेज लोग भारत के व्यापार से ही सन्तुष्ट रहे। पर अठारहवी सदी मे इग्लैण्ड मे व्यावसायिक क्रान्ति हुई, और यान्त्रिक शक्ति का उपयोग कर वहाँ के कारखाने बडी अच्छी मात्रा मे वस्त्र आदि तैयार माल उत्पन्न करने लगे। इधर जब भारत मे अंग्रेज आधिपत्य स्थापित होने लगा, तो अग्रेजों ने स्वाभाविक रूप से यह प्रयत्न किया, कि वे अपने माल को भारत के बाजारो मे बेचकर रुपया कमाये, और अपने देश के कारखानों के लिए आवश्यक कपास आदि कच्चा माल यहाँ से सस्ती कीमत पर प्राप्त करें। इस दशा में उन्होंने भारत के शिल्पों को नष्ट करने के लिए अनेक घृणित उपायो का प्रयोग किया। राजशक्ति का सहारा लेकर उन्होने बगाल के वस्त्र-व्यवसाय को नष्ट करने के लिये सब प्रकार के उपायो को प्रयुक्त किया। इस प्रकार अंग्रेजी शासन का एक हानिकारक परिणाम यह हुआ, कि भारत के पुराने व्यवसाय नष्ट होने लगे, और इस देश के बाजार इंगलैण्ड के कारखानो में तैयार हुए माल से भर गए। अंग्रेज चाहते थे, कि भारत केवल कृषि-प्रधान देश बना रहे, ताकि

यहाँ के कच्चे माल को सस्ती कीमत पर खरीद सकना उनके लिए जरा भी कठिन न हो। इसी कारण उन्नीसवी सदी के चतुर्थ चरण के प्रारम्भ होने तक भारत मे व्यावसायिक उन्नति जरा भी न होने पाई। अग्रेजी शासन की पहली सदी भारत के आर्थिक जीवन के लिये बहुत ही भयकर थी। इस काल मे सरकार 'मुक्त-द्वार वाणिज्य' की नीति का अनुसरण करती थी, जिसके कारण भारत के कारखानो के लिये विदेशी प्रतिस्पर्द्धा का मुकाबला कर सकना सर्वथा असम्भव था। प्रथम तो इस युग मे भारत मे कारखानो का विकास हुआ ही नही था, पर परम्परागतगत रूप से जो कतिपय शिल्प व व्यवसाय इस देश मे विद्यमान थे, उनके लिये इग्लैण्ड के यान्त्रिक शक्ति से चलने वाले कारखानों का मुकाबला कर सकना असम्भव था। यूरोप मे इस समय व्यावसायिक क्रान्ति हो चुकी थी। यद्यपि भारत मे अभी उसका श्रीगणेश नहीं हुआ था, पर नये वैज्ञानिक आविष्कारो का लाभ भारत को भी पहुँचने लगा था। रेल, तार आदि के प्रवेश के कारण जनता की सुविधा मे वृद्धि हो गयी थी। बिजली की रोशनी से कलकत्ता और बम्बई सदृश बड़े शहर जगमगाने लगे थे। यातायात के लिये बिजली से चलने वाली ट्राम गाडियो का भी प्रयोग होने लगा था। ये सब बाते मनुष्यो व सुख व सुविधा की वृद्धि मे सहायक तो थी, पर पाश्चात्य संसार की वैज्ञानिक उन्नति का प्रयोग ब्रिटिश शासकों ने भारत की आर्थिक व व्यावसायिक उन्नति के लिये नही किया था। इसीलिये शुरू मे जो नये ढंग के कारखाने भारत मे खोले गये, उन्हे बहुत दिक्कतो का सामना करना पडा।

कपडे का पहला कारखाना भारत मे १८१८ ई० मे खुला था। पर इसके कारण भारत मे वस्त्र-व्यवसाय के विकास का प्रारम्भ नहीं हो गया था। उन्नीसवी सदी के मध्य भाग (१८५४ ई०) मे जब बम्बई में कपडे के कारखाने खुलने लगे, तभी वस्तुत इस व्यवसाय का विकास शुरू हुआ। १८७७ ई० के बाद नागपुर, अहमदाबाद, शोलापुर आदि अनेक स्थानों पर कपडे की मिलें कायम हुई। बग भग के कारण १९०५ मे जब स्वदेशी आन्दोलन ने जोर पकड़ा, तो भारत के अनेक धनी व सम्पन्न लोगो का ध्यान व्यावसायिक उन्नति की ओर आकृष्ट हुआ, और अनेक नई मिले खुलनी प्रारम्भ हुई। पर इन मिलो के लिये सफल हो सकना सुगम नही था। भारत के बाजार पर अग्रेजी कपडे का प्रभुत्व था। लकाशायर और लिवरपूल की मिले अपनी प्रभूत पूँजी और दीर्घ अनुभव के कारण जिस ढग का कपडा तैयार करती थी, वैसा भारत की मिले नही बना सकती थी। साथ ही, कीमत की दृष्टि से भी विलायती कपड़ा सस्ता पड़ता था। इस दशा मे स्वदेशी मिलें तभी कामयाब हो सकती थी, जब कि सरकार उनकी सहायता करती, और सरक्षण नीति का उपयोग कर स्वदेशी मिलों की रक्षा करने के लिये तत्पर होती। पर भारत की ब्रिटिश सरकार ने मुक्त-द्वार वाणिज्य की नीति का अनुसरण किया। जब आर्थिक आमदनी की आवश्यकता से विवश होकर सरकार ने अग्रेजी माल के आयात पर कर लगाया, तो साथ ही भारतीय मिलो द्वारा तैयार किये गए माल पर भी उतनी ही एक्साइज ड्यूटी लगा दी, ताकि आयात-कर के कारण स्वदेशी व्यवसायो को किसी प्रकार का लाभ न पहुँच सके। वस्तुतः, बीसवी सदी के प्रारम्भिक भाग तक अंग्रेजों को भारतीय व्यवसायो की उन्नति

का जरा भी ध्यान नही था। १६०५ के बाद जब जापान ने व्यावसायिक क्षेत्र मे असाधारण उन्नति की, तो उसकी मिलो मे तैयार हुआ सस्ता माल भारत के बाजारों मे प्रचुर परिणाम मे आने लगा। अंग्रेजी माल के लिये जापान और जर्मनी के सस्ते माल का मुकाबला कर सकना कठिन हो गया। विवश होकर सरकार के 'साम्राज्य-अन्तर्गत रियायती कर' (इम्पीरियल प्रिफरेन्स) की नीति का प्रयोग किया, जिसके अनुसार साम्राज्य के बाहर के देशो के माल के मुकाबले मे अंग्रेजी माल पर आयात-कर मे रियायत की जाती थी। इस नीति के कारण अंग्रेजी माल का जर्मनी और जापान के माल के मुकाबले मे सस्ता बिक सकना तो सम्भव हो गया, पर भारतीय व्यवसायो को इससे कोई मदद नही मिली।

१६१४-१८ के महायुद्ध मे जर्मनी ब्रिटेन के शत्रुपक्ष का देश था। उसका माल तो इस काल मे भारत आ ही नही सकता था, पर अंग्रेजी माल के लिये भी यहाँ आ सकना कठिन हो गया, क्योकि शत्रुपक्ष के जगी जहाजो के आक्रमण से बचकर अंग्रेजी जहाजो का भारत मे आ सकना सुगम नही था। इस दशा मे भारतीय व्यवसायो को उन्नति का सुवर्णीय अवसर प्राप्त हो गया। भारत के बाजारो मे अंग्रेजी माल की कमी हो गई, और भारतीय कारखानों का माल यहाँ प्रचुर परिमाण मे दिखाई पड़ने लगा। ब्रिटेन के शत्रुपक्ष मे तुर्की भी शामिल था। ईराक, सीरिया आदि भी इस काल मे युद्ध-क्षेत्र बने हुए थे। वहाँ ब्रिटिश पक्ष के सैनिको के लिये वस्त्र, जूते, युद्ध-सामग्री आदि जिन वस्तुओ की आवश्यकता थी, वे ब्रिटेन से नही आ सकते थे, क्योकि भूमध्य सागर मे शत्रु पक्ष के जहाज और पनडुब्बियों की प्रभुता थी। इस युद्धक्षेत्र के लिये आवश्यक सामग्री केवल भारत से ही निरापद रूप मे पहुँचायी जा सकती थी। इस दशा मे अंग्रेजी सरकार ने भी भारतीय व्यवसायो को उन्नत करने की आवश्यकता को अनुभव किया। महायुद्ध के समय सरकार भी भारत की व्यावसायिक उन्नति के लिये उत्सुक हो गयी। महायुद्ध की समाप्ति पर वस्तुओ की कीमते बहुत बढ गयी थी। इस स्थिति का भी भारतीय कारखानो ने लाभ उठाया। परिणाम यह हुआ कि १६१६ ई० के बाद भारत की व्यवसायिक उन्नति बडी तेजी के साथ हुई, और ऐतिहासिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है, कि जिस ढग की व्यावसायिक क्रान्ति का प्रादुर्भाव इगलैण्ड मे अठारहवी सदी मे हुआ था, वैसी ही व्यावसायिक क्रान्ति का भारत मे बीसवी सदी मे सूत्रपात हुआ। व्यावसायिक क्षेत्र मे जर्मनी, जापान और रूस इंगलैण्ड से प्राय: एक सदी पीछे रहे थे। पर भारत मे यह प्रक्रिया प्राय: दो सदी के बाद शुरू हुई।

बडे-बडे कारखानो की स्थापना के अनन्तर भारत मे भी पूँजीपतियों और श्रमिको की प्राय: उसी ढग की समस्याएँ उत्पन्न हुई, जैसी कि इगलैड आदि पाश्चात्य देशों में हुई थी। परिणाम यह हुआ, कि यहाँ भी श्रमी-सघो (ट्रेड यूनियन) की स्थापना हुई, और अनेक विचारशील व्यक्ति मजदूरो का सगठन करने और उनके हितों की रक्षा के लिये तत्पर हुए। इन लोगो के आन्दोलन के कारण सरकार ने अनेक ऐसे कानून बनाये, जिनका उद्देश्य कारखानों मे काम करने वाले मजदूरो की दशा मे सुधार करना था। इन कानूनों के अनुसार कारखानो में मजदूरो से अधिक-से-अधिक कितने

घण्टे प्रति सप्ताह काम लिया जा सके, उनकी भृति की न्यूनतम दर क्या हो, बीमार पड़ने और चोट खा जाने की दशा में उन्हें क्या सुविधाएँ दी जाएँ—इस प्रकार की बहुत-सी बातों की व्यवस्था की गयी। व्यावसायिक क्रान्ति के परिणाम-स्वरूप जिस प्रकार पाश्चात्य देशो में सोशलिज्म, कम्युनिज्म आदि नये आन्दोलन शुरू हुए, वैसे ही भारत में भी हुए, और यहाँ भी बहुत-से लोग वैयक्तिक सम्पत्ति और पूँजीवाद का अन्त कर आर्थिक संगठन मे नई व्यवस्था का सूत्रपात करने के लिये कटिबद्ध होने लगे।

व्यावसायिक क्षेत्र के समान अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भी ब्रिटिश युग मे अच्छी उन्नति हुई। १८५५-६० के काल मे भारत का विदेशी व्यापार ५२,००,००० रुपये वार्षिक के लगभग था। उस समय इगलैण्ड जाने वाले जहाज अफ्रीका का चक्कर लगाकर जाया करते थे। १८६९ मे जब स्वेज नहर बनकर तैयार हो गयी, तो समुद्र-मार्ग द्वारा पूर्व और पश्चिम का सम्पर्क बहुत सुगम हो गया। यूरोप आने-जाने वाले माल की ढुलाई के खर्च में भी इससे बहुत कमी हुई। इस कारण भारत के विदेशी व्यापार में बड़ी तेजी के साथ वृद्धि हुई, और सन् १९०० तक उसकी मात्रा दो करोड रुपया वार्षिक तक पहुँच गई। महायुद्ध (१९१४-१८) के बाद भारत का यह व्यापार और अधिक तेजी के साथ बढा। १९२८-२९ तक इसकी मात्रा ६ करोड रुपया वार्षिक से भी ऊपर पहुँच गयी थी। बीसवी सदी के प्रथम चरण तक भारत के विदेशी व्यापार मे कच्चे माल (कपास, जूट, तिलहन, चाय आदि) का निर्यात बहुत अधिक मात्रा में होता था, और उसके आयात माल मे वस्त्र, बाइसिकल, रेशम आदि तैयार माल का परिमाण बहुत अधिक था। ज्यों-ज्यों भारत मे व्यावसायिक उन्नति होती गयी, वस्त्र सदृश तैयार माल का आयात कम होता गया। भारत के विदेशी व्यापार मे निरन्तर वृद्धि हो रही है, पर अब वह केवल कच्चे माल का ही निर्यात नही करता, उसके तैयार माल की भी विदेशी बाजारों मे अच्छी माँग है।

इस अध्याय मे हमने ब्रिटिश युग मे हुई भौतिक उन्नति का अत्यन्त संक्षिप्त रूप से निर्देश किया है। भौतिक व आर्थिक दशा का किसी भी देश की सभ्यता एवं संस्कृति के साथ सीधा सम्बन्ध होता है। कृषि-प्रधान देश की संस्कृति की तुलना मे व्यवसाय-प्रधान देश की संस्कृति अनेक अंशो मे भिन्न होती है। रेल, तार, टेलीफोन, रेडियो और यान्त्रिक शक्ति से संचालित कारखानों ने जहाँ भारत के आर्थिक जीवन पर प्रभाव डाला है, वहाँ साथ ही यहाँ की जनता की मानसिक दशा को भी परिवर्तित किया है। आज भारत मे समाजवाद-सम्बन्धी जो अनेक आन्दोलन चल रहे है, वे इसी आर्थिक उन्नति और व्यावसायिक क्रान्ति के परिणाम है। इन आन्दोलनों ने भारत के धार्मिक, सामाजिक व नैतिक विचारो को भी अनेक अशो मे परिवर्तित किया है। आज जो भारत मे बहुत-से लोग पुरानी रूढियो, बद्धमूल धारणाओ और विश्वासों का परित्याग कर एक नये समाज के निर्माण की कल्पना को सम्मुख रखकर कार्य करने के लिये तत्पर हैं, उसका एक महत्वपूर्ण कारण वे समाजवादी आन्दोलन भी है, जो भौतिक उन्नति और व्यावसायिक क्रान्ति के कारण इस देश मे विकसित हो रहे है।

इकतीसवां अध्याय

राष्ट्रीय चेतना और राजनीतिक स्वाधीनता

(१) राष्ट्रीय चेतना

राजनीतिक क्षेत्र मे आधुनिक युग की मुख्य विशेषताएँ राष्ट्रीयता, स्वाधीनता और लोकतन्त्रवाद की भावनाए हैं। मध्यकाल मे न राष्ट्रीयता की भावना थी, न स्वाधीनता की और न लोकतन्त्रवाद की। जर्मनी, फ्रास आदि पाश्चात्य देशो मे भी तब राष्ट्रीय अनुभूति का अभाव था। प्रशिया और बवेरिया के निवासी अपने को जर्मन न मानकर प्रशियन व बवेरियन समझते थे। ग्रेट ब्रिटेन तक में स्काटलैण्ड और वेल्स के निवासी अपने को इंग्लिश लोगों से भिन्न मानते थे। राष्ट्रीय भावना के अभाव में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का विचार भी मध्य युग मे विकसित नही हुआ था। आस्ट्रिया का सम्राट् स्पेन, इटली आदि देशो का भी स्वामी हो सकता था, और किसीको इसमे कोई असाधारणता अनुभव नही होती थी। जर्मनी के अन्यतम प्रदेश का राजा ब्रिटेन के राजसिंहासन पर भी आरूढ हो सकता था, और दोनों राज्यों के निवासियो की दृष्टि मे इसमे कोई अनौचित्य नहीं था। जिन लोगो की भाषा, धर्म, ऐतिहासिक परम्परा और रीति-रिवाज आदि एक हो, उनका अपना एक पृथक् राज्य होना चाहिये, और उस राज्य पर किसी विदेशी राजा का शासन नही होना चाहिये—यह विचार मध्ययुग मे विद्यमान ही नही था। लोकतन्त्रवाद की तो कल्पना भी सत्रहवी सदी तक यूरोप मे उत्पन्न नहीं हुई थी। सर्वत्र किसी एक निरकुश व स्वेच्छाचारी राजा या किसी कुलीन श्रेणी का शासन था। फ्रास की राज्यक्रान्ति ने इस स्थिति मे क्रान्तिकारी परिवर्तन किया, और राष्ट्रीयता, स्वाधीनता व लोकतन्त्रवाद के विचारो ने जोर पकडना शुरू किया। उन्नीसवी सदी मे ये विचार निरन्तर प्रबल होते गये, और अब वह समय आ चुका है, जबकि यूरोप के विविध राज्यो का निर्माण राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के अनुसार हो गया है, और इन राज्यो मे जनता का अपना शासन कायम है।

इस दशा मे ब्रिटिश आधिपत्य के सूत्रपात के समय अठारहवी सदी मे यदि भारत मे भी राष्ट्रीयता की भावना, स्वाधीनता के विचार और लोकतन्त्रवाद का अभाव रहा हो, तो इसमे आश्चर्य की कोई बात नही है। पाश्चात्य जगत् मे आधुनिकता की जिन प्रवृत्तियो का प्रादुर्भाव इस काल मे हो रहा था, वे न केवल यूरोप को अपितु ससार के अन्य देशों को भी प्रभावित कर रही थी। भारत भी इन प्रवृत्तियो के प्रभाव से अछूता नही रहा। अंग्रेजी शिक्षा और पाश्चात्य साहित्य से परिचय के कारण भारत मे इन प्रवृत्तियों को बल मिला। धार्मिक सुधार, सामाजिक कुरीतियों के निवारण, भारत के प्राचीन गौरव का ज्ञान और नई शिक्षा द्वारा भारत मे जो नव-जागरण हो रहा था, उसने राजनीतिक क्षेत्र मे भी जागृति उत्पन्न की, और भारतीय जनता मे राष्ट्रीय चेतना प्रादुर्भूत होनी शुरू हुई।

सन् १८८३ मे ब्रिटिश सरकार ने यह व्यवस्था करने की योजना बनाई कि भारतीय न्यायाधीशों की अदालतों मे यूरोपियन लोगो के मुकदमे भी विचारार्थ पेश किये जा सकें। इससे पूर्व यूरोपियन लोगों के मुकदमों का फैसला यूरोपियन जजों द्वारा ही किया जाता था। पर सन् ५७ की राज्य-क्रान्ति के बाद जब भारत का शासन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथो से निकलकर ब्रिटिश राजा और उसकी सरकार के हाथो मे आ गया, तो शासन-कार्य मे भारतीयों के सहयोग की नीति का अनुसरण किया गया। इसी कारण अनेक सुशिक्षित भारतीय न्यायाधीश आदि के पदों पर नियुक्त किये जाने लगे। १८८३ ई० मे इल्बर्ट बिल द्वारा यह व्यवस्था की गयी थी, कि भारतीय न्याया-धीश यूरोपियन लोगों के मुकदमों पर भी विचार कर सके। पर भारत मे निवास करने वाले यूरोपियन लोगो को यह बात असह्य थी। वे यह कल्पना भी नही कर सकते थे, कि उन्हे किसी काले आदमी के सम्मुख पेश होना पडे। परिणाम यह हुआ, कि यूरोपियन लोगो ने इस बिल के विरुद्ध घोर आन्दोलन शुरू कर दिया। यूरोप के लिये इस ढंग का आन्दोलन कोई नई बात नही थी। इससे कुछ समय पूर्व इग्लैण्ड मे चार्टिस्ट आन्दोलन बहुत जोर पकड चुका था, और राजनीतिक आन्दोलन द्वारा अपनी बात को मनाने का प्रयत्न करना इग्लिश लोगों के लिये कोई असाधारण बात नही थी। इल्बर्ट बिल के विरुद्ध यूरोपियन लोगो के आन्दोलन ने इतना जोर पकडा, कि अन्त मे सरकार को उसके सम्मुख झुकना पडा। बिल मे ऐसे संशोधन किये गये, जिनसे भारत के यूरोपियन निवासी सन्तोष अनुभव कर सकें।

भारत के शिक्षित वर्ग के लिये यूरोपियन लोगो का यह आन्दोलन एक उदाहरण बन गया। उन्होंने अनुभव किया, कि राजनीतिक आन्दोलन मे इतनी अधिक शक्ति होती है, कि उसके सम्मुख सरकार को भी झुकना पडता है। उन्होने सोचा, कि यदि भारतीयों को भी संगठित किया जा सके, और उनकी सम्मिलित आवाज को सरकार तक पहुँचाया जा सके, तो उसका परिणाम अवश्य निकलेगा। इसीलिये १८८५ मे (इल्बर्ट बिल के विरुद्ध यूरोपियन आन्दोलन शुरु होने के केवल दो साल बाद) इण्डियन नेशनल काग्रेस की स्थापना की गयी, जो धीरे-धीरे भारत की सर्वप्रधान राजनीतिक शक्ति बन गयी। पर यह ध्यान मे रखना चाहिए, कि १८८५ मे काग्रेस भारत की सर्व-साधारण जनता का प्रतिनिधित्व नही करती थी। इस काल मे जन-साधारण मे राज-नीतिक चेतना का प्रादुर्भाव नही हुआ था। समाज-सुधार व धार्मिक सुधार के जो विविध आन्दोलन भारत मे नवजागरण उत्पन्न कर रहे थे, उनके कारण जनता अपने देश की पराधीनता और राजनीतिक दुर्दशा का अनुभव करने लगी थी। उसका ध्यान भारत के लुप्त गौरव की ओर भी आकृष्ट होने लगा था, और वह यह भी सोचने लगी थी, कि एक बार फिर भारत को अपने पुराने गौरवपूर्ण स्थान को प्राप्त करना चाहिये। पर इसके लिये किसी ऐसी राजनैतिक संस्था का अभी संगठन नही हुआ था, जो जनता में राष्ट्रीय चेतना का विकास कर उसे स्वराज्य प्राप्ति के संघर्ष के लिये तैयार करे। राष्ट्रीय चेतना और स्वाधीनता की आकांक्षा इस समय दो रूपों मे प्रकट होने लगी थी। अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग 'इण्डियन नेशनल कांग्रेस' जैसी सभाओ मे एकत्र होकर व्याख्यान देते थे, प्रस्ताव पास करते थे और सरकार की सेवा मे भेजने के लिए आवेदन-पत्र तैयार

करते थे। इसके विपरीत कुछ देशभक्त लोग क्रान्तिकारी समितियों का संगठन कर शस्त्रबल के प्रयोग द्वारा ब्रिटिश शासन का अन्त करने की तैयारी में तत्पर थे, और इसके लिये उन्हें अपने प्राणो की आहुति देने में कोई संकोच नही था। उन्नीसवीं सदी के अन्त मे भारत की राष्ट्रीय चेतना का यही स्वरूप था। सर्वसाधारण जनता मे अभी स्वाधीनता की आकाक्षा संगठित रूप में उत्पन्न नहीं हुई थी।

(२) स्वराज्य आन्दोलन

जनता मे राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न करने और स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए संघर्ष करने मे इण्डियन नेशनल काग्रेस ने सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य किया। १८८५ ई० मे जब काग्रेस की स्थापना हुई थी, तो वह जनसाधारण की संस्था नही थी, और न ही उसका उद्देश्य ब्रिटिश आधिपत्य का अन्त कर स्वराज्य स्थापित करना था। १८८५ से १९०५ तक काग्रेस का यही रूप रहा, कि हर साल क्रिसमस की छुट्टियों में देश के सुशिक्षित और सार्वजनिक जीवन का शौक रखने वाले लोग किसी बडे शहर मे एकत्र होते थे, और सरकार के कार्यों मे भारतीयो के सहयोग मे वृद्धि के लिए आन्दोलन करते थे। १९०५ ई० मे बग भग के प्रश्न पर बहुत उत्तेजना फैली, और अनेक देश-भक्त लोग उग्र उपायो द्वारा ब्रिटिश सरकार का विरोध करने के लिए अग्रसर हुए। सन् १९०५ का भारत की राष्ट्रीय स्वाधीनता के इतिहास मे बहुत अधिक महत्त्व है। इसी समय काग्रेस मे एक नये दल का प्रादुर्भाव हुआ, जो केवल भाषण देने व प्रस्ताव पास करने पर ही विश्वास नही करता था, अपितु स्वराज्य-प्राप्ति के लिए क्रियात्मक पग उठाने की नीति का प्रतिपादक था। इसे 'गरम दल' कहते थे, इसके मुकाबले पर पुराने काग्रेसी लोगों को 'नरम' कहा जाता था। काग्रेस के गरम दल के प्रधान नेता बाल गगाधर तिलक, लाजपतराय और विपिनचन्द्र पाल थे। ये नेता भारत में घूम-घूम कर राजनीतिक चेतना और स्वराज्य की आकाक्षा उत्पन्न करने के लिए प्रयत्नशील थे, और विदेशी सरकार का विरोध करना अपना कर्त्तव्य समझते थे। पंजाब और महाराष्ट्र मे जो अनेक क्रान्तिकारी आन्दोलन इस समय चल रहे थे, गरम नेताओ की दृष्टि मे उनका भी उपयोग था। परिणाम यह हुआ, कि नरम और गरम दलो के मतभेद ने उग्र रूप धारण कर लिया, और १९०७ मे हुई सूरत की कांग्रेस मे इन दलो मे फूट पड गयी।

१९१४–१८ के महायुद्ध में भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को बहुत बल मिला। इस युद्ध मे ब्रिटिश पक्ष के लोग यही कहते थे, कि वे राष्ट्रीयता, स्वाधीनता और लोकतन्त्रवाद के सिद्धान्तों को सम्मुख रखकर रणक्षेत्र में उतरे हैं, और उनका उद्देश्य आस्ट्रिया-हंगरी, जर्मनी और तुर्की के स्वेच्छाचारी शासनों का अन्त कर राष्ट्रीयता और लोकतन्त्रवाद के अनुसार यूरोप का पुनर्निर्माण करना ही है। भारत की जनता में इन विचारो द्वारा नवस्फूर्ति का सचार हुआ। ब्रिटिश लोगो ने भी उसे यह आश्वासन दिया, कि युद्ध की समाप्ति पर वे भारत की राष्ट्रीय आकाक्षाओं की पूर्ति में कोई कसर नहीं उठा रखेंगे। यही कारण था, जिससे काग्रेस ने युद्ध-प्रयत्न मे ब्रिटिश सरकार का उत्साहपूर्वक साथ दिया, और महात्मा गांधी जैसे नेता ने सेना में रंगरूट भरती करने में सहायता की। पर महायुद्ध की समाप्ति पर भारतीयो की राष्ट्रीय आकांक्षाएँ पूर्ण नहीं हो

पाईं, और ब्रिटिश सरकार की कृपा पर आश्रित रह के स्वराज्य प्राप्ति की आशा छोड़ कर उन्होने अपने बल द्वारा स्वतन्त्र होने का प्रयत्न प्रारम्भ किया। इस समय कांग्रेस का नेतृत्व महात्मा गांधी के हाथों मे आ गया था। उन्होंने १९२०-२१ मे असहयोग आन्दोलन का प्रारम्भ किया, जिसका उद्देश्य विदेशी सरकार से असहयोग करना था। इसके कारण सारे भारत मे राजनीतिक चेतना उत्पन्न हो गयी। खिलाफत के प्रश्न को लेकर मुसलमान भी अच्छी बडी संख्या मे इस आन्दोलन मे शामिल हुए। यद्यपि दमन-नीति का प्रयोग कर सरकार इस आन्दोलन को कुचलने मे सफल हुई, पर इसके कारण राष्ट्रीय चेतना व स्वराज्य की आकाक्षा सर्वसाधारण जनता तक पहुँच गई। गाधी जी के नेतृत्व की भारत को सबसे बड़ी देन यही है, कि उन्होंने स्वराज्य आन्दोलन को सर्वसाधारण जनता तक पहुँचा दिया। अग्रेज असहयोग आन्दोलन को कुचलने मे तो समर्थ हुए थे, पर इससे देश मे अशान्ति दूर नही हो गई थी। विवश होकर ब्रिटिश सरकार ने १९२७ मे सरजान साइमन के नेतृत्व मे एक कमीशन की नियुक्ति की, जिसे भारत मे शासन-सुधार सम्बन्धी परामर्श देने का काम सुपुर्द किया गया। इस कमीशन के सब सदस्य अग्रेज थे। उससे यह आशा नही की जा सकती थी, कि वह भारत की राष्ट्रीय आकाक्षाओ को भली-भाँति समझ सकेगा। कांग्रेस ने उसका बहिष्कार किया, और किसी महत्त्वपूर्ण नेता ने उसके सम्मुख गवाही नही दी। साइमन कमीशन जहाँ भी गया, काले झण्डों मे उसका स्वागत किया गया। इस कमीशन की रिपोर्ट से भारत मे किसी को भी सन्तोष नही हुआ। १९२९ मे पण्डित जवाहर लाल के सभापतित्व मे कांग्रेस ने लाहौर के अधिवेशन मे पूर्ण स्वराज्य की स्थापना को ही अपना उद्देश्य निश्चित किया। मार्च, १९३० मे महात्मा गाधी ने सत्याग्रह आन्दोलन शुरू किया, जिसके लिए उन्होंने नमक-कानून को तोडने का कार्यक्रम बनाया।

इसी समय कांग्रेस ने यह भी आन्दोलन किया, कि विदेशी वस्त्र की दूकानो और शराब की भट्टियो पर धरना दिया जाए, और किसान सरकार को मालगुजारी अदा न करे। शीघ्र ही सत्याग्रह-आन्दोलन सारे देश मे फैल गया, और जेल जाने वाले वीर देशभक्तो की संख्या एक लाख तक पहुच गई। सरकार ने देशभक्त सत्याग्रहियो पर घोर अत्याचार किए। १९२०-२१ के असहयोग-आन्दोलन और १९३०-३१ के सत्याग्रह आन्दोलन का परिणाम यह हुआ, कि सर्वसाधारण जनता मे अन्याय का प्रतिरोध करने की शक्ति और स्वराज्य की आकाक्षा उत्पन्न हो गई।

१९३९-४५ के महायुद्ध से भारत के स्वराज्य-सग्राम को बहुत बल मिला। १९४२ के अगस्त मास में कांग्रेस ने विदेशी सरकार का प्रतिरोध करने के लिए अधिक उग्र उपायो का अनुसरण करने का निश्चय किया। कई स्थानो पर तो जनता खुलेतौर पर विद्रोह के लिए उतारु हो गई। यद्यपि ब्रिटिश शासक अस्त्र-शक्ति का उपयोग कर इस क्रान्ति को कुचलने मे सफल हुए, पर इससे कारण इतनी अधिक जागृति उत्पन्न हो गई थी, कि अग्रेजों के लिए भारत को अपनी अधीनता मे रख सकना सम्भव नही रह गया था।

भारत को स्वतन्त्र कराने मे इण्डियन नेशनल कांग्रेस का बहुत बड़ा हाथ है। पर साथ ही क्रान्तिकारी युवकों ने अग्रेजी शासन के विरुद्ध जो विप्लववादी उपाय प्रयुक्त

किए, उनका महत्त्व भी कम नही है, यद्यपि शस्त्र-बल का प्रयोग कर अंग्रेजी शासन को नष्ट कर सकना सम्भव नही था। पर इन देशभक्तों के कार्यों से जनता मे उत्साह और जागृति उत्पन्न होने में बहुत अधिक सहायता मिलती थी। लाहौर मे सान्डर्स की हत्या, किसी अंग्रेज अफसर पर बम्ब पात, दिल्ली की असेम्बली के भवन में बम्ब फटना क्रान्तिकारियों द्वारा रेलगाडियों को लूट लेना—ये ऐसी घटनाएँ होती थी, जिन्हे पढकर भारतीय जनता का हृदय पुलकित हो जाता था।

१९३९–४५ के महायुद्ध के समय नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने आजाद हिन्द सेना का सगठन कर जापान और जर्मनी की सहायता से ब्रिटिश शासन का अन्त करने का प्रयत्न किया। महायुद्ध मे ब्रिटिश पक्ष की विजय होने के कारण यद्यपि नेताजी को अपने प्रयत्न में सफलता नही मिली, पर इसका महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ, कि ब्रिटेन की भारतीय सेना में राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न हो गई। भारत मे ब्रिटिश शासन का मुख्य आधार भृत सेना ही थी, जिसके सैनिक धन की लालसा से विदेशी शासन की सहायता करते थे। जब उन्ही मे राष्ट्रीय जागृति और स्वराज्य की आकांक्षा उत्पन्न हो गई, तो अंग्रेजो के लिए भारत को अपनी अधीनता मे रख सकना असम्भव हो गया।

(३) मुस्लिम राष्ट्रीयता

इसमे सन्देह नही, कि अफगान और मुसलिम शासकों के शासन काल में हिन्दुओ और मुसलमानो मे अनेक दृष्टियो से सामजस्य उत्पन्न हो गया था। धर्म, भाषा, रहन-सहन, रीति-रिवाज आदि अनेक क्षेत्रो मे वे एक-दूसरे के बहुत समीप आ गए थे। यदि ब्रिटिश युग मे हिन्दू-मुस्लिम सामञ्जस्य की यह प्रक्रिया जारी रहती, और भारत मे नव जागरण की जो प्रक्रिया शुरू हुई थी, वह हिन्दुओं और मुसलमानो मे एकानुभूति विकसित करने मे सहायक होती, तो भारत के इन दो प्रधान धर्मो के अनुयायी राष्ट्रीय दृष्टि से भी एक हो सकते। पर ब्रिटिश युग मे यह नही हो पाया। नवजागरण, धार्मिक सुधारणा, राजनीतिक शिक्षा और चेतना, ये सब हिन्दुओ और मुसलमानो को एक दूसरे से पृथक् करने मे सहायक हुए। हिन्दुओ और मुसलमानो मे भेद उत्पन्न करने वाले तत्त्वों का इस प्रसग मे उल्लेख करना उपयोगी है।

(१) ब्राह्मसमाज, आर्यसमाज, प्रार्थना-समाज, रामकृष्ण मिशन आदि नये धार्मिक आन्दोलनो ने धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र मे हिन्दुओ मे नवजागरण उत्पन्न किया। यद्यपि ये सभी आन्दोलन भारतीय जनता की एकता के पक्षपाती थे, पर इनका प्रभाव मुख्यतया हिन्दुओ पर ही पडा। ये सब आन्दोलन हिन्दू धर्म मे नवजागृति उत्पन्न करने मे सहायक हुए, और इन्होने धर्म का एक ऐसा रूप जनता के सम्मुख रखा, जिसमे मुसलमानो के लिए सम्मिलित हो सकना सम्भव नही था। मध्य युग में कबीर और नानक सदृश सन्त-महात्माओ ने जो धार्मिक आन्दोलन प्रारम्भ किए थे, उनका आधार केवल वेद शास्त्र ही नही थे। उनकी शिक्षाओं और वाणियो मे सब धर्मो के विशिष्ट तत्त्वो का समावेश था। पर उन्नीसवी सदी के हिन्दू धार्मिक आन्दोलन वेद-शास्त्रो के महत्त्व पर जोर देते थे। आर्य समाज की तो स्थापना ही वेदो के पुनरुद्धार के लिए हुई थी। ब्राह्म समाज की उपासना भी वैदिक मंत्रों और उपनिषदो पर आश्रित

थी। रामकृष्ण मिशन के सर्वप्रसिद्ध प्रचारक विवेकानन्द भी वेदान्त के गौरवपूर्ण व उत्कृष्ट सिद्धान्तो को देश-विदेश के लोगों के सम्मुख लाने के लिए प्रयत्नशील थे।

(२) नवजागरण का प्रभाव मुसलमानों पर न पडता, यह सम्भव नही था। पर उनमे जागरण की जो प्रवृत्ति प्रादुर्भूत हुई, वह सर्वथा स्वतन्त्र रूप मे थी। अठारहवी सदी मे जब मुसलिम राज-शक्ति का पतन हुआ, तो अनेक मौलवियों के हृदय मे इस्लाम की दुर्दशा की अनुभूति उत्पन्न हुई। देहली के मुहम्मद शाह वलीउल्ला सदृश कितने ही मुसलिम नेता इस्लाम के लुप्त गौरव का पुनरुद्धार करने के लिये उतावले हो उठे। वलीउल्ला के अन्यतम शिष्य अहमद शाह ने बहावी सम्पदाय की नीव डाली, जिसका उद्देश्य इस्लाम की कमजोरियो को दूर कर मुसलमानो मे नवजीवन व स्फूर्ति का सचार करना था। अंग्रेजो की बढती हुई शक्ति को बहावी लोग बडी चिन्ता की दृष्टि से देखते थे। १८५७ की राज्यक्रान्ति मे उन्होने मुसलमानो को अंग्रेजो के विरुद्ध भड़काने मे महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। पर बहावी लोगो को भारत की दुर्दशा का उतना ध्यान नही था, जितना कि इस्लाम की दुरवस्था का। इस आन्दोलन ने इस्लाम मे स्फूर्ति का सचार अवश्य किया, पर मुसलमानो को हिन्दुओं से दूर करने मे भी सहायता की।

(३) सर सैयद अहमद खाँ ने अलीगढ को केन्द्र बनाकर एक नये मुसलिम आन्दोलन का सूत्रपात किया, जिसका उद्देश्य मुसलमानो मे नई शिक्षा का प्रसार करना, और उन्हें भारत की राज-शक्ति के उपभोग मे हाथ बँटाने के लिये तैयार करना था। ब्रिटिश शासन की स्थापना के बाद मुसलमानो ने अंग्रेजी शिक्षा की उपेक्षा की थी। इसके विपरीत हिन्दुओं ने अंग्रेजी पढकर नये ज्ञान-विज्ञान को सीख लिया था, और भारत के राजनीतिक व सामाजिक जीवन मे उनका महत्त्व निरन्तर बढता जाता था। १८७५ मे सर सैयद ने अलीगढ मे एंग्लो-ओरियटल कालेज की स्थापना की, और मुसलिम जनता मे नवजागरण का प्रारम्भ किया, जिससे इस वर्ग मे नई स्फूर्ति और आशा का संचार हुआ। भारत भर के मुसलमान अलीगढ को अपना केन्द्र मानने लगे। बंगाल, मद्रास, पंजाब, बम्बई आदि प्रान्तो के मुसलिम युवक अलीगढ मे पढने के लिये आने लगे, और वहाँ रहने से उनमे एक भाषा, एक रहन-सहन, एक विचारसरणी और एक संस्कृति का विकास होने लगा। अलीगढ मे स्कूल विभाग के लिये शिक्षा का माध्यम उर्दू को बनाया गया, और मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण करने के लिये उर्दू का ज्ञान आवश्यक कर दिया गया। अलीगढ का विद्यार्थी चाहे भारत के किसी भी भाग का निवासी हो, वह उर्दू को अपनी भाषा समझने लगा। इसका परिणाम यह हुआ, कि भारत भर के शिक्षित मुसलमान उर्दू को अपनी धार्मिक व राष्ट्रीय भाषा मानने लगे। रहन-सहन, भाषा, विचारसरणी आदि की एकता के कारण जहाँ अलीगढ के वातावरण मे पले हुए मुसलमान अपने को एक जाति व एक राष्ट्र का अंग समझते थे, वहाँ उनमे यह अनुभूति भी उत्पन्न होने लगी, कि वे हिन्दुओ से पृथक् है।

(४) भारत के नवजागरण का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ, कि विविध जातियो व सम्प्रदायों मे अपनी पृथक्-पृथक् शिक्षा-संस्थाएं खोलने की प्रवृत्ति का प्रारम्भ हुआ। मुसलमानो के मुहम्मडन एंग्लो-ओरियन्टल कालेज के समान, दयानन्द एंग्लोवैदिक कालेज, सनातन धर्म कालेज, खालसा कालिज आदि शिक्षा-

संस्थाओं की स्थापना शुरू हुई, जिनमे नवीन शिक्षा के साथ-साथ अपने धर्म, सम्प्रदाय आदि की शिक्षा की भी व्यवस्था की गयी । इस्लामिया कालेजों के विद्यार्थी जहां उर्दू को अपनी भाषा समझते थे, और इस्लाम के उत्कर्ष को अपना ध्येय मानते थे, वहाँ डी० ए० वी० कालेजो के विद्यार्थियों को हिन्दी की शिक्षा दी जाती थी, और वैदिक धर्म के पुनरुत्थान का आदर्श उनके सम्मुख उपस्थित किया जाता था ।

(५) उन्नीसवीं सदी का अन्त होते-होते आर्य समाज ने गुरुकुलों की स्थापना शुरू कर दी थी। सनातनी और जैनी लोग भी उनकी देखादेखी अपने 'कुल' स्थापित करने में तत्पर थे । देवबन्द आदि मे मुसलमानो ने भी ऐसे मदरसे कायम कर लिये थे, जो इस्लाम की शिक्षा को ही संसार के लिये आदर्श व कल्याणकारी मानते थे । ये सब संस्थाएँ भारत के नवजागरण में सहायक अवश्य थी, पर साथ ही इनके कारण हिन्दुओं और मुसलमानो के बीच की खाई अधिकाधिक चौडी होती जाती थी । देहात के रहने वाले हिन्दू और मुसलमान एक भाषा बोलते थे । उनके विचार करने का ढंग एक सदृश था, उनके रहन-सहन मे भी विशेष अन्तर नही था । पर जब ये देहाती बालक गुरुकुल कागडी या देवबन्द मे पढकर बाहर निकलते थे, तो वे एक दूसरे से भिन्न दो पृथक् सस्कृतियो के मूर्तरूप बन जाते थे । एग्लो-ओरियटल कालेज और दयानन्द एग्लो-वैदिक कालेज के विद्यार्थियो की संस्कृति मे भी इसी प्रकार का भेद आ जाता था । शिक्षा का प्रसार हिन्दुओं और मुसलमानों के भेद को घटाने के स्थान पर उसे बढा रहा था । राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन के परिणामस्वरूप जब भारत मे राष्ट्रीय शिक्षणालयो की स्थापना का प्रयत्न शुरू हुआ, तो राष्ट्रीय शिक्षा का आन्दोलन भी शिक्षा के क्षेत्र मे हिन्दुओ और मुसलमानो को एक नही कर सका । दिल्ली की 'जामिया मिल्लिया इस्लामिया' मुसलिम राष्ट्रीय शिक्षा का प्रतिनिधित्व करती थी, और काशी का 'काशी विद्यापीठ' हिन्दू राष्ट्रीय शिक्षा का । कांग्रेस की दृष्टि मे दोनो ही सस्थाएं राष्ट्रीय शिक्षा देती थी, पर इनके विद्यार्थियों मे विदेशी शासन का अन्त करने की इच्छा समान रूप से विद्यमान होते हुए भी संस्कृति की दृष्टि से वे एक दूसरे से बहुत भिन्न थे । राष्ट्रीय शिक्षा भी हिन्दुओ और मुसलमानो के भेद को दूर करने मे असमर्थ ही रही ।

(६) राष्ट्रीय स्वाधीनता का आन्दोलन भी इन दो जातियो को एक करने मे समर्थ नही हुआ । सर सैयद अहमदखाँ और उनके अनुयायी भली-भाँति अनुभव करते थे, कि भारत मे मुसलिम लोग अल्प संख्या मे है । लोकतन्त्रवाद पर आश्रित स्वराज्य के स्थापित हो जाने का परिणाम यह होगा, कि मुसलमान अल्प संख्या में होने के कारण हिन्दुओ के वशवर्त्ती बने रहेगे । इसीलिये उन्होने मुसलिम-हितों की रक्षा का आन्दोलन खडा किया, और १६०६ मे मुसलिम लीग के रूप मे अपनी पृथक् राजनीतिक सस्था का संगठन किया । १६१६ मे कांग्रेस और लीग मे समझौता अवश्य हुआ, पर उसके कारण भारत के राष्ट्रीय नेताओं ने विधान सभाओं मे हिन्दुओ और मुसलमानों के पृथक् प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को स्वीकृत कर लिया, जिससे इन दो धर्मों के लोगों में अपनी पृथक् अनुभूति ने राजनीतिक रूप प्राप्त कर लिया ।

(७) गांधी जी के नेतृत्व में जब कांग्रेस ने जनसाधारण में राजनीतिक चेतना

के प्रादुर्भाव का प्रयत्न किया, तो मुसलमानों को अपने साथ लेने के लिये उन्होंने 'खिलाफत आन्दोलन' को अपनाया। तुर्की में खिलाफत के पुनरुद्धार का विचार मुसलमानों को बहुत आकर्षक प्रतीत होता था, और वे इसी कारण बड़ी संख्या में कांग्रेस में शामिल हुए। १९२०-२२ के कांग्रेस आन्दोलन में मुसलिम स्वयंसेवक अरबी पोशाक पहनकर शामिल होते थे और खिलाफत पर व्याख्यान देते थे। गांधी टोपी धारण किये हुए हिन्दू-लोग अरबी पोशाक पहने हुए मुसलमानों की राष्ट्रीय भावना और देशभक्ति की प्रशंसा करते थे। इस युग में उन्हें यह अनुभव करने का अवकाश नहीं था कि मुसलिम राष्ट्रीयता हिन्दू राष्ट्रीयता से किस प्रकार भिन्न है, और मुसलमान किस प्रकार राष्ट्रीय क्षेत्र में एक नये मार्ग का अनुसरण करने में तत्पर है।

इन्हीं सब बातों का यह परिणाम हुआ, मुसलमान हिन्दुओं से पृथक् होते गये। मुसलमान एक पृथक् राष्ट्र है, यह विचार उनमें निरन्तर विकसित होता गया। इसी कारण पाकिस्तान का पृथक् रूप से निर्माण हुआ। मुहम्मद अली जिन्ना ने उन प्रवृत्तियों को मूर्त रूप प्रदान किया, जो ब्रिटिश युग में निरन्तर विकास को प्राप्त करती रही थीं।

उपसंहार—अगस्त १९४७ में स्वराज्य की स्थापना के बाद भारत में एक नये युग का सूत्रपात हुआ है। संसार के अन्य देशों के समान भारत में भी अब लोकतन्त्र-वाद पर आश्रित स्वराज्य सरकार की स्थापना हो गई है, और सामाजिक सुधार, आर्थिक प्रगति, राजनीतिक शक्ति आदि सब क्षेत्रों में भारत उन्नति के पथ पर तेजी के साथ पग बढ़ा रहा है। आधुनिक युग की सब विशेषताएं इस समय भारत में विकसित हो रही हैं। बड़ी-बड़ी नहरों के निर्माण और जमींदारी प्रथा के अन्त के कारण कृषि के क्षेत्र में तेजी के साथ उन्नति हो रही है। यान्त्रिक शक्ति से चलने वाले विशालकाय कारखानों की स्थापना से देश में व्यावसायिक क्रान्ति हो रही है, और भारत अब 'कृषि प्रधान' देश न रहकर 'व्यवसाय-प्रधान' होता जाता है। धर्म के क्षेत्र में भी संसार के लोग भारत के अध्यात्म-चिन्तन की ओर आकृष्ट हो रहे हैं, और बुद्ध व गांधी सदृश महात्माओं के सत्य एवं अहिंसा आदि के आदर्श संसार में नई आशा का संचार कर रहे हैं। भारतीय संस्कृति के मूल-तत्त्व अब संसार के उन्नत व सभ्य लोगों के लिये भी आकर्षण की चीज बनते जा रहे हैं।

भारतीय संस्कृति द्रविड़, आर्य, बौद्ध, यवन, शक, हूण, अफगान, मुगल और ब्रिटिश संस्कृतियों के तत्त्वों के सम्मिश्रण का परिणाम है। यद्यपि इसकी मूल व मुख्य धारा आर्य है, पर यवन, शक, मुसलिम व ईसाई धाराओं ने भारतीय संस्कृति की इस मूल धारा को समृद्ध व विशाल बनाने में बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। समन्वय और सामंजस्य की भावना भारतीय संस्कृति की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता रही है, और धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र का आदर्श भारत की संस्कृति की इसी विशेषता का परिचायक है। ब्रिटिश शासन के कारण भारत को पाश्चात्य संसार के भौतिकवाद से परिचित होने का सुवर्णीय अवसर प्राप्त हुआ, पर इससे उसने अपने अध्यात्मवाद को सर्वथा भुला नहीं दिया। अध्यात्मवाद और भौतिकवाद के समन्वय द्वारा यदि भारत एक नई संस्कृति के विकास में समर्थ हो सका, तो यह संस्कृति संसार के सुख व शान्ति में सहायक होगी, यह निर्विवाद है।